



40 7 7

RAMCHARAN LALL MISHRA
BESILPUR

वि. फ.
८८ २२२

RAM CHARAN LALL



५
६५
लघुशब्देन्दुशेखरः ।



महामहोपाध्यायनागेशभट्टविरचितः ।

(अव्ययीभावान्तो भागः)

नित्यानन्दपन्तपर्वतीयविरचितेन
दीपकारुयेन टिप्पणेन समुज्ज्वलितः ।

तत्साहाय्येन तदन्तेवासिना 'नेने' इत्युपनामकेन व्याकरणो-
पाध्यायगोपालशास्त्रिणा संशोधितः ।

काश्यां

विद्याविलासनाम्नि यन्त्रालये मुद्रितः ।
संवत् १९७५

PUBLISHED AND SOLD BY H. D. GUPTA & SONS,
PROPRIETORS,
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
BENARES CITY:

Printed by Jai Krishna Das Gupta,
at the Vidya Vilas Press,
Benares.

1918.

Copyright Registered Act No III of 1914.

भूमिका ॥

साम्प्रतं प्रचलिताध्ययनाध्यापनान् प्रायः सर्वानेव व्याकरणग्रन्थानतिशय्य लघुशब्देन्दुशेखरो वर्त्तते इति सुप्रसिद्धमेव सर्वेषां वैयाकरणानाम् । अस्य च ग्रन्थस्य व्याख्या अपि चन्द्रकलादयो बह्व्यः प्रसिद्धा मुद्रिताश्च । परं तु काश्यादिनगरेषु प्रचलिताध्यापनशैल्यनुसारिणी व्याख्या न काऽपि मुद्रिता । यद्यपि नपदान्तसूत्रपर्यन्तं नागेशोक्तिप्रकाशनामिका व्याख्या मुद्रिताऽभूत्, तथापि प्रचलिताध्ययनाव्ययीभावान्तभागपर्यन्तं मुद्रिता नासीत् इति न सा पूर्णतया छात्रोपकारिका इत्यालोच्य कौश्चिच्छात्रैः प्रोत्साहितोऽहमिदं कार्यं समारभे । अथ मदीयमित्रवरपण्डितसारस्वतकुलावतंसमदनमोहनपाठकसकाशात्, जमखण्डी-संस्थानाभिजनकाशीनिवासिबाबाशास्त्रिसकाशाच्च दण्डिकृतचन्द्रिकाख्यं क्रोडपत्रं मध्ये मध्ये खण्डितमुपलभ्य नेपालाभिजनकाशीनिवासिपण्डितश्रीमदुमादत्तोपाध्यायसकाशाच्च स्वीप्रत्ययकारकपकरणभागीयमपरं क्रोडपत्रमुपलभ्य स्मृतिपथायातेन गुरुक्तिजलेन सर्वं संशोध्य महाभाष्यं, तत्प्रदीपं, तदुद्घोतं, बृहच्छेखरं, विभक्त्यर्थनिर्णयं व्युत्पत्तिवादं लघुमञ्जूषांच तेषु तेषु स्थलेषु पर्यालोच्य विचार्य च लघुशब्देन्दुशेखरदीपकाख्यं टिप्पणं विरचय्य सच्चिदानन्दविग्रहयोर्भगवच्चरणयोः समर्पयाम् । अत्र च—

नात्रातीव प्रकर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।

दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥

इति भट्टकुमारिलोक्तिमनुसंधानाः चित्तं दोषप्रवणमकुर्वन्त एकमुणानत्रत्यानास्वादयन्तु गुणैकपक्षपातिनो विद्वांस इति वारं वारमभ्यर्थये तान् इति शम् ।

श्रीहमद्रक्षाधरशास्त्रिचरणान्तेवासी-

नित्यानन्दपन्तपर्वतीयः ।

भूमिका ।

य
६

साम्प्रतं प्रचलिताध्ययनाध्यापनान् प्रायः सर्वानेव व्याकरणग्रन्थानतिशय लघुशब्देन्दुशेखरो वर्तते इति सुप्रसिद्धमेव सर्वेषां वैयाकरणानाम् । अस्य च ग्रन्थस्य व्याख्या अपि चन्द्रकलादयो बह्व्यः प्रसिद्धाः मुद्रिताश्च । परं तु काश्यादिनगरेषु प्रचलिताध्यापनशैल्यनुसारिणी व्याख्या न काऽपि मुद्रिता । यद्यपि नपदान्तमूत्रपर्यन्तं नागेशोक्तिप्रकाशनामिका व्याख्या मुद्रिताऽभूत्, तथापि प्रचलिताध्ययनाव्ययीभावान्तभागपर्यन्तं मुद्रिता नासीत् इति न सा पूर्णतया छात्रोपकारिका इत्यालोच्य कैश्चिच्छात्रैः प्रोत्साहितोऽहमिदं कार्यं समारभे । अथ मदीयमित्रवरपण्डितसारस्वतकुलावतंसमदनमोहनपाठकसकाशात्, जमखण्डीसंस्थानाभिजनकाशीनिवासिबाबशास्त्रिसकाशाच्च दण्डिकृतचन्द्रिकारूपं क्रोडपत्रं मध्ये मध्ये खण्डितमुपलभ्य नेपालाभिजनकाशीनिवासिपुरीहितकुलावतंसपण्डितश्रीमदुमानाथाज्यालसकाशाच्च स्त्रीप्रत्ययकारकप्रकरणभागीयमपरं क्रोडपत्रमुपलभ्य स्मृतिपथायातेन गुरुक्तिजलेन सर्वं संशोध्य-महाभाष्यं, तत्प्रदीपं, तदुद्योतं, बृहच्छेखरं, विभक्त्यर्थनिर्णयं, व्युत्पत्तिवादं, लघुमञ्जूषांच तेषु तेषु स्थलेषु पर्यालोच्य विचार्य च लघुशब्देन्दुशेखरदीपकारूपं टिप्पणं विरचय्य सच्चिदानन्दविग्रहयोर्भगवच्चरणयोः समर्पयम् । अत्र च—

नात्रातीव प्रकर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।

दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥

इति भट्टकुमारिलोक्तिमनुसंधानाः चित्तं दोषप्रवणमकुर्वन्त एव गुणानत्रत्यानास्वादयन्तु गुणैकपक्षपातिनो विद्वांस इति वारं वारमभ्यर्थयेतान् इति शम् ।

श्रीदमद्वक्त्राधरशास्त्रिचरणान्तेवासी—

नित्यानन्दपन्तपर्वतीयः ।

शुद्धिपत्रम् ।

| पृ० | पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----|-----|---------------------|--|
| ९ | १८ | बन्धत्ववस्यैव | बन्धत्वस्यैव |
| ९ | १९ | रूपरूपानुबन्ध | रूपानुबन्ध |
| ११ | १६ | उच्छेदो न | उच्छेदो न |
| २० | ११ | वार्ति | वार्तिक |
| २२ | १ | तारश्च | तारश्च इत्यंतः पूर्वं २३ पृष्ठस्था 'ननु शास्त्रे' इत्याद्याः 'प्रतिज्ञा' इ- त्यन्ताश्चतस्रः पङ्क्तयोऽपेक्षिताः । |
| २३ | ३० | ऊर्जि | बहूर्जि |
| २५ | २४ | मुखाद्वितीय | मुखद्वितीय |
| २८ | २७ | अवच्छेदेन | अवच्छेदेन |
| ३० | २४ | ऋदैतोश्च | ऋदैतोरोदौतोश्च |
| ३६ | १९ | अप्युलक्षण | अप्युपलक्षण |
| ३६ | २२ | निर्देश | निर्देश |
| ३८ | ३२ | एतेन | एतेन |
| ३९ | २६ | सकदुच्च | सकदुच्च |
| ४३ | १३ | वाचकत्रा | वाचकत्वा |
| ५१ | ८ | शिङ्गाव | शिवङ्गाव |
| ५१ | १० | अस्यार्थवता | अस्यार्थोऽर्थवता |
| ५१ | १५ | प्रत्ययबोधकत्वभावेन | प्रत्ययबोधकत्वाभावेन |
| ५६ | ४ | भक्तो नो | भक्तोऽसौ नो |
| ५६ | १० | निरूपितसंबन्ध | निरूपितसंबन्ध |
| ५६ | ३४ | कायत्येत्या | कायस्येत्या |
| ६५ | ३५ | मूले ए | मूले एव |
| ६८ | ३ | तेद्वनिमित्तक | तेद्वनिमित्तक |
| " | ८ | साक्षादवच्छेदक | साक्षादनवच्छेदक |
| ७२ | १५ | वालवृत्तित्वं | वालवृत्तित्वं |
| " | १७ | इडापत्तेः | एतदग्रे 'स्थान्यल्लविशिष्टत्वनिवे- शे तु स्वस्थानिकादेशावयवा- लवृत्तित्वमित्यस्य स्वस्थानिको |

पृ० पं० अशुद्धम्

शुद्धम्

य आदेशावयवाल् तदवृत्तित्व-
मित्यर्थः । तथा च स्थान्यव-
यवस्य तकारस्य प्राथम्यविशि-
ष्टस्थाने स्थितेऽनुसोऽकारे वलत्व-
स्यावृत्तित्वात्तद्वदितवलादित्व-
निमित्तके इङ्प्रिधौ स्थानिवत्त्व-
निषेधः सुलभः । एवं क इत्यादौ
स्थान्यवयवस्य मकारस्यान्त्यत्व-
विशिष्टस्थाने स्थिते आदेशावय-
वाकारे हलत्वस्यावृत्तित्वात्तद्व-
दितहलन्तत्वनिमित्तकसुलोपेऽपि
तन्निषेधसिद्धिः । एवं च न क-
चिद्दोषः । इदं च स्थानिशब्दोपा-
दाने एव प्रत्यासत्त्या लभ्यते इति
बोध्यम्' इति पाठोऽपेक्षितः ।

| | | |
|-----|----|-------------------|
| ७६ | १९ | त्संयोग |
| ८० | ८ | तन्त्रमम् । एस्यो |
| ८० | ३३ | अपीपठत् |
| ९२ | १७ | वच्छेदक |
| ९२ | २७ | त्रिपाद्यमपि |
| ९२ | २९ | द्वितार्थे |
| ९४ | २९ | एवं वृक्षस्य |
| ९६ | १७ | यो भेदः पूर्व |
| ९७ | १० | यागान्तरस्य |
| " | १५ | स्वतादात्म्य |
| " | १६ | तावाच्छेक |
| " | १९ | अत्रोच्यते |
| ११२ | १४ | नित्यग्रह |
| १२२ | २३ | प्यधिकरण |
| १२४ | ३३ | तस्यासिद्ध |
| १२७ | २६ | मतकमतका |
| १२९ | २८ | दन्यतर |
| " | ३१ | दन्यतर |
| " | ३१ | दुभय |
| १३४ | १४ | सुम्भन्निमित्त |

| |
|-------------------------|
| त्संयोग |
| तन्त्रम् । एकस्यो |
| अपीपठत् |
| वच्छेदक |
| त्रिपाद्यामपि |
| द्वितार्थे |
| एवम् ओः अः वः, वृक्षस्य |
| यः पूर्व |
| यागान्तरस्य |
| स्वतादात्म्य |
| तावच्छेदक |
| अत्रोच्यते |
| नित्यग्रह |
| प्यधिकरण |
| तस्यासिद्ध |
| इदं नापेक्षितम् |
| दुभय |
| दुभय |
| दन्यतर |
| सुम्भन्निमित्त |

| पृ० | पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----|-----|----------------|-------------------|
| १३६ | २९ | ऽवययव | ऽवयव |
| १४४ | ७ | करणसमर्थ | करणसमर्थ |
| " | १३ | येतिव"णुषु | येतिवणुषु" |
| १४७ | ४ | त्वस्या | रुन्वस्या |
| १५४ | २७ | रूपवच्छिन्न | रूपावच्छिन्न |
| १६१ | १२ | तावच्छेद | तावच्छेद |
| १६५ | ३३ | पूर्ववत्सुबन्त | पूर्वत्ववत्सुबन्त |
| १६६ | १ | गवित्यमाह | गवित्ययमाह |
| " | ४ | फलापेधायक | फलोपधायक |
| " | १४ | नोरिव | विनोरिव |
| " | २८ | विशितात्पर्य | विशिष्टतात्पर्य |
| " | ३१ | कर्मकानयं | कर्मकानयनं |
| १६७ | २४ | मासुतः | मासतुः |
| " | २९ | व्याहारानपेक्ष | व्याहारानपेक्ष |
| १७० | १९ | प्रतिपदिक | प्रातिपदिक |
| " | " | प्रातिपदिरिक | प्रातिपदिक |
| " | २६ | उत्तरावयको | उत्तरावयवको |
| १७४ | १४ | अर्थवत्त्वामवा | अर्थवत्त्वाभावा |
| १८३ | २३ | सारूप्य | सारूप्य |
| १८४ | १० | सम्भवना | सम्भावना |
| " | १५ | प्रकरक | प्रकारक |
| " | २९ | संज्ञाभूतस | संज्ञाभूत |
| १८७ | १ | अक्षा | यथा अक्षा |
| १९३ | १९ | लुकि | दुकि |
| २०१ | २५ | कष्टाये | कष्टायते इ |
| २०३ | २८ | प्रतिपाद्य | प्रतिपाद्य |
| २०५ | २३ | परत्वात् | नित्यत्वात् |
| २०६ | २२ | परत्वात् | नित्यत्वात् |
| २१४ | ३ | सूत्रोक्तभाष्य | सूत्रोक्तभाष्य |
| २१५ | १८ | स्मायाद्यभाव | स्मायादि |
| २१६ | ३३ | नन्यार्थङित्वे | नन्यार्थङित्वादि |
| २१८ | २५ | तद्वृत्ति | तद्वृत्ति |
| २२६ | ६ | ध्वनयन | ध्वनयन् |
| २२७ | १४ | अन्तराया | अन्तरायां |

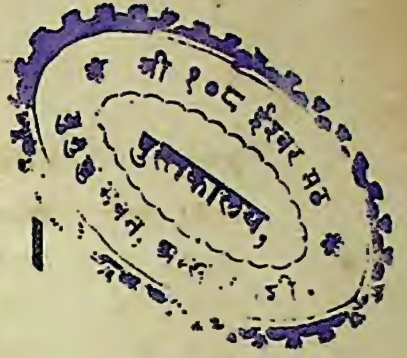
| पृ० पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----------|--|--|
| २३२ १ | अवयवस्य व्यपदेशि- चङ्गावेन, | अवयवस्य, व्यपदेशिवङ्गावेन |
| २३४ ८ | जराजरसौ | जराजरसौ |
| " ९ | पदद्वित्वं च | द्वित्वस्य पदस्थानिकत्वं च |
| " १२ | जासौ | जसौ |
| २४० १८-२० | परया लघुसंज्ञया घि- संज्ञावाधे 'द्वन्द्वे घि'इति पूर्वनिपातः, गार्गीबन्धु- रित्यादौ परया गुरुसं- ज्ञया नदीसंज्ञाया वाधेन न स्यात् । 'नदी बन्धुनि'इति पूर्वप- दान्तोदात्तत्वं च न स्यात्। | निरवकाशया घिसंज्ञया लघुसंज्ञावाधे 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्'इत्यण् गार्गीव- न्धुरित्यादौ निरवकाशया नदीसंज्ञया गुरुसंज्ञावाधे 'गुरोरनु'इति प्लुतश्च न स्यात् । |
| २४६ १७ | विधायक | विधायक |
| २५४ २१ | इत्येवाच्येत | इत्येवोच्येत |
| २५५ ६ | पतिना | भूपतिना |
| २५६ २२ | बह्वादिपदं | बह्वादिपदं |
| २६४ २९ | पञ्चक्रोष्टृ | पञ्चक्रोष्टृ |
| २६७ १९ | प्रकृतिविशे | प्रकृतिविशे |
| २७६ २४ | स्वादौ | स्वादौ |
| २८२ २९ | एतदप्रवृत्तौ | एतत्प्रवृत्तौ |
| २९४ २३ | "सख्यशिद्वी" | सखीति । "सख्यशिद्वी" |
| २९५ २० | यत्र | अत्रेयङुवङ्भ्यामङ्गस्याक्षेपात् यत्र |
| २९८ ४ | बाह्वादित्वेन | बह्वादित्वेन |
| ३०७ २४ | माध्वीर्गावो भ | माध्वीर्गावो |
| ३०८ २३ | इति गुणेन | इत्यत्र गुणेनेव |
| ३११ १५ | झषन्तो | न झषन्तो |
| ३१५ २६ | समाश्रय | समासाश्रय |
| ३१९ ४ | चिकीर्षती | चिकीर्षती |
| ३२७ ३१ | धात्वरिके | धात्वतिरिक्ते |
| ३२८ २० | अनुषदात्तो | अनुदात्तो |
| ३३१ २३ | स्यैवे नियमः | स्यैवेति नियमः |
| ३३९ २९ | संज्ञायां | संज्ञानां |
| ३४० १३ | प्रवृत्ता प्रियाष्टान | प्रवृत्तौ प्रियाष्टनि |
| ३४३ २४ | उमुट | उमुटं |
| ३४४ १४ | तत्प्रवृत्ति | तदप्रवृत्ति |

| पृ० | पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----|-------|-----------------------|-----------------------|
| ३४८ | ३३ | यत्वाप्राप्या | यत्वाप्राप्त्या |
| ३५० | २३ | मुन्यस्यति | मुपन्यस्यति |
| ३५४ | १४ | विधेयकत्वरूप | विधेयकत्वरूपै |
| " | १६ | बूहि" इत्यस्य संग्रहो | बूहि" इत्यस्यासंग्रहो |
| ३५६ | २८ | अप्रथायाः | अप्रथमायाः |
| ३५९ | २७ | भिन्नमित्यर्थः | भिन्नानामित्यर्थः |
| ३६४ | २२ | तिर्यगक्चः | तिर्यक्चः |
| " | २९ | नुस्वारस्य | नुस्वारपरसवर्णयोः |
| ३६८ | २६ | तदस्त्वेऽपि | तदसत्त्वेऽपि |
| ३७१ | १८ | स्याप्यस्यासि | स्याप्यसि |
| ३७३ | १५ | अनुपसर्जने | उपसर्जने |
| ३७४ | ३० | बोध्य । | बोध्यम् । |
| ३७६ | २८ | निरवशत्वे | निरवकाशत्वे |
| ३७८ | २१ | मान्तत्वं | मान्तत्वं |
| ३८७ | ३ | भावप्रतियोगि | भावाप्रतियोगि |
| ३९१ | १० | दुर्वारैवे वेत्याहुः | दुर्वारैवेत्याहुः |
| " | १५ | प्रतिपदिक | प्रतिपादक |
| " | १९ | नपुंसक | नपुंसक |
| ३९७ | २४ | उपलोपिनो | उपधालोपिनो |
| ४०४ | २९ | द्वीयते प्रत्यये | द्वीयतेरप्रत्यये |
| ४०५ | २९ | व्याप्यत्वभावा | व्याप्यत्वाभावा |
| ४०६ | १२ | दुत्पत्तिर्भ | दुत्पत्तिर्भ |
| ४०६ | १७ | इतिहरिरि | इतिहरिरि |
| ४०७ | २७ | कारिति | कारीति |
| ४०८ | १३ | परमर्गाग्य | परमगार्ग्य |
| ४२० | २७ | लोपेनोपहारे | लोपेनापहारे |
| ४२४ | २१ | निर्देशात् | निर्देशात् |
| ४२९ | २८ | कल्याणपादा | कल्याणपाणिपादा |
| ४३० | २२ | पर्यप्त्य | पर्याप्त्य |
| ४३१ | २६ | दिगाकाश | दिगाकाश |
| " | २९ | सामानाधिकण्यात् | सामानाधिकरण्यात् |
| " | ३२ | घटत्वावव्याप्तिः | घटत्वादावव्याप्तिः |
| ४३२ | १८ | नित्यत्वमेकत्वं | नित्यत्वमेकत्वं |
| ४४१ | ३१-३३ | मेकमखण्डं काल | मेकं काल |
| ४४२ | २४ | संबन्धाघटित | संबन्धघटित |

| पृ० | पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----|-----|----------------------|--------------------------------------|
| ४४९ | १० | इत्याकरक | इत्याकारक |
| ४५० | ९ | समभिव्यारे | समभिव्याहारे |
| ४५० | २३ | इतरविषयक | इतरविषयक |
| ४५२ | ९ | नियमाकत्व | नियामकत्व |
| " | १० | प्रयोजकस्य | प्रयोजकत्वस्य |
| ४५५ | ७ | नित्तत्व | निमित्तत्व |
| ४५५ | २६ | तत्राव्याप्तिः | तत्रातिव्याप्तिः |
| ४५६ | २५ | न्नाव्याप्तिः | न्नातिव्याप्तिः |
| ४५८ | १२ | इत्यस्यापत्तेः | इत्यस्याप्यापत्तेः |
| ४५८ | २६ | *इत्यस्यापत्तेरिति । | *इत्यस्याप्यापत्तेरिति । |
| ४६५ | ३१ | व्यापारप्रयो | व्यापारप्रयोज्य |
| ४६६ | १८ | आवश्यकतया | आवश्यकतया |
| ४६७ | २ | तत्त्वापत्तेः | तत्त्वापत्तेः |
| " | १३ | फलाश्रयस्यैव | फलाश्रयस्यैव |
| " | २१ | परिव्याधिकरण | पारव्यधिकरण |
| " | २५ | फलताकच्छेदक | फलतावच्छेदक |
| ४६८ | २३ | नीलघटमानय | नीलं घटमानय |
| ४७० | ५ | अवच्छेद | अवच्छेदक |
| " | १६ | धिरण | धिकरण |
| ४७१ | ८ | क्रियान्वय इ' | क्रियान्वय'इ |
| ४७१ | २८ | प्रयोज्यत्व | प्रयोज्यत्व |
| ४७२ | ३० | लब्धुं | लब्धुं |
| " | ३२ | शिषेणवीभूत | विशेणीभूत |
| ४७३ | २६ | परत्वमिप्रायेण | परत्वाभिप्रायेण |
| ४७८ | २४ | सम्बन्धवच्छिन्न | सम्बन्धावच्छिन्न |
| ४७९ | २० | समभिव्यारेण | समभिव्याहारेण |
| " | २२ | अत्र भावः | अयं भावः |
| " | २६ | पुरस्कारेण | पुरस्कारेण |
| " | २७ | समभिव्यार | समभिव्याहार |
| ४८१ | ३० | नन्वेवमपि | नन्वेवमपि |
| ४८५ | २२ | समासाददर्श | समासादर्श |
| ४८७ | ९ | कैश्चित् | कश्चित् |
| ४८८ | ६ | प्यनेन | प्यनेन संज्ञाप्राप्तौ वारणार्थानामि- |
| ४८८ | १७ | थास्घटित | त्यानवकाशं थाल्घटित |

| पृ० | पं० | अशुद्धम् | शुद्धम् |
|-----|-----|------------------|---------------------------|
| ४९२ | १० | कर्मयुक्त्वं | कर्मयुगिति । कर्मयुक्त्वं |
| ४९८ | ५ | एव अत | अत एव |
| ४९९ | १८ | त्वपपाठः | त्यपपाठः |
| ५०० | १५ | अकर्मग्रहणे | अकर्मकग्रहणे |
| ५०४ | १४ | अभरेकारस्य | अभेरकारस्य |
| ५०५ | ३१ | अविद्यामाना | अविद्यमाना |
| ५०७ | १६ | प्रयोगाद्दर्शनेन | प्रयोगदर्शनेन |
| ५०७ | २८ | ननु तत्र | ननु तत्र |
| ५०९ | २० | प्रवचनीय | प्रवचनीय |
| ५०९ | २२ | प्रते व्यापकता | प्रतेर्व्यापकता |
| ५११ | २९ | द्योतकत्वाभावात् | द्योतकत्वाभावात् |
| ५१३ | २९ | अनभिप्रयतां | अनभिप्रयतां |
| ५२२ | ३१ | प्रथमया | द्वितीयादिकया |
| ५२४ | ३१ | वाणाय | वारणाय |
| ५२५ | २१ | इत्यावपि | इत्यादावपि |
| ५२७ | २४ | व्यधिककरणो | व्यधिकरणो |
| ५३६ | २६ | उत्तरदश | उत्तरदेश |
| ५३७ | १० | यद्विषयकत्व | यद्विषयकत्व |
| ५४१ | १६ | ग्राहयणी | ग्रहायणी |
| ५४२ | ३ | आग्रहाणी | आग्रहायणी |
| ५४६ | ३० | त्यङ्गीरे | त्यङ्गीकारे |
| ५४९ | ३२ | मलोपार्थ | मलोपार्थ |
| ५५० | ८ | कृतश्च | कृतश्च |
| ५५७ | २४ | विधेवाचके | विधेयवाचके |
| ५५८ | २३ | वाचकत् | वाचकात् |
| ५६० | १८ | समीहितस्या | समीहितस्या |
| ५६१ | ८ | त्समभिव्यार | त्समभिव्याहार |
| ५६७ | १० | जीभूतस्येवेति | जीभूतस्येवेति |
| ५६८ | २७ | समासे | समास |
| ५७१ | ५ | स्त्रोयस्या | स्त्रीप्रत्ययस्या |
| ५७६ | १ | सादृश्यावान् | सादृश्यवान् |
| " | १५ | एवापमान | एवोपमान |
| ५७८ | ६ | देवतत्ता | देवदत्ता |
| " | १६ | प्रश्नकाणम् | प्रश्नकारणम् |
| " | २५ | यदव्ययमिति | यदव्ययमिति |

लघुशब्देन्दुशेखरः ।



॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥

पातञ्जले महाभाष्ये कृतभूरिपरिश्रमः ॥

शिवभट्टसुतो धीमान् सतीदेव्यास्तु गर्भजः ॥ १ ॥

याचकानां कल्पतरोररिकक्षहुताशनात् ॥

शृङ्गवेरपुराधीशाद् रामतो लब्धजीविकः ॥ २ ॥

नत्वा फणीशं नागेशस्तनुतेऽर्थप्रकाशकम् ॥

पातञ्जल इति । पतञ्जलिना निर्मितं पातञ्जलं तस्मिन् "शेषे" इति लक्षणसूत्रेणाण् प्रत्ययः । ननु सर्वभाष्येष्वस्यैव भाष्यस्य महत्त्वान्महाभाष्यपदेनैव पातञ्जले भाष्ये इत्यर्थलाभे पातञ्जल इति विशेषणोपादानं व्यर्थमिति चेन्न । महात्मनां नामोच्चारणमपि मङ्गलाय भवतीति तदुपादानात् । केचित्तु चेन्न विनापि समुच्चय इति पातञ्जले योगशास्त्रे महाभाष्ये व्याकरणभाष्ये च इत्यर्थ इत्याहुः । *कृतभूरीति* । कृतः भूरिपरिश्रमो येन सः । कृतमहापरिश्रम इति यावत् । कृतभूरिपरिश्रम इत्यनेनात्रोक्तार्थाः सर्वे भाष्यसम्भवा इति बोध्यते । ननु भाष्ये कृतभूरिपरिश्रम इत्युक्त्या स्वस्य बुद्धिप्रतिभा नास्तीति प्रतीयते ऽत आह *धीमानिति* । *सतीदेव्या इति* । तथाच पिता साक्षाच्छिवसदृशो माता च सतीसदृशीति सत्कुलप्रसूतत्वं गम्यते । न च सतीदेव्या इत्यत्र कर्मधारये पुंवद्भावापत्तिरिति वाच्यम् । सतीं दीव्यति पानिब्रत्येन जेतुमिच्छतीति योगरूढिस्वीकारेणाऽदोषात् ।

अरिकक्षहुताशनादिति । कक्षः शुष्कतृणपुञ्जः, अरय एव कक्षस्तस्य हुताशनात् अग्निसदृशादित्यर्थः ।

नागेश इति । नचात्मनामेति निषेधात्स्वनामोपादानमनुचितमिति वाच्यम् । आत्मनामेति स्मृतौ न गृह्णीयादित्यस्य नोच्चारयेदित्यर्थेन लेखने दोषाभावात् । अत एव सर्वो व्यवहारकाण्डः सङ्गच्छते । यत्तु कूपखननन्यायेन स्वनामोच्चारणजं दुरितं नश्यतीति । तन्न । नान्तरीयकपापनाशस्यैव तन्न्यायविषयत्वात् । आत्मनामोच्चारणस्य ग्रन्थकरणनान्तरीयकत्वाभावात् । यदपि नत्वा फणीशमिति मङ्गलाचरणेन स्वनामोच्चारणजं पापं नश्यतीति । तदपि न । पुण्यपापयोः शब्दैकसमाधिगम्यत्वेन "समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्" इति शिष्टाचारानुमितश्रुत्या मङ्गलस्य समाप्तिफलकत्वबोधनेन अन्यफलकत्वकल्पनायाः कर्तुमशक्यत्वात् । सम्भवति दृष्टफलकत्वे ऽदृष्टफलकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । यदपि-नागेश इति न नाम किन्तु

मनोरमोमार्द्धदेहं लघुशब्देन्दुशेखरम् ॥ ३ ॥

ग्रन्थसमाप्तिग्रन्थप्रचारादिप्रतिबन्धकदुरितप्रशमाय समुचितऋषित्र-
यनमस्काररूपं मङ्गलमाचरन् शिष्यशिक्षायै व्याख्यातृश्रोतृणामनुषङ्गतो
मङ्गलाय च निवध्नाति । मुनित्रयमिति । कारकविभक्तेर्वलवत्त्वाद् द्विती-
या । परिभाष्येति । तच्छब्दस्य बुद्धिस्थपरामर्शकत्वात् प्राचामुक्तीस्ति-
रस्कृत्येत्यर्थः । मुनित्रयोक्तीर्विचार्येत्यर्थो वा । परिभावस्तिरस्कियेति को-
शात्तिरस्कारार्थकस्य धातोर्विचारार्थकत्वेऽपि न बाधकम् । धातूनामनेकार्थ-

नागः पतञ्जलिरीशः प्रवर्तको ऽन्तर्यामितयेति यौगिक इति । तदपि नाभ्यन्यस्य
नाम्नोऽप्रसिद्धा एतादृशार्थकल्पने मानाभावात् । *मनोरमोमार्द्धदेहमिति* ।
ग्रन्थपक्षे मनोरमैवोमा सैवार्द्धदेहो यस्येति बहुव्रीहिः । अथवा मनोरमोमाया अर्द्ध
द्यति खण्डयतीति मनोरमोमार्द्धदा । “आतोऽनुपसर्गे” इति कः प्रत्ययः । ईहा चेष्टा
यस्येत्यर्थः । एतेन परस्परं मनोरमाशेखरयोरगतार्थत्वं मनोरमोक्तासम्मतार्थानां
खण्डनञ्च सूचितम् । स्वस्युक्तानां सम्मतानां ग्रहणस्याऽसम्मतानां खण्डनस्य
च लोके दर्शनात् । ईश्वरपक्षे च मनोरमा मनोहरा योमा सैवार्द्धदेहो यस्ये-
त्यर्थः । अर्थप्रकाशकमित्यनेनाऽस्मिन्ग्रन्थे ऽर्थबाहुल्यमेव न शब्दबाहुल्य-
मिति सूचितम् । *समुचितेति*

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥

इति गीतावचनेन मुनित्रयस्य व्याकरणकर्तृत्वेनेश्वरांशत्वादिति भावः ।

व्याख्यातृश्रोतृणामिति । नचात्र “आनङ्गतः” इत्यानङ्गा भवि-
तव्यमिति वाच्यम् । पूर्वोत्तरपदयोर्विधायोनिसम्बन्धवाचिनोरेव तत्र ग्रहणेन
श्रोतृशब्दस्य तद्वाचकत्वाभावात्तदप्राप्तेः ।

वलवत्त्वादिति । नच विभक्तिशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वेन तत्सामाना-
धिकरण्याद् बलवतीत्वादित्यपोक्षितमिति वाच्यम् । कृतद्धितसमासैः
सम्बन्धाभिधानं भावप्रत्ययेनेति सिद्धान्तेन बलसम्बन्धस्य स्त्रीपुंससाधा-
रण्येन बलवच्छब्दात् त्वप्रत्ययेऽपि दोषाभावात् । अतएव पृथिव्या गन्ध-
वत्त्वं लक्षणमित्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते । अन्येतु कुक्कुटाण्डवत्स्त्रीत्वा-
विवक्षायां बलवच्छब्दात् त्वप्रत्यये साध्विदमित्याहुः । नच कृधात्वर्थफले ऽन्व-
यविवक्षायां द्वितीयैव प्राप्नोति नमःपदार्थेऽन्वयविवक्षायां चतुर्थ्यैव प्रा-
प्नोतीति युगपदुभयोः प्राप्त्यभावेन कारकविभक्तेर्वलवत्त्वाद् द्वितीयेत्यसङ्गतमिति
वाच्यम् । नमःशब्दस्य निपातत्वेन द्योतकतया द्योतकवाचकसमभिव्याहारे
विनिगमनाविरहेण विषयतायामुभयप्रयोज्यत्वमिति सिद्धान्तेन नमःस्वस्तीत्यस्य
नमःपदप्रयोज्यविषयतानिरूपितविषयताप्रयोजकत्वेन तात्पर्यविषयीभूताच्चतुर्थी-
त्यर्थेन कृधात्वर्थफलेऽन्वयविवक्षायामुभयोः प्राप्त्याऽसङ्गत्यभावात् ।

त्वात् । अत एव “परौ भुवोऽवज्ञाने” इति सङ्गच्छते । एतेन स्वग्रन्थस्य प्राचीनग्रन्थैरगतार्थता समूलत्वञ्च ध्वनितम् । भाविनोऽपि बुद्ध्या विषयीकरणदियमिति निर्देशः । सिद्धान्तप्रकाशकत्वेनातिदुरुहग्रन्थान्तरेभ्यः सिद्धान्तज्ञाने जायमानस्य क्लेशरूपसन्तापस्य शामकत्वेन च कौमुदीसादृश्यम् । अनेन वैयाकरणसिद्धान्ता विषयाः, तज्ज्ञानं प्रयोजनं, तज्जि-

नञ् स्वावधिकोत्कर्षप्रकारकज्ञानानुकूलव्यापारस्य नमःपदार्थत्वे यत्र चैत्रो विष्णुमित्रं नमस्करोति न यज्ञदत्तं तत्र चैत्रीयकरपुटसंवलनादिव्यापारेण चैत्रावधिकोत्कर्षप्रकारकज्ञानमुदासीनयज्ञदत्तस्यापि जातमिति यज्ञदत्तं नमस्करोतीति प्रयोगापत्तिरिति वाच्यम् । उत्कर्षविशिष्टज्ञानानुकूलव्यापारस्य नमःपदार्थत्वेनादोषात् । उत्कर्षवैशिष्ट्यञ्च ज्ञाने, स्वप्रकारकज्ञानविशेष्यसमवेतत्व-स्वप्रकारकत्वैतदुभयसम्बन्धेन । प्रकृते चोदासीनयज्ञदत्तज्ञाने स्वप्रकारकज्ञानविशेष्यसमवेतत्वाभावाच्च दोषः । यत्तु स्वाश्रयसमवेतत्व-स्वप्रकारकत्वैतदुभयसम्बन्धेन ज्ञाने उत्कर्षवैशिष्ट्यमिति । तन्न । यत्रोत्कर्षाश्रयत्वं बाधितं तत्र नमस्करोतीति प्रयोगानुपपत्तेः । यत्रोदासीनो वस्तुत उत्कृष्टस्तत्र नमस्करोतीति प्रयोगापत्तेश्च । नच स्थाणुं नमस्करोतीति प्रयोगानुपपत्तिः । स्थाणोरचेतनत्वेन स्वप्रकारकज्ञाने स्वप्रकारकज्ञानविशेष्यसमवेतत्वस्याऽभावादिति वाच्यम् । तत्र चेतनत्वभ्रमेण तदारोपेण देवतात्वारोपेण वा तादृशप्रयोगोपपत्तेः ।

शामकत्वेनेति । नच “नोदात्तोपदेशस्य” इति वृद्धिनिषेधाच्छमकत्वेनेत्यपेक्षितमिति वाच्यम् । शमक एव शामक इति स्वार्थिकाऽणन्तत्वस्वीकारेणादोषात् । क्वचित्तु शमकत्वेनेत्येव पाठः ।

ननु प्रवृत्तिमात्रं प्रति बलवदनिष्ठानुबन्धीष्टसाधनत्वप्रकारकज्ञानस्य कृतिसाध्यत्वप्रकारकज्ञानस्य च कारणत्वेन तदुत्पत्त्यर्थं ग्रन्थादाववश्यं यत्नः कर्तव्यः । निरुक्तज्ञानद्वयञ्चाऽनुबन्धज्ञानेन जायते । अनुबन्धाश्च विषयप्रयोजनसम्बन्धाधिकारिभेदेन चतुर्विधाः । ग्रन्थाध्ययनाविषयकप्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वमनुबन्धसामान्यलक्षणम् । तत्र विषयज्ञानादिष्टसाधनत्वप्रकारकं कृतिसाध्यत्वप्रकारकं चेति ज्ञानद्वयं जायते । विशिष्टबुद्धौ विशेष्यतावच्छेदकधर्मप्रकारकनिश्चयस्य कारणत्वात् । अधिकारिज्ञानेन च कृतिसाध्यत्वप्रकारकं ज्ञानजायते । प्रयोजनज्ञानेन चेष्टसाधनत्वप्रकारकं ज्ञानं जायते । सम्बन्धज्ञानेन चोभयज्ञानं जायते इत्यनुबन्धचतुष्टयनिरूपणमवश्यं कर्तव्यमित्याह । *अनेनेति* । *वैयाकरणसिद्धान्ता विषया इति* । चिन्त्यमिदम् । प्रवृत्तौ वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानस्पोद्देश्यत्वेन प्रवृत्त्युद्देश्यस्यैव विषयरूपानुबन्धत्वौचित्येन वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानं विषय इति लेखनस्यैवौचित्यात् । *तज्ज्ञानं प्रयोजनमिति* । इदमपि चिन्त्यम् । अन्यस्य प्रयोजनज्ञानेऽन्यत्र प्रवृत्तेरसम्भवात् । वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानस्य कौमुदीकरणप्रयोजनत्वेन वैयाकरणासिद्धान्तज्ञानत्वेन वैयाकरणसिद्धान्तज्ञानरूपविषयस्य प्रयोजनज्ञानमन्तराऽभ्येतुप्रवृत्त्यसम्भवात् । अनुबन्धचतुष्टयज्ञानस्यैवाऽध्ययनप्रवृत्तिप्रयोजकत्वाच्च । तस्मा-

ज्ञासुरधिकारीत्यादि सूचितम् ॥

अइउण् ॥ एषां क्रमबोधकत्वेऽप्यादिरन्त्येनेत्यनेनैकवाक्य-
तया वृत्तिपरिच्छेदकत्वेन संज्ञासूत्रत्वम् । क्रमस्य सज्ज्ञाद्वारैवोपयोगात् ।
एकवाक्यता चादिरकारादिरन्त्येनेता तत्सदृशेन णकारादिना सहोच्चार्यमाण
आद्यन्ताक्षिप्तानां सज्ज्ञेति । स्वौजसित्यादीनामप्येतदेकवाक्यतया सुबा-
दिसज्ज्ञासूत्रत्वं स्वादिविधायकत्वञ्चेति बोद्धव्यम् । एषु संहिताया

द्रक्षोहागमेत्यादि भाष्योक्तप्रयोजनमेव वक्तव्यम् । *तज्जिज्ञासुरधिकारीति* ।
इदमपि चिन्त्यम् । तज्जिज्ञासायाश्चाण्डालादेरपि सम्भवेन तस्याप्यधिकारित्वा-
पत्तेः । तस्मादधीतकाव्यकोशादिर्द्विजातिरधिकारीति वक्तव्यम् ।

ननु—

संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।

अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ॥

इत्याभियुक्तोक्तषड्विधसूत्रेषु अइउणित्यादि किं सूत्रमित्याह *एषामित्यादि* ।
क्रमबोधकत्वेनेति । एषां साक्षात्क्रमविषयकबोधजनकत्वाभावेन क्रमे-
णैव ज्ञायमानानामेषां प्रत्याहारपदघटितशास्त्रजन्याऽर्थबोधोपयोगित्वेनेति व्या-
ख्येयम् । *वृत्तिपरिच्छेदकत्वेनेति* । शक्तिनियामकत्वेनेत्यर्थः । *स्वा-
दिविधायकत्वञ्चेति* । नन्वेवं षड्विधं सूत्रलक्षणमित्यस्याऽसङ्गतिः, स्व-
समभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यमिथोविरुद्धावद्धर्मबोधनस्य विधापदा-
र्थत्वेन स्वौजसमौडित्यादौ विधिसूत्रत्वसंज्ञासूत्रत्वोभयसत्त्वेन परस्परविरुद्धत्वा-
भावेन विधापदार्थत्वानुपपत्तेरिति चेन्मैवम् । संज्ञासूत्रत्वत्वविधिसूत्रत्वत्वादीनां
परस्परविरुद्धत्वेन स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकसूत्रत्वत्वव्याप्यत्वेन च वि-
धापदार्थत्वोपपत्तेः । स्पष्टं चेदं हेत्वाभासशिरोमणौ—“ उपधेयसङ्करेऽप्युपाधी-
नामसाङ्कर्यात्” इत्यादिना ।

परे तु अइउणित्यादीनामत्वावच्छिन्नः साधुरित्यादिरीत्या वर्ण-
साधुत्वविधायकत्वेन विधिसूत्रत्वमेव । अतः “इष्टबुद्धयर्थश्च वर्णानामुप-
देशः कर्तव्य” इति भाष्यं सङ्गच्छते । आदिरन्त्येनेत्यनेनैकवाक्यतयेत्यादि मूलं
तु न युक्तम् । आदिरन्त्येनेति सूत्रे आदिपदस्यान्त्यपदस्य चाक्षरसमाप्ता-
यिकाऽकारादेरर्थत्वेन पदतदर्थयोरेकवाक्यतायाः कुत्राप्यदर्शनात् । अ-
न्यथा घटमानयेत्यादौ घटपदतदर्थयोरेकवाक्यतापत्तेरित्याहुः ॥

संहिताया अविवक्षयेति । नचाऽग्रे इको यणचितीत्यत्र उमुटमाशङ्क्य
सौत्रत्वान्नेत्युक्तम्, तत्रापि संहिताया अविवक्षया न उमुडिति कस्मा-
न्नोक्तम् । नच उमो ह्रस्वादचीत्यत्र संहितायामित्यधिकाराभाव इति वाच्यम् ।
तयोर्वावचि संहितायामित्यारभ्य संहितायामित्यधिकारस्य आऽध्यायप-
रिसमाप्तेः सत्त्वात् । तथाच तदेवात्र समाधानं युक्तम्, एतदेव वा स-
माधानं तत्र युक्तमिति वाच्यम् । तत्र संहिताया अविवक्षणे सूत्रद्वयापत्तेः ।

अविवक्षया न संहिताकार्यम् । अनुकरणत्वेन सौत्रत्वाच्च वर्णभ्यो न वि-
भक्त्युत्पत्तिः । कारप्रत्ययोऽपि न, बाहुलकात् ।

यत्तु “उपजीव्यविरोधात् सन्धिर्न । तथा ह्यजादिसञ्ज्ञाग्रहकाले “आद्-

पूर्वं संहितापठिताष्टाध्याय्याः संहिताया अविवक्षणेन सूत्रविभागस्य भा-
ष्यकृता कृतत्वात् । अइउणित्यादौ संहिताया अविवक्षया प्रत्येकं सूत्रत्वे-
ऽपि न क्षतिः । अत्वावच्छिन्नः साधुरित्वावच्छिन्नः साधुरित्यादिरीत्या
घर्णासाधुत्वाविधायकत्वेन प्रत्येकं सूत्रत्वस्येष्टत्वात् । एतदेव द्योतयितुं सौ-
त्रत्वादिति समाधानं त्यक्त्वा संहिताया अविवक्षयेति समाधानमुक्तम् ।
चतुर्दशसूत्रीव्यवहारस्त्वनुबन्धप्रयोज्य इति बोध्यम् ॥ *सौत्रत्वाच्चेति* चो
हेतौ । यतः सौत्रत्वमतोऽनुकरणत्वम् ।

स्यादेतत् । घर्णात्कार इत्यस्य यदि वर्णवाचकात्कारप्रत्यय इत्यर्थ-
स्तर्हि विसर्जनीयपदादपि कारप्रत्ययापत्तिः । नच यस्मात्कारप्रत्ययश्चिकी-
र्षितस्तद्धटकवृत्तिवर्णत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नविषयताकबोधतात्पर्येणोच्चारितात्कार-
प्रत्ययो भवतीत्यर्थे न दोष इति वाच्यम् । अनुनासिकप-
दस्य स्वघटकनकारवृत्त्यनुनासिकत्वरूपवर्णत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नविषयता-
कबोधतात्पर्येणोच्चारितत्वेन तस्मात्कारप्रत्ययापत्तेः । नच यस्मात्कारप्रत्यय-
श्चिकीर्षितस्तद्धटकवृत्तिवर्णत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नविषयताकबोधतात्पर्येणोच्चा-
रितात्कारप्रत्ययो भवतीत्यर्थेनानुनासिकत्वस्य गुणत्वेन न दोष इति वाच्यम् ।
गुणपदस्य, वर्णसंज्ञापक्षे धिनदीपदयोश्च स्वघटकाकारेकारवृत्तिवर्णत्वव्या-
प्यात्वेत्वादिजात्यवच्छिन्नविषयताकबोधतात्पर्येणोच्चारितत्वेन तेभ्यः कारप्रत्ययः
स्यात् । नच स्वघटकवृत्तिर्या वर्णत्वव्याप्या जातिस्तया साक्षादवच्छिन्ना या
मुख्यविशेष्यता तादृशविशेष्यताकबोधतात्पर्येणोच्चारितात्कारप्रत्ययो भवतीत्यर्थे
गुणादिपदस्थले बोधीयमुख्यविशेष्यताया अन्यतमत्वादिनैव साक्षादवच्छि-
न्नत्वान्न दोष इति वाच्यम् । ह्रस्वदीर्घपदयोरुच्चारणार्थकारादिघटितकिकु-
इत्यादिपदयोश्च साक्षात्स्वघटकवृत्तिवर्णत्वव्याप्यह्रस्वत्वदीर्घत्वकत्वादिजात्यव-
च्छिन्नमुख्यविशेष्यताकबोधतात्पर्येणोच्चारितत्वेन तेभ्यः कारप्रत्ययापत्तेरिति चेत्-

मैवम् । हकारादिषु पुनः पुनरकारोच्चारणेन व्यञ्जनद्योतकत्वमकारे एव
स्वीक्रियते नत्तिकारादौ, तथाच वर्णात्कार इत्यस्य वर्णविशिष्टात्कारप्रत्यय इत्य-
र्थः । वैशिष्ट्यश्च स्वनिष्ठवर्णत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नविशेष्यताप्रयोजकतापर्याप्त्य-
धिकरणघटितत्व—स्वनिष्ठवर्णत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नविशेष्यताप्रयोजकतापर्या-
प्त्यधिकरणेतराघटितत्वैतदुभयसम्बन्धेन । किशब्दादौ च द्वितीयसम्बन्धा-
भावान्न दोषः । नचाऽल्लोपोन इतिसूत्रोदाहृतेऽन्कारोऽस्कार इत्यादौ कारप्र-
त्ययानुपपत्तिरिति वाच्यम् । अनिनस्मिन्निति परिभाषया ऽनादिषु वर्णबोधक-
त्वातिदेशात् । अन्येतु एवकारो वषट्कार इत्यादाविव कारप्रत्ययादन्य एव
कारशब्दस्तेन समास इत्याहुः ।

उपजीव्यविरोधादिति । अविकृताऽकारादिषु गृहीता ऽजादिपदश-

गुणः” इत्यादीनामनिष्पत्त्या तदप्रवृत्तावविकृतरूपाकारादिषु गृहीताजादिपद-
शक्तिः पश्चादच्यत्याहारे ज्ञाते उपेन्द्र इवात्रापि तत्प्रवृत्तौ विरुद्ध्येत । न हि
सन्धिकार्ये कृतेऽविकृतरूपश्रवणं भवति” इति । तन्न । पुनरच्यदस्यार्थान्तरे
शक्त्यग्रहेण तद्विरोधाभावात् । न च सन्धौ सन्देहः । व्याख्यानतो
निर्णयसम्भवात् ।

ननु चतुर्दशसूत्र्यामक्षरसमाम्नाय इतिव्यवहारानुपपत्तिराम्नाय-
समाम्नायशब्दयोर्वेदे एव प्रसिद्धेरित्यत आह । माहेश्वराणीति ।
महेश्वरादागतानीत्यर्थः । महेश्वरप्रसादलब्धानीति फलितम् ।
एवञ्चैवमानुपूर्वीका श्रुतिरेवैषा । तत्प्रसादात्पाणिनिना लब्धा ।
श्रुतिमूलकत्वादस्यैव वेदाङ्गत्वम् । अत्र प्रमाणं—“येनाक्षरसमा-
म्नायमधिगम्य महेश्वरात् । कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तम्” इति शिक्षावचन-
म् । “लघुसूत्रे णकारविषयाचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—व्याख्यानत इति” इत्या-
दावाचार्यपदेन महेश्वरः । अनुबन्धाश्च महेश्वरकृता एवेत्यनुपदं स्फुटीभ-
विष्यति । “अमङ्गलनम्” इत्यत्र मकारप्रत्याख्यानपरं भाष्यं तु, किमदृष्टार्थ-
मेव तदुच्चारणमुत दृष्टार्थमपीत्येवंविचारपरम् । सर्वत्र प्रत्याख्यानमेवम्पर-
मेव । अन्यथा ऽङ्गानामपि पारायणे धर्मश्रवणेन तत्र तत्र पाणिनिन्यासप्र-
त्याख्यानस्याप्यसङ्गतिः स्यात् । तदुक्तम् “इको यणचि” इति सूत्रे-

“सामर्थ्ययोगान्नहि किञ्चिदत्र पश्यामि शास्त्रे यदनर्थकं स्यात्” इति ।

किञ्चिद् दृष्टादृष्टार्थवत्, किञ्चिच्छ्रुद्वादृष्टार्थवत्, सर्वथा ऽनर्थकं न
किञ्चिदिति तदर्थः । वृद्धिसूत्रस्थे—“वर्णेनाप्यनर्थकेन न भवितव्यम्” इति
भाष्यग्रन्थेऽनर्थकत्वं बोध्यार्थराहित्यरूपमिति न निष्प्रयोजनत्वरूपानर्थक्येन
तत्र तत्र प्रत्याख्यानपरभाष्यासङ्गतिः । अत एव “सोऽयमक्षरसमाम्नायः

किः स्वोपजीव्याविकृतत्वविघातकाऽऽदूगुणइत्यादिप्रवृत्तिं प्रति निमित्तं न भव-
तीति भावः । *विरोधाभावादिति* । आदिरन्त्येनेतिसूत्रबोधिता शक्तिरकारा-
दिचान्तसमुदायघटकत्वावच्छिन्ने तादृशसमुदायघटकबोध्यत्वावच्छिन्ने वा नत्व-
विकृततादृशघटकत्वावच्छिन्ने तादृशघटकबोध्यत्वावच्छिन्ने वेत्याविकृतत्वसु-
पजीव्यमेव नास्तीति प्रकृते उपजीव्यविरोधाऽभावेन सञ्ज्ञिपातपरिभाषाया अप्र-
वृत्तिरिति भावः ।

अस्यैव वेदाङ्गत्वमिति । चिन्त्यमिदम् । पाणिनीयव्याकरणोत्पत्तेः
प्राग्वेदस्य पञ्चाङ्गत्वापत्तेः । तैत्तिरीयशाखायामैन्द्रव्याकरणस्य प्रशंसाद-
र्शनेन तस्यापि वेदमूलकत्वाच्च । *एवंविचारपरमिति* । एवं विचार्य

पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो ब्रह्मराशिः” इति भाष्यमुपादायोक्तं भर्तृहरिणा । “यथैवेदमव्युच्छिन्नं चन्द्रतारकादि एवमस्याक्षरसमाम्नायस्य न कश्चिद् आधुनिकः कर्त्तास्ति एवमेव वेदपारम्पर्येण स्मर्यमाण” इति । आधुनिकः शरीरी । पुष्पितत्वं तन्मूलकशब्दशास्त्रद्वारेण । शब्दप्रयोगेण च फलितत्वम् । उक्तञ्चैतच्चतुर्दशसूत्रव्याख्यायां नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायाम्—

वृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढकां नवपञ्च १४ वारम् ।

उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शे शिवसूत्रजालम् ॥

अत्र सर्वत्र सूत्रेषु अन्त्यं वर्णचतुर्दशम् ।

धात्वर्थं समुपादिष्टं पाणिन्यादीष्टसिद्धये ॥ इति ।

धात्वर्थं धातुमूलकशब्दशास्त्रप्रवृत्त्यर्थम् । अत एव “अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः” इत्युक्तं भाष्ये । अत्र करणशब्दप्रयोगेणानुबन्धानां सादित्वं सूचितम् । तत्करणञ्चोपदेशकर्तृकर्तृकमेव प्रत्यासत्तेः । तेन तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्यानादित्वं सूचितम् । अत्र सनकाद्युद्धरणेच्छया ऽस्य ब्रह्मोपदेशरूपत्वं सूचितम् । तच्च श्रुतित्वाभावे न सङ्गच्छते । “श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः” इत्युक्तेः । ऋकूतन्त्रव्याकरणे शाकटायनोऽपि—“इदमक्षरच्छन्दो वर्णशः समनुक्रान्तं यथाऽऽचार्या ऊचुर्ब्रह्मा बृहस्पतये प्रोवाच बृहस्पतिरिन्द्रायेन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाज ऋषिभ्य ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते, न शुक्ला न नक्तं प्रब्रूयात् ब्रह्मराशिरिति” । ब्रह्मराशिरित्यस्य ब्रह्मप्रतिपादको वर्णराशिरित्यर्थः । तत्त्वञ्च नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायां स्पष्टम् । अत एव “वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः कर्तव्यः” इति भाष्ये उक्तम् । पाणिनेर्लघवेन शास्त्रप्रवृत्तिफलको यः समवायो वर्णानां क्रमेण सन्निवेशस्तदर्थ इति तदर्थः । स चाणादिप्रत्याहारद्वारा शास्त्रप्रवृत्त्यर्थः ।

शुद्धाऽहृष्टार्थमेवेत्येवंपरमित्यर्थः । *वर्णचतुर्दशमिति* । वर्णाश्चतुर्दश इत्यर्थे आर्षे साधुत्वम् । अन्त्या वर्णाश्चतुर्दशेति कचित्पाठः । *धात्वर्थमिति । सनकादिपक्षे धात्वर्थमित्यस्य क्रियावाचकपदसम्पत्त्यर्थमित्यर्थः । स्पष्टञ्चेदम् “अः परमात्मा इम् मायामाश्रित्य उर्व्यापको ण् आसीदित्यादिना नन्दिकेश्वरकृतकाशिकायाम् । *श्रुतित्वाभावे न संगच्छते इति* । चिन्त्यमेतत् । गीताऽऽदीनां श्रुतित्वाभावेन ब्रह्मोपदेशत्वाऽऽसङ्गत्यापत्तेः । नच “श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः” इति स्मृतिविरोध इति वाच्यम् । श्रुतिवाक्येभ्य इत्यस्य श्रुत्यर्थप्रतिपादकवाक्येभ्य इत्यर्थकरणेनाऽविरोधात् । *तदर्थ इति* । अन्येतु वृत्तिः

एवञ्चायमुपदेशः पाणिनेरन्यकृत इति स्पष्टमेवोक्तम् । मन्त्रोपदेश इतिव-
च्चात्रोपदेशपदप्रयोगः । अत एवास्य ज्ञाने सर्ववेदपारायणजं पुण्यं फलमिति
भाष्ये उक्तम् । व्याकरणमुपक्रम्य “वेदानां वेदः” इति छन्दोगश्रुतिरप्ये-
तत्परैवेति दिक् ।

तत्प्रयोजनमाह । सञ्ज्ञार्थानीति । एतच्चोपपादितम् । स-
ञ्ज्ञाप्रणयनञ्च लाघवेन शास्त्रप्रवृत्त्यर्थमिति बोध्यम् । संज्ञार्थत्वोपपत्तये
आह । एषामिति । अकारश्चेति । तेन रप्रत्याहारसिद्धिः । अनन्त्यत्वा-
त्पृथगुक्तिः । इदं तुल्यास्यसूत्रस्थकैयटानुरोधेन ।

परे त्वस्यानुनासिकत्वे “अतोऽत्रा” इति सूत्रे पाणिर्निर्लकारं
नोच्चारयेत् । प्रत्याहारेणैव निर्वाहात् । किञ्चास्येत्सञ्ज्ञकत्वे ब-
हुषु यणपदघटितसूत्रेष्वर्द्धमात्रालाघवानुरोधेन यप्रत्याहारेणैव व्यवहरे-
त् । किञ्चानुबन्धानामचप्रत्याहारे ग्रहणाभावे आचारादप्रधानत्वाल्लो-
पश्च बलवत्तर इति भाष्योक्तस्य तृतीयहेतोरव्यापकत्वापत्तिः । तव
लोपस्य बलवत्त्वेऽपि हल्प्रत्याहारसिद्धेः प्रागचपदार्थनिष्पत्त्यभावे-
नोपदेशेऽजित्यस्य वाक्यार्थाभावेन लणित्यकारस्येत्सञ्ज्ञालोपयोरभा-
वेन प्रत्याहारेषु जातिग्रहणपक्षस्यैव भाष्यकृता सिद्धान्तितत्वेन हल्प्रत्या-

रादिरन्त्येनेतिसूत्रबोधितशक्तिस्तस्याः समवायः सम्यग्ज्ञानं तत् अर्थः प्रयोज-
नं यस्येत्यर्थ इत्याहुः ।

* लकारं नोच्चारयेदिति * । यच्च “अतोऽत्रा” इति सूत्रे लकारोच्चा-
रणेन रप्रत्याहारोऽनित्यः, तेन रषाभ्यां रडाभ्यामित्यादौ न लग्नग्रहणमिति । तन्न ।
रप्रत्याहारोऽनित्य इत्यस्य यदि रनिष्ठा रेफलकारोभयनिरूपिता शक्तिरनित्ये-
त्युच्यते तदा वैयाकरणानां मते शब्दानां नित्यत्वेन तन्निष्ठस्वरूपसम्बन्ध-
रूपबोधजनकरूपशक्तेरपि नित्यत्वेन तदनित्यत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् । श-
क्तिज्ञानतदधीनोपस्थित्यादीनां द्विक्षणावस्थायित्वेन तदनित्यत्वकथनस्याप्य-
नुपयुक्तत्वेन रप्रत्याहारोऽनित्य इत्यस्य तन्निष्ठशक्तिज्ञानादिकमनित्यमित्यर्थ-
स्य वक्तुमशक्यत्वात् । नच रप्रत्याहारोऽनित्य इत्यस्य रपदं सर्वत्र रल्
इत्युभयतात्पर्येण नोच्चारितमित्यर्थ इति न दोष इति वाच्यम् । कोभयता-
त्पर्येणोच्चारितं क्वच नेत्यस्य व्याख्यानत एव निर्णयत्वेन “उरण् रपर” इत्य-
त्र अतोऽत्रेत्यत्र, च रपदं रेफलकारोभयतात्पर्येणोच्चारितमन्यत्र नेति व्या-
ख्यातुं शक्यत्वेन पुनरपि लकारोच्चारणवैयर्थ्यापत्तेः । * यप्रत्याहारेणैव व्यव-
हरेदिति * । नच पर्यायपदानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते इतीदमसङ्गतमि-
ति वाच्यम् । लणसूत्रे णकारोच्चारणं न कर्तव्यमिति ग्रन्थतात्पर्येण यणपद-
यपदयोः पर्यायत्वाभावेन परिभाषाया अप्रवृत्त्या ग्रन्थसंज्ञतेः । * अव्यापकत्वा-

हारे लणित्यकारप्रवेशे मामाँस्त्रायस्वेत्यत्रानुनासिकपक्षेऽनुस्वारापत्तिर्दुर्वारा ।
सोऽस्तीत्यादौ सुलोपाद्यापत्तिश्च । अत एव “प्रत्याहारेऽनुबन्धानां
कथमज्ग्रहणेषु न” इत्यनेन प्रत्याहारे वर्णसमाम्नाये य एतेऽक्षु अञ्बोधक-
सूत्रेषु प्रत्याहारार्था अनुबन्धाः क्रियन्ते तेषामज्ग्रहणेन ग्रहणं कस्मान्नेत्यर्थ-

पत्तिरिति* । नच हेतोरव्यापकत्वं गुणः । व्यापकत्वे हि हेतुर्व्यभिचारी
स्यादिति वाच्यम् । हेतोरव्यापकत्वापत्तिरित्यस्य पक्षतावच्छेदकाव्यापक-
त्वापत्तिरित्यर्थः । तथाच हेतोः पक्षतावच्छेदकाव्यापकत्वे भागासिद्ध्या
भाष्यासङ्गतिरित्याशयात् ।

अत्रानुमानश्चेत्थम्-अनुबन्धाः प्रत्याहारजन्यबोधविषयत्वाभाववन्तः “तस्य-
लोप” इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वात् । नच “अङ्गुण” इत्यादिस्थण-
कारादिष्वल्प्रत्याहारजन्यबोधविषयत्वस्य हल्प्रत्याहारजन्यबोधविषयत्वस्य
च सत्त्वेन प्रकृतसाध्यस्याऽभावेन प्रकृतहेतोश्च सत्त्वेन प्रकृतहेतुर्व्यभिचारीति
न तेन साध्यसिद्धिरिति वाच्यम् । स्वेतरो यः स्ववृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छे-
दकधर्मावच्छिन्नः तदबोधकप्रत्याहारजन्यबोधविषयत्वाभावस्य साध्यत्वेन
अल्हल्प्रत्याहारयोश्चाऽनुबन्धणकारादीतरस्ववृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेद-
कधर्मावच्छिन्न “अमङ्गणनम्” इत्यादिघटकणकारादिवोधकत्वेन तयोः प्रकृत-
साध्यदलस्थप्रत्याहारपदग्रहणानर्हत्वेनादोषात् । नच लग् सूत्रस्थाऽकारे ऽच्-
प्रत्याहारसिद्धेः प्रागनुबन्धत्ववस्यैवाऽभावेन न हेतोः पक्षतावच्छेदकाव्यापकत्वा-
पत्तिरिति वाच्यम् । लोपशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकेऽसंज्ञकत्वरूपरूपानुबन्धत्व-
स्य हेतुत्वेन तस्य पक्षतावच्छेदकत्वासम्भवेन तदुपलक्षितस्य णकाराद्यन्यत-
मत्वस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वेन तस्य चाच्प्रत्याहारसिद्धेः प्रागपि सत्त्वेन इत्संज्ञ-
कत्वहेतोः तदव्यापकत्वस्य दुर्वास्त्वादिति दिक्

सुलोपाद्यापत्तिश्चेति । नच “एतत्तदोः” इति सूत्रारम्भसामर्थ्येनाकारस्य
हलत्वं नेति कल्प्यते, अन्यथा एष विष्णुः स शम्भुः इत्यादौ हलः परत्वेन हल्ङ्यादि-
लोपेन सिद्धेः “एतत्तदोः” इति सूत्रवैयर्थ्यस्य स्पष्टत्वादिति वाच्यम् । तद्वैयर्थ्येन ला-
घवाल्लण्सूत्रस्थाऽकारानुनासिक्याप्रामाण्यकल्पनस्यैव ज्यायस्त्वात् । नचैवमपि
रेफादिषु जातझलत्वादेरिव लण्सूत्रस्थाकारे जातहलत्वस्यापि निवृत्तिर्भविष्यतीति
न दोषः, अन्यथा झल्प्रत्याहारसिद्धिवेलायां द्वितीयहलन्त्यमित्यस्य वाक्यार्थ-
बोधाभावेन “शषसर” इत्यत्रत्यरेफस्येत्संज्ञालोपयोरभावेन झलग्रहणेन तद्ग्रहणे
गीर्भ्यामित्यादौ जश्वाद्यापत्तिरिति वाच्यम् । इत्संज्ञालोपाभ्यां झलत्वादेर्नि-
वृत्तावप्युपजीव्यविरोधेन हलत्वस्याऽनिवृत्तेः । लण्सूत्रस्थाकारवृत्तिहलत्वनि-
वृत्तिं प्रति निमित्तयोः “उपदेशेऽजनुनासिक इत्” “तस्यलोपः” इतीत्संज्ञालोपयोः
हलत्वमुपजीव्य प्रवर्तमानत्वात् । वस्तुतस्तु लण्सूत्रस्थाकारस्याऽऽनुनासिक्ये
ऽपि भाष्योक्ततृतीयहेतोर्नाव्यापकत्वापत्तिः । णकाराद्यन्यतमत्वशरीरे लण्सू-
त्रस्थाकारभेदं निवेद्य अव्यापकत्वापत्तिदानस्यानुचितत्वात् । “तस्यलोप”
इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तियोग्यत्वस्य हेतुत्वविवक्षणेन चाऽव्यापक-

केनाच्प्रत्याहारे शङ्का कृता, न हल्प्रत्याहारे । भाष्ये च “अइउण्” इत्या-
दिसूत्रचतुष्टयोपादानेनैवास्य प्रवृत्तिर्दर्शिता । तत्र प्राधान्यं प्रत्याहारेषु
ग्रहणार्थत्वरूपं, हल्लु च तथोपदेशस्तेषाम्, अक्षु तु स्वराणामेव तथोप-
देश इति प्राधान्यात्तेषामेव सञ्ज्ञित्वमिति भाष्ये स्पष्टम् । न च हशादिप्र-
त्याहारे टग्रहणस्यापत्तिरिति वाच्यम् । हकारादिषु पुनः पुनरकारोच्चार-
णेन उच्चारणार्थवर्णरहितहलां तद्धटितप्रत्याहारे ग्रहणाभावरूपं वक्तुं श-
क्यत्वात् । तद्विषयप्रयोगाणामनाभिधानाच्च । तस्मादस्यानुनासिकत्वमप्रामा-
णिकम् । “उरण् रपरः” इत्यत्र लग्रहणं कर्तव्यमेव । ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यव-
दित्याहुः ।

ननु ह्येत्यादावकारोच्चारणेन तस्य हलत्वप्रसङ्गोऽत आह । हका-
रादिष्विति । “न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति” इति “उच्चैरु-
दात्तः” इतिसूत्रस्थभाष्यात् । “एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते, यत्तुल्यजाती-
याँस्तुल्यजातीयेषूपदिशति, अचोऽक्षु हलो हल्लु” इति प्रत्याहारेऽनुबन्धा-
नामित्यत्र भाष्याच्चेति भावः ।

स्यादेतत् । “न विभक्तौ” इत्यादेः सार्थक्याय हलन्त्य-

त्वापत्तेरभावाच्च ।

न हल्प्रत्याहारे इति । वस्तुतो नेदमपि साधकम् लग्नसूत्रस्थाकारस्या-
ऽऽनुनासिक्याभावे । इगादिप्रत्याहारे शङ्काया अकरणवद्धलप्रत्याहारे
शङ्काया अकरणेऽपि क्षतिविरहात् । वक्ष्यमाणानामप्रधानत्वादिहेतूनां सा-
मान्यतः प्रत्याहारजन्यबोधविषयत्वाभावसाधकत्वेन अजग्रहणेषु नेत्यत्र
“अच्” इति प्रत्याहारमात्रोपलक्षणमित्यवश्यं वक्तव्यत्वाच्च । “नचो-
दाहरणमादरणीयम्” इत्यभियुक्तोक्तेश्च । नच हल्लु चेत्युक्त्याऽप्राधान्या-
दिति हेतोः “हयवरट्” इत्यादिस्थानुबन्धेष्वभावेन सामान्यतः प्रत्याहारजन्य-
बोधविषयत्वाभावसाधकत्वमस्य नैवास्तीति वाच्यम् । अनुबन्धानां महेश्वर-
कृतत्वेन तदितरस्य च वेदघटकत्वेन प्राधान्यमिति “हयवरट्” इत्यादिसूत्र-
स्थानुबन्धेष्वपि अप्राधान्यस्य सत्त्वात् । नचैवमपि “स्वौजसमौट्” इत्यादिसू-
त्रस्थाऽनुबन्धेष्वप्राधान्याभावेन न सामान्यतः प्रत्याहारजन्यबोधविषय-
त्वाभावसाधकत्वमस्येति वाच्यम् । अप्राधान्यादिति हेतोः सामान्य-
तः प्रत्याहारजन्यबोधविषयत्वाभावसाधकत्वाऽभावेपि लोपादिति हे-
तोराचारादिति हेतोश्च सामान्यतः प्रत्याहारजन्यबोधविषयत्वाभावसाधकत्वे-
नाऽऽपदं प्रत्याहारमात्रोपलक्षणमिति वक्तुं शक्यत्वात् । सुबादिप्रत्याहारे-
ऽनुबन्धग्रहणे क्षतिविरहाच्च । एवं भाष्ये अइउणित्यादिसूत्रचतुष्टयोपादानं
प्रत्याहारनियामकसूत्रमात्रोपलक्षणम् । *तेषामेव संज्ञित्वमिति* । अन्ये
त्वादिस्त्येनेत्यत्र श्रुत्याऽऽदिसाजात्याच्छ्रुतिघटकानामेव हलादिसंज्ञा, नाऽ-

मित्यस्योपदेशेऽन्त्यं हल् इदित्यर्थस्यावश्यकत्वेन हलन्त्यमादिरन्त्येने-
त्यनयोः परस्परापेक्षत्वेनान्योन्याश्रयाल्लकारे इत्संज्ञामबोधयित्वा हलामि-
त्संज्ञाबोधनं पाणिनेरयुक्तम् । न च हयवरेत्यादेरावृत्त्या शेषसरित्यन्तं
समुदायमुद्दिश्य “हल्” इत्यनेन हल्संज्ञाऽपि विधेयेति वाच्यम् । दशसूत्रा-
ऽऽवृत्तौ गौरवात् । ननु उपदेशे इदन्त्यम्, अच्, अनुनासिकः इति सूत्रत्रयमस्तु,
अजित्यनन्त्यार्थम् । तृतीये ऽजित्यनुवृत्तिसामर्थ्यादच्चेदिद्भवति तर्ह्यनुना-
सिक एवेति नियमाश्रयणाद्गुप्रभृतौ न दोषः । योगविभागसामर्थ्याच्चान-
न्तरस्येति न्यायं बाधित्वा व्यवहितस्यापि तेन नियमः । मिदचोन्त्यादि-
ति ज्ञापकाच्च न विपरीतनियमः । एवञ्च हलग्रहणमपि व्यर्थमन्योन्याश्र-
यश्च न । न च पाणिनिः सूत्रभेदे पारायणादावदृष्टहानिः । तथा च तत्र तत्र
भाष्यम् “अपाणिनीयन्तु भवति” इति वाच्यम् । कल्प्यमानन्यासस्य लघुत्वे-
ऽस्यादोषत्वात् । “सूत्रभेदं तमुपाचरन्ति यत्र तदेवाऽन्यत् सूत्रं क्रियते भूयो
वा, यदि तदेवोपसंहृत्य क्रियते नासौ सूत्रभेदः” इति “अच उपसर्गात्” इति
सूत्रभाष्यात् । नासौ सूत्रभेद इत्यस्य दोषायेति शेषः । सति सम्भवे दृष्ट्वा-
रैवाङ्गानामदृष्टार्थत्वमिति तदाशयः । अत एव तत्र तत्र ज्ञापकपरसकलभा-
ष्योच्छदो नेति चेन्न । योगविभागनियमज्ञापकाश्रयणे ऽतिगौरवात् । न हि
वर्णाभिव्यक्तिजनककण्ठाद्यभिधातगौरवमेवादत्तव्यं, न तु ज्ञानजनकमनो-
व्यापारगौरवमिति राजाज्ञाऽस्ति । न च सह आसमन्ताद् एति गच्छती-
ति सहेता मध्यमो वर्ण इत्यर्थ इति, अतो नान्योन्याश्रय इति वाच्यम् ।
अन्योन्याश्रयतत्परिहारादीन् वदता भाष्यकारेण कटी वीत्यत्र प्रश्लिष्टा-
दीङ्गतावित्यतश्च सहाऽऽङ्पूर्वात्तृजभावबोधनात् । किञ्च योगमर्यादया
तत् उक्तार्थालाभः । आसमन्तादित्यस्यानन्वितार्थत्वं व्यर्थत्वञ्च । रूढौ
तु न मानमतः सूत्रावृत्त्या तं परिहरति । हलन्त्यमिति ।

भाष्येऽप्यन्योन्याश्रयमाशङ्क्य “हलन्त्यमित्संज्ञं भवति लकारश्चेद्भवतीति
वक्तव्यमित्युक्तवैकशेषनिर्देशाद्वा सिद्धम् । हल् च हल् च हल् हलन्त्यमित्” इ-

नुबन्धानाम् । अत एव हशादिप्रत्याहारे न टग्रहणापत्तिरित्याहुः । *अ-
न्योन्याश्रयादिति* । स्वज्ञप्त्यधीनज्ञप्त्यपेक्षत्वस्वाधीनोत्पात्तिकापेक्षत्वा-
न्यतरवत्त्वमन्योन्याश्रयसामान्यलक्षणम् । *गौरवादिति* । चिन्त्यमिदम् ।
गौरवस्य सापेक्षत्वेनान्योन्याश्रयपरिहारान्तरस्याऽद्याप्यदर्शितत्वेनैतच्छ-
ङ्गासमाधानादेरसङ्गतत्वात् । “तस्मात्पाणिनेरयुक्तम्” इत्यस्यानन्तरम् “अतः
सूत्रावृत्त्या तं परिहरति हलन्त्यमिति” इति लेखनीयम् । तदनन्तरं नचे-

त्युक्तम् । तस्यायं भावः । कृतैकशेषेण हल्पदेन सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या समा-
सोऽन्त्यशब्दस्य च द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्येवोभयत्रान्वयः । एवञ्च हल्सूत्रा-
न्त्यं हलरूपान्त्यं चेति बोधः । अन्त्ये राहोः शिर इतिवत् षष्ठीति । अ-
त्रोच्चारयितुरेकशेषनिर्देशो बोद्धुस्त्वावृत्त्या बोधः । हसमीपो लकार इत्
हलरूपान्त्यश्चेति कैयटोक्तव्याख्यायां तु हल् इत्सञ्ज्ञम्भवति हलन्त्यश्चेदि-
ति वदेदित्यूहम् ।

नन्वेवमपि न विभक्ताविति विभक्तिपदबोध्यमुपिङ्ग्वोधो हलन्यमिति
वाक्यार्थबोधोत्तरं, तद्बोधश्चापवादवाक्यार्थबोधोत्तरमित्यन्योन्याश्रयस्तद-
वस्थ एवेति चेन्न । अपवादवाक्यार्थबोधात्पूर्वं पदपदार्थोपस्थितावुत्सर्गवा-
क्यार्थबोधे प्रतिबन्धकाभावात् । न ह्यभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानस्येव प्रति-
योगिज्ञानेऽभावज्ञानस्य कारणता कस्यापि सम्मता । प्रतियोगिज्ञानं विना
निषेधवाक्यार्थाऽसम्भवाच्च ।

“ पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः ” इत्यस्यत्वयं भावः-
लक्षणैकचक्षुष्कस्य उद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने सर्वत्रोत्सर्गकृतसंस्कारबुद्धावु-
त्सर्गापवादयोर्विषयव्यवस्थानापत्त्या भुक्तवन्तम्प्रति मा भुक्था इति
वाक्यस्येवापवादशास्त्रवैयर्थ्यापत्त्या चापवादशास्त्रपर्यालोचनेन तद्विषयल-

त्यादिशङ्कासमाधी । *अदृष्टार्थत्वमिति* । वस्तुतस्तु एवमेव न्यासः पाणिनिना
कस्मान्न कृत इति पूर्वपक्ष्याशय इति नाऽपाणिनीयत्वशङ्कालेशः । एवमेव सर्वेषु ल-
घुन्यासपूर्वपक्षेषूह्यमिति दिक् । *प्रतियोगिज्ञानस्येवेति* चिन्त्यमिदम् । अभावः
पदार्थोऽभावः प्रमेयोऽभावश्चतुर्विध इत्यादौ प्रतियोगिज्ञानाभावेऽपि अभावज्ञान-
स्य जायमानत्वेनाऽभावज्ञाने प्रतियोगिज्ञानत्वेन कार्यकारणभावस्याऽप्रामा-
णिकत्वात् । नच प्रतियोगिविशोषिताऽभावज्ञानं प्रतियोगिज्ञानमन्तरा न संभव-
तीति प्रतियोगिज्ञानं प्रतियोगिविशोषिताभावज्ञानम्प्रति कारणम् । तथाच मूल-
स्थाऽभावज्ञाने इत्यस्य प्रतियोगिविशोषिताभावज्ञाने इत्यर्थ इति नाऽसङ्गतिरिति
वाच्यम् । विशिष्टबुद्धौ विशेषणज्ञानत्वेन कार्यकारणभावस्य क्लृप्ततया तेनैव
प्रतियोगिविशोषिताभावबुद्ध्युपपत्तौ निरुक्तकार्यकारणभावस्य निर्युक्तिकत्वात् ।

अन्ये तु नञ्पदार्थतावच्छेदकं यद्विलक्षणं रूपं तेन रूपेणाऽभावज्ञानं प्रति-
योगिज्ञानमन्तरा न सम्भवति, अत एव नेत्युक्तौ किञ्चेति जिज्ञासाऽवश्यमुदेति,
तथा चाऽभावज्ञानस्येत्यस्य नञ्पदवाच्यतावच्छेदकविलक्षणरूपेणाऽभावज्ञान-
स्येत्यर्थ इति नासङ्गतिरित्याहुः । *निषेधवाक्यार्थासम्भवाच्चेति* । इदमपि
चिन्त्यम् । “ न विभक्तौ ” इत्यादावित्पदस्याऽनुवृत्तत्वेन श्रवणोन्दिष्येणैव प्रतियोगि-
ज्ञानस्य जायमानत्वेन पाणिनिसङ्केतसम्बन्धावच्छिन्नेत्पदत्वावच्छिन्नप्रतियोगिता-
काभावत्वेन “ हलन्त्यम् ” इति वाक्यार्थबोधात्प्रागपि “ न विभक्तौ ” इत्यादेः

क्ष्यसंस्कारं निर्णीय तदविषयं तत्तल्लक्ष्यं तत्तद्विषयवाक्योपप्लवद्वारोत्सर्गेण संस्करोति, अन्यथा विकल्पापत्तिरिति । यद्यपि भुक्तवन्तं प्रतीति न्यायो लुगादिना जातनिवृत्तेर्व्यभिचरितस्तथापि तत्राप्यनुत्पत्तिरेवेति न दोषः । न्यायानङ्गीकारेऽपि विकल्पापत्तेः सत्त्वाच्च । अभिनिविशन्त इत्यस्य बुद्ध्यारूढा भवन्तीत्यर्थः । लक्ष्यैकचक्षुष्कस्तु तत्तच्छास्त्रपर्यालोचनं विनापि अपवादविषयं परित्यज्योत्सर्गेण लक्ष्यसंस्कारञ्जानीते, तस्यापि शास्त्रप्रक्रियास्मरणपूर्वकप्रयोग एव धर्मोत्पत्तेः । तदुक्तम् — “प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गः प्रवर्तते” इति । प्रकल्प्य परित्यज्य ।

यत्तु प्रकल्प्य चेत्यस्यायमर्थः । यथा “न सम्प्रसारण इति वचनात् परस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणं पूर्वस्य तु तन्निमित्तः प्रतिषेधः” इति अभ्यस्तसञ्ज्ञासूत्रे कैयटः । तच्च । “न सम्प्रसारणे” इति सूत्रस्थभाष्यविरोधात् । तत्र हि “एतदेव ज्ञापयति परस्य न पूर्वस्येति । यद्वा सम्प्रसारणाश्रयस्य प्रतिषेधः” इत्याद्युक्तम् । न हि न्यायेन सिद्धे एवमुक्तिरुचिता ।

शाब्दबोधसम्भवात् । निषेधसाफलयाय निषेध्यबोधसापेक्षत्वेऽपि निषेधवाक्यार्थबोधम्प्रति निषेध्यवाक्यार्थस्य कारणत्वे मानाभावाच्च । *तत्राप्यनुत्पत्तिरेवेति* । नच भवेत्यादौ हेर्लुक्क्यपि सिपः श्रवणं स्यात्, एवं रीत्या सर्वत्रादेशस्य लुकि स्थानिनः श्रवणापत्तिरिति वाच्यम् । लुग्विधायकशास्त्राणां तात्पर्यग्राहकत्वं स्वीकृत्य तत्तदादेशविधायके “सेह्यपिच्च” इत्यादौ लोद्स्थानिकसिप्त्वाद्यवच्छिन्नस्य स्थाने ऽदन्ताङ्गाव्यवहितोत्तरत्वाभावविशिष्टो हित्वाद्यवच्छिन्नो भवतीति अभ्यासत्वावच्छिन्नमुद्दिश्याऽऽदीतरहलनिवृत्तिपूर्वकाऽऽदिर्हल् शिष्यते इति “हलादिशेष” इत्यत्रेवा ऽर्थस्वीकारेण सिप्त्वावच्छिन्नस्य स्थानित्वेन तन्निवृत्तिर्भवतीत्यदोषात् । “लुग्वादुह” इत्यादिविभषालुग्विषये च दन्त्याद्यात्मनेपदाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टदुहाद्यव्यवहितोत्तरत्वस्वाभावत्वैतदन्यतरविशिष्टकसत्त्वावच्छिन्नः चित्त्वावच्छिन्नस्य स्थाने भवतीति यत्र कसोऽनुत्पन्नस्तत्रत्यं दुहाद्यव्यवहितोत्तरत्वाभावसामानाधिकरण्यमादाय कस-तदभाव एतदन्यतरघटितं रूपं भवतीति चित्त्वावच्छिन्नस्य स्थानित्वेन तस्य कुत्रापि श्रवणं न भवतीति न दोषः । वस्तुतस्तु लुकाऽनुत्पत्तेरन्वाख्यानं चिन्त्यमेव । अन्यादेशोष्विव स्थानिघटितस्य साधुत्वबुद्धिः प्रसक्ता आदेशघटितस्येति जातनिवृत्तेरभावेन “भुक्तवन्तं प्रति” इति न्यायविषयत्वाभावात् । भावरूपादेशविषये च स्थानपदार्थोऽन्यादृशः लुग्विषये चाऽन्यादृश इत्यत्र प्रमाणाभावात् । भावादेशविषये च भावघटिते साधुत्वम्, लुगादिविषये चाभावघटिते साधुत्वं बोध्यत इत्येव विशेष इति दिक् ।

सम्प्रसारणाश्रयस्य प्रतिषेध इति । “न सम्प्रसारणे” इति सूत्रमकृत्वा सम्प्रसारणाच्चेत्यत्र “सम्प्रसारणादसम्प्रसारणे” इति न्यासं कृत्वा पूर्वरूपमेव

तस्माद् न्यायस्य मद्रुक्त एव विषय इति बोद्धव्यम् । यदप्यपवादवाक्यार्थं विना नोत्सर्गवाक्यार्थ इति तदर्थ इति । तदपि न । उक्तयुक्तेः । “न विभक्तौ तुस्माः” इति शास्त्रे तुस्मपदार्थज्ञानमात्रेण पादीनामेव तद्विषयत्वाभावाद्बुद्ध्या तेषु हलन्त्यसूत्रप्रवृत्त्या सुप्तिङ् रूपविभक्तिपदार्थज्ञानं सुलभमिति दिक् । अत्राप्युपदेश इति सम्बन्ध्यते । तद्बललभ्यमर्थमाह । सूत्रे इति ॥

आदिरन्त्येन ॥ आदिरिति किम् । अन्त्यशब्देन पूर्वेषामाक्षेपादि-गादिप्रत्याहारे ऽकारादिग्रहणं मा भूदिति । एवमादिशब्देन परेषामाक्षेपाद् इणादिप्रत्याहारेषु जादीनां ग्रहणं मा भूदित्यन्त्येनेति । आदिः अन्त्ये-नेत्युभयोपादाने तु न दोषः । अयमादिरन्त्यो वेत्युक्तेऽवशिष्टमपि कि-ञ्चिदस्तीति नियमेन प्रतीतेः, परस्मिन् सति यस्मात्पूर्वो नास्ति स आदिः पूर्वस्मिन् सति यस्मात्परो नास्ति सोऽन्त्य इति अकारादिग्रहणे इकारण-कारादीनामाद्यन्तत्वस्यैवानापत्तेः । अत्राद्यन्ताभ्यामवयवत्वेन बोधकाभ्यां स्वघटितः समुदाय आक्षिप्तः सज्जी । तस्य चैकत्र लक्ष्ये प्रयोगाभावात्प्रत्ये-कं सज्जित्वम् । अन्त्यस्य तु न तत्कार्यम् । तस्येतसंज्ञालोपाभ्यामपहा-रात् । एतत्फलितकथनमेव भाष्ये मूले च स्वस्य च रूपस्येति । स्वमित्यनुवृत्तिपरत्वेन व्याख्यानन्तु हेयमेव । अनुवृत्तौ फलाभावात् । इते-ति किम् । अमङ्गनेति णकारादिभिः प्रत्याहारो मा भूदिति । सहग्रह-णाच्च समुदाय एव सज्जेति समुदायादेवेक इत्यादौ विभक्त्युत्पत्तिर्नादि-

निषेद्धव्यमिति भावः । न चैष यूनुः पश्येत्यत्र यणादेशस्य स्थानिवद्भावादेतत्तदो-रिति लोपो न स्यात् हल्परकत्वाभावात् इति वाच्यम् । सम्प्रसारणाश्रयस्य प्रतिषेध इति भाष्यप्रामाण्येनैतादृशप्रयोगाणामनभिधानात् । *यस्मात्पूर्वो-नास्तीति* । स्वघटकत्व-स्वघटकवर्णध्वंसाधिकरणक्षणावृत्त्युत्पत्तिकत्वैतदु-भयसम्बन्धेन समुदायविशिष्टत्वमादित्वम् । एवं स्वघटकत्व-स्वघटकवर्णप्राग-भावाधिकरणक्षणावृत्त्युत्पत्तिकत्वैतदुभयसम्बन्धेन समुदायविशिष्टत्वमन्त्यत्वं फलतीति तत्त्वम् । *समुदाय एव संज्ञेति* । इगित्यादिसमुदायः संज्ञेत्यर्थः ।

परेतु सहग्रहणाच्चाऽऽदिरेव संज्ञा । नन्वादिरेव संज्ञा चेदिक इत्यादौ विशि-ष्टाद्विभक्तिरनुपपन्नेत्यत आह समुदाये एव संज्ञेति । समुदाय इति सप्तम्यन्तं, संज्ञेत्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञेत्यर्थः । तथाच सहग्रहणेनेतां तात्पर्यग्राहकत्वबोधनेना-ऽर्थवत्सूत्रोक्तार्थवत्त्वस्य समुदाये एव सत्त्वेन नाऽऽदिमात्राद्विभक्त्युत्पत्तिरि-ति । अत एव प्रत्याहाराद्यवर्णे ऽणुदित्सूत्रं चरितार्थमिति तत्रतत्रत्यग्रन्थः सङ्गच्छते । अन्यथेगादिपदेष्विकारादेरनर्थकत्वेन ककारादिचिह्नेन तस्या-ऽणत्वे ऽप्यष्टादशानां बोधो न स्यादित्यणुदित्सूत्रे ऽग्राग्रहणं व्यर्थमेव स्या-दित्याहुः ।

भावात् । न चान्त्यस्येतसज्ज्ञालोपाभ्यामपहारादादिरन्त्येनेत्यसङ्गतम् । सूत्रेष्वित्सज्ज्ञायामपि इगादिशब्देषु तदभावात् । अन्त्येनेत्यस्येदन्त्यस-
दृशेनेत्यर्थात् । व्यक्तिपक्षे एवमेवौचित्यात् । सादृश्यमूलिकैव चात्र तत्त्व-
प्रत्याभिज्ञेत्याहुः । अचिन्नुधात्विति सूत्रे इण इत्येव सिद्धे य्वोरिति नि-
र्देशादिण् परेणैवेति लण्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

हलन्त्यम् । अत्र पदद्वयं, समासेऽन्त्यशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तेः ।
कर्मधारययोग्यपदानां समासाभावस्य सूत्रकारशैलीसिद्धत्वाच्च । यद्यपि
सर्वोऽपि हल् तं तं समुदायं प्रत्यन्त्यो भवति तथाप्यन्त्यपदोपदेशपदाभ्यां
प्रत्यासत्त्याऽज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकोच्चारणविषयसमुदायं प्रत्यन्त्य इह गृह्यते ।
अत एव मकारेत्सज्ज्ञापारित्राणार्थस्थमोरुकारश्चरितार्थः । समुदायोपदेश
एव सर्वत्र ऋषितात्पर्येणाऽव्यवानां नान्तरीयकतया तेषामज्ञातस्वस्वरूप-
ज्ञापकत्वाभावात् । उपदेशेऽन्त्यामिति । तत्र विद्यमानमन्त्यमित्यर्थः । तेन
अइउणित्यादौ णादीनां हल्प्रत्याहारसिद्ध्युत्तरं तत्सिद्धिः । अन्यत्र स्व-
न्तरङ्गत्वात्प्राय उच्चारणेनाभिव्यक्तस्य तदव्यवधानेनैवेत्सज्ज्ञा । पदार्थोप-
स्थितिरनुबन्धविनिर्मुक्तस्यैव । “उपदेशोत्तरकाला इत्सज्ज्ञा” इति नाज्ज्ञाला-
विति सूत्रभाष्यात् । धुडित्यादौ सानुबन्धाद्विभक्तिस्तु तेनैवानुबन्धविनि-
र्मुक्तोपस्थितेस्तस्यैवार्थवत्त्वात्सुलभा । इत्सज्ज्ञाकार्यं तु यत्र सज्ज्ञा तत्रा-
ऽऽनर्थक्यात् तदुपस्थाप्य एव । स्पष्टश्चेदं “तित्स्वारितम्” इत्यत्र कैयटे । वै-
याकरणे चित्स्वरस्तु न । तस्येच्चकारसदृशत्वेऽपि तत्त्वाभावात् । विभ-
क्त्यादिसज्ज्ञापि सूत्रान्तर्गतानामेवेति तत्रैव नविभक्तावित्यादीनां प्रवृत्तिः ।
अत एव “इदम इशित्यादावण्त्वात्सवर्णग्रहणं प्राप्तमप्रत्यय इत्यनेन निषि-
द्ध्यत” इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते । यत्त्वनेकालसूत्रे “इशि शिद्वग्रहणाभावेऽपि
शित्करणदेव सर्वादेशत्वम्” इति भाष्ये उक्तं, तस्येतसज्ज्ञकशकारकरणाद्

नन्विणादिप्रत्याहारे आदीनां ग्रहणं माभूदित्यसङ्गतं, पूर्वणकारेणेणादिप्र-
त्याहारे ऋकारादिग्रहणस्याप्यनिष्टत्वादित्याशङ्क्य सिंहावलोकनन्यायेन स-
माधत्ते *इण इत्येव सिद्धे इति* ।

कर्मधारययोग्यपदानामिति । यत्र समासे तदभावे वा विशेषो नास्ति
तादृशकर्मधारययोग्यपदानामित्यर्थः । एतेन “निपात एकाच्” इत्यादौ व्यभि-
चारादिदमसङ्गतमित्यपास्तम् । समासाभावे एकोजिति, समासे एकाजिति
तत्र विशेषसत्त्वात् ।

अज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकोच्चारणविषयसमुदायमिति । स्ववृत्तिभावण-

भूतपूर्वानेकाल्त्वमादाय सर्वादेशत्वमित्यर्थ इति न तद्विरोधः ।

अत्र केचित् अनुबन्धा अनेकान्ताः अनवयवाः । यो ह्येकान्तः स कदाचित्तत्रोपलभ्यत एव । अयन्तु न तथा, तदर्थभूते विधेये कदाप्यदर्शनात् । हलन्त्यमित्यत्रान्त्यशब्दः, परसमीपबोधकः “चुटू” इत्यादावादिशब्दः पूर्वसमीपबोधकः “अनेकाल् शित्” इत्यादौ समीपे सामीप्यमूलकावयवत्वारोपेण बहुव्रीहिः । स्पष्टश्चेदमुपदेशेऽजिति सूत्रे भाष्ये मपर्यन्तस्येति सूत्रे कैयटे च । तेन ङाणलादौ इशादौ च न दोषः । अत एव “उपदेशेऽच्” इति सूत्रे उपदेशग्रहणं चरितार्थम् । तद्धि अभ्रँ अटित इत्यादावादितश्चेतीदृशप्रतिषेधाभावाय । अनेकान्तत्वे हि तत्प्राप्तिरित्याहुः ।

परे त्वेकान्ता एव । शास्त्रे तत्रोपलम्भादन्यत्रानुपलम्भाच्च । अनवयवो हि काकादिरेकजातीयसम्बन्धेन गृह्यक्षादिषूपलभ्यते । नैवमयम् । किञ्चानवयवत्वे णशकप्रत्ययादौ णादेरित्त्वानापत्तिः । प्रत्ययादित्वाभावात् ।

प्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नविधेयताप्रयोजकतापर्याप्त्यधिकरणसमुदायमित्यर्थः ।

भूतपूर्वानेकाल्त्वमादायेति । अनुबन्धघटितबोधकवृत्तिधर्माणां बोध्ये आरोपात्, अनेकाल्त्ववृत्तिधर्मावच्छिन्नाविधेयताश्रयः सर्वस्य स्थाने भवतीति “अनेकाल्” इत्यस्याऽर्थकरणाद्, बोधकवृत्त्यनेकाल्त्वादेः स्थानिवद्भावेनाऽऽदेशे बोध्ये आरोपात्, श्रुतादेशं स्मृतानुबन्धमादायोपनीतमानेन वाऽनेकाल्त्वादिति भावः । नचाऽनेकाल्त्वादेरल्वव्याप्यधर्मघटितत्वेनाऽनल्विधाविति निषेधाच्च स्थानिवद्भाव इति वाच्यम् । “न ह्यपि” इति ज्ञापकेनाऽल्वव्याप्यधर्मघटितधर्मे ऽनुबन्धघटितवृत्तिधर्मातिरिक्तेति विशेषणीयत्वात् । यत्तु अनेकाल्वबोधकबोध्यस्सर्वस्य स्थाने भवतीत्यर्थेन औपदेशबोध्यौकारादेः सर्वादेशत्वं, भूतपूर्वानेकाल्त्वमादाय सर्वादेशत्वमिति शेखरस्यात्रैव तात्पर्यमिति । तन्न, लोपानुनासिकादेशादेरपि सर्वादेशत्वापत्तेः । *बोधये कदाप्यदर्शनादिति* । नच हेतुवाक्यस्य दृष्टान्तवाक्यात्पूर्वं लेखनौचित्येनेदमसङ्गतमिति वाच्यम् । अनुबन्धाः बोधकनिरूपितावयवत्वाभाववन्तः बोध्याऽवयवत्वेनोपलब्धिविषयत्वाभावादिति पूर्वानुमाने हेतोरसिद्धत्वपरिहारयैतद्धेतुलेखनात् । वस्तुतस्तु स्वघटितपदाघटितविभक्त्यघटितघटकस्वेतरयावद्वृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नाविधेयताप्रयोजकनिरूपितावयवत्वाभाववन्त इति साध्यदलं, स्वघटितपदाघटितघटकप्रयोज्यविधेयतावच्छेदको यो विशेष्यविशेषणभावापन्नशृङ्खलोपनिबद्धयावत्पदार्थसङ्कुचितो धर्मस्तदवच्छिन्नत्वम्—स्वघटितपदाघटितघटकप्रयोज्यविधेयतावच्छेदकधर्मवदुत्तरो यः स्ववृत्त्यवयवत्वप्रकारकनिश्चयाभाववान् तदनुत्तरत्वं च एतदुभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभावादिति हेतुदलं लेखनीयं, तेन सर्वाभिप्राध्यायी

एवमन्त्यत्वाभावादिशादेः शस्येच्वानांपत्तिः । उक्तार्थलाक्षणिकत्वे तु लक्षणेव दोषः । किञ्च दप्रचश्चकारवैयर्थ्यापत्त्याऽवयवत्वमेव न्याय्यम् । अत एव “बुञ्छण्कठच्” इति सूत्रविहितके णित्वप्रयुक्तत्वादिर्न । “तस्य लोप” इति भाष्ये एकान्तत्वमेव न्याय्यमित्युक्तेश्च । उपदेशेऽजितिसूत्रे उपदेशग्रहणन्तु स्पष्टार्थमेवेत्याहुः । सर्वत्रानुबन्धसहितनिर्देशे विधौ “गुप्तिज्जिकिद्भ्य” इत्यादौ नकारेत्संज्ञकः सो भवतीत्यादिक्रमेण बोधः । अनुवादे “सन्यत” इत्यादौ च नकारेत्संज्ञके सशब्दे परे इत्यादिक्रमेण बोधः । स्पष्टश्चेदं निष्ठासंज्ञा-

गृहीत्वा सन्निति वा गृहीत्वा नाप्रयोजकत्वशङ्का । न वा गुणशब्दगकारे स्थास्योऽकार इत्यत्र ककारे च व्यभिचारः । न वा सर्वामष्टाध्यायीं गृहीत्वा सन्सकारे । न वा “सुप्यजातौ णिनिः” इत्यत्रत्येकारे कुकि ककारे च भागाऽसिद्धिः । न वा “काश्यादिभ्यष्टञ्जिठौ” इत्यत्र जिठप्रत्ययठकारे व्यभिचार इत्यन्यत्र निरूपितम् ।

परसमीपबोधक इति । चिन्त्यामिदम् । शित्किदित्यादौ बहुव्रीह्युपपत्तये समीपेऽवयवत्ववारोपस्याऽऽवश्यकत्वात् । एवम् आदिशब्दः पूर्वसमीपबोधक इत्यपि चिन्त्यमेव ।

परेत्विति । तदर्थभूते विधेये कदाप्यदर्शनादिति हेतुः आनन्दादिनकारादौ व्यभिचरितः । वक्ष्यमाणहेतुना सत्प्रतिपक्षितश्च । अनवयवत्वनिश्चयाधीनः समीपेऽवयवत्ववारोपः, तदधीना इत्संज्ञा, तदधीनश्च लोपः, तदधीनश्च तदर्थभूते विधेये कदाऽप्यदर्शनं, तदधीनश्चानवयवत्वनिश्चयः, इति चक्रकेणाऽसिद्धिग्रस्तोऽपि । नचैकान्तवादिमते ऽपि नानुबन्धकृतमित्यादि परिभाषात्रयं वक्तव्यमिति वाच्यम् । शित्करणेनानुबन्धघटितबोधकवृत्तयो येऽनुबन्धत्वघटितातिरिक्ता आनुपूर्वीभिन्नाश्च धर्मास्तास्मिन्नित्तकार्ये कर्तव्ये ऽनुबन्धानामविद्यमानबन्नाव इत्येकपरिभाषास्वीकारेण निर्वाहात् । *शास्त्रे तत्रोपलम्भादन्यत्रानुपलम्भाच्चेति* । नचायं हेतुः पृथिव्यादीनां गुणे गन्धादौ व्यभिचरित इति वाच्यम् । सांख्यमतवद्वैयाकरणमते ऽपि अतिरिक्तद्रव्याभावेन घटकत्वरूपसाध्यस्यापि तत्र सत्त्वात् ।

नकारेत्संज्ञकस्सो भवतीति । वस्तुतस्त्वनुवादे “सन्यत” इत्यादावेवैतादृशार्थस्योपयोगो नतु विधेयसमर्पके । “गुप्तिज्जिकिद्भ्यः सन्” इत्यादौ सन् भवतीत्यर्थे ऽपि क्षतिविरहात् । वाक्यार्थबोधात्पूर्वम् उपदेशत्वज्ञानाभावेन इत्संज्ञाया अप्रवृत्त्या तथाबोधासंभवाच्च । अनुवादे लक्षणया तथा बोधसंभवेऽपि विधौ “न विधौ परः शब्दार्थः” इति न्यायेन लक्षणया अभावेन तथा वक्तुमशक्यत्वादिति दिक् । *नासङ्गतिरिति । टकारेत्संज्ञकाऽऽकारादाच्च परत इत्यर्थादिति भावः ।

परेतु—अनुबन्धविनिर्मुक्तपदार्थोपस्थितौ प्रमाणाभावाल्लोकप्रसिद्धम् “अदर्शनं लोपः” इति सूत्रसङ्केतितमर्थं विहाय लोपपदस्य शब्दबोधविषयत्वाभावात्कत्वस्यान्याय्यत्वात् इत्संज्ञालोपौ लुगादिवल्लक्ष्ये एव प्रवर्तते ।

सूत्रे भाष्ये । अत एवाऽऽट्श्चेत्यादेर्नासङ्गतिः । अन्यथा यत्राऽऽट् सूत्रे तत्र नाचपरो नेष्यते च तत्र वृद्धिः । यत्र प्रयोगे इष्यते वृद्धिस्तत्र नाऽऽडिति तदसङ्गतिः स्पष्टैव । अन्त्यङ्किम् । वाचालः । हल्किम् । चिरिणोतीत्यादौ धातोरन्त्यस्य मा भूत् ।

आद्योच्चारणमिति । आद्यमुच्चारणमित्यर्थः । भावे घञिति भावः । तच्च प्रत्यासन्नैतच्छास्त्रप्रवर्तकाचार्याणामेव । आद्यत्वश्चाज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकत्वम् । उपस्याऽऽद्यत्वादिशेरुच्चारणक्रियत्वात् । अत एव “एकाच उपदेशे” इति सूत्रे कैयटेनोक्तम् “इत्सञ्ज्ञाविधावुच्चारणवचन उपदिशिर्गृह्यते” इति । “आदेच” इति सूत्रेऽपि “येषां स्वरूपज्ञापनायापूर्वमुच्चारणं तेषामेवोपदेशव्यवहारः” इति । तत्र सूत्रे भाष्येऽपि “उद्देशश्च प्रातिपदिकानां उपदेशः” इति । प्रकृतसूत्रे भाष्येऽपि “प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशः” इत्युक्तम् । तस्य चोक्त एवार्थः । परे तु “उपदेश इति किमर्थमभ्रआं अपः, कः पुनरुद्देशोपदेशयोर्विशेषः” इति भाष्ये उक्तम् । यदि प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशो

तस्मात् बोध्यावयवत्वमेकान्तत्वं बोध्यानवयवत्वमनेकान्तत्वमित्येव सिद्धान्तः । नच “इदम इग् अण्त्वात्सवर्णग्रहणं प्राप्नोति” इति भाष्यविरोध इति वाच्यम् । उक्तभाष्यस्य, उपदेश इति किम् अभ्रआं अटितः, पदे किम् तन्त्रयुतम्, लोपश्चेति द्विशकारको निर्देश इत्यादिभाष्यस्य चाऽनेकान्तपक्षाभिप्रायकत्वेनाऽदोषादित्याहुः ।

अन्ये तु बोधकावयवेष्वनुबन्धेषु बोध्यावयवत्वमारोप्यत इत्येकान्तः । अनारोपश्चाऽनेकान्तः । अत एव प्रत्याहाराद्यवर्णेष्वणुदित्सूत्रं चरितार्थमिति मूलोक्तं सङ्गच्छते । तथाहि-बोधकावयवे ऋलृगित्यत्र ककारे बोध्यावयवत्वस्याऽऽरोपेऽयं ककार इत्संज्ञकाऽभिन्न इति ज्ञातुं शक्यत्वात्ककारचिन्हेनायमिकारोऽप्यणिति ज्ञातुं शक्यत इति ककारादिचिन्हेन प्रत्याहाराद्यवर्णेष्वणुदित्सूत्रं चरितार्थमिति सङ्गच्छते । अन्यथा प्रत्याहाराद्यवर्णानामनणत्वेन सवर्णबोधानुदयात्तस्याऽसङ्गतिः स्पष्टैव । अतएव “आदिरन्त्येन” इति संज्ञाऽऽदेरेवेति चेत् विशिष्टाद्विभक्तिः कथमिति शङ्कायां प्रत्याहारे ऽनुबन्धानां द्योतकत्वेनाऽर्थवत्सूत्रोक्तार्थवत्त्वविशिष्टस्यैव सेति समाधानं मनसि निधाय समुदाये एव प्रातिपदिकसंज्ञेत्यर्थकः “सहग्रहणात्समुदाय एव संज्ञा” इत्यादिशेखरः, “इदम इग् अण्त्वात्सवर्णग्रहणं प्राप्नोति” इति भाष्यम्, अण् सवर्णान् गृह्णातीति घटित इत्यभ्याहारसहिताण्यघटितं सवर्णान् गृह्णातीत्यर्थफलकः स्वग्रन्थश्च सङ्गच्छते । अस्मिन्कल्पे चैकान्तत्वं न निष्प्रयोजनं, “सन्त्यतः” इत्यादौ लक्षणाद्यभावरूपप्रयोजनसत्त्वादित्याहुः । *वाचाल इति* नच चालित्येव सिद्धे आलच् इति गुरुनिर्देशालङ्कारस्य नेत्संज्ञेति वाच्यम् । “तनोतेर्डः सन्वच्च” इत्यत्रेवाऽत्रापि सन्ध्यभावकल्पनापत्तेः । ज्ञापकेन सूत्राक्षरखण्डनस्यायुक्तत्वाच्च ।

शुणैः प्रापणमुद्देशस्तर्हि “लृटः सद्वा” “निष्ठा” इति विहितानां शतृशानच्-
 क्तवतूनामवयवस्येत्सञ्ज्ञानापत्तिः । तथा “राजसूयसूर्य” “चित्याग्निचित्ये”
 इत्यादिनिपातनानुमितव्यवादीनां पादेरित्त्वानापत्तिः । वदः सुपीत्यत्रो-
 च्चारितस्तु नैतत्संबन्धी । अत एव “तस्यापत्यमत इव” इति न्यासेऽन्यशब्द-
 सम्बद्धापत्यार्थस्यानुक्तरूपशेषत्वमुक्तमाकरे । तस्मादत्र सूत्रे उपदेशशब्दे-
 नोद्देशस्यापि ग्रहणं वक्तव्यम् । एवम् अभ्रआँ अप इत्यादावपि प्राप्नोतीति
 तेषां सङ्ग्रहोऽस्य व्यावृत्तिर्येन भवति स विशेषः क इति प्रश्नः । तत्सङ्ग-
 हार्थमेव लोकव्यवहारेणापि तयोः सङ्कीर्णत्वमुपपाद्यैतद्व्यावृत्तये तत्सङ्गहा-
 य च “उपदेशेनेऽनुनासिक इति वक्तव्यं किं पुनरुपदेशं शास्त्रम्” इत्युक्तं
 वार्तिककृता । तत्र शास्त्रपदेन प्रयोगशासनकरणभूता धातुप्रातिपदिकप्रत्य-
 यनिपातागमादेशा हलन्त्यसूत्रे व्यवसितपदार्थत्वेन भाष्ये उक्ता गृह्यन्ते ।
 एवञ्च तत्सङ्ग्रहोऽभ्रआँ इत्येतद्व्यावृत्तिश्च सिद्धा । तस्य च वार्तिकस्य बा-
 हुलकात्करणे घञा प्रत्याख्यानं भगवता कृतम् । किञ्च हलन्त्यसूत्रे भाव-
 घञन्तोपदेशपदानुवृत्तौ “भवतष्टक्छसौ” इत्यादिविहितेष्वित्सञ्ज्ञानाप-
 त्तिः । परस्य सत्त्वेन कादेरन्त्यत्वाभावात् । यदि तूपदेशे प्रत्ययत्वा-
 दिविशिष्टान्त्य इत् इत्यर्थ इत्युच्यते तदोपदेश इति व्यर्थम् । अन्त्यपदसा-

प्रत्यक्षमाख्यानमिति । तत्त्वन्तु पाणिन्युच्चरितपदविशिष्टविधेयताश्रयत्व-
 म् । वैशिष्ट्यञ्च स्वजन्यशाब्दबोधीयत्व-स्ववृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदक-
 धर्मावच्छिन्नत्वैतदुभयसम्बन्धेन । यथा गां सक्थिनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति
 अयं गौरिति । तत्र शाब्दबोधस्य शक्तिग्रहात्मकप्रत्यक्षजन्यत्वेन प्रत्यक्षीय-
 विषयतावच्छेदकगोत्वादिधर्मावच्छिन्नविधेयताकत्वेन च लक्षणसमन्वय इति
 दिक् । *लृटः सद्वेति* । चिन्त्यमेतत् । “तौ सत्” इत्यत्र शकाररुकारेत्सं-
 ज्ञकातः शकारचकारेत्संज्ञकाऽऽनस्य च “तौ” इत्यनेन परामर्शात्तयोरेव
 संज्ञायां दोषाभावात् । *क्यवादीनामिति* । इदमपि चिन्त्यमेव । पका-
 रेत्संज्ञकककारेत्संज्ञकप्रत्ययस्यैव निपातनेनानुमानात् । वस्तुतस्तु “काले-
 भ्यो भववत्” “चरणेभ्यो धर्मवत्” इत्याद्यतिदेशशास्त्राविहितप्रत्ययाना-
 मित्संज्ञाऽनापत्तिः । स्ववृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नत्व-
 स्वजन्यशाब्दबोधीयत्वोभयसम्बन्धेन पाणिन्युच्चरितपदविशिष्टविधेयताश्रय-
 त्वरूपप्रत्यक्षाख्यानत्वाभावात् । *अन्त्यत्वाभावादिति* । चिन्त्यमि-
 दम् । ठक्छसावित्येतदन्त्यत्वाभावेऽपि ठग्निरूपितान्त्यत्वस्य क-
 कारे सत्त्वेन दोषाभावात् । वस्तुतस्तु चित्राङि उका-
 रे प्राचीनोक्ताज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकत्वरूपोपदेशत्वाभावेनेत्संज्ञानापत्तिर्बोद्ध्या ।
 प्रत्ययत्वादिविशिष्टान्त्यमिति । प्रत्ययादिबोधकान्त्यमिति यावत् ।

मध्येनैव तल्लाभात् । अत एवात्र सूत्रे उपदेशग्रहणस्यानुबन्धा अनेकान्ता इत्यस्थितपक्षेऽभ्रऑ अटित इति प्रयोजनमुक्तं, न तूत्तरार्थमित्युक्तम् । न च करणसाधनोपदेशशब्दानुवृत्त्या सिद्धे हलन्त्यसूत्रे “व्यवसितान्त्यमिति वक्तव्यं के पुनर्व्यवसिता धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातागमादेशा” इतिवार्त्तिकानुत्थानमिति वाच्यम् । समुदायद्वाराऽवयवस्याप्युपदेशकरणत्वात्तदन्त्यस्यापि लोपापत्तिरित्याशयात् । भाष्यकृता चान्त्यग्रहणसामर्थ्येन प्रत्याख्यातम् । तत्रानुबन्धविशिष्टानां धातुत्वादि तु धातुत्वादि-योग्यघटितत्वाद् बोध्यम् । निपातानां द्योतकत्वेन ब्राह्मणवसिष्ठन्यायेन च पृथग् ग्रहणम् । व्यवसितत्वञ्च धातुत्वादिना परिच्छिन्नत्वादिति कैयटः । एवञ्चोदश्विदादिप्रातिपदिकान्त्यस्यापि लोपः प्राप्नोतीति “प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वाच्यो ऽकृत्तद्धितान्तानाम्” इति वार्त्तिकतोक्तम् । कुम्भकार इत्यादौ अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गप्रवृत्तेः पूर्वं प्रातिपदिकत्वे णादिलोपो न स्यादिति अकृदित्यादि । तच्च फलाभावाच्चेत्सञ्ज्ञेत्यादिना भाष्ये प्रत्याख्यातम् । अत्राद्योच्चारणार्थकोपदेशपदानुवृत्तौ त्वस्य वार्त्तिकस्यानुत्थानमेव स्यात् । “उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेश” इति “आदेच” इति सूत्रभाष्ये उक्तेः । एतज्जाण्यैकवाक्यतया पस्पशाह्निकान्तस्थे “अग्रहणप्रातिपदिकानामुपदेशः कर्त्तव्यो मञ्चको मञ्चक इति मा भूत्” इति भाष्ये उपदेशशब्दो ग्रहणं कर्त्तव्यमित्यर्थकः । तच्चानुवादरूपमेव सन्देहनिवर्त्तकमिति बोध्यम् ।

नन्वेवं “तस्मिन्निति निर्दिष्टे” इति सूत्रे षष्ठीप्रकल्पकत्वं तस्येति पक्षे “गुप्तिञ्जकिद्भ्य” इत्यादावपि षष्ठीप्रकल्पस्यापत्तिः । न च सनः सनेवादेशो भविष्यतीति बाधकाभाव इति वाच्यम् । “उपदेशे इत्युच्यमाना इत्सञ्ज्ञा न प्रकल्पेत” इत्युक्तं भाष्ये, तद्विरुद्धेतात्रोपदेशपदाननुवृत्ताविति चेन्न । तस्यैकदेश्युक्तित्वेनासाधकत्वात् । तथा हि । तत्र “ङमो ह्रस्वादचि” इत्यादौ

बोध्यमिति । वस्तुतस्तु धात्वादिपदं धात्वाद्बोधकमिति व्याख्यातत्वेनैव व्याख्यानं निरर्थकम् । *प्रतिषेधो वाच्य इति* । नच चित्रङ्ङकारस्य ऐकारिकट् इत्यत्र टकारस्य चेत्संज्ञा न स्यादिति वाच्यम् । स्ववृत्तिः प्रातिपदिकवृत्तिश्च या आनुपूर्वी तादृशानुपूर्व्यवच्छिन्नविषयताप्रयोजकानां प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वक्तव्यः, अकृदित्यादि तु तात्पर्यग्राहकमित्यदोषात् ।

१ प्रातिपदिकत्वे संभाविते पूर्वं प्राप्नोऽपि णादिलोपो न स्यात्, अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गप्रवृत्तेरित्यर्थः ।

यत्र सप्तमी पञ्चमी चेत्युभयं निर्दिश्यते तत्र किं पूर्वस्य कार्यमथ पर-
स्येति सन्देहे परत्वानवकाशत्वाभ्यां पञ्चमीनिर्देशो बलवानिति सिद्धा-
न्तिनोक्तम् । तत एकदेशिना यथार्थं वा षष्ठीनिर्देशः कर्तव्य इति समाधा-
नान्तरमुक्तम् । यथाविषयं प्रागुक्तेषु कार्थिणः षष्ठ्या निर्देष्टव्या इति
तदर्थः । तेषु सप्तमीनिर्देशस्य क्वचित् पूर्वत्र क्वचिदुत्तरत्राऽऽवश्यकत्वेनोभय-
निर्देशे गौरवेणैकदेश्युक्तिः । ततः परेणैकदेशिना षष्ठीपदानुवृत्त्या त-
स्मिन्नित्यादेरेव षष्ठीप्रकल्पकत्वमाश्रित्य यथार्थं वा षष्ठीत्येकदेश्युक्तिः
प्रत्याख्याता । षष्ठीपदानुवृत्तौ गौरवादुभयोः प्रकल्पकत्ववारणाय परत्वा-
नवकाशत्वयोरेकः पूर्वपरयोरिति पूर्वपरग्रहणस्य युगपत्प्रकल्पकत्वाभावे
ज्ञापकस्य चावश्यकत्वाच्चेयमप्येकदेश्युक्तिः । ततः पूर्वैकदेशिना तत्प-
क्षे गुप्तिजित्यादौ दोषः शङ्कितः । ततः षष्ठीप्रकल्पित्वादिनैकदेशिनोक्तम्—
“स्यादेष दोषो यदीत्सञ्ज्ञा आदेशं प्रतीक्षेत । तत्र खलु कृतायामित्स-
ञ्ज्ञायां लोपे च कृते आदेशो भविष्यति । उपदेश इति हीत्सञ्ज्ञोच्य-
ते” इति । एवञ्च त्वदुक्तिर्व्याहतेत्याशयः । तदग्रे उपदेशपदाननुवृत्तिमभि-
प्रेत्य “अथवा नानुत्पन्ने सनि प्रकल्पित्या भवितव्यम् । यदा चोत्पन्नः सन्
तदा कृतसामर्थ्या पञ्चमीति प्रकल्पित्वा भविष्यति” इति समाधानान्तरं कृतम् ।
तत्र परत्वविशिष्टस्य सन उत्पादने पञ्चम्या उपक्षयात् प्रवृत्त्यन्तराभावा-
च्चास्ति तस्याः प्रकल्पकत्वमिति तदर्थं कैयट आह । एवञ्च प्रकृतसूत्रस्थ-
स्य सूत्रार्थप्रतिपिपादयिषया प्रवृत्तस्य भाष्यवार्तिकस्यैकदेश्युक्ततद्भा-
ष्यबलेन प्रौढिवादत्वकल्पनं नोचितम् । लक्ष्यासिद्धेश्च । अइउणित्यादी-
नामपि क्रमबोधकत्वेनार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वम् । चित्रङ्गशोः कुरि-
त्यादेरपि प्रातिपदिकत्वम् । लोपश्चेत्यत्रापि शकारस्य स्वरूपेणार्थवत्त्वा-
त् प्रातिपदिकत्वम् । अनुबन्धानामेकान्तत्वे तु “लोपो यि” इत्यतो लोपग्र-
हणेऽनुवर्तमाने पुनर्लोपग्रहणात् सर्वादेशत्वं बोद्धव्यम् । एकाच उपदेश
इत्यत्रत्यः कैयटोऽपि चिन्त्य एव । अन्योऽपि तज्जातीयश्चिन्त्य एव ।
“एकाच उपदेशे” “आदेच उपदेशे” इत्यादौ तु भावसाधन एवेति सुधियो
विभावयन्तिवत्याहुः ।

तथाहि चित्रङ्गित्यादि चित्रशब्दत्वावच्छिन्नबोधकं, चित्रशब्दत्वञ्च न स्ववृ-
त्त्यानुपूर्वी, या च चित्रङ्गशब्दत्वरूपा स्ववृत्त्यानुपूर्वी सा च न प्रातिपदिकवृ-
त्तीति न दोषः । न च उदाश्वितोऽन्यतरस्याम्” इत्यादौ इत्संज्ञालोपाभावप्रयोज्यं
स्ववृत्त्यानुपूर्वीविषयताप्रयोजकत्वम् एतन्निषेधप्रवृत्तिप्रयोज्यौ च इत्संज्ञालोपा-

तारश्च प्रत्यासत्त्यैतच्छास्त्रकर्तार एवेति दिक् । निर्देशादिति । तेषां तत्र ग्रहणे हि नासिकादौ यणापत्तिरिति भावः । न चैत्वविधानसामर्थ्याद् यणभावः सिद्धः । तस्यापि प्रत्याहारेष्वनुबन्धाग्रहणज्ञापनद्वारैव यणभावकल्पकत्वौचित्यात् । साक्षाच्छास्त्रबाधकल्पनापेक्षयाऽस्यार्थस्यौचित्यात् । निर्देशादित्यस्य तन्मूलभूतेत्वविधानसामर्थ्यादित्यर्थ इति तात्पर्यम् । आदिना तृषिमृषिकृषेरेकः पूर्वत्यादिसङ्ग्रहः । ननु “प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ञग्रहणेषु न” इति वार्तिके प्रत्याहारशब्दस्य वर्णसमाभ्याये प्रसिद्धेः प्रत्याहारेष्वितामित्यनुपपन्नमत आह । आदिरन्त्येनेतीति । वार्तिके तादर्थ्यात्ताच्छब्दमिति भावः ।

ऊकालोऽच् । कुक्कुटस्ते उकारे एकद्वित्रिमात्रत्वप्रसिद्धेरकारादयो नोक्ताः । ऊ इति एकद्वित्रिमात्राणां क्रमेण प्रश्लेषनिर्देशो व्याख्यानात् । तेन स्वोच्चारणकालसदृशो लक्ष्यते । स कालो यस्येति बहुव्रीहिः । तत्फलितमाह । उश्च ऊश्च उश्चेति । ननु उकालो ह्रस्व इति वाक्ये ऽण्त्वात्सवर्णग्रहणे द्वित्रिमात्रयोरपि ह्रस्वसङ्ज्ञायां प्रदाय प्रलूयेत्यादौ “ह्रस्वस्य” इति तुक्स्यादिति चेन्न । ऊ अजित्येवाजग्रहणसामर्थ्याद्सदृशोऽजित्यर्थे सादृश्यस्य व्याख्यानात् कालकृतस्यैव ग्रहणमिति सिद्धे अधिकं काल-

भावौ इत्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । इत्संज्ञालोपाभावसम्भावनाप्रयोज्या या स्ववृत्त्यानुपूर्व्यवच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्वसम्भावना तादृशसम्भावनाविषयीभूतानां प्रातिपदिकानां प्रतिषेधो वक्तव्यः अकृदित्यादि तात्पर्यग्राहकमित्यर्थेनादोषात् ।

यणापत्तिरिति । नचानुनासिक इत्यादौ “यस्येति च” इत्यकारलोपान्न यणप्राप्तिः नापीत्वप्राप्तिरिति शेखरासङ्गतिरिति वाच्यम् । “यचि भम्” इत्यत्र यकारसाहचर्येणाऽच्त्वहलत्वोभयानाक्रान्त एवाच् गृह्यत इति भसंज्ञाया अप्रवृत्तौ “यस्येति च” इति लोपस्याऽप्रवृत्तेरिति भावः । वस्तुतस्तु प्रकृते नासिकाशब्दो नात्यन्तस्वार्थिककन्प्रत्ययान्तः किन्तु णासृधातुप्रकृतिकण्वुलन्तः । अत एव “घोणा नासा च नासिका” इति कोशः सङ्गच्छते । अन्यथा नासेत्यनेनैव सिद्धौ स्वार्थिककन्नतोपादानं व्यर्थं स्यात् । पर्यायस्वार्थिककन्नन्तानां कोशे कुत्राप्यदर्शनात् ।

एकद्वित्रिमात्राणामिति । नच सरूपसूत्रे शेखरे एकादिदशान्तानां द्वन्द्वैकशेषौ न भवतो ऽनभिधानादिति वक्ष्यमाणत्वेनेदमसङ्गतमिति वाच्यम् । तस्य सङ्कलितसंख्यातात्पर्येण द्वन्द्वैकशेषौ नेत्यर्थे तात्पर्येणादोषात् । वस्तुतस्तु वाक्चक्रप्रिय इत्यादिवत् बहुव्रीहिः सुलभः । समाहारद्वन्द्वे टच्प्रसङ्गेन प्राण्यङ्गत्वादितरेतरद्वन्द्वस्याभावेन बहुव्रीहिणैव तादृशप्रयोगाः साधनीयाः ।

ननु शास्त्रेऽनुनासिकोच्चारणाभावात् तत्त्वज्ञानं दुर्लभमत आह । प्रतिज्ञेति । प्रतिज्ञाविषयानुनासिक्यवन्त इत्यर्थः । पाणिनीया इत्यस्य पाणिनिप्रभृतिप्रोक्ता वर्णा इत्यर्थः । प्रतिज्ञा चायमेवमिति कथनं, वर्णानां तत्त्वज्ञापको व्यवहारश्च । ताभ्यां तज्ज्ञानं सुलभमिति भावः । प्रतिज्ञाग्रहणमुच्चारितसम्बन्धिकालसदृशकालस्यैव संज्ञा, न तु तेन गृहीतसम्बन्धिकालसदृशकालस्यापीत्यर्थेनादोषात् । तदुक्तं भाष्ये “यावत्तपरकरणं तावदत्र कालग्रहणम्” इति । न चाजिति वर्णग्रहणे जातिग्रहणस्य दुर्वारत्वात्तितउच्छन्नमित्यत्र दीर्घात्पदान्ताद्वेति तुगापत्तिरिति वाच्यम् । ज्ञापकसिद्धत्वेन तस्यासार्वत्रिकत्वात् । अन्तरङ्गत्वेन ह्रस्वत्वनिमित्तनित्यतुक् एव प्राप्तेश्च । अजग्रहणं प्रतक्ष्येत्यादौ ह्रस्वस्येति तुग्यावृत्त्यर्थम् ।

सामानाधिकरण्यं च येनकेनापि पदेन न सर्वैः पदैः अपेक्ष्यते इति भाष्ये स्पष्टम् । *अण्त्वात्सर्वणग्रहणे इति* । न च ककारादिचिह्नाभावेनाऽण्त्वाभावात्कथमणुदित्सूत्रप्रवृत्तिरिति वाच्यम् । व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना या अण्वृत्तिविषयता तादृशविषयताप्रयोजकं पदं स्वबोध्याण्सर्वणान् गृह्णातीति ग्राहकशास्त्रस्थार्थेनाऽदोषात् । विवेचयिष्यते चेदमग्रे ।

वर्णग्रहणे जातिग्रहणस्येति । “यत्र यादृशवर्णत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नस्य ग्रहणं तत्र तादृशजात्यवच्छिन्नमात्रारब्धसमुदाये सा जातिरतिदिश्यते” इत्येतदर्थकवर्णग्रहणेजातिग्रहणमिति परिभाषयेति भावः । *तितउच्छन्नमिति* । ऊकालोऽजित्यत्राऽऽत्त्वजात्यवच्छिन्नस्य ग्रहणसत्त्वेनाऽऽत्त्वजात्यवच्छिन्नमात्रारब्धे अउ इति समुदाये ऽत्त्वजातेरतिदेशेन तस्य दीर्घसंज्ञायां “पदान्ताद्वा” इति विकल्पेन तुगापत्तिरिति भावः । *असार्वत्रिकत्वादिति* । वस्तुतस्तु एतत्परिभाषाया अस्वीकारेऽपि न क्षतिः । नच धिप्सतीत्यादौ “दम्भ इच्च” इत्यनेन इत्वे हलन्ताच्चेति कित्त्वं न स्यात् । इक्समीपाद्धलः परस्य सनो द्वितीयेन हला व्यवधानादिति वाच्यम् । इको झल् हलन्ताच्चेत्यनयोः स्थाने “इग्वतो झल्” इति न्यासेनाऽदोषात् । नच यियक्षते इत्यादौ सनः कित्त्वं स्यादिति वाच्यम् । वचिस्वपीत्यत्र भाष्ये वच्यादिभ्यो विहिते कितीत्युक्तत्वेन सत्यपि कित्त्वे क्षत्यभावात्, पूर्वोत्तरसाहचर्येणोपदेशिकधातोरेव ग्रहणाच्च । “लिङ्सिचावात्मनेपदेषु” इत्यत्र उञ्चेतिज्ञापकाग्रेगन्तस्य ग्रहणमिति पराजेष्ठा इत्यादौ न दोषः । नच “नपुंसकस्य-झलच” इति सूत्रे भाष्ये “ऊर्जि” इत्यादौ नुम्वारणाय अच इत्यावर्त्य अचः परो यो झल् तदन्तस्येत्यर्थः कृतः । तथाच एतत्परिभाषाया अभावे तङ्गीत्यादौ नुम् न स्यात्, अचः परो यो झल् तदन्ताङ्गस्याऽभावादिति वाच्यम् । “नपुंसकस्य, न यम” इति न्यासेनादोषात् । नच भ्रायसावित्यादौ उगिल्लक्षणनुमापत्तिः एतत्परिभाषाभावे वृद्धादेशेऽऽत्त्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नात्रयोगिताकप-

उच्चैरु । नात्र श्रुतिकृतमुच्चैस्त्वमुपांशुप्रयोगेऽव्याप्तेः । श्रुतिप्रकर्षस्या-
 ऽव्यवस्थितत्वाच्च । किन्तु स्थानकृतम् । उच्चैरित्यधिकरणशक्तिप्रधानम् ।
 अधिकरणत्वञ्चोच्चारणं प्रति । तच्च तालवादीनां सभागत्वे एवेत्याशयेना-
 ह । तालवादीति । इदं प्राचामनुरोधेन । वर्णसमाम्नायेऽकारस्य प्राथ-
 म्यात् कण्ठादीति वक्तुमुचितम् । एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् । प्रयत्नप्रेरितो-
 वायुर्यदोर्ध्वभागे प्रतिहतोऽचं व्यञ्जयति तदा स उदात्त इति भावः । अ-
 जिति । ऊकाल इत्यतस्तदनुवर्त्तते । उदात्तत्वादीनामज्झर्मताया एव लो-
 कप्रसिद्धत्वेन ह्रस्वरप्राप्तौ व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वाच्चेदं स्वरूपकथनपरं
 बोद्धव्यम् । आये इति । यच्छब्दः फिपोऽन्त इत्यन्तोदात्तः, जस्सुप्त्वाद-
 नुदात्तः, एकादेश उदात्तेनेत्येकार उदात्तः । अर्वाङिति । अभिमुखवा-
 च्यव्युत्पन्नं फिपोऽन्त इत्यन्तोदात्तम् । आद्यस्य शेषनिघातेनाऽनुदात्तत्व-
 म् । अर्वन्तमश्चतीत्यर्थे कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेण वाऽन्तोदात्तत्वम् । एक-
 स्मिन्नच्युदात्तानुदात्तयोर्धर्मिणोर्मेलनाविरोधादाह । वर्णधर्माविति ।
 बाहुलकादधिकरणे घञ् । अर्शआद्यजित्यन्ये । इयं त्रिसूत्री स्पष्टार्था ।
 लोकवेदयोरुदात्तादिव्यवहारस्य प्रसिद्धत्वात् । ह्रस्वग्रहणमिति । ह-
 स्वपदघटितग्रहणमित्यर्थः । अतन्त्रमिति । स्वशास्त्रसङ्केतितरूपेणाबोधक-
 मित्यर्थः । किन्त्वर्धमात्रारूपार्थबोधकमिति भावः । एवञ्च दीर्घादिष्वप्यर्ध-
 मात्रैवोदात्ता । इत आरभ्य नवसूत्र्या “अ अ” इत्यतः प्रागुत्कर्षेणास्य
 त्रिप्राद्यामपि प्रवृत्तिः । सर्वश्चेदं भाष्ये स्पष्टम् । अर्धमुदात्तमिति वृत्तिस्तु
 सत्या सत्यभावेतिवद् व्याख्येया । उत्तरार्धमित्यस्य चार्धमात्रातोऽवशिष्ट
 उत्तरो भाग इत्यर्थः । वेदे तु यथाप्रयोगं प्रातिशाख्यादस्माच्च व्यवस्था ।
 तस्य चेति । अनुदात्तस्येत्यर्थः । उदात्तेति । उदात्तस्वरितयोः परत्वे
 सतीत्यर्थः । तयोः परत्वञ्चोपस्थितानुदात्तापेक्षयैव । अन्यत्र — उदात्तस्व-
 रितयोः परत्वाभावे । प्रातिशाख्ये इति । लोके त्वनुदात्त एवेति भावः ।
 ह्रस्वस्वरितमुदाहरति । केति । किमोदित्यत् “काति” इति कादेशे “तित्स्व-

र्याप्तिकस्थानिताकत्वस्याऽभावेन “अचः परस्मिन्” इति स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तेरिति
 घाच्यम् । अचत्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकस्था-
 नितावच्छेदककादेशः स्थानिवदित्यचः परस्मिन्नित्यस्यार्थेनाऽदोषात् । प्र-
 कृते च स्थानितावच्छेदकं यत्पूर्वत्वं परत्वञ्च तत्पर्याप्त्यनुयोगितावच्छे-
 दकीभूतं पूर्वपराण्वृत्तितद्व्यक्तित्वम् तदेवाचत्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदक-
 मिति स्थानिवत्त्वं सुलभम् । नचैवं णिलोपादेः स्थानिवत्त्वं न स्यात्

रितम्” इति स्वरितः । दीर्घं तमुदाहरति । रथानामिति । येऽहं इति । “स्वरितो वा ऽनुदात्ते पदादौ” इत्येकारः स्वरितः । नोदात्तस्वरितोदयमिति निषेधस्तु “उदात्तादनुदात्तस्य स्वरित” इत्यस्यैवानन्तरस्येति न्यायात् । स्वरितपरमुदाहरति । शतचक्रमिति । अहेरित्यर्थेऽहः । वृत्रस्येत्यर्थः । “छन्दसि वा वचनं प्राङ् णौ चङ्युषधायाः” इति वचनाद् गुणाभावः । उदात्तस्वरितयोरिति स्वरितः । उदात्तयणो हल्पूर्वादिति तु न छान्दसत्वात् । यच्छब्दः फिष इत्यन्तोदात्तस्तदेकादेशश्च वा स्वरितः । स इति । उदात्तादिह्रस्वादिसञ्ज्ञक इत्यर्थः ।

मुख । उच्यतेऽसौ वचनः । बाहुलकात् कर्मणि ल्युट् । मुखसहिता नासिकेति विग्रहः । तथा वचन इति, साधनं कृतेति समासस्तदाह । मुखसहितेत्यादि । मुखेति किम् । यमानुस्वाराणामेव प्रसज्येत । एवञ्चाङोऽनुनासिक इत्यत्रानुस्वारः स्यात् । नासिकेति किम् । शक्तेत्यादौ “अनुदात्तोपदेश” इत्यादिना कलोपो मा भूत् । अष्टादशेति । यद्यपीदं न व्यक्तिपक्षे व्यक्तीनामानन्त्यात् तथाप्यष्टादशधर्मवस्त्वमकारजातीयादेरित्यर्थः । ह्रस्वत्वादीनां तत्तत्समानाधिकरणोदात्तत्वानुनासिकत्वादीनाञ्च भेदमाश्रित्येदम्बोद्धयम् । एवमग्रेऽपि । लृट् वर्णस्येति । विवृतस्येत्यर्थः । तेन “लृति लृ वा” इति विधेयस्येष्टत्पृष्ठस्य दीर्घत्वेऽपि न क्षतिः । दीर्घाभा-

अचत्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मस्य स्थानितावच्छेदकणित्वपर्याप्त्यनुयोगितानवच्छेदकत्वादिति वाच्यम् । “णेरनिटि” इत्यस्य ण्यन्ताङ्गान्धालो लोप इत्यर्थेन स्थानितावच्छेदकालत्वपर्याप्त्यनुयोगितायाः अचत्वपर्याप्त्यनुयोगितायाश्चैकस्यैव धर्मस्यावच्छेदकत्वेनादोषात् । वस्तुतस्तु णित्वस्येकारेऽपि पर्याप्तत्वेन न कोऽपि दोष इति सुधियो विभावयन्तु ।

इति विग्रह इति । वस्तुतस्तु मुखसहितया नासिकयेति न विग्रहः, किन्तु मुखद्वितीयया नासिकयेति । अन्यथोत्तरपदलोपस्य नित्यत्वेन मुखसहितनासिकयेति मूलस्यासङ्गत्यापत्तेरिति साम्प्रदायिकाः । अन्ये तु मुखपदं मुखसहिते लाक्षणिकं सूत्रे, शाकपार्थिवादौ पाठे न मानं नापि प्रयोजनमित्याहुः । *यमानुस्वाराणामिति* । प्रासादवासिन्यायमनुबुद्ध्वा ऽयं ग्रन्थ इति बोध्यम् । *न व्यक्तिपक्षे इति* । चिन्त्यामिदं, जातिपक्षेऽपि व्यक्तीनामानन्त्येन धर्मत एवाष्टादशविधत्वस्योपपादनीयत्वात् । ननु स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकव्याप्यमिथोविरुद्ध्यावर्द्धमबोधनस्य विधापदार्थत्वेन ह्रस्वत्वादयो ऽष्टावेव धर्मा इति विधापदार्थानुपपत्तिरित्यत आह *तत्तत्समानाधि-

वादिति । अत एव तुल्यास्यसूत्रे भाष्ये “लृति सवर्णे” इत्यनेन पक्षे द्विल-
कारकाभावे “अकः सवर्णे” इति दीर्घत्वे होतृकार इति ऋकारघटितप्रयोगः
सङ्गच्छते । ह्रस्वाभावादिति । इदमेओङित्यादौ भाष्ये स्पष्टम् । गा-
नरोदनादौ चतुर्मात्रार्धमात्रादीनामुपलम्भेऽपि शास्त्रीयकार्ये उपयोगाभा-
वाल्लोके प्रयोगेष्वप्रयोगाच्च नोक्ताः । अत एवानुदात्ततरस्यानुक्तिः । एक-
श्रुतेः स्वरान्तरत्वे इदमुपलक्षणं तस्या लोकेऽपि सत्त्वात् ।

तुल्यास्य । तुल्यावास्यप्रयत्नौ यस्येत्यर्थः । आस्ये भवमास्यं व्या-
ख्यानात् । तच्च वर्णोपयोगित्वात्स्थानमेव । प्रयत्नस्य पृथगुपादानात् ।
प्रकृष्टो यन्न आभ्यन्तरः । तस्य वर्णोत्पत्त्यव्यवहितप्रागभावित्वरूपप्रकर्ष-
वत्त्वात् । जनकत्वं षष्ठ्यर्थः । तत्तत्कार्यगतभेदं स्थानेष्वारोप्य भेदघटि-
ततुल्यत्वस्य निर्वाहः । वस्तुतः सादृश्यं न भेदघटितमिति भाष्यसम्मतमिति
न कश्चिदोषः । स्पष्टश्चेदं भाष्ये । तदाह । ताल्वादीति । शिक्षाया-
ङ्कण्ठादीनाङ्कण्ठत्वादिनैव स्थानतोक्त्या तद्रूपेणैवाऽऽस्यशब्देन ग्रहणमिति
तद्भागभेदमादाय नोदात्तादिषु सावर्ण्यभङ्ग इति बोद्धव्यम् । यस्यैतद्द्वयं येन

करणेति* । उदात्तत्वविशिष्टानुनासिकत्वविशिष्टह्रस्वत्वमित्यादिक्रमेणाष्टादश-
विधत्वमिति भावः । *एकश्रुतेरिति* । अस्याः प्रचय इत्यपि व्यवहारः ।
तुल्याविति । ननु तुल्यं च तुल्यश्च इति विग्रहे “नपुंसकमनपुंसकेनैक-
वच्चास्यान्यतरस्याम्” इति सूत्रेण नपुंसकस्यैवैकशेषे तुल्ये इति वक्तुमुचित-
म् । नच “अद्वन्द्वतत्पुरुषविशेषणानाम्” इति वार्तिकेन तन्निषेध इति वाच्यम् ।
“त्यदादीनि सर्वैः” इति सूत्रभाष्ये तस्य “त्यदादितः शेष” इत्यस्यैव निषेधक-
त्वमित्युक्तत्वात् । इति चेन्न । प्रवृत्तिनिमित्तनिष्ठनानाप्रकारतानिरूपितना-
नाविशेष्यताकबोधविषयकशब्दतन्त्रविषये एव एकशेषप्रवृत्त्या प्रकृते तुल्य-
त्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तनिष्ठैकप्रकारतानिरूपितनानाविशेष्यताकबोधविषयका ऽर्थत-
न्त्रस्यैव स्वीकारेणैकशेषाप्रवृत्तेः । व्यक्तिगतसंख्याभिप्रायेण च द्विवचनोपप-
त्तिः । न ब्राह्मणं हन्यादित्यत्र ब्राह्मणशब्दादेकवचनन्तु जातिगतैकत्ववि-
धक्षायां बोद्धव्यम् । *आस्ये भवमिति* । आस्यशब्दाद्भवार्थे “अर्शआदिभ्यो-
ऽच्” इत्यच् । *व्याख्यानादिति* । सूत्रे आस्यपदोपादानरूपादित्यर्थः । अन्य-
था सर्वेषां वर्णानां जनकस्याऽऽस्यस्य तुल्यत्वात्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । *वर्णो-
पयोगित्वादिति* । वर्णत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावत्त्वादि-
ति भावः । तेन कण्ठादिभागानां न स्थानत्वम् । अत एवाकारादीनां दीर्घा-
दिभिः सावर्ण्येन गङ्गीस्यादित्यादिसिद्धिः । *जनकत्वं षष्ठ्यर्थ इति* । तथाच
यज्जनकावास्यप्रयत्नौ यज्जनकाऽऽस्यप्रयत्नाभ्यां तुल्यौ तौ मिथः सवर्णसंज्ञौ भवतः ।
न भेदघटितमिति । “नञिवयुक्तमन्य” इत्यत्र इवशब्दोपादानादेतद्भवत्येते

यदीयेनैतद्द्वयेन तुल्यमित्यर्थः । “यजुष्येकेषाम्” इति निर्देशाद्यावदास्य-
भवतुल्यत्वं ग्राह्यम् । अत एवैचोः सावर्ण्यमाशङ्क्य “नैतौ तुल्यस्थानौ” इति
भाष्ये समाहितम् । अत एव बलयोर्न सावर्ण्यम् । तेन तद्वानासामित्यादौ
“तोर्लि” इति न । अत एव प्रयत्नशब्देन यत्नमात्रग्रहणमिति पक्षे यत्किञ्चि-
त्प्रयत्नभेदे यत्किञ्चित्प्रयत्नैक्यमादाय सवर्णसङ्ज्ञेत्यर्थो “क्षरो क्षरि सवर्णे”
इति सवर्णग्रहणेन ज्ञापकेन साधितो भाष्ये । तेन स्थानांशे यावत्स्थानसाम्ये
इत्येव स्वारसिकोऽर्थ इति प्रतीयते । न च यावदास्यभवतुल्यत्वविवक्षणे
प्रयत्नग्रहणं व्यर्थम् । प्रयत्नस्याप्यास्यभवत्वादिति वाच्यम् । ह्रस्वदीर्घयोः
सावर्ण्यानापत्तेः । तयोर्जनकानामास्यभवानां वायुसंयोगानामतुल्यत्वात् ।
तस्मादास्यभवानाङ्कुष्ठादीनामेव ग्रहणमिति बोधनाय तत्सार्थक्यात् ।
आस्येति किम् । तर्प्ता । क्षरो क्षरीति लोपो मा भूत् । प्रयत्नेति किम् ।

इत्यन्यत्र निरूपितम् । *यावदास्यभवतुल्यत्वमिति* । स्वजनकस्थानप्रयत्नज-
न्यत्वं—स्वाजनकस्थानप्रयत्नाजन्यत्वमिति सम्बन्धाभ्यां वर्णविशिष्टो वर्णः सव-
र्णसंज्ञको भवतीत्यर्थः । तेनेकारसावर्ण्यमेकारस्य न, तस्य चेकाराजनककण्ठ-
स्थानजन्यत्वात् ।

नन्वेवमेकारसावर्ण्यमिकारे प्रसक्तमेकारजनकतालुस्थानजन्यत्वात्तदजन-
कमूर्धादिस्थानाजन्यत्वाच्चेति चेन्न । आद्यसम्बन्धे यावत्पदनिवेशेनेकारस्य तालु-
स्थानजन्यत्वेऽपि यावत्स्थानाजन्यत्वेनाऽऽद्यसम्बन्धेन वर्णवैशिष्ट्याभावात् ।
अथवा परस्परनिवेशेनापि वारणसम्भवात् ।

तथाहि, परस्परत्वञ्च सम्बन्धविशिष्टसम्बन्धसम्बन्धित्वम् । सम्बन्धे स-
म्बन्धवैशिष्ट्यञ्च स्वीयप्रतियोगितासमानाधिकरणानुयोगिताकत्वं—स्वीयानु-
योगितासमानाधिकरणप्रतियोगिताकत्वं—स्ववृत्तिसम्बन्धतावच्छेदकरूपवत्त्वं स्व-
भिन्नत्वमेतच्चतुष्टयसम्बन्धेन ।

तथाच प्रकृते तालुस्थानजन्यत्वसम्बन्धप्रतियोगिताकण्ठतालुस्थानज-
न्यत्वसम्बन्धानुयोगितयोरिकारे अभावाच्च दोषः । देवदत्तो यज्ञदत्तं नमति य-
ज्ञदत्तो विष्णुमित्रमित्यत्र परस्परमिति प्रयोगवारणायाऽऽद्यौ सम्बन्धौ । तत्रैव
प्रथमो नमति द्वितीयश्च प्रथमं ताडयतीत्यर्थके तद्वारणाय तृतीयः सम्बन्धः ।
देवदत्तः स्वं नमतीत्यत्र तद्वारणाय तुरीयः सम्बन्धः ।

अथवा वर्णविशिष्टवर्णविशिष्टः सवर्णसंज्ञको भवतीत्यर्थः । उभयत्रापि
वर्णवैशिष्ट्यं स्वजनकस्थानप्रयत्नजन्यत्वं—स्वाजनकस्थानप्रयत्नाजन्यत्वमिति
सम्बन्धद्वयेन । प्रकृते चैकारवैशिष्ट्यस्येकारे सत्त्वेऽपि तद्वैशिष्ट्यस्यैकारेऽसत्त्वे-
न न दोष इत्यलमतिविस्तरेण ॥

धाक्श्नोतति । मेति किम् । शचयोः श्वासाघोषप्रिवाराख्यबाह्यप्रयत्न-
साम्येन तत्रैव दोषात् ।

कस्य किं स्थानमित्याशङ्क्यामाह । अङ्कुहेति । यद्यपि सर्ववर्णो-
च्चारणे कण्ठव्यापार आवश्यकस्तथापि चकाराद्युच्चारणे ताल्वादिव्यापा-
रोऽपि तथा अकारादीनामुच्चारणे तु नेति भावः । कचयोस्तु न साव-
र्ण्यम् । यावत्स्थानसाम्याभावात् । धिक्स्थानकथनवैयर्थ्यापत्तेश्च । अत्र
कण्ठपदं कण्ठस्थानतत्समीपजिह्वामूलस्थानोभयपरम् । तेन कण्ठ्यावहौ
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्त इति शिक्षया न विरोधः । जिह्वामूलीयपदस्य च
वर्णविशेषे रूढिरिति न व्यवहारातिप्रसङ्गः । अत एवायोगवाहेषु जि-
ह्वामूलीयगणनं भाष्ये । तत्तद्वर्णोत्पत्तेः प्राक् तत्तत्स्थानादौ जिह्वास्पर्शा-
द्यनुभवेन तत्तद्वर्णानां तत्तत्स्थानत्वनिर्णयेऽप्यङ्कुहेत्यादिकथनं साधारणध-
र्मबोधनायानुवादकम् । न त्वेतदेव कण्ठादिस्थानविधायकमिति भ्रमित-
व्यम् । विसर्जनीयपदेनात्र साहचर्यादकाराश्रयस्य ग्रहणम् । अत एव “अयो-
गवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः” इति शिक्षया न विरोधः । दन्ता
इति । दन्तसंयुक्तदेशा इत्यर्थः । अतो भग्नदन्तस्याप्युच्चारणं भवत्येव ।
उच्च पश्च ध्मायेते अनेन तत्र भव इति योगेनोपध्मानीयस्यौष्ठ्यत्वमित्या-
ह । उपूपेति । रूढत्वाच्च न व्यवहारातिप्रसङ्गः । नासिका चेति ।
चेन स्वस्ववर्णानुकूलं ताल्वादि गृह्यते । अत एवैषां प्रातिशारूप्ये नासिकायां
भव इत्यर्थकनासिक्यशब्देन व्यवहारः । यत्तु—

अनुस्वारयमानां च नासिकास्थानमिष्यते ।

इति शिक्षोक्तेरेषां नासिका करणम् । किञ्च स्थानत्वे कण्ठयोः सा-

धाक् श्नोततीति । सर्वर्णसंज्ञायां झरोझरीति शलोपापत्तिः । *तत्रैव
दोषादिति* । यत्किञ्चित्प्रयत्नैक्यसत्त्वेऽपि सर्वर्णसंज्ञेत्युक्तत्वात् । *कण्ठव्यापार
आवश्यक इति* । *चिन्त्यमेतत् । चकाराद्युच्चारणे कण्ठव्यापारस्याऽऽवश्य-
कत्वेऽपि तेषां तत्स्थानकत्वे प्रमाणाभावात् । नहि केवलं कण्ठव्यापारस्य च-
काराद्युच्चारणे उपयोगित्वेन चकारादिनिरूपितं स्थानत्वं कण्ठस्येति शक्यते
वक्तुम् । किन्तु वाय्वाघाताद्यद्देशावच्छेदेन यो वर्णो ऽभिव्यज्यते तन्निरूपित-
स्थावत्त्वं तद्देशस्थैव । अन्यथा सर्ववर्णानां मूर्धन्नुरादिव्यापारावश्यकत्वा-
दुरस्यमूर्धन्यत्वाद्यापत्तिः । *उभयपरमिति* । अन्यतरपरमिति वक्तुं युक्तम् ।
अकारादीनामपि जिह्वामूलस्थानकत्वापत्तेः । *गुणत्वेन व्यवहारस्त्विति* ।
“बृद्धिरादैच्” इति सूत्रे भाष्ये इति शेषः ।

वर्णानापत्तिः यावत्स्थानैक्याभावात् । यत्किञ्चित्स्थानैक्येन तत्त्वे तु जमामपि परस्परं सावर्ण्यापत्तिरिति । तन्न । कण्ठादीनामपि करणत्वस्यैव “अस्यन्त्यनेन वर्णान्” इति भाष्यात्प्रतीतिः । स्थानत्वव्यवहारस्तु वर्णाभिव्यक्तिजनकतात्वादौ वर्णजनकवायुसंयोगाधारे वर्णाधारत्वाऽऽरोपेण । तत्तत्स्थानजिह्वाग्रादिसंबन्धेन वर्णोत्पत्त्या जिह्वाग्रादौ तत्संबन्धजनकप्रयत्नविशेषे स्पृष्टतादौ च करणत्वव्यवहारः । वर्णाभिव्यक्त्यनन्तरभावी सावर्ण्यानुपयुक्त आन्तरतम्यपरीक्षोपयुक्तश्च कण्ठविवरादिनिष्ठविकासदेरास्यवहिर्देशावच्छिन्नकार्यस्य जनको यत्रो गुणशब्देनोच्यते । अकारादिनिष्ठानुनासिक्यस्य “भेदकत्वाद् गुणस्य” इत्यादौ गुणत्वेन व्यवहारस्तु कण्ठाद्यवच्छिन्नवायुसंयोगेनोत्पत्तेषु नासावच्छिन्नवायुसंयोगेन तद्रूपधर्मोत्पत्त्या । एवञ्च नासिकायास्तत्र गुणजनकत्वादनुनासिकाकारादीनां नासिकास्थानं नोक्तं मूले । “एकोऽयमात्मोदकक्षाम तस्य गुणभेदादन्यत्वं भवति अन्यदिदं शीतमन्यदिदमुष्णम्” इति दृष्टान्तपरभाष्येण तथैव प्रतीतिः । आत्माऽत्र द्रव्यम् । उदात्तत्वादीनां गुणत्वव्यवहारस्तु सावर्ण्यानुपयुक्तत्वान्तरतम्यपरीक्षोपयोगित्वरूपसादृश्येनेति बोध्यम् । ङादीनान्तु तद्गुणरहितस्वरूपानुपलम्भेन उभयावच्छेदेन वायुसंयोगोत्तरमेव स्वरूपोत्पत्त्या विनिगमनाविरहेणोभयोः स्थानत्वम् । अनुस्वारयमानाश्चेति शिक्षायां चेन ङादीनामपि सङ्ग्रह इति युक्तम् । अत एव कण्ठ्योऽकार इत्याद्युक्त्वा “नासिक्यान्नासिक्ययमानुस्वारानिति स्थानानि” इत्युक्तं प्रातिशाख्ये । नासिक्या ङजननमा इति तद्व्याख्यातारः । कण्ठ्योः सावर्ण्यन्तु भवत्येव । “आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नम्” इति वार्तिके किमास्योपादाने प्रयोजनमिति प्रश्ने प्रयत्नविशेषणमास्योपादानमित्युक्त्वा तद्व्यावर्त्यत्वेन बाह्यप्रयत्नान् प्रदर्श्य “यथा तृतीयास्तथा पञ्चमा आनुनासिक्यमेषामधिको गुण” इति भाष्येण तस्य बाह्यप्रयत्नत्वोक्त्याऽत्र सूत्रे नासिकाया आस्यशब्देन, तत्रत्यप्रयत्नस्य च प्रयत्नशब्देनाग्रहणबोधनात् । नासिका आस्यबाह्येति वदतां मते तद्ग्रहणाभावाच्च । अत एव बाह्यप्रयत्नानुपक्रम्य—

अमो ऽनुनासिका न ह्रौ नादिनो ह्रस्वः स्मृताः ।

ईषन्नादा यणश्चैव श्वासिनस्तु खफादयः ॥

ईषच्छ्वासाँश्चरो विद्यादित्युक्तं शिक्षायाम् ।

नादेति संवारघोषयोरुपलक्षणं, श्वासेति विवाराघोषयोः, न ह्रावित्यु-

पलक्षणम् ऐचः सर्वस्य प्लुतलृकारस्य च अनुनासिकस्यादर्शनादित्यलम् ।
एदैतोरित्यादौ लोकानुभवसिद्धार्थानुवादके तपरशास्त्राप्रवृत्त्या प्लुतानाम-
पि तत्स्थानत्वं बोध्यम् । तथा च पाणिनीयशिक्षा—

कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजाबुपू ।
स्युर्मूर्धन्या ऋदुरषा दन्त्या लृतुलसाः स्मृताः ॥
जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठयो वः स्मृतो बुधैः ।
एए तु कण्ठ्यतालव्यावोऔ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ ॥
अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा ।
जिह्वामूलश्च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥
हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तस्थाभिश्च संयुतम् ।
उरस्यं तं विजानीयात्कण्ठ्यमाहुरसंयुतम् ॥

इति । यत्तु दन्तोष्ठादि समुदितं स्थानमिति । तन्न । शिक्षायां दन्त्यो-
ष्ठ्यः कण्ठ्यतालव्यावित्यादौ तत्र भव इत्यधिकारविहितयतः प्रत्येकमनु-
त्पत्त्यापत्तेः । दन्तोष्ठ्यमित्यादि त्वसङ्गतमेव । स्वाङ्गसमुदायस्य स्वाङ्गत्वा-
भाववच्छरीरावयवसमुदायस्य शरीरावयवत्वाभावात् । एतेन दन्तोष्ठरूप-
मतिरिक्तं स्थानमित्यपास्तम् । अष्टौ स्थानानीतिप्रतिज्ञाविरोधाच्चेति दिक् ।
सूत्रे प्रशब्देन विलक्षणार्थबोधेऽपि लोके यन्नप्रयत्नयोः पर्यायतेति ध्वनय-
न्नाह । प्रयत्नो द्विधेति । कचिद् यन्न इत्येव पाठः । चतुर्थेति । यत्तु-

स्वराणामूष्मणाश्चैव विवृतं करणं स्मृतम् ।
तेभ्योऽपि विवृतावेडौ ताभ्यामैचौ तथैव च ॥

इति शिक्षावाक्याद्विवृततरविवृततमयोः प्रतीत्या नाज्झलाविति सूत्र-
भाष्यादूष्मणामीषद्विवृतत्वस्य च प्रतीत्या चतुर्थेत्यसङ्गतमिति । तन्न । नाज्झ-
लावितिसूत्रेण विवृतत्वव्याप्यानामेषां सवर्णसञ्ज्ञानुपयुक्तत्वबोधनमित्या-
शयात् । भाष्यमते तु सन्तु सप्त प्रयत्नाः । एवञ्चैदैतोश्च न सावर्ण्यप्रसक्तिः
प्रयत्नभेदादिति बोध्यम् । नाज्झलाविति सूत्रमपि प्रयत्नभेदप्राप्तसावर्ण्या-
भावानुवादकं सत् तस्यैव बोधकम् । अत एव भाष्ये तन्न वक्तव्यमिति
नोक्तम् । स्पृष्टादीनामाभ्यन्तरत्वन्त्वोष्ठप्रभृतिकाकलकपर्यन्तरूपास्यान्तर्गतत-
त्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादीनां स्पर्शेष्वस्पर्शदूरावस्थानसमीपावस्थानरूपाभ्यन्तर-
कार्यकारित्वाद्गणोत्पत्त्यव्यवहितप्राग्भावित्वाच्च बोध्यम् । तत्र बहूनामेक-

स्थानत्वेऽपि कस्य चिदुच्चारणे सम्यक्स्पर्शः कस्य चिदीषदिति शिक्षाकारो-
क्तिमनुभवं चानुसृत्य विवेक्तव्यम् । प्रयत्नमिति नपुंसके भावे ल्युट् । प्र-
यत्नमित्यपपाठः । नङन्तस्य पुंस्त्वात् । तथा च शिक्षा-स्वराणामृष्मणाञ्चे-
त्याद्यनन्तरम्-

अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टाः शलः स्मृताः ।

शेषाः स्पृष्टा हलः प्रोक्ता इति ।

अचोऽस्पृष्टाः स्पर्शाभावरूपविवृतत्ववन्तः । यणस्त्वीषदित्यनेन तेषा-
मीषत्स्पृष्टत्वमीषद्विवृतत्वञ्च बोधितम् । नेम इत्यर्थे । तेन शलामीषद्विवृतत्वं
यणपेक्षयाऽधिकविवृतत्वं चेति बोध्यम् । अत्र शिक्षोक्तव्याप्यधर्मवतां व्या-
पकधर्ममादाय न सावर्ण्यमिति यणां चवर्गादिभिर्न सावर्ण्यम् । तेनाश्रित
इत्यादौ न यादिः परसवर्णः । विवृतमेवेति । प्रक्रियादशायां विवृतत्व-
प्रतिज्ञेयमित्यर्थः । तेन दण्डाढकादौ दीर्घसिद्धिः । अन्यथा संवृतस्य ह्रस्वा-
कारस्य विवृतेन दीर्घेण सावर्ण्याभावात् स न स्यादिति भावः । दीर्घाकारस्य
विवृततरत्वन्तु पाणिनिशिक्षानुक्तत्वान्नैतच्छास्त्रप्रक्रियोपयोगीति दिक् ।

तस्य प्रयोगे संवृतत्वे मानमाह । अ अ । प्रयत्नभेदादीर्घाभावः ।
अत्रोद्देश्ये सवर्णग्रहणं जातिनिर्देशो वा न, व्याख्यानात् । अधिकारत्वे फ-
लमाह । त्रिपाद्यामपीति । अन्यथा गोधुङ्मानित्यत्र घत्वजश्त्वानुना-
सिकेषु भङ्भावानापत्तिरिति भावः । वस्तुतो घत्वे कृते “क्षय” इति वत्वाप-
त्तिर्दोषः । न च ततः परत्वाज्जश्त्वानुनासिकत्वयोस्तदप्राप्तिरिति वाच्यम् ।
विप्रतिषेधे परमित्यस्य यथोद्देशत्वेन त्रिपाद्यामप्रवृत्तेः । “पूर्वत्रासिद्धे नास्ति
विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य” इत्यनेन तस्या यथोद्देशत्वस्यैव बोधनात् । अन्य-

विवृततरत्वन्त्विति । नारदशिक्षोक्तमिति भावः ।

प्रयत्नभेदादिति । आद्यस्य विवृतत्वादन्त्यस्य संवृतत्वात् । न चा-
नेनैवान्त्यस्य विवृतस्य संवृतादेशे तस्यासिद्धत्वादुक्तापत्तिस्तदवस्थैवेति
वाच्यम् । पृथग्द्वयोर्निर्देशेन तस्य मूलत एव संवृतत्वस्वीकारात् । *दीर्घाभाव
इति* । प्रयत्नभेदेनाक्षरसमाप्तायस्थाकारेणात्रत्यद्वितीयस्याग्रहेणाचत्वाभा-
वादित्यर्थः । अत एव “आद् गुण” इति गुणोऽपि न । मूले च प्रयत्नभेदेन अदी-
र्घयोर्भाव इति विग्रहः । अल्पदेन च गुणस्य ग्रहणम् । गुणेन ह्रस्वस्यैव प्राप्तेः ।

घत्वजश्त्वानुनासिकेषु भङ्भावानापत्तिरिति । नन्वेतेषु कृतेषु प्राप्तेषु वा ।
नाद्यः । तद्वनन्तरं सर्वथा भङ्भावप्राप्तौ मूलासङ्गतेः । नान्त्यः । घत्वात्प्राक् क्षणन्त-

था परस्यासिद्धत्वे विप्रतिषेधसूत्रस्य सिद्धत्वात्परिभाषान्तराणामिवास्यापि कार्यकालपक्षे तेनाकर्षणापत्तेः। अत एव भाष्ये वत्वमेवापादितम्। अधिकारत्वादेव “श्चुत्वं धुटि सिद्धं वाच्यम्” इत्यादि चरितार्थम्। एवं च यत्रानुवृत्तिस्तस्यासिद्धत्वम्। पूर्वत्वञ्च क्वचित्सपादसप्ताध्याय्याः क्वचित्सूत्रान्तरसहितायाः। तत्रायमर्थः। “होढ” इत्यादावस्योपस्थितौ वाक्यभेदेनान्वयः। हस्य ढो भवति इदञ्च शास्त्रं पूर्वत्रासिद्धमिति। अत एव “न मु ने” इत्यादिभिस्तन्निषेध उपपद्यते। पूर्वत्रेति सङ्गाहकमेव। शृङ्गग्राहिकयैव तु तत्तच्छास्त्रं प्रति तस्यासिद्धत्वं प्रतिपाद्यते। तेनापवादस्य यं प्रत्यपवादत्वं तत्रासिद्धत्वाभावेऽप्यन्यत्रासिद्धत्वं भवत्येव। असिद्धमिति। सिद्धं निष्पन्नं प्रवृत्तम्। सिद्धश्च प्रत्ययविधावित्यादौ तथा दर्शनात्। तद्विन्नमसिद्धमनिष्पन्नमप्रवृत्तम्। यद्यपि लोकेऽनाहार्यज्ञानस्यैव प्रवर्तकत्वं निवर्तकत्वञ्च दृष्टं तथापीह शास्त्रप्रामाण्यादाहार्यारोपोऽपि शास्त्रप्रवृत्तावप्रवृत्तौ च नियामक इति बोध्यम्। अत्र कार्यासिद्धत्वे ऽमू इत्याद्यासिद्धिः। अद अ औ इति स्थिते परत्वान्मुत्वे तस्य सपादसप्ताध्यायीस्थकार्यदृष्ट्याऽसिद्धत्वेऽपि देवदत्तहन्तृहतन्यायेनाकाराभावेन पररूपाद्यनापत्तिः। अतिदेशस्याऽऽरोप-

त्वाभावेन पूर्वरीत्या मूलासङ्गतेः। तस्मात् घत्वे कृते जश्त्वानुनासिकभष्भावेषु प्राप्तेषु इति व्याख्येयम्। मूलस्य चात्रैव तात्पर्यं वर्णयन्ति।

ननु जश्त्वं बाधित्वाऽपवादत्वाद् भष्भावः स्यात्। नच तं बाधित्वा परत्वात् अनुनासिकः, तं च अन्तरङ्गत्वाद् बाधित्वा जश्त्वं, तच्च अपवादत्वाद् बाधित्वा भष्भाव इति चक्रकापत्तिरिति वाच्यम्। अपवादत्वाज्जश्त्वमन्तरङ्गत्वाच्चानुनासिकं बाधित्वा भष्भावसिद्धेः। कार्यकालपक्षे त्रिपाद्यामन्तरङ्गपरिभाषाप्रवृत्तेरिदानीं सुवचत्वात्। तत्र तदप्रवृत्तिबीजस्य बहिरङ्गदृष्ट्याऽन्तरङ्गासिद्धत्वरूपस्य पूर्वत्रासिद्धमित्यस्याधिकारत्वाभावेऽसत्त्वात्। ततश्च अधिकारत्वाभावे नेदं दूषणम् इत्यरुचेराह। *वत्वापत्तिरिति*। प्रतिपदोक्तत्वादिति भावः। *शृङ्गग्राहिकयेति*। तत्तच्छास्त्रमनूद्य तद्दृष्ट्याऽसिद्धत्वं बोध्यते इत्यर्थः। वस्तुतस्तु पूर्वत्वेन रूपेण सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या पूर्वदृष्ट्याऽसिद्धत्वबोधनेनोपपत्तौ चिन्त्यमिदम्। नच “न मु ने” इतिनिषेधासङ्गतिरिति वाच्यम्। अदसोऽसेरित्येकवाक्यतापन्नपूर्वत्रासिद्धमित्यत्रत्यपूर्वपदार्थे “आङो नाऽस्त्रियाम्” “टाङसि” “अकः सवर्णे” इत्येतद्विभक्तत्वेन नमुने इति निषेधेन सङ्कोचेनादोषात्। एवं नलोपः सुप्स्वरेत्यनेनापि सुप्स्वरादिविधिभिन्नशास्त्राभिन्नत्वेन “नलोपः प्रातिपदिक” इति सूत्रैकवाक्यतापन्नपूर्वत्रासिद्धमित्यत्रत्यपूर्वपदार्थे सङ्कोच इति न दोषः। एवं श्चुत्वं धुटीति वार्तिकेन श्चुत्वविधायकैकवाक्यतापन्नपूर्वत्रेत्येतद्वदकपूर्वपदार्थे “ङःसिधुद्” इत्येतद्विभक्तत्वेन

रूपत्वान्निरधिष्ठानारोपासम्भवेन कार्यप्रवृत्तेरत्र पक्षे आवश्यकत्वात् । शास्त्रासिद्धत्वे तु यत्राप्यन्तरङ्गत्वात्रैपादिकं प्रवृत्तं तत्रापि तत्तच्छास्त्रे एवाभावारोपेण तन्निवृत्तिबुद्धेरभाव आदेशबुद्ध्यभावो लक्ष्ये जातत्वबुद्ध्यभावश्च । जायमानं कार्यं त्वादेशे एव स्थानिबुद्ध्य प्रवर्तते । “न हि रजतभ्रमप्रयुक्ता प्रवृत्तिः शुक्तिं न गोचरयति” इति न दोषः । यत्र तु सहप्रसङ्गस्तत्राप्रवृत्तिरेवाभावारोपात् । न च “पूर्वत्र न” इत्येव सूत्रमस्त्विति वाच्यम् । पूर्वशास्त्रप्राप्तौ निषेध इत्यर्थे “नलोपः सुप्” इति सूत्रासङ्गतेः । तद्धि निय-

सङ्कोचः । एवमपवादशास्त्रैकवाक्यतापन्नपूर्वत्रेत्येतद्वधटकपूर्वपदार्थे उत्सर्गशास्त्रभिन्नत्वेन सङ्कोच इति दिक् ।

अनाहार्यज्ञानस्येति । बाधज्ञानसमकालिकेच्छाजन्यज्ञानमाहार्यज्ञानं तद्भिन्नस्येत्यर्थः । *पररूपाद्यनापत्तिरिति* । नच मुत्वस्यासिद्धत्वे देवदत्तहन्तृहतन्यायेन तत्स्थान्यकाराभावेऽपि अदस्शब्दाद्याकारेण त्यदाद्यत्वानिष्पन्नाकारस्य पररूपं भवत्येवेति कथं पररूपानापत्तिरिति वाच्यम् । इष्टपररूपाद्यनापत्तिरिति तदर्थस्वीकारात् । वस्तुतस्तु मुत्वशास्त्रेण स्वघटितं साधु तदितरत्सर्वमसाधिवति बोधनेन ‘अ अ औ’ इत्यस्यासाधुत्वेन यत्किञ्चिद्बोधितसाधुत्ववत्येव सर्वशास्त्रप्रवृत्त्या यथाश्रुतमेव साधु । मुत्वस्यासिद्धत्वेऽपि तदधिकरणकालस्यासिद्धत्वे प्रमाणाभावेनार्धमात्राधिककालशून्यत्वरूपसंहिताया आद्याकारान्त्याकारयोरभावेन पररूपप्राप्त्यभावाच्च ।

परेतु कार्यासिद्धत्वस्य स्वीकारेऽपि “पूर्वत्रासिद्धम्” इत्यस्य त्रैपादिकं शास्त्रं न प्रवृत्तं तत्कृता स्थानिनिवृत्तिरपि न जातेति सम्भावनायां यद्भवति तद्भवति यन्न भवति तन्न भवतीत्यर्थकरणेन अमू इत्यादौ मुत्वे जातेऽपि मुत्वं न कृतं तत्कृता स्थानिनिवृत्तिर्न जातेति सम्भावनया उकारे एव अकारबुद्ध्या पररूपे जाते सन्नियोगाशिष्टन्यायेन मकारस्यापि निवृत्तौ वृद्धौ तद्वधटकमात्रोद्देश्यकविकाराभावेन तल्लक्ष्यत्वाभावात्पुनर्मुत्वे “अमू अमी” इत्यादिसिद्धिः । नच “पूर्वत्रासिद्धम्” इत्यस्य तादृशार्थकत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम् । हर एहीत्यादौ लोपस्यासिद्धत्वेऽपि स्थानिबुद्धेरभावेन पूर्वत्रासिद्धमित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः एतादृशार्थकल्पनात् । नचामूहक् अमूभ्याम् अमीभिरित्यादौ तद्वधटकमात्रोद्देश्यकविकारसत्त्वेन पुनर्मुत्वं न स्यादिति कार्यासिद्धत्वपक्षोऽसङ्गत इति वाच्यम् । “न मु ने” इति निषेधेन मुत्वे लक्ष्येलक्षणन्यायो न प्रवर्तत इति कल्पनेनादोषात् । अन्यथा अद अ आ इत्यस्यां दशायां परत्वान्मुत्वे तस्यासिद्धत्वात्पररूपे लक्ष्येलक्षणन्यायेन मुत्वाप्राप्त्येनादेशगुणयोः कृतयोः मुत्वे च नादेशप्राप्त्यभावेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्याहुः ।

त्रैपादिकं प्रवृत्तमिति । यत्तु तादृशप्रयोगस्याभावान्नास्योपयोगः । नच पिपठिषतेः किपि पिपठीरित्यादौ अन्तरङ्गत्वात्षत्वे तस्यासिद्ध-

मार्थम् । त्वद्रीत्या राजन्-अश्व इत्यस्यां दशायाङ्कस्यापि पूर्वशास्त्रस्याप्राप्त्यैत-
न्निषेधाप्रवृत्तौ नलोपे जाते “भुक्तवन्तम्” इति न्यायेनैतदप्रवृत्तौ राजाश्वे
दीर्घसिद्ध्या नियमानुपयोगात् । राजभ्यामित्यादावपि दीर्घापत्तेश्च । पूर्वशा-
स्त्रविषयसम्भावनायामित्यर्थे राजभ्यामित्यादौ नलोपे सुबिधिदीर्घविषय-
सम्भावनया सर्वथा नलोपानापत्तेरिति दिक् ।

बाह्यप्रयत्न इति । काकलकाधस्ताद्गलविवरसङ्कोचविकासश्वासो-
त्पत्तिध्वनिविशेषरूपनादतद्विशेषरूपघोषाल्पघोषप्राणाल्पत्वमहत्त्वरूपकार्यक-
रत्वमेषाम् । तथाहि—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युक्ते विवक्षया ।

मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥

सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।

वर्णान् जनयते, इति शिक्षायामुक्तम् ।

आत्मान्तःकरणं संस्काररूपेण स्वगतानर्थान् बुद्ध्या स्ववृत्त्या समेत्यै-
कबुद्धिविषयान् कृत्वा तद्बोधनेच्छया मनो युक्तं करोति, तदिच्छावन्मनः
कायाग्निञ्जाठरमग्निमभिहन्ति, स कायाग्निः, सोदीर्णः स मारुतः उदी-
र्णः ऊर्ध्वं प्रेरित इत्यादिस्तदर्थः । एवञ्च शब्दप्रयोगेच्छयोत्पन्नयन्ना-
भिहताग्निना नाभिप्रदेशात्प्रेरितो वायुर्वेगान्मूर्धपर्यन्तङ्गत्वा प्रतिनिवृत्तौ
वक्त्रं प्राप्य उक्तयन्त्रसहायेन तत्तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादिस्पर्शपूर्वकं तत्तत्स्था-
नान्याहृत्य वर्णानभिव्यनक्ति । ततो यन्त्रविशेषेण गलविवरविकासादीन्
करोति, तत्र ये तत्तत्स्थानाभिधातका यन्त्रास्ते आस्यान्तर्गततत्तत्कार्यका-
रित्वादाभ्यन्तरा इत्युच्यन्ते । गलविवरविकासादिकराश्यास्यबाहिर्भूतदेशे
कार्यकरत्वाद् बाह्या इति । मात्राकालिकत्वादिरूपह्रस्वत्वादिकन्तु वा-
य्वल्पत्वमहत्त्वकृतमिति नाभिप्रदेशात्प्रेरकयन्त्र एव काश्चिद्विलक्षणोऽल्पं

त्वाद्वृत्ते तादृशलक्ष्यसम्भव इति वाच्यम् । षत्वस्यासिद्धत्वात्किपि अतो-
लोपे सुप्रत्यये हलङ्घादिलोपे पदान्तत्वेन षत्वस्याप्राप्तः । एतन्मूलक-
मेव पठ्यते असिद्धशास्त्रप्रतिबन्धकसापादिकशास्त्रप्रवृत्तिसम्भावनायां पूर्व-
त्रैपादिकं न प्रवर्तत इति; तन्न । लूनमिच्छत्या लून्युः प्रस्तीम्युरित्यादिलक्ष्यस-
म्भवेनास्य ग्रन्थस्याऽऽवश्यकत्वात् । तत्र हि लूत इत्यत्रैव “लवादिभ्यः” इत्य-
नेन नत्वे पश्चात्क्यजन्तात्किपि ङसि यणि च “ल्यत्यात्परस्य” इत्युत्वं भवति
नत्वादीनामासिद्धत्वात् । *दिगिति* । अत्रेदं चिन्त्यम्—“पूर्वत्र” इत्येव
सूत्रमस्तु । आमन्त्रितमिति सूत्रादविद्यमानवदित्यनुवर्तते इति ॥

वायुं प्रेरयति कश्चिदधिकमिति तस्य वायुप्रेरणारूपङ्कार्यमास्यबाह्य-
देशमिति तदपि बाह्यमेव । अत एव अइउणसूत्रे भाष्ये ह्रस्वत्वा-
दिजनकयन्नस्यास्यविशेषणेन सर्वर्णसूत्रे ऽग्रहणमित्युक्तम् । यद्य-
प्येक एव यन्नः सर्वकार्यजनको वर्णनाशकश्चेति “परः सन्निकर्ष” इति सूत्रे
भाष्ये उक्तं तथापि तत्तत्कार्येणोपाधिना एकस्मिन्नपि भेदमारोप्य तथा
व्यवहार इति बोद्धव्यम् । उदात्तादिजनकयन्नस्याभ्यन्तरकार्यकरत्वे-
ऽपि उदात्तादिशब्दैर्विना बोधितानां तेषां “अनङ्गुदात्त” इत्यनेनाविव-
क्षाबोधनात् सर्वर्णसंज्ञानुपयुक्तत्वान्तरतम्यपरीक्षोपयुक्तत्वरूपसादृश्येन
बाह्येषु गणनम् । इदं ह्रस्वत्वादेरानुनासिक्यस्य चोपलक्षणम् ।

शर इति । शषसाः । अनुप्रदानं बाह्यप्रयत्नः । विवृण्वते इति । तदभिव्य-
क्त्युत्तरञ्जायमाने कण्ठाविवराविकासे तेषां कर्तृत्वविवक्षा बोध्या । विवार एषां
प्रयत्न इति भावः । अन्ये त्विति । वर्गतृतीयचतुर्थपञ्चमास्तद्यमा इकारानु-
स्वारौ यरलवा इत्यर्थः । नादभागिनस्तत्प्रयत्नकाः । यद्यपि खयादिषु घो-
षाघोषान्यतरप्रयत्नमात्रेणापि प्रक्रियांशनिर्वाहस्तथापि शिक्षानुरोधेनान्येषामु-
क्तिः । अल्पासवो ऽल्पप्राणाः । यत एतदुच्चारणोत्तरं प्राणानामल्पत्वमिव
भवति । चर्षोऽस्त्विति । विद्यमानानामिति शेषः । चतुर्णामिति ।
निर्धारणे षष्ठी, अन्यतमादिति शेषः । पूर्वसदृश इति । सादृ-
श्यं यन्नकृतम् । अत एवायोगवाहेषु यमानां गणनं भाष्ये “चत्वारश्च
यमाः स्मृताः” इति पाणिनिशिक्षा च सङ्गच्छते । अयश्च वेदे एव
तदाह । प्रातिशाख्ये इति । अन्येषामिति । अचाम् उक्तान्यह-
लंश्चेत्यर्थः । यरलवाश्चेति । चेनाचामपि ग्रहणम् । “सुपां सुलुक्” इति
सूत्रे इकारस्यान्तर्यतो दकार इति भाष्यात् घोषसंवारनादाल्पप्राणत्वमचाम् ।
अन्यथा तदौ पर्यायेण स्याताम् । अल्पप्राणत्वानङ्गीकारे दधौ पर्यायेण
स्याताम् । अचां घोषत्वं “परः सन्निकर्ष” इति सूत्रे भाष्ये ऽपि स्पष्टम् ।
अन्ये इति । द्वितीयचतुर्थौ तद्यमौ शषसहा अयोगवाहाश्चेत्यर्थः । जिह्वामू-
लीययमादीनां स्थानबाह्यप्रयत्नकथनं तु स्वरूपानिर्णयाय न तु सावर्ण्या-
न्तरतम्यपरीक्षादाबुपयोगीति बोद्धव्यम् । अनुपयुक्ता इति । तुल्यास्यसूत्रे
प्रशब्दग्रहणात् । उपयुक्तत्वे हि शल्ययोरपि सावर्ण्यं स्यादिति भावः ।
आन्तरतम्यपरीक्षा च घोषवत इत्यादिना तत्र तत्र स्फुटीभविष्यति । स्पर्-
शाः तत्पदव्यवहार्याः । अन्तस्थाशब्द आदन्तः । स्पर्शोष्मणोरन्तर्मध्ये

तिष्ठन्तीति तदर्थः । ऊष्माण इति । ऊष्मा वायुस्तत्प्रधाना इत्यर्थः । एवं सोष्माण इत्यस्य वायुना सह वर्तन्त इत्यर्थ इति प्रातिशाख्यभाष्ये स्पष्टम् । यद्यपि वर्गद्वितीयचतुर्थयोरपि स्थानेन्तरतमसूत्रभाष्यादूष्मत्वं तथापि विवृतमूष्मणामित्यत्रैतएव गृह्यन्ते । अन्यथा कखादीनां सावर्ण्यानापत्तौ नाऽऽञ्जलावित्यादिनिर्देशासङ्गतिरिति भावः । अचः स्वरा इति । उदात्तादिभिः स्वयमेव राजन्त इति व्युत्पत्तेः, तद्धर्मत्वादुदात्तादयोऽपि स्वरा इत्युच्यन्ते । कषाभ्यामिति । खफयोरप्युपलक्षणम् । अं अः इत्युपलक्षणमिकारादेरपि । तदाह । अचः पराविति ।

ऋलृवर्णयोरिति । आ च लृवर्णश्चेति विग्रहः, ऋत्यक इति प्रकृतिभावः । एतदर्थमेव वर्णोपदेशे लृकारपाठः । अन्यथा तस्यासत्त्वशङ्कयाऽस्य वचनस्यैवाशङ्क्यत्वं स्यात् । ध्वनितश्चेदं एओङ् इति सूत्रशेषे भाष्ये । तत्र हि सँय्यन्तेत्यादौ “हलोनन्तरा” इति सूत्रे प्रत्याहारघटकेष्वपि ग्रहणकशास्त्रप्रवृत्त्या मात्राकालिकस्य यद्वयादेरणुदित्सूत्रेण यादिग्रहणेन ग्रहणाद् द्विव्यञ्जनाश्रयो विधिर्न प्राप्नोतीत्याशङ्क्य मात्रिकव्यञ्जनानुपदेशादनुपदिष्टस्यासत्त्वात् असत्प्रातिपत्तेरशङ्क्यत्वान्न अणुदित्सूत्रेण तद्ग्रहणमित्युक्तम् । न च कलृः शिखेत्यादाववृत्त इति निषेधात् प्लुतानापत्तिः । ऋलृवर्णयोः पृथगनुबन्धत्वकरणेन कचित्परस्पराग्राहकत्वकल्पनेनादोषात् ।

अकारश्कारयोरिति । एकारस्य तालव्यत्वमोकारस्यौष्ठ्यत्वमिति मते एकारश्कारादीनामप्युलक्षणमिदम् । एतेन “नावशलौ” इत्येव सूत्रयितुमुचितमित्यपास्तम् । हाशि चेत्येव सिद्धेऽतोरोरित्याकारे व्यावृत्त्यर्थम् । सूत्रे द्विवचनोपपत्तये मध्यमपदलोपिसमासं दर्शयति । आकारसहित इति । अत एव वेलास्विति निर्देश उपपद्यते । समाहारद्वन्द्वे तु टच्प्रसङ्गोऽञ्जलिति समाहारद्वन्द्वं कृत्वा आपदेन द्वन्द्वे तु अज्भिरप्याकारस्य सावर्ण्यं न स्यादिति भावः । अत एव भाष्ये

आच लृवर्णश्चेति । ननु “आच आच रलौ” इति मनोरमोक्तं विहाय किमिति द्वितीयः प्रकार आश्रीयत इति चेच्छृणु, “न पदान्ताः परेऽणः सन्ति” इति भाष्यप्रामाण्येन लृकारान्तानामनभिधानेन आच आच रलाविति विग्रहस्य वक्तुमशङ्क्यत्वात् ।

अपास्तमिति । एकारश्कारयोः “एकारस्य तालुमात्रजन्यत्वम्” इति मते सावर्ण्यापत्तिरिति भावः । नच शकारस्येषाद्विवृतत्वेन एकारस्य विवृतत्वेन आभ्यन्तरप्रयत्नैक्याभावाच्च दोष इति वाच्यम् । सूत्रकृन्मते दोषसत्त्वात् । केचित्तु

प्रयत्नभेदेनैषां सावर्ण्याभावः साधितः । एतेषु परेष्विति । इदमुपलक्षणम्
एतेषु विद्यमानस्येत्यपि बोध्यम् । तेन हकारादीनामकारादिषु परतो
दीर्घादिसङ्ग्रहः । अच्त्वं स्यादिति । अच्पदबोध्यत्वं स्यादित्यर्थः ।
इदं प्रत्याहारघटकेष्वपि ग्राहकशास्त्रप्रवृत्तिरिति मते व्यक्तिपक्षे च बोध्यम् ।

अणुदि । अणुमुद्दिश्य सवर्णबोधकताऽत्र विधीयते । सवर्णस्येत्यस्य
बोधक इति शेषः । आदेशादौ सवर्णग्रहणवारणायाह । प्रतीयते इति ।

एकारादीनां केवलतालव्यत्वमिति मते इकारैकारयोः सूत्रकृन्मते सावर्ण्यस्य
दुर्वारत्वेन केवलौष्ठ्यत्वादि न सूत्रकृतां मतमिति “एकारशकारयोरप्युपलक्षण-
म्” इति मूलं चिन्त्यमेवेति नाकशलाविति न्यासे न कोपि दोष इत्याहुः ।
अन्येतु तथा न्यासे लृति लृ वेति विधेयस्येषत्स्पृष्टलृकारस्य लृकारस्य च स-
वर्णसंज्ञापत्तौ होत्लृकार इत्यत्र यणो मय इति द्वित्वापत्तिः । अत एव ना
च्शलौ इति सूत्रकरणमप्यपास्तम् । भाष्यमते तु अणुदिसूत्रस्याप्यभावात्
लृत्वजातेस्तस्मिन् लृकारेऽभावात् दोष इत्याहुः ।

सावर्ण्याभावः साधित इति । स्यादेतत् । भाष्यकारमते प्रयत्नभेदेनाज्झ-
लोः सावर्ण्याभावेऽपि सूत्रकृन्मते कथं सावर्ण्याभावः । नच तुल्यास्यसूत्रे “ना-
ज्झलौ” इति निषेधेनाज्झलृभिन्नत्वेन सङ्कोचेनाज्झलोर्न सावर्ण्यप्रसक्तिरिति
वाच्यम् । एवं तर्हि अचां हलामपि परस्परं सवर्णसंज्ञानापत्तेरिति चेन्नैवम्,
अज्झिन्नेन तुल्यास्यप्रयत्नमज्झिन्नं सवर्णसंज्ञं भवति, हलृभिन्नेन तुल्यास्य-
प्रयत्नं हलृभिन्नं सवर्णसंज्ञं भवतीति नाज्झलाविति तात्पर्यग्राहकेणा-
ऽऽवृत्त्या तुल्यास्यसूत्रस्यार्थद्वयकरणेनादोषात् । अत्र प्रथमवाक्येन हलो
द्वितीयवाक्येनाचां सवर्णसंज्ञा बोध्या । अथवा स्वविशिष्टः सवर्ण-
संज्ञो भवति । वैशिष्ट्यञ्च स्ववृत्त्यच्त्वाभावहलृत्वाभावान्यतरवत्त्वं-
स्वनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकताविशिष्टजनकतानिरूपितजन्यतावत्त्वमेतदुभयस-
म्बन्धेन । जनकतावैशिष्ट्यञ्च स्वव्याप्यत्वं-स्वव्यापकत्वमेतदुभयसम्बन्धेनेत्य-
दोषात् । अथवा तुल्यास्यसूत्रोक्तप्रथमवैशिष्ट्ये स्ववृत्त्यच्त्वाभावहलृत्वाभावान्य
तरवत्त्वं सबन्धो निवेशनीयः । परस्परपदार्थघटकाऽऽद्यद्वयसम्बन्धीयस्वीयपद-
स्थानेऽज्झृत्तीति हलृवृत्तीति च यथापूर्वं निवेशनीयम् । तथा चानुयोगि-
त्वप्रतियोगित्वे च अज्झिन्ने हलृनिष्ठे वा विवक्षिते, नत्वज्झिन्ना प्रतियोगिता
हलृनिष्ठा चानुयोगिता, नवा हलृनिष्ठा प्रतियोगिता अज्झिन्ना चानुयोगिता,
अत्रैव नाज्झलाविति तात्पर्यग्राहकमित्यदोष इति दिक् । *बोधक
इति शेष इति* । घटकतयेति शेष इत्यपि बोध्यम् । तथाच अणु
उदिच्च घटकतया सवर्णान् गृह्णातीति सूत्रार्थः । अणुघटितमुदिच्च स्वादि-
सवर्णान् गृह्णातीति यावत् । एतेन “नचाणुदिसूत्रं व्यर्थं प्रत्याहाराद्यवर्णेषु
ककारादिविन्नेन स एवायमिति प्रत्यभिज्ञयाऽणत्वादणुदिसूत्रं चरितार्थम्”
इति शेखरोऽसङ्गतः प्रत्याहाराद्यवर्णस्यानर्थकत्वेन तज्जन्योपस्थित्या शाब्द-
बोधाजननादित्यपास्तम् । इगादिपदानां घटकतया स्वादिसर्वणग्राहकत्वेन

परे तु प्रत्ययग्रहणमेकदेशानुमत्या “भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न” इति परिभाषां ज्ञापयतीति युक्तम् । प्रत्ययपदस्य तदर्थत्वन्तु न युक्तं वार्तिक-
कृता टित्किन्मित्स्वपसंख्यानोक्तेः । भाष्यकृता चाप्रत्ययग्रहणमेतत्परिभा-
षाज्ञापकमित्युक्तेः । “ज्यादादीयसः” इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितमिदम् ।
तत्र हि किमर्थमादित्युच्यते ज्याद इत्येवोच्यतां, का रूपसिद्धिः, आ-
न्तर्यतो दीर्घस्य दीर्घो भविष्यति, एवन्तर्हीदमेव ज्ञापयति भवत्येषा परि-
भाषा भाव्यमानेनेत्यादि । त्वदुक्तव्याख्याने हि पूर्वपक्षसिद्धान्तयोरुभयो-
रपि निर्दलत्वापत्तिः । जातिपक्षे ऽप्यनयैव परिभाषया सवर्णग्रहणं वार-
णीयम् । व्यक्तिपक्षे गुणाभेदकत्वप्राप्तश्च वारणीयम् । तेन घटवदित्यादौ
नानुनासिको वकारः । एतेनाजुदिदित्येव सिद्धे ऽणग्रहणेन यणसु गुण-
भेदकत्वं ज्ञाप्यते इति परास्तमित्याहुः । ननु चोरित्यादावनुवादे कथ-
मुदित्वमिति चेन्न । व्याकरणान्तरे एषामुदित्संज्ञकत्वेनादोषात् । उपदे-
शशब्दस्य करणसाधनत्वेन शास्त्रपरत्वे ऽस्यापि शास्त्रत्वेनेत्वप्रवृत्तेः सुल-
भत्वाच्च । चो भिन्नक्रम इत्याह । उदिचेति । यद्यपि समुदायसवर्णिनो
ऽप्रसिद्धास्तथापि तदवयवचादिसवर्णा एवात्र तत्सवर्णा बोद्ध्याः । इ-
स्वाकाराद्योरपि कालपुरुषाद्युपाधिभेदेन स्थानेषु भेदमारोप्य तुल्यस्था-
नत्वं सूच्यते । अत्रेति । ग्राहकमूत्र एवेत्यर्थः । व्याख्यानादिति
भावः । उपसर्गाद्वतीत्यादितपरकरणादिति तु न युक्तम् । लृकारग्रहणेन
चारितार्थात् । एवमिणपि परेणैव । अचि ङित्वेति सूत्रे ण इत्येव सिद्धे
य्वोरिति गुरुनिर्देशाद्व्याख्यानाच्चेति लणसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । नन्वेवं “अस्य
च्चौ” इत्यादौ सवर्णग्रहणं न प्राप्नोति । अणग्रहणेन वर्णसमाम्नायस्थाना-
मेव ग्रहणेन णकारादिचिह्नेन प्रत्याहारे तत्प्रत्यभिज्ञानेन तत्रत्याद्यवर्णो-

शब्दबोधे बाधकाभावात् । सहग्रहणेनाऽऽदेरेव संज्ञात्वेन प्रत्याहाराद्यवर्ण-
स्यानर्थक्याभावाच्च । *ज्ञापयतीति* । नच पुनरपि ज्याद ईयस इत्येवो-
च्यताम्, लोपेनैव सिद्धे ऽकारादेशविधानसामर्थ्येन पररूपाप्रवृत्त्या सवर्णदीर्घेण
ज्यायानिति रूपसिद्धेरिति वाच्यम् । वृद्धशब्दाण्यन्तात्किपि ज्यादेशे वृद्धौ पुकि
ईयसुनि श्रवणार्थमकारोच्चारणस्य चारितार्थात् । दीर्घोच्चारणेन द्विमात्रिक एव
विधेय इति पाणिनितात्पर्यावधारणेन पाणिनितात्पर्यविषयीभूतद्विमात्रिकवि-
धानाय दीर्घोच्चारणसार्थक्येन स्वांशे चारितार्थ्यं नास्तीति वक्तुमशक्य-
त्वाच्च । दीर्घोच्चारणं विनापि ज्यायानिति रूपसिद्धिर्भवतीति पूर्वपक्षान्त-
रमेतत् । *चारितार्थ्येनेति* । अणघटितं स्वादिसवर्णान् गृह्णातीति सूत्रार्थात् ।
आदिरन्त्येनेति सूत्रेण संज्ञा आदेरेवेति स्वीकाराच्चेति भावः । एतन् एक-

पस्थितेषु उच्चारिताभेदेन गृहीतेषु सूत्रस्य चारितार्थेन व्यक्तिपक्षे तत्र-
त्यात्रत्यव्यक्त्योर्भेदेन प्रकृते प्रत्याहारघटकाद्वितीयवर्णादौ चोच्चारितस्यैव
ग्राहकत्वादप्रवृत्तेरिति चेन्न । जातिपक्षाश्रयणेनादोषात् । अत एवानेकत-
कारादीनां झल्वादिसिद्धिः । सूत्रे ऽणग्रहणं च न कार्यम् । “ऋतृवर्णयोः
सावर्ण्यम्” इत्यनेन समानजातित्वस्यैवातिदेशेनोपसर्गाद्वितीत्यादौ न दोषः ।
एतद्व्यतिरिक्तसवर्णे समानजातित्वसत्त्वात् । पृथगनुबन्धकरणाच्च न ऋदि-
ल्लृदिप्रयुक्तकार्यसङ्करः । अत्र पक्षे अङ्गुलसूत्रशेषोक्तभाष्यरीत्या त-
परसूत्रस्य जातिग्रहणप्राप्तसवर्णग्रहणनियामकत्ववदप्रत्यय इत्यस्य योगवि-
भागेन तत्प्राप्तसवर्णग्रहणनिषेधकत्वात् “त्यदादीनामः” इत्यादौ विधेये न
दोषः । एवं गुणाभेदकत्वप्राप्तसवर्णग्रहणनिषेधकत्वमप्यस्य बोध्यम् । अत
एव घटवादित्यादौ मतोर्मस्य नानुनासिको वकारः । सामर्थ्यादिति ।
“एचो ऽयवायावः” इत्यादौ स्थानेऽन्तरतमसूत्रेणैव निर्वाह इति वक्ष्यते ।
“न खाभ्याम्” इत्यत्र ऐऔस्वरूपेण पाठ्यौ, “वृद्धिरादैच्” इत्यत्राप्येङित्येव
पाठ्यम् । तत्र गुणसूत्रे च परस्परसवर्णसञ्ज्ञावादिमते चतुर्णां ग्रहणसत्त्वा-
त् । अत्रैतत्सूत्रवैयर्थ्योपन्यासेन तन्मूलकस्य गुणवृद्धिसञ्ज्ञाविधौ प्रत्या-
हारद्वयग्रहणवैयर्थ्यस्य प्लुतावैच एचोऽप्रगृह्यस्येत्यत्र तद्ग्रहणवैयर्थ्यस्य
च सङ्ग्रहो बोध्यः । प्रयत्नभेदेनाप्यसावर्ण्यमेतयोः प्रागुक्तं न विस्मर्त्तव्यम् ।

यद्यपीति । इदं व्यक्तिपक्षे । “वर्णानामुपदेशस्तावदुपदेशोत्तरकाले-
त्सञ्ज्ञा तदुत्तरकालमादिरन्त्येनेति प्रत्याहारस्तदुत्तरकाला सवर्णसञ्ज्ञा तदु-
त्तरकालमणुदिति, एतेन सर्वेण समुदितेन वाक्येनान्यत्र सवर्णानाङ्ग्रहणं

शक्तिनिरूपकार्थविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रत्यपरशक्तिनिरूपकार्थविषयक-
तात्पर्यज्ञानं प्रतिषधकमितिप्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावमूलकसकृदुच्चारितन्यायेन
प्रत्याहाराद्यवर्णेनाष्टादशोपस्थितावपि प्रत्याहारनिष्ठशक्तिनिरूपकार्थविषयक-
तात्पर्यज्ञानस्य प्रत्याहाराद्यवर्णविषयकशाब्दबुद्धिं प्रति प्रतिबन्धकत्वेनेदमसङ्गत-
मित्यपास्तम् । प्रत्याहारस्थले स्वाद्यवर्णे पृथक्शक्त्यभावेन निरुक्तप्रतिबध्यप्र-
तिबन्धकभावस्य तन्मूलकसकृदुच्चारितन्यायस्य च विषयाभावादिति दिक् ।

जातिपक्षाश्रयणेनादोषादिति । परेतु अण्बोधकं सर्वणान् गृह्णातीति
सूत्रार्थः । ननु “इकोयणचि” इत्यादौ अण्बोधकपदसवर्णाप्रसिद्ध्या सवर्णग्रहणं न
स्यात् । नचाऽण्बोधकं स्वबोध्यसवर्णान् गृह्णातीति न दोष इति वाच्यम् । अशादि-
प्रत्याहारस्थले स्वबोध्यदादिसवर्णतादीनामपि ग्रहणापत्तेः । नचाण्मात्रबोधकं-
स्वबोध्यसवर्णान् गृह्णातीति न दोष इति वाच्यम् । तत्रैव स्वबोध्याकारादिसवर्ण-
दीर्घाकारादिग्रहणानापत्तेरिति चेन्न, अण्बोधकं पदं स्वबोध्याणसवर्णान् गृह्णा-

भवति, न चात्रेकारः शकारं गृह्णाति” इति “नाज्झलौ” इति सूत्रभाष्योक्तवा-
क्यापरिसमाप्तिन्यायादित्यर्थः । अयं भावः । आदिरन्त्येनेति प्रत्याहार-
सिद्धौ नाज्झलावित्येतद्वाक्यार्थबोधे सति निर्णीतैतद्विषयपरिहारेण सवर्ण-
सज्ज्ञाबोध्यनिश्चये अणुदित्सूत्रेण तावतां ग्रहणं बोधनीयम् । अन्यथा बाध-
कसम्भावनया तुल्यास्यसूत्रजशक्तिग्रहे ऽप्रामाण्यसन्देहेनाणुदिच्छास्त्रजबो-
धानापत्तिः । न चैतद्वाक्यार्थबोधात्प्राक् तन्निश्चय इति । होढ इति ।
हकारेणाऽऽकारग्रहणे सति यद्यत्प्राप्नोति तस्य सर्वस्याप्युपलक्षणमिदम् । ननु
यण्सवर्णिनामप्रसिद्धेरज्ग्रहणेनैव सिद्धे ऽण्ग्रहणं व्यर्थमत आह । यबला
इति । “अमो ऽनुनासिका न हौ” इति शिक्षोक्तेर्यण इति नोक्तम् । तेन सँ-
यन्तेत्यादौ परसवर्णनिष्पन्नानुनासिकयवलानाम् “अनचि च” इति द्वित्वं सि-
द्ध्यति । हलो यमामिति लोपस्तु वैकल्पिकः । अत्रेदं बोद्धव्यम् । व्यक्तिः
पदार्थो गुणा भेदका इत्यभिमानेनात्र सूत्रे ऽण्ग्रहणमिति ।

“अतो भिस” इत्यादौ तपरकरणात्सहिवहोरितिसूत्रस्थवर्णग्रहणाद्व्याख्या-
नाच्च तपरपदे बहुव्रीहिपञ्चमतीतपुरुषावित्याहातः परइत्यादिना।वर्णग्रहणे
तु तत्सामर्थ्यादत्वावच्छिन्नसर्ववर्णग्रहणबोधनेन तपरसूत्राप्रवृत्तिः।आद्योदा-
हरणमतो भिस इति, अन्त्योदाहरणं वृद्धिरादैजिति । यद्यप्यत्र सज्ज्ञा ता-
त्परा, न च तत्समकालस्तत्सवर्णो वा प्रसिद्धस्तथापि तपरकरणाद् भा-
व्यप्रामाण्याच्च तात्परशब्दबोद्धव्यो वर्णः स्वसमकालग्राहक इत्यर्थेनादोषः ।
इदं च विद्ध्यर्थमेवाण्ग्रहणाननुवृत्तेः । गुणानां भेदकतयाऽनणि विधित्वे
ऽपि वृद्धिरादैजित्यादावाकारांशे सावकाशेनानेनातो भिस इत्यादौ पर-
त्वेनाणुदित्सूत्रबाधः । संख्याकृतव्यवहारस्य परस्परपरिहारैर्णैव दृष्टतयेह

तीत्यर्थेनादोषात् । नचैवमप्यर्थवदित्यत्र प्रत्ययपदस्याकारादिणान्तसमुदा-
यघटकबोध्याकारादिवोधकत्वेन तत्रापि स्वबोध्यो यो ऽकारादिणान्तसमुदाय-
घटकबोध्यः सनाशंसभिक्ष उरित्यादिः तत्सवर्णग्रहणे “हाहा हूहू” इत्यादावपि
प्रत्ययान्तभिन्नेत्यर्थकाप्रत्यय इति पर्युदासापत्तिरिति वाच्यम् । व्यासज्यवृत्तिध-
र्मानवच्छिन्ना या अण्वृत्तिविषयता तादृशविषयताप्रयोजकं स्वबोध्याण्सवर्णान्
गृह्णातीत्यर्थेन प्रत्ययत्वस्य व्यासज्यवृत्तित्वेनादोषात् । नचैवमपि “ह्रस्वस्य पि-
ति” इत्यादौ ह्रस्वादिपदस्य व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्नाण्वृत्तिविषयताप्रयोज-
कत्वेन सवर्णग्रहणे प्रदायेत्यादौ तुगाद्यापत्तिरिति वाच्यम् । कालघटितधर्मान-
वच्छिन्ना व्यासज्यवृत्तिधर्मानवच्छिन्ना च या अण्वृत्तिविषयता तादृशविषयता-
प्रयोजकमित्यर्थेनादोषात् । अत एव भाष्ये ऽनणि शलादिप्रत्याहारे एव दो-
षो दत्त इत्याहुः ॥

विरोधस्य सत्त्वात् । गुणानामभेदकत्वेत्वनवकाशत्वाद् बाध इति बोध्यम् । अत्रावध्यवधिमतोः साजात्येन वर्णस्यैव सञ्ज्ञात्वेऽपि विशिष्टादिभक्त्युत्पत्तिः सौत्रत्वाद् बोध्या । तत्कालस्येत्यस्य तदुच्चारणकालसमकालस्येत्यर्थस्तदाह । समकालस्यैवेति । एवकारो न्यायसिद्धबाध्यबाधकभावस्यानुवादक इति भावः । जातिपक्षे तु नियमार्थमेव सवर्णग्रहणानुवृत्तेः । एवं गुणानामभेदकत्वमिति “वृद्धिरादैच्” इति सूत्रभाष्यसम्मतसिद्धान्तपक्षेऽपि नियमार्थमेव । इदम् “आद् गुणः” इत्यादौ विभक्तितकारे न प्रवर्त्तते । “उपसर्गादिति” इति तपरकरणात् । “ऋदोरप्” इत्यादौ दकार एवेति न दोषः । स च पञ्चमीसमासाभावे तकार इवोच्चारणार्थो मुखसुखार्थो वा । तपरसूत्रे दकारप्रश्लेषपक्षे तु धकारादिस्थानिको दकारो बोध्यः ।

वृद्धिरा । वृद्धिः आत् ऐजिति पदत्रयमिति न समासान्तादिप्रवृत्तिशङ्का । तपरकरणमसन्देहार्थतया पूर्वार्थम् । प्रकृतसूत्रे भाष्येऽत्र शास्त्रे गुणानामभेदकत्वं ज्ञापकादाश्रित्य सवर्णग्रहणार्थत्वाभावस्योक्तत्वात् । कृष्णौत्कण्ठ्यं गङ्गौघ इत्यादौ त्रिमात्रव्यावृत्तये परार्थमपि । वृद्धिशब्दोऽत्र पदपरोऽर्थपरत्वासम्भवात् । आदैचो वृद्धिपदाभिन्ना इति वाक्यार्थः, पदपदार्थयोस्तादात्म्यस्याङ्गीकारात्* । “रामेति व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः” इत्यादौ तयोरभेदप्रतीतेरनुभवसिद्धत्वादित्यन्यत्र विस्तरः । वृद्धिशब्दस्य सञ्ज्ञात्वं तु व्याख्यानात् । विधेयत्वेऽपि तस्य पूर्वपाठो मङ्गलार्थः । “अपृक्त एकाल्” इत्यादौ तथा करणं विधेयस्य प्रथमं प्रयोगेऽसाधुत्वभ्रमनिवारणायेति भाष्ये स्पष्टम् । सर्वशब्दानां सर्वार्थवाचकत्वेऽपि वाचकत्वस्य गृहीतस्यैव बोधजनकतया स-

तादात्म्यस्याङ्गीकारादिति । नच मधुशब्दोच्चारणे जिह्वाया माधुर्यप्रसङ्गः, अस्यादिशब्दोच्चारणे छेदनप्रसङ्ग इति वाच्यम् । भेदसहिष्णुरभेद इत्यत्र वास्तवो भेद इति स्वीकारेणादोषात् । अभेदस्तु इतरेतराध्यासाच्छब्दार्थप्रत्ययानां भासते इति मञ्जूषायां निरूपितम् । अत एव “शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्तत्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्” इति पातञ्जलसूत्रं सङ्गच्छते । अत एव शब्दे पृष्टेऽपि गौरिति वदति, अर्थेऽपि गौरिति, ज्ञानेऽपि गौरिति । वस्तुतस्तु शब्दार्थयोर्वास्तवाभेदस्वीकारेऽपि न क्षतिः । नच पूर्वोक्तमाधुर्यादिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । नैयायिकादिमतेऽपि कालिकादिसम्बन्धेन मुखे मधुनः सत्त्वेन माधुर्यप्रसङ्गात् कारणतावच्छेदकसम्बन्धेन कारणसत्ताया एव कार्यनियामकत्वेन कल्पितभेदस्य शब्दस्य मुखे अवच्छेदकत्वसम्बन्धेन स-

ज्ज्ञासूत्राणामज्ञातशक्तिज्ञापकतया विधित्वम् । *किञ्च सर्वे सर्वार्था इत्यभ्युपगमो योगिदृष्ट्या नास्मद्दृष्ट्या, सर्वशब्दानामर्थानाञ्च विशिष्यज्ञानाभावात् । सामान्यतस्तथा ज्ञानञ्च न बोधोपयोगि । शास्त्रं त्वस्मदाद्युद्देशेनैव प्रवृत्तमिति बोध्यम् । तत्रैव सङ्केतग्राहकशास्त्रकरणं स्वेच्छयैवेत्येषां यदृच्छाशब्दत्वेन व्यवहारः, स्वेच्छया सज्ज्ञाः क्रियन्त इति च । एतदुपदेशरूपसङ्केतात्प्राक् तत्र सज्ज्ञात्वाग्रहेण तासामनित्यत्वव्यवहारः । अत एव तत्तत्सज्ज्ञाकरणज्ञानरूपप्रकरणादन्यार्थाग्रहणरूपनियमः कृत्रिमाकृत्रिमन्यायमूलतयोक्तः संख्यासज्ज्ञासूत्रे भाष्ये । आर्थिकमेवायं नियममादाय सज्ज्ञासूत्रेषु नियमत्वव्यवहारो व्यवहाराय नियमः सज्ज्ञायाः सज्ज्ञानि कचिदित्यादिना कृतः । वाचकताबोधकत्वे ऽपि तदनुत्पादकत्वान्न शब्दार्थसंबन्धनित्यताहानिः । आसाञ्च शिष्टप्रयुक्तत्वात्साधुत्वमित्यन्यत्र विस्तरः । कार्यकालपक्षे “मृजेद्वृद्धिः” इत्यादौ वृद्धिपदार्थाजिज्ञासायां वृद्धिरादैजित्युपस्थित्या तदर्थबोधरूपे शक्तिग्रहे वृत्ते विधिवाक्यार्थबोधः । अत एव “ष्यङः संप्रसारणम्” इति सूत्रे भाष्ये “कार्यकालं सज्ज्ञापरिभाषं भस्येत्युपस्थितमिदं भवति यचि भमिति” इत्युक्तम् । “ईदूदेद्” इति सूत्रे भाष्ये ऽपि “कार्यकालं सज्ज्ञापरिभाषं प्रगृह्यः प्रकृत्येत्युपस्थितमिदं भवति ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यमिति” । निष्ठेति सूत्रे कैयटो ऽपि “निष्ठेत्युक्ते सज्ज्ञावाक्यं क्तक्तवत् निष्ठेति स्मर्यते” इत्याह । अत्र पक्षे एकत्र शक्तिग्रहे वृत्तेऽपि तत्प्रदेशस्थस्यैव तत्रार्थे शक्तिरिति सम्भावनया प्रदेशान्तरस्थे बोधो न स्यादिति सर्वप्रदेशेषु तत्तत्पदशक्तिग्रहपूर्वकं विधिवाक्यार्थबोधः । यथोद्देशे तु एकदैव शक्तिग्रहात्सर्वत्र बोध इति विशेषः । एतेन “कार्यकालपक्षे तपरत्वं स्पष्टार्थमेव । आदैचूपदार्थस्य वृद्धिविशेषणतया विधेयत्वेन सवर्णग्रहणाप्रसक्तेः । यत्र वृद्धिपदं तत्रादैजित्युपतिष्ठते इति क्रमेण सज्ज्ञासूत्राणामर्थानुत्” इत्यपास्तमित्यन्यत्र विस्तरः । अत्रातद्भाषितानामपि आदैचां ग्रहणं तेन शालीयादिसिद्धिः ।

त्वाद्भस्तुतस्तदभिन्नस्य भिन्नत्वेन कल्पितस्यार्थस्य तेन सम्बन्धेन सत्त्वेपि कारणतावच्छेदकसंयोगसम्बन्धेन मुखे मध्वादेरभावेनादोषादिति दिक् ।

ननु वृद्धिपदमर्थबोधकम्पदत्वात् गोपदवत् इत्यनुमानेनैव वृद्धिपदे आदैज्वाचकत्वं प्रहीतुं शक्यते । नचार्थत्वेनादैज्वाचकत्वग्रहेऽपि आदैचत्वेनादैज्वाचकत्वग्रहाय सूत्रं विधायकमिति वाच्यम् । वृद्धिपदमादैचत्वावच्छिन्नवाचकमादैजितराबोधकत्वे सति अर्थबोधकत्वादित्यनुमानेन तत्त्वेनापि ग्रहसम्भवादित्यरुचेराह *किञ्चेति* । आदैजितराबोधकत्वस्यासिद्धत्वेन आदै-

भूवादयो । क्रियावाचिनः किम् । विकल्पार्थकवाशब्दस्य निपा-
तस्य धातुत्वे ऽप्रातिपदिकत्वात्सुबभावे पदत्वानापत्तेः । तदुक्तौ तु न
दोषः । वार्थस्य विकल्पस्य भूतभविष्यत्कालसम्बन्धाभावेन क्रियात्वाभा-
वात् । अस्त्याद्यर्थस्यापि तत्त्वं भूतभविष्यत्कालसंबन्धात् । भवादयः किम् ।
आणवयति वदयतीत्यादीनां धातुत्वे शास्त्रविषयतया साधुत्वापत्तेः । सूत्र-
शेषे भाष्ये स्फुटमेतत् । स्तम्भवादीनामुदिन्वेन धात्वधिकारविहितकार्योद्दि-
श्यत्वादिना स्थितपाठभ्रंशानुमानान्न तेषु दोषः ।

प्राग्नीचव । “अधिरीश्वरे” इत्यभिव्याप्य प्राग्निपाता इत्यधिकारः ।
प्राक् निपाताः सन्तो गत्यादिसञ्ज्ञका इत्यर्थः । तेन ताभिः समावेशः
“अधिरीश्वरे” “विभाषा कृजि” इत्यत्र निपातपदसंबन्धश्च सिद्धः । एषां
द्योतकत्वं वाचकत्वञ्च यथाकार्यं यथाप्रयोगं बोद्धव्यमित्यन्यत्र विस्तरः ।
असत्त्वे इति पर्युदासो लाघवादित्याह अद्रव्येति । विशे-
ज्वाचकत्रानुमानासंभवादिति उत्तरग्रन्थाशयः ।

भूवादयो धातवः । भूवादयश्च भूवादयश्च भूवादय इति तन्त्रेणार्थं
निर्देशः । एक आदिशब्दः प्रकारार्थः । अपरश्च प्रभृत्यर्थः । विशिष्टावृत्तिश्च भू-
साहचर्याद्वाशब्दो ऽनव्ययमेव गृह्यते, वाशब्दसाहचर्याच्च भूशब्दो ऽसत्त्ववाची
गृह्यते इति परस्परसाहचर्याच्चादृशः क्रियावाच्येव सम्भवतीति क्रियावाचिन
इति लाभाय, एकपदोपस्थापितयोरर्थयोः परस्परमभेदेनान्वयस्याव्युत्पन्नत्वेन
भूवाप्रभृतयो ये भूवासदृशा इत्यभेदान्वयलाभाय, एकरूपावच्छिन्नस्य एकरूप-
संसर्गैकैकरूपावच्छिन्ने ऽन्वयबोधेच्छारूपसहविवक्षालाभाय च । *क्रियावा-
चिनः किमिति* । क्रियावाचकत्वं च साध्यत्वविशिष्टत्वम् । वै० च स्वावच्छिन्न-
निरूपितशक्तिपर्याप्त्याधिकरणत्वं— स्वावच्छिन्नेतरनिरूपितशक्तिनिरूपकार्थवि-
षयकबोधतात्पर्येणोच्चरिताघटितत्वं— स्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तिनिरूपकार्थविष-
यकबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वमेतन्नितयसम्बन्धेन । आद्यसम्बन्धदानेन भावतिङ्-
न्तस्य न क्रियावाचकत्वम् । द्वितीयसम्बन्धदानेन द्रिं द्रातीति द्रिद्रा इत्यस्य न
क्रियावाचकत्वम् । तृतीयसम्बन्धदानेन विकल्पार्थकवाशब्दस्य न क्रियावाचकत्व-
म् । किन्तु तु किपः साध्यत्वावच्छिन्नेतरकर्तृत्वबोधकत्वेऽपि तदनुच्चारणात् नि-
रुक्तबोधतात्पर्योच्चरिताघटितत्वस्याक्षतत्वात् न क्रियावाचकत्वहानिः । धातोरेव
श्रुतस्य बोधकत्वाङ्गीकारे ऽपि तद्वटितत्वस्य व्यपदेशिवद्भावेन सत्त्वेऽपि अनति-
दिष्टस्य घटितत्वस्यासत्त्वान्न दोषः । तादृशस्यैव सम्बन्धे निवेशनीयत्वात् इत्य-
लम् । *साधुत्वापत्तेरिति* । न च आणवयतीत्यादौ धातुसंज्ञायामपि
संज्ञाशास्त्राणां साधुत्वविधायकत्वाभावात्कथं साधुत्वापत्तेरिति वाच्यम् । “भू
सत्तायाम्” इत्याद्यनेकशास्त्राणां साधुत्वानुशासकत्वे महगौरवेण भूवादय इत्य-
स्यावृत्तिं कृत्वा धातुसंज्ञाविधायकत्वस्य साधुत्वविधायकत्वस्य च स्वीकारे-
णादोषात् । अत्रैव मानमाह । *सूत्रशेषे भाष्ये इति* ।

यतया द्रव्यभिन्नार्था इत्यर्थः । तेन क्रियाविशिष्टद्रव्यवाचिनां विप्रा-
दिघटकप्रादीनां न । चादयः किम् । स्वरादिपठितानामसत्त्ववृत्तित्वे
आद्युदात्तत्वं मा भूदिति ।

उपसर्गाः । योगग्रहणं यदर्थे प्रादीनामन्वयस्तं प्रत्येवोपसर्गत्वादीत्य-
र्थबोधनाय । तेन विगताः सेचका अस्माद्विसेचको ग्राम इत्यादौ षत्वं न ।

गतिश्चेति । च उपसर्गसञ्ज्ञासमावेशार्थः । तेन प्रतिप्रणीतमित्यादौ
गतित्वात् “ गतिरनन्तरः ” इति स्वर उपसर्गत्वात् णत्वञ्च सि-
द्ध्यति । प्रादय इति योगविभागस्तु क्रियायोगाभावे ऽपि
निपातत्वाय । एतत्सिद्धमेवोपसर्गप्रतिरूपकस्य निपातत्वमुक्तं चाद्य-
न्तर्गणसूत्रेणेति दिक् । प्रपरेत्यादावनुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षया
सुबनुत्पत्तिः । निःस्तुसिति । अत्रेदं बोध्यम् । सान्तग्रहणे रान्त-
स्याग्रहणमेव । यत्र तु रुत्वमसिद्धं तत्र रान्तग्रहणे ऽपि न
सान्तग्रहणं तद्वदृष्ट्या रुत्वस्यासिद्धत्वात् । यत्र तु रुत्वस्य सिद्धत्वं
यथा षत्वणत्वयोस्तद्विषयोपसर्गत्वप्रतिषेधपरे “ दुरः षत्वणत्वयोः ”
इति वार्तिके कृतरेफसान्तस्यापि ग्रहणम् । षत्वणत्वयोरित्यस्य त-
द्विधायकशास्त्रयोरित्यर्थात् । अत एव सुषामादिषु दुःष्ठुशब्दपाठः सा-
र्थकः । स हि “ अपदुःसुषु स्थः कुः ” इति दुसपूर्वकस्थाधातोः कुप्रत्यये
साधुः । अन्यथा दुसपूर्वकात्कुप्रत्यये उपसर्गादित्येव षत्वे सिद्धे तद्वै-
यर्थ्यं स्पष्टमेव । न चास्य रूढत्वेनावयवार्थाभावादुपसर्गत्वाभावः ।
अत्यन्तरूढेषु प्रतिष्ठानिष्ठादिषु षत्वानापत्तेः । अर्थवत्त्वारोपेण चेत्प्रकृते
ऽपि । दुसः पाठस्तु दुरयते इत्यादौ रुत्वासिद्ध्या लत्वाभावार्थ इति दिक् ।

न चेति । इति लोके ऽर्थपदार्थकस्य शब्दपदार्थकत्वकृत् ।
यथा ‘ गवित्ययमाह ’ इत्यादावनुकरणे । इह तु “ स्वं रूपम् ” इति परिभाष-
णाच्छब्दपदार्थकस्यार्थपदार्थकत्वकृत् । क्व चित् इतेर्न पदार्थविपर्यासकत्वं

विशेष्यतया द्रव्यभिन्नार्था इति । लिङ्गसंख्यानव्ययितानवच्छेदकं यद्रूपं
तद्रूपेतररूपावच्छिन्नविषयकबोधतात्पर्येणानुच्चारिता इत्यर्थः । तेनात्यन्तनि-
र्थकानामपि निपातसंज्ञासिद्धिरिति दिक् ।

तं प्रत्येवोपसर्गत्वादीति । जन्यबोधविषयीभूतक्रियाविशेषविषयकतात्प-
र्यग्राहकत्वे सति प्राद्यन्यतमत्वमुपसर्गत्वमिति स्वीकारात् । ननु प्रतिपदो-
क्तस्य दुर एव ग्रहणं स्यान्न तु कृतरुत्वदुस इत्यत आह *अत एवेति* ।
तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति । नच दुर्पूर्वकात्स्थाधातोः कुप्रत्यये षत्वार्थं
सुषामादिषु दुःष्ठुशब्दपाठ आवश्यक इति वाच्यम् । “ स्वपदुस्सु स्थः ” इति

यथाऽनुवादवाक्ये । स च नवाशब्दाभ्यां प्रत्येकं संबध्यते व्याख्या-
नात् । तेन नवाशब्दयोरर्थौ संज्ञिनौ । स्वं रूपमित्यस्य प्रत्याख्याने त्विति-
शब्दो व्यर्थ एव, अर्थे कार्यस्याबाधात् । तयोरेव संज्ञित्वे तु “विभाषा श्वेः”
इत्यादौ नवाशब्दावादेशौ स्याताम् । प्राप्तविभाषासु नास्योपयोगः, तासां
पक्षे निवृत्तिमात्रफलकत्वात् । अप्राप्तविभाषास्वपि न, तासां पक्षे विधि-
मात्रार्थत्वात् । अप्राप्तत्वेन निषेधासंभवाच्च । तस्मादुभयत्र विभाषार्थमि-
दम् । “विभाषा श्वेः” इत्यादौ एतदभावे यदि विधिमुखेन प्रवृत्तिस्तर्हि
पित्स्वेव विकल्पः स्यात् । किंस्तु तु नित्यमेव संप्रसारणं स्यात् । निषेध-
मुखेन प्रवृत्तौ कित्स्वेव प्रवर्त्तत न पित्सु । उभयथा प्रवृत्तिस्तु वैरूप्या-
द्वाक्यभेदापत्तेश्चाशक्या । सञ्ज्ञाकरणे तु श्रुतक्रमानुरोधात्पूर्वं कित्सु नि-
षेधस्ततः किदकिद्रूपे सर्वस्मिन् लिटि ऐकरूप्यं प्रापिते सति पक्षे भवती-
त्येकरूपेण विधिमुखेनैव विकल्पः । भाष्यकृतस्तु एवं हि “ह्रस्वरन्यतरस्या-
म्” इत्यादावनुपपत्तिर्विभाषापदाभावात् । इतिशब्दस्य विभाषेत्यत्रापि संब-
न्धात् विभाषापदार्थः सञ्ज्ञेति तु न युक्तम् । अर्थे सञ्ज्ञात्वस्यादृष्टत्वात् ।
अर्थाक्षिप्तशब्दमात्रं सञ्ज्ञेत्यपि न युक्तम् । एकस्यार्थस्य समानफलकानेकस-
ञ्ज्ञाकरणस्य “अनाकृतिः सञ्ज्ञा” इति वृद्धिसञ्ज्ञासूत्रस्थभाष्येण तिरस्कारा-
त् । तस्मात्तत्र लक्ष्यानुसारेणैवोभयमुखेन प्रवृत्तिर्वाच्येति विभाषापदघटिते
ऽपि तथैवास्तु किं सूत्रेणेति जातिव्यक्तिपक्षयोरुभयोरपि सूत्रं प्रत्याचख्युः ।

स्वं रूपं श । स्वं रूपमित्यस्य बोध्यमिति शेषो व्याख्यानात् तदाह ।
संज्ञीति । “राज्ञो यत्” इत्यादौ लौकिकव्युत्पत्त्योपस्थितार्थस्य प्रत्ययेन
पौर्वापर्यासंभवात्प्रातिपदिकादित्यनेनान्वयासंभवाच्च तदर्थकशब्दमात्रग्रह-

न्यासेन “रोः सुपि” इति नियमाद् दुरो ग्रहणमेव नेति ज्ञापकस्य सुस्थत्वात् ।
इति शब्दो व्यर्थ एवेति । वस्तुतस्तु स्वं रूपमित्यस्य प्रत्याख्याने-
ऽपि इतिशब्दो न व्यर्थो, न वा इतेः पदार्थविपर्यासकत्वम् । निषेध-
विकल्पौ विभाषासंज्ञाविति तात्पर्येण “न वा विभाषा” इति वाक्यस्य निरा-
काङ्क्षत्वात् । अत एव निषेधः पदार्थः, विकल्पः प्रमेय इत्यादितात्पर्येण, न पदार्थः,
वा प्रमेय इत्यादि न प्रयुज्यते । तस्मादितेः सर्वनामत्वेन इतेरेव निषेधविकल्पा-
र्थकत्वम् नवेति तात्पर्यग्राहकमित्येव रमणीयः पन्थाः । गवित्ययमाहेत्यनु-
करणस्थलेऽप्येवमेव । अत एव नारद इत्यबोधीत्यादौ नारदपदान्न द्वितीया ।
अन्यथा नारदस्यैव बुद्धिं प्रति कर्मत्वेन सा दुर्वारा स्यात् । मम तु इतिपद-
मेव नारदार्थकं नारदपदञ्च तात्पर्यग्राहकम् । इतिशब्दादुत्पन्ना द्वितीया लुप्ते-
ति न कोपि दोष इति सुधियो विभावयन्तु ।

णापत्तौ नियमार्थं सूत्रम् । तत्र स्वशब्द आत्मीयत्वेनार्थमाह । रूपशब्देन शब्दस्वरूपम् । एतदुभयं सञ्ज्ञीत्यर्थः । तत्रार्थो न विशेष्य उक्तयुक्तेः । किं तु शब्दविशेषणम् । एवञ्चार्थविशिष्टः शब्दः सञ्ज्ञीत्यर्थवद्ग्रहणपरिभाषा सिद्धा । अत्र चार्थः कल्पितान्वयव्यतिरेककल्पितः प्रकृतिप्रत्ययादिवोध्यः शास्त्रीयोऽपि । स च मुख्यः प्रसिद्धश्चेति गौणमुख्यन्यायो ऽभिव्यक्तपदार्था ये इति न्यायश्च सिद्धः । अत एवेयं विशिष्टरूपोपादानएव इदं सूत्र-
 श्च । तत्रैवार्थोपस्थितेस्तत्रैवानियमप्रसक्तेश्च । न तु वर्णग्रहणे इत्याकरे स्पष्टम् । “दाघा घु” इत्यस्य “ई हल्यघोः” इत्यादौ चारिताथ्येनोपसर्गे घोरित्यादौ स्वं रूपमित्यनेन परत्वाद् बाधशङ्कावारणार्थम् अशब्दसञ्ज्ञेति । नात्र षष्ठीतत्पुरुषः । कर्मसञ्ज्ञादेरर्थसञ्ज्ञात्वेन निषेधाप्रवृत्तौ “कर्मण्यण्” इत्यादौ स्वरूपग्रहणापत्तेः । किं तु सप्तमीतत्पुरुषः । शब्दपदेन च शब्दशास्त्रं तदाह । शब्दशास्त्रे इति । भाष्ये तु अर्थे कार्यस्य बाधेऽप्युपस्थितत्वाद्वाज्ञ इत्यादौ त-
 ज्जन्यबोधे प्रकारतया भासमानस्य राजन्शब्दस्यैव ग्रहणं भविष्यतीति व्यर्थं सूत्रम् । उपस्थितार्थत्यागे मानाभावेन तस्य विशेषणतया ऽन्वयसंभवेन चार्थवत्परिभाषापि सिद्धा । लक्ष्यानुसारात् तत्तत्संज्ञाकरणज्ञानरूपप्रकरणाच्च षान्तसंख्यावाचकषष्शब्दस्य षट्सञ्ज्ञाकरणेन शब्दशास्त्रीयसञ्ज्ञायां स्वरूपाग्रहणज्ञापनाच्च “उपसर्गे घोः” इत्यादावदोषेणाशब्दसञ्ज्ञेत्यपि व्यर्थमित्युक्तम् । अत एव जनपदापत्यपशुदेवतादिशब्देषु न दोषः । अत एव वृक्षादिषु विशेषाणां ग्रहणम् “स्वे पुषः” इत्यत्र पर्यायाणां विशेषाणां स्वरूपस्य च ग्रहणं “सभाराजा” इत्यत्र पर्यायाणामेव ग्रहणं “पक्षिमत्स्यमृगान्हन्ति” इत्यादौ मृगपक्षिणोः पर्यायाणां विशेषाणां स्वरूपस्य च ग्रहणं मत्स्यपदेन स्वरूपस्य

आत्मीयत्वेनेति । यदर्थतात्पर्येण यदुच्चार्यते स तस्यात्मीयो ऽर्थ इति भावः । स्वविषयकबोधतात्पर्येणोच्चारितत्वसम्बन्धेन शब्दं प्रति अर्थस्य विशेषणत्वमिति भावः । स्वशब्द आत्मीयत्वेनार्थमाहेति व्याख्यानाल्लभ्यते । न तु रूप्यते बोध्यते इति रूपमर्थ इति कैयटोक्तव्याख्यानेन, आवृत्त्यादिप्रसङ्गादिति परिभाषेन्दुशेखरचन्द्रिकायां द्रष्टव्यम् । *विशिष्टरूपोपादान एवेति* । तत्त्वश्चानुपूर्व्यवच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्वम् । *उपस्थितत्वादिति* । शब्देऽर्थे च खण्डशः शक्तिस्वीकारेण पदेनैव शब्दार्थयोरुभयोरप्युपस्थितत्वादित्यर्थः । *प्रकारतया भासमानस्येति* । स्वविषयकबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतया भासमानस्येत्यर्थः । अस्मन्मते च प्रत्येकस्मात्समुदायस्समुदायाच्च प्रत्येकमतिरिच्यते इति समुदायपर्याप्तं न प्रत्येकं पर्याप्नोतीति न कस्या अपि शङ्काया अवसर इति दिक् ।

विशेषाणां मीनरूपपर्यायस्य च ग्रहणं सिद्ध्यति । अन्यथा तदर्थं यन्नः कर्त्तव्यः । “परेश्च घाङ्कयोः” इत्यत्र घशब्देन स्वरूपग्रहणं नदीपौर्णमासीत्यत्र नदीपदेन च स्वरूपग्रहणं सिद्ध्यति । लक्ष्यानुसारिव्याख्यानेन च मम सर्वेष्टसिद्धिः । ज्ञापकपक्षे ऽपि ज्ञापकसिद्धस्यासार्वत्रिकत्वान्न दोषः । अत एव भगवता ज्ञापकेन सिद्धं वचनं प्रत्याख्यातमिति दिक् ।

येन वि । येनेति करणे तृतीया, विधिरिति भावे किः । कर्मात्र विधेयं, कर्त्ता चाचार्यः प्रसिद्धत्वाल्लभ्यत एव । यत्तु करणं कर्तृपरतन्त्रमिति तृतीयया पारतन्त्र्यं लक्ष्यते तच्च शब्दानां विशेषणत्वेनेति विशेषणमिति लब्धमिति, तन्न । सुबिभक्तौ न लक्षणेत्यस्य सर्वसम्मतत्वात् । किं बहुना येषां प्रत्ययानामन्येषां वा शब्दानामर्थे विधानं कृतं शास्त्रेण तेषामन्यत्रार्थे तदर्थे चान्येषां लक्षणया ऽपि साधुत्वाभावस्य “प्रत्ययः” “पुंयोगाद्” इत्यादिभाष्यतो लाभात् । करणस्य व्यापारवत्त्वनियमादन्येषाञ्च व्यापाराभावाद्विशेषणमेवात्र करणतृतीयान्तेनोच्यते । तस्य चेतरेव्यावृत्तिकरणमेव व्यापारः । तदुक्तं भाष्ये “येनेति करणे एषा तृतीया ऽन्येन चान्यस्य विधिर्भवति यथा चैत्रस्य सङ्ग्रामं हस्त्यश्वादिभिर्विधत्ते एवम् अचो यदिति अचा धातोर्यतं विधत्ते” इति । अन्येन चान्यस्येत्यनेन यस्य कार्यं यस्मिन्परतश्च तयोरकरणत्वं दर्शितम् । अन्यस्येत्यन्यस्मिन्नित्यस्याप्युपलक्षणम् । तत्र शब्दोपस्थितविशेष्यस्य तादृशं विशेषणमेव तदन्तग्राहकम् । क

इति दिगिति । दिगर्थस्तु प्रत्याख्यानमिदमेकदेश्युक्तिः । शक्यलक्ष्यभेदेनार्थानामानन्त्येन यावन्तो ऽर्थास्तावदावृत्तेरावश्यकत्वेनातिगौरवात् । “अणिओः” “केणः” इत्यादीनां प्रकृत्यसमिव्याहारे प्रत्ययैरर्थानामनुपस्थित्या अनर्थकेऽपि प्रवृत्त्यापत्तौ प्रत्ययाप्रत्ययपरिभाषाया अभावेन च राकेत्यादौ “केऽण” इति ह्रस्वो दुर्वार एव स्यात् इति दिक् ।

येन विधि । येनेति करणतृतीयान्तेन परतन्त्रो लक्ष्यते । परतन्त्रश्च व्यापारवान्भवति । शब्दे चेतरेव्यावृत्तिरूपो व्यापारः । तादृशस्य व्यापारस्योद्देश्ये ऽभावादुद्देश्यतावच्छेदकं गृह्यते । स चेतरेव्यावृत्तिरूपो व्यापारो ऽन्तरङ्गत्वाभेदेनैव विवक्ष्यते । अभेदेन व्यावर्तकं विशेषणमेवेत्यत आह *विशेषणमिति* । एतदेवाभिप्रेत्य भाष्ये उक्तम् “अन्येन चान्यस्य विधिर्भवति” इत्यादिना । नच “अनुदात्तौ सुप्पितौ” “द्वितीयाटोस्वेनः” इत्यादावभेदेनेतरव्यावृत्तिरूपव्यापारवत्त्वात्तदन्तविधिना अनुदात्तान्तौ सुप्पितौ भवतः, अनुदात्तान्त एनादेशो भवतीत्यर्थः स्यादिति वाच्यम् । अनुदात्तादेर्विधेयतावच्छेदकत्वेन विधेयस्यासिद्धत्वाद्वाक्यार्थबोधात्प्राग्विधेयविशे-

चित्सति गमके तादृशं शब्दरूपं विशेष्यमादायापि तदन्तविधिः । तच्चान्त-
रङ्गत्वात्समानाधिकरणमेव । तत्र तदन्तविधौ सति तथाविशेषणत्वयोग्य-
ताप्येतत्प्रवृत्तौ निमित्तम् । अत एव “इन्हन्” इत्यादौ इनंशे तदन्तविधिः । न
हि इनङ्गमित्यन्वयो भवति । तदन्तस्येत्यस्य तदन्तशब्दस्येत्यर्थः । नन्वेवम्
“एरच्” इति अय इत्यत्र न स्यादत आह स्वस्य चेति । स्वमित्यनुवृत्तं
षष्ठ्या विपरिणम्यते इति भावः । स्वं रूपमित्यस्य प्रत्याख्याने तु तद-
न्तस्य चेति पाठ्यामिति बोध्यम् ।

समासप्रेति । विशेषणविशेष्यभावव्यत्यासे तात्पर्यग्राहकमिदम् ।
एवञ्च “द्वितीयाश्रित” इत्यादौ श्रितादयो ऽधिकारप्राप्तसमर्थैरित्यस्य विशे-
ष्यभूता इति न तदन्तविधिः । तस्य तत्प्रकृतिके लक्षणया सुपेत्यनेनान्व-
यः । तेन कृष्णं परमाश्रित इत्यत्र न समासः । “नडादिभ्यः फक्” इत्यादां-
वपि नडादि विशेष्यं प्रातिपदिकं विशेषणमिति सौत्रनाडिरित्यत्र न फक् ।
उगिदिति । तेनातिभवतीत्यत्र “उगितश्च” इति ङीप् दाक्षिरित्यत्र अत इञ्च
सिद्धः । एवञ्चोक्तनिषेधः प्रत्ययांशे गृह्यमाणप्रातिपदिकविषये, प्रत्ययवि-
धिविषयेण “गृह्यमाणप्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति” इत्यनेनैकवाक्यत्व-
लाभात् । उगिद्वर्णेति त्वेकदेशानुवाद इति बोध्यम् । अत एव “वनो र च”
इत्यादौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमित्यस्य नायं निषेध इति दिक् ।

चिरामः । भावे घञ् । शब्दानुशासनप्रस्तावादाह । वर्णानामिति ।
उच्चारणाभाव इत्यर्थः । स च व्याख्यानार्त्तिकचिद्वर्णोच्चारणानन्तरकालि-

षणे ऽभेदेनेतरव्यावृत्तिरूपव्यापारवत्त्वस्याप्यसिद्ध्या तदन्तविध्यप्रवृत्तेः । जाते
वाक्यार्थबोधे आकाङ्क्षाया अभावेन पुनरप्यप्रवृत्तिरिति दिक् । *विशेष-
णत्वयोग्यतापीति* । अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वेन सम्भावितं
सम्बन्धानवच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वेन सम्भावितं वा स्वबोध्यार्थनिष्ठच-
रमावयवतानिरूपकपरं बोध्यमिति “येन विधिस्तदन्तस्य” इत्यस्य वाक्यार्थबो-
धस्वीकारादिति भावः ।

उच्चारणाभाव इति । ननु यत्र देवदत्तेन रामादित्युच्चरितम् य-
ज्ञदत्तेन च घट इत्युच्चरितन्त्रावसानसंज्ञा न स्यादुच्चारणाभावस्याभावा-
दिति चेन्न । वर्णविशिष्टो ऽभावो ऽवसानसंज्ञो भवतीत्यर्थेनादोषात् । वै० च
स्वकर्मकोच्चारणकर्तृपुरुषोच्चरितवर्णप्रतियोगिकत्वम्-अर्धमात्राधिककालाव्यवा-
येन स्वकर्मकोच्चारणकर्तृपुरुषोच्चरितवर्णावधिकपूर्वत्वाभाववत्त्वमेतदुभयसम्ब-
न्धेन । प्रकृते चार्धमात्राधिककालाव्यवायेन यज्ञदत्तोच्चरितवर्णावधिकपूर्वत्वे-
ऽपि देवदत्तोच्चरितवर्णावधिकपूर्वत्वाभावान्न दोषः । यत्र देवदत्तेन घटादित्यु-

क एव गृह्यते । प्रदेशः “वाऽवसाने ” इत्यादयः । अभावस्यापि बुद्धिकृतं पौर्वापर्यं वर्णवत् । परशब्दो नान्यार्थोऽन्यत्वस्याव्यभिचरितत्वादत आह । अतिशयित इति । स्वभावसिद्धार्धमात्रातिरिक्तकालव्यवायेन रहितः । तेन तद्व्यवायेन वाक्योच्चारणे सञ्ज्ञा न । सन्निकर्षश्च प्रायः परेण । क्वचित्पूर्वेणापि । अत एवावसानकार्याणां संहिताधिकारे पाठः । न चावसानसञ्ज्ञया परसत्त्वे सावकाशायाः संहितासञ्ज्ञायाः “सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति” इति न्यायेन विषयभेदेऽपि बाधः स्यादिति तदसङ्गतिरेवेति वाच्यम् । तदधिकारे तेषां पाठेनाकडारसूत्रस्य स्वशास्त्रीयसञ्ज्ञायामात्रविषयत्वकल्पनात् । एते तु न तथा लोकेऽपि सत्त्वात् । तदुक्तं वार्तिककृता “संहितावसानयोर्लोकविदितत्वात्” इति । न चावसानकार्येषु संहिताधिकारासंबन्ध एवास्तु अग्रे च मण्डूकप्लुतिरस्त्विति वाच्यम् । सत्यामुपपत्तौ मण्डूकानुवृत्तेरयुक्तत्वात् । ध्वनितश्चेदं “विसर्जनीयस्य सः ” इति सूत्रे भाष्ये । सन्निकर्षः सामीप्यम् ।

छरितं तेनैवार्धमात्राधिककालव्यवधानेन पटादित्युच्छरितं तत्रावसानसंज्ञासिद्धयेऽर्धमात्राधिककालाव्यवायेनेति विशेषणमिति दिक् ।

बाधः स्यादिति । नच अ इत्यादौ बहूनां वर्णानामभावेन संहितासंज्ञाया अप्राप्त्या अवसानसंज्ञायाश्चारितार्थ्यादियं शङ्का असङ्गतेति वाच्यम् । एतच्छङ्कापरभाष्यप्रामाण्येन संहितासंज्ञाया अविषयाणामवसानसंज्ञाविषयलक्ष्याणामनभिधानेनादोषात् । वर्णावयवानामतिशयितसन्निधिः संहितासंज्ञः स्युदिति सूत्रार्थेन केवलम् अ इत्यादावपि वर्णावयवानां सान्निध्यस्य सत्त्वेन संहितासंज्ञायाः प्राप्तिरसत्त्वाच्च । वर्णेषु च वर्णावयवत्वं व्यपदेशिवद्भावेनेत्यन्ये । नन्वेवमपि गुरुलघ्वादिसंज्ञानां धिनद्यादिसंज्ञाभिः समावेशार्थं समानावधिकसंज्ञयोरेव बाध्यबाधकभाव इत्यवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । अत एव वैत्रमित्यत्र वेः पूर्वनिर्गतो घित्वेन, लघुत्वेन च “इगन्ताश्च लघुपूर्वात्” इति अण् प्रत्ययश्च भावे सिद्धः । गार्गीबन्धुस्त्यत्र “गुरोरनृत” इति प्लुतो “नदी बन्धुनि” इत्यन्तोदात्तश्च सिद्धः । तथाच प्रकृते वर्णानामतिशयितसन्निधेः संहितासंज्ञा वर्णाभावस्यावसानसंज्ञेति समानावधित्वाभावात् शङ्कासमाधाने निर्वले इति चेन्मैवम् । यत्किञ्चिच्छास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकदलप्रविष्टधर्मविशिष्टे धर्मे एका संज्ञा तिष्ठतीत्यर्थेन सर्वदोषनिरासात् । वै० च स्वतादात्म्यं—स्वप्रतियोगिकविधेयानुयोगिकसंसर्गघटकनिरूपितत्वतुल्यसंख्याकनिरूपितत्ववत्संसर्गप्रतियोगित्वमेतदुभयसम्बन्धेन । प्रकृते चावसानसंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकं यद्वर्णत्वं तस्य यः संसर्गः स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितोद्देश्यतानिरूपितविधेयतावत्त्वं तद्वद्वटकनिरूपितत्वतुल्यसंख्याकनिरूपितत्ववत्संसर्गप्रतियोगित्वस्य स्वतादात्म्यस्य च संहितासंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकवर्णत्वे सत्त्वेन शङ्कासमाधाने

सुसिद्ध । सुबिति सुपः पकारेण प्रत्याहारो व्याख्यानात् । यद्यपि प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमित्युक्तेः शब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्तग्रहणं सिद्धम् । प्रत्ययेन स्वप्रकृत्यवयवकसमुदायस्याक्षेपात्तद्विशेषणत्वेन तदन्तविधिरिति न युक्तम् । इयानित्यादौ तस्य तादृशसमुदायेन व्यभिचारेणाक्षेपासंभवात् । आक्षिप्तस्य शब्दे ऽनन्वयाच्च । तथापि सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणाभावज्ञापनार्थमन्तग्रहणम् । तेन घसञ्ज्ञा तरप्तमपोरेव न तदन्तस्य । तेन गौरीब्राह्मणितरेत्यत्र न ह्रस्वः । एतन्निषेधसामर्थ्यादेव प्रदेशेष्वपि न तदन्तविधिः । न च ज्ञापिते ऽपि व्यर्थम् पदप्रदेशे प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणेनैव सिद्धेरिति वाच्यम् । पदत्वस्य प्रकृतिसाधारणतया पदग्रहणे प्रत्ययग्रहणस्यैवाभावात् । यस्मात्प्रत्ययविधिरित्याद्यनुवृत्तेः पदसमुदायस्य न पदत्वम् । इयानित्यादौ यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादितद्धिता-

सङ्गते । अत्र चैतत्समाधानपरं भाष्यमेव मानम् । निरूपयिष्यते चेदमाकङ्कारसूत्रव्याख्यावसरे विस्तरेणेति दिक् ।

ज्ञापनार्थमिति । संज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपिता या प्रत्ययमात्रवृत्तिसाक्षादुद्देश्यता तत्प्रयोजकं पदं यत्र तत्र तदादिविशेष्यकतदन्तग्रहणाभावज्ञापनार्थमित्यर्थः । *गौरीब्राह्मणितरेति* । नच “पुंवत्कर्मधारय” इति पुंवज्जावे उक्तं रूपं न स्यादिति वाच्यम् । गौरी-ब्राह्मणितरा इति स्थिते परत्वात् पुंवत्त्वं बाधित्वा “घरूप” इति ह्रस्वापत्तिरित्यर्थेनादोषात् । “दशवर्षा भवेद्गौरी” इति यमस्मृत्या गौरीशब्दस्य वयोवाचकत्वेन वयोवाचकानां वैकल्पिकजातिवाचकत्वस्योक्तत्वेन बहुव्रीहिसमासस्वीकारे “जातेश्च” इति पुंवत्त्वनिषेधेनोक्तरूपसिद्धेश्च । यत्तु षष्ठीतत्पुरुष इति, तन्न । घरूपसूत्रे समानाधिकरणे इत्यस्यानुवृत्त्या तत्र दोषकथनासङ्गत्यापत्तेः । स्पष्टञ्चेदं “तरप्तमपौ घः” इति सूत्रे भाष्ये । *एतन्निषेधसामर्थ्यादिति* । नच “घरूप” इत्यत्रोत्तरपदविशेष्यकतदन्तविधेः “उत्तरपदाधिकारे” इति परिभाषया निषेधात् तदादिविशेष्यकतदन्तविधेश्च “प्रत्ययग्रहणे च” इति निषेधात् गौरीब्राह्मणितरेत्यादौ ह्रस्ववारणायायं निषेधः सार्थक इति वाच्यम् । “रात्रेः कृति” इत्यादौ “उत्तरपदाधिकारे” इति निषेधाप्रवृत्तये प्रत्ययवृत्त्यानुपूर्व्यवच्छिन्नविषयताप्रयोजकं पदं यत्र तत्रैव तत्प्रवृत्तेः स्वीकारस्यावश्यकत्वेन घरूपेत्यत्रोत्तरपदविशेष्यकतदन्तविधिनिषेधस्यैतन्निषेधसामर्थ्यादेव वक्तव्यत्वात् । नच “रदाभ्यां निष्ठातो नः” इत्यत्र “प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः” इति निषेधात् कान्ततदादेः कवत्त्वन्ततदादेश्च निष्ठासंज्ञाऽभावाय “संज्ञाविधौ” इति निषेधः सार्थक इति वाच्यम् । निष्ठासंज्ञायाः सूत्रे एव प्रवृत्तिस्वीकारेण तत्रत्यक्तादिपदस्य लक्ष्यस्थप्रत्ययमात्रबोधकत्वाभावेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया अप्राप्तेः । नचैवमपि “षः प्रत्ययस्य” इत्यत्र तदन्तविध्यभावाय निषेधः सार्थक इति वाच्यम् । तत्र प्रत्ययपदस्य लक्ष्यस्थप्रत्ययबोधकसूत्रस्थत्वादिबोधकत्वेन

न्तत्वं व्यपदेशिवद्भावेन बोध्यम् । तेनाशास्त्रीयस्याप्येकाच्त्वादेरतिदेशात् । विशिष्टनिष्ठव्यवहारनिमित्तकार्याणि असहाये ऽपि कर्तव्यानीति तदर्थत्वात् । अत एवेयन्मात्रमित्यादौ बत्वन्तात्स्वार्थे इति मात्रचिसद्धिः । हरिषु इत्यादौ सोस्तु नैवं पदत्वं, “हलि सर्वेषाम्” इति निर्देशेन ससहाये तदप्रवृत्तेः । “निजौ चत्वार एकाचः” इति भाष्यन्त्वभ्युपेत्यवादेन । ध्वनितश्चेदम् “आदेच उपदेशे” “तास्यनुदात्ते” इत्यादौ भाष्ये । तत्र हि दौकते इत्यौकारस्य हत इत्यादावकारस्यैजन्तोपदेशत्वमकारान्तोपदेशत्वं व्यपदेशिवद्भावेनाशङ्क्यार्थवता व्यपदेशिवद्भाव इत्युक्तम् । यो वर्णो ऽर्थवांस्तेन व्यपदेशिवद्भावः । वर्णस्यार्थवत्त्वञ्चेयायेत्यादावसहाये एव न तु प्रकृते इति तदर्थः । एवञ्चैकस्मिन्नित्यस्यार्थवत्त्वेनेनोक्त इति दिक् ।

हलोऽनन्तराः । गर्गाः शतं दण्ड्यन्तामित्यत्र समुदाये शतदण्डनवदत्र समुदायस्यैव सञ्ज्ञा न प्रत्येकम् । अनन्तरा इत्युक्तेश्च । तस्य विशेषणताया एवौचित्यात् । यत्तु “संयुज्यन्ते वर्णा यत्रेत्यन्वर्थसञ्ज्ञाबलान्न प्रत्येकं संज्ञा” इति, तन्न । घटपटौ संयुज्येते यत्रेत्यादौ संयुज्यमानपदार्थातिरि-

प्रत्ययबोधकत्वभावेन तदन्तविधेः प्राप्त्यभावादिति दिक् । * व्यपदेशिवद्भावेनेति* । इयानित्यत्र मुख्यधर्मवदघटितत्व-मुख्यधर्मवदघटकत्व-मुख्यधर्मवदसमाभिव्याहृतत्वरूपासहायत्वस्य सत्त्वादिति भावः । घस्तुतो व्यपदेशिवद्भावेन घटकत्वघटितत्वव्यतिरिक्तधर्मानतिवेशेन प्रकृते स्थानिवद्भावेनैव तद्विज्ञानतदादित्वस्याऽऽनेयतया चिन्त्यमिदम् । *अभ्युपेत्यवादेनेति* । इदं भाष्यं यथा सङ्गच्छते मूलोक्तञ्च सर्वमसङ्गतमिति च विस्तरेणान्यत्र निरूपितम् । न च दौकते इत्यादावौकारे एजन्तोपदेशत्वस्य हत इत्यादावदन्तोपदेशत्वस्य च व्यपदेशिवद्भावेनाशङ्कापरम् “आदेच उपदेशे” इत्यादिसूत्रस्थं भाष्यं विरुध्यते इति वाच्यम् । तस्यैकदेश्युक्तित्वेनादोषात् । दौ इत्यत्रैजन्तत्वस्य ह इत्यत्रादन्तत्वस्य च सत्त्वेनोपदेशत्वस्य व्यपदेशिवद्भावेनाऽऽनेयतया तद्विहाय केवलौकारे अकारे च उभयधर्मातिवेशाशङ्काकरणेन तस्य तत्त्वस्याऽऽवश्यकत्वाच्चेति दिक् । *समुदाये शतदण्डनवदिति* । उद्देश्यतावच्छेदकप्रतियोगिकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकविधेयतावत्त्वस्य संज्ञासु नियतत्वेन प्रकृते संज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकसाहित्यपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकं यद्वित्वं तदेव संयोगसंज्ञापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकमिति द्वयोरेव संयोगसंज्ञेति भावः । *अनन्तरा इत्युक्तेऽप्येति* । अयम्भावः । अनन्तरा इत्यस्याव्यवहिता इत्यर्थः । तत्र व्यवहितत्वञ्च यत्किञ्चित्पदार्थविशिष्टद्वित्वाश्रयत्वम् । वै० च स्वावधिकोत्तरत्वसामानाधिकरण्यं-स्वावधिकपूर्वत्वसामानाधिकरण्यमेतदुभयसम्बन्धेन । तथाच तादृशव्यवहितत्वं द्विनिष्ठमेवेति ‘सं-

क्तस्यैवान्यपदार्थतया प्रतीतेर्व्युत्पन्नत्वेन तदतिरिक्ततद्धटितपदवाक्यरूप-
समुदायस्य सञ्ज्ञापत्तावनिष्ठापत्तेः । महासञ्ज्ञा तु प्राचामनुरोधादेव । तेन
सुदृक्कातीत्यत्र संयोगान्तलोपो नेत्यन्यत्र विस्तरः । हल इति बहुवचनं
सौत्रम् । यद्वा । हलौ च हलश्चेत्येकशेषः । “स्वरितात्संहितायाम्” इति सूत्रे
ऽनुदात्तानामिति पदे तथैकशेषस्य भाष्ये करणात् । तेन द्वयोरपीति शिक्षा
इत्यादौ “गुरोश्च हलः” इति अप्रत्ययः सिद्ध्यति । यत्रापि बहवः श्लिष्टास्त-
त्रापि द्वयोर्द्वयोरेव न बहूनाम् । झलि परे संयोगादिलोपविधानात् । बहू-
नामपीति चिन्त्यमेव फलाभावात् । तत्र तत्राङ्गपदधात्ववयवसंयोगस्यै-
वाश्रयणेन तादृशस्य च त्रयाणां संयोगस्याभावादिति भाष्ये स्पष्टम् । आ-
नन्तर्यं व्यवधानाभावो व्यवधानश्च विजातीयैर्नैवेत्याशयेनाह । अङ्भि-
रिति । अत्र कुत्वं न्याय्यम् । अत एव हयवरदसूत्रे “अचो ऽक्षु” इति भा-
ष्यप्रयोगे कुत्वं दृश्यते । स्वरैरव्यवहिता इति तूचिता वृत्तिः । हलः किम् ।
तितउ देव । अत्र गुरोरिति प्लुतः स्यात् । अनन्तराः किम् । द्रप्सम् ।
अत्र सकारमकारयोः संयोगत्वे स्कोरिति लोपः स्यात् ।

संयोगे गुरु । भेत्तेत्यादौ गुणस्तु वनोः कित्वसामर्थ्येन भूतपू-
र्वलघूपधग्रहणाद् बोध्यः । इति सञ्ज्ञेति । प्रथमाध्यायस्थानां सन्धि-

योगवद्विप्रयोगोऽपि विशेषावगतिहेतुः’ इति न्यायेनावत्सा आनीयतामित्यत्रेव व्य-
वहितभिन्नौ द्वावेव गृह्येते इति द्वयोरेव संयोगसंज्ञा न प्रत्येकम् । *सौत्रमिति* । व-
स्तुतस्तु हलौ च हलौ च हलौ चेत्येकशेषेण द्वयोरेव संयोगसंज्ञेति पक्षेऽपि बहुव-
चनमुपपद्यते । *फलाभावादिति* । नच मग्न इत्यादौ “मस्जिनशोः” इति नुमि द-
नां संयोगसंज्ञाऽभावे स्कोरिति लोपो न स्यादिति वाच्यम् । सकारजकारयोर्मग्न-
नकारसत्त्वे ऽप्यचर्कतृकव्यवधानशून्यत्वस्य सत्त्वेन तयोः संयोगसंज्ञायां बाध-
काभावात् इति केचित् । वस्तुतस्तु अनिदितामिति नलोपे मग्न इत्यत्र अ-
वशिष्टयोः सकारजकारयोः संयोगसंज्ञायां संयोगादिलोपस्य सिद्ध्या बहूनामपी-
त्यस्य फलाशङ्कनं तत्रायुक्तम् । किन्तु मङ्गला इत्यादौ “मस्जिनशोर्झलि” इति
सूत्रस्थेन “अन्त्यात्पूर्वो नुम् वाच्य” इति वार्तिकेन सकारजकारयोर्मध्ये नुमि
बहूनां संयोगसंज्ञायां सत्यामेव संयोगादित्वात् सकारलोपः सिद्ध्यति नान्यथेति
फलदानमुचितम् । तत्र च “अन्त्यादचः पर एव नुमस्तु वार्तिकं च माऽस्तु
तथासति द्वयोः सकारयोः संयोगसंज्ञायां सलोपसिद्ध्या व्यर्थं बहूनां संयोग-
संज्ञाविधानम्” इति शङ्किते वार्तिकानङ्गीकारे मग्न इत्यत्र नलोपो न स्यात्
अनुपधात्वात् संयोगादिलोपस्यासिद्धत्वादिति उत्तरयितुमुचितमित्याहुः ।
भूतपूर्वलघूपधेति । स्यादेतत् । भूतपूर्वेति लघौ विशेषणम् उत लघूप-
धांशे । नाद्यः । शुतेत्यादौ गुणापत्तेः । नाऽप्यन्त्यः । इन्दाश्चकारेत्यादौ गुणाप-

कार्योपयोगिनीनां सञ्ज्ञानां प्रकरणमिति समाप्तमित्यर्थः । तेनाग्नेदितप्र-
गृह्यभसञ्ज्ञालोपसञ्ज्ञाद्यनुपन्यासे ऽपि न क्षतिः । “अ अ” इत्याद्युपन्या-
सस्तु प्रासङ्गिकः ॥ इति सञ्ज्ञाप्रकरणम् ॥

इको गुण । परिभाषेयं व्याख्यानात् । गुणवृद्धिशब्दाभ्यामि-
ति । गुणवृद्धिग्रहणानुवृत्त्यैव सिद्धे पुनर्गुणवृद्धिग्रहणसामर्थ्यादिति भावः ।
अनुवर्तमानश्च सञ्ज्ञिपरमेव स्यात् । सञ्ज्ञाकरणेनान्यत्र सञ्ज्ञिपरत्वात् ।
यद्वा तदप्यनुवर्त्य गुणो वृद्धिरिति योजनयैतच्छाभः । “स्वादिषु” इति सूत्रे
ऽनुवृत्तपदपदस्य सञ्ज्ञापरताया एव दृष्टत्वात् । “ष्णान्ता” इति सूत्रे संख्या-
पदस्य तदन्तत्वासंभवादर्थपरतेति बोद्धव्यम् । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया तु

चेरिति चेन्मैवम् । क्लोः कित्त्वेन प्रकृत्यवयवप्रत्ययावयवोभयारब्धसंयोग-
निमित्तिका गुरुसंज्ञा लघुसंज्ञां न बाधते इति कल्पनेनादोषात् । अन्ये तु क्लोः
कित्त्वेन प्रत्ययोपदेशकाले यो लघूपधस्तस्येको गुण इति भेत्तेत्यादौ न दोषः ।
नच तोतोर्त्ति इत्यादौ “राल्लोपः” इति वलोपे प्रत्ययोपदेशकाले लघूपध-
त्वाभावाद् गुणो न स्यादिति वाच्यम् । यङ्लुकश्छान्दसत्त्वेन छन्दस्यापा-
द्यमानरूपाभावात् । न चैवमपि तुर्विधातोर्वनिपि “लोपो व्योः” इति लोपे तोर्वेत्या-
दौ गुणो न स्यात्प्रत्ययोपदेशकाले लघूपधत्वाभावादिति वाच्यम् । लोपो व्यो-
रितिसूत्रे वकारप्रत्याख्यानपरभाष्यप्रामाण्येनैतेषामनभिधानात् इत्याहुः । भूत
पूर्वो यो लघुस्तदुपधस्येत्येवार्थः । नच गुतेत्यादौ गुणः शङ्क्यः । “गाङ्कुटादिभ्यः”
इत्यत्र विहिताविशेषणस्वीकारेण ङादेशस्य छित्त्वेन “ङिति च” इति निषेधादि-
ति परे । इति संज्ञाप्रकरणम् ।

अथ परिभाषाप्रकरणम् । *व्याख्यानादिति* । “नापि तच्छेषो नापि
तदपवादो ऽन्यदेवेदं परिभाषान्तरमसम्बद्धमनया परिभाषया ” इति प्रकृत-
सूत्रस्थभाष्यादिति भावः । *सामर्थ्यादिति* । तेन चादेङ्निष्ठविधेय-
ताप्रयोजकगुणपदम् । आदैज्निष्ठविधेयताप्रयोजकवृद्धिपदमेतदन्यतरपदघटिते
शास्त्रे इक इति षष्ठ्यन्तं पदमुपतिष्ठते इत्यर्थः स्वीक्रियते । विधेयतायामदेङ्-
निष्ठत्वादैज्निष्ठत्वविशेषणदानाद् गुणवृद्धिसंज्ञासूत्रयोर्नास्याः प्रवृत्तिः ।
विधेयत्वनिवेशात् “अतो गुणे” “वृद्धिर्यस्याचाम्” इत्यादौ नास्याः प्रवृत्तिः । गुण-
वृद्धिपदानिवेशात् “त्यदादीनामः” “पथिमथ्यृभुक्षाम्” इत्यादौ नास्याः प्रवृत्तिः । *
संज्ञिपरमेव स्यादिति* । यस्मात्तदनुवर्तते तदीयविधेयतावच्छेदकरूपेतररूपाव-
च्छिन्नविधेयताके संज्ञिपरमेव स्यादित्यर्थः । तेन “स्वादिषु” इति सूत्रे ऽनुवर्त-
मानपदपदस्य संज्ञाशब्दपरत्वेऽपि न क्षतिः । तस्य “सुप्तिङ्” इति शास्त्रीयविधे-
यतावच्छेदकरूपेतररूपावच्छिन्नविधेयताकत्वस्याभावात् । *संज्ञिपरत्वादिति* ।
अत्रापि पूर्ववदेवार्थः । *दृष्टत्वादिति* । घस्तुतस्तु पूर्वोक्तदिशा अनुपपत्तेर-
भावेन पूर्वकल्प एव ज्यायान् । *अर्थादिति* । अयम्भावः । प्रतिपदोक्तत्वेनाभि-
मतं यच्छास्त्रं लाक्षणिकत्वेनाभिमतं च यच्छास्त्रं तादृशशास्त्रव्याख्याविधेयताव-

नात्र निर्वाहः । तत्र प्रतिपदोक्तस्येत्यस्य साक्षादुच्चारितस्येति साक्षात्तच्छब्दानुवादेन विहितस्येति वा ऽर्थात् । ध्वनितश्चेदमत्रैव भाष्ये । अस्याश्च विधेयसमर्पकगुणवृद्धिपदश्रुतिलिङ्गं तदाह । विधीयेते इति । अत एव “अतो गुणे” “वृद्धिर्यस्य” इत्यादौ न दोषः । एतेन “शब्दपरयोः पूर्वयोर्गुणवृद्धिपदयोरनुवृत्त्या यत्र ते पदे तत्रेदमुपतिष्ठते इत्यर्थेन “त्यदादीनामः” इत्यादिव्यावृत्तौ सिद्धायामिह गुणवृद्धी इति व्यर्थम्” इत्यपास्तम् । एतन्मूलक एव “विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे” इत्युद्घोषः । एवञ्च पदोपस्थापकपरिभाषाविषये विधीयते इत्यस्यैवाध्याहारो बोद्धव्यः । एवञ्च “तस्मिन्निति निर्दिष्टे” “षष्ठीस्थाने” इत्यादेरनुवादेऽपि प्रवृत्तिः । तेन “प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्य” “उदात्तस्वरितयोर्यणः” इत्यादौ न दोषः । “उदीचामातः स्थाने” इति स्थानेग्रहणन्तु स्पष्टार्थमेव । तत्र विधिवाक्ये प्रथमाया विधेयविभक्तित्वेन तदन्तस्य विधेयसमर्पकत्वनिर्णयः । अत एव गुणादिपदानामिकूपदोपस्थापनेन चरितार्थानामपि वाक्यार्थान्वायिता । तदर्थस्य तदनन्वायित्वे विधेयत्वाभावेन उपस्थापकत्वस्यैव भङ्गापत्तेः । इयञ्च एधितेत्यादौ व्यञ्जनानां गुणव्यावृत्त्यर्थं, भिन्नमित्यादौ निषेधप्रवृत्तये इग्लक्षणत्वसंपत्त्यर्थञ्चेति दिक् ।

च्छेदकरूपावच्छिन्नोद्देश्यताकत्वरूपलक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषालिङ्गस्याभावात् । यत्किञ्चिच्छास्त्रविशिष्टत्वरूपप्रतिपदोक्तत्वस्य चाभावाद्वा । वै० च स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नविधेयताकत्वं- स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकसमर्पकज्ञानविषयीभूताऽऽनुपूर्वीविशिष्टविधेयताकत्वमुभयसम्बन्धेन । आनुपूर्वीविशिष्ट्यश्च स्वावच्छिन्नत्वं- स्वावच्छिन्नप्रयोज्योद्देश्यतानिरूपितत्वमेतदन्यतरसम्बन्धेन । प्रकृते च “इको गुण” इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नविधेयताकत्वस्य “मिदेर्गुणः” इत्यादावभावान्न लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया निर्वाह इति ध्येयम् । *विधेयसमर्पकेति* । अदेङ् आदैजेतदन्यतररूपविधेयसमर्पके इत्यर्थः । अत एव “वृद्धिरादैच्” “अदेङ्गुणः” इत्यादौ नाऽस्याः प्रवृत्तिः । नचैवमपि “ओर्गुणः” इत्यादावेतत्प्रवृत्तिर्दुर्वारैवेति वाच्यम् । “अचोऽङ्गिति” इत्यत्रत्याज्ग्रहणसामर्थ्येन वर्णरूपस्थानिनो यत्र निर्देशस्तत्र नेयमुपतिष्ठते इति कल्पनेनादोषात् । नचैवं “पुगन्तलघूपधस्य च” इत्यत्रैतत्परिभाषानुपस्थितिप्रसङ्गः । भिनत्तीत्यादौ गुणवारणाय पुक्यन्तः पुगन्तः लघ्वी चासावुपधा च लघूपधन्तस्येत्यर्थस्य शेखरे भाष्ये च कृतत्वेन वर्णरूपस्थानिनो निर्देशादिति चेन्न । अच्त्वव्याप्यधर्मपुरस्कारेण यत्र वर्णरूपस्थानी निर्दिश्यते तत्र नेयमुपतिष्ठते इति कल्पनेनोपधात्वस्याच्त्वव्याप्यत्वाभावात् । पुगन्तेति सूत्रे बहुव्रीहिस्वीकारात्स-

प्लुतशब्दैरिति । “ऊकाल” इति सूत्राद् ह्रस्वदीर्घप्लुत इति अजिति चानुवर्त्तते । ह्रस्वेत्यादिपदञ्च तृतीयया विपरिणतमिति भावः । तेन “दिव उत्” अष्टन आ विभक्तौ” इत्यादावेतदनुपस्थितिः । शेषं प्राग्वत् ।

आद्यन्तौ । यद्यप्यत्र मिलितस्य नैकत्रान्वय इति द्वन्द्वो न प्राप्नोति तथापि समूहयोरन्वयबोधोत्तरं “यथासंख्यम्” इति सूत्रारम्भसामर्थ्यात्पुनः प्रत्येकान्वयः । लोके त्वेवं रीत्या प्रयोगो ऽसाधुरेवेति भाष्ये स्पष्टम् । अत्रैव यथासंख्यसूत्रोपन्यासो युक्तः । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणस्येच्छब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः । पुरस्तादपवादन्यायेन स्थानेयोगत्वस्यायमपवादः । प्रत्ययपर-
त्वन्तु परत्वादमुं बाधते । तेन चरेष्टादयः परा एव भवन्ति । अत एव यत्रै-
तदभावे स्थानषष्ठीसम्भावना तत्रैवेदं प्रवर्त्तते तदाह । यस्योक्ताविति ।
आद्यन्ताक्षिप्तो ऽवयवी यच्छब्दार्थः । यथासंख्यसिद्धमर्थमाह । क्रमादि-
ति । इताविति किम् । ङुक् पर्यायेणाद्यन्तयोर्मा भूत् ।

माहारद्वन्द्वस्य तच्छेषपक्षोपपादनावसरे एव भाष्ये उक्तत्वेनादोषाच्च ।
“विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे” इति परिभाषया प्रधानवि-
धिसंस्कारे कर्तव्ये यावती परम्परा नाप्राप्ता ततोऽधिकपरम्परा परि-
भाषाप्रवृत्ति न प्रयोजयतीति यावत् । ननु “मिदेगुणः” इत्यादिवाक्या-
र्थबोधमन्तरा “इको गुणवृद्धी” इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकधर्मप्रकारेण ज्ञानं न
सम्भवति, एतत्परिभाषावाक्यार्थबोधमन्तरा च विधिवाक्यार्थबोधो न सम्भवती-
त्यन्योन्याश्रय इत्याशङ्क्याऽऽह *विधेयसमर्पकत्वनिर्णय इति* । *इति विगिति* ।
दिगर्थस्तु जनधातोर्द्विविधानसामर्थ्येन पधितेत्यादौ व्यञ्जनस्य गुणो न भ-
वति । नकारस्य गुणेनाकारे पररूपे च मन्दुरज इत्यादिसिद्धौ तस्य डि-
त्करणस्य व्यर्थत्वात् । एवं क्रोः कित्करणेनानिग्लक्षणस्यापि निषेधो भवतीति
भिन्नमित्यादौ न दोष इतीयं परिभाषा न कर्तव्या । नच लैगवायन इत्यादावपि
निषेधः स्यादिति वाच्यम् । गित्साहचर्येण धातुविहितप्रत्यययोरेव कित्ङितो-
र्ग्रहणेनादोषात् । वस्तुतस्तु “सुदुरोराधिकरणे” इत्यत्र ड इत्यनुवर्त्य गमेरपि
तद्विधानात्तत्र व्यञ्जनस्य गुणपक्षे मस्यौष्ठस्थानिकत्वेन ओकारप्रसक्त्या
सुगः दुर्ग इत्यादिसिद्ध्यर्थं डित्करणस्यावश्यकत्वेन व्यञ्जनव्यावृत्त्यर्थं कमेर्णिङि
कामयते इत्यादौ वृद्धिनिषेधाभावायानिग्लक्षणस्य निषेध इति वक्तुमशक्यतया
तत्सम्पत्तये चेयमावश्यकः । *असाधुरेवेतीति* । वस्तुतस्तु एकरूपावच्छि-
न्नस्यैकरूपसंसर्गणैकरूपावच्छिन्नेऽन्वयबोधेच्छाया एव सहविवक्षापदार्थ-
त्वेन दित आद्यवयवे कितोऽन्त्यावयवेऽन्वयेऽप्यन्वयितावच्छेदकोभयत्वस्यैक्येन
सहविवक्षाया अबाधितत्वेन द्वन्द्वः साधुरेव । अत एव अजाविधनौ देवदत्तय-
ज्ञदत्तौ इत्यादौ “न ज्ञायते को ऽजाधनः कोऽविधनः” इत्येवोक्तम्, नत्वसाधुत्व-
म् । अत एव एकद्विद्वारगुः, एकद्वित्रिकलत्रपुत्रपशुमान्, वानप्रस्थयतिब्रह्मचारि-

मिदचो । अयं बाध्यसामान्यचिन्तया स्थानेयोगत्वप्रत्ययपरत्वयो-
रपवादः । तृणह इति निर्देशात् । निर्धारणे इति । यस्य समुदायस्य मि-
द्विहितस्तस्याचां मध्ये इत्यर्थः । सौत्रमेकवचनमिति भावः । तस्यैवेति ।
यस्य विहितस्तस्यैवेत्यर्थः । अत एव “समुदायभक्तो नोत्सहते ऽवयवस्ये-
गन्ततां विहन्तुम्” इति भाष्यं सङ्गच्छते । अन्तावयव इति । पूर्वसूत्रा-
त्समस्तमप्यन्तपदमेकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलादनुवर्तते इति भावः । मुञ्च-
तीत्यादिविषये तु फलाभावादयोग्यत्वाच्चान्तावयव इत्यंशाप्रवृत्तिः ।

परिभाषाणामनियमे नियमकारिणीत्वादाह । अनिर्धारितेति । तेन-
‘ऊदुपधाया गोहः’ इत्यत्र स्थानेयोगत्वं नाप्युपधापदसन्निधानेनावयवषष्ठीत्व-
निर्णयात् । स्थानेयोगेत्यस्य स्थानपदार्थनिरूपितसम्बन्धार्थिकेत्यर्थः । स्थानेन
योगो यस्या इति विग्रहे निपातनात्साधुत्वस्य भाष्ये उक्तत्वात् । अस्तेरनन्त-

णां भागिनः क्रमेणाऽऽचार्यसच्छिष्यधर्मभ्रात्रेकतीर्थिनः इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छ-
न्ते । किञ्च मूलोक्तदिशा मिलितानामेकत्रान्वयबोधेच्छा यदि सहविवक्षा
तर्हि धवखदिरौ छिन्धि घटपटौ नीलावित्यादौ द्वन्द्वानापत्तिः । धवनिष्ठविभा-
गस्य खदिरनिष्ठविभागस्य च भिन्नतया पटनिष्ठनैल्यस्य घटनिष्ठनैल्यस्य च
भिन्नतया एकत्र मिलितानामन्वयाभावात् ।

* निर्धारण इतीति* । निर्धारणषष्ठ्यर्थश्च, यथा नृणां द्विजः श्रेष्ठ इत्यादौ
श्रेष्ठ्ये नृसमुदायस्य स्वघटकवृत्तित्वं स्वघटकनिर्धार्यमाणेतस्यावदवृत्तित्वं
चेत्येतदुभयसम्बन्धेन वैशिष्ट्यम्, तथा प्रकृतेऽपि । अन्त्यत्वे अच्समुदायस्य
स्वघटकवृत्तित्वं स्वघटकान्त्याजितरयावदवृत्तित्वं चेति । यस्तु कारकशेखरे नृणां
द्विज इत्यादौ नृसमुदायस्य द्विजे स्वघटकवृत्तित्व-स्वघटकद्विजेतरयावदवृत्ति-
त्वोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टश्रेष्ठ्यवत्वमिति, तन्न । “अचोऽन्त्यादिटि” इति सूत्र-
स्थतद्ग्रन्थविरोधात् । तत्र हि “अन्त्यादीति गमकत्वात्समासः” इत्युक्तम् ।
भवन्मते चान्त्यत्वेऽन्वयाभावेन निर्धार्यमाणान्त्याच्येवान्वयेन गमकत्वा-
दित्यस्यासङ्गत्यापत्तेः । निर्धारणहेतोः श्रेष्ठ्यादेस्सम्बन्धघटकत्वेन श्रेष्ठादि-
पदानां निरर्थकत्वापत्तेश्च । उद्देश्यविधेयभावानुपपत्तेश्च । विधेयश्रेष्ठ्यादेरुद्देश्य-
तावच्छेदकसंसर्गघटकत्वात्पुरुषोत्तम इत्यादौ “न निर्धारणे” इति षष्ठीसमास-
निषेधमाशङ्क्य यतो निर्धार्यते यश्च निर्धारणहेतुः यश्च निर्धार्यमाणस्तद्वोधकपद-
त्रयसन्निधान एव “यतश्च निर्धारणम्” इति सूत्रं प्रवर्तते इत्युक्त्वा “उत्तमः पुरुष-
स्त्वन्यः” इत्यादिगीतासहकारेण कर्मधारयसमासपरकैयटादिग्रन्थविरोधाच्च ।
भवन्मते निर्धार्यमाण एव निर्धारणषष्ठ्यर्थान्वयेन सामर्थ्याभावादेव षष्ठी-
समासाप्राप्तेरिति दिक् । *एकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानादिति* । वस्तुतस्तु एक-
देशे स्वरितत्वप्रतिज्ञाने न फलम् । “मिदचोऽन्त्यात्” इत्यत्र परशब्दस्यावयवत्व-
विशिष्टपरत्वावच्छिन्नवाचकत्वेन पूर्वं नामेः कायत्येत्यादाविव परत्वे ऽवधितया
ऽन्त्याचो, ऽवयवत्वे च निरूपितत्वसम्बन्धेन यस्य मिद्विहितस्तस्य चान्वयस्वीका-

रे इत्यादेरपि अनन्तरादिनिरूपितसंबन्धे इत्येत्यर्थः । षष्ठीमात्रोच्चारणे स्थान-
पदाद्यध्याहार इत्यन्यत्र विस्तरः । प्रसङ्ग इति । दर्भाणां स्थाने शरैः
प्रस्तरितव्यमित्यादौ तथा दर्शनात् । भावे ल्युट् स्थानशब्दे । प्रसङ्गश्च सति
सम्भवे ऽर्थवत् एव । अर्थप्रत्यायनार्थं शब्दप्रयोगात् । “इको यण्” इत्या-

रेण मुञ्चतीत्यादावनुपपत्त्यभावात् । *निर्णयादिति* । स्वघटकत्व-स्वघटकान्त्या-
लवधिकाव्यवहितपूर्वत्वोभयसम्बन्धेन । यत्किञ्चित्समुदायविशिष्टत्वमुपधात्व-
मिति उपधात्वस्य निरूपकांशे नित्यसाकाङ्क्षत्वेन येन सम्बन्धेन निरूपकांशे नि-
त्यसाकाङ्क्षं यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नबोधकपदसमभिव्याहृतषष्ठ्यास्तद्रूपानुयोगिकत-
त्सम्बन्धेतरसम्बन्धाबोधकत्वनियमेनोपधात्वानुयोगिकाव्यवत्वसम्बन्धेतरसम्ब-
न्धाबोधकत्वादिति भावः । *तन्निरूपितसम्बन्धार्थिकेति* । स्थानपदार्थानु-
योगिकसम्बन्धार्थिकेत्यर्थः । एवमग्रेऽपि । *तथा दर्शनादिति* । प्रसङ्गपदार्थश्च
वृत्तिविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकताकेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारक-
ज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताकेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्व-
प्रकारकज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता । स्थानपदार्थतावच्छेदकवृत्ति-
त्वान्वायिनिरूप्यनिरूपकभावश्च षष्ठ्यर्थः । तथा च “दर्भाणां स्थाने शरैः
प्रस्तरितव्यम्” इत्यादौ दर्भनिरूपितवृत्तित्ववती या विशेष्यतावच्छेदकतावच्छे-
दकता तादृशावच्छेदकताकं यत् दर्भकरणकं प्रस्तरणम् इष्टसाधनत्वप्रकारक-
प्रमाविषयः इत्याकारकज्ञानं, तादृशज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकं यत् प्रस्तरणत्वं
तदवच्छिन्नविशेष्यताकमिष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारकं यज्ज्ञानं श-
रकरणकं प्रस्तरणमिष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयः इत्याकारकं तादृशज्ञानी-
यविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकता शरेष्विति लक्षणसमन्वयः । एवम्
“इको यणचि” इत्यादावपि । इन्निरूपितवृत्तित्ववती या विशेष्य-
तावच्छेदकतावच्छेदकता तन्निरूपकं यत् इकर्मकोच्चारणम् इष्टसाधनत्व-
प्रकारकप्रमाविषयः इत्याकारकज्ञानं, तादृशज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकं यदु-
च्चारणत्वं तदवच्छिन्नविशेष्यताकं यदिष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रका-
रकं ज्ञानं यणकर्मकोच्चारणम् इष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयः इत्याकारकं तादृ-
शज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतावान् यणिति बोधः । नच “जराया”
इत्यादिविकल्पस्थले स्थानपदार्थत्वानुपपत्तिः, विकल्पस्थले स्थानिनोऽपि साधु-
त्वेन जराकर्मकोच्चारणम् इष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयः इत्याकारकज्ञानस्याभा-
वादिति वाच्यम् । स्थानपदस्य वृत्तिविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकताकेष्टसाधन-
त्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारकज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतायाम् इष्ट-
साधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारकत्वे च खण्डशक्तिस्वीकारेण विकल्पस्थले
चेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारकत्वरूपखण्डस्य मोक्षस्वीकारेण चादोषा-
त् । अत एवानेन महामूर्खेण यणः स्थाने इक् प्रयुक्तः । शराणां स्थाने दर्भाः प्र-
स्तरिता इत्यादावपि स्थानपदार्थोपपत्तिरिति दिक् । अन्ये तु अभाव एव स्था-
नपदार्थः । प्रतियोगितयाऽभावान्वायि प्रयोज्यत्वं षष्ठ्यर्थः । अभावस्य च

देरूपरेकारघटितशब्दस्यार्थबोधनाय प्रसङ्गे तत्परयकारघटितः प्रयोक्तव्य इत्यर्थः । “एरुः” इत्यादेश्च तेस्तुरिति । अतो न शब्दनित्यताहानिः । किं चेकारबुद्धिप्रसङ्गे यकारबुद्धिरित्यर्थः । अत एवाचः परस्मिन्नित्यादि सङ्गच्छते । स्पष्टश्चेदं दाधाध्वितिसूत्रस्थानिवत्सूत्रयोर्भाष्ये ।

स्थानेऽन्त । षष्ठीत्यनुवृत्त्या यत्र स्थानषष्ठी तत्रेदमुपतिष्ठते इति विध्येकवाक्यतयैवास्य नियामकत्वं न तु विहितानां नियमः । श्रुक्तवन्तमिति न्यायविरोधात् । फलितमाह । प्रसङ्गे इति । सदृशतम इति । अर्थो-

लिङ्गर्थेष्टसाधनत्वे ऽन्वयः । तथाच “इको यणचि” इत्यादौ इक्प्रयोज्यत्वाभाववद्विष्टसाधनत्ववान् यणिति बोधः । विकल्पस्थले स्थानपदार्थाभावस्य विकल्पपदार्थाभावेऽन्वयः । तथाच “जराया जरस्” इत्यादौ जराप्रयोज्यत्वाभावाभाववद्विष्टसाधनत्ववान् जरसिति बोधः । तथाचाभावाभावस्य प्रतियोगिरूपत्वेन विकल्पस्थले स्थान्यपीष्टसाधनमादेशोऽपीति उभयोरपि साधुत्वं सिद्ध्यतीत्याहुः । वस्तुतस्तु प्रसङ्गपदार्थो ज्ञानमेव । विशेष्यत्वं विशेषित्वं वा षष्ठ्यर्थः । प्रकाराकाङ्क्षायां च विधेयभूतं विधेयविशेषणभूतं वा साधुत्वं प्रत्यासन्नत्वात् ज्ञाने प्रकारित्वेनान्वीयते । ज्ञानं च सामान्यशास्त्रकरणकमेव । तथाच अजव्यवहितपूर्वविशेष्यकसाधुत्वप्रकारके (सामान्यशास्त्रकरणके) ज्ञाने सति यण् साधुर्भवतीति वाक्यार्थः । एवं दर्भाणां स्थाने इत्यादावपि वाक्यार्थ ऊहनीयः । एवंच विशेषशास्त्रेण उत्तरकालं यण्विशेष्यकसाधुत्वप्रकारकबोधजननात् पूर्वं सामान्यशास्त्रेण जातस्य ज्ञानस्य भ्रमत्वं कल्प्यते । “पूर्वाबाधेन नोत्पत्तिरुत्तरस्य हि सेत्स्यति” इति न्यायात् । ततश्च अजव्यवहितपूर्वस्येकः साधुत्वभ्रमविषयत्वे सिद्धे साधुशब्दः प्रयोक्तव्य इतिविध्यविषयत्वात् अप्रयोक्तव्यत्वं सिध्यति । उत्तरकालजातस्य च ज्ञानस्य बाधकाभावात् प्रामाण्यमिति तद्विषयस्य यणः प्रयोक्तव्यत्वसिद्धिः । विकल्पस्थलेपि “सर्वं वाक्यं सावधारणम्” इति न्यायात् जराशब्द एव साधुरिति जराशब्दमात्रविशेष्यकपूर्वशास्त्रजन्यसाधुत्वज्ञाने उत्तरकालजातेन उभयविशेष्यकसाधुत्वज्ञानेन अप्रामाण्यं बोधयितुं शक्यते एवेति नानुपपत्तिः । सामान्यशास्त्रस्य तु अन्यत्र प्रामाण्यमस्त्येवेति न शास्त्रत्वव्याघातः । यणः स्थाने इक् प्रयुक्त इत्यस्य तु यणः प्रयोक्तव्यत्वज्ञाने मौख्यात् इक् प्रयुक्त इत्यर्थः । देवदत्तस्य स्थाने यद्देवदत्तोऽध्यापयतीत्यादौ तु स्थानपदार्थः कालरूपो देशरूपो वा । गदाधरेणापि “प्रसक्तिरनुमितिरापत्तिर्वा” इति वदता प्रसङ्गस्य ज्ञानरूपत्वं स्पष्टीकृतम् । प्रकृतेच योग्यतया शाब्दमेव ज्ञानं ग्रहीतुमुचितमिति दिक् ।

तेस्तुरिति । भवतीत्यस्य स्थाने भवतु इत्यादेरप्युपलक्षणाभिदम् । अन्यथा शब्दानित्यत्वं दुर्धारमेव स्यात् । *सदृशतम इतीति* । तत्त्वञ्च स्ववृत्तित्व-स्वदलभिन्नदलीयवृत्तित्व-स्वदलभिन्नदलीयादेशत्वाभिमततरयाच-

त्प्राप्यमाणानां मध्ये एव । अत एव गङ्गोदकमित्यादौ त्रिमात्रो न । तमप्-
किम् । वाग्धरिरित्यादौ महाप्राणत्वसाम्येन जायमानः पूर्वसवर्णो वर्ग-
द्वितीयो मा भूत् । किं तु नादवान् महाप्राणश्चतुर्थो घ एव यथा स्यादि-
ति । स्थाने ऽन्तरतमे इति सप्तम्यन्तपाठस्तु दीर्घेषु यणसिद्ध्या दुष्ट
इति भाष्ये स्पष्टम् । यत्रानेकोति । स्थानेग्रहणे एकदेशानुवृत्त्या ऽनुवर्त्त-
माने पुनः स्थानेग्रहणं तृतीयया विपरिणामेन वाक्यभेदमाश्रित्य प्रसङ्गे
सति संभवे स्थानत एवान्तरतम इत्यर्थमिति भावः । स्थानत इति । स्था-
नेनेत्यर्थः । तत्र स्थानतः “इको यणचि” इति । अर्थतः “तृज्वत्क्रोष्टुः”
इति । इह क्रोष्टुशब्दस्थाने पक्वशब्दो नादेशः । गुणतस्तु वाग्धरिरि-
त्यादौ । प्रमाणतः “अदसो ऽसेः” इत्यादौ ।

तस्मिन्निति । अत्र तस्मिन्निति उत्तरत्र तस्मादिति च सप्तम्यन्तपदपञ्च-
म्यन्तपदार्थकः स्वतन्त्रस्य सर्वनाम्नो निर्देशो व्याख्यानात् । बहुलक्ष्यसंस्का-
रानुरोधाच्च । न तु तत्तत्पदपरम् । अन्यथा “तस्मिन्नणि च” “तस्मान्नुडचि”
“तस्माच्छसो नः” इत्यत्रैव प्रवर्त्तयेताम् । सप्तमी तु सप्तम्यन्तानामेव तच्छ-
ब्दार्थत्वमिति बोधनाय तद्वबोध्यार्थस्य निर्दिष्टे इत्यनेन सामानाधिकर-
ण्याय च । इतिशब्दः पुनस्तस्य तदर्थपरत्वं बोधयति । निःशब्दो नैर-
न्तर्ये, दिशिरुच्चारणे । एवञ्च सप्तम्यन्तार्थे ऽव्यवहितोच्चारिते उपश्लिष्टस्य
पूर्वस्य कार्यमिति वाच्यो ऽर्थः । एवञ्चैतत्परिभाषाद्वयोपस्थितौ सप्तम्य-
न्तपदस्य पञ्चम्यन्तपदस्य चार्थो लिङ्गम् । अत्र सूत्रे उपश्लिष्टपदाध्याहा-

दवृत्तित्वैतन्नितयसम्बन्धेन स्थानिविशिष्टत्वम् । अत एव “इको यणचि”
इत्यनेन लृकारस्य वकारो न । *दीर्घेषु यणसिद्ध्येति* । सप्तम्यन्तपाठे हि
स्ववृत्तित्व—स्वदलभिन्नदलीयवृत्तित्व—स्वदलभिन्नदलीयस्थानित्वाभिमतैतर-
यावदवृत्तित्वैतन्नितयसम्बन्धेनाऽऽदेशविशिष्टत्वमन्तरतमत्वं स्यात् । तथा-
च प्रकृते द्विमात्रान्यूनकालिकत्वमेव तादृशं स्यादिति दीर्घे यण-
न स्यादिति भावः । *तृज्वत्क्रोष्टुरितीति* । वस्तुतस्तु तृज्वत्त्वविधायकत्रिसूत्र्याः
प्रयोगनियमार्थत्वेनार्थत इत्यस्यादाहरणमानुमानिकस्थान्यादेशकल्पे “इको यण-
चि” इत्यादि बोद्धव्यम् । इह सुधीउपास्य इत्यस्य स्थाने मध्वरिरिति नादेशः ।
अदसोऽसेरितीति । इह स्वव्यञ्जनयोश्चान्तरतम्यं सार्धमात्रान्यूनकालिकत्वमिति
बोध्यम् । *पूर्वस्य कार्यमिति* । नच सप्तम्यन्तार्थे ऽव्यवहितोच्चारिते उपश्लि-
ष्टस्य पूर्वस्य कार्यमिति वाक्यार्थबोधस्वीकारेऽव्यवहितोच्चारितसप्तम्यन्तार्थो-
पश्लिष्टमुद्दिश्य पूर्वत्वं विधीयते इति प्रत्याख्यते, तच्चानुपपन्नम्, अव्यवहितोच्चारि-
तसप्तम्यन्तार्थोपश्लिष्टस्य केनाप्यसिद्धत्वादिति वाच्यम् । सप्तम्यन्तार्थे उप-

रेण निर्दिष्टे इति औपश्लेषिके ऽधिकरणे सप्तम्येवोचिता “उपपदविभक्तेः”-
 इति न्यायात् न तु सतिसप्तमीति “तत्र च दीयते” इति सूत्रे कैयटे स्पष्ट-
 म् । “स्तुक्रमोः” इति सूत्रे च कैयट आह “तस्मिन्निति परिभाषायां सत्यां
 सत्सप्तम्याश्रयणमशक्यम्” इति । उपश्लेषः समीपवृत्तित्वं न च वर्णयोर्बौद्धं
 द्रष्टव्यम् । एवम् “इको यणचि” इत्यादावपीयमेवेति “संहितायाम्” इति
 सूत्रे भाष्ये । तत्रोपश्लेषः पूर्वस्येव परस्याव्यवहितस्येव व्यवहितस्य चेति
 पूर्वस्यैवेति नियमार्थमिदमव्यवहितस्यैवेति च । अत एव लक्ष्यानुसारात् क्व
 चित्सतीत्यध्याहारात् सत्सप्तम्याश्रयणे नास्याः प्रवृत्तिरिति “इनान्नलोपः”
 इत्यत्र भाष्ये उक्तम् । अत एव “कर्तृकर्मणोः कृति” इत्यत्र नास्याः प्रवृत्तिः,
 कृति सति प्रत्यासत्त्या तत्प्रकृत्यर्थकर्तृकर्मणोः षष्ठीति तदर्थत्वात् । तस्मा-
 दिति सूत्रे निर्दिष्टे इति निर्दिष्टादित्यर्थकं विभक्तिविपरिणामात् । सा चो-
 त्तरस्येति दिग्योगलक्षणा इति दिग्योगलक्षणपञ्चम्यामेव तत्प्रवृत्तिः । “उदः

दिलष्टस्य कार्यम् अव्यवहितोच्चारिते पूर्वस्य बोध्यमित्येवम् उद्देश्यवि-
 धेयभावकल्पनेनादोषात् । परेतु “तस्मिन्निति” इत्यत्र तस्मिन् इ-
 त्यौपश्लेषिकाधिकरणबोधकसप्तम्यन्तानामनुकरणम् । तथा चौपश्लेषिका-
 धिकरणबोधकसप्तम्यन्तपदघटिते शास्त्रे निर्दिष्टे पूर्वस्येत्युपतिष्ठते । एवं
 “तस्मादिति” इत्यत्र तस्मात् इति दिग्योगलक्षणपञ्चम्यन्तानामनुकरणम् । तथा
 च दिग्योगलक्षणपञ्चम्यन्तपदघटिते शास्त्रे निर्दिष्टे परस्येत्युपतिष्ठते ।
 निर्दिष्टे इत्युभयत्र सतिसप्तमी । अथवा तस्मिन्निति परिभाषायाम् इति-
 पदमौपश्लेषिकाधिकरणबोधकसप्तम्यन्तार्थोपदिलष्टसम्बन्धिकार्यपरम् । एवं
 तस्मादिति परिभाषायामपि इतिपदं पञ्चम्यन्तार्थान्वयिसम्बन्धिकार्यपरम् ।
 तस्मिन्निति तस्मादिति च निरुक्तार्थतात्पर्यग्राहके पदे । तथा चौपश्लेषिका-
 धिकरणबोधकसप्तम्यन्तार्थोपदिलष्टं कार्यमव्यवहितपूर्वसम्बन्धि बोध्यम् । एवं
 दिग्योगलक्षणपञ्चम्यन्तार्थान्वयिसम्बन्धि कार्यमव्यवहितोत्तरसम्बन्धि बोद्धव्य-
 मिति क्रमेण परिभाषयोर्वाक्यार्थबोधः । न च “इको यणचि” इत्यत्र अचि इत्यौप-
 श्लेषिकाधिकरणबोधिका सप्तमी, एवम् “उदः स्था” इत्यादौ उद इति दिग्योगल-
 क्षणा पञ्चमीत्यत्र नियामकभावादेतत्परिभाषाद्वयीयोद्देश्यासिद्धिरिति वाच्यम् ।
 एतदुद्देश्यान्यथानुपपत्त्या असति प्रमाणान्तरे ऽस्मिन् शास्त्रे यानि सप्तम्य-
 न्तानि तानि सर्वाण्यौपश्लेषिकाधिकरणबोधकानि यानि च पञ्चम्यन्ता-
 नि तानि सर्वाणि दिग्योगलक्षणानीति कल्पनेनादोषात् । एतन्मूलक-
 मेव पठ्यते “तस्मिन्निति परिभाषायां जागरूकायां सतिसप्तम्याश्रयण-
 मयुक्तम्” इति । एतन्मूलिकैवोपपदविभक्त्यर्थे कारकविभक्त्यर्थे च यत्र
 तात्पर्यं प्रसज्यते तत्र कारकविभक्त्यर्थे एव तात्पर्यं कल्पनीयमित्येतदर्थिका
 “व्याख्यानत” इति परिभाषाशेषभूता “उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी”-

स्था” इत्यादौ च उद इति दिग्योगलक्षणा पञ्चमी । तत्रानियतदिक्शब्दा-
ज्याहारे प्रसक्ते परशब्दस्यैवाज्याहार इति तस्मादित्यनेन नियम्यते ।
अव्यवहितोच्चारितात्पञ्चम्यन्तात्परस्येति तदर्थः । तत्फलितमाह । सप्तमी-
निर्देशेनेत्यादि । यदि तु अर्धमात्राधिककालेन वर्णान्तरेण वा व्य-
वधाने उपश्लेष एव नेत्युच्यते तदा निर्दिष्टपदं संहिताधिकारश्च विफलं
इति “संहितायाम्” इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । अवग्रहे च संप्रदाय एव शर-
णमिति आनङ्गादिविषये आदेशोत्तरमेवावग्रहोऽन्यत्र ततः प्राक् । अकृ-
तव्यूहपरिभाषा त्वनित्या, नास्त्येव वा । “न लक्षणेन पदकारा अनुव-
र्त्याः, पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्” इति भाष्येण तदनुरोधेन शास्त्रासङ्को-
चस्य शास्त्रकरणाभावस्य च स्पष्टमुक्तत्वाच्च । एतेन संहिताधिकारस्त-
द्वहिर्भूतानामर्धमात्राधिककालव्यवाये प्रवृत्तिज्ञापनार्थम् । तेनाग्नाविष्णू इत्या-
दावग्रहे आनङ्गादिसिद्धिरित्यपास्तम् । “प्रत्ययः” “परश्च” इत्यादौ तूत्त-
रांशविकला तस्मादिति परिभाषा प्रवर्तते । तेन न प्रत्यया व्यवहिताः ।
अत एव “छन्दसि परे ऽपि व्यवहिताश्च” इति सूत्रं सार्थकम् । आगमविधा-
वपि “आने मुक्” इत्यादौ तस्मिन्निति परिभाषया पूर्वसंबन्धित्वनिर्णयः ।
अत एवात्र पूर्वस्येत्यादि न स्थानषष्ठी । तत्तद्विधिभिरेव संबन्धस्य निर्णीत-
त्वेन “षष्ठी स्थाने” इत्यस्याप्रवृत्तेः । “गाङ्गुटादिभ्यः” इत्यादावपि षष्ठ्यं-
शविकलैतत्परिभाषाप्रवृत्तिर्बोद्ध्या । परिभाषाणां नियमत्वन्तु यदि परि-
भाषासूत्रं न स्यात्तदा व्यवहितादावपि प्रवृत्तिः स्यादित्येतावतेति दिक् ।

अलोऽन्त्यस्य । षष्ठी स्थाने इत्यनुवर्तते तदाह । षष्ठीत्यादि ।

इति परिभाषा “तत्र च दीयते” इति कैयटे पठ्यते इत्याहुः । *उत्त-
रांशविकलेति* । तस्मिन्निति तस्मादिति परिभाषाद्वयविषये यावानंशः सिद्धो
बाधितो वा भवेत्तमंशं विहायान्यांशोपस्थापकत्वस्वीकारादिति भावः । अत्रैव
प्रमाणमाह * “व्यवहिताश्च” इति सूत्रं सार्थकमिति* । अन्यथा “ते प्राग्धातोः” इत्यत्र
प्राक्पदसत्त्वेनोत्तरत्वांशानुपस्थितौ सन्निधोगशिष्टन्यायेनेतरांशस्याप्यनुपस्थितौ
व्यवहितप्रयोगः सिद्ध एवेति तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवातस्मिन्निति तस्मादिति परिभा-
षाद्वयस्याप्यव्यवहितत्वं विधेयान्वयिषष्ठ्यर्थः पूर्वत्वम्, अव्यवहितत्वमुत्तरत्वं वि-
धेयान्वयिषष्ठ्यर्थश्चेति प्रत्येकमंशत्रयं विधेयम् । तत्र “शि तुक्” “पदान्ताद्वा” इत्या-
दौ तस्मिन्निति परिभाषया अंशत्रयोपस्थितिः । “इको यणचि” इत्यादौ षष्ठ्यंशस्य
सिद्धत्वेन तद्वहितांशद्वयोपस्थितिः । एवं तस्मादिति परिभाषया “ङमो ह्रस्वाद्-
चि” इत्यादावंशत्रयोपस्थितिः । “उदः स्था” इत्यादौ षष्ठ्यंशस्य सिद्धत्वादंशद्व-
योपस्थितिः । प्रत्ययाधिकारे षष्ठ्यंशस्य बाधितत्वादुत्तरांशस्य सिद्धत्वात्केव-

स्थाने विधीयमानः स्थानषष्ठीनिर्दिष्टान्त्यस्येत्यर्थः । स्थाने इत्यादि किम् । इत् तृच ऋकारात्पूर्वो मा भूदिति । अन्त्यस्येति साहचर्यादल इति षष्ठ्यन्तम्, अन्त्यस्याल इत्यर्थः । अल इति किम् । पदस्येति विधीयमानं “वसुसंसु” इति दत्वं स्वनङ्गद्वयामित्यादावन्त्यस्य पदस्य मा भूत् । स्थाने विधीयमान इति प्रत्यासत्तिलब्धम् । एवञ्चाल एवेति, अन्त्यस्यैवेति नियमद्वयमत्र । अलसमुदायबोधकपदोत्तरं स्थानषष्ठी अस्या लिङ्गम् । अत एव “इतोऽत्” इत्यादौ नास्याः प्रवृत्तिः । पथ्यादीनामित्यस्यावयवषष्ठीत्वात् इत इत्यस्यालसमुदायोत्तरत्वाभावाच्च ।

छिच्च । अनेकाल्थर्मिदम् । आदेरिति । आदेरल इत्यर्थः । तेन द्वीपमित्यादौ पान्तसमुदायस्य न ईत्त्वम् । अत्र परस्येत्यावर्त्तते तेन परबोधकशब्देन यत्र परस्य स्थाने विधानं तत्रैवेदम् । तेन “नित्यं छितः” इत्यादौ न दोषः । तत्र विकरणव्यवधाने प्रवृत्तये धातोरित्यस्य विहितविशेषणत्वात् ।

अनेकाल् शित् । शित उदाहरणम् इदम् इश् । ननु शकारोच्चारणसामर्थ्याद् भूतपूर्वानेकालत्वमादाय सर्वादेशत्वे सिद्धे शिन्दि-ति व्यर्थम् । किं च सानुबन्धकनिर्देशे यथा नालः स्थानित्वं “भो-भमो” इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् तथाऽऽदेशत्वमपि सूत्रोपात्तस्यैवेति त-

लाव्यवहितांशोपस्थितिरिति दिक् । *अत एवेति* । अलसमुदायबोधकपदोत्तरं स्थानषष्ठी अस्या लिङ्गमिति स्वीकारादेवेति भावः । *न दोष इति* । नच “नित्यं छितः” इत्यादौ विकरणव्यवधानेऽपि प्रवृत्तये धातोरिति विहितविशेषणमेवास्तु उत्तमस्येति सकारे वैयाधिकरण्येन विशेषणमस्त्विति नावृत्त्युपयोग इति वाच्यम् । “कसस्याचि” इत्यादावेतदप्रवृत्तये परस्येत्यस्यावृत्तेरावश्यकत्वात् । आवृत्त्या च परत्वावच्छिन्नोद्देश्यताश्रयस्य यत्कार्यं तद् आदेरल इत्यर्थः । *भूतपूर्वानेकालत्वमिति* । अनुबन्धघटितबोधकवृत्तिधर्माणां बोध्ये आरोपस्वीकारात् । अनेकाल्वृत्तिधर्मावच्छिन्नविधेयताश्रयः सर्वस्य स्थाने भवतीत्यनेकालसूत्रार्थस्वीकाराद्वा । औद्भवृत्यनेकालत्वस्य स्थानिवद्भावेन औ इत्यत्रानयनाद्वेत्यन्यत्र विस्तरः । *नालः स्थानित्वमिति* । अल इत्यस्यालत्वव्याप्यधर्मस्येत्यर्थः । *स्थानित्वमित्यस्य स्थानितावच्छेदकत्वमित्यर्थः* । *आदेशत्वमपीति* । आदेशतावच्छेदकत्वमित्यर्थः । *सूत्रोपात्तस्यैवेति* । सूत्रोपात्तवृत्तिधर्मस्यैवेत्यर्थः । अन्यथाऽनुबन्धविनिर्मुक्तपदार्थोपस्थितिस्वीकारेणाऽऽदेशत्वं स्थानित्वम् अनुबन्धविनिर्मुक्तस्यैवेति यथाश्रुतशेखरोऽसङ्गतः स्यात् । अन्ये तु बोधकावयवेष्वनुबन्धेषु बोध्यावयवत्वमिति स्वीकारेण सानुबन्धकादेशस्थले स्थानित्वादेशत्वयो-

अर्थम् । विधौ निर्दिष्टो यो ऽनेकालस सर्वस्येति सूत्रार्थः । उद्देश्यत्वविधेयत्वाख्यविषयतया बोधविषयता तु अनुबन्धविनिर्मुक्तस्येति नाणुदित्सूत्रभाष्यविरोधः । ध्वसोरिति लोपस्य “लोपो यि” इति प्रकृते पुनर्लोपग्रहणसामर्थ्यात्सर्वादेशत्वसिद्धिः । अनुबन्धानामेकान्तत्वमेव न्याय्यमित्युक्तमिति चेन्ना “नानुबन्धकृतमनेकालत्वम्” इति ज्ञापनेन चारितार्थ्यात् । तेन “दिक् औत्” इत्यादीनां न सर्वादेशत्वम् । अस्य च यथेत्सज्ज्ञा तथा वक्ष्यते । नानेकाल् शिदिति तु नोक्तम् । “अनन्तरस्य” इति न्यायेन “आदेः परस्य” इत्यस्यैव निषेधापत्तेः । परत्वादिति । आदेः परस्येत्यस्यावकाशः अन्तरुपसर्गेभ्यो द्वीपम् । शित्सर्वस्येदम् इश् । एवम् “अतो भिस” इत्यादिविषये “अनेकाल्” इत्यनेनादेः परस्येति परत्वाद् बाध्यते । एतेन “डिच्च” इत्यत्र डिदेवानेकालन्त्यस्येति नियमेन सिद्धे ऽनेकालग्रहणं व्यर्थम्” इत्यपास्तम् ।

व्यासज्यवृत्तित्वेन नालः स्थानित्वमित्यस्य नाल्पर्याप्तं स्थानित्वमित्यर्थः । आदेशत्वं सूत्रोपात्तस्यैवेत्यस्य आदेशतापर्याप्तिः सूत्रोपात्तानुबन्ध-तद्बोधाऽऽदेश एतदुभये इत्याहुः । *विधौ निर्दिष्टो यो ऽनेकालिति* । विधावित्यस्य विधिशास्त्रे इत्यर्थः । निर्दिष्टो ऽनेकालित्यस्य निर्दिष्टवृत्तिरनेकालवृत्तियों धर्मस्तद्धर्मावच्छिन्नविधेयताश्रय इत्यर्थः । *उद्देश्यत्वविधेयत्वाख्यविषयतयेति* । धान्येन धनवानिति वदभेदस्तृतीयार्थः । तस्य च बोधविषयतायामन्वयः । अन्यथा शाब्दबोधे उद्देश्यताविधेयतानिरूपकत्वयोस्सत्त्वे ऽपि उद्देश्यताविधेयताविषयकत्वे मानाभावाद्यथाश्रुतमसङ्गतं स्यात् । उद्देश्यत्वविधेयत्वयोरपदार्थत्वेन शाब्दबोधासम्भवात् । पदजन्यपदार्थोपस्थित्यभावे शाब्दबोधानङ्गीकाराच्चेति दिक् । परे तु यथा ज्ञानमात्रे मितिमातृभासकत्वं मितिमातृविषयकसंशयस्य कदाप्यनुदयात् स्वीक्रियते, तथा विषयताविषयकस्य संशयस्य कदाप्यनुदयात् विषयताविषयकत्वमपि ज्ञानमात्रे स्वीक्रियते । तथाच उद्देश्यत्वविधेयत्वाख्यविषयतयेत्यत्र तृतीयार्थो विषयत्वम् । तस्य निरूपितत्वसम्बन्धेन शाब्दबोधे ऽन्वयः । प्रकृत्यर्थस्य च निष्ठत्वसम्बन्धेन तृतीयार्थविषयतायामन्वयः । तथाच उद्देश्यत्वविधेयत्वाख्यविषयतानिष्ठविषयतानिरूपकबोधीयविषयता ऽनुबन्धविनिर्मुक्तपदार्थे एवेति यथाश्रुतमेव सङ्गतमित्याहुः । *चारितार्थ्यादिति* । अनुबन्धघटितबोधकवृत्तयो ये अनुबन्धत्वघटितातिरिक्ता आनुपूर्वीव्यतिरिक्ताश्च धर्मास्तन्निमित्तके विधौ कर्तव्ये अनुबन्धानामविद्यमानवत्वमिति कल्पनेन चारितार्थ्यादिति भावः । *तृतीयेति* । वैशिष्ट्यं तृतीयार्थः । तथा च स्वरितत्वविशिष्टमधिक्रियते इति सूत्रार्थः । तत्फलितमाह *स्वरितत्वज्ञाप्य इति* । स्वरितत्वं स्वरविशेष इति पक्षेऽप्याह अजिष्ठं वेति । *बाहिरङ्गशास्त्रीयेति* । अत्र बाहिरङ्गत्वमुपलक्षणम्, न विशेषणम् । एवमुत्तरान्तररङ्गत्वमप्युलक्षणम् । अतो

स्वरितेन । इत्थंभूतलक्षणे तृतीया । स्वरितत्वज्ञाप्योऽधि-
 कारो विनियोग इत्यर्थः । स्वरितत्वञ्चेदं दोषविशेषरूपमञ्जलसाधा-
 रणं स्वररूपमधिक्रियमाणपदघटकाजिनष्टं वा । तच्चानुनासिक्यवत्प्रति-
 ज्ञागम्यम् । विनियोगश्च प्रायेणोत्तरत्रोपस्थितिः क्वचित्पूर्वत्रापि । कि-
 यद् दूरमधिकार इत्यत्रासति गमके व्याख्यानमेव शरणम् । किं
 च स्वरितेनाधिकारगतिः । “तेन गोस्त्रियोः” इत्यादौ स्यधिकारस्थप्र-
 त्ययग्रहणमित्याद्याकरादवसेयम् । एतेन “व्याख्यानादेव निवृत्तिवद-
 नुवृत्तिरपि भविष्यति आकाङ्क्षायान्तु सत्यामश्रुतकल्पनाया अन्याय्यत्वा-
 च्छ्रुतापेक्षणस्य न्याय्यत्वाच्च किं सूत्रेण” इत्यपास्तम् । स्पष्टं चेदं भाष्ये ।
 परानित्येति । परं विप्रतिषेधसूत्राद् बलवत् । नित्यं कृताकृतप्रसङ्गि तद्वि-
 परीतमनित्यम् । तत्राकल्पाभावकस्याभावकल्पनापेक्षया कल्पाभावकस्यैव
 तत्कल्पनं युक्तमिति तस्य बलवत्त्वे बीजम् । अन्तर्मध्ये बहिरङ्गशास्त्रीय-
 निमित्तसमुदायमध्ये ऽन्तर्भूतान्यङ्गानि निमित्तानि यस्य तदन्तरङ्गम् । त-
 दीयनिमित्तसमुदायाद्बहिर्भूताङ्गकं बहिरङ्गम् । तस्य बलवत्त्वे बीजमाह ।
 असिद्धमिति । इयञ्च “वाह ऊट्” इति सूत्रेण ज्ञापिता । यद्यपि “प्रत्यङ्गवर्त्ती-
 लोको दृश्यते मनुष्यो ऽयं प्रातरुत्थाय प्रथमं शरीरकार्याणि करोति ततः
 सुहृदां ततः संवन्धिनाम्” इतिन्यायमूलकत्वमस्या “अचः परस्मिन्” इति भाष्ये
 उक्तं तथापि तेन न्यायेन युगपत्प्राप्तिविषयतैव स्यात् । ज्ञापकेन तु सर्वविषय-
 ता बोध्यते इति “वाह ऊट्” इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम् । अन्यथा वाहः संप्रसारणे
 पूर्वरूपे च कृते ण्याश्रये गुणे “वृद्धिरेचि” इति वृद्धौ प्रष्टौह इत्यादिसिद्धावूद्-
 विधानं व्यर्थं स्यात् । नाजानन्तर्यपरिभाषा तु नास्त्येवेति न अयजे इन्द्रमि-
 त्यादौ दोष इति परिभाषेन्दुशेखरे विस्तरः । अपवादस्तु वचनप्रामाण्या-
 द् बलवान् । अकृतेति । न कृतो विशिष्ट ऊहस्तर्को निमित्तविनाशे ऽपि
 कार्यस्थितिरूपः, यथा दण्डविनाशे ऽपि घटस्थितिः, स यैस्ते इत्यर्थस्तदा-
 ह । निमित्तमित्यादि । तत्प्रयुक्तं कार्यं जातमपि न कुर्वन्ति नोच्चार-
 यन्तीत्यर्थ इति कैयटादयः । अन्ये तु व्यूहो ऽन्तरङ्गशास्त्रं बहिरङ्गापोहन-
 रूपत्वात् । तत् निमित्तविनाशं दृष्ट्वा पूर्वमपि न कुर्वन्तीत्यर्थ इत्याहुः ।
 इयं परिभाषा निष्फला निर्मूलेति परिभाषेन्दुशेखरे निरूपितम् ।

इति परिभाषाप्रकरणम् ॥

नान्योन्याश्रय इति भावः । *सूत्रेण ज्ञापितेति* । नच “ऊडिदम्”

स्यादिति । कार्यशब्दवादे इदम् । संहितायां विषये इति । का-
यिनिमित्तयोः संहितायां विषयभूतायामित्यर्थः । स्थानत इति । इदं
यथासंख्यसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । जातिपक्षे यथासंख्येनापि निर्वाह इति
स्थानेऽन्तरतमसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । अनुनासिकस्थानेऽपि निरनुनासिक
एव । विधीयमानत्वेन सवर्णाग्राहकत्वात् । गुणाभेदकत्वपक्षोऽपि न
विधेयाविषये । दीर्घादीनामिगादिपदैरुपस्थितये प्रत्याहारेषु जातिपक्ष
एवेत्यणुदित्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । अत एव सर्वतकारादीनां झल्वादांसिद्धिः ।
“लवादय” इत्यादिनिर्देशादयश्च जात्याश्रयणे मानमिति दिक् । व्याकरणस्य
सम्बन्धनुशासनत्वन्तु शब्दनित्यतापक्षे शब्दानां सिद्धत्वेन शास्त्रवैयर्थ्यापत्त्या
मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवतीत्यादिवृद्धिसञ्ज्ञासूत्रस्य भाष्यप्रामाण्येन यदिह

इत्यादिना विश्वौह इत्यादौ स्वरार्थमूद्ग्रहणमावश्यकमिति वाच्यम् । ‘वाहष्ठि’
‘वाहष्’ इति वा न्यासेन स्वरविधायके च ठिदिदमित्युक्त्वा स्वरसिद्धेरुद्ग्र-
हणस्य वैयर्थ्येन ज्ञापकत्वात् । यत्तु ह्रस्वे एव उठि विधातव्ये दीर्घोद्-
ग्रहणं ज्ञापकम् । स्वरविधायकेऽपि ह्रस्व एव पाठ्यः । “ज्वरत्वर” इत्यत्र स्थानि-
द्वयेनाऽऽदेशद्वयकल्पनात् जूर इत्यादौ न दोषः । “एत्येधत्यूदसु” इत्यत्र ह्रस्व एव
पठ्यते इति जनानवतीति जनौरित्यादौ न दोषः । एवं च्छ्वोरित्यादिना ह्रस्व एव
विधीयते इति मव्यधाताः किपि मौरित्यादौ न दोष इति, तन्न । च्छ्वोरित्यादिना
ह्रस्वेऽठि विहिते अक्षशूरित्यादौ दीर्घश्रवणानापत्तेः । तद्भावितपक्षस्यैव सिद्धान्त-
सिद्धत्वेन हल इति दीर्घाग्राप्तेः । अतद्भावितपक्षस्वीकारेण अक्षश्वरुण इत्यादौ
पूर्वरूपादिकं दुर्वारमेव । वार्त्तिकाद्यारम्भेण परिहारकरणे तु गौरवम् । आङ्पूर्-
वकादवधातोर्णिचि किपि णिलोपे च वकारोपधयोरादेशद्वये आ-उ-उ इति
स्थिते “वार्णादाङ्गं बलीयः” इति न्यायेन पूर्वं वृद्धौ आवौरित्यापत्तेश्चेत्यन्यत्र
विस्तरः । केचित्तु “ऊडिदम्” इति सूत्रे अन्यादेशे स्वरवारणाय अन्तोदात्ता-
दित्यनुवृत्तेः भाष्यादौ स्पष्टत्वात् पूर्वरूपे कृते जातस्य “एकादेश उदात्तेनो-
दात्त” इति स्वरस्य त्रैपादिकत्वेनासिद्धत्वात् अन्तोदात्तोऽभावेनात्र स्वरा-
प्रवृत्तिरेवेति ज्ञापकं सुस्थमवेत्याहुः । तन्न । एकादेश उदात्तेनेत्यस्य
सिद्धकाण्डे भाष्ये पाठेन असिद्धत्वाभावात् स्वरप्रवृत्तेर्दुर्वारित्वात् । अतएव
वृक्षावनेत्यादौ आवादीनामुदात्तत्वसिद्धिः, वांऽश्वा इत्यादौ तद्विषये
शेषनिघातसिद्धिश्चेति एकादेश उदात्तेनेति सूत्रे शेखरे स्पष्टम् ।

नचैवमपि सम्प्रसारणस्यासिद्धत्वेऽपि पूर्वरूपस्य तत्त्वाभावात् स्वांशे चा-
रितार्थमिति वाच्यम् । “हलः” इति ज्ञापकेन सम्प्रसारणस्थानिककार्ये
सम्प्रसारणत्वातिदेशेन सम्प्रसारणस्थानिकपूर्वरूपस्याप्यसिद्धत्वादिति दिक् ।
निमित्तविनाशेऽपीति । निमित्तविशिष्टविनाशे इत्यर्थः । वै० चस्वप्रतियो-
गिकत्वं-स्वस्थानिकादेशप्रतियोगिकत्वमेतदन्यतरसम्बन्धेन । अत एव “समर्था-
नाम्” इति सूत्रे समर्थग्रहणं स्वांशे चरितार्थमिति परिभाषेन्दुशेखरे मूले ए

परिनिष्ठितत्वेन ज्ञाप्यं तत्साध्वित्यर्थापत्तिकल्प्यवाक्येन बोद्धव्यम् । कार्यशब्दवादे तु पूर्वभाष्योन्नीतानादितात्पर्यवशात्तत्कल्पनं बोद्धव्यम् । एतेन स्थानप्रमाणोभयान्तरतमे ह्रस्वेकारे चरितार्थो यण् दीर्घे कथं स्यादित्यपास्तम् । स्थानत आन्तर्यस्य सर्वतो बलवत्त्वात् “स्थानेऽन्तरतमे” इति सप्तम्यन्तषाठस्य चैतद्दूषणेनैव भाष्ये दूषितत्वादिति भावः ।

चो विध्यर्थः । ध्वनितश्चेदमेओङ्मुखे भाष्ये तदाह । द्वे वास्त इति । सूत्रकृता शाकल्यमते सर्वत्र द्वित्वाभावोक्तेरिति भावः । अवसाने द्वित्वासिद्धये ऽनचीति प्रसज्यप्रतिषेधस्तदाह । न त्वचीति । इदं द्वित्वं षाष्ठद्वित्ववद् द्विः प्रयोग एव । यर इत्यादेरध्याहृतोच्चारणक्रियानिरूपितकर्मषष्ठीत्वस्यौचित्यात् । इति धस्येति । न तु द्वित्वे पूर्वधस्थाने जश्त्वनिष्पन्नदस्यापि । “लक्ष्ये लक्षणम्” इति न्यायात् । विकारान्यत्वेन न लक्ष्यभेद इत्यन्यत्र प्रपञ्चितम् ।

स्पष्टमिति विक् । *निष्फलेति* । वस्तुतस्तु वैभाजित्रं घटसेदुषोरित्याद्यर्थे साऽत्यन्तमावश्यकीति परिभाषेन्दुचन्द्रिकायां विस्तरः । इति परिभाषाप्रकरणम् ॥

अनादितात्पर्यवशादिति । वस्तुतस्तु कार्यशब्दवादेऽपि शास्त्रस्य शब्दोत्पादकत्वासम्भवात्तात्वादेरेव शब्दोत्पादकत्वेन साधूनामसाधूनाञ्च शब्दानां सिद्धतया शास्त्रस्य साधुत्वपर्यन्तं तात्पर्यकल्पनेन नित्यशब्दवाद् इव मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवति इत्यवश्यं वक्तव्यम् । *स्थानत आन्तर्यस्येति* । स्थानघटितधर्मेण सादृश्यस्य सर्वतो बलवत्त्वादित्यर्थः । सादृश्यमतिरिक्तः पदार्थ इति मञ्जूषायां स्पष्टम् ।

कर्मषष्ठीत्वस्यौचित्यादिति । “उपपदविभक्तेः” इति न्यायादिति भावः । *न लक्ष्यभेद इति* । स्वीयप्राथमिकप्रवृत्तौ उपयोगित्वेनाऽऽश्रीयमाणो यावान्शब्दसमुदायः तदघटको यस्तदघटकमात्रोद्देश्यकविकारागमातिरिक्तस्तदघटितत्वे सति स्वीयप्राथमिकप्रवृत्त्युत्तरकालिकप्राप्तिभिः अप्राप्तिविषयाघटितत्वं तल्लक्ष्यत्वमिति स्वीकारादिति भावः । प्रकृते च जश्त्वनिष्पन्नदकारस्य निरुक्तसमुदायाघटकत्वेऽपि निरुक्तसमुदायघटकमात्रोद्देश्यकविकाराभिन्नत्वस्याभावात्तल्लक्ष्यत्वमेवेति विक् ।

स्थान्यादेशयोर्भेदादिति । लौकिकस्थान्यादेशापेक्षया शास्त्रीयस्थान्यादेशयोर्वैलक्षण्यादित्यर्थः । तथाहि—यदर्थं यो यस्य स्थाने नियुज्यते स तत्कार्यमेव करोति यथा याजनार्थं गुरोः स्थाने नियुक्तः शिष्यो याजनं करोति तथाऽर्थबोधनाय शब्दप्रयोगात् स्थानिना योऽर्थो बोध्यते तत्स्थाने प्रयुक्त आदेशस्तदर्थमेव बोधयेत् नान्यत्कार्यमिति स्थानिवत्सूत्रम् । *स्वं रूपमित्युक्तेऽप्येति* । अयं भावः । यथा गुरोः स्थाने शिष्यो याज्यकुलानि गत्वा अग्रासनादीन्येव लभते नतु स्वरूपाश्रितोच्छिष्टभोजनसंवाहनादि, एवं प्रकृतेऽपि आवाधिष्टे-

स्थान्यादेशयोर्भेदात् स्वं रूपमित्युक्तेश्च “तत्स्थानापन्नस्तद्धर्मं लभते, यथा गुरोः स्थाने शिष्यो याज्यकुलानि गत्वा ऽग्रासनादीनि लभते” इति लोकन्यायेन स्थानिकार्यमादेशे न स्यादतः स्थानिवत्सूत्रम् । न तु स्थान्यलेति । प्रत्यासत्तिन्यायलब्धमिदम् ।

आदेशस्य स्थानिभूतो यो ऽल्ल तत्स्थानिसवन्धी च योऽल्ल

त्यादौ स्वरूपाश्रितमात्मनेपदं न स्यादिति भावः । *प्रत्यासत्तिन्यायलब्धमिति* नच “स्थानिवदादेशोऽनलिवधौ” इत्यत्र स्थानिपदापेक्षयाऽऽदेशपदस्यैव प्रत्यासन्नतरत्वेनेदमसङ्गतमिति वाच्यम् । “अग्निहोत्रं जुहोति” “यवागूं पचति” इत्यत्रेव पाठक्रमादार्थक्रमस्य बलीयस्त्वेन आर्थक्रमे च स्थानिपदार्थस्यैव सन्निहितत्वात् ।

आदेशस्य स्थानिभूतो योऽल्लिति । स्यादेतत् । रामायेत्यादौ स्थानिभूतो योऽल्ल एकारः तद्वृत्ति यत्सुप्तं तन्निमित्तकत्वेन दीर्घे कर्तव्येऽनलिवधाविति निषेधः स्यादिति चैन्मैवम् । स्थानिशब्दस्य संबन्धिशब्दत्वेनाऽऽक्षेपादादेशलाभे सिद्धे आदेशपदोपादानं स्थानितायामलत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वलाभार्थमित्यदोषात् । तथाच अलत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानितासमानाधिकरणधर्मनिमित्तके कार्ये कर्तव्ये न स्थानिवदित्यर्थः पर्यवस्यति । “ङेर्यः” इत्यादौ स्थानितावच्छेदकं कृत्वं तच्च नालत्वव्याप्यमिति रामायेत्यादौ न दोषः । नन्वेवमपि वाक्यसंस्कारपक्षे राम ए अत्र इत्यत्र अलत्वव्याप्यो धर्म एत्वं तदवच्छिन्नस्थानितासमानाधिकरणो धर्मः सुप्तं तन्निमित्तको विधिर्यादेश इति पुनरप्यनलिवधाविति निषेध इति चेन्न । अलत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतधर्मनिमित्तके स्थानिवद्वेत्यर्थेन एत्वावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयत्वस्य यादेशो ऽभावेनादोषात् । नन्वेवं हल्ङ्यावितिसूत्रविरोधः, “ङ्याग्रहणेऽदीर्घः” इति वार्तिकविरोधः, हल्ङ्याविसूत्रीयदीर्घग्रहणप्रत्याख्यानपरभाष्यविरोधः, “कुन्मेजन्तः” इति सूत्रस्थभाष्यविरोधः, ग्रहोऽल्लिटिसूत्रस्थभाष्यविरोधश्च । तथाहि—अतिखट्वो निष्कौशाम्बिरित्यादौ “गोस्त्रियोः” इति सूत्रे “अचः” इतिपरिभाषोपस्थित्या अलत्वव्याप्यात्त्वावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिको य आरोपः ह्रस्वः आप्लववान् ङीत्ववानित्याकारकस्तत्प्रकारीभूताऽऽप्त्वङीत्वानिमित्तकत्वाद्धल्ङ्यादिलोपस्य तत्र कर्तव्ये स्थानिवत्त्वनिषेधस्य सिद्धत्वादीर्घग्रहणस्य ङ्याग्रहणे ऽदीर्घ इति वार्तिकस्य ङी ई आ आविति प्रश्लेषस्यचोपयोगाभावात् । एवमाधये चिकीर्षवे कुम्भकारेभ्यो नगरकारेभ्य इत्यादौ “घेर्ङिति” “बहुवचने श्लयेत्” इत्यत्र “अलोऽन्त्यस्य” इत्यस्योपस्थित्या स्वस्यापि स्वव्याप्यत्वमिति स्वीकारादलत्वव्याप्यालत्वावच्छिन्नस्थानितानिरूपिताऽऽदेशताश्रयगुणैकारधर्मिकारोपप्रकारीभूतकृत्वनिमित्तकत्वेन अव्ययसंज्ञाया अनलिवधाविति निषेधात् “अनिकारोकारप्रकृतिरिति वा” इति वार्तिकस्य सन्निपातपरिभाषया तत्प्रत्याख्यानस्य चासङ्गत्यापत्तिः । एवमग्रही-

द्वित्यादौ “ग्रहोऽलिति” इत्यत्र “अच” इतिपरिभाषोपस्थित्या
 ऽलत्वव्याप्यात्त्वावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयदीर्घधर्मिकारोपप्रकारी-
 भूतद्विनिमित्तकत्वेन “इट ईटि” इति सलोपे कर्तव्ये स्थानिवत्त्वाप्रवृत्त्या स्थानिव-
 द्भावेन तत्र लोपकथनस्यासङ्गत्यापत्तिरिति चेन्मैवम् । अलत्वव्याप्यधर्मावच्छि-
 न्नस्थानितानिरूपिताऽऽदेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतधर्मेण साक्षादवच्छिन्ना
 योद्देश्यता तदुद्देश्यताके कार्ये कर्तव्ये स्थानिवत्त्वत्यर्थेन हल्ङ्घ्या-
 दिलोपे आप्त्वङीत्वयोः, अव्ययसंज्ञायां कृत्वस्य, सलोपे इद्वस्य
 चोद्देश्यतायाः साक्षादवच्छेदकत्वेन तेषाञ्चालत्वव्याप्यत्वाभावेनादोषात् ।

नचैवं स्थानितायामलत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नेति निवेशो ऽनुपयुक्तः ।
 रमायेत्यादौ एकाररूपाल्लिप्तस्थानितानिरूपिताऽऽदेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारी-
 भूतलुप्त्वेन “सुपि च” इति दीर्घीयोद्देश्यतायाः साक्षादनवच्छिन्नत्वादिति
 वाच्यम् । रमायामित्यादौ याडर्थं तन्निवेशस्यावश्यकत्वात् । तथाहि-इकाररूपा-
 ल्लिप्तस्थानितानिरूपिताऽऽदेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतद्विवचनत्वेन “या-
 डापः” इतिशास्त्रीयोद्देश्यतायाः साक्षादवच्छिन्नत्वात् । नचैवमपि दाक्षी इत्यादौ
 द्विवचनत्वातिदेशो न स्यात् । “औङ आपः” इत्यत्र औङित्यस्यौकारविभक्तेः संज्ञा-
 त्वेन अलत्वव्याप्यो य औत्वरूपो धर्मस्तद्धर्मावच्छिन्ना या औकारनिष्ठा स्थानिता
 तादृशस्थानितानिरूपिता या ईकारनिष्ठाऽऽदेशता तादृशादेशताश्रयधर्मिको य
 आरोप ईकारः द्विवचनत्ववान् इत्याकारकस्तादृशारोपप्रकारीभूतो यो द्विवच-
 नत्वरूपो धर्मस्तद्धर्मेण साक्षादवच्छिन्ना या “ईदूदेद् द्विवचनम्” इति शास्त्री-
 योद्देश्यता तदुद्देश्यताके विधौ स्थानिवत्त्वस्य निषिद्धत्वादिति वाच्यम् ।
 अलत्वव्याप्यधर्मेण साक्षादवच्छिन्ना या स्थानिता तादृशस्थानितानिरूपितादेश-
 ताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतधर्मेण साक्षादवच्छिन्ना योद्देश्यता तदुद्देश्यताके
 विधौ न स्थानिवत् इति अनल्विधावित्यस्यार्थेन “औङ आपः” इत्यत्र तस्मादिति
 परिभाषोपस्थाप्यं विशेष्यं औङ इति विशेषणमिति स्वीकारेण अलत्वव्याप्यौ-
 त्वधर्मेण “औङ आपः” इतिशास्त्रीयस्थानितायाः साक्षादनवच्छिन्नत्वेनादोषात् ।

परंतु अल्पर्याप्तस्थानितानिरूपिताऽऽदेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतधर्मेण
 साक्षादवच्छिन्ना या उद्देश्यता तदुद्देश्यताके विधौ स्थानिवत्त्वत्येवार्थः स्वीक्रियते ।
 नचैवं रमायां सर्वस्यामित्यादौ यादस्यादौ न स्याताम्, अनुबन्धविनिर्मुक्तपदा-
 र्थोपस्थितिरिति सिद्धान्तेन स्थानिताया अल्पर्याप्तत्वादिति वाच्यम् । बोधका-
 वयवेषु अनुबन्धेषु बोध्यावयवत्वमारोप्यते इति “एकान्ता अनुबन्धाः” इत्यस्य
 तात्पर्येण प्रकृते च ङकारैकारोभयपर्याप्तत्वेन स्थानिताया अल्पर्याप्तत्वाभावात् ।
 नचैवं साक्षी लोम्नी इत्यादौ दोषो दुरुद्धरः स्थानिताया अल्पर्याप्तत्वादिति
 वाच्यम् । संज्ञाविधावित्यस्यानित्यत्वेन ईदूदेदित्यस्य ईदूदेदन्तं यद् द्विवचनं
 तदन्तं यत्तदादि तत् प्रगृह्यमित्यर्थेन साक्षी इत्यादौ स्थानिताया अल्पर्याप्तत्वे-
 ऽपि तादृशस्थानितानिरूपिताऽऽदेशताश्रयधर्मिकाऽऽरोपप्रकारीभूतद्विवचन-
 त्वस्य प्रगृह्यसंज्ञीयोद्देश्यतायाः साक्षादनवच्छेदकत्वात् । एवं च स्थानि-
 तायामलत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वनिवेशो विफल एवेत्याहुः ।

तद्वृत्तिधर्माश्रये नेत्यर्थः । अत एव रेफस्थानिकविसर्गस्य रुशब्दत्वं न स्थानिवत्त्वेनेति “भोभगो” इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । ऋधातोर्द्वित्वे ऽभ्यासस्यो-
रदत्त्वे ऽरित्यस्य हलादिः शेषस्तु अरित्यस्य पुनः “पूर्वोऽभ्यासः” इत्यनेना-
भ्यासत्वात् । तस्यापि द्विरुक्तधातुपूर्वभागत्वात् । प्रक्रियाज्ञानवतां तथा
ज्ञानस्य सुलभत्वात् ।

तत्स्थानिसम्बन्धी च योऽलिति । स्थानिसम्बन्ध्यल्वृत्तिधर्मनिमित्तके कार्ये
स्थानिवत्त्वं नेति यावत्तानच रामायेत्यादौ “सुपि च” इति दीर्घानापत्तिः । स्थानी
एकारस्तत्सम्बन्धी यो ऽल् व्यपदेशिवद्भावेन स एव तद्वृत्तियो धर्मः सुप्त्वं
तन्निमित्तकत्वादीर्घे कर्तव्ये स्थानिवत्त्वनिषेधादिति वाच्यम् । अल्वृत्तिधर्मे
अल्वव्याप्यत्वस्य विशेषणेनादोषात् । नचैवमपि प्रपञ्चेत्यादौ व-
लादित्वस्यातिदेशापत्तिः । वल्वत्वे स्थानिसम्बन्ध्यल्वृत्तित्वस्याल्वव्याप्य-
त्वस्य च सत्त्वेऽपि इदो वलादित्वनिमित्तकत्वेन वल्वनिमित्तकत्वाभावे-
न निषेधाप्राप्तेरिति वाच्यम् । स्थानिसम्बन्धी योऽल् तद्वृत्तियो-
ऽल्वव्याप्यो धर्मस्तद्वृत्तिधर्मनिमित्तके कार्ये कर्तव्ये स्थानिवत्त्वेति
द्वितीयार्थस्वीकारेणादोषात् । नचैवमपि बभूविवेत्यादाविडनापत्तिः । स्थानी
यो वस् तत्सम्बन्धी अल् वकारस्तद्वृत्तियो धर्मो वलादित्वं तन्निमित्तक इदिति
स्थानिवत्त्वनिषेधेनाऽऽर्धधातुकत्वस्यातिदेशुमशक्यत्वादिति वाच्यम् । अल्व-
व्याप्यधर्मघटितधर्मे अतिदिदिक्षित इति विशेषणदानेन अतिदेशुव्यार्द्धधातुकत्वे
अल्वव्याप्यधर्मघटितत्वाभावेनादोषात् । यश्चाल्वव्याप्यधर्मघटितो धर्मो व-
लादित्वं न सोऽतिदिदिक्षित इति । ननु स्थानिसम्बन्धीतिविशेष-
णदानं विफलमिति चेदिष्टापत्तिरेव । केचित्तु बभूविवेत्यादौ दोषवारणाय
आदेशावयवाद्यल्वृत्तिरिति धर्मे विशेषणम् । तत्र चाऽऽदिग्रहणेन बभूवतुर्त्वित्र
न दोष इति, तन्न । कः इत्यादौ स्थानिवत्त्वेन हलन्तत्वात् “हल्-
ङ्याभ्यः” इति सुलोपापत्तेः । हल्वस्य चाऽऽदेशादिभूतककारवृ-
त्तित्वेन निषेधाप्रवृत्तेरिति विक् ।

द्विरुक्तधातुपूर्वभागत्वादिति । ननु देवदत्तौ पेचतुरित्यादौ दे-
वदत्तावित्यादेरपि द्विरुक्तपूर्वभागत्वेनाभ्याससंज्ञापत्तिः । नच दे-
वदत्तावित्यादेरभ्यासंज्ञायामपि न दोषः, अभ्यासकार्याणामभ्याससं-
ज्ञाप्रयोजकप्रत्ययानिमित्तकत्वेन “ह्रस्वः” इत्यादेरभ्याससंज्ञाप्रयोजकप्र-
त्ययनिमित्तकाङ्गावयवाभ्यासस्याचो ह्रस्वो भवतीत्यर्थेन प्रकृतेरभ्यासका-
र्यप्राप्त्यभावादिति वाच्यम् । एवमपि ऊर्णुनाव ऊर्णुनुविषति इत्यादौ ऊर्णु
इत्यस्य अभ्याससंज्ञायां ह्रस्वाद्यापत्तेरिति चेन्मैवम् । द्विवचनीयाविधेयताश्रय-
द्विवचनीयोद्देश्यताश्रयैतदुभयमात्रारन्ध्रसमुदायघटको यो द्विवचनीयाविधे-
यताश्रयावधिकपूर्वत्वाविशिष्टः सोऽभ्याससंज्ञको भवतीत्यर्थेनादोषात् । प्रकृते
च अरुक् इत्यत्र एकदेशविकृतन्यायेन तादृशसमुदायत्वं बोध्यम् । अथवा द्वि-

अत एव धिन्वन्तीत्यादाविण् न । उकारवृत्त्यार्धधातुकत्वस्य वकारे ऽनतिदेशात् । यच्च अत्रेणनिवृत्तये स्वविधावपि स्थानिव-
स्वमपरविधाविति न्यासेन साधितं भाष्ये सा त्वेकदेश्युक्तिः । असिद्धवत्सू-
त्रेण सिद्धस्याऽऽयन्नासन्नित्यादेस्तत्फलत्वेनोपन्यासात् । अस्यापि “अचः
पूर्वत्वविज्ञानात्” इति वार्तिके पञ्चमीसमासेन सिद्धेः कैयटेनोक्तत्वाच्च ।

वर्चनीयविधेयताश्रयद्विवर्चनीयोद्देश्यताश्रयैतदुभयमात्रारब्धसमुदायसमभिव्या-
हृतवर्णाघटितो यो द्विवर्चनीयविधेयताश्रयावधिकपूर्वत्वविशिष्टः सोऽभ्या-
ससंज्ञको भवतीति “पूर्वोऽभ्यासः” इत्यस्यार्थेन अर्क्क इति समुदाये एकदे-
शविकृतन्यायेन तत्त्वानानयनेऽपि न क्षतिरिति दिक् ।

इणेनेति । ननु धिन्वन्तीत्यादौ न दोषः । इटो ऽपरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्ग-
तया तस्मिन्कर्तव्ये यणो बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात् । नच परनिमित्तकापरनि-
मित्तकयोः शास्त्रयोराश्रीयमाणसमुदायो यत्रान्यूनातिरिक्तस्तत्रैवापरनिमित्त-
कमन्तरङ्गमित्यस्य विषयः । अत एव सुस्यूषति दुद्यूषति इत्यादौ यणः पूर्वं
द्वित्वं न भवतीति वाच्यम् । अन्तर्भूतनिमित्तकत्वान्तरङ्गत्वस्य यणि सत्त्वेनाप-
रनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्वस्य द्वित्वे सत्त्वेनोभयोस्तुल्यबलत्वेन परत्वाद्याणि द्वित्वे
च रूपसिद्धेरिति चेन्मैवम् । अचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तककार्यप्रवृत्त्युत्तरं यदन्तरङ्गं
प्राप्नोति तत्र कर्तव्ये बहिरङ्गासिद्धत्वं नेत्यर्थकनाजानन्तर्यइतिपरिभाषया निषे-
धात् । अत एवाक्षयूरित्यादौ “लोपो व्योः” इति लोपो न ।

किञ्च एः अजो यजस्तस्यापत्यं याजिरित्यादौ “न खाभ्यां पदा-
न्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्” इति ऐजभाव आद्यार्थकान-
ल्विधावित्यस्य प्रयोजनम् । तथाहि—न खाभ्यामिति सूत्रे पूर्वा-
विति विधेयविशेषणम् । तथाचाल्त्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेश-
ताश्रययणधर्मिको य आरोपः यण् पदान्तत्ववानित्याकारकः तादृशारोप-
प्रकारीभूतपदान्तत्वेन ऐच्शास्त्रीयोद्देश्यता साक्षादवच्छिन्नेति निषेधप्रवृत्तिः
स्पष्टैव । नच धिन्वन्ति इत्यादौ पञ्चमीसमासेन स्थानिवत्त्वादितः प्राप्तिरेव
नेति वाच्यम् । पञ्चमीसमासेनापि स्वविधौ स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तेः । अत एव भ-
वति इत्यादाववादेशः सिद्ध्यति । अन्यथा ऽवादेशप्रतिबन्धार्थं पञ्चमीसमासेन
गुणस्य स्थानिवत्त्वं स्यादिति भावः ।

अत्रेदमवधेयम् । आरेत्यादौ पुनरभ्याससंज्ञायाः प्रयोजनं चिन्त्य-
म् । नच अल्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारो-
पप्रकारीभूताभ्यासत्वनिमित्तकत्वाद्धलादिः शेषस्यानल्विधाविति निषेधः स्या-
दिति वाच्यम् । “हलादिः शेषः” इत्यत्राभ्यासादेरेव हल
उद्देश्यत्वेन तादृशप्रकारीभूताभ्यासत्वेन उद्देश्यतायाः साक्षादनवच्छि-
न्नत्वात् । अभ्यासत्वावच्छिन्नमुद्दिश्य आदिर्हल शिष्यते इत्युक्ता दोषदानस्य

प्रदीव्येत्यादौ च वलादिलक्षण इण् । स्थान्यलित्युक्तेर्वभूविवेत्यादौ व-
लादिलक्षणेऽसिद्धिः । न हि तत्र वलादित्वं स्थानितो लभ्यं किं
तु स्वाश्रयमेव ।

यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशप्रवृत्तावतिदेशो मृग्यते तस्य निमित्त-
स्य स्थान्यलसाधारणधर्मत्व एव निषेधप्रवृत्तेः । प्रकृते चाऽऽर्द्धधातुकत्ववैक-
ल्यप्रयुक्ताऽप्राप्तिर्न तत्स्थान्यलसाधारणं, यच्च तादृशवल्त्वघटितं वलादित्वं
न, तद्वैकल्यप्रयुक्ताऽप्राप्तिरिति बोध्यम् । प्रत्यासत्त्या च शास्त्रीयकार्ये एव
स्थानिवत्त्वं तेन नायकसिद्धिः ।

प्राधान्यात्कार्यातिदेशो ऽयम् । शास्त्रातिदेशस्तु कार्यातिदेशाद-
भिन्नरूपः । तस्यापि कार्यफलकत्वादिति तृज्वत्सूत्रे कैयटः ।
भाष्ये ऽपि “तत्राऽऽङ्गशास्त्रातिदेशात्सिद्धमाङ्गं यत्कार्यं तदतिदिश्यते”
इत्युक्त्वा तयोरभिन्नरूपत्वं सूचितम् । तत्रानपेक्षितार्थसन्निधानस्त-
त्तन्निमित्तरूपकार्यव्यवहार एवानेन । कार्यं तु स्वशास्त्रेणैवेति । अत एव
रामायेत्यादौ “स्थानिवत्त्वेन सुप्त्वात् सुपि चेति दीर्घः” इति सङ्गच्छते ।
परिवीरित्यादौ परत्वात् दीर्घ इति च सङ्गच्छते । यद्वा किं चान्निमित्तवै-
कल्ये ऽपि दीर्घादिकार्यमनेन क्रियते । तच्च कार्यं किमित्याकाङ्क्षायां तत्स्व-
रूपनिर्णयस्य विधिशास्त्रमूलकत्वेन तद्देशेनैव परशास्त्रविहितत्वरूपं परत्वं
तेषां बोध्यम् । एतदेवाभिप्रेत्यातिदिश्यमानकार्याणामुपदेशदेश एव देश

“पूर्वोऽभ्यासः” इत्यस्य निरुक्तार्थकरणस्य चानुचितत्वात् । अत एव चेच्छिद्यते
इत्यत्र हलादिःशेषो न । अन्यथा पूर्वोक्तदिशा तुग्विशिष्टस्याभ्याससंज्ञया
स दुर्वारः स्यात् । मम तु द्विर्वचनीयोद्देश्यताश्रयस्यैवाभ्याससंज्ञेति तु-
ग्विशिष्टे सा नेति न दोषः । दीर्घस्यैव तुगिति यदागमपरिभाषायाः
प्राप्तिरेव नेति तथापि न दोषः । अवयवावयवन्यायस्य लौकिकत्वेनानित्यत्वा-
दप्रवृत्त्या तेनापि न दोषः ।

किञ्च नानल्लिधावित्याद्यार्थस्योपयोगो ऽपि । नच धिन्वन्तीत्यत्रे-
डभावाय स आवश्यक इति वाच्यम् । अन्तरङ्गपरिभाषया गता-
र्थत्वात् । नच नाजानन्तर्ये इति निषेधः । अचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकं यदन्तरङ्गं
प्राप्नोति तदुत्तरकालिकान्तरङ्गप्राप्त्यभावेन तदप्रवृत्तेः । तस्या असत्त्वाच्च । सत्त्वे
वा तस्या अनित्यत्वाच्च । अत एव जगदम्बात्रेत्यादौ ह्रस्वो न । नचैवं याजि-
रित्यत्रैजागमाभावाय सोऽर्थ आवश्यक इति वाच्यम् । न खाभ्यामित्यत्र पदान्त-
यकारवकारयोर्द्देश्यत्वेनाल्लवग्याप्येकत्वावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रय-
धर्मिकारोपप्रकापीभूतपदान्तत्वधर्मस्यैजागमीयोद्देश्यतायाः साक्षादनवच्छेदकत्वे
न पेयाजिरिति रूपस्यैवेष्टत्वात् । नचैवमपि “भोभगो” इति सूत्रस्थभाष्यविरोध इति

इत्याभियुक्ताः ।

अत्राऽऽद्यपक्ष एव भाष्यसंमतः । अत एव “स्थान्यल्विधिप्रतिषेधे कुरुवधपिवां प्रतिषेधो वक्तव्य” इत्येतदुपपादनावसरे “स्थानिवद्भावादङ्गसंज्ञा स्वाश्रयं च लघूपधत्वादि, तत्र लघूपधगुणादिः प्राप्नोति” इत्यादिभाष्योक्तेरिति बोद्धव्यम् । एवं यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तिस्तन्निमित्तातिरिक्तसर्वनिमित्तकत्वमतिदेशस्यापि । अत एवेष्टवद्भावेनातिदिष्टभत्वस्य वर्णाश्रयत्वमित्यादिव्यवहारः । सर्वातिदेशेष्विदं तुल्यम् । यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तिस्तन्निमित्तं शास्त्रीयमेव प्रत्यासत्तेः ।

वाच्यम् । तस्य भाष्यस्य र इत्यनुवृत्तिपरतया कथञ्चिद्योजयितुं शक्यत्वात् । तस्यैकदेश्युक्तिवेनादोषाच्च । अत एव सास्त्री इत्यादौ प्रगृह्यत्वं सिध्यति । अन्यथा संज्ञाविधाविति निषेधात्प्रगृह्यसंज्ञायां द्विवचनत्वस्य साक्षादुद्देश्यतावच्छेदकत्वेन दोषो दुरुद्धर एवेति दिक् । *स्थान्यलित्युक्तेरिति* स्थान्यल्विशिष्टधर्मघटितधर्मनिमित्तके विधौ कर्तव्ये स्थानिवन्नेत्यर्थः । वै० च स्ववृत्तित्वं स्ववृत्त्यल्वव्याप्यत्वं-स्वस्थानिकादेशावयवालवृत्तित्वम्-एतद्वित्रितयसम्बन्धेनायत्तु स्ववृत्तित्वं स्वस्थानिकादेशावयवालवृत्तित्वं स्ववृत्त्यल्वव्याप्यत्वं एतद्वित्रितयसम्बन्धेनाल्विशिष्टत्वमिति । तन्न । बभूवतुरित्यादौ आदेशावयवे वल्वस्य सत्त्वेनानल्विधाविति निषेधाप्रवृत्त्या इडापत्तेः । एतत्सर्वमभिप्रेत्याह *बभूविवेत्यादाविति* । वस्तुतस्तु अल्वव्याप्यधर्मघटितधर्मे अतिदिदिक्षित इतिविशेषणदानेन सर्वसामञ्जस्येनेदं सर्वं विफलमेवेति बोध्यम् । *स्थान्यलसाधारणधर्मत्व एवेति* । धर्मे स्थान्यलो साधारण्यञ्च । स्थान्यलवृत्तित्वे सति अलमात्रवृत्तित्वम् । नायकसिद्धिरिति* स्यादेतत् अचः परस्मिन्नित्यत्रेवात्रापि अशास्त्रीयस्यातिदेशो भवतु, शब्दाधिकाराश्रयणे गौरवान् । स्थानिवदित्यत्रादेशे स्थानिवृत्तिधर्मसम्भावनायां यद् भवति तद्भवति यन्न भवति तन्न भवतीत्यर्थः । अत एव देवयतेः किपि दयूरित्यत्रादेशप्रतिबन्धार्थमुत्तरसूत्रेण स्थानिवत्त्वं न । नच एषो गमयतीत्यस्यासिद्धिः, गमादेशे स्थानिवृत्तिधर्मसम्भावनायामपि गकारे हलत्वानपायादेतत्तदोरिति लोपापत्तेरिति वाच्यम् । एष गमयतीतिरूपस्यैवेष्टत्वात् । अत एव संप्रसारणादंसंप्रसारणे इति न्यासेन न संप्रसारणे संप्रसारणमिति सूत्रप्रत्याख्यानं संगच्छते । अन्यथा सूत्रसत्त्वे एष यूनः पश्येति प्रत्याख्याने च यणः स्थानिवत्त्वात्सुलोपाभावे एषो यूनः पश्येति फलभेदेन प्रत्याख्यानासंगत्यापत्तेः । मम तु एतत्तदोरिति प्रतिबन्धार्थमचः परस्मिन्निति स्थानिवत्त्वं नेति कल्पनाच्च दोषः । नचैवपि इयायेत्यादौ स्थानिवत्त्वे इयङ् न स्यादिति परिभोषन्दुशेखरस्थशङ्काया असंगतिरितिवाच्यम् । इष्टापत्तेरिति चेन्मैवम् । एकविंश इत्यादौ तिर्विंशतेरिति लोपस्य पररूपप्रतिबन्धार्थं स्थानिवत्त्वापत्तेः इति दिक् । *प्राधान्यादिति* । स्यादेतत् । राम ऊ इत्यस्यां

स्थानिवदित्युक्तेः संबन्धिशब्दमहिम्नैवाऽऽदेशलाभे आदेशग्रहणं

दशायां “सुपि च” इति शास्त्रस्य तद्विहितदीर्घरूपकार्यस्य वा प्राप्त्यभावेन शास्त्र-
कार्यातिदेशयोरसम्भवादिवमसङ्गतम् । किञ्च पूर्वापरविरुद्धश्चायं ग्रन्थः । शास्त्रा-
तिदेशमुपक्रम्य रामायेत्यादौ “स्थानिवद्भावेन सुप्त्वात्सुपि चेति दीर्घ” इत्यनेन
निमित्तातिदेशस्यैवोक्तत्वात् इति चेत्—

अत्र केचित् । प्राधान्यात्कार्यातिदेशो ऽयमित्यतः प्राग् यद्यपीति
पूरणीयम् । अभिन्नरूपत्वं सूचितमित्यनन्तरं “तथापि एतदुभयं न असम्भ-
वात्” इति पूरणीयम् । तत्रानपेक्षितार्थसन्निधान इत्यत्र किन्त्वित्यादिः । अ-
नपेक्षितार्थेत्यत्र अर्थपदेन सामग्री गृह्यते । तथा च यत्कार्यं प्राति या सामग्री
तदभावेऽपि तत्तन्निमित्तमेवानेनातिदिश्यते इति निमित्तातिदेश एवात्रेत्याहुः ।

अन्ये तु यथाश्रुतोऽपि ग्रन्थः सङ्गत एव । नच राम ए इत्यस्यां
दशायां “सुपि च” इति शास्त्रस्य दीर्घरूपकार्यस्य वा प्राप्त्यभावेन
ग्रन्थासङ्गतिरिति वाच्यम् । “आदिरन्त्येन” इति शास्त्रस्य तद्विहि-
तसुप्संज्ञारूपकार्यस्य वा प्राप्या ग्रन्थस्य सङ्गतत्वात् । प्रधानकार्या-
तिदेशासम्भवे ऽप्रधानकार्यस्याप्रधानशास्त्रस्य वाऽतिदेष्टुं शक्यत्वात् । अत एव
“तत्तन्निमित्तरूपकार्यव्यवहार एवानेन” इतिग्रन्थेनाप्रधानकार्यातिदेश एवोक्तः ।
अत एव च रामायेत्यत्र “स्थानिवद्भावेन सुप्त्वात्सुपि चेति दीर्घ” इति ग्रन्थेन
सुप्संज्ञारूपं कार्यमेवातिदिश्यते इति बोध्यते इत्याहुः ।

परेतु स्थानिनि आदेशवृत्तिधर्मसंभावनाया यच्छास्त्रं यत्कार्यं वा प्राप्नोति
तदादेशेऽपि भवतीति स्थानिवदित्यस्यार्थः । आदेशवृत्तिधर्मप्रकारकस्थानिवि-
शेष्यकसम्भावनाप्रयोज्यप्रवृत्तिसम्भावनाविषयीभूतं शास्त्रं कार्यं वा आदेशे
प्रवर्तते इति यावत् । तथाच राम ए इत्यस्यां दशायाम् अयम् पशब्दो यदि यजा-
दिः स्यात्तर्हि सुपिचेति शास्त्रस्य तदीर्घस्य वा प्रवृत्तिसम्भावना ऽस्तीति यथा-
श्रुतमेव सम्यक् । अत एवानपेक्षितार्थसन्निधान इत्यग्रिमः ग्रन्थः सङ्गच्छते । नच
“तत्तन्निमित्तरूपकार्यव्यवहार एव” इत्युत्तरग्रन्थासङ्गतिरिति वाच्यम् । तत्तत्
निमित्तं रूपमसाधारणं यस्य तादृशं दीर्घादिरूपं कार्यं तद्व्यवहार इत्यर्थ-
करणेनादोषात् । कार्यं तु स्वशास्त्रेणैवेत्यस्य कार्यज्ञानं स्वशास्त्रेणैवेत्यर्थः । नचै-
वमपि रामायेत्यादौ “स्थानिवत्त्वेन सुप्त्वात्सुपि चेति दीर्घ” इत्यग्रिमग्रन्था-
सङ्गतिरिति वाच्यम् । स्थानिवत्त्वेनेत्यस्य “सुपि चेति दीर्घ” इत्यत्रान्वयः,
सुप्त्वादित्यस्य सुप्त्वं विहायेत्यर्थो, ल्यब्लोपे पञ्चमीस्वीकारादित्याहुः ।

वस्तुतस्तु प्राधान्यात्कार्यातिदेशोऽयमित्येतदारभ्य यद्वेत्येतत्पर्यन्तो
ग्रन्थो ऽन्येतुमतीत्या योजनीयः । यद्वेत्येतदारभ्य ग्रन्थः परेतुमतीत्या
योजनीय इति दिक् ।

यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तिरिति । यन्निमित्ताभावप्रयो-
ज्यप्रधानशास्त्राप्रवृत्तिरित्यर्थः । न च पङ्क्त्यामित्यादौ णिलोपे स्वा-
दित्वाजादित्वोभयाभावप्रयुक्ता “यचि भम्” इत्युपदेशाप्रवृत्तिरिति तदतिरि-

श्रौतस्थान्यादेशभावस्यैव ग्रहणमिति शङ्कावारणद्वारा “एरुः” इत्यादौ शब्दानित्यत्ववारणाय “सर्वे सर्वपदादेशाः” इति न्यायेन कल्प्यमानस्य तेस्तुरित्यानुमानिकादेशस्य संग्रहार्थम् । तेन पचत्वित्यादेः पदत्वसिद्धिरिति भाष्ये स्पष्टम् ।

ननु तोस्तित्वमपि छिन्नपुच्छे शुनि श्वत्वव्यवहारवल्लोकन्यायेनैव सिद्धम् । तदुक्तं “प्राग्दीव्यतोऽण्” इति सूत्रे भाष्ये “दीव्यतिशब्दैकदेशदीव्यच्छब्दानुकरणमिदम्” इत्युक्त्वा “किमर्थं विकृतनिर्देश एतदेव ज्ञापयत्या-

कनिमित्तकत्वेनेष्टवद्भावे वर्णाश्रयत्वाभावाद्भ्रसंज्ञा स्यादेवेति कथं जश्त्वमिति वाच्यम् । यन्निमित्तवैकल्येत्यत्र निमित्तपदेन सादृश्यप्रतियोगितावच्छेदकधर्मव्यापकधर्मस्य ग्रहणेनादोषात् । तथाहि-णिः इष्टवद्भवति इत्यतिदेशीयसादृश्यप्रतियोगितावच्छेदकीभूतो य इष्टत्वरूपो धर्मस्तद्व्यापकीभूतो धर्मः स्वादित्वरूपो धर्मः नत्वजादित्वरूपो भूयिष्ठ इत्यादौ व्यभिचारादिति न दोषः । नचैवमपि याचि भमित्यत्र यचीति द्वन्द्वनिर्देशेन भसंज्ञायां यकारादित्वाजादित्वैतदन्यतरत्वेन निमित्तत्वादन्यतरत्वे सादृश्यप्रतियोगितावच्छेदकेष्टत्वव्यापकत्वमस्त्येवेति पुनरपि तद्दोषतादवस्थमेवेति वाच्यम् । यचीत्यत्र य् इति लुप्तसप्तम्यन्तं पृथक्पदमिति स्वीकारेणादोषात् । अत एव “द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे” इति टच् समासान्तो न प्रसज्यते । अथवा यन्निमित्तवैकल्येत्यत्र निमित्तपदेन सादृश्यानुयोगितावच्छेदकधर्मव्यापकीभूताभावप्रतियोगिधर्मस्यैव ग्रहणमिति न कोऽपि दोषः । तथाहि-णिः इष्टवद्भवतीत्यत्र सादृश्यानुयोगितावच्छेदकं णित्वं तद्व्यापकीभूताभावप्रतियोगि स्वादित्वमेव नत्वजादित्वयादित्वैतदन्यतरत्, णौ अजादित्वस्य सत्त्वादिति दिक् ।

सम्बन्धिशब्दमहिम्नैवेति । संबन्धिशब्दत्वञ्च निरूपकांशे नित्यसाकाङ्क्षं यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नबोधकत्वम् । प्रकृते च स्थानिशब्दस्य स्थानितावति शक्तत्वेन स्थानिता च निरूपकांशे नित्यसाकाङ्क्षेति आदेशलाभ इति भावः । *तेस्तुरिति* । इदमुपलक्षणम्-भवति इत्यादेः स्थाने भवतु इत्यादेरपि । अन्यथा एरुरित्यस्य इवर्णान्तस्य उवर्णान्त आदेशो भवतीत्यानुमानिकस्थान्यादेशभावकल्पे अवयवत्वबोधेन शब्दानित्यत्वं दुरुद्धरं स्यादिति दिक् ।

एतदेव ज्ञापयत्याचार्य इति । नच दीव्यतिशब्दत्वस्याक्तपरिमाणसमन्यतत्वेन तस्यातिदेशासम्भवात्कथं ज्ञापकत्वमिति वाच्यम् । दीव्यतिशब्दवृत्तिबोधजनकत्वस्य तान्ते ऽतिदेशसम्भवेन ज्ञापकत्वस्य सुस्थत्वात् । अत एव “प्राग्दीव्यतोऽण्” इत्याधिकारः प्रत्ययार्थबोधकपदघटिते शास्त्रे सम्बध्यते नान्यत्र, तेनात इञ् इत्यादावण्पदासम्बन्धः सिद्ध्यति । एकदेशविकृतत्वं च यादृशसमुदायैकदेशावच्छेदेन विकारो जातस्तत्समुदायविशिष्टत्वम् । समुदायवै० च—स्वघटकोद्देश्यकविकारप्रतियोगीतरयावद्घटितत्वं—स्वघटकोद्देश्यकविकारप्रतियोग्यघटितत्वं—स्वविशिष्टाघटि-

चार्यो भवत्येषा परिभाषा एकदेशविकृतमनन्यवत्” इति । अत एवात्र विकारो ऽशास्त्रीयो ऽपि । अत एव श्रायसशब्दादण्णन्ताद् द्विवचने श्रायसावित्यत्र वृद्धौ कृतायां सान्तस्योगिच्चेनानेन न्यायेनाङ्गतया प्राप्तो नुम् पूर्वसंबन्धिविधित्वेनाचः परस्मिन्निति स्थानिवच्चेन वारितो ऽचः परस्मिन्निति सूत्रे भाष्ये । एतन्न्यायानाश्रयणे त्वङ्गत्वमेव दुर्लभम् । अन्तादिवत्सूत्रे भाष्यकैयटयोरपि गुडोदकमित्यादावेकादेशे कृते दकशब्दस्यानेन न्यायेनोदकशब्दत्वमाश्रित्य “उदके केवले” इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वमुक्तम् । शब्दानित्यत्वं तु रेखागवयन्न्यायेन समाधेयम् । अनन्यवदित्यस्यान्यवन्नेत्यर्थः । तत्रान्यसादृश्यनिषेधे ऽन्यत्वाभावः सुतरामिति चेन्न । अर्द्धस्यान्यत्वे जातिव्यञ्जकभूयोऽवयवदर्शनाभावेन तौ तित्वप्रतीतेन्यायेनानुपपादनात् । किं च तिङ्सञ्ज्ञायास्तिबादिसूत्रोपात्तपरिच्छिन्नपरिमाणनिष्ठतया परिच्छिन्नपरिमाणार्थवाचकशब्दानां न्यूने ऽधिके वा शास्त्रव्यापारं विना ऽप्रवृत्तेर्येन विधिरिति सूत्रे ऽङ्गसंज्ञासूत्रे च भाष्ये उक्ततया तदभावात् । न्यूनाधिकत्वञ्च वैरूप्यस्योपलक्षणम् ।

न च तण्डुलानित्यादौ स्थानिवद्भावेन प्रत्ययान्तत्वे ऽपि स्वतः प्रत्ययान्तभिन्नत्वात्प्रातिपदिकत्वापत्तिरिति वाच्यम् । अतिदेशस्व-

तत्वमेतच्चतुष्टयसम्बन्धेन । सम्बन्धघटकवैशिष्ट्यं च स्वाघटकत्वं-स्वघटकमात्रोद्देश्यकविकाराघटकत्वमेतदुभयसम्बन्धेनेत्यन्यत्र विस्तरः । *अत एवेति* । “प्राग्दीव्यत” इत्यत्र शास्त्रीयविकाराभावेऽपि एकदेशविकृतन्यायस्वीकारादेवेत्यर्थः । *उदकशब्दत्वमाश्रित्येति* । वस्तुतस्तु उदकशब्दत्वस्याकपरिमाणसमनियतत्वेनेदं भाष्यमेकदेश्युक्तिः । गुडोदकमित्यादौ “पूर्वोत्तरपदनिमित्तककार्यात्पूर्वमन्तरङ्गो ऽप्येकादेशो न” इति परिभाषया स्वरात्पूर्वं गुणाप्रवृत्तेश्च । *अन्यसादृश्यनिषेध इति* । सादृश्यं न भेदघटितमिति प्रकृते नासङ्गतिरित्यन्वयत्र विस्तरः । *परिच्छिन्नपरिमाणनिष्ठतयेति* । परिच्छिन्नपरिमाणत्वं च संख्यात्वपरिमाणत्वैतदन्यतरव्याप्यधर्मप्रकारकसंशयसामान्यनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकविषयताश्रयत्वम् । यद्धर्मावच्छिन्नज्ञानोत्तरं संख्यात्वव्याप्यधर्मप्रकारकः परिमाणत्वव्याप्यधर्मप्रकारको वा संशयो नोदेति तत्त्वमिति यावत् । वस्तुतस्तु तिङ्त्वस्य परिच्छिन्नपरिमाणनिष्ठत्वेऽपि परिच्छिन्नपरिमाणसमनियतत्वाभावाच्चिन्त्यमेतत्, परिच्छिन्नपरिमाणनिष्ठधर्माणामनतिदेशे न्यायस्य निर्विषयत्वापत्तेरिति दिक् ।

प्रातिपदिकत्वापत्तिरिति । ननु तण्डुलानित्यादौ “तस्माच्छसो-न” इति नकारादेशस्य विधानसामर्थ्यादेव नलोपो न भवतीति को दोषः ।

भावेनातिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाश्रयकार्याभावात् । अत एव जहीत्यादौ जादेशस्यासिद्धत्वे स्वाश्रयो हेतुश्च । सिद्धत्वासिद्धत्वयोर्विरोधात् । असिद्धवत्सूत्रं तु शाधीत्यादौ स्थानिप्रयुक्तधिभावसंपादनेन चरितार्थम् । न चाप्रत्यय इत्यस्य पर्युदासत्वे शास्त्रीयकार्याभावात्स्थानिवत्त्वं दुर्लभमिति वाच्यम् । “वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्” इति षत्वविधायके तिङन्तेषु षत्वाभावायाऽऽवश्यकेन न्यायेन चानिष्ठायामिति पर्युदासेन वृत्त्यादिसम्भवेन पर्युदासलभ्याशास्त्रीये ऽपि शास्त्रतात्पर्यविषये शास्त्रीयवदतिदेशबोधनात् । विस्कन्न इत्यादौ हि निष्ठानत्वस्य नित्यतया स्थानिवत्त्वेनैव निष्ठात्वस्य वक्तव्यत्वात् । तस्य प्रसज्यप्रतिषेधत्वे तु लक्ष्यानुसारिव्याख्यानादेवोक्तार्थसिद्धिरिति बोध्यम् ।

केचित्तु भाष्ये “तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभस्य तत्कार्यस्य च लोकन्यायेनैव सिद्धेरयमतिदेशः स्वं रूपमित्येतच्छास्त्रसत्त्वाद्धन्तेः कार्यबधौ न स्यादिति” इत्युक्तम् । एवञ्च स्वरूपमितिशास्त्राविषये तेन सिद्धिरिति सूचितम् । एवञ्चाशास्त्रीयस्यापि धर्मस्यातिदेशो भवत्येव । अतिप्रसङ्गस्तु लक्ष्यानुसारेण क चिल्लोकन्यायानाश्रयणेन परिहरणी-

नच सर्वस्मिन्नित्यादौ स्थानिवद्भावेन प्रत्ययान्तत्वेऽपि स्वतः प्रत्ययान्तभिन्नत्वात्प्रातिपदिकत्वे नलोपापत्तिः, नकारोच्चारणं तु सर्वस्मिंशय इत्यादौ “शयवास” इति सप्तम्या अलुकि संज्ञाविधौ “नलोपस्यासिद्धत्वात्संज्ञासंज्ञायां “संयोगे गुरु” इति गुरुसंज्ञायां “गुरोरनृत” इति प्लुतार्थश्चरितार्थमिति वाच्यम् । “इकोऽचि विभक्तौ” इति सूत्रस्थाभाष्यप्रामाण्येन संयोगसंज्ञायां नलोपस्यासिद्धत्वं न भवतीति, तन्निमित्तकगुरुसंज्ञामादाय “गुरोरनृत” इति प्लुतो न भवति इति वा कल्पनेनादोषात् । अन्यथा त्रपुषुशय इत्यत्र नुमि नलोपे तस्यासिद्धत्वात्संयोगसंज्ञायां गुरुसंज्ञायां गुरोरिति प्लुताभावायाचित्यस्यावश्यकत्वेन भाष्योक्तज्ञापकता भज्येतेति चेन्मैवम् । नकारोच्चारणसामर्थ्येन शास्त्रबाधकल्पनापेक्षया ऽतिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाश्रयकार्याभावज्ञापनस्यैवौचित्यात् । वस्तुतस्तु भूमिशय इत्यादावलुग्वारणाय शयवासेत्यत्र हलदन्तादेति सम्बन्धस्य कौमुद्यामेव स्पष्टत्वाद्भाष्यासङ्गतिशङ्कैव नास्तीति न तद्वबलेन काचित्कल्पना सम्भवतीति बोध्यम् ।

अतिदिश्यमानधर्मविरुद्धेति । अत्र विरुद्धत्वञ्च तदभाववत्तानिश्चयमुद्रया ग्राह्यम्, नतु तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयमुद्रया । अन्यथा ऽधुरित्यादौ “विभाषा घ्राधेड्” इतिलुगर्थमतिदिश्यमानं यद्धेद्वत्त्वं तदभावव्याप्यं यत्स्वाश्रयमादन्तत्वं तत्प्रयुक्तः “आतः” इति जुस् न स्यादिति दिक् ।

यो यदि प्राप्नोति । एवञ्च न कश्चिदोषः । “न पदान्त” इति सूत्रे ब्राह्मणकण्डूतिरित्युदाहरणाच्च क चित्तदनाश्रयणम् । तत्र हि कण्डूयतेः क्तिचि तत्राल्लोपे तस्य स्थानिवत्त्वादुबद्धि यणि वाऽनादिष्टादचः पूर्वत्वे स्थानिद्वारके गृह्यमाणे ऊट् न स्यादित्याहुः ।

अत एवार्थवत्सूत्रशेषे ऽप्रत्यय इत्यस्य पर्युदासत्वमेवोक्तं भाष्ये । तत्र पक्षे च काण्डे इत्यत्र पूर्वान्तवद्भावेन प्रत्ययान्तभिन्नत्वादोषः शङ्कितो न तु स्वाश्रयाप्रत्ययान्तत्वेन । “क्षियो दीर्घात्” इति सूत्रे भाष्ये ऽपि अतिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाश्रयकार्याभाव इति स्फुटम् । तत्र हि क्षिय इत्यत्रेयङ्गर्थं प्रकृतिवदतिदेशे स्वाद्यनुत्पत्तिमाशङ्क्य एवं तर्हि आतिदेशिकानां स्वाश्रयाणि न निवर्त्तन्ते इति समाधाय अतिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाश्रयनिवृत्तेरावश्यकत्वाभिप्रायेणाथाप्येतन्नेत्याशङ्क्य निर्देशसामर्थ्याद्विभक्तिरित्युक्तम् । असिद्धवत्सूत्रे च कैयटे स्फुटमेतत् । यत्तु गाङ्गुटादिसूत्रे भाष्ये “सृजिदृशोः” इत्यत्राकितीति पर्युदासात्सिद्धक्षतीत्यत्र “हलन्ताच्च” इति कित्वातिदेशे ऽपि अमागममाशङ्क्य प्रसज्यप्रतिषेधाश्रयणेन समाहितं, तत्तु वार्त्तिककृदुक्तमुपायान्तरं बोद्धव्यम् । अनल्विधाविति विधिग्रहणादलाश्रये विधावित्यर्थात् यत्र विधौ शब्दतः स्थानिस्थान्यवयवान्यतराल्वृत्तिधर्मवतस्तेन तस्मात्तस्य तस्मिन्स्तदादेरित्यादिप्रकारेण विशेष्यतया विशेष-

यणि वेति । द्विधा हि कण्डूदय इत्युक्त्या धातुत्वकल्पे उबद्ध् प्रातिपदिकत्वकल्पे यणिति विवेकः । *अत एवेति* । पर्युदासलभ्याशास्त्रीयेऽपि शास्त्रीयवदतिदेशस्वीकारादेवेत्यर्थः । *काण्डे इत्यत्रेति* । नच लक्ष्येलक्षणन्यायेन पुनर्हस्वाप्राप्त्या इयमाशङ्का ऽयुक्तैवेति वाच्यम् । गुणस्य स्वीयप्राथमिकप्रवृत्तौ उद्देश्यतावच्छेदकत्वेनाश्रीयमाणसमुदायघटकमात्रोद्देश्यकविकारभिन्नत्वेन तल्लक्ष्यत्वाभावात् । *अलाश्रये विधावित्यर्थादिति* । अल्विशिष्टविधावित्यर्थः । वै० च साक्षात्स्ववृत्त्यल्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकत्व-स्ववृत्त्यल्वव्याप्यधर्मघटितातिदिदिक्षितधर्मे निमित्तकत्वेतदन्यतरसम्बन्धेन । साक्षादित्यस्य अवच्छिन्नोत्पन्नान्वयः । निरूपितं चैतत् पुरस्तात् ।

शब्दतः स्थानीत्यस्य अल्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानिताश्रय इत्यर्थः, अल्पर्याप्तस्थानिताश्रय इत्यर्थो वा । *अन्यतराल्वृत्तिधर्मेति* । तादृशस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतधर्मेण साक्षादवच्छिन्नोद्देश्यतासामानाधिकरण्य-स्ववृत्त्यल्वव्याप्यत्वम्-एतदन्यतररूपं धर्मेऽन्य-

णतया वा अलाश्रयणं तत्र निषेधः । व्यूढोरस्केन, घौः, चुभ्यां, क इष्टः, प्रपठ्येत्युदाहरणानि । शब्दत इत्युक्तेरग्रहीदित्यादौ “इट ईटि” इति सिद्ध्यति । दीर्घविधावत्र च इट इतिसमुदायाश्रयणात् । अन्यथा ट-स्यानुबन्धत्वादिकारस्यैवोभयत्राश्रयणमित्यल्विधित्वं स्यात् । अत्र सूत्रे विशेषातिदेशो ऽपि । अन्यथा इडादेरपि क्तवः सत्त्वात् वलादित्वस्य तद्विशेषधर्मत्वात् उपस्थितधर्मैस्तद्व्यापकधर्मैश्च विध्याकाङ्क्षापूरणे सति तदतिरिक्तविशेषग्रहणे मानाभाव इत्येतन्न्यायमूलकेन सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशेन सिद्धौ विशेषणतया ऽलाश्रयणे निषेध इत्येतत्प्रतिपादकस्यानल इत्येव सिद्धे कृतस्य विधिग्रहणस्य वैयर्थ्यं स्यात् । हलादिकिङ्निमित्तकेत्वप्रातिषेधकान्न ल्यपीति लिङ्गाच्च । अनुबन्धकार्ये त्वनल्विधाविति निषेधो न, अनुबन्धानामनेकान्तत्वात् । एकान्तत्वे ऽपि शिद्धग्रहणेन तेषामल्व्यवहाराभावज्ञापनात् । “नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्” इति ज्ञापयतीति भाष्ये ऽल्व्यवहाराभावबोधनद्वारेति शेषः । ध्वनितश्चेदं “किङ्गति च” “गाङ् लिटि” “हलः श्न” इति सूत्रेषु भाष्ये । तत्राऽऽद्ये यासुटो ङिद्वचनात् ङिदादेशा ङितो न इति ज्ञाप्यते इत्युक्तम् । द्वितीये गाङो ङित्वस्य सानुबन्धकादेशे इत्कार्याभावज्ञापकतोक्ता,

तरालवृत्तित्वं विवक्षितमिति भावः । *इट ईटीति सिद्ध्यतीति* । ग्रहोऽलिटी-तिसूत्रीयस्थानिताया इट्त्वावच्छिन्नत्वेन स्थानितावच्छेदके ऽल्व्यव्याप्यधर्मत्वस्य अल्पर्याप्तस्थानितावच्छेदकत्वस्य वाऽभावात्, तादृशस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतेट्वस्य च इट ईटीतिशास्त्रीयोद्देश्यतायाः साक्षादनवच्छेदकत्वाच्चेति भावः ।

विशेषानतिदेशेनेति । सादृश्यप्रतियोगितावच्छेदकधर्मव्यापकधर्मस्यैवातिदेशो भवति न तु सादृश्यप्रतियोगितावच्छेदकधर्माव्यापकधर्मस्येत्यर्थः । *न ल्यपीति लिङ्गाच्चेति* । वस्तुतस्तु विशेषानतिदेशोऽपि न क्षतिः । “स्थानिवदादेश” इत्यस्य संग्रहवाक्यतया तदादेशस्तत्स्थानिवद्भवति इत्यतिदेशवाक्यकल्पनाया आवश्यकत्वेन प्रदायेत्यादौ “अयं ल्यप् एतत्कत्वावद्भवति” इत्यतिदेशवाक्ये सादृश्यप्रतियोगितावच्छेदकैतत्कत्वात्वव्यापकत्वस्य कित्त्वे सत्त्वेन नल्यपीत्यस्य वैयर्थ्याभावात् । अत एव जजागरतुरित्यादौ गुणः सिद्ध्यति । अन्यथा ऽऽहतुरित्यादौ अतुसः स्थानितसो ङितोऽपि सत्त्वेन त्वन्मते ऽतुस् तस्वद्भवति इत्यतिदेशवाक्यकल्पनया विशेषधर्मातिदेशस्वीकारेण च अविचिण्णलङ्गित्वित्युक्ता गुणनिषेधो दुर्वारः स्यात् । *अल्व्यवहाराभावज्ञापनद्वारेति* । अ-

तिबाद्यादेशेषु पिच्चासिद्ध्या दूषितं च ज्ञापकम् । अन्त्ये शानचः
शिचस्य सार्वधातुकादेशे अनुबन्धास्थानिवत्त्वज्ञापकत्वमुक्तम्, उक्तदूषणै-
रेव दूषितञ्च । अन्यथा ऽनल्विधाविति निषेधेन तत्त्वाप्राप्त्या
ज्ञापकत्वासङ्गतिः, तिबाद्यादेशेषु पिच्चासिद्धिश्चेति बोध्यम् ।

अचः पर ॥ आदेशग्रहणमनुवर्त्तते तदनुरोधादच इति स्थान-
षष्ठी, परस्मिन्नित्यादेशविशेषणं तदाह । परनिमित्त इत्यादि ।
अच एवादेश इत्यर्थः । तेन मरुतमाचष्टे मारयतीत्यादौ वृद्धिः ।
अत्र सूत्रे प्रयोगे यो ऽच्छानिक इत्यर्थः । न तु सूत्रे स्था-
नित्वेनोपात्ताच्छानिक इत्यर्थस्तेन णिलोपादेरेनेन स्थानिवत्त्वं सिद्ध-
ति । अत एव चङ्परनिर्हासे ण्यन्तात् णिचि अवीवददित्यादिसिद्ध्यर्थो
निषेधः सार्थकः । अच इति किम् । आगत्य । मलोपस्य स्थानि-
वत्त्वात् “ह्रस्वस्य” इति तुम्भ स्यात् । परस्मिन्निति किम् । युवजानिः ।
निङः स्थानिवत्त्वेन यलोपो न स्यादिति । पूर्वविधाविति किम् ।
नैधेयः । निपूर्वाद्वाचः किप्रत्यये आतो लोपे तस्य स्थानिवद्भा-
वाद् व्यच्त्वव्यपदेशविरोधात्स्वाश्रयद्वयत्त्वानिवृत्तौ ढगनापत्तेरिति दिक् ।
अत्र स्थानिनि सति यद्भवति तदादेशे ऽपि भवति स्थानिनि य-
न्न भवति तदादेशे ऽपि नेति भावाभावयोरुभयोरप्यतिदेशः । तत्र

नुबन्धघटितबोधकवृत्तयो ये ऽनुबन्धत्वघटितातिरिक्ता आनुपूर्वीभिन्नाश्च
धर्माः तन्निमित्तके कार्ये अनुबन्धानामविद्यमानवत्त्वमिति ज्ञापनद्वारेत्यर्थः ।
तथा च प्रकृते किञ्चस्यानुबन्धत्वघटितत्वेन तद्व्यतिरिक्तोऽल्वव्याप्यधर्मघ-
टितो धर्मोऽल्वविधित्वरूपो धर्मस्तद्धर्मनिमित्तके ऽनल्विधाविति निषेधे कर्तव्ये
ऽनुबन्धकारस्याविद्यमानत्वाच्च दोष इत्यर्थः । वस्तुतस्तु नल्यपीति लि-
ङ्गेन इत्यपदार्थनिष्ठाविशेष्यतानिरूपितप्रकारतावच्छेदकातिरिक्तत्वेनाल्वव्याप्यधर्मे
विशेषणदानाच्च दोष इति दिक् ।

अच एवाऽऽदेश इति । अच्त्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्माव-
च्छिन्नानुयोगिताकर्पासिकस्थानिताक आदेश इत्यर्थः । अच्त्वप्रतियोगि-
का या पर्याप्तिस्तदीया या ऽनुयोगिता तदवच्छेदको यो धर्मस्स एव स्था-
निताप्रतियोगिका या पर्याप्तिस्तदीयानुयोगितावच्छेदकोऽप्यपेक्षित इति यावत् ।
यथा निगाल्यते कथयतीत्यादौ अच्त्वप्रतियोगिकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकीभू-
तो धर्म इकारवृत्तितद्व्यक्तित्वम् अकारवृत्तितद्व्यक्तित्वञ्च तदेव णिलोपीयस्थानि-
तापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकमिति लक्षणसमन्वयः । यत्तु अच्त्वव्याप्यधर्माव-
च्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रय इति अच एव आदेश इत्यस्यार्थ इति, तन्ना नि-
गाल्यते इत्यादौ णिलोपस्य स्थानिवत्त्वानापत्तेः । अत एवाच इति चरितार्थम् ।

भावोदाहरणं निगाल्यते इति, अन्त्योदाहरणं पटयतीत्यादि । स्थानिनिमित्तकं भवत्यादेशनिमित्तकं नेति च तदर्थः । लघूपधत्वसम्पादनद्वारा लोपनिमित्तिका वृद्धिरित्याहुः ।

स्थानिभूतादच इति । सूत्रे श्रवणाद्व्याख्यानाच्च तस्यैव पूर्वत्वेऽवधित्वमिति भावः । पूर्वविधावित्यस्य पूर्वसम्बन्धिन्येव शास्त्रविधये कर्तव्ये इत्यर्थस्तेन पूर्वपरयोर्विधौ न । तेनाऽऽरतुरित्यादौ “ऋच्छत्यृताम्” इति गुणस्य सवर्णदीर्घे न स्थानिवत्त्वम् । वस्तुतोऽत्र पूर्वविधिशब्दे तन्त्रमम् । एस्योक्तोऽर्थः । द्वितीये भावे किः । संबन्धसामान्यषष्ठ्यन्तपूर्वशब्देन समासः । विधिर्भावः पूर्वसंबन्धिभावे तत्स्थितौ स्थानिवदित्यर्थः । अत एवैनेय इत्यादौ “यस्येति च” इति लोपे तस्य स्थानिवत्त्वात्सन्निभयोगशिष्टन्यायप्राप्तनिवृत्तिप्रतिबन्धेन नकारस्थितिः । अत एव नपदान्तसूत्रे पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्र इति लुकि न स्थानिवदित्यस्योदाहरणं दत्तं भाष्ये । अन्यथा तत्र पूर्वत्वेन दृष्टस्य संबन्धिनः कस्य चिद्विधेयस्याभावात्स्थानिवत्त्वाप्राप्तिरेवेति तदसङ्गतिः स्पष्टैव । प्रकृतसूत्रे ऽपि भाष्ये “कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने न सर्वमिष्टं संगृहीतामिति भावसाधनो विज्ञास्यते पूर्वस्य विधानं प्रति पूर्वस्य

अन्यथा यायावर इत्यादौ यलोपस्य स्थानिवत्त्वेनैव “आतो लोप इटि च” इति लोपानापत्त्या वरे—ग्रहणवैयर्थ्येन, “धिन्विकृण्वयोर च” इति लोपेनैव सिद्धे अकारविधानेन च हलादेशो न स्थानिवदिति कल्पनेन सर्वसामञ्जस्ये तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । यदि च पिस्धासोरिगुपधलक्षणे के तदन्तादाचारकिपि तदन्तात्कर्तरि किपि तस्मात् आचारकिबन्तात् “स्थेशभास” इति वरचि गुणार्थमतो लोपस्य स्थानिवत्त्वाभावाय वरे इति चरितार्थम्, एवं धिन्विकृण्वयोरचेत्यत्रत्याकारविधानं “यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्” इति ध्वननायाऽऽवश्यकमिति, तर्हि हत इत्यादौ नलोपस्य स्थानिवत्त्वेनैव अतो लोपाप्राप्त्या तत्र लोपवारणाय कृतस्यार्धधातुके इत्यस्यावृत्त्याऽऽर्धधातुकोपदेशे यदकारान्तमित्यर्थस्य वैयर्थ्येन हलादेशो न स्थानिवदित्युक्त्यैव सामञ्जस्ये अज्ग्रहणसामर्थ्येन निरुक्तार्थलाभ इति । यदि तत्रापि राधातोः के तस्माणिचि चङि अरीरतत् इत्यादौ वृत्रहभ्यामित्यादौच लोपवारणायार्धधातुकोपदेशकाले यदकारान्तमित्यर्थस्यावश्यकत्वम् । नच नागलोपीति सूत्रे प्रत्याहारग्रहणं ज्ञापकम्, अन्यथाऽज्जलादेशस्यापि स्थानिवद्भावेनैव ह्रस्ववारणे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति वाच्यम् । चङ्परनिर्हासे स्थानिवत्त्वस्य प्रतिषिद्धत्वात् प्रत्याहारग्रहणसार्थक्यात् । एवं तर्हि चङ्परनिर्हासे स्थानिवत्त्वनिषेधस्यैव प्रकृतार्थज्ञापकत्वसम्भवात् । न चापीपटादित्यादौ

पठादिधातोर्णिचि तदन्तात्पुनर्णिचि लुङि ह्रस्वार्थत्वं तस्येदानीं संभवति, चल्यादेशस्य चङः स्थानिवद्भावेऽभावातिदेशेन ह्रस्वप्रवृत्तेः कर्तुमशक्यत्वात् । नचारम्भ-सामर्थ्यात्तस्यापि स्थानिवद्भावस्य निषेध इति वाच्यम् । अचः परस्मिन्नित्यत्र अरूपदाकरणलाघवानुरोधेन हलादेशो न स्थानिवदित्येतत्कल्पनस्यैवोचित-त्वात् । तस्मात् अतिरिक्तमज्ग्रहणम् अच एवादेश इत्यर्थे ज्ञापकमिति । अन्ये तु “न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्” इति हलादेशो न स्थानिवदित्यत्र ज्ञापकम् । अन्यथा सम्प्रसारणस्य स्थानिवद्भावे सम्प्रसारणपरकत्वाभावाग्निषेधाप्रवृत्त्या तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्याहुः । परेतु गमहनेत्यत्र अनङीति पर्युदासस्तत्र ज्ञापकः । अन्यथा अङादेशस्य स्थानिवद्भावेऽजादिपरकत्वाल्लोपाप्राप्त्या स व्यर्थ इत्याहुः । वस्तुतस्तु पर्याप्तेरौत्सर्गिकत्वेन भाष्यकारेण स्पष्टमुक्तेश्च नि-रुक्तार्थलाभे तत्र तत्र ज्ञापकानुसरणं वृथैवेति दिक् ।

मरुतमाचष्टे इति । ननु “वृद्धेलोपो बलीयान्” इत्यत्र नागलोपीतिसूत्र-स्थप्रत्याहारग्रहणज्ञापकपरभाष्यप्रामाण्येनेदुदुपधेभ्य आचक्षानिचोऽनभि-धानस्याऽऽवश्यकत्वेनेदमुदाहरणमसङ्गतम्, स्पष्टञ्चेदं तिङन्तशेखरे-इति चेन्न । प्राचीनैः लुङ्येवानभिधानस्वीकारेण तदनुसारेणास्योदाहरणस्य दानात् । लाघवात् सामान्यतोऽनभिधानकल्पने तु मरमेतीति मरेत् तमाचष्टे मारयतीत्याद्युदाहरणं बोध्यम् । नचात्र स्रजयति कनयति इति भाष्योदाहरण-कल्पितः “णिज्जिमित्तकार्यप्रयोज्योपधात्ववतो वृद्धिर्न” इति वृद्धिनिषेधः शङ्क्यः । कथयतीत्यत्र स्थानिवद्भावेन वृद्धिवारणपरभाष्यप्रामाण्येन तत्र कार्ये लोपेतरत्त्वविशेषणात् । स्रग्विणमाचष्टे स्रजयतीत्यत्र वृद्धिवारणाय लोपेऽपि लुगितरत्वं लोपपदप्रयोज्यविधेयताश्रयत्वं वा विशेषणं देयम् । तथाच लु-गितरः लोपपदप्रयोज्यविधेयताश्रयो वा यो लोपस्तदितरकार्यप्रयोज्योपधा-त्ववतो वृद्धिर्नेति समुदायार्थः । नचैवं वृत्रहणमाचष्टे वृत्रहयतीतिहोहन्तेरि-तिसूत्रस्थोदाहरणदानपरशेखरग्रन्थविरोधः, तत्र वृद्धेर्दुर्वात्वादिति वाच्य-म् । वृक्षव्यं वृक्षवृश्चं वाऽऽचष्टे वृक्षवयति वृक्षवयतेरप्रत्यये इति भाष्योदाहरणेन पदद्वयघटिताङ्गघटकोपधाया वृद्धिर्नेति कल्पनेन वृत्रहयतीत्यत्र वृद्धेरप्राप्तेः ।

केचित्तु वृद्धेलोपो बलीयानित्यस्य नित्यत्वमूलकत्वमङ्गीकृत्य वृत्रहयतीत्यत्र लोपवृद्ध्योरुभयोरपि नित्यत्वे परत्वाद्वृद्धौ पश्चाल्लोपे लक्ष्यलक्षणन्यायेन न वृ-द्धिः, मरुतं मरेतं वाऽऽचष्टे मारयतीत्यादौ तु पूर्वं वृद्धेरप्राप्त्या लोपे वृद्धिः । अतएव श्रायमित्यत्र “यस्येति लोपात् परत्वादादिवृद्धिः” इति कौमुदीग्रन्थः संगच्छते । आदिवृद्धिलोपयोरुभयोरप्यनित्यत्वेन परत्वाद्वृद्धेः सुवचत्वात् । लोपबलवत्त्वस्य सार्वत्रिकत्वेतु तदसंगतिः स्पष्टैवेत्याहुः ।

तच्च कस्येतिसूत्रस्थशेखरग्रन्थविरुद्धम् । तत्र हि तत्सूत्रस्थभाष्यादिप्रामाण्येन लोपबलवत्त्वस्य सार्वत्रिकत्वं व्यवस्थापितमिति तत्रैव द्रष्टव्यं, विस्तरभयाग्नेह प्रतन्यते । अतएव जगदाचष्टे जागयतीत्यादौ वृद्धिः सिध्यतीति तत्त्वम् । देवदत्त ऋद् इत्यस्माणिचि टिलोपे देवदत्तापयतीत्यादौ पुक्प्रतिबन्धार्थं टिलोपस्य स्थानिवत्त्वापत्तिरपि “अच एवादेश, इत्यर्थास्वीकारे दूषणं बोध्यमिति दिक् ।

प्रयोगे योऽच् तत्स्थानिक इति । अच्त्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकस्थानिताक इत्यर्थः । *ननु सूत्रे स्थानित्वेनोपात्ताजिति* । अच्त्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानिताक इत्यर्थो नेत्यर्थः । *आगत्येति* । नच सूत्रे आदेशपदश्रवणात्स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्याऽऽदेशविधौ स्थानिवदित्यर्थ इति नायं दोष इति वाच्यम् । वेभिदि ब्राह्मणकुलानीत्यादौ नुमापत्तेस्तथा स्वीकर्तुमशक्यत्वात् । युवजानिरिति* । नच निडादेशे स्थानिवद्भावेनाऽऽकारबुद्धावपि नकारे बलवानपायाल्लोपो निर्बाधः । किञ्च जायायो निरितिन्यासेनादोषः, जायाशब्दावयवयाशब्दस्य स्थाने निरित्यादेशः स्यादित्यर्थेन न्यादेशस्याच्पर्याप्तस्थानिताकत्वाभावात् इति वाच्यम् । वैयाघ्रपद्य इत्यादौ पदादेशप्रतिबन्धार्थं “पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्य” इति लोपस्य स्थानिवत्त्वापत्तेरिति दिक् । *ऽयच्त्वव्यपदेशविरोधादिति* । संख्यात्वव्याप्यकिञ्चिद्धर्मप्रकारकनिश्चयस्य संख्यात्वव्याप्यधर्मान्तरप्रकारकज्ञानसामान्यप्रतिबन्धकत्वात् इत्यर्थः । *यन्न भवतीति* । स्यादेतत् । देवयतेः किपि दयूरित्यादौ स्थानिनि वकारे सति अभवतो ऽयादेशस्य लोपादेशोऽप्यभावापत्तिः । नचादेशे स्थानिवृत्तिधर्मसम्भावनायां यद् भवति तद् भवति यन्न भवति तन्न भवतीत्यर्थेन न दोषः, अत एव प्रकृतसूत्रस्थं “परस्मिन्निति किं युवजानिः, नैतदस्ति प्रयोजनं न्यादेशघटकं नकारमादाय लोपो भविष्यति” इति भाष्यं सङ्गच्छते इति वाच्यम् । एषो गमयतीत्यादावेतत्तदोरिति सुलोपापत्तेरिति चेन्मैवम् । स्थानी न निवृत्त आदेशो न जात इति सम्भावनायां यद्भवति तद् भवति यन्न भवति तन्न भवति इत्यर्थेनादोषात् ।

परेतु आदेशे स्थानिवृत्तिधर्मसम्भावनायां यद् भवति तद् भवति यन्न भवति तन्न भवति इत्येवार्थः । अत एव परस्मिन्निति किं युवजानिरित्येतत्फलखण्डनपरभाष्यं सङ्गच्छते । नच एषो गमयति इत्यादौ सुलोपापत्तिरिति वाच्यम् । इष्टत्वात् । अत एव एष यूनः पश्येत्यादौ न सम्प्रसारणे इति सूत्रसत्त्वे सम्प्रसारणादसम्प्रसारणे इति कल्पे च न फलभेदः । नचेयायेत्यादौ स्थानिवद्भावेनेयङ् स्यादिति शङ्काया असङ्गनिरिति वाच्यम् । युक्तिबलाद्वस्तुसिद्धौ कस्य चिद्बन्धकृतो विपरीतलेखनस्याबाधकत्वेनेष्टापत्तेरित्याहुः ।

आरतुरित्यादाविति । ननु पूर्वस्यैव विधावित्यर्थाभावेऽपि प्रकृते न दोषः । तथाहि ऋ अनुस् इत्यस्यां दशायां द्वित्वं बाधित्वा पूर्वं गुणे पश्चाद् द्वित्वे स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टत्वाभावेन स्थानिवत्त्वाप्राप्तेः । नच “द्विर्वचनेऽचि” इति निषेधात्कथं द्वित्वात्पूर्वं गुणप्रवृत्तिरिति वाच्यम् । द्वित्वनिमित्ततापर्याप्त्यधिकरणीभूतसमुदायघटकाच्पर्याप्तनिमित्तताकत्वस्य गुणे ऽभावेन “द्विर्वचनेऽचि” इति निषेधस्याप्राप्तेः । नच चिकीर्षामीत्यादौ चिकीर्ष अमि इति स्थिते वार्णपरिभाषया दीर्घे पूर्वस्यैव विधावित्यर्थाभावे “अतो गुणे” इति पररूपापत्तिरिति वाच्यम् । “नहि रजतत्वध्रमप्रयुक्ता प्रवृत्तिः शुक्तिं न गोचरयति” इति न्या-

भावं प्रति स्थानिवत्” इत्युक्तम् । तत्र भावसाधन इत्यस्य सोऽपीत्यर्थः । पूर्वत्वञ्च व्यवहिताव्यवहितसाधारणम्, अव्यवहितग्रहणे मानाभावात्, स्वरे निषेधाच्च । तेन पटयतीति सिद्धम् । प्रकृते च द्वित्वनिषेधे स्थानिवत्त्वप्राप्तिः ।

न पदान्त । अत्र द्विर्वचनसवर्णादिग्रहणं वतिघटितान्यातिदेशानां त्रिपाद्यामपि प्रवृत्तिबोधनार्थम् । तेन राम इत्यादौ विसर्गादिसिद्धिः । अत्र विधिशब्दो भावसाधनः । पदान्तेत्यत्रान्तशब्दश्चरमावयववाची । कर्मषष्ठ्या समासः । तेन एषो यन् हसतीत्यादौ “एतत्तदोः” इति सुलोपो न । इणः शतरि यन्निति रूपम् । तत्र यणः स्थानिवत्त्वात् । उत्वे च न स्थानिवत् अनेन निषेधात् । स्पष्टश्चेदं भाष्ये इति भाष्यप्रदीपोद्घोते निरूपितम् ।

अत्र पदेऽन्त इति सप्तमीसमासो भाष्ये उक्तस्तेन प्रत्यासत्त्या पदे परतः चरमावयवे कार्ये कर्तव्ये परपदस्थाजादेशस्यैवानेन स्थानिवत्त्वनिषेध

येन पररूपेऽपि आकारस्यैव जायमानत्वादिति चेन्मैवम् । अन्धातोर्विचि पटु-शब्देन समासे तस्माच्छसि पटुवन इत्यादौ “अचः परस्मिन्” इति स्थानिवद्भावेन संयोगसंज्ञाया अभावेन “न संयोगाद्व्यमन्तात्” इति निषेधानापत्तेः । पूर्वस्यैव विधावित्युक्तौ तु न दोषः । पूर्वस्यैव विधावित्यस्य पूर्वत्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकर्प्याप्तिकोद्देश्यताके विधौ इत्यर्थेन संयोगसंज्ञायाः पूर्वपरोभयोद्देश्यकत्वादिति दिक् ।

सोऽपीत्यर्थ इति । वस्तुतस्तु स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ स्थितौ कर्तव्यायामित्यर्थास्वीकारेऽपि न क्षतिः । नच “लुकि न स्थानिवत् पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य पञ्चेन्द्रः” इति भाष्यासङ्गतिः, स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्याऽऽनुकः कस्यापि विधेरभावात्, किञ्च पेनेय इत्यादौ स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टस्य नकारस्य कस्यापि विधेरभावेन स्थानिवत्त्वाप्रवृत्त्या तन्नित्यस्यापत्तिरिति वाच्यम् । स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्ट-योरानुग्नकारयोः “सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये” इति शास्त्रेण लोपे कर्तव्ये तत्प्रतिषेधार्थं स्थानिवद्भावप्रवृत्तेः सूपपादत्वात् । अत एव “कर्मसाधनस्य विधिशब्दस्योपादाने न सर्वमिष्टं संगृहीतमिति भावसाधनो विशास्यते” इति भाष्ये अपिशब्दो न श्रूयत इति बोध्यम् ।

अन्यातिदेशानामिति । इदं फलितार्थकथनं, ज्ञाप्यांशस्तु वतिघटितातिदेशास्त्रिपाद्यां प्रवर्तन्ते इत्येव । अन्यथाऽन्यातिदेशानां वतिघटितानां त्रिपाद्यां प्रवृत्तावपि स्वांशे चारितार्थ्यं दुर्निरूपं स्यात् । *भावसाधन इति* । वस्तुतस्तु कर्मसाधनत्वेऽपि कर्मधारयसमासस्वीकारेण पदचरमावयवादिरूपे विधेये कर्तव्ये इत्यर्थे न कोऽपि दोष इति बोध्यम् । *परपदस्थाजादेशस्यैवेति* । अत एव प्रत्येषिषन् देवदत्ता इत्यादौ जुस्प्रति-

इति वेतस्वानित्यादौ न दोषः । न चैवमपि “पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्” इति निषेधो ऽत्र दुर्वारः । पदे ऽन्त इत्यर्थेन तत्र स्थानिवत्त्वनिषेधव्यावृत्तिपरभाष्यप्रामाण्येन पूर्वत्रासिद्धे इत्यत्र पदचरमावयवविधायकातिरिक्तस्यैव त्रैपादिकस्य ग्रहणात् । अत एव महिष्मानित्यत्र जश्त्वं न । सूत्रे

बन्धार्थं पररूपस्य न स्थानिवत्त्वनिषेध इति बोध्यम् । *वेतस्वानित्यादाविति* । नच “तसौ मत्वर्थे” इति भसंज्ञाया पदसंज्ञायाः बाधात् पुनरपि रुत्वशङ्का भाष्योक्ता ऽसङ्गतेति वाच्यम् । अस्मादेव भाष्यप्रामाण्यात्परम्परया पदचरमावयवसाधकस्य स्थानिवत्त्वस्यानेन न निषेध इति कल्पनेनादोषात् । तथाहि—तसाविति भसंज्ञायां कर्तव्यायां टिलोपस्थानिवद्भावस्य भसंज्ञाप्रतिबन्धद्वारा पदसंज्ञासम्पादनद्वारा रुत्वसम्पादकत्वेन परम्परया पदचरमावयवरुत्वसम्पादकत्वेन परम्परया पदचरमावयवसाधकत्वेन निषेधाऽप्रवृत्त्या स्थानिवत्त्वेन भसंज्ञाया अप्रवृत्तिः । पदसंज्ञाप्रतिबन्धार्थं स्थानिवत्त्वन्तु न भवति । अस्मादेव भाष्यप्रामाण्यात् परम्परया पदचरमावयवप्रतिबन्धकस्याप्यनेन निषेध इति कल्पनेन पदसंज्ञाप्रतिबन्धद्वारा रुत्वप्रतिबन्धकत्वेनानेन निषेधात् । अत एव षडिक इत्यादौ जश्त्वसिद्धिः । तथाहि—षडङ्गुलिदत्तशब्दाद्ठचि “ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः” इति ङ्गुलिदत्तस्य लोपे यस्येति चेति अल्लोपे भसंज्ञाप्रतिबन्धार्थमल्लोपस्थानिवद्भावस्य पदसंज्ञासम्पादनद्वारा जश्त्वसाधकत्वेनानेन निषेधाभावे स्थानिवत्त्वेन भसंज्ञाया अप्रवृत्तेस्तत्सिद्धिः । पदसंज्ञाप्रतिबन्धकस्थानिवत्त्वं तु न, तस्य पदसंज्ञाप्रतिबन्धद्वारा जश्त्वप्रतिबन्धकत्वेनानेन निषेधात् इति दिक् ।

पदचरमावयवविधायकातिरिक्तस्यैवेति । ननु पिपठीभ्यामित्यादौ रुत्वप्रतिबन्धकस्थानिवत्त्वस्य निषेधो न स्यात्, “ससजुषो रुः” इत्यस्य पदचरमावयवविधायकत्वेन पूर्वत्रासिद्धीये नेत्यस्याप्रवृत्तेः । नच वेतस्वानितिभाष्यप्रामाण्येन तद्धितनिमित्तकपदसंज्ञावच्चरमावयवविधायकातिरिक्तत्वेन पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवदित्यत्र सङ्कोचान्नायं दोष इति वाच्यम् । पिपठीष्टुमित्यादौ तद्धितनिमित्तकपदसंज्ञाया एव सत्त्वेन रुत्वप्रतिबन्धार्थं स्थानिवत्त्वप्रवृत्तौ वीरिति दीर्घानापत्तेः—इति चेन्न । प्रत्ययविशिष्टपदसंज्ञावच्चरमावयवविधायकातिरिक्तत्वेन संकोचस्य विवक्षणीयत्वात् । वै०—च स्वप्रयोज्यत्व—स्वप्रयोज्यकार्यप्रयोज्यत्वोभयसंबन्धेन । आस्ति च वेतस्वानित्यादौ पदसंज्ञायां इमत्प्रयोज्यत्व—इमत्प्रयोज्याटिलोपप्रयोज्यत्वोभयसंबन्धेन वैशिष्ट्यमिति न दोषः । पिपठीभ्यां पिपठीष्टुमित्यादौ तु पदसंज्ञायां भ्यामप्रयोज्यत्वस्य सत्त्वेऽपि तत्प्रयोज्यकार्यप्रयोज्यत्वस्याभावात्, किंप्रयोज्यातोलोपरूपकार्यप्रयोज्यत्वस्य सत्त्वेऽपि किनिमित्तकत्वस्याभावान्न दोषः । मूलन्तु लोपनिमित्तप्रत्ययनिमित्तकपदसंज्ञावत्परं पदचरमावयवेत्यत्रत्यं पदपदमिति रीत्या योज्यमिति दिक् ।

लोपनिमित्तप्रत्ययनिमित्तकपदसंज्ञावच्चरमावयवविधायकातिरिक्तत्वेन पूर्वत्रासिद्धीये इत्यत्र सङ्कोचे फलमाह *महिष्मानिति* । महि-

जशपदेन “झलां जश् झशि” इत्यस्यैव ग्रहणं, चरुसन्निहितस्यैव ग्रहणौचित्यात् । कार्यकालपक्षे ऽपि त्रिपाधामन्तरङ्गपरिभाषा न प्रवर्तत इति वक्ष्यते इति न तयाऽस्य सिद्धिः । गोचेत्यादौ “गतिकारकोपपदानाम्” इत्यस्यानित्यत्वेन सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव समासः । “उत्तरपदत्वे च” इति प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधश्च प्रत्यासत्त्योत्तरपदस्य कार्यित्वे एवेति न दोषः । पदे इति पदत्वयोग्योपलक्षणं वा । अत्रेदं भाष्यमपि मानम् ।

अत्र पदचरमावयवादिसाधकः प्रतिबन्धकश्च स्थानिवद्भावो निषिध्यते विनिगमनाविरहात् । एतत्सूत्रभाष्यकमेर्णिङित्यादिसूत्रभाष्यैः

स्थानित्यादौ नपदान्तसूत्रेण जश्विधौ स्थानिवत्त्वनिषेधमाशङ्क्याह * “झलां जश् झशि” इत्यस्यैवेति* । ननु अतद्धित इत्यस्यारम्भप्रत्याख्यानयोः फलैक्याय “पदव्यवाये ऽपि” इत्यत्र पदपदं पदत्वयोग्यप्रातिपदिकपरमित्यवश्यं वक्तव्यत्वेन माषकुम्भवापेनेत्यादौ दोषाभावेन उत्तरपदत्वे चेत्यत्र कार्यित्वनिवेशो विफलः । तथाच गोचा इत्यादौ सुबुत्पत्त्यनन्तरं समासेऽपि उत्तरपदत्वे चेति निषेधात्कथं नपदान्तेति निषेध इत्याशङ्क्याह *पदत्वयोग्योपलक्षणं वेति । *साधक इति* । अत्र साधकत्वं साक्षाद्विवाक्षितम् । अत एव वेतस्वानित्यादौ रुत्वशङ्कापरं भाष्यं सङ्गच्छते । अन्यथा भसंज्ञाप्रतिबन्धकस्य तत्प्रतिबन्धद्वारा रुत्वसम्पादनेन परम्परया रुत्वसाधकस्य स्थानिवत्त्वस्याप्यनेन निषेधे तदसङ्गतिः स्पष्टैव । *प्रतिबन्धकश्चेति* । अत्र च प्रतिबन्धकत्वं साक्षात्परम्परया च ग्राह्यम् । अत्रापि वेतस्वानित्यत्र रुत्वशङ्कापरभाष्यमेव मानम् । अन्यथा पदसंज्ञाप्रतिबन्धकस्य तत्प्रतिबन्धद्वारा पदचरमावयवप्रतिबन्धकस्थानिवत्त्वस्यानेन निषेधाभावे पदसंज्ञाया एवाभावेन तदसङ्गतिः स्पष्टैवेति ।

अत्रेदं बोध्यम् । साक्षात्पदचरमावयवसाधकः, परम्परया पदचरमावयवसाधकः, साक्षात्पदचरमावयवप्रतिबन्धकः, परम्परया पदचरमावयवप्रतिबन्धकश्चेति चतुर्विधः स्थानिवद्भावः प्राप्नोति । तत्र द्वितीयं वर्जयित्वा त्रिविधोऽपि स्थानिवद्भावोऽनेन निषिध्यते । तत्र साक्षात्पदचरमावयवसाधकस्थानिवत्त्वनिषेधे सञ्जीव इत्युदाहरणम् । अत्र हि “अचः” इत्यल्लोपस्य स्थानिवद्भावः साक्षात्पदचरमावयवयणसाधकः । साक्षात्पदचरमावयवप्रतिबन्धकस्थानिवत्त्वनिषेधस्य फलम् एषो यन् हसतीति । अत्र इणो यणादेशस्य स्थानिवत्त्वं साक्षात्पदचरमावयवोत्वप्रतिबन्धकम् । ननु पदसंस्कारपक्षे तत्र स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टत्वाभावात्स्थानिवत्त्वाप्राप्तिः । नच देवदत्तस्य नः देवदत्तनः तस्मादाचारकिबन्तात्किपि तस्मादौप्रत्यये देवदत्तन् औ इति स्थिते साक्षात्पदचरमावयवदीर्घप्रतिबन्धकस्थानिवत्त्वस्य निषेधः फलमिति वाच्यम् । दीर्घविधौ तन्निषेधात्, “कौ लुप्तं न स्थानिवत्” इति निषेधाच्च । नच दीर्घपदेन त्रैपादिकदीर्घस्यैव ग्रहणादिदं फलं सम्यगेवेति वाच्यम् । मानाभावात्-इति चेन्मैवम् । यशस्कृत्यस्मादाचारकिबन्तात् “अ-

“पूर्वत्रासिद्धे न स्थानिवत्” इत्यवष्टभ्य वरेयलोपस्वरदीर्घग्रहणवर्जं द्विर्वचनादि प्रत्याख्यातमिति लभ्यते । निषेध इति । द्विर्वचनग्रहणात्पूर्वत्रासिद्धे इति निषेधाद्वेति भावः ।

दकार इति । स्थानत आन्तर्यादिति भावः ।

अदर्शनम् । स्थाने इति वर्तते, प्रसङ्गे सतीति तदर्थस्तदाह प्रसक्तस्येति । शास्त्रतो ऽर्थतो वेति भावः । अत्र दृशिर्ज्ञानसामान्ये । तत्र ज्ञानस्यावर्जनीयत्वेन तत्सामान्यन्तर्गता उच्चारणकृता सत्ता निषिद्ध्यते । तत्र प्रत्ययलोपे शास्त्रतो ऽर्थतश्च प्रसक्तोच्चारणस्य लोपविधानेन तस्य तस्मिन् विषये ऽनुत्पत्तेरेवान्वाख्यानं प्रत्ययलक्षणार्थमिति बोद्धव्यम् । अर्थस्यैषा सज्ज्ञा व्याख्यानात् । यत्तु “प्रसक्तस्येति किं ग्रामेतिष्ठतीत्यादौ

प्रत्ययात्” इत्यनेन अप्रत्यये गुणे तस्य स्थानिवद्भावः साक्षात्पदचरमावयवोत्वप्रतिबन्धक इति यशोऽरा इति फलस्य विवक्षणेनादोषात् । परम्परया पदचरमावयवप्रतिबन्धकस्थानिवत्त्वनिषेधस्य फलं दध्यारः दध्यर्च इति । अत्र हि “कर्मण्यण्” इति अण्निमित्तकवृद्धिगुणयोः स्थानिवद्भावः “ऋत्यक्” इति प्रकृतिभावसम्पादनद्वारा यण्प्रतिबन्धकः । परम्परया पदचरमावयवसाधकस्थानिवत्त्वस्य निषेधो न भवतीत्यस्य फलं षडिक इति । अत्र हि भसंज्ञाप्रतिबन्धार्थं स्थानिवद्भावः पदसंज्ञासम्पादनद्वारा पदचरमावयवरूपसम्पादकः । नच “पूर्वत्रासिद्धीये न” इति निषेधः शङ्क्यः । प्रत्ययविशिष्टपदसंज्ञावच्चरमावयवविधायकातिरिक्तत्वेन सङ्कोचस्योक्तत्वात् । नचैवमपि वागाशीर्दत्तो वाचिक इत्यादौ जश्त्वापत्तिरिति वाच्यम् । “एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो वक्तव्यः” इति आशीर्दत्तशब्दस्य लोपेनादोषात् । षडिक इत्यादौ ‘षष्ठ्याजादिवचनात्सिद्धम्’ इति झुलिदत्तस्य लोप इति जश्त्वम्भवत्येवेति दिक् ।

दीर्घग्रहणवर्जमिति । नच जनावित्यादौ दीर्घविधौ स्थानिवद्भावनिषेधात् “सर्वनामस्थाने च” इति दीर्घापत्तिरिति वाच्यम् । श्रायसावित्यत्रेवाङ्गसंज्ञाप्रतिबन्धार्थं स्थानिवत्त्वेन नान्ताङ्गाभावेन दीर्घाप्राप्तेः । “स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाज्जादेश एव न स्थानिवत्” इति प्रतिप्रसववार्त्तिकान्ना । अत एव ण्यन्ताण्यौ अहीडि इत्यादौ “चिण्णमुलोः” इति दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवत्त्वं नेति दिक् ।

सत्ता निषिद्ध्यते इति । यस्तुतस्तु उच्चारणाभाव एव अदर्शनपदार्थः । सत्ताया अवर्जनीयत्वात् । *अनुत्पत्तेरेवान्वाख्यानमिति* । नचाऽकृतेत्यादौ “ह्रस्वादङ्गात्” इति सिचो लोपे च्लेः श्रवणापत्तिरिति वाच्यम् । “च्लेः सिच्” इत्यस्य च्लित्वावच्छिन्नस्य स्थाने झलादिप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टं यत् ह्रस्वान्तमङ्गं तदव्यवहितोत्तरत्वाभाववान् सिचत्वावच्छिन्नो भवतीत्यर्थात् । ह्रस्वाद-

“ल्यबलोपे” इति पञ्चम्यापत्तेः । अस्ति चात्र ल्यपो ऽदर्शनम् । शास्त्रतो ऽर्थतश्च न तत्प्रसक्तिरिति न दोषः” इति, तन्न । तेन प्रत्यासत्त्या ल्यवन्तार्थकर्माधिकरणयोरेव पञ्चमीविधानेन तस्यात्राप्राप्तेः । तच्चे तु अस्त्येवार्थतो ल्यवन्तस्य प्रसक्तिः । तस्मात् त्रपु इत्यत्र क्पिपो ऽदर्शनसत्त्वेन प्रत्ययलक्षणेन तुगापत्तिर्दोषः । कृत्प्रत्ययेन प्रकृत्याक्षेपस्तु न । अत्रैव प्रकृतिं विना ऽतिदेशतः प्रत्ययज्ञानसत्त्वेन व्यभिचारात्तदाक्षेपासंभवात् ।

इति पक्षे इति । विनिगमनाविरहादिति भावः । द्वित्वस्य त्रैपादिकत्वात्तत्र न यणो वहिरङ्गासिद्धत्वम् । अत एव दृढ्यत्रेति भाष्ये उदाहृतम् । धकारयकारयोरिति । तेन विसर्गादिद्वित्वेनाऽऽधिक्ये ऽपि न क्षतिः । द्विधमिति । द्वित्वं प्रक्रियायां बोध्यम् । “एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो न द्वितीयस्या भविष्यति” इति “कृश्चानुप्रयुज्यते” इति सूत्रभाष्योक्तन्यायेनैकस्य द्वित्वे परस्य तदभावो ऽनुचित इति न वाच्यम् । सार्थकानेकविषये तन्न्यायाङ्गीकारात् । यत्रान्याकृतिकरणे भिन्नार्थत्वसंभावना तद्विषयत्वाच्च । “हलो यमाम्” इति लोपे द्वित्वाभावे चैकमेव रूपम् ।

नादिन्या । “यरो ऽनुनासिके” इत्यतो यर इति वर्त्तते । पुत्रशब्दस्येत्यवयवषष्ठी । आदिनीशब्दे परे इति च प्राधान्याद् यर एव विशेषणम् । सूत्रे आदिनीति ङ्यन्तानुकरणं लुप्तसप्तमीकम् । अत एव “तत्परे च” इत्यस्याऽऽदिनीशब्दो यस्मात्परस्तत्र परे इत्यर्थं हरदत्तो व्याख्यत् । अद्धातौ माधवो ऽप्येवमेव । ईदृशाक्रोशस्य स्त्रीष्वेव दर्शनाच्च । आक्रोशो निन्दा-तदाह पुत्रादिनीति । तादृशाक्रोशस्य स्त्रीष्वेव दर्शनादाह पुत्रहतीति ।

ङादिति च तात्पर्यग्राहकमिति प्रागेवाबोचाम । वस्तुतस्तु भावरूपादेश इव अभावरूपादेशोऽपि स्थानिघटितेऽसाधुत्वं आदेशघटिते साधुत्वमित्यन्यत्र विस्तरः । *त्रपु इत्यत्रेति* । नच प्रत्ययलक्षणेन पितृद्वुद्धावपि ह्रस्वान्ततदादित्वाभावात्कथं तुगापत्तिरिति वाच्यम् । लिट्त्रपु इत्यादौ प्रत्ययलक्षणेन कृत्परत्वस्य स्वतश्च पितृस्मिन्नपिततदादित्वस्य च सत्त्वेन प्रसक्तस्येतिपदाभावे तुगापत्तेः । मूलं तु लिट्त्रपु इत्यादेरुपलक्षणमिति योजनीयम् । *विनिगमनाविरहादिति* । चिन्त्यमिदम् । विनिगमनाविरहेण तात्पर्यानिर्णये शाब्दबोधस्यैवानुत्पत्तेः । किन्तु भाष्ये उभयथा व्याख्याकरणेन आवृत्त्याऽर्थद्वयं स्वीक्रियते इति बोध्यम् । ननु पूर्वधस्य जश्त्वेन दकारे द्विधमित्यनुपपन्नमित्यत आह *प्रक्रियायां बोध्यमिति* । *तद्विषयत्वाच्चेति* । चो हेतौ । यतो ऽन्याकृतिकरणे भिन्नार्थत्वसंभावनाविषयोऽयं न्यायो ऽतः सार्थकानेकव्यक्तिविषयोऽयं न्याय इति भावः ।

अनचि चेति सिद्धे पुत्रस्य क्तान्ते चेद्धतजग्धयोरेव, आक्रोशे एवेति नियमार्थमिदम् ।

संयुक्तोऽपि । “त्रिप्रभृतिषु” इति सूत्रे वर्णानां सजातीयानामेव ग्रहणं परस्परसाहचर्यात् । न च तथाऽचः संभवति । अत एव “अचो रहाभ्याम्” इति सार्थकम् । निर्धारणे सप्तमी, अच इत्यनुवर्तते, त्रिप्रभृतिसंयुक्तवर्णमध्ये ऽचः परस्य यरो द्वे वा न स्त इत्यर्थः । तेनेन्द्रः राष्ट्रमित्यत्र नकारषकारयोः प्राप्तद्वित्वस्यैव निषेधविकल्पः । “अनचि च” “सर्वत्रशाकल्यस्य” इत्येव सिद्धे इदं सूत्रद्वयं विकल्पस्य मतभेदप्राप्तव्यवस्थाबोधनार्थमिति बोध्यम् । “यरो ऽनुनासिके” इत्यतो वेत्यनुवृत्त्या ऽनचीत्येव सिद्धे तु सूत्रत्रयमपि तथेति बोध्यम् ।

अचो र । अच इति श्रुतत्वाद्वाख्यानाच्च रहाभ्यां संबध्यते । “तस्मादित्युत्तरस्य” इत्येतल्लभ्यमाह अचः पराभ्यामिति । वा यमीति । “झयो ह” इत्यतो ऽन्यतरस्यामित्यनुवृत्तेरिति भावः । “दीर्घादाचार्याणाम्” इत्युत्तरम् “अनुस्वारस्य ययि” “वा पदान्तस्य” “तोलिं” “उदःस्था” “झयो हो” “शस्त्रोऽटि” इति षट्सूत्रीपाठोत्तरं “झलां जश् झशि” “अभ्यासे चर्च” “खरि च” “वाऽवसाने” “अणो ऽप्रगृह्यस्य” इति पञ्चसूत्र्याः पाठ इति भाष्यसंमताष्टाध्यायीपाठे तु वाऽवसाने इत्यतो ऽनुवृत्तिर्बोद्ध्या । स्पष्टश्चास्य वैकल्पिकत्वं लप्सूत्रे भाष्ये । आदित्य इति । आदित्यशब्दाच्छेषार्थपण्यान्ताद्देवतार्थे ण्यः । “यस्येति च” इत्यल्लोपे ऽनेन यलोपः । “आपत्यस्य” इति तु न । आपत्यत्वाभावात् । हल इति किम् । शय्या । यमामिति किम् । आध्नोत् । यमीति किम् । रामाभ्याम् ।

अचो रहाभ्यामिति सार्थकमिति । नचाग्रे त्रिप्रभृतिवर्णमध्ये ऽचः परस्य यरो द्वे वा न स्त इति वक्ष्यमाणत्वेन “अचो रहाभ्याम्” इत्यनेन चाऽचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वित्वविधानेनोभयोरेकविषयत्वाभावेन सजातीयत्रिप्रभृतिवर्णाग्रहणेऽपि न “अचो रहाभ्याम्” इत्यस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । “नेमौ रहौ कार्थिणौ किन्तर्हि निमित्तं द्विर्वचनस्य” इति भाष्यप्रामाण्येन निमित्तविषयत्वेतरद्विर्वचनीयविषयताश्रयत्वेन ग्रहणे कर्तव्ये रेफस्याविद्यमानवद्भावेनोभयोरेकविषयत्वसत्त्वेनादोषात् । *भाष्यसंमताष्टाध्यायीपाठ इति* । अत एव उत्तकन्दो रोग इत्यादौ “उदः स्थास्तम्भोः” इति सूत्रस्थेन “उत्पूर्वस्कन्देरुपसंख्यानम्” इति वार्तिकेन पूर्वसवर्णे “खरि च” इति चत्वंसिद्धिः । अन्यथा चत्वं प्रति यस्यासिद्धत्वात्तद् दुर्लभमिति बोध्यम् । *शेषार्थपण्यान्ता-

एचौ ऽय । “इचोऽचि यणयवायावः” “अवावौ यि प्रत्यये” इति सूत्रयितुमुचितामित्याहुः । यथासंख्यसूत्रलब्धमर्थमाह । क्रमादिति । उदा-
त्तादिगुणयुक्तानामन्यगुणकव्यावृत्तिस्तु स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया बोद्ध्या ।
एतदेवाभिप्रेत्य यथासंख्यसूत्रे भाष्ये प्रकृतसूत्रे स्थानेऽन्तरतमसूत्रेण व्यव-
स्थोक्ता “संवृतावर्णस्य संवृतावर्णो विवृतावर्णस्य विवृतावर्ण” इति । एतद्भा-
ष्यप्रामाण्येन एओइत्यनयोस्त्वेकारांशे संवृतत्वम् इतरांशे विवृततत्त्वं, तदुप-
रागाच्च न संवृतत्वस्य पृथग् ग्रहणम् । ऐऔ इत्यनयोस्त्वेकारांशे ऽपि वि-
वृतत्वमेवेति बोद्धव्यम् ।

तस्य लो । “उपदेशे ऽज्” इत्यत इदित्यनुवृत्त्या विभक्तिविपरिणा-
मेन च सिद्धौ तस्यग्रहणं सर्वलोपार्थम् । तेन बिदुडूनामन्त्यस्य लोपो
न । “नाऽनर्थके” इति परिभाषा तु भाष्ये प्रत्याख्यातैवेति दिक् । न
भवतीति । फलाभावादिति भावः ।

वान्तो । “येन विधिः” इत्यस्यापवादभूतया “तस्मान्नुडाचि” इत्याद्यर्थमा-

दिति* । अपत्यार्थण्यन्तादेवतार्थे ण्ये “आपत्यस्य” इति यलोपे स्वतो द्विय-
कारकत्वं दुर्लभमिति भावः । *संवृतावर्णस्य संवृतावर्ण इति* । तालु-
स्थानिकघटितसंवृतावर्णघटितस्य तालुस्थानिकघटितसंवृतावर्णघटितः, ओ-
ष्ठस्थानिकघटितसंवृतावर्णघटितस्य ओष्ठस्थानिकघटितसंवृतावर्णघटित इत्य-
र्थः । एवं “विवृतावर्णस्य विवृतावर्ण” इत्यस्य तालुस्थानिकघटितविवृतावर्णघ-
टितस्य तालुस्थानिकघटितविवृतावर्णघटितः, ओष्ठस्थानिकघटितविवृताव-
र्णघटितस्य ओष्ठस्थानिकघटितविवृतावर्णघटित इत्यर्थः । यथाश्रुतं तु न
युक्तम् । विवृतावर्णघटितत्वादौ स्वेतरयावदादेशावृत्तित्वस्याभावेन स्था-
नेऽन्तरतमसूत्रोक्ताऽऽन्तरतम्यस्यासम्भवात् । नच “अ अ” इतिसूत्रविधि-
तसंवृतस्यासिद्धत्वेन संवृतावर्णस्य संवृतावर्ण इत्याद्यसङ्गतमिति वाच्य-
म् । संवृतस्यासिद्धत्वेऽपि संवृतप्रयत्नजन्यत्वस्यासिद्धत्वाभावात् संवृतप्रयत्नज-
न्यत्वविशिष्टघटिततालुस्थानजन्यघटितस्य संवृतप्रयत्नजन्यत्वविशिष्टघटित-
तालुस्थानजन्यघटित आदेशो भवतीत्यादिक्रमेणार्थेनादोषात् ।

तस्मान्नुडचीत्याद्यर्थमावश्यकयेति । यत्तु यान्तप्रत्ययासम्भवादेव यादौ
प्रत्यये इत्यर्थो भविष्यतीति तस्मान्नुडचीत्याद्यर्थमावश्यकयेत्युक्तमिति, तन्न ।
गोमयमततीति गोमयात् तस्माणिचि टिलोपे लटि गोमययतीत्यादौ यान्तप्रत्य-
यसम्भवात् ।

यदपि प्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टौ यकाराव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टौ
न यावदौतौ तत्रोत्पत्तिरिति सूत्रार्थ इति नात्र परिभाषाऽऽवश्यकत्वमिति, तद्-

वश्यकया वाचनिकया “यस्मिन्विधिस्तदादावग्रहणे” इति वार्त्तिककृदुक्तपरिभाषया लब्धमर्थमाह । यकारादाविति । ओदौतोरिति । “ओदौतोरिति वक्तव्यम्” इतिवार्त्तिकमूलाभ्याख्यानादिति भावः । “पूर्वसूत्रे वान्तौ प्रति तयोरेव स्थानित्वनिर्णयात्” इति स्थानेऽन्तरतमसूत्रस्थकैयटोक्तं तु न युक्तम् । वान्तज्ञानाय सूत्रपर्यालोचनस्याऽऽवश्यकत्वेऽपि तद्वाक्यार्थपर्यालोचने मानाभावात् । यथासंख्यसूत्रसहकारेण बोधोत्तरं तयोस्तत्त्वनिर्णयात् । अन्तरतमपरिभाषया निर्वाहे तु लक्ष्यपर्यालोचनकाले तन्निर्णयः । अत एव “पूर्वसूत्रे स्थानिविशेषलाभो यथासंख्यसंबन्धात्, इह तु निमित्ता-

पि न । भानो यातीत्यादौ प्रत्ययलक्षणेन प्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वस्य स्वतश्च यकाराव्यवहितपूर्वत्वस्य सत्त्वेनावदेशापत्तेः ।

यदपि सर्वत्र वैयधिकरण्यान्वयेनोपपत्तौ इयं परिभाषैव नाऽऽवश्यकीति, तदपि न । सम्भवति सामानाधिकरण्येनान्वये वैयधिकरण्यान्वयस्यान्याय्यत्वात् । उद्भूगोयुगमित्यादौ अवादेशस्य परमकाव इत्यादौ “कोः कत्तत्पुरुषेऽचि” इति कदादेशस्य चाऽऽपत्तेश्च । परमकाव इति तु कुत्सितः उः कूः तस्मादणि तदन्तेन परमशब्देन समासे बोध्यम् ।

वस्तुतस्तु गव्युगजिति वक्तव्ये ओकारोच्चारणान्नोद्भूगोयुगमित्यत्राऽवादेशापत्तिः । नचोद्भूगोयुगमततीत्युद्भूगोयुगात् तस्माणिजन्ताणिचि टिलोपयोस्ततः किपि यलोपे तच्चरितार्थमिति वाच्यम् । इदुदुपथेभ्य आचक्षाणणिचोऽनभिधानेनैतादृशरूपस्यैवाभावात् । कोः कदिति सूत्रे रथादिसाहचर्येण कुशब्दाघटितस्यैवोत्तरपदस्य ग्रहणेन परमकाव इत्यत्रापि न दोष इति दिक् ।

वाचनिकयेति । भाष्ये वचनरूपेण पठितयेत्यर्थः । अत्र “न ल्यपि” इति, कोः कत्तत्पुरुषे इत्येव सिद्धे रथवदयोश्चेति, अनेकवचने झल्येदित्येव सिद्धे बहुवचने झल्येत् ओसि चेति सूत्रद्वयकरणञ्च ज्ञापकमित्यन्यत्र विस्तरः ।

परिभाषयेति । तदर्थस्तु अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वेन सम्भावितमल्मात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकं सप्तम्यन्तं पदं स्वबोध्यार्थनिष्ठाऽऽद्यव्यवतानिरूपकसमुदायस्य संज्ञा भवतीति ।

बोधोत्तरमिति । वस्तुतस्तु “एचोऽयवायावः” इत्यादेर्यथासंख्यसूत्रसहकारेण स्वस्थानिकत्वम्—स्वविशेष्यकापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतासजातीयापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतावत्त्वम् एतदुभयसम्बन्धेन एचोऽयादिषु सम्बन्धः । विषयतासजात्यं च विषयतायां स्वनिरूपकापेक्षाबुद्धिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकसंख्यात्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकत्वम्—स्वनिरूपकापेक्षाबुद्धयैकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितधर्मितात्वैकत्वावच्छिन्नधर्मितात्वैतदन्यतरवत्त्वम् एतदुभयधर्मेण इति पुनर्यथासंख्यसूत्रसहकारेण बोधान्तरस्य नापेक्षेति चिन्त्यमेतत् । नच सहविवक्षाया अभावात् द्वन्द्वासाधुत्वमिति वाच्यम् । एकरूपावच्छिन्नस्यैकरूपावच्छिन्न-

भावात्तल्लाभाभावः” इति षष्ठे प्रकृतसूत्रे कैयटः । गव्यमिति । भत्वाद्दलोपो न । यीति किम् । गोभ्याम् । प्रत्यये किम् । गोयानम् ।

ननु गव्यतिरित्यत्र वस्य “हलि सर्वेषाम्” इति “लोपः शाकल्यस्य” इति वा लोपः स्यादत आह वान्त इत्यत्रेति । न च विशेषविहितेन कार्यित्वेन लोपे वस्य निमित्तत्वबाध इति वाच्यम् । निमित्तत्वानाक्रान्ते विषये कार्यित्वस्य चारिताथ्यात् । तक्रकौण्डिन्यन्यायश्चानवकाशविषयो विधेयविषयश्चेति स्पष्टं तद्धितेष्वचामिति सूत्रे यङ्विधायके च भाष्ये । अन्त्ये “उत्तरयोर्विग्रहेण विशेषासंप्रत्ययाभित्यग्रहणानर्थक्यं क्रियासमभिहारे च नैतेभ्यो यङ्गा भवितव्यम्” इति भाष्ये चेन विशेषासंप्रत्यादित्यनुकृष्यते । अन्यथा तक्रकौण्डिन्यन्यायेन सिद्धे विशेषासंप्रत्ययादित्यनुकर्षकचकारवैयर्थ्यापत्तिः । निरूपयिष्यते चेदं यङन्ते । तस्य च वार्तिके ऽनुवृत्त्या यूतौ श्रूयमाणवकारान्त आदेश इत्यर्थः । सूत्रे तु न फलं, गव्यादौ भत्वेन वान्तस्य पदत्वाभावात्; लव्ये स्वत एव तदभावात् लोपापत्तेः । गोशब्दादिभ्यः क्यजादावपि “नः क्ये” इति नियमेन पूर्वस्य पदत्वाभावात् । एवं तर्हि वार्तिके एव प्रश्लेष उचित इत्याशयेनाह छकाराद्धेति । लोपो व्योरिति सूत्रे वकारप्रत्याख्यानं तु लौकिकोदाहरणाभावेन तदर्थतया बोध्यम् । अत एव “इको गुण” इति सूत्रे “अतो ल्रान्तस्य” इत्यत्र लुप्तनिर्दिष्टो वकार इत्युक्तं भाष्ये । शास्त्रीयसौत्रप्रयोगार्थं तदिति तदाशयः । न चैवं विष्णवे इत्यादौ तस्य लोप इति

संसर्गेण एकरूपावच्छिन्ने ऽन्वयसत्त्वेन तस्याः सत्त्वात् । *प्रकृतसूत्रे कैयट इति* । एवञ्च पूर्वपरविरुद्धत्वात् पूर्वकैयटाश्चिन्त्य इति भावः । “हलि सर्वेषाम्” इत्यत्र यकारस्यैवानुवृत्तिमभिप्रेत्याह *लोपः शाकल्यस्येति वेति* ।

कार्यित्वस्य चारिताथ्यादिति । वस्तुतस्तु विषयतयोर्यत्र व्याप्यव्यापकभावस्तत्रैव तक्रन्यायप्रवृत्तौ वल्पदप्रयोज्यानिमित्तविषयतायाः व्योरित्येतत्प्रयोज्यस्थानितायाश्च सामानाधिकरण्यस्यैव दुरुपपादत्वेन नात्र तक्रन्यायविषय इति लेखनीयम् । *विधेयविषयश्चेति* । विभिन्नविभिन्नविधेयतानिरूपितोद्देश्यदलीयविषयतयोर्यत्र व्याप्यव्यापकभावस्तद्विषय इत्यर्थः । अथवा विधेयतयोर्यत्र व्याप्यव्यापकभावस्तद्विषय इत्यर्थः । व्याप्यतावच्छेदको व्यापकतावच्छेदकश्च सम्बन्धः उद्देश्योद्देश्यतावच्छेदकादेर्विधेयेन साकं यः सम्बन्धः तत्तुल्यवित्तिवेद्यसम्बन्धो बोध्य इत्यन्यत्र विस्तरः ।

दुर्वारं, गव्यूताबुच्चारणस्य चारिताभ्यादिति वाच्यम् । “गन्वि च युक्ते” इत्यादिनिर्देशैर्वारणात् ।

परे तु सा पूर्वपक्षयुक्तिरिति न वकारप्रश्लेषो लोपेनोचितः । किञ्च छन्दसि सर्वविधीनां व्यवस्थितत्वान्न वलोपप्रसक्तिस्तत्रत्ये गव्यूतौ । अध्वपरिमाणे ऽपि सञ्ज्ञाशब्दो ऽयम्, तत्र सञ्ज्ञात्वभङ्गापत्तेर्न वलोपः । यथा रघुनाथेति सञ्ज्ञाशब्दे नित्यस्यापि णत्वस्याभावः, सर्वनामशब्दे णत्वाऽऽशङ्का तु तस्य सञ्ज्ञविशेषे आधुनिकविनियोगात् शास्त्रानुसारिशब्दस्यैव विनियोग उचित इत्यभिप्रायेण । निरूपितश्चैतत्सर्वादिसूत्रे भाष्यप्रदीपोद्घोते इत्याहुः । निरूपयिष्यते चेदं “पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्” इति सूत्रे ।

धातोस्त । धातोरित्यस्याभावे प्रातिपदिकमात्रविषयो नियमः

अत्रेदं तत्त्वम् । एकविनियोगोद्देशेन प्रयुक्तवाक्यकदम्बघटकव्यापकधर्मावच्छिन्नबोधकपदप्रतिपाद्यतावच्छेदकावच्छिन्ने तद्वाक्यकदम्बघटकव्याप्यधर्मावच्छिन्नबोधकपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सङ्कोचो भवतीत्येतत्तात्पर्यग्राहकेण धर्मयोर्यत्र व्याप्यव्यापकभावस्तद्विषयेण मादरपरिवेषणन्यायेन कार्यित्वेन निमित्तत्वबाधः कस्मान्नेति शङ्कितुं युक्तम् । समाधानन्तु तस्यानित्यत्वम्, विभिन्नवाक्यघटकपदप्रतिपाद्यतावच्छेदकधर्मयोर्यत्र व्याप्यव्यापकभावस्तद्विषयोऽयं न्याय इति वा वक्तुं युक्तमिति दिक् ।

संज्ञात्वभङ्गापत्तेरिति । नच “पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्” इत्यस्य कृतणत्वेन यत्र संज्ञात्वाऽवगमस्तत्रैव णत्वमित्यर्थेन संज्ञात्वभङ्गमिया रघुनाथादिशब्दे णत्वाभावे ऽपि हलि सर्वेषां लोपः शाकल्यस्येत्यत्र संज्ञायामित्यस्याभावेन निरुक्तार्थालाभाद्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्येण लौकिकगव्यूतौ लोपो दुर्वार इति वाच्यम् । अध्वपरिमाणबोधकत्वमुपजीव्य प्रवृत्तस्यावादेशस्य अध्वपरिमाणबोधकत्वविघातकलोपप्रवृत्तिं प्रत्यनिमित्तत्वेन सञ्ज्ञिपातपरिभाषया लोपाप्राप्त्या वकारप्रश्लेषो व्यर्थ इत्यदोषात् । त्रिपाद्यां सञ्ज्ञिपातपरिभाषया अप्रवृत्त्या लोपो व्योरिति लोपेन वकारप्रश्लेष आवश्यक एवेति परे । आत्थेत्यादौ कृते यत्त्वे ईडादिवारणाय त्रिपाद्यमपि क्वचित् तस्याः प्रवृत्तिरित्यन्ये ।

धातोस्तान्निमित्तस्यैव । नच “न यकि” इत्येव सूत्रमस्त्विति वाच्यम् । भूधातोर्विचि तस्माद्धितार्थे यति भोयमित्यादौ वान्तादेशापत्तेः । *प्रातिपदिकविषयो नियमः स्यादिति* । स्यादेतत् । नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकं नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं च यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने सङ्कोचो भवति इति सिद्धान्तः । तथाच प्रातिपदिकमात्रविषय इति ग्रन्थेन यकारादिप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टप्रातिपदिकावयवैक्यं सङ्कोच्यतावच्छेदकमिति लभ्यते । नच यकारादिप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टधात्ववयवैः

स्यात्तथा च गव्यमित्यत्र न स्यात्, ओयते इत्यत्र च स्यात् । तदभावे सामान्यतोऽनियमापादनन्तु योगविभागैवकारवैयर्थ्यापत्तेरयुक्तम् । तन्निमित्तस्य चेद्धातोरेवेति नियमे बाध्नव्यासिद्धेस्तद्वारणायैवकारः । लव्यमित्यादि । अत्र गुणवृद्धोर्येण्यन्निमित्तकत्वेनैवो यादिप्रत्ययनिमित्तकता । तन्निमित्तस्येति किमिति । सूत्रमेव किमर्थमिति प्रश्नः । ओयत इति । वेणः कर्मणि लटि यकि यजादित्वात्संप्रसारणे ऽकृत्सार्वेति दीर्घे आडा सहाऽऽगुणः । नधातुलोपसूत्रभाष्यरीत्या बहिर्भूतधातुपसर्गकार्यस्य बहिरङ्गत्वाद्धान्तादेशे गुणोऽसिद्ध इत्यरुचेराह । औयतेति । तस्मादेव कर्मणि लङि अडागमे वृद्धिः पूर्ववत् ।

क्षय्यज । क्षि क्षये, जि जये, इत्यनयोरेव ग्रहणं न तु क्षीष् हिंसायाम्, क्षै ज क्षये, इत्यनयोर्व्याख्यानात् । अत एव “क्षिज्योरेवैचः” इति भाष्ये उक्तम् । तस्मै प्रेति । क्रयार्थे वस्तुनि क्रय्य इति निपात्यते इत्यर्थो, व्याख्यानात् गुणभूतस्यापि तदा परामर्शः । क्रयार्थत्वश्च फलोपधानरूपं, तदर्थ इति विशेषणात्तदाह क्रेतार इति । योग्यतामात्रग्रहणे त्वव्यावर्त्तकं तत्स्यादिति भावः । के चित्तु स्वीयं धान्यादि दत्त्वा यत्र तन्मूल्यग्रहणं तत्र धान्यं क्रय्यम् । यत्र तु स्वयं द्रव्यं दत्त्वा परकीयधान्यादिग्रहणं तत्र धान्यं क्रेयम् । द्रव्ये तु न क्रय्यत्वं नापि क्रेयत्वं किं तु धान्यादेरेव शक्तिस्वभावात् । भाष्यस्वरसो ऽप्येवमेवेत्याहुः ।

त्वं सङ्कोच्यतावच्छेदकं कस्मान्नेति वाच्यम् । बाध्नव्यादौ व्यभिचारेण निरुक्तरूपे नियामकशालीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकत्वाभावात् । एवं च “वान्तो यि प्रत्यये” इत्यत्र तद्रूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सङ्कोचे वान्तोयीति सूत्रमेव व्यर्थं स्यादिति चेन्नैवम् । ओयते औयतेत्यत्र वान्तादेशार्थं तच्चारितार्थ्येनादोषात् । नचैवमपि धातुग्रहणसत्त्वे धातोरेचञ्चोदित्यादिमूलग्रन्थतः धात्ववयवत्वविशिष्ट्यादिप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टत्वावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सङ्कोच इति फलति, तथाच गव्यतीत्यादौ वान्तादेशानापत्तिरिति वाच्यम् । यादिप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टैजन्तधातोश्चेत्तर्हि तन्निमित्तस्येवेति नियमस्वीकारेणादोषात् । नच तथासति एजन्तस्थाने वान्तादेशापत्तिः । निर्दिश्यमानपरिभाषया वारणात् । *इत्यरुचेराहेति* । वस्तुतस्तु “नाजानन्तर्ये” इति निषेधादियमवचिरसङ्गतेति केचित् ।

द्रव्ये तु न क्रय्यत्वं नापि क्रेयत्वमिति । वस्तुतस्तु द्रव्येऽपि क्रय्यत्वं क्रेयत्वव्यवहारोऽस्त्येव । अत एव लोके आपणे प्रसारिताः पणाः क्रय्या विक्रेतुः, क्रेतुश्च क्रेया इति लोके व्यवहारो दृश्यते । एवं रजतसुवर्णादावपि । अत एव केचित्त्वित्युक्तम् ।

लोपः शा । भोभगोअघोअपूर्वस्येत्यशीति चानुवर्त्तते, तत्रौकारान्ते-
ष्वोतो गार्ग्यस्येति बाधकमित्याशयेनाह । अवर्णपूर्वयोरिति । व्योरि-
त्यनुवृत्तावपि वर्णसमाम्नाये यकारस्य प्राक्पाठात्तत्क्रमेणाह । यवयोरि-
ति । “स तस्मा आचष्ट” इत्यादिभाष्यप्रयोगादत्र रोरित्यस्यासंबन्धः ।
इदं सूत्रं लघुप्रयत्ने न । शाकटायनमते तयोर्विधानेन शाकल्यमते
तदभावात् । अवर्णेति किम् । गौर्यत्र । पदान्तयोः किम् । हरये ।

अशि किम् । वृक्षं वेतीति वृक्षवीः किप् तमाचष्टे इति ण्यन्ताद्विच् ।
वृक्षव् करोति । किपि तूट् स्यात् । विज्जिमित्तको लोपो व्योरिति लोपस्तु
न । णिलोपटिलोपयोः स्थानिवच्चात् । प्रातिपदिकाणि जुत्पत्त्या पदत्वा-
भावेन परपदस्थाज्जादेशाभावेन च लोपस्य पदचरमावयवत्वाभावेन च “न
पदान्त” इति निषेधाप्रवृत्तेः । एतेन वनिमित्तको वलोपो ऽत्र दुर्वार इत्यपास्त-
म् । किं च स्थानिवच्चाविषेधं विनाऽस्य पदान्तत्वासिद्ध्याऽत्र निषेधाप्रवृ-
त्तिः । स्थानिवच्चाविषेधज्ञाने पदान्तत्वज्ञानं तन्निर्णये च स्थानिवच्चाभाव-
ज्ञानमित्यन्योन्याश्रयस्तत्राप्रवृत्तौ मानम् । इदञ्च नपदान्तसूत्रे भाष्ये स्पष्ट-
म् । न च पदसञ्ज्ञायां टिलोपस्य स्थानिवच्चाद्वस्य पदान्तत्वमेव नास्ती-
त्यशीति व्यर्थमिति वाच्यम् । पूर्वत्रासिद्धीय इति निषेधात् । साक्षात्पदत्वा-
दिद्वारकपरम्परया वा पूर्वत्रासिद्धीयप्रापकस्य तत्प्रतिबन्धकस्य वा ऽतिदे-
शस्य तेन निषेधादिति केचित् ।

शाकटायनमते इति । अयं भावः । ऋषिविशेषघटितशास्त्रबो-
धितं साधुत्वं ऋषिविशेषो न जानाति, सामान्यतो बोधितं साधुत्वं
सर्वे एव जानन्ति । तथा च व्योर्लोष्विति शास्त्रबोधितं साधुत्वं शा-
कल्यो न जानातीति तयोर्लोपो न । *एतेनेति* । णिलोपटिलो-
पयोः स्थानिवच्चेनेत्यर्थः ।

निषेधादिति । साक्षात्पूर्वत्रासिद्धीयसाधकस्य, परम्परया पूर्व-
त्रासिद्धीयसाधकस्य, साक्षात्पूर्वत्रासिद्धीयप्रतिबन्धकस्य, परम्परया पूर्वत्रासि-
द्धीयप्रतिबन्धकस्य च स्थानिवच्चावस्थानेन निषेधः । तत्र साक्षात्साधकस्यो-
दाहरणम् । किमु सन्ति । अत्र “इनसोरल्लोपः” इत्यल्लोपस्य स्थानिवच्चाव-
पूर्वत्रासिद्धीयस्य “मय उजो वो वा” इति वत्वस्य साक्षात्साधकः । एवं वृक्षस्य
वः वृक्षवः तस्मात् ण्यन्ताद्विचि वृक्षव् इत्यत्र णिलोपटिलोपयोः स्थानिवच्चाव-
साक्षात्पूर्वत्रासिद्धीयस्य लोपः शाकल्यस्येति वलोपस्य साधकः । परम्प-
रया पूर्वत्रासिद्धीयसाधकस्योदाहरणं पिपटीस्तत्रेति । अल्लोपस्य स्थानिवच्चाव-
पदसञ्ज्ञाप्रतिबन्धद्वारा वत्वसाधकः । साक्षात्प्रतिबन्धकस्योदाहरणं राक्ष इति ।

परे तु “न पदान्ता हलो ऽणः सन्ति” इति लणसूत्रस्थ-
भाष्याद् वृक्षवादेरनभिधानमेव । भोभगो इति सूत्रे ऽग्रहण-
मनर्थकमन्यत्राभावादिति वार्त्तिकञ्च । अशो ऽन्यत्र तन्निमित्तकार्यिणो
ऽभावादिति तदर्थः । न ह्यन्यत्र रुरस्तीति तद्व्याख्यानभाष्ये रुग्रहणमुप-
लक्षणम् । एतदाशयमजानानैकदेशिना “उत्तरार्थं हलि सर्वेषामिति वृक्षव् क-
रोतीत्यत्र मा भूत्” इत्युक्तम् । अस्य चैकदेश्युक्तित्वं लणसूत्रस्थोक्तभाष्यवि-
रोधेन स्पष्टमेव कैयटेनोक्तम् । अत एव भाष्ये उत्तरार्थमित्युक्त्वा हलि
सर्वेषामित्यत्रैव प्रयोजनमुक्तम् । हलि सर्वेषामित्यत्र वकारनिवृत्त्यैवात्र तद्वा-
रणसंभवान्न तत्राप्यग्रहणस्य प्रयोजनमिति तद्भाष्यमेकदेश्युक्तिरेवेत्याहुः ।

कानि सन्तीति । वाक्यसंस्कारपक्षे ऽपि पूर्वोपस्थितनिमित्त-
कत्वरूपान्तरङ्गत्वमादायान्तरङ्गाणां पूर्वं प्रवृत्तिरितीकारादेः स्थानिभूता-
दचः पूर्वत्वं बोद्धव्यम् ।

एकः पूर्व । गुण इत्यादेर्विधेयसमर्पकत्वेन तत्रैकत्वसंख्याया
विवक्षणेनोभयोः पूर्वपरयोरेकवाक्यतयैव विधेयान्वयेन चानयोः पुलयोः
कटं कुर्वित्यादित इवोभयसंबन्धेकविधेयस्यैव प्रतीतेरेकग्रहणं स्पष्टार्थम् ।

अत्राल्लोपस्य स्थानिवद्भावः साक्षात् इच्छुत्वप्रतिबन्धकः । एवं पौरोहित्यं काव्य-
मित्यादौ यस्येति लोपस्य स्थानिवद्भावः साक्षात् “अनचि च” इति द्वित्वप्रति-
बन्धकः । एवं शो तनूकरणे इत्यस्मात् घञर्थे कविधानमिति कप्रत्यये वाक्श-
ब्देन समासे तस्मात् ण्यन्तात् क्तिचि “तितुत्र” इतीडागमनिषेधे वाक्श्चिरित्या-
दौ ढिलोपादेः स्थानिवद्भावः साक्षात्पूर्वत्रासिद्धीयस्य इच्छुत्वस्य प्रतिबन्धकः । पर-
स्परया प्रतिबन्धकस्योदाहरणम् पिपठीरिति । अत्राल्लोपस्य स्थानिवद्भावः प-
दसंज्ञाप्रतिबन्धद्वारा स्तुत्वप्रतिबन्धक इति दिक् । *हलोऽणः सन्तीति* । अत
एव कर्त्रादेर्नानभिधानम् । नचैवमपि रेफान्तानां गिरादीनामनभिधानं स्यादिति
वाच्यम् । पदान्ताः हल्रूपाः “अणोऽप्रगृह्यस्य” इत्येतदनुनासिककार्यभाजः
परेऽणो न सन्तीति भाष्याशयेनादोषात् ।

विधेयसमर्पकत्वेनेति । नच “सूत्रे लिङ्गवचनम्” इति परिभाषया
एकत्वविवक्षा कर्तुं न शक्यते इति वाच्यम् । तस्या अनुवाद्यविषयकत्वात् ।
अत एवात्रत्यैकग्रहणप्रत्याख्यानपरं भाष्यं सङ्गच्छते । *एकग्रहणं स्पष्टार्थमि-
ति* । नचैकत्वसंख्याविवक्षणेऽपि एकत्वसंख्यायाः केवलान्वयित्वेनाव्यावर्त-
कत्वात्पूर्वपरयोः स्थाने गुणद्वयं दुर्वारं स्यादिति वाच्यम् । स्वसजातीयनिष्ठभे-
दप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वस्यैकवचनार्थत्वेनादोषात् । साजात्यञ्च स्वप्रकृत्यर्थ-
तावच्छेदकवत्स्व-स्वसमंभिव्याहृतपदार्थसंसर्गित्वोभयधर्मेण । तथा च गङ्गोदक-
मित्यादौ गुणद्वये एकवचनस्य स्वप्रकृत्यर्थतावच्छेदकं यत् सङ्केतसम्बन्धेन

उरण् । उः स्थाने इति “षष्ठी स्थाने” इतिपरिभाषया लब्धम्, “उदात्तस्वरितयोर्यणः” इतिवत् । स्थाने ऽन्तरतम इत्यतः स्थानेग्रहणमनुवर्त्तते, तस्य लक्षणया प्रसङ्गावस्थायामित्यर्थस्तदाह । रपरः सन्नेवेति । रपर इत्यवयववाचिना परशब्देन षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिस्तेनास्यावयवत्वात् यदागमा इति न्यायेन विशिष्टस्य गुणवृद्धित्वेन ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेवेति नियमोपपत्तिः । अत एव “रदाभ्याम्” इति सूत्रे “थलि च सेटि” इति सूत्रे च भाष्ये “गुणो भवति वृद्धिर्भवतीति रेफशिरा गुणवृद्धिसञ्ज्ञको ऽभिनिर्वर्त्तते” इत्युक्तम् । उः स्थाने ऽण् प्रसज्यमान एव रपरो भवति, पूर्वभक्तश्च रेफ इत्यर्थ इति कैयटः । अवयवत्वं वाचनिकमेव तत्सादृश्यबोधनपर्यवसायि । अन्यथा वर्णस्य वर्णान्तरावयवत्वं हलन्ताच्चेति सूत्रभाष्योक्तरीत्या ऽसङ्गतं स्यात् । पञ्चम्यर्थे बहुव्रीहिणा ऽनवयवत्वे तु गुणवृद्धिशब्देनाकारादेरेव रेफपरस्यैतदेकवाक्यतया विधानं स्यात् । गुणत्वादिकन्त्वकारादिनिष्ठमेव स्यादित्युक्तनियमानुपपत्तिः । अत एव वृत्ते इत्यादौ हलादिः शेषसिद्धिः । अभ्यासावयवस्यैवानादेस्तेन निवृत्तेः । एतेनाणमनृद्य रपरत्वं विधीयते इति परास्तम् । उक्तनियमानुपपत्तेः । अत्र पक्षे क रप-

गुणपदं तद्वत्त्वं, स्वसमभिव्याहृतपदार्थौ यौ पूर्वपरौ तत्संसर्गित्वमेतदुभयधर्मेण स्वसजातीयं गुणद्वयं भवतीति तन्निष्ठो यो भेदः पूर्वगुणवृत्तिः परगुणवृत्त्येकत्ववाञ्छेत्याकारको भेदस्तादृशभेदीयप्रतियोगितावच्छेदकं तदेकत्वं जातम्, एवं चालनीन्यायेन परगुणवृत्तियों भेदः पूर्वगुणवृत्त्येकत्ववाञ्छेत्याकारकस्तादृशभेदप्रतियोगितावच्छेदकं तदेकत्वं जातमिति न पूर्वपरयोः स्थाने गुणद्वयम् । एकस्मिन् गुणे तु स्वसजातीयस्व एव गुणो जात इति स्वस्मिन् स्ववृत्त्येकत्ववाञ्छेत्याकारकभेदाभावाद् गुणे “घटो न” इत्यादिभेदस्यैव सत्त्वेन तादृशभेदप्रतियोगितावच्छेदकं घटत्वादिकमनवच्छेदकमेवैकत्वं जातमिति लक्षणसमन्वयः । अत एव “पशुना यजेत” इत्यादावनेकपशुकरणकयागाद्वाहृष्टसिद्धिः ।

ननु स्वप्रकृत्यर्थतावच्छेदकपशुत्वस्य स्वसमभिव्याहृतयागसंसर्गित्वस्य च यागीयपशुषु सर्वेषु सत्त्वात्स्वसजातीयाः सर्वेऽपि यागीयपशवो जाताः । तथाच चालनीन्यायेन सर्वाण्येवैकत्वानि स्वसजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकानि जातानीति कथमेकैकपशुकरणकनानायागाद्वाहृष्टसिद्धिरिति चेदत्र केचित् । “पशुना यजेत” इत्यादावेकवचनार्थैकत्वस्य स्वाश्रयपशुकरणत्वं-स्वानाश्रयपशुकरणत्वमेतदुभयसम्बन्धेन धर्मिपारतन्त्र्येण यागेऽन्वयस्वीकारेणैकपशुकरणकयागाद्वाहृष्टसिद्धिः, अनेकपशुकरणकयागाद्वाहृष्टसिद्धिश्चेत्याहुः ।

परे तु साजात्यघटकं स्वसमभिव्याहृतपदार्थसंसर्गित्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकधर्मपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नसंसर्गित्वं विवक्षितम् । तथा च “पशुना यजेत” इत्यादौ स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकं यत् यागत्वं तत्पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकं तद्व्यक्तित्वं तदवच्छिन्नसंसर्गित्वं तद्यागीयपशावेव न तु यागान्तरीयपशाविति एकैकपशुकरणकनानायागाददृष्टसिद्धिः । नचैवमपि यागत्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकं यागान्तरगतं तद्व्यक्तित्वमपि तदवच्छिन्नसंसर्गित्वं यागान्तरीयपशावप्यस्त्येवेति दोषस्तदवस्थ एवेति वाच्यम् । एकत्वविशिष्टपदार्थसंसर्गित्वस्य विवक्षितत्वात् ।

वै० स्वनिष्ठविषयतानिरूपितविषयताश्रयत्वतत्पर्यविषयत्वसम्बन्धेन । यागान्तस्य च एतदेकत्वविषयतानिरूपितविषयताश्रयत्वतात्पर्यविषयत्वाभावाच्च दोषः । यद्यपि एतदेकत्वविशिष्टयागीयपशुपदार्थनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वं यागान्तरीयपशुगतैकत्वस्यापद्यते एव, तथा तदेकत्वविशिष्टयागान्तरीयपशुनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वमेतदेकत्वस्यापीति नैतावताऽपि दोषोद्धारः सम्भवति तथापि स्वसजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्वतात्म्योभयाभाववत्त्वस्य एकत्वं विवक्षणाच्च दोषः । एतदेकत्वे तदेकत्वविशिष्टयागान्तरीयपशुनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य सत्त्वेऽपि तत्तादात्म्याभावेन उभयाभावस्य सुलभत्वात् । नन्वेवमनेकपशुकरणकयागादप्यदृष्टसिद्ध्यापत्तिः, सर्वेषां पशुगतानामेकत्वानां निरुक्तोभयाभावस्य सुलभत्वादिति चेत्, अचोच्यते । स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकधर्मपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मविशिष्टान्यत्वम् एकत्वं विशेषणीयम् ।

वै० स्वविशिष्टनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदत्वस्वविशिष्टवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन । उभयत्र स्वै० स्वावच्छिन्नसंसर्गित्वस्वसमभिव्याहृतप्रकृत्यर्थतावच्छेदकत्वोभयसंबन्धेन । एकयागीयानेकपशुसमवेतानां सर्वेषामेकत्वानां यागगततद्व्यक्तित्ववैशिष्ट्यस्य निरुक्तोभयसम्बन्धेन सत्त्वाच्च तद्विशिष्टान्यत्वमिति नानेकपशुकरणकयागाददृष्टसिद्धिः । एकैकपशुकरणकानेकयागेभ्यश्चादृष्टसिद्धिः सुलभा । तत्र भिन्नभिन्नयागसम्बन्धिपशुसमवेतानामेकत्वानां तत्तद्यागगततद्व्यक्तित्ववैशिष्ट्यस्यासत्त्वेन तदन्यत्वस्य सुलभत्वात् । यत्तद्व्यक्तित्वमादाय भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वं तदादाय न तद्विशिष्टपदार्थवृत्तित्वं, यदादाय तद्विशिष्टपदार्थवृत्तित्वं तदादाय न तद्विशिष्टनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वमिति न कस्यापि एकत्वस्य तद्विशिष्टत्वमिति । न चैवमेकस्यां शालायां यत्र बहवो ब्राह्मणा भुञ्जते तत्रास्यां शालायां ब्राह्मणो भुङ्के इति प्रयोगापत्तिः । भोजनत्वस्य प्रत्येकपर्याप्तत्वेन भोजनत्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकतत्तद्व्यक्तिवावच्छिन्नसंसर्गित्वस्य प्रकृत्यर्थतावच्छेदकब्राह्मणत्वस्य च प्रत्येकं ब्राह्मणे एव सत्त्वेन किञ्चिद्भोजनगततद्व्यक्तित्ववैशिष्ट्यस्य पूर्वोक्तरीत्या कस्मिन्नपि एकत्वेऽसत्त्वेन तदन्यत्वस्य सुलभत्वादिति वाच्यम् । स्वसमभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदको यो यो धर्मस्तत्पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मविशिष्टान्यत्वस्य विवक्षणेन प्रकृतेच शाला-

स्वस्यापि तथात्वात् तत्पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकतद्व्यक्तित्ववैशिष्ट्यस्यैव ब्राह्मणगतेषु सर्वेषु एकत्वेषु सत्त्वेन तदन्यत्वस्याभावादापत्तेरयोगात् । नचैवमपि यत्र शालायामेको ब्राह्मणो भुङ्क्ते ऽपरश्च स्वपिति तत्रास्यां शालायां ब्राह्मणो भुङ्क्ते इति प्रयोगो न स्यात्, ब्राह्मणद्वयस्यापि पूर्ववत्स्वसजातीयत्वादिति वाच्यम् । स्वसमभिव्याहृतप्रकृत्येत्यादिप्रथमसम्बन्धस्थाने स्वसमभिव्याहृतैकवचनार्थ-निष्ठप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकवत्त्वस्य विवक्षणात् । तथा च प्रकृते भोजनकर्तृत्वविशिष्टब्राह्मणत्वस्यैवानतिप्रसक्ततया धर्मितावच्छेदकत्वेन तस्य च स्वापकर्तृत्वविशिष्टब्राह्मणे ऽसत्त्वेनाऽदोषः । *नन्वेवमपि सम्पन्नो ब्रीहिरित्यादौ स्वप्रकृत्यर्थतावच्छेदकब्रीहित्वस्य स्वान्वयितावच्छेदकत्वेन तात्पर्यविषयोभूतक्षेत्रत्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नसंसर्गित्वस्य च सर्वब्रीहिव्यक्तिषु सत्त्वात्स्वसजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकान्येव सर्वा-ण्येकत्वानि जातानीति तत्रैकवचनार्थैकत्वानुपपत्तिः । न च येन सम्बन्धेनैकत्वा-न्वयस्तत्सम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेदो विवक्षितः । तथा च प्रकृते स्वाश्रयब्रीहित्ववत्त्वसम्बन्धेनैकत्वस्य ब्रीहावन्वयेन तत्र स्वाश्रयब्रीहित्व-वत्त्वसम्बन्धेन स्ववृत्त्येकत्ववाचेति भेदस्याभावेन न दोष इति वाच्यम् । तथासति सम्पन्नो ब्रीहिरित्यादौ स्वसजातीयनिष्ठतादृशभेदस्याप्रसिद्ध्या दो-षतादवस्थ्यादिति चेन्न । स्वसजातीयनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकताऽनव-च्छेदकसंसर्गनिष्ठावच्छेदकतानिरूपकप्रकारताश्रयैकत्वमेकवचनार्थ इति वक्त-व्यत्वात् इति । ननु ब्रीहिगोधूमेभ्यसम्पत्तिदशायां सम्पन्नो ब्रीहिरिति प्रयोगो दुर्वार एव, गोधूमे प्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वस्य अन्वयितावच्छेदकव-त्त्वस्य चाऽभावेन तमादाय भेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य ब्रीहिनष्टैकत्वे उपपादयितुमशक्यत्वादिति चेन्मैवम् । स्वप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वश्च स्ववाचकवि-भक्तिप्रयोगप्रयोजकबुद्धिविषयतावच्छेदकावच्छिन्नधर्मवत्त्वमिति विवक्षणेनादो-षात् । तथाहि उभेष्ु धान्येषु किं किं सम्पन्नमिति प्रश्ने धान्यत्वव्याप्यजात्यव-च्छिन्नं बोधयानीति तात्पर्येण सम्पन्नो ब्रीहिरिति धान्यप्रयोगात्स्ववाचकविभ-क्तिप्रयोगप्रयोजकबुद्धिविषयतावच्छेदकं यद् धान्यत्वव्याप्यजातित्वं तदवच्छि-न्नधर्मवत्त्वस्य निरुक्तस्वसमभिव्याहृतपदार्थसंसर्गित्वस्य च ब्रीहाविव गोधूमे-ऽपि सत्त्वेन तन्निष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्यैव ब्रीहितैकत्वेषु सत्त्वात् ।

निरुक्तैकत्वमेवैकपदप्रवृत्तिनिमित्तं बोध्यम् । तथा चैतच्छङ्कासमाधानादिकं प्रकृते ऽप्यतिदेष्टव्यमित्याहुः । विस्तरस्तु व्युत्पत्तिवादटिप्पणे द्रष्टव्यः । स्वसम-भिव्याहृतपदार्थसंसर्गित्वेनैव साजात्यांकौ तु "पशुना यजेत" इत्यादौ स्वसम-भिव्याहृतपदार्थयागसंसर्गित्वस्य पुरोडाशादावपि सत्त्वेन स्वसजातीयं यत् पुरोडाशादिकं तन्निष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकमेवैतत्पशुवृत्त्येकत्वं जातमित्ये-कपशुकरणकयागादप्यदृष्टसिद्धिर्न स्यात् । स्वप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वमात्रोक्तौ स्वप्रकृत्यर्थतावच्छेदकपशुत्वस्य सर्वपशुषु सत्त्वेन अयागीयपशुनिष्ठभेद-

* इत उत्तरं यथाश्रुतव्युत्पत्तिवादोक्तपरिष्कारमनुसृत्यैव दोषोपन्यासोऽवि-शेषादिति बोध्यम् ।

रत्वं क्व लपरत्वमिति व्यवस्थाऽनुपपत्तिस्तु न । रेफवत्स्थानिकस्य रेफप-
रत्वं, लकारवत्स्थानिकस्य लपरत्वमिति व्यवस्थासंभवात् । तत्रान्तर-
तस्यादिति । स्थानत इति भावः । रेफादिद्वारा ऽऽदेशस्यापि मूर्धादि-
स्थानत्वात् । तत्र तत्राऽऽदेशानेव रलपरानुच्चार्येदं सूत्रं न कार्यमिति तु
न वाच्यम् । “आप्पृथामीत्” “भृजामित्” इत्यादौ दोषापत्तेः । अत्राणू-
पूर्वेणैव, प्रज्ञास्तृणामिति निर्देशात् । वस्तुतो रप्रत्याहाराभावेन रपर इत्य-
स्य स्थाने र्लपर इति पठनीयमिति “लपरत्वं वक्ष्यामि” इति तुल्यास्य-
सूत्रभाष्याल्लभ्यते ।

प्रतियोगितावच्छेदकमेव यागीयपशुगतमेकत्वं स्यादिति एकपशुकरणकयागा-
दप्यदृष्टसिद्धिर्न स्यादिति दिक् ।

यण इतिवदिति । अनेन “विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानु-
वादे” इति परिभाषाऽसङ्गतेति ध्वनितम् । *अवयववाचिनेति* । अव-
यवत्वविशिष्टपरत्वावच्छिन्नवाचिनेत्यर्थः । *षष्ठ्यर्थे बहुव्रीहिरिति* । तथा च
रपर इत्यस्य रेफनिष्ठावयवतानिरूपकः रेफनिष्ठपरत्वावधितावांश्च प्रसङ्गाव-
स्थायामण् भवतीति सूत्रार्थः । *नियमोपपत्तिरिति* । वस्तुतस्तु रेफविशिष्टे
गुणत्वाद्यभावेऽपि न क्षतिः । ऋकाराकारयोर्मूर्धन्यावयवत्वस्य सत्त्वेन
तेनैवाऽऽन्तर्येण ऋकारस्याऽरारावेवेति नियमोपपत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः । *उ-
क्तनियमानुपपत्तिरिति* । अत्रेदं तत्त्वम् । “उरण् रपर” इत्यत्र परशब्दः
शुद्धपरत्वावच्छिन्नवाचकः । रः परो यस्मादिति पञ्चम्यर्थे बहुव्रीहिः । नच
ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेवेति नियमानुपपत्तिरिति वाच्यम् । “अनान्तर्यमेवैतयो-
रान्तर्यम्” इति भाष्येण दत्तोत्तरत्वात् । नचैकारादावप्यनान्तर्यसत्त्वेन सोऽपि स्या-
दिति वाच्यम् । स्ववृत्तित्वम्-स्वेतरयावदादेशावृत्तित्वम्-स्वदलभिन्नदलीयवृ-
त्तित्वम्-एतद्व्रितयसम्बन्धेन स्वविशिष्टस्थानप्रयत्नजन्यत्वाद्यान्तर्यसत्त्वेनाऽना-
न्तर्यस्य एकारादावभावात् । नचैवमपि “अचो ङ्गिति” इत्यादावकारनिरूपिता-
ऽऽन्तर्यस्याऽऽकारे सत्त्वेनानान्तर्याभावाद्दकारस्याऽऽरित्येवेति नियमो न स्या-
दिति वाच्यम् । “अचो ङ्गिति” इत्यत्र “अत उपधाया” इति सूत्रादत इत्यनु-
ष्य माठरपरिवेषणन्यायेनाप्युपदार्थे ऽकारातिरिक्तत्वेन सङ्केचं कृत्वा वाक्यभेदेन
वृद्धिविधानेनादोषात् । नचैवमपि “गुणो भवति वृद्धिर्भवति रेफशिरा गुणवृद्धि-
संज्ञको ऽभिनिर्वर्तते” इति भाष्यविरोध इति वाच्यम् । गुणवृद्धिसंज्ञकः
रेफशिरस्कः सन्नभिनिर्वर्तते इत्यर्थकरणेनाविरोधात् । नचैवमपि वत्रे इत्यादौ
रेफस्याभ्यासानवयवत्वेन हलादिःशेषानापत्तिरिति वाच्यम् । स्थानिवत्सू-
त्रस्थशेषरोक्तदिशा वरित्यस्य पुनरभ्याससंज्ञायां हलादिःशेषस्य सुवच-
त्वादिति दिक् । *भृजामित्यादाविति* । “भृजामिर्” इत्युच्यमाने ऽपि
हलादिःशेषेण रूपसिद्धौ चिन्त्योऽयं दोषः इति केचित् । वस्तुतस्तु तथोक्तौ

झरो झ । “झयो ह” इत्यतो “वा ऽवसाने” इत्यतो वा विकल्पो ऽनुवर्तते । हयवरदमूत्रशेषे भाष्ये स्पष्टमिदम् । लोपे इति । ऋध धातोर्झर इति भावः । असतीति । द्वित्वाभाव इत्यनुकृष्यते । त्रिधमिति । त्रिधकारत्वं प्रक्रियाभिप्रायेण । न च द्वित्वभिन्ने पूर्वत्र कर्तव्ये परमसिद्धमित्यर्थकेन “पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे” इत्यनेन धातुधकारस्य जश्त्वे दस्य द्वित्वमिति इदमयुक्तमिति वाच्यम् । फले विशेषाभावेन तदनादरणात् । न ह्यत्र जश्त्वात्पूर्वमनन्तरं वा द्वित्वे रूपे विशेषो ऽस्ति । तदनन्तरञ्जश्त्वप्रवृत्तेः । तस्य परिभाषात्वेन फलविशेषे एव प्रवृत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः । पञ्चमीति । विनिगमकाभावादिति भावः । अत एवास्य वैकल्पिकत्वम् ।

कृष्णैकोति । कृष्णेति संबुद्ध्यन्तं पृथक्पदमिति कश्चित् । एत्येध । ऊर्ध्व अत्राऽऽदेश एव व्याख्यानात् । एचीति नोटो विशेषणमूढस्तत्त्वासंभवात् । एत्येधत्योरिति योगं विभज्य तयोरेवैचीति विशेषणस्य भाष्ये कृतत्वाच्च । तदाह एजाद्योरिति । एतिरत्र इणेव प्रसिद्धत्वात् । उपैतीत्यादौ वृद्धिरेचीत्यनेन गतार्थत्वमाशङ्क्याह पररूपगुणेति । एत्येधत्योरेडि पररूपस्योडि चाऽऽद्गुणस्येति विवेकः । उपैधते इति । अत्र न सर्वादेशः ।

अनेकाल्त्वेन सर्वादेशत्वापत्तिः । किन्तु तत्र सिद्धान्तेऽपि हलादिःशेषेण रेफस्यापहारान्न रेफविधानफलमिति दोषोपन्यासोऽयुक्त एवेति बोध्यम् ।

वाऽवसाने इत्यतो वेति । भाष्यसंमताष्टाध्यायीपाठरीत्येदमुक्तम् । *प्रक्रियाभिप्रायेणेति* । परिनिष्ठिते “झलां जश्” इति जश्त्वेन दस्यैव श्रवणादिति भावः । *तदनादरणादिति* । न च “पूर्वत्रासिद्धम्” इति द्वित्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वे दस्यैव द्वित्वमिति मूलासङ्गतिरिति वाच्यम् । तस्या अपि परिभाषात्वेन फलाभावादप्रवृत्तेः । नचैवमपि “विप्रतिषेधे परम्” इति परत्वाज्जश्त्वे पुनरपि मूलासङ्गतिरिति वाच्यम् । तस्या अपि परिभाषात्वेन फलाभावादप्रवृत्त्या प्रथमोपस्थितद्वित्वप्रवृत्तौ बाधकाभावादिति दिक् । *विनिगमकाभावादिति* । चिन्त्यमिदम् । विनिगमकाभावेन तात्पर्यनिर्णयाभावाच्छाब्दबोधस्यैवानापत्तेः । तस्माद्भाष्ये पक्षद्वयस्यापि स्थितत्वेनाऽऽवृत्त्या “यणो मय” इति वार्तिकस्यार्थद्वयस्वीकारादिति बोध्यम् । *अत एवेति* । पक्षद्वयस्यापि भाष्ये स्थितत्वादेवेत्यर्थः ।

ननु कृष्णैकत्वमित्यादौ “पूरणगुण” इति निषेधात्षष्ठीसमासो न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह *पृथक् पदमिति* । *कश्चिदिति* । अत्रारुचिबीजन्तु अनित्योऽयं गुणेन निषेधः “तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्” इति निर्देशादित्यस्य मूले एव स्फुटीकरणादिति बोध्यम् । *तत्त्वासंभवादिति* । नचावयतेः किमे ओरित्यादावेजादिरूढं सम्भवतीति वाच्यम् । एत्येधत्योरिति योगं

एत्येधत्याद्यवयवेऽचीत्येवं क्रमेण सूत्राणामर्थात् । अयमेवार्थ इति प्रत्यय-
लक्षणसूत्रस्थभाष्यस्वरसः । वृक्षे शाखेतिवदेत्येधत्युद्भविति सप्तमी
बोध्या । प्रष्टौह इति । प्रष्टुं वहतीत्यर्थे वहेण्वौ ततः शस्यूठि संप्रसा-
रणे पूर्वरूपे ऽनेन वृद्धिः ।

प्रेदिधदिति । परे तु “इणीकारादौ प्रतिषेधः” इति वा-
र्तिके एधत्यनुपादानात् “न त्वेधतेरव्यभिचारात्” इतिवृत्तेऽस्यान-
भिधानमेव । “एत्येधत्योरेचीति विशेषणम्” इति भाष्यस्यैधत्यंशे संभवमात्रे-
णोपरञ्जकतया विशेषणमित्याशय इत्याहुः । उपैधयत इत्यादावपि वृ-
द्धिर्भवत्येव । प्रकृतिभागस्यैधूपत्वात् । किं च एत्येधत्यवयवे ऽचीत्यर्थः
प्रत्ययलक्षणसूत्रभाष्यसम्मत इति अत्र न दोषः । पुरस्तादिति । पुर-
स्तादपवादा अनन्तरान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरानिति न्यायः । अवश्यं स्व-
परास्मिन्बाधनीये भेदेनापेक्षायां प्रथमोपस्थितबाधेनाऽऽकाङ्क्षानिवृत्तिर्हि तद्-
बीजम् । असाधुरेवेति । आङ्गिणोरेकादेशस्य पूर्वान्ततयाऽऽङ्गि पररूपेण
बाधादिति भावः । अर्थवद्ग्रहणे इति । अस्या बीजं “स्वं रूपम्” इति सूत्रे
उक्तम् । पररूपे प्राप्ते इति । पूर्वन्धातुः साधनेन युज्यत इति सिद्धा-
न्तादिति भावः ।

उपसर्गादिति । तपरकरणादुपक्रुकारीयतीत्यादौ “वा सुपि” इति
न वृद्धिः । सौत्रक्रुतिस्तु न गृह्यते व्याख्यानात् । आदित्यनुवृत्तेन तदन्त-
विधिरित्याह अवर्णान्तादिति । यस्मिन्विधिरिति परिभाषयाऽऽह । क्रु-

विभज्य एचीत्यस्य तत्रैवविशेषणपरभाष्यप्रामाण्येनैतस्यानभिधानात् । वि-
ष्टौह इत्यादौ वृद्ध्यर्थं भगवता एचीत्येत्येधत्योरेव विशेषणमित्युक्ततया
चैतस्यानभिधाने न मानमिति परे । *सूत्राणामर्थादिति* । केचित्तु एजा-
द्येत्येधत्योरित्येव सूत्रार्थः । न च सर्वादेशत्वापत्तिरिति वाच्यम् । “अलोऽन्त्य-
स्य” “आदेः परस्य” इत्याभ्यां सर्वादेशत्ववारणात्सम्भवति सामानाधि-
करण्ये वैयधिकरण्यस्यान्याव्यत्वाच्च मूलोक्तमेव युक्तमिति प्राहुः । *इत्याहु-
रिति* । परे तु “यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्” इति परिभाषया “इणीकारा-
दौ” इति वार्तिके इणीत्येधतेरप्युपलक्षणम् । मूलोक्तं तु न युक्तम् । वार्ति-
कानुसारेणैधत्यंशे एचीत्युपरञ्जकमितिकल्पनापेक्षया भाष्यानुसारेण वार्ति-
के उपलक्षणतया व्याख्यानस्यैव ज्यायस्त्वात् । तथा च इदिधत् इत्यस्या-
नभिधाने न मानमित्याहुः । *भेदेनेति* । विशेषेणेत्यर्थः । *आकाङ्क्षानिवृत्ति-
रिति* । “विप्रति” इतिसूत्रबाधे मानाभाव इत्यपि बोध्यम् ।

उपक्रुकारीयतीत्यादाविति । उपक्रुकारयति उपक्रुकारति इत्यस्या-

कारादाविति । पूर्वपरयोस्तयोः समुदाययोरन्त्याद्योर्वर्णयोरेकादेश इत्यर्थः । उपसर्गावयवाकाराद्धात्ववयवे ऋकारे तयोः पूर्वपरयोर्वृद्धिरित्युचितम् । गतेरिति तु नोक्तम् । अच्छर्छतीत्यादौ दोषात् ।

अन्ता । इह पूर्वपरयोरिति वर्तते यथासंख्यञ्च, अन्तादिशब्दावुपस्थितैकादेशस्थानिपरौ । पूर्वपरशब्दौ च तद्घटितसमुदायपरौ । एवञ्च पूर्वस्य परस्य समुदायस्यान्तादिभ्यां वर्णाभ्यां पृथगवस्थिताभ्यां ये व्यवहाराः प्रातिपदिकत्वसुबन्तत्वप्रत्ययत्वादयस्ते कृतैकादेशस्य भवन्ति न तु तद्वर्णमात्रवृत्तयोऽत्वह्रस्वत्वादय इत्यर्थस्तत्फलितमाह योऽयमित्यादि । तेन रामावित्यादौ परादिदत्त्वेन औ इत्यस्य सुप्त्वे पूर्वमान्तस्यैकादेशविकृतन्यायेन प्रकृतित्वे यस्माद्विहितस्तदादितदन्तत्वमार्थसमाजग्रस्तमिति पदत्वसिद्धिः । तद्वर्णमात्रवृत्तिधर्मानतिदेशात् खट्वाभिरित्यत्राऽत्वनिबन्धन ऐस्न, अयजे इन्द्रमित्यादौ सर्वर्णदीर्घश्च न ।

प्युपलक्षणम् । *उचितमिति* । वस्तुतस्तु अवर्णान्तादुपसर्गादकारादौ धातावित्यर्थेऽपि “अलोऽन्त्यस्य” “आदेः परस्य” इत्याभ्यां सर्वादेशतावारणान्मूलोक्तमेव युक्तमिति बोध्यम् । *अच्छर्छतीति* । अच्छगत्यर्थेति गतित्वम् ।

अन्तादिवच्च । इहैकः पूर्वपरयोः इति वर्तते । यथासंख्यं च सम्बन्धः । पूर्वपदमेकादेशपूर्वस्थानिचरमावयवके लाक्षणिकम् । एवं परपदमेकादेशपरस्थान्याद्यावयवके लाक्षणिकम् । तथा च एकादेश एकादेशपूर्वस्थानिचरमावयवकसमुदायस्यान्तवत्स्यात्, एवमेकादेशः परस्थान्याद्यावयवकसमुदायस्यादिवत्स्यादिति सूत्रार्थः । एकादेशनिष्ठचरमावयवतानिरूपकसमुदाये एकादेशपूर्वस्थानिनिष्ठचरमावयवतानिरूपकसमुदायवृत्त्यर्थवत्पर्याप्तधर्मा अतिदेष्टव्याः, एवमेकादेशनिष्ठाद्यावयवतानिरूपकसमुदाये एकादेशपरस्थानिनिष्ठाद्यावयवतानिरूपकसमुदायवृत्त्यर्थवत्पर्याप्तधर्मा अतिदेष्टव्या इति यावत् । तद्वच्चेत्येव सिद्धे “अन्तादिवच्च” इति सूत्रकरणादर्थवत्पर्याप्तयेतल्लभः । तद्वच्चेत्युच्यमाने एकादेशस्थानिपर्याप्तधर्मस्यातिदेशः स्यात् । तथा च खट्वाभिरित्यादौ भिस् ऐसाद्यापत्तिश्च स्यात् । एतन्मूलकमेवोच्चते “नवा अताद्रूप्यातिदेशात्” इति । अन्यथा वचनेन वचनान्तरप्रत्याख्यानस्यायुक्तत्वात् “वर्णाश्रये ऽन्तादिवत्त्वप्रतिषेधो वक्तव्यो न वा अताद्रूप्यातिदेशात्” इति प्रत्याख्यानमसङ्गतं स्यात् । एतत्सर्वं मनसि निधाय वक्ष्यति *प्रातिपदिकत्वादय इत्यादि । *तद्वटितसमुदायपराविति* । एकादेशचरमावयवकैकादेशाद्यावयवकसमुदायपरावित्यर्थः । यथाश्रुतं तु न युक्तम् । एकादेशघटितस्वाश्वशब्दे पूर्वान्तवद्भावेनैकादेशपूर्वस्थानिचरमावयवकसमुदायवृत्तिस्वशब्दस्यातिदेशे तस्मादीरिन्शब्दे पर

अत एव तुक्क्यसिद्धवचनं चरितार्थम् । अन्यथा ऽधीत्येत्यादावादिवत्त्वेन ह्रस्वत्वप्रयुक्ततुक्सिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । तदुक्तं “वर्णाश्रये चान्तादिव-
स्वप्रतिषेधो वक्तव्यो न वा ऽताडूप्यातिदेशात्” इति । अन्तादिवर्णमात्र-
वृत्तिधर्मानतिदेशादिति तदर्थः । क्षीरपेनेत्यादावेकारविशिष्टे एकाजुत्तरप-
दत्वं भवत्येव । स्थानिवद्भावेन तु नैतल्लभ्यम् । अप्राधान्येनालाश्रय-
णात् । किं च एकादेशे वर्णयोरेव स्थानित्वं न समुदायस्येति भी ई
भियं इत्यादावेकादेशविशिष्टे धातुत्वानापत्तिः । धातुत्वस्यैकादेशस्था-
निधर्मत्वाभावात् । आनुमानिकादेशकल्पकवाक्यमन्तादिघटितसमुदायस्यै-
कादेशघटित आदेश इत्येव, न तु प्रत्येकं तयोः स्थानित्वबोधकं, तथा
सति स्वाश्वशब्दस्य स्थानिवत्त्वेन स्वशब्दतया तत ईरिन्शब्दे वृद्ध्यापत्तेः ।
किं च भवत्संमतस्य “उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्” इत्यस्यासङ्गतौ
भवत्संमताभीयादित्याद्यसिद्धिः । स्थानिवत्त्वं तुभयत आश्रयणे इष्यत

“स्वादीरेरिणोः” इति वृद्ध्यापत्तेः । *तद्वर्णमात्रवृत्तिधर्मानतिदेशादिति* । अ-
न्तादिवर्णवृत्तिवर्णमात्रवृत्तिधर्मघटितधर्मानतिदेशादित्यर्थः । *तुक्क्यसिद्धव-
चनं चरितार्थमिति* । नन्वधीयेत्यादौ तुग्वारणायासिद्धवचनं चरितार्-
थम् । अन्यथा पूर्वान्तवद्भावेन ह्रस्वत्वस्य परादिवद्भावेन तदादित्वस्य
चाऽतिदेशेन तुगदुर्वारः स्यात् । नच उभयत आश्रयणे नान्तादिवदिति निषे-
धेन तुको ऽप्राप्त्याऽसिद्धवचनं व्यर्थमेवेति वाच्यम् । एतन्मते उभयत आ-
श्रयण इत्यस्याभावादिति चेन्न । अन्तरङ्गे तुके कर्तव्ये पदद्वयसम्बन्धि-
वर्णद्वयनिमित्तकत्वेन बहिरङ्गस्य सवर्णदीर्घस्यासिद्धत्वेनादोषात् । नच “ना-
जानन्तर्ये” इति निषेध इति वाच्यम् । तस्या असत्त्वात् । सत्त्वे वा
यत्र बहिरङ्गासिद्धत्वमन्तरङ्गशास्त्रप्रवृत्तिप्रयोजकं तत्रैव तत्प्रवृत्तिस्वीका-
रेणाक्षघूरित्यादौ बहिरङ्गासिद्धत्वस्यान्तरङ्गलोपप्रवृत्तिप्रयोजकत्वेनात्रासिद्धत्व-
स्यान्तरङ्गतुक्प्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभावनादोषादिति केचित् । वस्तुतस्तु अधी-
येत्यादौ चारितार्थ्येऽपि भावातिदेशस्य वैयर्थ्यं दुर्वारमेवेति तद् ज्ञापकमे-
व । अतो नाजानन्तर्यपरिभाषाया अक्षघूरित्यादौ बहिरङ्गासिद्धत्वस्य अन्तरङ्ग-
प्रवृत्तिप्रयोजकत्वाभावविषये स्वीकारेऽपि न दोष इति दिक् । *एकाजुत्त-
रपदत्वं भवत्येवेति* । स्यादेतत् । एकाजुत्तरपदत्वस्यान्तादिवृत्तिवर्णमात्रवृ-
त्तिधर्मघटितत्वेन कथं पे इत्यत्रातिदेशः । नचान्तादिवर्णविशिष्टाल्मात्रवृ-
त्तिधर्मघटितधर्मस्यातिदेशो न भवतीति ताडूप्यानातिदेशादित्यस्या-
र्थः । अन्तादिवर्णवै० स्ववृत्तित्वस्वस्थानिकाऽऽदेशावृत्तित्वैतद्वितीयसम्ब-
न्धेन । तथाचैकाजुत्तरपदत्वघटकात्त्वे स्वस्थानिकादेशावृत्तित्वस्यैव सत्त्वा-
न्न दोष इति वाच्यम् । उत्तरपदाद्यत्त्वस्य ताडूप्यानातिदेशेनातिदेशो न
भवतीति परिभाषेन्दुशेखरविरोधेनैतादृशस्यार्थस्य वक्तुमशक्यत्वादिति चे-

एव । अन्यथा ऽचः परस्मिन्नित्यस्याप्युभयत आश्रयणे ऽप्रवृत्त्यापत्तौ
प्लायत इत्याद्यसिद्धिरिति दिक् ।

न्मैवम् । स्ववृत्तित्वस्वाभाववत्त्वैतद्विदित्यसम्बन्धेन स्वविशिष्टालूमात्रवृत्तिध-
र्मघटितधर्मो नायातीत्यर्थकरणेनादोषात् । अभावश्च स्वस्थानिकादे-
शवृत्तित्वम्- स्वनिष्ठा या अभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतावच्छेदकता सम्बन्धा-
नवच्छिन्नप्रकारतावच्छेदकता वा तदवच्छेदकत्वमेतदुभयसम्बन्धावच्छिन्न-
प्रतियोगिताको ग्राह्यः । अथवा अन्तादिवृत्तिर्वर्णमात्रवृत्तिः शाब्दबोधजनक-
शक्तिज्ञानीयमुख्यविशेष्यतावच्छेदकश्च यो धर्मस्तद्व्यटितो धर्मो नायातीत्यर्थे-
नादोषः । विस्तरस्तु परिभाषेन्दुटिप्पणे द्रष्टव्यः ।

परेतु क्षीरपेणेत्यादावुत्तरपदत्वमेव पूर्वान्तवद्भावेनाऽऽनीयते, एकात्त्वं
तु स्वतः सिद्धमेवेति न कोऽपि दोष इत्याहुः ।

दिगिति । तदर्थस्तु स्थानिवत्सूत्रेणैव “अन्तादिवच्च” इति
सूत्रं गतार्थम् । न च क्षीरपेणेत्यादावेकावुत्तरपदत्वस्यालत्वव्या-
प्यधर्मघटितत्वेनानलविधाविति निषेधात्तदतिदेशो न स्यादिति वाच्यम् ।
परेत्वित्यादिना दत्तोत्तरत्वात् । न च भिय इत्यादावियङ् न स्यात्, धातुत्व-
स्य स्थान्येकदेशवृत्तित्वेन तस्य स्थानिवत्सूत्रेणातिदेशेऽप्युपशक्यत्वादिति वा-
च्यम् । अर्थवत्येव स्थान्यादेशभावविश्रान्तिरितिसिद्धान्तसत्त्वेऽपि भिय-
इत्यादावीकारप्रदलेषेण भी इत्यस्य ई इत्यस्य चोभयोरर्थवत्त्वेन भी इत्यस्य
स्थाने भी इत्यादेशः, ई इत्यस्य स्थाने ई इत्यादेशः, भीई इत्यस्य स्थाने भी
इत्यादेश इत्यानुमानिकस्थान्यादेशानां स्थानेऽन्तरतमपरिभाषासहकारेण
कल्पनेन भीवृत्तिधातुत्वस्य स्थानिवत्सूत्रेण भीइत्यादेशो ऽतिदेशेऽप्युपशक्यत्वा-
त् । न च स्वाश्वशब्दे निरुक्तदिशा स्वशब्दत्वातिदेशो तस्मादीरिन्शब्द-
परत्वे वृद्धापत्तिरिति वाच्यम् । स्वाश्वशब्दे स्व इत्यस्य अश्व इत्यस्य समुदा-
यस्य चार्थवत्त्वेऽपि स्थानेन्तरतमपरिभाषासहकारेण स्व इत्यस्य स्थाने स्वा
इत्यादेशः, अश्वइत्यस्य स्थाने आश्व इत्यादेशः, स्व अश्व इत्यस्य स्थाने स्वा-
श्व इत्यादेश इति कल्पनेऽपि स्वशब्दत्वस्य स्थान्येकदेशवृत्तित्वेन स्वाश्व
इत्यादेशो ऽतिदेशेऽप्युपशक्यत्वात् । नचैवम् अमी इत्यादावीत्वं न स्यादिति वाच्य-
म् । अदई इति स्थिते अदइत्यस्य स्थाने ऽदेइत्यादेशः, ई इत्यस्य स्थाने ए इ-
त्यादेशः, अदई इत्यस्य स्थाने अदे इत्यादेश इतिकल्पनेन ईकारवृत्तिबहुवचन-
त्वस्य एइत्यत्रातिदेशेऽप्युपशक्यत्वेन ईत्वस्य सुवचत्वात् । नचाऽऽद्यार्थकानलवि-
धावितिनिषेधः शङ्क्यः । तस्यानङ्गीकारात् । अङ्गीकारे वा आरोपप्रकारीभूतबहुव-
चनत्वस्य साक्षादुद्देश्यताऽनवच्छेदकत्वात् । नचाऽन्तादिवत्सूत्राभावे उभयत
आश्रयणे नान्तादिवदित्यस्यासङ्गतिः । नच स्थानिवत्त्वस्यैव स निषेध इति वा
च्यम्, प्लायते इत्यादौ लत्वानापत्तेरिति वाच्यम् । उभयत आश्रयणे न
स्थानिवदिति स्थानिवत्सूत्रस्यैव निषेध इति स्वीकारेणादोषादिति दिक् ।

निर्देशादिति । न च कर्त्तरिचर्षीत्यादौ गुणस्य पद-
द्वयसंबन्धिवर्णद्वयाश्रितत्वेन बहिरङ्गत्वाद्देहाभावेन न विसर्ग इति
वाच्यम् । गुणस्येव पदद्वयसंबन्धिरेफस्वरात्मकवर्णद्वयाश्रितत्वेन वि-
सर्गस्यापि तत्त्वात् । परनिमित्तकत्वमप्युभयोः समम् । किं च कार्य-
कालपक्षे त्रिपाद्यां तदुपस्थितावपि पूर्वं प्रति परस्यासिद्धत्वादन्तरङ्गा-
भावेन पूर्वस्यान्तरङ्गनिरूपितबहिरङ्गत्वाभावात्कथं* तस्यासिद्धत्वप्रतिपा-
दनम् । न चानया पूर्वस्यासिद्धत्वादभावेन तं प्रति परासिद्धत्वं “पूर्व-
त्र” इत्यनेन वक्तुमशक्यमिति वाच्यम् । एवं हि विनिगमनाविरहादुभ-
योरप्यप्रवृत्तौ विसर्गो दुर्वारः । एवञ्च विरोधात्कार्यकालपक्षे ऽपि तदनुप-
स्थितिरेव त्रिपादीस्थे ऽन्तरङ्गे उचिता । अत एव विसर्जनीयसूत्रे भाष्ये
इमामेव युक्तिमुक्त्वा “*अयुक्तो ऽयं परिहारो न वा बहिरङ्गलक्षणत्वात्”
इत्युक्तम् । एवञ्च तत्र तत्र वचनान्येव कार्याणि, ज्ञापकानुसरणं वा कर्त्त-
व्यम् । अत एव निगाल्यते इत्यादौ लत्वाद्यर्थं “तस्य दोषः” इति वचनमेवा-
रब्धम् । अन्यथाऽन्तरङ्गत्वात् णिलोपात्पूर्वं वैकल्पिकलत्वे चक्रयत्र माषवप-
नीत्यादौ बहिरङ्गासिद्धत्वेन च सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । यत्तु लक्ष्या-
नुरोधात्कार्यकालपक्षे उपस्थितया ऽन्तरङ्गपरिभाषया ऽऽनुमानिकया प्रत्यक्ष-
सिद्धस्यापि “पूर्वत्र” इत्यस्य बाध इति, तन्न लक्षणैकचक्षुषामादरणीयम् ।

कथमिति । नच पूर्वत्र कर्तव्ये परासिद्धत्वेऽपि तत्र कृते तदसिद्धत्वे माना-
भाव इति तया जातगुणादेरसिद्धत्वं युज्यते एवेति वाच्यम् । “न भकुर्छुराम्”
इति सूत्रे कुर्ग्रहणेन पूर्वत्रेत्यस्य विषयसप्तमीत्वबोधनेन पूर्वशास्त्रदृष्ट्या परम-
सिद्धमित्येव तदर्थत् । अन्यथा कुर्वन्तीत्यत्र गुणस्येव कुर्यादित्यत्र दीर्घस्यापि
तपरत्वसामर्थ्यादेव निवृत्तौ किन्तेन । अत एव चञ्चूर्यते इत्यादौ दीर्घस्य-
चञ्चूर्तीत्यत्र गुणस्येव तपरत्वसामर्थ्याच्च निवृत्तिः । *अयुक्तो ऽयं परिहार
इति* । न च युक्तो ऽयं परिहार इत्यर्थो न्याय्यः । अन्यथा “वृद्धि-
निमित्ताप्रतिषेधो वक्तव्यः” “नामते प्रतिषेधः” “तस्य दोषः संयोगादिलो-
पलत्वणत्वेषु” “यणः प्रतिषेधो वाच्यः” “विसर्जनीयो ऽनुत्तरपदे” “वृद्धिभू-
तानां षत्वं वक्तव्यम्” इत्याद्यनेकवचनस्वीकारे गौरवादिति वाच्यम् । आर्तत्,
आर्मतीत्, चक्रयकैत्, प्लायते, प्राहिणोत्, कलं ज्ञातीति कलत्राः तस्मात्
ण्यन्तात्किपि कलत्र्, आर्कुटत्, ऐष्पुरुष्यदित्याद्यर्थं तत्तद्वचनानामवश्यकर्त-
व्यत्वेन गौरवस्य तुल्यत्वात् । अत एव—भविष्यति सर्वेषां रामाणाम्
राज्ञामित्यादौ षत्वणत्वश्चुत्वादिकं सिध्यति । अन्यथा ऽन्तरङ्गे षत्वादौ
कर्तव्ये इद्सुइनुडलोपादेरसिद्धत्वेन षत्वादिकं न स्यादिति दिक् ।

अत एव “उरण्” इति सूत्रे “रेफस्य पूर्वान्तवरचे *विसर्जनीयप्रतिषेधो वक्तव्यो नार्कुटाद्यर्थम्” इत्युक्तं भाष्ये इति दिक् ।

उपसर्गेणैवेति । तत्सञ्ज्ञायाः *क्रियायोगानिमित्तत्वादित्यर्थः । यदर्थे क्रियारूपे प्रादीनामन्वयस्तं प्रत्येवोपसर्गत्वमिति भावः । प्रकृते च *प्रत्यासत्त्या ऋकारादिनिमित्तोपसर्गग्रहणात्प्रगतः ऋद्धः प्रद्धं इत्यत्र न । पुनरिति । प्रकृतसूत्रे भाष्ये स्फुटमेतत् । सुब्धा-
ताविति । *सुबन्तप्रकृतिके धातावित्यर्थः । तुल्यास्यसूत्रे उपाकर्त्रीयती-
त्यादेरेतदुदाहरणत्वस्य भाष्ये उक्तत्वात् । शास्त्रे सुबन्तस्य *धातुप्रकृति-
त्वेनोक्ततया तत्प्रकृतिके इति व्याख्यानमेवाचितम् । ऋषभस्य समीपमु-
पर्षभं तदिच्छति उपर्षभीयतीत्यत्र तु न वृद्धिः । उपेत्यस्यानुपसर्गत्वात् ।
अत्रापि धातावित्यनुवर्त्य वाक्यभेदेन व्याख्येयं, तेन सुब्धातावपि न
प्रकृतिभावः । प्रार्षभीयतीति । अत्र शरोऽचीत्यस्यानुपन्यासेन व्यञ्ज-
नात्परस्यैकस्यानेकस्य बोद्धारणे विशेषाभावेन “अचो रहाभ्याम्” इत्यस्य

विसर्जनीयप्रतिषेध इति । “विसर्जनीयोऽनुत्तरपदे” इति वार्त्तिके-
नेत्यर्थः । अत्रोत्तरपदमर्थवत् उपलक्षणम् । तथा चार्थवद्विशिष्टस्य रेफस्य
विसर्गो न भवतीति तस्यार्थः । वै० स्वाव्यवहितपूर्वत्व—स्वोत्तरप्रत्ययनिमि-
त्तकत्वोभयसम्बन्धेन । अत एव नार्कल्पिरित्यादौ न दोषः । अथवा खरं निमि-
त्तीकृत्य तद्विशिष्टस्य रेफस्य विसर्गो न भवति । वै० स्वाव्यवहितपूर्वाच्स्थानि-
कत्वसम्बन्धेन । अत एव “कर्तरि चर्षि” इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते । एवञ्च
अन्तवद्भावेन पदान्तस्य रेफस्य न विसर्ग इति वचनान्तरं न कल्पनीयं भव-
तीत्यपरमनुकूलम् । विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ।

क्रियायोगानिमित्तत्वादिति । जन्यबोधविषयीभूतक्रियाविशेषविषय-
कतात्पर्यग्राहकत्वे सति प्राद्यन्यतमत्वमुपसर्गत्वमिति स्वीकारेण जन्यत्वस्य
जनकांशे नित्यसाक्षात्त्वेन क्रियाविशेषविषयकबोधस्य धातुनैव जन्यत्वाद्धा-
त्वाक्षेप इति भावः । *प्रत्यासत्त्येति* । यज्जन्यबोधविषयीभूतक्रियाविशेष-
विषयकतात्पर्यग्राहकत्वं प्रादीनां तद्धातुनिरूपितोपसर्गत्वं तेषामिति प्रगत
ऋद्धः प्रद्धं इत्यादौ गमधातुजन्यबोधविषयीभूतक्रियाविशेषविषयकतात्पर्य-
ग्राहकत्वेन प्रशब्दस्य गमधातुनिरूपितमेवोपसर्गत्वं न तु ऋधधातुनिरूपितो-
पसर्गत्वमिति न वृद्धिरिति भावः । *सुबन्तप्रकृतिक इति* । सुबन्तप्रकृतिकप्र-
त्ययान्तधातावित्यर्थः । यथाश्रुतं तु न युक्तम् । धातौ सुब-
न्तप्रकृतिकत्वस्य क्वाप्यदृष्टत्वात् । *धातुप्रकृतित्वेनेति* । धातु-
संज्ञाप्रयोजकप्रत्ययप्रकृतित्वेनेत्यर्थः । अन्यथा धातौ प्रत्ययत्वस्याभावेनै-
तदुक्तिरसङ्गता स्यात् ।

तन्निषेधस्य चानावश्यकता सूचिता । वाक्यभेदेनेति । इदं वृत्तौ स्पष्टं, भाष्ये तु न दृश्यते । “एवे च” इति वार्तिकं सूत्रे धातावित्यनुवृत्तेरारब्धम् । अवधारणं नियमः । एवशब्दस्य द्योत्यमर्थद्वयमवधारणमसंभवरूपानवकल्प्यादि च, तयोरन्त्योऽत्र एवशब्दार्थ इत्यभिप्रेत्याह अनकल्पसावेवेति । केव भोक्ष्यसे इत्युक्तेः स्थलसङ्कीर्णत्वादिना नास्ति संभवस्तव भोजनस्येति गम्यते ।

अचो ऽन्त्या । अच इति निर्धारणे षष्ठी* । अन्ते भवो ऽन्त्यः । अन्त्यादीति *गमकत्वाद् बहुव्रीहिः । मार्त्तण्ड इति । मृताण्डादागतो मार्त्तण्डः । अण्विषये एव पररूपम् । ननु मार्त्तशब्दान्त्याच् तकाराकारः स आदिर्यस्येत्यन्यपदार्थो दुर्लभ इति चेन्न । एकस्मिन्नेव समुदायरूपत्वारोपेण तदवयवत्वारोपेण च तदुपपत्तेः । एतन्मूलकमेव “व्यपदेशिवदेकस्मिन्” इति पठ्यते इत्यलम् । वस्तुतः *आरोपस्य नात्रोपयोगः । “शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः” इति पतञ्जल्युक्तेरर्थाभावे ऽपि *विकल्पात्मकं ज्ञानमत्र, तदपि लक्ष्यानुरोधाच्छास्त्रप्रवृत्त्युपयोगीति बोध्यम् । पतञ्जलिरिति तु अञ्जलेः पतित *इति विग्रहे मयूरव्यंसकादिवात्समासे तत्रैव नि-

निर्धारणे षष्ठीति । स्वार्थसमुदायस्य स्वघटकत्वम्-स्वघटकान्त्याजितरयावदजवृत्त्यन्तत्ववत्त्वम्-एतदुभयसम्बन्धेनाचि, स्वघटकवृत्तित्वम्-स्वघटकान्त्याजितरयावदजवृत्तित्वम्-एतदुभयसम्बन्धेनान्त्यत्वे वा ऽन्त्यः । *गमकत्वादिति* । बोधक्षमत्वादिति यावत् । अन्त्यत्वस्य निरूपकांशे नित्यसाकाङ्क्षत्वेन-यत्किञ्चित्पदार्थनिष्ठप्रकारतानिरूपितनित्यसाकाङ्क्षेतरनिष्ठविशेष्यतासम्बन्धेन शाब्दबुद्धित्वावाच्छिन्नं प्रति मुख्यविशेष्यतासम्बन्धेनोपस्थितिः कारणमिति कार्यकारणभावमूलकस्य “पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन” इति न्यायस्याप्रवृत्तेरिति भावः । *आरोपस्येति* । “विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्” इति पतञ्जलिलक्षितविपर्ययात्मकज्ञानस्येत्यर्थः । तच्च नैयायिकमते इवान्यथाख्यातिरेव, तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकं ज्ञानमिति यावत् । रामायेत्यादौ सुप्तवाभाववद्यशब्दविशेष्यकं सुप्तत्वप्रकारकं ज्ञानं यथा । *विकल्पात्मकं ज्ञानमिति* । वस्त्वविषयकत्वे सत्यपि प्रमाणाबाधितं शब्दजनितं ज्ञानमित्यर्थः । यथा पुरुषस्य चैतन्यम्, राहोः शिरः, इत्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानम् ।

ननु समासार्थं पतञ्जलिशब्दस्य मयूरव्यंसकादौ पाठस्याऽऽवश्यकत्वेन तत्रैव निपातनादितशब्दस्य लोपे तद्रूपोपपत्तौ शक्यत्वादिष्वेतत्पाठो ऽनावश्यक इत्यभिप्रेत्याह *इति विग्रहे इति* । अनेन पतन्त्यञ्जलयो यस्मिन्नमस्कार्यत्वादिति विग्रहे तु शक्यत्वा-

पातनादितशब्दस्य लोपे पृषोदरादित्वाद्वा तल्लोपे साधु । गोनर्ददेशे कस्य चिद्वेषेरञ्जलेः सन्ध्याकरणसमये पतित इत्यैतिह्यात्* ।

ओत्वोष्ठयोः । अत्र समर्थपरिभाषा नोपतिष्ठते । “समासे ऽङ्गुलेः सङ्गः” इत्यादौ समासग्रहणेन पदविधिरितिसूत्रस्वरसेन भाष्यादिस्वारस्येन च पदत्वेन सुबन्तत्वेन वा यत्र साक्षादुद्देश्यता तत्रैतत्परिभाषाप्रवृत्तिस्वीकारात्* । ओत्वोष्ठादिमात्रस्य पदत्वाभावात् । अवर्णादोत्वोष्ठयोरचि तद्धटितसमासे इत्यर्थाद् “दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृत” इतिप्रयोगसिद्धिः । अन्यथा प्रत्यासन्न्यौत्वाद्युत्तरपदकसमास एव प्रवृत्त्यापत्तौ तदसङ्गतिः स्पष्टैव । ओतुर्विडालः ।

ओमाङ्गोः । अत्र एङीति नानुवर्त्तते, तेनेषदर्थकाऽऽङ्गा सह ऋषभशब्दस्य समासे ऽद्य अर्षभ इत्यत्र पररूपे ऽद्यर्षभसिद्धिः । न चात्र परत्वादीर्घप्रसङ्गः, प्रतिपदविधित्वञ्च निरवकाशत्वे सत्येव बाधकत्वे प्रयोजकमिदञ्च मध्येऽपवादन्यायेनावेहीत्यादौ वृद्धेरेव बाधकं स्यादिति वाच्यम् । लक्ष्यानुरोधेनात्र बाध्यसामान्यचिन्ताश्रयणात् । अन्यत्र प्रतिपदविधित्वस्य बलवत्त्वे प्रयोजकतादर्शनेन परदीर्घात्पूर्वं पररूपप्रवृत्तेश्च ।

अव्यक्तशब्दार्थो ध्वनेरिति । अविद्यमानकत्वादिशब्दस्येत्यर्थः । तस्य चाच्छब्दो ऽनुकरणे एव सम्भवतीत्याह । अनुकरणस्येति । अत्रालोन्त्यस्येति न प्रवर्त्तते, “नानर्थके” इति निषेधात् । आम्नेडितस्य वेति वक्तव्ये नाम्नेडितस्येत्यारम्भाद्वा* । अत इति किम् । वटगिति ॥

नाम्नेडित । अव्यक्तानुकरणस्य इति, अत इति च वर्त्तते । अव्यक्तानुकरणावयवीभूतान्नेडितावयवाच्छब्दस्येत्यर्थः । नाम्नेडितस्य तस्तु

विषु पाठ आवश्यक इति सूचितम् । अञ्जलेः पतित इति विप्रहे प्रमाणं दर्शयितुमाह *ऐतिह्यादिति* ।

परिभाषाप्रवृत्तिस्वीकारादिति । पदसंज्ञाप्रयोजकप्रत्ययोत्पत्तिप्रयोजकसंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नसम्पादकाविधित्वस्य ओत्वोष्ठ्योरित्यत्राभावादिति भावः । अत एव “समासे ऽङ्गुलेः सङ्गः” इत्यत्र समासग्रहणं चरितार्थम् । मूलोक्तन्तु न युक्तम् । यङादिविधौ ण्वुल्विधौ स्वार्थिकतद्धिताविधौ च पदत्वेन सुबन्तत्वेन वा साक्षादवच्छिन्नोद्देश्यताकत्वस्याभावेन समर्थपरिभाषाऽनुपस्थितिप्रसङ्गादिति दिक् ।

नानर्थकपरिभाषाप्रत्याख्यानोऽपि उपायमाह *आरम्भाद्धेति* ।

वेति न सूत्रितं वैचित्र्यार्थम् । फलकल्पनाभिनिवेशस्तु न युक्तो, भाष्यानु-
क्तेः । अत एव “तदधीते तद्वेद” इति सूत्रे “द्विस्तद्ग्रहणं प्रमादकृतमाचार्य-
स्य” इति भाष्ये उक्तम् । लाघवानवधानलक्षणो ऽत्र प्रमाद इति कै-
यटः । क्व तदवधानं क्व तदनवधानमिति तु भाष्यकृदुक्तप्रयोजने तद-
वधानमन्यत्रान्यदिति निर्णयम् । ननु डाचो ऽभावादेतदप्राप्तिरत आह ।
बहुलवचनादिति ।

तस्य परम् । अवयववाचिपरशब्दयोगे ऽत एव *ज्ञापकात् ष-
ष्ठी । तस्यग्रहणं स्पष्टार्थं, द्वे इत्यनुवर्त्य षष्ठ्या *विपरिणामेन सिद्धेः । अ-
न्याद्विरुक्तपरस्य तु न सज्ज्ञा, अष्टमे सर्वस्येत्येतत्प्रकरणे संज्ञाकरणात् ।

झलां ज । अन्तग्रहणं झलीतिनिवृत्त्यर्थम् । सर्वोपकारकतया
च प्रकरणान्ते ऽस्य लेखः । एतेन श्रदित्यत्रैव लेख उचित इत्यपास्तम् ।

अज्झलोः सावर्ण्यनिषेधादाह । अचि किमिति । अनिष्पत्तेरिति ।
नाज्झलावितिसूत्रविषयनिर्णये ऽपवादविषयपरिहारेण तत्तद्वर्णीयसवर्णप-
दवाच्यनिर्णयोत्तरं तावतां ग्रहणस्य ग्रहणकशास्त्रबोध्यतया एतद्बोधकाले
ग्रहणकशास्त्रस्य तावद्ग्रहणबोधकत्वानि*ष्पत्तेरित्यर्थः ।

सूत्रस्थसवर्णपदानुवृत्तिमभिप्रेत्याह । ऋति सवर्ण इति ।
तत्फलं दध्यृकारादावेतदप्रवृत्तिः । एतद्विधेययोः अइउण्मूत्रानन्तरं पा-
ठादृत्त्वं, तेन तयोः स्थाने प्लुतसिद्धिस्तयोश्च न रपरत्वम्* ।

ज्ञापकादिति । परशब्दस्यावयवत्वविशिष्टपरत्वावच्छिन्नवाचकत्वेन परत्वे
ऽवधितया ऽन्वयविवक्षायां पञ्चमी । अवयवत्वे निरूप्यनिरूपकभावसम्ब-
न्धेनाऽन्वयविवक्षायां षष्ठीति भावः । अवयवत्वविशिष्टपूर्वत्वावच्छिन्न-
वाचकपूर्वशब्देऽप्येवं बोध्यम् । अत एव परं नाभेः कायस्य, पूर्वं ना-
भेः कायस्येत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते । अत एव रेफानुस्वारयोश्चा-
वयवत्वावच्छिन्नविधेयताश्रयत्वरूपाऽऽगमत्वसिद्धिरिति दिक् । *विपरि-
णामेनेति* । “पूर्वो ऽभ्यासः” इत्यत्रेवेति भावः ।

मूले “पदान्ते” इति पदान्तानां झलामित्यर्थः । अन्यथा सरितावित्यादौ
पदान्तो यत् ताविति तत्र विद्यमानत्वाज्झलो जइत्वं दुर्वारं स्यादिति बोध्यम् ।
परिहारेणेति । अपवादशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सङ्को-
चेनेत्यर्थः । सङ्कोचप्रकारं पूर्वमेवावोचाम । *अनिष्पत्तेरितीति* । अ-
सम्भवादिति भावः । तथाहि सवर्णपदशक्तिनिश्चयस्याणुदित्सूत्रजबोधे
कारणत्वेन तन्निश्चयस्य च “नाज्झलौ” इति शास्त्रजबोधाधीनत्वेन तत्कालेऽष्टा-
दशबोधकारणत्वस्याणुदित्सूत्रे ऽसम्भवादिति । *न रपरत्वमिति* । अइउण्-

द्विमात्रमिति । *अत एव “अकः सवर्णे” इत्यनेनैव ऋकार-
रद्वयस्य स्थाने रेफद्वयवत्तारूपगुणकृतान्तर्येण कदाचिद्रेफद्वयगर्भस्य वि-
वृतत्वान्तर्येण कदाचिद्विवृतस्य, लृकारे लकारवत्तान्तर्येण कदाचिद्
द्विलकारस्य कदाचिद्विवृतत्वसाम्येन रेफवत्तासाम्येन च तादृशस्य ऋकार-
स्य सिद्ध्या* विकल्पफलसिद्धिमाश्रित्यैतद्वचनद्वयं “तुल्यास्य” इति सूत्रे
भाष्ये प्रत्याख्यातम् । द्वौ रेफाविति । अत्रापि तदेव भाष्यं मानम् । द्वि-
रेफत्वे हि रेफद्वयवति स्थानिन्ययं, लकारवत्यपर इति व्यवस्था सिद्ध्यति ।
अभित इति । द्वौ रेफावित्यनुषज्यते, तच्च द्वितीयान्तम् । अभितः पदयोगात् ।

*एओङ्सूत्रे भाष्ये मातृणामित्यादौ णत्वादिसिद्ध्यर्थमवश्यमङ्गीकर्तव्ये
“वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते” इति पक्षे प्रलूय खट्वाभिर्वाचा तरतीत्या-
दौ तुगैर्मूद्वयजलक्षणानां शङ्कायाः, दीर्घादिति तुग्विधानसामर्थ्यतपरकर-
णसामर्थ्यनौद्वयचइतिसूत्रस्थनौग्रहणसामर्थ्यैर्भेदेनाप्रतिभासमानेषु वर्णाव-
यवेषु अवयवसदृशस्वतन्त्रवर्णाश्रयकार्याभावज्ञापनरूपसमाधानस्य च कर-
णवत् प्रातर्ऋतमित्यत्र रोरीत्यस्य तद्लृकार इत्यादौ तोलीत्यस्य च शङ्का-
समाधानाकरणेन “यत्तद्रेफात्परं भक्तेः” इति हयवरदसूत्रस्थभाष्येण च ऋ-
लृकसूत्रस्थयोरर्थमात्राज्भागस्याभितः क्लृप्तत्वेन तथैवोचितत्वादिति भावः ।
द्वौ लकाराविति । हलद्वयवत्पूर्वसाहचर्यादिति भावः । अत्र ह्रस्व-
ऋकारद्वयस्थानिकैकादेशे एव पूर्वस्य साधुत्वं ह्रस्वऋकारलृकारस्थानिकैका-
देशे एवोत्तरस्य साधुत्वम् । *अत एव लृति न ऋकारो नाप्यृति लृकारः ।
*अत एव वार्तिके ऋतीति तपरकरणमुत्तरवार्तिके लृतीति च चरितार्थम् ।
तुल्यास्यसूत्रे भाष्ये यदेतद्वतीति एतद्वत इति वक्ष्यामीत्येतद्वचनाश्रयणेन
ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यं न कार्यमिति च सङ्गच्छते । उपस्थितरेफीयप्रयत्नत्यागे

सूत्रानन्तरमेतयोः पाठेनाण्त्वाभावादिति भावः । *अत एवेति* । द्विमा-
त्रिकत्वादेवेत्यर्थः । *सिद्ध्येति* । विनिगमनाविरहेण मूर्धस्थानजन्यत्व-
विशिष्टविवृतत्वस्य मूर्धस्थानजन्यत्वविशिष्टरेफद्वयवत्त्वस्य चाऽऽदेशता-
नियामकत्वादिति भावः । एवं लृकारांशेऽपि विवृतत्वस्य दन्तस्थानजन्यत्व-
विशिष्टलृकारद्वयवत्त्वस्य चाऽऽदेशतानियामकत्वं बोध्यम् । वार्तिकद्वय-
विधेययोरभितोऽज्भक्तिसत्त्वे प्रमाणमाह *एओङ्सूत्रे इत्यादि* । *अत एवे-
ति* । ह्रस्वऋकारद्वयस्थानिकमेव पूर्ववार्तिकविधेयं साधु, एवं ह्रस्व-
ऋकारह्रस्वलृकारोभयस्थानिकमेव उत्तरवार्तिकविधेयं साध्विति स्वीकारा-
देवेत्यर्थः । अत्रैव प्रमाणमाह *अत एवेत्यादिना ।

मानाभावादीषत्स्पृष्टाविमौ । विवृतत्वे हि विवृतऋकारलृकाराभ्यामनयोरपि ग्रहणे ऽकः सवर्ण इत्यनेनैव सिद्धे वार्तिकस्यैव वैयर्थ्यापत्तेः ।

एङ् । पदान्तात् किम् । भवति ।

सर्वत्र वि । प्रकृत्याऽन्त इति सूत्रात्प्रकृत्येत्यनुवर्तते । प्रकृति-
शब्दोऽत्र स्वभाववाची, दुस्त्यजा प्रकृतिरित्यादौ तथा दर्शनात् । प्रकृत्या
स्वभावेनावस्थानमित्यर्थः । अत एव प्रकृतिभावे न पूर्वरूपं नाप्ययादय
इति भावः । नान्तः पादमिति पाठे त्वनेन सूत्रेण गोशब्दस्य यत्प्राप्तं
तन्नेति व्याख्यानेन नान्तः पादमित्यनेनैव पूर्वरूपत्वादिकं विकल्पेन
निषिद्ध्यत इति बोध्यम् ।

अवङ् । स्फोटो ऽयनं यस्य सः, स्फोटप्रतिपादक इत्यर्थः । स्फौ-
टायनस्येतिपाठे नडादित्वं कल्प्यम् । स्फोटायनो ऽवङ्कः स्पर्त्ता, अन्यस्तु
तदभावस्येति स्मृत्यन्तरानुसन्धानद्वारेणात्र विकल्पो बोध्यः । निवृ-
त्तामिति । अत एव इन्द्रे इति सामर्थ्यान्नित्यमिति *भाष्यादायुक्तम् ।
गवाग्रमिति । सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वादीर्घ इति बोध्यम् ।
व्यवस्थितेति । “देवत्रातो* गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः । मिथस्ते-
न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः ॥ तेन प्राण्यवयवे न” इति शाच्छोरिति
सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । “अग्नीत्प्रेषणे” इति सूत्रे अग्नीदग्नीन्विहरेत्यत्र एतद्व्यावृ-
त्त्यर्थं वार्तिककृद् बहुलग्रहणघटितं न्यासं कृतवान् । तत्प्रत्याख्यानाय भाष्ये
कृतेन विभाषेति योगविभागेन विभाषेत्यस्य व्यवस्थितविभाषात्वं ध्वनित-
म् । तथा “अजेर्व्यघ्नपोः” इति च व्यवस्थितविभाषेति अजेर्वीतिसूत्रे
भाष्ये स्पष्टम् । न च *व्यवस्थितविभाषयेन्द्रे नित्यावङ्क सिद्धे “इन्द्रे च”
इति व्यर्थमिति वाच्यम् । भाष्योक्तातिरिक्तव्यवस्थितविभाषाणामप्रामाणि-
कत्वज्ञापनार्थं तत्सत्त्वादित्याहुः ।

इन्द्रे च । क चिद्भाष्यपुस्तके चशब्दरहितः पाठः । इन्द्रावयवे

भाष्यादायुक्तमिति । अथ नित्यग्रहणं किमर्थमित्यादिना पूर्वस्मिन्नेव
योगे विभाषाग्रहणं निवृत्तम् इत्यन्तेन च प्लुतप्रगृह्या इति सूत्रे भाष्यादौ ध्वनितम्
इत्यर्थः । *देवत्रात इति* । “नुदविदोन्दत्रा” “अचि विभाषा” “लटः सद्वा” “सर्वत्र
विभाषा” “शाच्छो” एतानि कारिकोक्तलक्ष्यविषये व्यवस्थितविभाषया प्रवर्तन्ते
इत्यर्थः । *व्यवस्थितविभाषयेति* । तत्त्वञ्च विभाषाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदक-

ऽचीत्यर्थस्तेन षष्ठीतत्पुरुषोत्तरपदषष्ठीतत्पुरुषे गवेन्द्रयज्ञ इत्यादाववङ्सिद्धिः । अन्यथा वाक्ये गोशब्दस्येन्द्रपरत्वासम्भवेन समासाक्षेपादिन्द्रशब्दस्योत्तरपदत्व एव प्रवृत्तिः स्यात् ।

“प्लुतप्रगृह्या” इत्यस्य प्रकृत्येति पाठे एव सामञ्जस्यं मत्वाऽऽह । अथ प्रकृतीति । न चैतद्धटकपदार्थज्ञानाय प्रगृह्यत्वादिकथनं पूर्वं युक्तमिति वाच्यम् । इन्द्रे चेत्यत्र प्राचीनपठितनित्यग्रहणस्य प्रामादिकत्वं बोधयितुं तदव्यवहितमेतत्सूत्रलेखनात् । तत्र नित्यग्रहणे तदव्यवहितोत्तरैतत्सूत्रे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्याशयेनाह । प्लुताः प्रगृह्याश्च वक्ष्यन्ते इति । अचीत्यनुवर्त्तमाने पुनरज्ग्रहणं प्रत्यासत्त्या यत्राचि अनयोः प्रकृतिभावस्तदग्निमित्तकार्यस्यैव तेनाभाव इत्यर्थलाभार्थं, तेन जानु उ अस्य रुजति जानू असेत्यादौ सवर्णदीर्घरूपसन्धिर्भवत्येव* । एहि कृष्णेति । “दूराद्भूते च” इति प्लुतः । अत्र प्लुतस्याऽऽश्रयात्सिद्धत्वं बोद्धव्यम् । नित्यामिति किमिति । वाग्रहणानिवृत्त्यैव तल्लाभ इति प्रश्नः । मा भूदिति । नियत्ग्रहणसामर्थ्येन पुनर्विधानाद् बाधकविषये ऽप्ययमेवेति* भावः ।

व्याप्यरूपव्यापकभावाभावान्यतरविधायकत्वम् । *आक्षेपादिति* । श्रुतार्थापस्येति भावः । *भवत्येवेति* । न च “प्लुतप्रगृह्या” इत्येव सिद्धे अचीत्यनुवृत्तिसामर्थ्यादेव यन्निमित्तकः प्रकृतिभावस्तदग्निमित्तकस्यैव सन्धिकार्यस्याभावो ऽनेन भवतीति जानु उ अस्य रुजति जान्वस्य रुजतीत्यादौ न दोष इति सूत्रे अजिति व्यर्थमिति वाच्यम् । जानु उ जानू इत्यत्र प्रकृतिभावाभावायाचीत्यनुवृत्तेः सार्थक्येन वैयर्थ्याभावान्निरुक्तकल्पनाया असम्भवात् ।

अयमेवेतीति । ननु “इको यणचि” “पदस्य शाकल्यस्य ह्रस्वः” “ऋत्यकः” इत्येवं सूत्रत्रयमस्तु, तथा च हरो एतावित्यादौ परत्वादयमेव प्रकृतिभावो यथा स्यादिति नित्यग्रहणं व्यर्थम् । नच इक इत्यपि व्यर्थं “ह्रस्वस्य पिति कृति तुक” “दीर्घात्” इति सूत्राभ्यां ह्रस्वदीर्घानुवृत्त्यैव सिद्धेः । हे दैत्य अत्रेत्यादौ तु परत्वात्सवर्णदीर्घेण बाधान्न यण, इति वाच्यम् । यातिरित्यादौ स्थानिवद्भावेन यणापत्तेः । पूर्वस्यैव हि विधौ स्थानिवद्भावेन सवर्णदीर्घाप्राप्त्या सवर्णदीर्घप्रवृत्तियोग्यसवर्णाच्त्वावच्छिन्नातिरिक्ताच्परकत्वस्य संस्वात् । गोमयशब्दादाचारकिबन्तात् क्विचि अतोलोपयलोपयोः गोमतिरित्यादौ यणापत्तेश्च, इति चेन्न । “अप्लुतवदुपस्थिते” इत्यत्रासवर्णग्रहणानुवृत्तये यथाश्रुतन्यासस्याऽऽवश्यकत्वात् । अत एव “ई चाक्रवर्मणस्य” इति

इको ऽसवर्णे । “एङः” इत्यतः पदान्तादित्यनुवृत्तं प्रथम-
या विपरिणम्यत इत्याह । पदान्ता इति । चेति । ह्रस्वयणोर्वि-
धानसामर्थ्याच्च न विकल्पसिद्धिः । अपदान्तादौ यणश्चरितार्थत्वात् ।
सामर्थ्यादेवेति । चेन प्रकृतिभावाकर्षणे ऽपि “ऋत्यकः” इत्यत्र चा-
नुकृष्टत्वेन तदसम्बन्ध इति तदर्थं ह्रस्वविधानसामर्थ्यस्याऽऽवश्यकत्वेन
चकारो व्यर्थ इति भावः । भाष्ये स्थितामिति । प्रकृतसूत्रे इति शेषः ।
एतेन “ह्रस्वाभावे प्रकृतिभावार्थं चकार” इति न्यासाद्युक्तमपास्तम् । चक्री
अत्रेति तु संहिताया अविवक्षायां बोद्धव्यम् । “न समासे सिति च”
इति वार्त्तिकम् । पार्श्वमिति । “पश्वा णस् वक्तव्यः” इति णस् । सिति
चेति पदत्वम् ।

ऋत्यकः । सवर्णार्थमनिगर्थश्चेदम् । होतृऋकारः । ब्रह्मऋषिः ।
आर्छादिति । आटो धात्ववयवत्वेनापदान्तत्वादिति भावः । एतेन
“आटश्च” इति पुनर्वृद्धिविधानार्थेन चेन उर्योमाङ्क्षु पररूपबाधवत्प्रकृ-
तिभावस्यापि बाधेनेष्टसिद्धिरित्यपास्तम् । समासे ऽपीति । *व्याख्या-
नादिति भावः । सप्तऋषीणामिति । “द्विसंख्ये” इति समासः ।

प्रकरणशुद्धये प्रकृतिभावविधायकसूत्रद्वयमुपन्यस्य प्लुतप्रगृह्या
इतिसूत्राकाङ्क्षितप्लुतप्रगृह्ययोर्मध्ये प्रथमोपात्तत्वात् प्लुतप्रकरणमारभते—
वाक्यस्य टेः । वाक्यस्येत्यभावे पदस्य टेरित्यर्थे ऽनन्त्यस्यापि पदस्य
टेः प्लुतः स्यात् । तत्सत्त्वे तु वाक्यस्य टिरन्त्यपदस्यैव सम्भवतीति न
दोषः । टिग्रहणाभावे प्लुतश्रुत्योपस्थिताच्परिभाषया ऽनन्त्यस्यैव स्यात् ।
टिग्रहणे तु सामर्थ्याद्विनाऽचो विशेषणाद्व्यञ्जनान्तस्यापि भवति ।

प्रत्याभिवादे । प्रणामादिभिराशिषं वाच्यमानो गुर्वादिर्यत्प्रति-
संभाषते तत्प्रत्यभिवादः । न त्वाशीर्वचनं, शूद्रे आशीर्वादरूपप्रत्यभिवादा-
भावेनाऽशूद्रे इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । अत एव भाष्ये “अशूद्रे इति किं कुश-
ल्यसि तुषजक” इत्युक्तम् । अभिवादये इति । नमस्कारादिपूर्वमाशीरादि
वाचयामीत्यर्थः । आयुष्मानित्यायुष्मत्त्वस्य विधेयत्वात्संबोधनविभक्त्य-
भावः । एधीति भवेत्यस्याप्युपलक्षणम् । प्रत्याभिवादे शर्मादिप्रयोगो न नि-

सूत्रस्थे ईग्रहणे तत्प्रत्याख्यानं च न फलभेद इति वक्ष्यते इति दिक् । *व्याख्या-
नादिति* । पूर्वसूत्राप्राप्तियोन्यस्यैवोदाहरणस्य भाष्ये उपन्यासमूलकात् सि-
त्साहचर्यमूलकाद्वा व्याख्यानादित्यर्थः ।

यतः । “एचोऽप्रगृह्यस्य” इति सूत्रे प्रत्यभिवादे ऽन्तस्यैचः प्लुतविधानात् । आयुष्मानेधि अग्निभूताऽइ इति भाष्ये तदुदाहरणाच्च । शर्मादिप्रयोगे तु तट्टे-
रेव प्लुतः । “शर्मन्तं नाम ब्राह्मणस्य” इत्यादिस्मृत्या तस्य नामावयवत्व-
बोधनात् । स्त्रियां नेति । स्त्रिया अपि नाम्नाऽभिवादप्रत्यभिवादे* इत्य-
र्थस्य भाष्यसंमतत्वादिति भावः । नाम गोत्रं वेति । अभिवादप्रत्य-
भिवादे नामगोत्राभ्यामेव स्मृतिषु प्रसिद्धे । तत्राधिकृतस्य पदस्येत्यस्य
प्रत्यभिवादे इत्यनेन विशेषणात्प्रत्यासत्त्या प्रत्यभ्युद्यमानार्थवाचकस्यैव
प्लुत इति भावः । तत्र नामशब्देन द्वादशे ऽह्नि पित्रादिकृतं गृह्यते । अत
एवाऽऽयुष्मान् भव दण्डिन्नित्यादौ प्लुतो नेति स्पष्टं भाष्ये । भोराजन्ये-
ति । भोःशब्दस्य राजन्यवैश्यवाचक*नाम्नश्च टेः प्लुत इत्यर्थः । भोः-
शब्दस्याप्राप्ते इतरयोस्तु नामत्वात्प्राप्ते *विभाषेयम् ।

दूराद् धूते । यावति देशे प्राकृतप्रयत्नोच्चारितं संबोध्यमानो न
शृणोति किं त्वधिकं प्रयत्नमपेक्षते तावद् दूरम् । दूरादाह्वानश्च दूराद्
बोधनस्योपलक्षणं, न तु सम्बोधनविभक्तिनियामकस्याभिमुखीकृत्यबोध-
नरूपस्य *सम्बोधनस्योपलक्षणम् । ‘आगच्छतु भवान्देवदत्त’ इत्येवमाह्वान-
स्यापि सम्भवात् । अत *एवाऽऽकडारसूत्रे नदीगुरुसंज्ञयोः समावेशे वात्सी-
वन्धुरित्यत्र गुरोरिति प्लुतो “नदी बन्धुनि” इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वश्च फल-
मुक्तं भाष्ये । अन्यथाऽत्र सम्बोधनाभावेन गुरोरित्यस्याप्राप्त्या तदसङ्गतिः
स्पष्टैव । उपलक्षणत्वादस्त्यप्याह्वाने भवति-तदाह सक्तूनित्यादि ।
अत्रापि दूराद् धूते इत्येतत् अनुवृत्तस्य पदस्येत्यस्य विशेषणं, तेन हूयमा-
नार्थवाचिनः पदस्यैव टेः प्लुतः । तच्च रूढं यौगिकं वेत्यन्यदेतत् ।

हैहेप्र । हैहयोः सम्बोधनद्योतकत्वेन केवलाभ्यामपि ताभ्यां सम्बो-
धनदर्शनेन च तयोरपि हूयमानार्थपदत्वाद् “गुरोरनृतः” इत्येव *सिद्धे

प्रत्यभिवादे इति । वाक्ये इत्यध्याहारः । *वाचकेति* ।
प्रत्यभिवादे नामगोत्रान्यतरोच्चारणस्य नियतत्वेन वार्तिके न स्वरूपग्रहणम् ।
भोःशब्दांशे त्वसम्भवात् स्वरूपग्रहणमेव न पर्यायग्रहणमिति भावः । *वि-
भाषेयमिति* । उभयत्र विभाषेयमित्यर्थः ।

सम्बोधनस्येति । प्रकृतवाक्यजन्यबोधाश्रयत्वप्रकारकेच्छारूपस-
म्बोधनस्य नोपलक्षणमित्यर्थः । *अत एवेति* । सूत्रे दूराद् धूते इति
बोधनमात्रस्योपलक्षणमिति स्वीकारादेवेत्यर्थः ।

गुरोरनृत इत्येव सिद्धे इति । न च गुरोरनृत इत्यस्य उद्देश्यतावच्छेदकं

नियमार्थमिदमित्याह । हैहयोरेवेति । हैहेऽन्ते इत्येव सिद्धे प्रयोग-
ग्रहणादनन्त्ययोरपि—तदाह हे३ रामेति । केचित्तु एकं हैहेग्रहणमन-
न्त्यार्थम् । अन्यथा वाक्यस्य ढेरित्यधिकारादनन्त्ययोरेव तयोः स्यात्—तदाह
हे३ रामेति । प्रयोग *इति तु यत्र सम्बोधनोत्तरं तयोः प्रयोगस्तत्र
तेनैवाभिमुख्यस्य द्योतितत्वेन द्योत्याभावादनर्थकयोरपि तयोः प्लुतार्थ—त-
दाह राम है३ इति । अन्यथा ऽप्रयुक्तयोः प्लुतासंभवात्तद्वैयर्थ्यं स्प-
ष्टमेव । हैहयोरिति तु तयोर्ह्यमानार्थपदत्वाभावादप्राप्ते विध्यर्थम् । नियमे
तु न मानं, तेनात्र प्लुतसमावेशः । एतत्सर्वं भाष्यकैयटयोः स्पष्टमित्याहुः ।
यत्तु अयं ह्यमानार्थपदस्य ढेः प्लुतस्य बाधकस्तत्क्रौण्डिन्यन्यायादिति,
तन्न । शिव हे इत्यादौ तस्या*प्राप्तेस्तन्त्यायविषयाभावात् ।

गुरोर । दूराद्भूत इत्यनुवर्त्तते, तेन दूराद् बोधन एव प्रवृत्तिः—
तदाह दूराद्भूत इति । दूरत्वश्चात्राविवक्षितं, तेन प्रत्यभिवादे भोराज-
न्येत्यस्य विषये ऽप्यस्य प्रवृत्तिः । तद्विषये ऽप्युपलक्ष्यबोधनसत्त्वात् ।
सर्वप्लुतप्रकरणस्य तु न शेषः । तथा हि सति वाक्यस्य ढेरित्यनेन
सहैवास्याप्यधिकारत्वमेव कुर्यात् । एतत्रयविषयमेवेदमिति प्रकृतसूत्रे
अनुदात्तप्रश्नान्तेति सूत्रे च वृत्तौ स्पष्टम् । अपिशब्दो यथाप्राप्तिसमुच्च-
यार्थः । यदि तु गुरोः सन्निधानादन्यो गुरुरेव समुच्चीयेत तदाऽन्त्यल-
घुमति—अनन्त्यगुरावेतस्य, अन्त्यलघौ दूराद्भूते चेत्यादीनां दुर्वारत्वेन
प्लुतसमावेशापत्तिः । एकैकग्रहणं त्वेतद्विहितानामेव पर्यायार्थं स्यात् । तेन

ह्यमानार्थबोधकं वाक्यघटकं यत्पदं तत्सम्बन्धिक्रान्तिज्ञानानन्त्यगुरुत्वं तत्सम्ब-
न्धित्वञ्च । हैहे इत्यस्योद्देश्यतावच्छेदकं तु ह्यमानार्थबोधकवाक्यघटकं यत्
हैहेपदं तत्सम्बन्धित्वम् । तथा चानयोः सामानाधिकरण्यस्यैवाभावाद्या-
प्यव्यापकभावस्य दूरापास्तत्वेन नियम्यत्वाभिमतशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छे-
दकव्याप्यरूपावच्छिन्नोद्देश्यताकत्वे सति नियम्यत्वाभिमतशास्त्रीयविधेय-
तावच्छेदकरूपावच्छिन्नविधेयताकत्वं नियामकत्वमिति लक्षणस्य प्रकृतेऽभा-
वादिदमसङ्गतमिति वाच्यम् । आह्वानविषयकवाक्यघटकक्रान्तिज्ञानानन्त्यगुरुत्वं
तत्सम्बन्धित्वञ्च गुरोरनृत इत्यस्योद्देश्यतावच्छेदकमिति स्वीकारेण हैहे
इत्यस्य नियामकत्वसम्भवात् । *प्रयोग इति तु इति* । अयं भावः । हैहयोरित्येव
सूत्रमस्तु, हैहेशब्दान्तं यद्वाक्यं तदवयवनिर्दिश्यमानावयवढेरित्यर्थः । तथा
च द्वितीयं हैहेग्रहणं निर्दिश्यमानपरिभाषाया अप्रवृत्तये । हैहेऽन्तस्येत्यनेनैव
निर्दिश्यमानपरिभाषाया अप्रवृत्तौ सिद्धायां द्वितीयहैहेग्रहणं तदन्तविध्यभा-
षाय । हैहेन्ते हैहयोरित्येव सिद्धे प्रयोगग्रहणमनर्थकहैहयोरपि प्लुतार्थमिति ।
अप्राप्तेरिति । हे इत्यस्य ह्यमानार्थकत्वाभावादित्यर्थः ।

यत्रान्त्यो ऽपि गुरुरनन्त्यगुरुद्वयं वा तत्रैव पर्यायः स्यात् । व्याख्याना*
 चैतदर्थलाभः । अनन्त्यस्यापीति । अपिनाऽन्त्यस्य गुरोरगुरोश्चेत्यर्थः ।
 पर्यायार्थमिति । अन्यथा समावेशः स्यादिति भावः । अनुदात्तं पदमिति
 तु त्रिपाद्यां न प्रवर्तत इति तत्रैव वक्ष्यते* । प्राचामिति तु पक्षे सर्वेषां प्लु-
 ताभावार्थम् । विकल्पत इति । सा च व्यवस्थितविभाषा । तेनाग्नीद-
 ग्नीन्विहरेत्यादौ “अग्नीत्प्रेषणे” इति न । भाष्ये तु विभाषापृष्ठेति सूत्रे विभा-
 षेति योगविभागो दर्शितः । सा ऽपि व्यवस्थितविभाषेति कैयटः । अत
 एव ओश्रावये परस्येति वक्तव्यमिति वचनस्य अग्नीदग्नीन् इत्यादौ प्लुतनि-
 वृत्तये कृतस्य विभाषेति योगविभागेन प्रत्याख्यानं* भाष्योक्तं सङ्गच्छते ।
 एवञ्च भाष्यसंमतैषा व्यवस्थितविभाषेत्याहुः ।

अप्लुतवदित्युक्त्या प्लुत इत्यङ्गहारस्तदाह प्लुतो ऽप्लुतव-
 दिति । प्लुत एव निषिद्ध्येतेति । तत्स्थाने अप्लुतस्य विधानेन स
 एव निवर्त्ततेत्यर्थः । प्रसज्य प्रतिषेधेन व्याख्यानं तु न युक्तम् गौरवात्* ।
 किं च । तथा सति प्लुतप्रकरणे एव नोपस्थिते इति वदेत् । न च पर्युदासे
 ऽग्नी३ इतीत्यादौ प्रगृह्याश्रयप्रकृतिभावं बाधित्वा परत्वादप्लुतवद्भावे दीर्घा-
 दिकं स्यादिति* वाच्यम् । शब्दत इतिशब्दसापेक्षाप्लुतवद्भावापेक्षया वर्ण-
 मात्रापेक्षप्रकृतिभावस्यान्तरङ्गत्वात् । अप्लुतवदित्यस्य प्लुतकार्यं नेत्यर्थस्तु
 न शब्दमर्यादालभ्यः । प्लुते ऽप्लुतसादृश्यविधानस्यैव शब्दतो लाभात् । भा-
 ष्ये प्लुतकार्यप्रतिषेधार्थमित्युक्तिस्तु फलितार्थाभिप्रायेणैवेति बोध्यम् । प्र-
 गृह्याश्रये इति । प्लुते कृते ऽपि तस्यासिद्धत्वादीर्घत्वबुद्धिवत् तद्वतं प्र-

व्याख्यानाच्चेति । अनन्त्यस्यापीत्येतत्सामर्थ्यादित्यर्थः । अन्यथा एकै-
 कग्रहणसामर्थ्यादेतद्विहितप्लुतपर्यायस्य सिद्धत्वात्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । *वक्ष्य-
 ते इति* । “अनुदात्तं पदम्” इति परिभाषाया उदात्तस्वरितान्यतरविधायक-
 शास्त्रत्वस्य लिङ्गत्वेन, त्रिपाद्याश्च पूर्वत्रासिद्धमिति सूत्रेण शास्त्रत्वेनासिद्धत्वबो-
 धनात् उदात्तस्वरितविधायकशास्त्रत्वप्रकारकज्ञानाभावादेतस्यास्त्रिपाद्यामप्र-
 वृत्तावुदात्तप्लुतद्वयश्रवणाभावाय एकैकग्रहणमावश्यकमिति भावः । *प्रत्या-
 ख्यानमिति* । अग्नीदग्नीन् विहर इत्यत्रातिव्याप्त्यभावेऽपि “ओश्रावये परस्य
 च” इति वार्तिकस्य आश्रावय उद्धरोद्धरेत्यादावव्याप्तत्वादिति भावः ।

गौरवादिति । असमर्थसमासस्य क्रियाध्याहारस्य चाऽऽवश्य-
 कत्वादिति भावः । *इति वाच्यमिति* । नच कार्याति-
 देशपक्षे सादृश्यानुयोगितावच्छेदकावच्छेदेन यन्निमित्तवैकल्यप्रयुक्तोपदे-

गृह्यत्वमनुकार्ये सुलभम् । अनुकरणे तु “प्रकृतिवदनुकरणम्” इत्यतिदेशा-
त्तच्चमिति भावः ।

किं मया कर्तव्यमिति पृष्ठ आह । चिनु ही ३ इदमिति । “विभा-
षा पृष्ठप्रतिवचने हेः” इति प्लुतः । इदंशब्दो ऽत्र वाक्यान्तरस्थ इति हेरि-
कारस्य वाक्यदित्वम् । उभयत्र विभाषेयमिति । उपस्थिते प्राप्ते ऽनु-
पस्थिते चाप्राप्ते इत्यर्थः । विभाष्यते विकल्प्यत इति विभाषा । गुरोश्च
हल इत्यप्रत्यये टाप् । न वेति विभाषायामिति भाष्यप्रयोगात् । भाष्ये तु
“किमर्थमिदमुच्यते ऽनुपस्थितार्थं, तत्र ईग्रहणेन नार्थः, अविशेषण चाक्र-
वर्मणस्याप्लुतवदित्येव इदमपि सिद्धं वशा इयं वशेयम्” इत्युक्तम् । तद्वलेनो-
पस्थिते पूर्वविप्रतिषेधेन ईग्रहणे ऽपि नित्याप्लुतवद्भाव एवेष्टः । प्रत्याख्यानं
नित्याप्लुतवद्भावस्य येननाप्राप्तिन्यायेन वैकल्पिकतद्बोधिताभावांशबाध-
कत्वात् । उपस्थित इत्यस्य निवृत्त्या परविप्रतिषेधादुभयत्र विभाषेयमिति
कैयटस्य* प्रमादः । मूलं तु इतिशब्दभिन्ने वैदिकेतिशब्दे चेत्येवंपरतया
कथं चिद्भाष्येयमित्यन्ये । उद्देश्यप्रतिनिर्देश्ययोरैक्यमापादयत् सर्वनाम
पर्यायेण तत्तल्लिङ्गभागितीयमिति निर्देशः ।

शाप्रवृत्तिस्तन्निमित्तारिक्तसर्वनिमित्तकत्वमतिदेशस्येति सिद्धान्तेन प्रगृह्याः
प्रकृत्येत्यनेन प्रगृह्याभिन्नत्वेन “अकः सवर्णे” इत्यत्रत्याक्पदार्थे सङ्को-
चात्प्लुतभिन्नत्वातिरिक्तस्य सवर्णाजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टप्रगृह्याभिन्नाकत्वस्य
अप्लुतवद्भावे निमित्तत्वेनेमे शङ्कासमाधाने निर्दले इति वाच्य-
म् । परत्वादप्लुतवद्भावेन प्रगृह्याः प्रकृत्येत्यस्य बाधादवैदिकेतिशब्दा-
व्यवहितभिन्नप्रगृह्याभिन्नत्वेनाक्पदार्थे सङ्कोचादवैदिकेतिशब्दाव्यवहितपूर्वत्व-
विशिष्टप्लुतभिन्नो यः प्रगृह्यस्तद्भिन्नो यो ऽक् तादृशाकत्वमेव अप्लुतवद्भावे
निमित्तमिति शङ्ककस्याऽऽशयः, अन्तरङ्गत्वात्प्रगृह्या इत्यनेन बाधात्सामान्यतः
प्रगृह्याभिन्नत्वेनाक्पदार्थे सङ्कोचात्सवर्णाजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टप्रगृह्याभिन्ना-
कत्वमेव अप्लुतवद्भावे निमित्तमिति समाधातुराशय इत्यदोषात् । अपवा-
दविषये सङ्कुचितसङ्कोचो न भवतीति सिद्धान्तादिति दिक् ।

कैयटस्य प्रमाद इति । परं तु “अप्लुतवदुपस्थिते” इति सूत्रे
“इकोऽसवर्ण” इति सूत्रादसवर्ण इत्यनुवर्तते । अत एव चिनुहीतीत्या-
दावीग्रहणसत्त्वे विकल्पेनाप्लुतवद्भावः, प्रत्याख्यानपक्षे ऽपवादत्वाच्चित्या-
प्लुतवद्भाव इति फलभेदो न । अत एव नित्यग्रहणं किमर्थमिति भाष्योक्तप्रश्नः
सङ्गच्छते । अन्यथेकोयणचीत्यनन्तरं “पदस्य शाकल्यस्य ह्रस्वः” “ऋत्यकः”
इत्येव सिद्धे तदसङ्गतिः स्पष्टैव । एवञ्च यथाश्रुतं मूलमेव युक्तम् । नापि
कैयटस्य प्रमाद इति प्राहुः । असवर्णे इत्यनुवृत्तौ “वद्ग्रहणाभावे अग्नी३ इतीत्यत्र
प्लुतस्य श्रवणं न स्यात्” इतिभाष्यसङ्गतिरुहनीया ॥

विशेषणेन तदन्तविधिमाश्रित्याह । ईदूदेदन्तामिति । द्विवचन-
मिति । सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिनिषेधादिति* भावः ।
एदन्तमिति व्याख्याने फलमाह । पचेते इति ।

निपात ए । निपात इति किम् । चकारात्र* । प्रत्ययस्य शास्त्रक-
लिप्तार्थवत्त्वात् । एकाजिति कर्मधारयो वार्त्तिपदार्थप्रधानत्वेनान्तरङ्गत्वाद्*,
“व्याहरति मृगः” इत्यादिनिर्देशाच्च । तेन प्रेदामित्यादौ न दोषः—तदाह
एको ऽजिति । आङ्गवर्ज इति । पर्युदासस्यौचित्यात् । अत एवैकाज्जा-
डिति नास्त्रि । वासुदेववाचकस्य अशब्दस्य आङ्गा सहाव्ययीभावे आ आत्
अमित्यादौ सत्यभिधाने* स्वत आङ्गभिन्नत्वेन पूर्वान्तवच्चेन निपातत्वे
ऽपि प्रगृह्यत्वन्न । पूर्वान्तवच्चेनाऽऽङ्गत्वातिदेशे ऽतिदिश्यमानधर्मविरुद्ध*-
स्वाश्रयधर्मप्रयुक्तकार्यनिवृत्तेरतिदेशस्वभावसिद्धत्वात् । ओदिति सूत्रे आ उ

इति भाव इति । वस्तुतस्तु ईदूदेदन्तं यद् द्विवचनं तदन्ततदादि प्र-
गृह्यमित्यर्थेऽपि न दोषः । न च पदार्थः पदार्थेनान्वेति न तु पदार्थैकदेशेन इति
व्युत्पत्तिविरोध इति वाच्यम् । ‘गभीरायां नद्यां घोषः’ “डमो ह्रस्वादाचि” इत्यत्रेव
द्विवचनपदमेव ईदूदेदन्तं यद् द्विवचनं तदन्ततदादिपरम्, ईदूदेदितितात्पर्यग्रा-
हकमिति स्वीकारेणादोषात् । “सञ्ज्ञाविधौ” इति परिभाषा तु फलाभावाच्च
स्वीक्रियत इत्युच्छृङ्खलाः ।

चकारात्रेति । अत्र णलो माभूदित्यर्थः । *अन्तरङ्गत्वादि-
ति* । निषादस्थपत्यधिकरणन्यायेनेति बोध्यम् । *सत्यभिधाने इति* ।
अपरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वात्पूर्वं नपुंसकह्रस्वे पश्चात्सवर्णदीर्घे आमित्येव
स्यादिति बोधनाय सत्यभिधाने इत्युक्तम् । अत एव “अतोऽम्” इति
तपरकरणं चरितार्थमित्यन्यत्र निरूपितम् इति केचित् । वस्तुतस्तु उ-
भयोरपि लुकोः परस्परं निमित्तविनाशकत्वस्य तुल्यत्वे कस्य पूर्वं प्रवृत्तिरि-
त्याकाङ्क्षायामन्तरङ्गत्वादेरेव प्रयोजकत्वस्य वाच्यतया आङ्गः परस्या विभ-
क्तेः अन्तरङ्गत्वात् अव्ययादाप्सुप इति पूर्वमेव लुकि सामासिकलुकः सवर्ण-
दीर्घनिमित्तविनाशकत्वाभावेन अन्तरङ्गत्वादेव सवर्णदीर्घे च जाते ततः सा-
मासिकलुकि आ इत्यस्य नपुंसकप्रातिपदिकत्वाद्भ्रस्वे अतोऽम् इति अम्भावे
च अम् इत्यस्य सिद्धिरिति नानभिधाने पतद्बीजम् । किन्तु प्रचुरप्रयोगाभाव
एव अनभिधानबीजत्वेनोत्प्रेक्षितः । अतोऽम् इति तपरकरणस्य तु अञ्च
आञ्चेति समाहारद्वन्द्वे सामासिकलुगुत्तरं ह्रस्वदीर्घयोर्युगपत्प्राप्तौ
अपरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वाद् ह्रस्वे ततो दीर्घे आ इत्यत्र अम्वार-
णार्थं चारितार्थं स्पष्टमेवेत्याहुः ॥ *विरुद्धेति* अत्र वि-

ओ, इत्यत्र अनाङ्गिति—“प्रतिषेद्धार्थो ऽयमारम्भ” इति भाष्यं तु पर्युदासे ऽपि गम्यस्य प्रतिषेधस्य सत्त्वान्नानुपपन्नम् । अनाङ्गिति पर्युदासादेव निपातैकाङ्गरूपत्वे लब्धे निपातैकाङ्ग्रहणं स्पष्टार्थम् । स्वाङ्गसमुदाये स्वाङ्गत्वा-
*भाववदञ्चसमुदाये ऽच्त्वाभावाद् अच् इत्येवाच्समुदायग्रहणाभावे सिद्धे एकग्रहणमन्यत्र वर्ण*ग्रहणे जातिग्रहणार्थम् । तेन धिप्स*तीत्यादिसिद्धिरिति भाष्ये स्पष्टम् । जातिग्रहणार्थमित्यस्योपात्तजात्याश्रयैकानेकव्यक्तिग्रहणार्थमित्यर्थः । तेन तितउशब्दैकदेशस्य अउ इत्यस्यानुकरणे अउ अकरोदित्यत्र “अनुकरणं चानिति” इति निपातत्वे ऽपि प्रगृह्यत्वाभाव एकग्रहणफलं बोध्यम् । ननु ङकारस्य क्वाप्यश्रवणेन ङिदङ्गिद्विवेको दुर्ज्ञेय इत्यत आह । वाक्यस्मरणयोरिति । वाक्यशब्देन स्वार्थगतमनभिमतत्वम् । स्मरणं विस्मृतस्य स्मृतिविषयता । एवं किल तदिति स्मृतार्थनिर्देशः ।

निपात इत्यनुवृत्तमोदित्यनेन विशेष्यत इत्याह।ओदन्त इति।निपात-सञ्ज्ञा चादिपदोपस्थितचादीनां* सति संभवे ऽर्थवतामेवेति सार्थकनिपातानां निपातपदेन तत्तदर्थविशिष्टानामेवोपस्थितिरिति गौणमुख्यन्यायेन प्रकृतसूत्रस्थनिपातपदेन गौणार्थानां न ग्रहणमिति गोऽभवदित्यादौ च्यन्ते नास्य प्रवृत्तिः । एवञ्च कार्यकालपक्षे ऽपि च्यन्ता निपाता इत्यस्यानुपस्थितिरेतत्परिभाषावशात् । अव्ययसञ्ज्ञादौ तु नैतत्परिभाषाप्रवृत्तिरनित्यत्वात् । अत एवानर्थके ऽपि निपाते सा सञ्ज्ञा सिद्ध्यति ।

त्रपो इतीत्यादौ प्रगृह्यत्वायाह संबुद्धिनिमित्तक इति । सम्बुद्धिपर इति व्याख्याने तु सोर्लुका लुप्तत्वेन तत्परत्वाभावान्न स्यात् । न लुप्ततेतिनिषेधानित्यत्वं त्वगतिकगतिः । इताविति किम् । पटो ऽत्र । अनार्षे

रुद्धत्वं तदभाववत्तानिश्चयमुद्रया न तु तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयमुद्रया । अत एव अधुरित्यादौ विभाषा ब्राधेडिति लुगर्थमतिदिश्यमानधेट्वविरुद्ध-स्वाश्रयादन्तत्वप्रयुक्ता “आत” इति शास्त्रेण जुस्सिद्धिरि दिक् । * स्वाङ्गत्वाभाववदिति* स्वाङ्गत्वपर्याप्त्यभाववदित्यर्थः । *वर्णग्रहणे इति* । यस्मिन् शास्त्रे यादृशवर्णत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नग्रहणं तत्रेत्यर्थः । *जातिग्रहणार्थमिति* । तादृशजात्यवच्छिन्नमात्रारब्धसमुदाये तादृशजातेरतिदेशादित्यर्थः । *धिप्सतीति* हलन्ताच्चेत्यत्र वर्णत्वव्याप्यहलत्वजात्यवच्छिन्नग्रहणसत्त्वात्तादृशहलत्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नमात्रारब्धे नम इति समुदाये हलत्वातिदेशेन कित्त्वं सिद्ध्यतीति भावः ।

चादीनामिति । न च निपातपदस्य चत्ववात्वादिनानाधर्मावच्छिन्न-

किम् । ब्रह्मबन्धवित्यब्रवीत् । संहिताया विवक्षायामप्यवादिरहितप्रयो-
गार्थमिदम् । तद्विवक्षा च वर्णोच्चारणे नियतेनार्धमात्राकालव्यवायेनो-
च्चारणेच्छा* । तदधिकार्द्धमात्राकालव्यवायेनोच्चारणेच्छा च तदवि-
वक्षेति बोद्धव्यम् ।

उजः । अत्रोञ् निपात* एव । उज ऊँ इत्येकसूत्रत्वे तु शाकल्यग्रह-
णानुवृत्तौ ऊँ इतीत्येकमेव स्यात् । प्रगृह्यसञ्ज्ञाप्रकरणेन प्रगृह्यत्वस्यादेश-
स्य च सह विधानात् । उ इति वितीति च न स्यात् । आदेशे प्रगृह्यत्व-
कार्यन्तु स्थानिवद्भावेन बोद्धव्यम् । प्रगृह्यत्वस्य साक्षादुद्देश्यसम्बन्धस्य
कलृप्ततया विधेयविशेषणत्वे मानाभावात् । शाकल्यग्रहणानुवृत्तावपि
प्रगृह्यत्वस्य ऊँ आदेशस्य विकल्पे ऊँ इति वितीति सिद्ध्यति न तु उ इतीति ।
प्रगृह्यत्वविकल्पेन पक्षे तदभावे ऽपि अस्य तात्पर्यात् । *एतदभावे निपात
एकाजित्यस्याप्रवृत्तेः । तदुक्तं भाष्ये योगविभागं प्रदर्श्य किमर्थो योग-
विभागः शाकल्यमते ऊँ विभाषा यथा स्यात् । ऊँ इति उ इति । अन्येषा-
माचार्याणां मतेन वितीति । अनेन हि योगविभागस्य 'उ इति' इति रूप-
सिद्धिः फलमिति स्पष्टमेव लभ्यते । अतो योगविभागेन व्याचष्टे । उज
इति । उजो-वाचकं *प्रगृह्यपदमित्यर्थः ।

शाकल्यस्येतौ प्रगृह्यमित्यनुवर्तते तदाह । उज इतौ वे-
त्यादि । विकल्पानुवृत्तौ हि निपातएकेत्येव सिद्धे इदं व्यर्थमेव
स्यात् । एवञ्च प्राप्तविभाषेयम् । ऊँ इत्यत्र शाकल्यप्रगृह्यपदयोरसम्बन्धे उज
इत्यर्थाधिकारादप्रगृह्यस्यैवादेशे तस्य "इको यणू" इति याणि ऊँ इती-
त्यस्यासिद्धिः । दीर्घोच्चारणवैयर्थ्यापत्तिश्च । विकल्पमात्रसम्बन्धे ऽपि ऊँ
इतीत्यस्यासिद्धिरिति विधानसामर्थ्यात्प्रगृह्यपदसम्बन्धः । प्रगृह्यपदमात्रस-
म्बन्धे ऽर्थाधिकारादप्रगृह्यस्य नित्ये ऊँ आदेशे ऊँ इतीति, प्रगृह्यस्य उइती-
ति सिद्धे ऽपि वितीति न सिद्ध्येत् । तदाह । उज इतौ दीर्घो ऽनुनासिक

शक्तत्वेन नानार्थतया सकृदुच्चारितन्यायेनाऽऽवृत्तिमन्तरा सर्वेषां बोधानापत्ति-
रिति वाच्यम् । चकारादि-आतइत्येतदन्तसमुदायघटकजन्यबोधाविषयतावच्छे-
दकधर्मावच्छिन्ने शक्तिस्वीकारेणादोषात् । *उच्चारणेच्छेति* । वस्तु-
तस्तु अर्धमात्राधिककालाव्यवायेनोच्चारणेच्छा तद्विवक्षा, अन्यथोच्चारणे-
च्छा च तदविवक्षा । मूलोक्तं तु न युक्तम् । अर्धमात्रान्यूनकालेनो-
च्चारणस्थले संहितात्वानापत्तेः । अर्धमात्रान्यूनकालेन वर्णान्तरोच्चारणं
नैव सम्भवतीत्यभिप्रायेण मूलमित्यपि केचित् । *निपात एवेति* ।
लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषयेति भावः । *तात्पर्यादिति* । प्राप्तविभाषात्वेन पक्षे

इत्यादि । अत्र *विशिष्टस्य विधिरिति न वाक्यभेदः । न च प्रगृह्यत्वमादेशश्च शाकल्यमते इति तयोरेकप्रयोगे एव प्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यम् । योगविभागसामर्थ्येन शाकल्यमते एव भावाभावकल्पनात् । वस्तुत उज्जुवादेन सञ्ज्ञाऽऽदेशयोः सहविधानमेव न्याय्यम् । आदेशे स्थानिवद्भावात्प्रगृह्यकार्यम् । भाष्ये “प्रगृह्यसञ्ज्ञकश्च” इत्यपि स्थानिवद्भावलब्धार्थस्वरूपकथनमिति न्यायविदो *विचारयन्तु ।

मय उज्जो । *व्याख्यानादत्र मय् प्रत्याहारः । अस्य त्रैपादिकत्वेनासिद्धत्वाच्च “प्लुतप्रगृह्या” इत्यनेन बाधः । नानुस्वार इति । किञ्चित्तीत्यादौ प्रगृह्यसञ्ज्ञाऽभावे ऽस्यासिद्धत्वाद् “इको यण्” इति याणि अनुस्वारो भवत्येव ।

ननु “यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी” इति न्यायेन गौरीशब्दस्य सप्तम्यर्थवृत्तित्वेऽपीकारस्य तच्चाभावो ऽत आह ईदूदन्तमिति । *शब्दस्वरूपस्य विशेष्यत्वात्तदन्तविधिरिति भावः । मामकी तनू इति । प्रगृह्येष्वातिशब्दप्रयोगस्य पदकारैर्नियमितत्वात्पदपाठे *प्रगृह्यत्वफलमत्र बोध्यम् । ईदूतौ किम् । अग्रा भवाति । सप्तम्या डादेशः । तपरत्वमसन्देहाय* । सप्तमीति किम् । धीती, मती । ह्रस्वान्ताभ्यां तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्णे सवर्णदीर्घः । अर्थग्रहणं किमिति । न च तदभावे “ईदूदेद्” इतिवदीदूदन्ता या सप्तमीत्यर्थापत्तिः । तथा च ययीत्यादावेव

ऽमावविधायकत्वादिति भावः । *लभ्यते इति* । वस्तुतस्तु एकयोगे प्रकरणप्राप्तस्यापि प्रगृह्यपदस्य—“उज्जः” इत्यस्य आदेशेनैव श्रुतत्वात्सम्बन्धे अन्वयासम्भवेनात्राननुवृत्तौ शाकल्यश्रुत्यनुवृत्त्या चाऽऽदेशे विकल्पिते तदभावे “निपात एकाजनाङ्” इति नित्यसंज्ञया चिनीति न स्यादितियोगविभागस्येदमेव फलम् । स्पष्टञ्चेदं कैयटे इति दिक् । सूत्रे षष्ठ्यर्थस्योपपत्तये आह । *उज्जो वाचकमिति* । एवञ्च सूत्रे वाच्यवाचकभावः षष्ठ्यर्थ इति भावः । *विशिष्टस्य विधिरिति* । “लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति” इत्यत्रेवात्रापि प्रगृह्यत्वविशिष्ट ऊँ इत्यादेशो विधीयते इति भावः । *विचारयान्त्विति* । उभयोः सहविधाने वाक्यभेदापत्त्या गौरवाद्विशिष्टविधानमेव न्याय्यम् । अत एव भाष्ये प्रगृह्यसंज्ञकश्चेत्यनेन विशिष्टविधानमेव बोधितमिति केचित् । वस्तुतस्तु सहविधाने न वाक्यभेदः, स्पष्टञ्चेदं मीमांसाप्रकाशे नामधेयप्रकरणे । *व्याख्यानादिति* । बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधमूलकादित्यर्थः ।

शब्दस्वरूपस्येति । सप्तम्याक्षिसविद्यमानपदबोध्यस्य इति शेषः । *प्रगृह्यत्वफलमिति* । मामकी इति तनू इति इत्यादावित्यर्थः । *असन्देहायेति* । अनण्त्वेन सवर्णाग्रहणादिति

स्यात् एकादेशस्य परादिवद्भावेन सप्तमीत्वात्, न तु गौरीत्यादाविति त-
त्सिद्ध्यर्थं तदावश्यकमिति वाच्यम् । “ईदूतौ सप्तमी प्रगृह्यम्” “अदसः” “ए-
च्च द्विवचनम्” इत्येव सिद्धे गुरुभूतन्यासकरणेन तत्प्रकरणापेक्षया वैजा-
त्यबोधनादूकारांशे ऽसम्भवाच्च “संज्ञाविधौ” इतितदन्तग्रहणानिषे-
धाप्रवृत्त्या ईदूदन्तं सप्तम्यन्तमित्यर्थेनेष्टसिद्धेरिति प्रश्नः । ययीत्यादेरन-
भिधानः मेवेति परे ।

वृत्ताविति । अर्थग्रहणसामर्थ्यात्सप्तम्यर्थमात्रे *पर्यवसन्नमित्यर्थेनात्र
तत्संसृष्टाऽऽधेयार्थे ऽपि वृत्तेर्न दोषः । “संज्ञायाम्” इति समासे जहत्स्वार्थायां
वृत्तौ पूर्वपदस्याऽऽनर्थक्ये ऽपि सुप्सुपेति समासे अजहत्स्वार्थायां प्रसक्तदो-
षस्योक्तरीत्यैव वारणमिति भावः । गौरी अधिश्रित इत्यत्राधिश्रयणक्रि-
यायामेव गौरीपदबोद्ध्याधिकरणत्वान्वयः* इति गौर्यधिकरणके लक्षणायां
मानाभाव इति न तत्र दोषः । वाप्यामश्च इति । सुप्सुपेति समासः ।
संज्ञायामिति वा । ननु संज्ञायामिति समासे वाक्येन संज्ञाऽनवगमान्नि-
त्यसमासत्वेन विग्रहो ऽनुचित इति चेन्न । तेषु समाससमानार्थकवाक्या-
भावेन नित्यसमाससदृशत्वे ऽपि नित्यसमासत्वाभावात् । विभाषाधि-
कारवाधे मानाभावात् । नित्यसमासे हि वृत्तिघटकपदानां पृथक् प्रयो-

भावः । *अनभिधानमेवेति* । ईदूतौ सप्तमीत्येवेत्यादिप्रकृतसूत्र-
स्थभाष्यग्रामाण्यादिति भावः । *सप्तम्यर्थमात्रे पर्यवसन्नमिति* ।
तत्त्वञ्च सप्तम्यर्थविशिष्टत्वम् । वै० च स्वनिरूपितशक्तिपर्याप्त्यधिकरणत्व-
स्वानुयोगिनिरूपितशक्त्यनधिकरणत्व—स्वप्रतियोगिनिरूपितशक्तिपर्याप्त्यधि-
करणत्वैतन्नित्यसम्बन्धेन । वाप्यश्च इत्यादौ वृत्तौ विशिष्टशक्तिसत्त्वेन
वापीत्यत्र सप्तम्यर्थधाराधेयभावनिरूपितशक्तिपर्याप्त्यधिकरणत्वस्य स्वप्र-
तियोगिवापीत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तिपर्याप्त्यधिकरणत्वस्य च सत्त्वेऽपि स्वा-
नुयोग्यश्वत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्त्यनधिकरणत्वस्याभावान्न दोषः । मूला-
क्तं तु न युक्तम् । गौरीत्यादेः गौरीत्वावच्छिन्नार्थवृत्तित्वेन स-
प्तम्यर्थमात्रपर्यवसन्नत्वाभात् इति केचित् । अन्येतु सप्तमीपदस्य तदन्तबोध-
कतया सप्तम्यन्तार्थमात्रबोधकमित्यर्थे गौरी अधिश्रित इत्यादौ दोषाभावान्मू-
लोकं युक्तमेव । किञ्च सप्तम्यर्थमात्रे पर्यवसन्नमित्यस्य पदार्थान्तरनिष्ठविशे-
ष्यताऽनिरूपिता या सप्तम्यर्थनिष्ठा उपस्थितिविषयता तत्प्रयोजकमि-
त्यर्थकरणेऽपि न दोष इत्याहुः । ननु गौरीत्यादौ गौरीपदस्याधारा-
धेयभावसम्बन्धेन गौरीत्वावच्छिन्नविशिष्टे लाक्षणिकतया सप्तम्यर्था-
नुयोगिनिरूपितशक्त्यधिकरणत्वस्यैव सत्त्वेन कथं सप्तम्यर्थविशिष्टत्वं

गाभाव एव । अत्र तु पृथक्प्रयोगे ऽपि तद्वबोध्यविशिष्टार्थाः*प्रतीतिमात्रमित्याहुः ।

अणो ऽप्र । अण इति किम् । कर्तृ हर्तृ । अत्राणपूर्वेणैव व्याख्यानात्* । आगच्छतमग्नी इत्यादौ प्लुतस्यासिद्धत्वात्ततः प्रागेव यथोद्देशत्वात् प्रगृह्यत्वे जाते पश्चात्प्लुते तस्याप्यनुनासिकप्रतिबन्धार्थं पुनः सञ्ज्ञेति नानुनासिकः । सञ्ज्ञायाः कार्यार्थत्वात्पुनः प्रवृत्तौ कार्यमेव बीजम् । स्थानिवचन्तु न, प्लुतस्थान्यल्लुत्तिधर्मत्वेना*ल्वधित्वात् । पूर्वसवर्णे कृते द्विवचनत्वन्तु *परादिवद्भावेन । तेन *ताडूप्यानतिदेशे ऽप्येतद्धर्मातिदेशाङ्गीकारात् । अत एव रामावित्यादौ परादिवद्भावेन सुप्त्वात्पदत्वं साधितम् “अन्तादिवद्” इत्यत्र भाष्ये इति स्पष्टमाकरे ।

अच्छसन्धिरिति । “सिद्धमनच्त्वाद्” इति वार्त्तिकप्रयोगेण “अल्पात्तरम्” इति सौत्रप्रयोगेण “कथमनच्त्वम्” इति भाष्यप्रयोगेण च वृत्तिघटकाचपदे* पदान्तकार्यस्य तत्सन्निधानेन श्चुत्वस्य चाभावो बोध्यते इति केचित् ॥

इति स्वरसन्धिः ॥

निरुक्तत्रितयसम्बन्धेनेत्यत आह *अधिकरणत्वान्वय इति* । *अप्रतीतिमात्रमिति* । अत्यन्तरूढेषु “जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रुढिर्विरोधिनी” इत्यभियुक्तोक्तेर्जहत्स्वार्थवृत्तेरेव स्वीकारादिति भावः ।

व्याख्यानादिति । लणसूत्रस्थभाष्यप्रामाण्यादित्यर्थः । *अल्लुत्तिधर्मत्वेनेति* । अल्लवव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतधर्मत्वेनेत्यर्थः । *अल्वधित्वादिति* । वस्तुतस्तु अप्रगृह्यस्येत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधस्वीकारे असमर्थसमासकल्पनया क्रियाध्याहारेण च गौरवात्प्रसज्यप्रतिषेधस्यान्याय्यत्वाल्लाघवेन पर्युदासस्यैव युक्तत्वेनाल्लवव्याप्यात्त्वावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतप्रगृह्यत्वस्य “अणो ऽप्रगृह्यस्य” इत्येतच्छास्त्रीयोद्देश्यतायाः साक्षादवच्छेदकत्वेनानल्वधावित्यस्याप्राप्त्या स्थानिवद्भावेनैव प्रगृह्यत्वं सुलभमिति दिक् ।

ननु प्लुतो द्विवचनत्ववानित्याकारकारोपे ऽल्लवव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारोपे प्रकारीभूतद्विवचनत्वस्य प्रगृह्यसंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतायाः साक्षादवच्छेदकत्वेन “अनल्वधौ” इति निषेधात्कथं द्विवचनत्वमित्यत आह *परादिवद्भावेनेति* । *ताडूप्यानतिदेशे ऽपीति* । अन्तादिवृत्तिवर्णमात्रवृत्तिधर्मघटितधर्मानातिदेशेऽपीत्यर्थः । *अचपदे इति* । “आदिरन्त्येन” इतिसूत्रबोधितसंज्ञामात्रस्योपलक्षणमिदम् । अत एव

स्तोत्रचु । स् इति श् इति च लुप्तविभक्तिके भिन्ने पदे । योग इति । संयोग इति तदर्थः । तेन चितमित्यादौ न दोषः । अत्र पदस्येत्यधिकृतमपि न सम्बध्यते* । “शात्” इति ज्ञापकात् । तेन याच्ञा सिद्धा । शात्परस्य स्तोः श्चुत्वनिषेधकात् “शात्” इति लिङ्गादेव निमित्तकार्थिणोर्यथासंख्यं *न । एवमुत्तरसूत्रे ऽपि “तोः पि” इति ज्ञापकान्न तत् । शकारचवर्गौ स्त इति । यथासंख्यमिति शेषः । हरिश्चोते इति । “वा शरि” इति विसर्गाभावे शः । सच्चिदिति । चुत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वेन दत्वे तस्य चुत्वेन जकारे चत्त्वमिति बोद्धव्यम् । तयोरत्रालेखस्तु वैचित्र्यार्थः । विश्न इति । “यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्” इति नङि “च्छ्वोः” इति शादेशे ङित्वाद् गुणाभावः । “प्रश्ने चासन्नकाले” इति निर्देशात्सम्प्रसारणाभावः ।

न पदान्ता । पदाद्वोरित्येव सिद्धे ऽन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्* । टोः किमिति । षकारस्यापि पदान्ते जश्त्वविधानात्प्रश्नः । “ह्रस्वात्तादौ” इति *षत्वस्यासिद्धत्वाज्जश्त्वाभाव इत्युत्तरम् । षण्णवतिरिति । षडधिका नवतिरिति विग्रहः । षण् णगर्ग इति पृथक्पदे* ।

“अणुदित्” इत्यादौ डमुडभावादिसकलेष्टसिद्धिरिति केचित् । अन्येतु एवं सामान्यकल्पनायाम् अजन्तः अगन्तइत्यादौ जश्त्वानापत्तिः । तस्मात् अचपदघटकचकारस्य चुपदग्राह्यता न भवतीत्येवानुगतरूपेण कल्पनीयम् । तेन कुत्वश्चुत्वयोरेकरूपेणैव वारणम् । जश्त्वं तु भवत्येव । पुनश्चत्वेनेष्टसिद्धिः । त्रिप्रकारैरज्भिरिति उच्चैरुदात्त इतिसूत्रस्थभाष्यप्रयोगेतु असन्देहार्थं कुत्वं न । अत एव अचोऽक्षु इत्यत्र कुत्वं दृश्यते । तत्र अचइत्येतत्समभिव्यारारेण सन्देहाभावात् इत्याहुः ।

इति स्वरसन्धिः ॥

अथ ह्रस्वसन्धिः । *न सम्बध्यते इति* । सामानाधिकरण्येन न सम्बध्यते इत्यर्थः । अत एव ‘पदस्येत्यधिकृतं वैयधिकरण्येन सम्बध्यते’ इत्यग्रिमग्रन्थेन ‘सादेः पदस्येति नार्थः’ इति परिभाषेन्दुग्रन्थेन च न विरोधः । *यथासंख्यं नेति* । अनेन स्थान्यादेशयोर्यथासंख्यमस्त्येवेति सूचितम् । एवमुत्तरसूत्रेऽपि बोध्यम् ।

स्पष्टार्थमिति । अयं भावः—पदसंज्ञाप्रयोजकप्रत्ययोत्पत्तिप्रयोजकसंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नसम्पादकविधित्वं पदविधित्वं चास्य नेति न समर्थपरिभाषाऽप्रवृत्त्यर्थं तदिति । *असिद्धत्वादिति* । सर्पिस्तममिति स्थिते जश्त्वं बाधित्वा अपवादत्वादुत्वे विसर्गे सत्वे षत्वे च विसर्गसत्वषत्वानामसिद्धत्वाज्जश्त्वाभाव इति भावः । सत्वात्प्राक् षत्वं तु न, सत्वदृष्ट्या तयस्यसिद्धत्वात् । *पृथक्पदे इति* । “दिक् संख्ये संज्ञायाम्” इति नियमादिति भावः ।

यरोनु । पदान्तस्येति किम् । वेद्मि, *बध्नाति । स्पर्शो चरितार्थ इति । उपलक्षणमिदं बल्यो*रपि प्रवृत्तेः । एतच्च जातिपक्षे स्पष्टमेव । व्यक्तिपक्षे ऽपि तादृशव्यक्तौ चरितार्थस्य एतद्व्यक्तिविषयतयोपप्लव एव नेति बोध्यम् । स्पष्टश्चेदम् “इको यणचि” इत्यत्र कैयटे । परे तु स्थानेऽन्तरत-मसूत्रे सप्तम्यन्तपाठस्य भाष्यकृता दूषितत्वेनैतद्युक्तेरुक्तिसम्भव एव न । तस्मात् “अनुस्वारस्य” इति सूत्रात्सवर्णग्रहणमपकृष्य परः सवर्णो ऽनुनासिको भवतीत्यर्थान्न दोषः । तदुक्तं भाष्ये, “रेफे ऽनुनासिकपरसवर्णत्वयोः प्रतिषेधो वक्तव्यो, न वक्तव्यो रेफोष्मणां सवर्णा न *सन्ति” इति । चिन्मयमिति । स्वार्थिकः “तत्प्रकृतवचने” इति मयद् । तत्र तदिति वाक्यभेदेन क्व चित्प्राचुर्यरूपप्रकृतवचनाभावे ऽपि मयडर्थम् । अत एव चिन्मयं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यम् । चिन्मात्रमिति काचित्कोऽपपाठः । मात्रचः प्रत्ययस्यात्रोपपत्त्यभावात् । मयूरव्यंसकादिष्वेवार्थमात्रशब्देनात्र समासस्य वक्ष्यमाणत्वात् । निपातनादिति । यवादिगणे ककुब्जानिति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायः पठ्यते इति मतेनेदम् ।

वेषि बध्नातीति । इदमुपलक्षणं चखन्तुः जग्मतुरित्यादेः । यत्तु “रदाभ्याम्” इति दकारस्य नत्वविधानं व्यर्थं सद् अपदान्तस्य यद्यनुनासिकस्तर्हि निष्ठाऽव्यवहितपूर्वस्यैवेति नियमान्नोक्तदोष इत्यरुचेराह बध्नातीति, तन्न । दस्य यदि भवति तर्हि निष्ठायामेवेति नियमस्य, दस्य यदि भवति तर्ह्यपदान्तस्यैवेति विपरीतनियमस्य चाप्यापत्तेः । क्षुण्ण इत्यादौ णत्वार्थं दस्थाने नकारादेशस्य चारितार्थ्याच्च । अन्यथा “प्रत्यये भाषायाम्” इत्यनुनासिकस्यासिद्धत्वाणत्वं न स्यादिति दिक् ।

बलयोरपीति । इदमुपलक्षणं यकारस्यापि । अत एव मध्वांश्चिनोषि कमलांश्चिनोषि दध्यांश्चिनोषीत्यादौ “नश्छव्यप्रशान्” इति रुवे अनुनासिके च अनेन विकल्पो भवति । न च सप्तम्यन्तपाठे एतद्वन्थप्रवृत्त्या तत्पाठे स्ववृत्तित्व-स्वदलभिन्नदलीयस्थानित्वाभिमतैतरयावत्स्थान्यवृत्तित्व-स्वदलभिन्नदलीयवृत्तित्वैतन्नितयसम्बन्धेन आदेशविशिष्टधर्मवत्त्वरूपान्तर्यस्य ग्राह्यतया इदमसङ्गतम्, तालुस्थानजन्यत्वादौ निरुक्तवैशिष्ट्याभावादिति वाच्यम् । एतन्मुरारिरित्यादौ घोषप्रयत्नवत्त्वविशिष्टाल्पप्राणवत्त्वविशिष्टस्पृष्टप्रयत्नवत्त्वविशिष्टदन्तस्थानजन्यत्वादौ, दध्यांश्चिनोषीत्यादौ घोषप्रयत्नवत्त्वविशिष्टाल्पप्राणवत्त्वविशिष्टस्पृष्टप्रत्ययवत्त्वविशिष्टतालुस्थानजन्यत्वादौ च आदेशवैशिष्ट्यसत्त्वेनादोषात् । *सवर्णा न सन्तीति* । अनुनासिका इति शेषः । एतेन रेफस्य रेफ एव सवर्णोऽस्तीतीदमसङ्गतमिति परास्तम् ।

उदः स्था । “तस्मादित्युत्तरस्य” इति परिभाषालभ्यमर्थमाह । उदः परयोरिति । अत्राघोषस्येति । समनियतत्वेनान्यतमाग्रहणे बाधकाभावेन श्वासविवारयोस्त्यागे ऽपि न *न्यूनतेति बोद्धव्यम् । थस्यासिद्धत्वादिति । त्रिपाद्यां परत्वादिति भावः । “हलो यमाम्” इतिसूत्रोक्तभाष्यसंमताष्टाध्यायीपाठे तु थस्यासिद्धत्वाभावेन चत्वं भवत्येव । अत एव “उत्पूर्वस्कन्दे रोगे उपसंख्यानम्, उत्कन्दो रोग” इति भाष्यं सङ्गच्छते । मूलन्तु प्राचामनुरोधेनेति परे । न चेदं सूत्रं व्यर्थं “झलो झलि” इत्यनेन सस्य लोपे उत्थानस्य सिद्धेरिति वाच्यम् । झलादौ प्रत्यये तेन लोप इत्यर्थस्यानेन *ज्ञापनात् । उदस्थादित्यत्र तु निर्दिश्यमानपरिभाषया निर्दिश्य-

अत्रेदमवधेयम् । प्रथमान्तपाठे स्ववृत्तित्व-स्वदलभिन्नदलीयवृत्तित्वस्वदलभिन्नदलीयादेशत्वाभिमतैतरयावदवृत्तित्वैतद्विषयसम्बन्धेन स्थानिविशिष्टधर्मवत्स्वरूपमान्तर्यं ग्राह्यम् । “अनान्तर्यमेवैतयोरान्तर्यम्” इत्यत्र प्रतियोगिभूतमान्तर्यश्च निरुक्तत्रितयसम्बन्धेन स्थानिविशिष्टत्वे सति आदेशविशिष्टो यो धर्मस्तद्वत्त्वं ग्राह्यम् । तादृशश्च धर्मः सार्वधातुकार्धधातुकयोरित्यादौ तालुस्थानजन्यत्वादिः । तदभावश्च ऋकाराकारयोः । “अचो ङिति” इत्यादौ अत इत्यपकर्षणेन माठरपरिवेषणन्यायेन अकारातिरिक्ताचो ग्रहणमिति न कण्ठजन्यत्वस्य स्थान्यादेशोभयवैशिष्ट्यस्य सत्त्वेन तदभावस्य ऋकाराकारोभयवृत्तित्वाभावाद्घोषापादनसम्भवः । न च तालुजन्यत्वकण्ठतालुजन्यत्वादौ अभावप्रतियोग्यान्तर्यघटकस्थानिवैशिष्ट्यसत्त्वेऽपि आदेशवैशिष्ट्याभावाद् ऐकारौकारयोरपि स्थान्यादेशोभयविशिष्टधर्मवत्त्वाभावेनानान्तर्यरूपान्तर्यसत्त्वात् तद्धर्मं गृहीत्वा ऋकारस्याऽऽकारपवेतिनियमानुपपत्तिरिति वाच्यम् । ऐकारनिष्ठविवृतावर्णसदृशघटितत्वविशिष्टकण्ठतालुजन्यत्वे औकारनिष्ठविवृतावर्णसदृशघटितत्वविशिष्टकण्ठोष्ठस्थानजन्यत्वे च स्थानिवैशिष्ट्यस्य आदेशवैशिष्ट्यस्य च सत्त्वेन तद्वत्त्वस्य च ऐकारौकारयोः सत्त्वेनान्तर्याभावस्याभावादिति दिक् । केचित्तु अनान्तर्यं तत्तच्छास्त्रीयस्थानिविशिष्टो यो यो धर्मस्तदभावकूटवत्त्वम् । एवं च तालुजन्यत्वादीनां तद्वैशिष्ट्यस्य सुलभत्वात् ऐकारादेः तद्वत्त्वस्य सत्त्वेन तदभावस्य दुर्लभत्वात् मूर्धस्थानजन्यत्वादेश्च स्थानिवैशिष्ट्याभावेन स्थानिविशिष्टतालुस्थानजन्यत्वादिधर्माभावकूटवत्त्वस्य ऋकाराकारयोः सत्त्वेन नियमोपपत्तिः । अचो ङिति इत्यत्र तु पूर्वोक्त एव परिहार इत्याहुः ।

नन्यूनतेति । अशोकवनिकान्यायेन अन्यतमलेखनमिति भावः । *अनेन ज्ञापनादिति* । अनेन “सनीति वक्तव्यम्” इति वार्तिकं नापूर्वमिति सूचितम् । वस्तुतस्तु सूत्रसत्त्वे एकतकारथकारद्वयघटितं रूपं, सूत्राभावे “झलो झलि” इति लोपे थकारतकारोभयमात्रघटितं रूपमिति फलभेदेन “उदः स्था” इतिसूत्रसिद्धं सनीति वार्तिकं न भवतीति

मानादेरेव स्थानित्वान्न *दोषः । झय इति पञ्चमीत्याह झयः परस्येति । पूर्वस्येत्यनुवर्त्तते । घोषवत इति । समनियतत्वे ऽपि विनिगमना*विरहात्स्वरूपप्रतिपादनाय च त्रितयग्रहणम् ।

झय इति । पदान्तादित्यपि बोध्यम् । तेन विरप्श*मित्यादौ छत्वं न । जकारे कृते इति । छत्वमिति शेषः । पूर्वोक्तभाष्यसंमताष्टाध्यायीपाठे चत्वंस्य छत्वं प्रत्यसिद्धत्वात् ।

मोऽनु । पदस्येत्यधिकृतं म इत्यनेन विशेष्यत इत्याह मान्तस्येति । “हलि सर्वेषाम्” इत्यतो हलीत्यनुवर्त्तते । हलि किम् । राममाश्रय ।

नश्चा । चेन मो ऽनुकृष्यते । अपदान्तस्य किम् । राजन्पाहि । यशांसीति । यशश्शब्दाद् जसः शौ “नपुंसकस्य” इति नुमि सान्तेति दीर्घः । आक्रंस्यते इति । क्रमेर्लृट् “आढ उद्गमने” इति तड् स्यः ।

अनुस्वारस्य । परेति लुप्तषष्ठीकं पृथक्पदम् । अत एव “उदः स्था” इत्यादौ सवर्णग्रहणानुवृत्तिः “यरो ऽनुनासिक” इत्यत्र तदपकर्षश्च सिद्धः । ययीति स्पष्टार्थम् । दंशनमित्यादौ तु न दोषः । शकारसवर्णाप्रसिद्धेः* । प्रयत्नभेदेनाज्झलोः सावर्ण्याभावात् । अचि अनुस्वाराभावात् ।

बोध्यम् । नव्यञ्जनादितिन्यायाश्रयणेन मूलमिति परे । *न दोष इति* । न च “उदः स्थास्तम्भोः” इत्यत्र विशिष्टरूपोपादानसत्त्वेन अर्थवत्परिभाषोपस्थित्या आगमसमाभिव्याहारे आगमविशिष्टस्यैवार्थवत्त्वादुदस्थादित्यादौ स्थाशब्दे स्थापदप्रयोज्यार्थवत्त्वस्थाशब्दत्वावच्छिन्नशब्दबोधीयविषयताया अभावेन, अस्थाशब्दे षष्ठीप्रकृतिजन्यशब्दबोधीयविषयताश्रयत्वविशिष्टषष्ठीप्रकृतिजन्यशब्दबोधीयविषयताश्रयसमाभिव्याहृतवर्णाघटितत्वरूपनिर्दिश्यमानत्वस्य सस्वात्कथं न दोष इति वाच्यम् । यदागमपरिभाषा लक्षणाग्राहिकेति स्वीकारेण सूत्रे स्थापदं स्थाविशिष्टे लाक्षणिकम् । वैशिष्ट्यञ्च स्वघटितत्व-स्वविशिष्टाघटितत्वैतदुभयसम्बन्धेन । सम्बन्धघटकवैशिष्ट्यञ्च स्वाघटकत्व स्वनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितावयवत्वसम्बन्धावच्छिन्नाविधेयताश्रयाघटकत्वोभयसम्बन्धेन । तथा च षष्ठीप्रकृतिजन्यविषयतायां मतकमतका निरुक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताख्यशब्दबोधीयविषयतायाः स्थाशब्दे एव सत्त्वेन अस्थाशब्दे निरुक्तनिर्दिश्यमानत्वाभावेनादोषादिति दिक् ।

विरहादिति । व्याप्तिन्यायादिति भावः ।

विरप्शमिति । इदमुपलक्षणम् चक्रशावित्यादेरपि । अन्यथा विरप्शमित्यादौ छान्दसत्वादेव दोषाभावेन पदान्तादित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । *अप्रसिद्धेरिति* । यरो ऽनुनासिके इत्यतो ऽनुनासिक इत्य-

मो राजि ॥ नेति सिद्धे म इत्युक्तिः “हे मपरे” इत्येतद्विषये प्रशाम्
ह्यलयतीत्यादौ “मो नो धातोः” इतिनत्वबाधनार्था, निषेधस्त्वनन्त-
रत्वादनुस्वारस्यैव स्यात् । ध्वनितश्चेदम् “एतदो ऽन्” “अमो मश्” इति
सूत्रयोर्भाष्ये ।

हे मपरे ॥ मपरे इति बहुव्रीहिः* । न तु तत्पुरुषो ऽसंभवात् ।
“मो ऽनुस्वारः” इत्यतो म इत्यनुवर्तते ।

यथासंख्य* । सम्यक् ख्यानं संख्या क्रमवैशिष्ट्येन* ज्ञानम् । “यत्सां-

स्यात्रानुवृत्त्या शस्त्रेफसवर्णानुनासिकाप्रसिद्धेरिति भावः । *बहुव्रीहिरि-
ति* । पञ्चम्यर्थे इति भावः ॥

यथासंख्य । अनुपूर्वकदिशधातोः पश्चाद्भवज्ञानमर्थः । एवम् उत्पू-
र्वकदिशधातोः सिद्धज्ञानमर्थः । एवं प्रतिनिर्पूर्वकदिशधातोर्पूर्वज्ञानमर्थः ।
अस्मात्करणे घञ् । अनुदेशोद्देशप्रतिनिर्देशशब्दानां क्रमेणाकाङ्क्षाभास्य-
सम्बन्धोद्देश्यताश्रयविधेयताश्रया अर्थाः । तथा च सूत्रे अनुदेशपदेनोपस्थि-
तिपश्चाद्भवशाब्दबोधविषयीभूताकाङ्क्षाभास्यसम्बन्ध उच्यते । अनोः पश्चा-
दर्थकत्वाद्दिशोः ज्ञानार्थकत्वात् । समानामिति चावर्तते । एकत्रानुयोगि-
त्वमपरत्र प्रतियोगित्वञ्च षष्ठ्यर्थः । समानामित्यस्य तुल्यसंख्यावतामित्यर्थः ।

यथासंख्यमित्यस्य संख्याकर्मकातिक्रमणकर्तृत्वाभाववानित्यर्थः । तथा
च तुल्यसंख्यप्रतियोगिकः तुल्यसंख्यानुयोगिकश्चाऽऽकाङ्क्षाभास्यसम्बन्धः
संख्याकर्मकातिक्रमणकर्तृत्वाभाववान् भवतीति वाक्यार्थः । संख्या ऽत्र क्रमः ।
क्रमश्चापेक्षाबुद्धिविशेषविषयता । आकाङ्क्षाभास्यसम्बन्धे संख्याकर्मकातिक्रमण-
कर्तृत्वं च स्वप्रतियोगिवृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयताविजातीयापेक्षाबुद्धिविशेष-
विषयतावदनुयोगिकत्वम् । तदभावश्च स्वप्रतियोगिवृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयता-
सजातीयापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतावदनुयोगिकत्वम् । साजातीयश्च स्वनिरूपकापे-
क्षाबुद्धिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकसंख्यात्वव्याप्यजात्यवच्छिन्नजन्य-
तानिरूपितजनकतावच्छेदकत्वं, स्ववृत्ति-स्वनिरूपकापेक्षाबुद्धीयैकत्वनिष्ठप्रका-
रतानिरूपितैकत्वविशिष्टत्वावच्छिन्नधर्मितात्व-स्ववृत्ति-स्वनिरूपकापेक्षाबुद्धी-
यैकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितैकत्वानवच्छिन्नधर्मितात्वैतदन्यतरवस्वम्-एतदुभ-
यधर्माभ्याम् । यथा “समूलाकृतजीवेषु हनृकृञ्ग्रहः” इत्यादौ तुल्यसंख्यावत्स-
मूलाकृतजीवप्रतियोगिकः तुल्यसंख्यावद्धनृकृञ्ग्रहानुयोगिकश्च य आकाङ्-
क्षाभास्याव्यवाहितोत्तरत्वादिस्सम्बन्धस्तत्र स्वप्रतियोगिसमूलवृत्त्यपेक्षाबुद्धि-
विशेषविषयतासजातीयापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतावद्धननुयोगिकत्वं, एवम्
स्वप्रतियोग्यकृतवृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयतासजातीयापेक्षाबुद्धीविशेषविषयता-
वच्छिन्ननुयोगिकत्वम्, एवं स्वप्रतियोगिजीववृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेषवि-
षयतासजातीयापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतावद्ग्रहानुयोगिकत्वमिति संख्याकर्मका-
तिक्रमणकर्तृत्वाभावः । संख्याकर्मकातिक्रमणकर्तृत्वञ्च स्वप्रतियोगिसमूल-

स्थैः प्राप्यते स्थानम्” इत्यत्र संख्याशब्दस्य ज्ञानार्थताया दृष्टत्वात् । तामन-
तिक्रम्य यथासंख्यम् । अनुदेशः पश्चाद्भववाक्यार्थबोधकालिकः *सम्बन्धः ।

वृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयताविजातीयापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतावच्छेदक-
दन्यतरानुयोगिकत्वम् । हस्तिष्ठापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतायाः समूलनिष्ठापे-
क्षाबुद्धिविशेषविषयतासजातीयत्वात्, कृञ्ग्रह्निष्ठापेक्षाबुद्धिविशेषविषयत-
योश्च समूलनिष्ठापेक्षाबुद्धिविशेषविषयताविजातीयत्वाच्च ।

तथा हि—कृञ्निष्ठापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतायां “समूल इत्येकः
एतद्विशिष्टोऽकृत इत्येकः” इत्याकारकापेक्षाबुद्धीयसमूलनिष्ठापेक्षाबुद्धि-
विशेषविषयतानिरूपकनिरुक्तापेक्षाबुद्धिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदिका
या संख्यात्वव्याप्यद्वित्वत्वजातिः तदवच्छिन्नहन्कृञ्निष्ठद्वित्वनिष्ठजन्य-
तानिरूपितजनकतावच्छेदकत्वस्य सत्त्वेऽपि समूलवृत्त्यपेक्षाबुद्धिवि-
शेषविषयतावृत्तेः अन्यतरस्य पूर्वोक्तापेक्षाबुद्धीयैकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितै-
कत्वानवच्छिन्नधर्मितात्वस्याभावात् नोभयरूपेण साजात्यमिति नाति-
प्रसङ्गः । एवं ग्रह्निष्ठापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतायां समूलवृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेष-
विषयतावृत्ति—स्वनिरूपकनिरुक्तापेक्षाबुद्धीयैकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितैकत्वान-
वच्छिन्नधर्मितात्वस्यान्यतरस्य सत्त्वेऽपि समूलनिष्ठापेक्षाबुद्धिविशेषविषयता-
निरूपकापेक्षाबुद्धिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकसंख्यात्वव्याप्यद्वित्वत्व-
जात्यवच्छिन्नहन्कृञ्वृत्तिद्वित्वनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकत्वस्याभा-
वात् । हस्तिष्ठापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतायां च समूलवृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेष-
विषयतानिरूपकापेक्षाबुद्धिनिष्ठजनकतानिरूपितजन्यतावच्छेदकसंख्यात्वव्या-
प्यद्वित्वत्वजात्यवच्छिन्नहन्कृञ्वृत्तिद्वित्वनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकत्व-
स्य समूलवृत्त्यपेक्षाबुद्धिविशेषविषयतावृत्तिस्वनिरूपकापेक्षाबुद्धीयैकत्वनिष्ठप्र-
कारतानिरूपितैकत्वानवच्छिन्नधर्मितात्वस्य च सत्त्वात् लक्षणसम्बन्धः ।
एवमन्यत्राप्यह्यमिति ।

अथवा समसंख्याघतां सम्बन्धः संख्यात्वव्याप्यजातिविशिष्टो भवती-
त्यर्थः । वै०—स्वावच्छिन्नसंख्यानिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावदपेक्षाबुद्धीयै-
कत्वावच्छिन्नविशेष्यताश्रयप्रतियोगिकत्व—स्वावच्छिन्नसंख्यानिष्ठजन्यतानि-
रूपितजनकतावदपेक्षाबुद्धीयैकत्वावच्छिन्नविशेष्यताश्रयानुयोगिकत्वैतदन्यतर-
वत्त्वम्—स्वावच्छिन्नसंख्यानिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावदपेक्षाबुद्धीयैकत्वाव-
च्छिन्नप्रकारताश्रयप्रतियोगिकत्व—स्वावच्छिन्नसंख्यानिष्ठजन्यतानिरूपितजनक-
तावदपेक्षाबुद्धीयैकत्वावच्छिन्नप्रकारताश्रयानुयोगिकत्वैतदन्यतरवत्त्वम्—एतदु-
भयसम्बन्धेनेति विक् ।

क्रमवैशिष्ट्येन ज्ञानमिति । वस्तुतस्तु संख्याऽत्र क्रमः ।
क्रमश्चापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतेति लेखनीयम् । क्रमवैशिष्ट्येन ज्ञानपर्यन्तानु-
धावने फलाभावात् । *बोधकालिक इति* । बोधविषय इत्यर्थः । *सं-

साम्यं संख्यया* योग्यत्वाद्व्याख्यानाच्च । एवञ्च *समसंख्यानां सम्बन्धो
येन क्रमेण पदज्ञानं *पदादुपस्थितिर्वा तेनैव क्रमेण वाक्यार्थबोधविषयः
सम्बन्धस्तेषामित्यर्थः । फलितमाह । समसम्बन्धीति । यद्यपि *स्थानाख्य-
लौकिकप्रमाणादेव सिद्धं, तथापि “परस्मैपदानाम्” “एचो ऽयवायावः”
इत्यादौ शब्दतः सूत्रान्तरस्थक्रममादाय सम्बन्धबोधार्थम्, “आद्यन्तौ टकितौ”
इत्यादौ समासनिर्देशे साहित्ये द्वन्द्वविधानादप्राप्तक्रमान्वयबोधनार्थश्चेदम् ।
एवञ्च तत्र यथासंख्येनान्वयबोधकवाक्यकल्पना* एतत्प्रामाण्यात्, ततश्च
बोध इति बोध्यम् । अत्र स्वरितेनेत्यपकृष्यते इति “ख्यत्यात्” इत्यादौ
नातिप्रसङ्गः* । तत्र प्रतिपत्तिकालिकमेव संख्यासाम्यमेतच्छास्त्रप्रवृत्त्युपयो-
गीति “अमङ्गलनम्” इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

एते यवला निरनुनासिका एव । विधीयमानत्वेन सवर्णाग्राह-
कत्वात् । जातिग्रहणप्राप्तस्येव गुणाभेदकत्वप्राप्तस्यापि अप्रत्यय इत्यनेन

ख्ययेति* । अपेक्षाबुद्धिविशेषविषयतयेत्यर्थः । *समसंख्यानामिति* । तु-
ल्यापेक्षाबुद्धिविशेषविषयतावतामित्यर्थः । *पदादुपस्थितिरिति* । पदनिष्ठ-
शक्तिग्रहप्रयोजकशास्त्रे येन क्रमेण पदज्ञानमित्यर्थः । यथा “परस्मैपदानाम्”
इत्यादौ परस्मैपदपदनिष्ठशक्तिग्रहप्रयोजकं यत् “तिसस्त्रि” इति शास्त्रं तत्र येन
क्रमेण पदविषयकं श्रावणप्रत्यक्षं तेनैव क्रमेण णलादयो भवन्ति । एवं
येन क्रमेण पदज्ञानमित्यस्यापि येन क्रमेण पदविषयकं श्रावणप्रत्यक्षमित्य-
र्थो बोध्यः । यथाश्रुतन्तु न युक्तम् । परस्मैपदपदेन सङ्केतसम्बन्धेन
परस्मैपदवतामुपस्थित्या क्रमेणोपस्थितेरभावात् । *स्थानाख्यलौकिकप्र-
माणेनेति* । यथा प्रतिपदि सुवर्णं दीयताम्, द्वितीयायां रजतम्, तृ-
तीयायां वस्त्रम्, चैत्रेण प्रतिपदि गन्तव्यम्, मैत्रेण द्वितीयायाम्, विष्णुमित्रेण
तृतीयायामित्युक्ते एतस्मै इदं दीयतामित्यनुक्तावपि चैत्राय सुवर्णमेव दीयते मै-
त्राय रजतमेव, विष्णुमित्राय वस्त्रमेव दीयते, यथा वा “शत्रुं मित्रं विपत्तिञ्च जय
रञ्जय भञ्जय” इत्यत्र शत्रोः कर्मत्वसम्बन्धेन जय एवाऽन्वय इत्यादि तद्वदिति भावः ।
कल्पनेति । वस्तुतस्तु टित आद्यवयवे कितो ऽन्तावयवे ऽन्वये ऽपि ए-
करूपावच्छिन्नस्यैकरूपावच्छिन्नसंसर्गेणैकरूपावच्छिन्ने ऽन्वयबोधेच्छारूपसह-
विवक्षायाः सत्त्वाद् द्वन्द्वस्य सूत्रपादत्वेन नास्ति वाक्यान्तरकल्पनोपयोग
इति बोध्यम् । *नातिप्रसङ्ग इति* । स्वरितत्वाभावादिति भावः । अ-
त्रेदं तत्त्वम् । इदं सूत्रं धर्मसाम्ये एव प्रवर्तते न तु व्यक्तिसाम्ये व्य-
क्तीनामानन्त्येन तत्साम्यस्य दुरुपपादत्वात् । अत एव “स्थानेऽन्तरतम्”
इति सूत्रस्थं “संख्यातानुदेशेनाप्येतत्तिसङ्गम्” इति भाष्यं सङ्गच्छते । अन्य-
था पट्पष्टेरिकां सप्तानाञ्च यणां सत्त्वेन साम्याभावेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव ।
इदानीन्तु इत्वयत्वादीनां साम्येन तत्सङ्गतिरित्यन्यत्र विस्तरः ।

निषेधाच्च । एवं “मय उञ्” इत्यत्रापि* । अत एव मतोर्मस्य नानुना-
सिको वकारः । अन्वथा “*तद्वानासाम्” इत्यादौ नित्यानुनासिकापस्या
तन्निर्देशासङ्गत्यापत्तिरित्याहुः ।

चयो द्वितीया इति । “नादिन्याक्रोशे” इत्यत्र भाष्ये इदम् । एतत्सा-
मर्थ्यादेतत्कृतद्वितीयस्य न चत्वंम् । “ऊष्मोदयं प्रथमं स्पर्शमेके द्वितीयमाहुर-
पदान्तभाजम्” इति प्रातिशाख्ये ऽपदान्तभाजमिति चत्वासिद्धत्वलब्धार्था-
नुवादः । पदान्ते जश्त्वप्रवृत्त्या चयो ऽल्लाभात् । अत्र तु कृते न
जश्त्वप्राप्तिरस्यासिद्धत्वात् । अप्सरा वथसा इति भाष्योदाहृते छान्द-
सत्वाच्चत्वंस्यासिद्धत्वं न । एवञ्च प्रातिशाख्ये ऽपदान्तभाजमित्युत्सर्गः ।
यद्वा तयोरव्युत्पन्नत्वं, न त्वपूर्वात् सत्त्वेरसिर्वदेः सो चेत्यन्यत्र विस्तरः ।

ङः सि । सीति सप्तमी षष्ठ्यर्थे* व्याख्यानात् । तदाह सस्येति ।
पदस्येत्यनुवर्तमानस्य वैयधिकरण्येनान्वयात्पदावयवस्य सस्येत्यर्थः ।
षट्सन्त इति । धुटि धस्य चत्वं *लक्ष्यभेदात्पुनर्दस्य चत्वंम् ।
नञ्च । नकारान्तादिति* । पदस्येत्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरि-
णम्यत इति भावः । *वैयधिकरण्येनैवान्वय इति ऊगुदसूत्रस्थभाष्य-
स्वरसः । नस्य पदान्तस्येति । अपदान्तनकारे ऽनुस्वारप्रवृत्त्या फ-

इत्यत्रापीति । अत एव ‘किम् ऊँ इति’ इत्यादावनुनासिक-
स्यापि स्थाने “मय उञ्” इति वकारो निरनुनासिक एवेति भावः ।
तद्वानासामिति । न च “तसौ मत्वर्थे” इत्यत्र दकारप्रश्लेषाद्भत्वेन पद-
त्वबाधादनुनासिकाप्राप्त्या नेदं प्रमाणमिति वाच्यम् । “प्रत्ययस्थात्”
इति सूत्रस्थस्य “असुव्वत” इति भाष्यप्रयोगस्य प्रमाणत्वात् । अन्यथा “प्रत्यये
भाषायाम्” इति नित्यानुनासिको दुर्वारः स्यात् ।

षष्ठ्यर्थे इति । षष्ठ्यंशविकलतस्मिन्निति परिभाषोपस्थित्या सकारा-
व्यवहितपूर्वत्वविशिष्टो यो ङकारस्तदव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टस्य धुडि-
त्यर्थेन सामञ्जस्यात्फलितार्थकथनमिदम् । *लक्ष्यभेदादिति* । स्वीयप्राथ-
मिकप्रवृत्तावुद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वेनाश्रीयमाणो यावान् शब्दसमुदायस्त-
दघटको यः तदघटकमात्रोद्देश्यकविकारागमातिरिक्तस्तदघटितत्वे सति
स्वीयप्राथमिकप्रवृत्त्युत्तरकालिकप्राप्तिभिन्नप्राप्तिविषयाघटितत्वम् तल्लक्ष्य-
त्वम्, तस्याभावादिति भावः ।

नकारान्तादितीति । सकाराव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टो यो नकारस्त-
दन्ताव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टस्य धुडित्यर्थः । *वैयधिकरण्येनैवेति* । न
च पर्याप्ति यशांसीत्यादावपि धुडापत्तिरिति वाच्यम् । धुटोऽसिद्धत्वाद-
नुस्वारे कृते नकाराभावेन धुटो ऽप्राप्तेः ।

लितार्थप्रदर्शनमिदम् । नान्तस्य पदस्येत्युचितम् । चतुष्टयमिति । वक्ष्यमाणविकल्पैरिति भावः । तेन तु कश्चुत्वे छत्वस्यासिद्धत्वाच्च यो द्वितीया इति पक्षे चस्य छत्वेन छकारछकारछकारशकारघटितरूपद्वयाधिक्ये अशालुस्वारविसर्गाणां द्वित्वविकल्पेनाऽऽधिक्ये ऽपि न क्षतिः ।

ङम्भो । पदस्येत्यनुवृत्तं सामानाधिकरण्यानुरोधात्पञ्चम्या विपरिणम्यते इत्याह तदन्तं यत्पदं तस्मादिति । तत्र ङम्भं स्वयं ह्रस्वादितिविशेषणसम्बन्धमनुभूय* पदविशेषणत्वेन तदन्तपर इति भावः । ङम्भ इति पञ्चमीवलादचीति सप्तमी षष्ठ्यर्थे* तदाह । अच इति । सप्तमीनिर्देशस्तु लाघवार्थः । “ङम्भ उत्तरस्याचः” इति तस्मिन्नितिसूत्रस्थभाष्यात् । ङम्भन्तं यत्पदमिति किम् । अनितीत्यादौ ङमुष्मा भूदिति । भाष्ये तु विभक्तिव्यत्ययकल्पने गौरवात्पदावयवङम्भः परस्येति *वैयाधिकरण्यमेवोक्तम् । दण्डिनेत्यत्र ङमुङभावो-मण्डूकालुत्या “उजि च पदे” इत्यतः पदे इत्यनुवर्त्याजादेः पदस्य

ङम्भो ह्रस्वात् । *सम्बन्धमनुभूयेति* । गभीरायां नद्यां घोष इत्यत्र नदीपदं गाम्भीर्यविशिष्टनदीतीरे लाक्षणिकम् । गभीरायामिति तात्पर्यग्राहकमिति यथा, तथा ङम्भपदमेव ह्रस्वात्परत्वविशिष्टङम्भन्ते लाक्षणिकम्, ह्रस्वादिति तात्पर्यग्राहकमिति भावः । *षष्ठ्यर्थे इति* । वस्तुतस्तु अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टो यो ङम्भ तदन्तं यत्पदं तदव्यवहितोत्तरस्य ङमुडित्यर्थेन सामञ्जस्यात्फलितार्थकथनमेतत् ।

वैयाधिकरण्यमेवेति । वस्तुतस्तु इदं भाष्यमेकदेश्युक्तिः । अनितीत्यादौ पदावयवङम्भव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टाचः सत्त्वेन ङमुडापत्तेः । न च “उजि च पदे” इति सूत्रात्पदे इत्यनुवर्त्य अजादिपदाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टः पदावयवो यो ङम्भ तदव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टस्य ङमुडित्यर्थेन न दोष इति वाच्यम् । अश्वस्य पुत्रो ऽश्वपुत्रः न अश्वपुत्रोऽनश्वपुत्र इत्यादौ ङमुडापत्तेः । अश्व इत्यस्याजादिपदत्वान्नुटश्चानश्वपुत्र इतिपदावयवत्वाच्च । न च ङम्भ इत्यस्यावृत्तिं कृत्वा ङम्भन्तपदावयवो यो ङम्भ-अजादिपदाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टः, तदव्यवहितोत्तरस्य ङमुडित्यर्थेन न दोष इति वाच्यम् । एवमप्यनश्वपुत्रराजन्नित्यादौ ङमुटो दुर्वारत्वात् । ङम्भन्तमनश्वपुत्रराजन्निति पदं तदवयवत्वस्य नुटि सत्त्वादश्व इत्यस्याजादिपदत्वाच्च । अजादौ पदे इत्यस्य ङम्भन्तपदेऽन्वयविवक्षणेनाश्वपुत्रराजन्नित्यादिदोषवारणेऽपि वैयाधिकरण्येनान्वये गौरवं स्फुटमेव । तस्माद् ह्रस्वात्परो यो ङम्भ तदन्तं यत्पदमिति सामानाधिकरण्येनैवान्वय इति निष्कर्षः । न च भाष्योक्तायाः पदेइत्यस्यानुवृत्तेर्वैयर्थ्यमिति वाच्यम् ।

ङमुडित्यर्थेन बोद्धव्यः । पदस्येत्यस्याऽऽवृत्त्या सम्बन्धेऽपि विशेषणविशेष्य-
योरुभयोः सप्तम्यन्तत्वे एव तदादिविधिप्रवृत्त्या तदलाभः स्यात्* । एतद-
र्थमेवाचीति सप्तमीनिर्देशः । ङमन्तं यत्पदमित्यर्थे ऽपि परमदण्डिनेत्यादा-
वेतद्वारणाय 'पदे' इत्यनुवृत्तिरावश्यक्येव । अन्तर्वर्त्तिविभक्त्या दण्डिन्नित्यस्य
पदत्वात् । "उत्तरपदत्वे च" इति प्रत्ययलक्षणनिषेधस्तु न । माषकुम्भवापे-
नेत्यादौ पदव्यवाये ऽपीतिनिषेधसिद्धये तस्य यत्रोत्तरपदस्य कार्यित्वं*
तत्रैव प्रवृत्तेः । "तेन निषेधेन सिद्धम्" इत्येतत्सूत्रस्थभाष्योक्तिस्त्वेकदेशिन

परमदण्डिनावित्यादौ कार्यित्वनिवेशेन "उत्तरपदत्वे च" इति निषेधाप्रवृत्त्या
तदनुवृत्तेः ङमुडभावायावश्यकत्वात् ।

तदलाभः स्यादिति । सामानाधिकरण्येनान्वयबोधं प्रति
समानविभक्तिकत्वस्य कारणत्वेन पदे ङम इत्यनेन तादृशबोधाभावादिति
भावः । अत एव "आर्द्धधातुकस्येद्" इति सूत्रे आदिग्रहणं चरितार्थम् ।
न च यत्र विशेषणविशेष्ययोरुभयोः सप्तम्यन्तत्वं तत्रैव यस्मिन्विधिरिति
परिभाषाप्रवृत्तिरित्यस्य नोपयोग इति वाच्यम् । तस्यैतत्फलितार्थपरत्वात् ।

कार्यित्वमिति । न च पूर्वदण्डिप्रिय इत्यादौ दण्डिन्नित्यत्र नलो-
पकरणाय "उत्तरपदत्वे" इतिनिषेधाप्रवृत्तये उत्तरपदं मध्यमपदत्वानाक्रान्त-
मिति विवक्ष्यते । तथाच माषकुम्भवापेनेत्यादौ कुम्भेत्यस्य मध्यमत्वाक्रान्त-
त्वादुत्तरपदत्वे चेतिनिषेधाप्रवृत्त्या णत्वनिषेधस्य सूपपादत्वेन कार्यित्वनिवेशो
विफल इति वाच्यम् । यद्वृत्त्यारम्भकसुबिनिमित्तकपदसंज्ञा चिकीर्षिता तद्वृत्ति-
विशिष्टत्वं मध्यमपदत्वमिति परिष्कारेणादोषात् । वै०-स्वघटकार्थवदव्यवहि-
तपूर्वत्वं-स्वघटकार्थवदव्यवहितोत्तरत्वं-स्वघटकत्वमेतद्विषयसम्बन्धेन । तथा
हि पूर्वदण्डिप्रिय इत्यादौ पूर्व सु दण्डिन्नसु प्रिय सु एतद्वृत्त्यारम्भकसुबि-
निमित्तकपदसंज्ञा दण्डिन्नित्यस्य चिकीर्षिता तद्वृत्तिघटकप्रियाव्यवहितपूर्वत्वस्य
तद्वृत्तिघटकपूर्वाव्यवहितोत्तरत्वस्य तद्वृत्तिकत्वस्य च सत्त्वादण्डिन्निति निरु-
क्तमध्यमत्वाक्रान्तमेवेति न प्रत्ययलक्षणनिषेधः । माषकुम्भवापेनेत्यादौ तु
वृत्तिद्वयम् । तत्र कुम्भपदे माष आम् कुम्भ सु इत्येतद्वृत्तिघटकाव्यवहितपू-
र्वत्वस्याभावात् पूर्वोक्तवृत्तिवैशिष्ट्यम् । माषकुम्भ अस् वाप इत्याकारवृ-
त्तिवैशिष्ट्यस्य कुम्भपदे निरुक्तोभयसम्बन्धेन सर्वे ऽपि न तद्वृत्त्यारम्भ-
कसुबिनिमित्तकपदसंज्ञा चिकीर्षितेति कुम्भेत्यत्र प्रत्ययलक्षणत्वार्थमुत्तरपदत्वे
इतिनिषेधाप्रवृत्तये कार्यित्वनिवेश आवश्यकः ।

नचैवमपि "अतद्धिते" इतिवार्तिकप्रत्याख्यानाय पदे यो व्यवाय
इति सप्तमीसमास आश्रितो भाष्ये, तथा च माषकुम्भवापेन, क्षीरपकु-
म्भेनेत्यादौ फलभेदवारणाय पदपदं पदत्वयोग्योपलक्षणमित्यवश्यं वक्तव्य-
म् । अन्यथा "गतिकारकोपपदानाम्" इति सुबुत्पत्तेः प्रागेव समासेन आद्यो-
दाहरणे पदे परतो यो व्यवायस्तस्याभावेन, अन्त्ये पदेन व्यवायस्या-

इति दिक् । “इको यणचि” इति सौत्रो निर्देशः ।

भावेनाऽऽरम्भप्रत्याख्यानयोः फलभेदो दुर्वारः स्यात् । तथा च माषकुम्भ-
वापेनेत्यादौ कुम्भेत्यत्र पदत्वयोग्यत्वस्य सत्त्वाण्णत्वनिषेधसिद्ध्या कार्यित्वनिवे-
शो विफल इति वाच्यम् । अदतीत्यद् परमश्चासावद् च परमाद् तस्मादाचार-
क्खिवन्तात् किञ्चि “तितुत्र” इतीडभावे परमादतिरित्यादौ ष्टुत्वनिषेधाय का-
र्यित्वनिवेशस्यावश्यकत्वात् ।

नचैवमपि यद्वृत्त्यारम्भकेत्यादि नोच्यते, किन्तु सामान्यतः स्व-
घटकार्थवदव्यवहितपूर्वत्वं—स्वघटकार्थवदव्यवहितोत्तरत्वं—स्वघटकत्वमेतान्नि-
तयसम्बन्धेन वृत्तिविशिष्टत्वं मध्यमत्वमित्युच्यते । तथा च परमादतिरित्यादौ
वृत्तिघटकतिप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वस्य वृत्तिघटकपरमाव्यवहितोत्तरत्वस्य च
सत्त्वान्मध्यमत्वमेवेति परमादतिरित्येव स्यान्नतु परमादतिरिति, उत्तरपदत्वे इति
निषेधाप्रवृत्तेः, तथा च कार्यित्वनिवेशो विफल इति वाच्यम् । परमलोम्निशयः
परमलोम्निचर इत्यादौ उत्तरपदत्वेतिनिषेधप्रवृत्तये निरुक्तोभयसम्बन्धेन यद्वृ-
त्त्यारम्भकसुम्भान्निमित्तिका पदसंज्ञा चिकीर्षिता तद्वृत्तिविशिष्टत्वस्यावश्यक-
त्वात् । अन्यथा लोमभित्यस्य मध्यमत्वाक्रान्तत्वेन निषेधाप्रवृत्त्या नलोपो
दुर्वारः स्यात् । पञ्चगवधन इत्यादौ पञ्चन् जस् गो जस् धन सु एतद्वृ-
त्त्यारम्भकसुम्भान्निमित्तकपदसंज्ञायां चिकीर्षितायां तद्वृत्तिघटकत्वव्यवहितपूर्व-
त्वस्य सत्त्वेऽपि तस्यानर्थकत्वेन तद्वृत्तिघटकार्थवद्व्यवहितपूर्वत्वस्य च गोश-
ब्देऽभावात् गोपदं मध्यमत्वानाक्रान्तमेवेति न पूर्वरूपापत्तिः । न च
परमदण्डिप्रिय इत्यादौ दण्डिभित्यस्य निरुक्तमध्यमत्वानाक्रान्तत्वात्कथं न-
लोप इति वाच्यम् । परमदण्डिप्रकृतिकसुपः प्रत्ययलक्षणेन तत्सिद्धेः ।
परमदण्डिभित्यस्य मध्यमत्वानाक्रान्तत्वेऽपि उत्तरपदत्वस्याभावात् । न-
चैवमत्रयो भृगव इत्यादावत्रिशब्दात् षष्ठ्यन्तादपत्येऽर्थे “इतश्चानिजः” इति
ढाकि तस्य “अत्रिभृगु” इति लुकि तस्माज्जसि “जसि च” इति गुणे उत्तरप-
दत्वाभावादुत्तरपदेतिनिषेधाप्रवृत्त्या षष्ठ्याः प्रत्ययलक्षणेन पदान्तत्वेन पूर्व-
रूपापत्तिदुर्वारेति वाच्यम् । वार्तिके पदत्वे इत्यस्य पृथक्पदत्वेन उत्त-
रपदशब्दोपादानाभावेन केवलस्य ‘उत्तर’ इति पदस्य समासचरमावयवे
रूढत्वाभावेन वृत्तिचरमावयवपरत्वमिति स्वीकारेणादोषात् ।

वृत्तिचरमावयवत्वञ्च यद्वृत्त्यारम्भकसुम्भान्निमित्तिका पदसंज्ञा चिकीर्षिता
तद्वृत्तिविशिष्टत्वम् । वै० च स्वघटकत्वं—स्वघटकार्थवदव्यवहितपूर्वत्वाभाववत्त्व-
मेतदुभयसम्बन्धेन । अत्रयो भृगव इत्यादौ स्वघटकत्वं व्यपदेशिवद्भावेनेति
तत्रापि लक्षणसमन्वयः । यद्वृत्त्यारम्भकेत्युक्त्वा परमलोम्निशयः परमलोम्निचर
इत्यादावर्थवन्दिप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वस्य सत्त्वेऽपि परम सु लोमन्सु इत्येतद्वृ-
त्त्यारम्भकसुम्भान्निमित्तकपदसंज्ञायां चिकीर्षितत्वेन ङौ तद्वृत्तिघटकत्वस्याभावेन
न लोमभित्यस्य वृत्तिचरमावयवत्वहानिः । द्वितीयसम्बन्धदानेन पूर्वदण्डिप्रिय
इत्यत्र दण्डिभित्यस्य नोत्तरत्वम् । अर्थवदित्युक्त्वा पञ्चगवधन

रूपकरणे इति । अत एव “समः सुटि” इत्यादौ प्रश्लेषेण सविधान-
मिति भाष्ये उक्तम् । रोः पूर्वस्येत्युपलक्षणं रूपकरणविधेयस्य* । एवमुत्तरत्र
रोः पूर्वस्मादित्यपि । अयमाधिकारः । तेनोत्तरसूत्रविषये एवास्य प्रवृत्तिः । न तु
“मतुवसोः” इत्यत्र, तत्सूत्रस्थवार्तिकयोश्च* । अत्रेति तु—रूपकरण एवास्य
सम्बन्धो, न त्वग्रे “ढो ढे लोप” इत्यादावित्यर्थसूचनार्थं, स्पष्टार्थमेव । तुशब्दः
परस्य नित्यं कृत्वं पूर्वस्य वाऽनुनासिक इति विशेषद्योतनार्थः । पूर्व-
स्येत्यस्य च रुस्थानिनः* पूर्वस्येत्यर्थो बोद्धव्यः ।

अनुनासिकात्पर इत्यत्रानुनासिकादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी व्या-
ख्यानात् । अयमागमोऽनवयव एव अवयवत्वे मानाभावात्* ।

खर्राति । विसर्गाक्षितस्याप्यवसानस्य न सम्बन्धो व्याख्याना-

इत्यादौ गोइत्यस्य नोत्तरत्वहानिः । पञ्चन् जस् गो जस् धन सु इत्ये-
तद्वृत्त्यारम्भकसुप्रिमित्तकपदसंज्ञायाश्चिकीर्षितत्वेऽपि तद्वृत्तिघटके टचि अ-
र्थवत्त्वाभावात् । तद्वृत्तिघटकार्थवद्भनाव्यवहितपूर्वत्वाभावस्य सत्त्वाच्च ।
तेन बहुसेचावित्यादौ बहुचपूर्वकसेच्इत्यस्योत्तरपदत्वसिद्धिरिति “बहुचपूर्वस्य-
चापदादिविधौ” इति वार्तिकमेतत्तात्पर्यग्राहकम् । एवञ्च कार्यित्वानिवेशो
विफल एव । माषकुम्भवापेनेत्यादौ यथा णत्वनिषेधः स्यात्तथा पूर्वमे-
वोपपादितम् । अत एव प्रकृतसूत्रार्थप्रतिप्रपादयिषया प्रवृत्तं प्रकृतसूत्रस्थं
परमदण्डिनावित्यादौ “उत्तरपदत्वे” इति निषेधान्ङमुण्नेति भाष्यं सङ्गच्छते ।

न च “उञि च पदे” इतिसूत्रस्थभाष्यासङ्गतिरिति वाच्यम् ।
तस्यैकदेश्युक्तिव्हेनादोषात् । प्रकृतसूत्रस्थभाष्यस्यैकदेश्युक्तिवत्कल्पनापे-
क्षया तस्य तदुक्तिवत्स्य न्याय्यत्वात् । अन्यथा राजन्नकैदित्यत्राक-
चो मध्यपतितत्वाभावेन तद्विशिष्टस्यातिङन्तत्वात्पदत्वाभावेन जुडनापत्तेः ।
न च परमादृतिरित्यादौ कार्यित्वानिवेशाभावे ष्टुत्वनिषेधो न स्यादिति
वाच्यम् । अस्य लक्ष्यस्याप्रमितत्वेनेष्टापत्तेः कर्तुं शक्यत्वात् । लेढीति
लिट् । परमश्चासौ लिट्च परमलिट् तस्मादाचारकिबन्ताद्वनिपि प-
रमलिङ्हेत्यादीनामिवास्याप्यारम्भप्रत्याख्यानयोः फलभेदवारणायानभिधान-
स्यैव न्याय्यत्वाच्च । अन्यथा “उत्तरपदत्वे” इत्यारम्भकलपे परमलिङ्हेति, प्रत्या-
ख्याने च परमलिङ्हेति फलभेदः स्यादिति दिगित्याहुः ।

रूपकरणविधेयस्येति । रूपकरणीयविधेयाव्यवहितपूर्वस्येत्यर्थः ।

वार्तिकयोश्चेति । अत एव “हरिषो मेदिनं त्वा” “भोमगोअघो” इ-
त्यादौ नानुनासिक इति भावः । *रुस्थानिनः पूर्वस्येति* । अत एव
“समः सुटि” इत्यनेन सकारादेशकलपे अनुनासिकसिद्धिरिति भावः ।

तुम्। सो वक्तव्य इति । “समः सुटि” इत्यादिसूत्रत्रये स इत्युपसंख्याय,
 “समः सुटि” इत्यत्र सकारं प्रश्लिष्य वा एतैः सकार एव विधेय इत्यर्थः ।
 एवञ्चास्यासिद्धत्वादुत्वाभावेन विसर्गाभावे तत्तद्विधीनामप्राप्तिरेवेति भावः ।
 स्पष्टं चेदं भाष्ये । विसर्गस्यानेन सत्वविधाने तु गौरवं स्फुटम् । लोप-
 स्थापीति । यत्तु “उपधारञ्जनं कुर्यान्नमो रुकरणे सति । लोपे प्रकृति-
 भावे वा नोपधारञ्जनं मतम्” । उपधारञ्जनमनुनासिकानुस्वारागमरूपम् ।
 नमोर्नकारमकारयोः । प्रकृतिभावोदाहरणं नृन्पाहीति । तत्तु प्रातिशा-
 ख्यत्वात्तच्छाखामात्रविषयमिति भावः । अत एव भाष्ये “समादिषु सत्वं
 वक्तव्यम्” इत्युक्तम् । रुत्वपक्षे चानुनासिकाद्यापत्तिर्दोषत्वेन नोक्ता । ननु लो-
 पपक्षे एव द्वित्वेन द्विसकारस्य सिद्धत्वात् “समः सुटि” इति व्यर्थमित्यत आह
 त्रिसकारकमपीति । स्फोरिति लोपस्तु न अस्यासिद्धत्वात् । पुनर्द्वित्वेन
 त्रिसकारस्य सिद्धिरिति तु न युक्तं, लक्ष्येलक्षणस्येति न्यायात् । एतेन
 समः सुटीत्यत्र वेति पाठेनैव पक्षे मोऽनुस्वारेण सिद्धे “अनुनासिकात्परः”
 इति व्यर्थमित्यपास्तम् ।

ननु व्यञ्जनात्परस्यैकस्यानेकस्य बोधवारणे विशेषाभावो ऽत
 आह । अनुनासिकवतामिति । तत्रोच्चारणे विशेषाभावक-
 ल्पने इदं वचनं व्यर्थमेव स्यादिति भावः । हयवरदसूत्रभाष्योक्ते
 शर्षूपसंख्याने फलमाह । अनुस्वारवतामिति । अपिना कस्य सङ्ग्रहः ।
 लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तेराह । वचनान्तरेणेति । “यणो मयः”
 इत्यनेन । एकस्यैव शास्त्रस्य पुनः प्रवृत्तौ हि स न्याय इति भावः । पूर्वत्रा-
 त्रासिद्धत्वेन पूर्वद्वित्वस्य पूर्वं प्रवृत्त्या तेन द्वितीयस्य साधुत्वे बोधिते तद-
 नन्तरं पराद्वित्वप्रवृत्त्या तयोर्मध्ये पुनरन्यस्य साधुत्वं बोध्यत इति त्रितस्य
 निर्वाहो बोध्यः । “अनाचि च” इत्यत्र “यणो मयः” इत्यस्योपसंख्यानात्
 “अचो रहाभ्याम्” इत्यतस्तस्य परत्वं बोध्यम् ।

वस्तुतस्तु एतत्प्रकरणविधेयाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्येत्यर्थो बोध्यः । अत
 एव “समो वा लोपः” इति कल्पे ऽप्यनुनासिकासिद्धिः । अन्यथा रुस्थान्यव्य-
 वहितपूर्वत्वस्याभावात्स न स्यात् । *मानाभावादिति* । चिन्त्यमिदम् ।
 सूत्रे परशब्दस्यावयवत्वविशिष्टपरत्वावच्छिन्नवाचकत्वेन “उरण्स्परः” “न
 खाभ्याम्” इत्यत्रेवानुस्वारे ऽवयववत्त्वावच्छिन्नविधेयताश्रयत्वरूपागमत्वस्वी-
 कारे बाधकाभावात् । अत एव महाऽइन्द्र इत्यादौ भोभगो इति यत्वं
 सिद्ध्यति । अन्यथा ऽनुस्वारविशिष्टस्यापदत्वेन यदागमन्यायेन ग्रहणाभावे
 यत्वं दुरुपपादं स्यादिति दिक् । *व्याख्यानादिति* । खरन्वसानयोः स इ-

पुमः ख । अम्परइति बहुव्रीहिः* । ५क५पयोरिति । “कुप्वोः” इति सूत्रविधेययोरित्यर्थः । “इदुदुपधस्य” इति सूत्रे ऽप्रत्ययस्येत्यस्य प्रत्ययावयवभिन्नस्येत्यर्थादिति भावः । अव्युत्पत्तिरिति । तत्पक्षे *प्रकृतिप्रत्ययविभागाभावादिति भावः । षत्वेति । इदमनुनासिकपक्षे । अनुस्वारपक्षे तु “कुप्वोः” इत्यस्यैव प्राप्तिः । अनुस्वारव्यवधानेनोदुपधत्वाभावात् । पुंक्षीरमिति । क्षरधातोरुपधाया ईत्वे ऽच्प्रत्यये क्षीरमिति भावः ।

नदृच्छवि । अप्रशानिति षष्ठ्यर्थे प्रथमा । नृन्पे । नृनिति द्वितीयान्तानुकरणम् । षष्ठ्याः सौत्रो लुक् । नलोपस्तु सौत्रत्वान्न । एवं कानित्यत्रापि । चाद्विसर्ग इति । “शर्परे” इति सूत्राच्चदनुकर्षश्चेनेति भावः ।

येन नेति । “येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधकः” इति न्यायेनेत्यर्थः । येन नेत्यादेर्यत्कर्तृका*वश्यप्राप्तावित्यर्थः । नञ्प्रत्ययस्य प्रकृतार्थदाढ्यबाधकत्वात् । प्राप्त इति भावे क्तः । *तदप्राप्तियोग्यविषये ऽचारितार्थ्यं हि बाधकत्वे बीजम् । तदुक्तं “शपूर्वाः” इति सूत्रे भाष्ये “शपूर्वा इत्येतद्वलादिशेषस्य बाधकम् । ननु विषयभेदे कथं बाधकत्वम् । इदं तावदयं प्रष्टव्यः, यदि तन्नोच्येत कि-

त्येव सिद्धे “विसर्जनीयस्य सः” इत्यारम्भसामर्थ्यादिति भावः । *बहुव्रीहिरिति* । पञ्चम्यर्थे इति भावः । *प्रकृतिप्रत्ययविभागाभावादिति* । प्रकृतिप्रत्ययविभागज्ञानप्रयोज्यकार्याभावादित्यर्थः ।

अवश्यप्राप्ताविति । अवश्यशब्दपर्यायावश्यशब्दस्य प्राप्तिशब्देन समासः । अत एव “आवश्यकाधमर्णयोः” इति निर्देशः सङ्गच्छते । अन्यथा योपधत्वाभावाद् बुञ् न स्यात् ।

तदप्राप्तियोग्यविषये ऽचारितार्थ्यमिति । इदं सामान्यं सर्वा-
नुगतं रूपं, तद्विशेषाश्च सङ्कोचविशेषप्रयोजकाः—तदप्राप्तियोग्ये ऽचारितार्थ्येन विशिष्टं कृते चारितार्थ्यम्, तदप्राप्तियोग्ये ऽचारितार्थ्येन विशिष्टः कृते चारितार्थ्यस्याभावः, तदप्राप्तियोग्ये ऽचारितार्थ्येन विशिष्टा कृते ऽचारितार्थ्येन विशिष्टोत्सर्गशास्त्रप्रवृत्तिसम्भावनाप्रयोज्याऽपवादशास्त्रवैयर्थ्यसम्भावना, तदप्राप्तियोग्ये ऽचारितार्थ्येन विशिष्टा उत्सर्गशास्त्रप्रवृत्त्यभावसम्भावना-
प्रयोज्याऽपवादशास्त्रप्रवृत्तिसम्भावना च । तत्र सामान्येन प्रथमबीजेन स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन, द्वितीयचतुर्थाभ्यां स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन स्वविधेयघटितातिरिक्तत्वेन च, तृतीयेन स्वप्रवृत्तियोग्यस्वीयोद्देश्यतावच्छे-
दकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन, पञ्चमेन भविष्यदपवादविषयातिरिक्तत्वेन च उत्सर्ग-

मिह स्यात्, हलादिःशेषश्चेत्—नाप्राप्ते तस्मिन्नारम्भादिदं तद्वाधकं भविष्यति” इति । “अजादेर्द्वितीयस्य” इति सूत्रे भाष्ये ऽपि स्फुटमेतत् ।

न तु शर्पर इति । न चास्य विसर्गस्य ऋकःपौ दुर्वारौ, किं चास्यैव तौ स्यातां, “खरवसानयोः” इति विहितस्य तु एतयोरसिद्धत्वात्सत्वमेव स्यादिति वाच्यम् । “शर्परे” इति सूत्रं कुप्वोरित्यत्रानुवर्त्य शर्परयोः कुप्वोः ऋकःपयोरपवादो विसर्गस्य विसर्ग इति वाक्यभेदेन व्याख्याननेनादोषात् । स्पष्टञ्चेदं भाष्ये । वार्तिके कान्ग्रहणं शक्यमकर्तुमित्याह । यद्वेति । एवं समग्रग्रहणमपि त्यक्तुं शक्यम् । पुमग्रहणं त्वावश्यकमेव । अनुनासिकपक्षे इणः परत्वेन षत्वापत्तेः । एङ्विण इति । गणे कृतसत्वषत्वानामेव पाठादिति भावः । ऋकःपयोरपवाद इति । तद्विहितविसर्गस्यापीत्यपि बोद्धव्यम् । काँस्कानिति वीप्सायां द्वित्वम् ।

संहितायाम् । संहिता च स्वारसिकार्धमात्राकालव्यवायेनोच्चारणम्* । ततो ऽधिकार्धमात्राकालेनोच्चारणे एतदधिकारोक्तकार्यव्यावृत्तये इदं, तदधिककालव्यवाये तु न साधुत्वं नापि बोध इष्यते इति वृद्धा इति तेषां शास्त्रविषयतैव नेति भावः ।

छे च । छे इत्यकार उच्चारणार्थस्तेनाच्छिन्नमित्यत्र तुक् । “ह्रस्वस्य पिति” इत्यतो ह्रस्वस्येति तुगिति च वर्त्तते । जश्त्वेनेति । स्वशब्दे उपपदे छ्यतेः के स्वच्छशब्दो निर्मले रूढः, एवं नञ्पूर्वाच्छादयतेर्दे अच्छशब्द इति पदान्तत्वं बोद्धव्यम् । स्पष्टञ्चेदममरटिप्पणे ।

आङ्मा ॥ आङ्साहचर्यान्माङ्गव्ययमेव । दीर्घस्यायमिति ।

शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने सङ्कोचो बोध्यः । वस्तुतस्तु सामान्यमात्रस्य प्रथमस्य पृथग् बाधप्रयोजकत्वकल्पनं निष्फलमेवेति बोध्यम् । विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ।

वाध्यत्वे बीजं तु—बाधकत्वेन जिघृक्षितशास्त्रीयोद्देश्यदलीयविषयताविशिष्टान्यतमत्ववद्विप्रयताप्रयोजकपदघटितत्वम् । वैशिष्ट्यञ्च स्वव्यापकतावच्छेदकत्वं—स्वव्यापकतावच्छेदकवैशिष्ट्याभाववत्त्वमेतदुभयसम्बन्धेन । द्वितीयसम्बन्धे वै० च—स्वव्यापकत्वं—स्वव्याप्यत्वाभाववत्त्वं—स्वाश्रयव्यधिकरणविषयतावृत्तित्वमेतन्नितयसम्बन्धेन । प्रकृतमूलं तु प्राचामनुसारेण । वासः शौममित्यादौ यथा जिह्वामूलीयो न भवति तथा शर्परे इति सूत्रमित्यादिना शेखरे एव स्पष्टम् ।

उच्चारणमिति । अर्धमात्राधिककालाव्यवायेनोच्चारणमित्यर्थः ।

वक्ष्यमाणज्ञापकाद्याख्यानाद्वा दीर्घादिति षष्ठ्यर्थे *पञ्चमीति भावः ।
एओङ्सूत्रभाष्ये ध्वनितमेतत् । चेच्छिद्यते इति । तुको हलादिःशेषस्तु
न । अभ्याससञ्ज्ञाप्रवृत्तिकाले स्थानिद्वारा साक्षाद्वा संनिहितानां हलामेव
तेन निवृत्तेः* । अत एव “नुगत” इत्यादि चरितार्थम् ।

दीर्घात्पदान्तादिति । *पदान्तस्य दीर्घस्येत्यर्थः । योगविभागे
ऽनयोः “एओङ्” इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टः । दीर्घान्तस्य पदस्येत्यर्थेन सिद्धे
ऽन्तग्रहणं पदान्तविधित्वमस्य, न पदविधित्वमिति बोधनद्वारा समर्थपरि-
भाषानुपस्थित्यर्थम् । तेनासामर्थ्येऽप्यस्य प्रवृत्तिरिति समर्थसूत्रे कैयटः* ।
इति हल्सन्धिः ॥

वक्ष्यमाणज्ञापकादिति । सुराच्छायेति ज्ञापकादित्यर्थः । ननु नैतज्ज्ञापकं
सम्भवति “दीर्घात्” इति सूत्रस्यापदान्तविषयत्वादुक्तलक्ष्यस्य च
पदान्तविषयत्वादत आह *व्याख्यानाद्धेति* । वर्णैकदेशानां वर्णग्रहणेन
ग्रहणमिति पक्षे ‘अग्ने इन्द्र’ इत्यत्र सवर्णदीर्घे ह्रस्वाक्षराश्रयमाकूयेत्यादौ
“ह्रस्वस्य पिति” इति तुकश्चाशङ्क्य “दीर्घे ह्रस्वाक्षराश्रयो विधिर्न भवति” इत्यर्थे
“यदयं दीर्घाच्छे तुकं शास्ति” इत्युक्तं भाष्ये । यदि छस्यायं तुकस्यात्तदा ह्रस्वस्य
पूर्वेण, छस्य त्वनेनेति विशेषस्य स्पष्टत्वात्तस्य ज्ञापकत्वासङ्गतिरिति एओङ्सू-
त्रस्थभाष्यमूलकादित्यर्थः ।

षष्ठ्यर्थे पञ्चमीति । वस्तुतस्तु षष्ठ्यंशविकलतस्मादिति परि-
भाषोपस्थित्या दीर्घाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टो यश्छकारः तदव्यवहितपूर्व-
त्वविशिष्टस्य तुगित्यर्थेन सामञ्जस्यात्फलितार्थकथनमेतत् ।

निवृत्तेरिति । न च चेच्छिद्यते इत्यादौ स्थानिवत्सूत्रोक्तदिशा तुग्विशिष्टे द्वि-
र्वचनीयविधेयताश्रयावधिकाव्यवहितपूर्वत्वस्य, एकदेशविकृतन्यायेन द्विर्वचनी-
योद्देश्यताश्रय—द्विर्वचनीयविधेयताश्रयैतदुभयमात्रारब्धसमुदायघटकत्वस्य च
सत्त्वेन पुनरभ्याससंज्ञायाः सुलभत्वेनाभ्याससंज्ञाप्रवृत्तिकाले संनिहितत्वा-
त्तुको हलादिःशेषो दुर्वार इति वाच्यम् । “नुगतो ऽनुनासिकान्तस्य” इति-
शास्त्रारम्भसामर्थ्येन हलनुबन्धकागमानां हलादिःशेषो न भवतीति क-
ल्पनेनादोषात् । हलनुबन्धकेत्युक्त्वा चकारेत्यादौ रेफागमस्य हलादिःशेषो
भवत्येवेति दिक् ।

पदान्तस्य दीर्घस्येति । वस्तुतस्तु पदान्तदीर्घाव्यवहितोत्तरत्व-
विशिष्टो यश्छकारस्तदव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्य तुगित्यर्थो बोध्यः । *कैयट-
इति* । अनेन पदसंज्ञाप्रयोजकप्रत्ययोत्पत्तिप्रयोजकसंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छे-
दकरूपावच्छिन्नसम्पादकत्वरूपपदविधित्वस्याभावात्समर्थपरिभाषानुपस्थित्या
एकार्थीभावाभावेऽपि तुगभवत्येवेति अन्तग्रहणं स्पष्टार्थमेवेत्ययं कैयटाश्रित्य
यवेति बोधितमिति दिक् ।
इति हल्सन्धिः ॥

विसर्जनीयस्य सः । प्राग्व्याख्यातमपि विसर्जनीयपदानुवृत्तिप्रदर्शनाय स्मारितम् । शर्परे इति बहुव्रीहिः । विशेष्यश्चावध्यवधिमतोः साजात्याद्विसर्जनीयाक्षिप्तः खरेव । विसर्गस्य विसर्गविधौ फलमाह । न त्वन्यदिति । अन्यदेव विवृणोति । इहेति । त्रैरूप्यमिति । विकल्पद्वयसामर्थ्यादिति भावः ।

सोप । अपदाद्योरिति । सूत्रे सौत्रत्वादेकवचनम् । अनव्ययस्येति । अत्रानव्ययीभावातिरिक्ताव्ययस्यैव ग्रहणं व्याख्यानात्* । तेनोपपयस्काम्यतीत्यादौ सत्वसिद्धिरिति स्पष्टम् “अव्ययीभावश्च” इत्यत्र भाष्ये । गीः काम्यतीति । वाः काम्यतीत्यस्याप्युपलक्षणमिदम्* ।

इणः षः ॥ “इदुदुपधस्य” इत्यस्यासिद्धत्वात्सर्पिष्पाशमित्यादौ सत्वनिवृत्त्यर्थं, गीष्पाशं दोष्कल्पमित्याद्यर्थञ्चेदम् । अत्रानव्ययस्येत्यपदादाविति काम्ये इति च संबद्ध्यते । तेनोच्चैःकल्पं, दोः पश्य, गीः काम्यतीत्यादौ षत्वं न । अत एवात्र प्रकरणे सर्वत्र सत्वमेव विधेयमिण उत्तरस्य विसर्गस्थानिकसस्यानेन षत्वमिति भाष्योक्तपक्षान्तरं सङ्गच्छते । विसर्जनीयस्थानिकेत्युक्त्वा पुंस्पुत्र इत्यादौ न दोषः । तत्र हि मस्थानिकः सः । अत्र विसर्जनीयस्येत्यनुवृत्त्यैतदर्थलाभः । अनव्ययस्येत्यादि त्वत्र पक्षे ऽत्र न संबद्ध्यते, तेन द्विष्युतं दुष्काम्यतीत्यादौ षत्वसिद्धिः । गीः काम्यतीत्यादौ सकाराभावादेव न दोषः । अपदादाविति च न संबद्ध्यते । तेन दुष्करोतीति षत्वसिद्धिः । परन्त्वयं पक्षो ऽसङ्गतः* । उत्तरसत्व-

अथ विसर्गसन्धिः । *व्याख्यानादिति* । “अव्ययीभावस्याव्ययत्वे लुङ्मुखस्वरोपचारा” इति भाष्ये परिगणनरूपादित्यर्थः । *उपलक्षणमिदमिति* । वस्तुतस्तु “सो ऽपदादौ” इत्यत्र “काम्येरोरेव” इत्यस्य “इणः षः” इत्यत्र “काम्येरोरेव” इत्यस्य चैकमेव ‘गीः काम्यति’ इति फलम् । अन्यथा “सो ऽपदादौ” इत्यत्र तदभावे सत्वम्, “इणः षः” इत्यत्र च तदभावे षत्वं दुर्वारं स्यात् । एवञ्चोपलक्षणतया व्याख्यानं निष्फलमेवेति दिक् ।

असङ्गत इति । परे तु ‘इडाया वा’ इत्यतः प्राक् “इणः षः” इतिसूत्रं कर्तव्यम् । इण उत्तरस्य विसर्गस्थानिकसकारस्य षो भवतीति तदर्थः । विसर्गस्थानिकेत्युक्त्वा पुंस्पुत्र इत्यादौ मकारस्थानिकविसर्गस्य न षः । “समः सुटि” “पुमः खय्यम्परे” “कानाम्नेडिते” इति सूत्रत्रयेण सकारस्यैव विधानेन तस्यासिद्धत्वादुत्पाद्यभावे विसर्गस्थानिकसकारस्याभावात् । “सो ऽपदादौ” इत्यारभ्य “इणः षः” इत्यतः प्राक्तनैः सर्वैः सूत्रैः सकार एव विधेयः । तथा च कुत्रचित् स एव कुत्रचित् ष एव कुत्रचिदुभयमनुवर्तते इति कल्पना न कर्तव्या

स्यासिद्धत्वेन निष्कृतमित्यादौ षत्वासिद्धेः । “प्रकरणे प्रकरणमसिद्धं न योगे योग” इति पक्षस्तु नास्त्येव* ज्ञापकासम्भवादिति “उर्पसगादसमासे ऽपि” इत्यत्र निरूपयिष्यामः । विसर्जनीयस्यैव षत्वमिति मूलोक्त-
पक्षे तु सकारषकारयोः स्वरितत्वेऽपि यथायोगं सम्बन्धो मण्डूकप्लुत्ये-
त्यन्यत्र विस्तरः ।

नमस्पु ॥ इत उत्तरमपदादाविति न सम्बद्ध्यते व्याख्यानात्* ।
साक्षात्प्रभृतित्वादिति । ऊर्यादित्वाद्गतित्वं स्वरादिपठितस्य तु
गतित्वाभावस्तेन साक्षात्प्रभृतिषु च्यर्थवचने ऽपि न क्षतिरित्यन्ये ।

इदुदु ॥ अप्रत्ययस्येति पर्युदासो लाघवात् । तत्र प्रत्ययपदं
तत्सम्बन्धिपरं, तेन प्रत्ययसम्बन्धिभिन्नस्येत्यर्थः । अत एव कविभिः
कृतमित्यादौ न षत्वं, स्पष्टञ्चेदं भाष्ये इत्यन्यत्र विस्तरः* । एकादेश-
शास्त्रेति* । एकादेशशास्त्रसम्पन्नेरेफस्थानिकत्वेन विसर्जनीयस्यैकादेश-

भवति । किञ्च इणः ष इत्यत्र ‘अनव्ययस्य’ ‘काम्येरोरेव’ इति वार्तिकद्वयसम्ब-
न्धश्च न कर्तव्यो भवति, अपदादावित्यत्र स्वरितत्वं च न कल्पनीयं भवतीति
महलाघवम् । उच्चैःकल्पम्, दोः पश्य, गीः काम्यतीत्यादौ विसर्गस्थानि-
कसकारस्यैवाभावेन षत्वाप्राप्तेः । एतेन परन्त्वयं पक्षोऽसङ्गत इत्युक्ति
रेवासङ्गतेति प्राहुः ।

नास्त्येवेति । भोश्छिन्धि भगोश्छिन्धि अघोश्छिन्धि हरिव-
श्छिन्धि इत्यादौ “विभाषा भवत्” “वन उपसंख्यानम्” इति वार्तिकद्वय-
“नश्छवि” इति सूत्रस्यासिद्धत्वाभावात्परत्वात्तेनैव कृत्वे अवस्यौकारादे-
शानापत्तेरनुस्वारानुनासिकयोरापत्तेश्च दुर्वारत्वेन “प्रकरणे प्रकरणम्” इति
पक्ष आश्रयितुं न शक्यते इति भावः । व्याख्यानादिति* । ‘नारायणं नम-
स्कृत्य’ इत्यादिलक्ष्यदर्शनमूलकादित्यर्थः ।

अन्यत्र विस्तर इति । वस्तुतस्तु प्रत्ययभिन्नविसर्गस्येदुदुपधस्य
ष इति सामानाधिकरण्येनान्वयेऽपि न क्षतिः । न च कविभिः कृतमित्यादौ
षत्वं दुर्वारं स्याद्भिन्नसः प्रत्ययत्वेऽपि विसर्गस्य तद्विभक्तत्वादिति वाच्यम् ।
“प्रत्ययस्य लुक्” इति सूत्रात्प्रत्ययस्येत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे “प्रत्ययलोपे” इति
सूत्रे प्रत्ययग्रहणसामर्थ्येन षष्ठीप्रकृतिप्रयोज्यप्रत्ययत्वावच्छिन्नविषयता प्रत्य-
यावयवेऽपि स्वीक्रियते इत्यर्थेन प्रकृते विसर्गेऽपि तद्विषयतासत्त्वेन प्रत्यय-
भिन्नविसर्गाभावेनादोषात् । स्पष्टं चेदं प्रत्ययलोपसूत्रे शेषरे । ‘प्रत्ययपदं तत्स-
म्बन्धिपरम्’ इति शेषरस्तु यत्र पर्युदस्यमानो वर्णः, पर्युदाससमर्पकश्च समु-
दायबोधकपदं, तत्र तत्पदं तदवयवे लाक्षणिकम्, यथा “नश्छव्यप्रशान्” “शेषो
व्यसखि” “अत्वसन्तस्य चाधातोः” इत्यादौ, एवं प्रकृतेऽपीत्याशयेन योजनीयः ।
एकादेशशास्त्रेति । मातुः कृपेत्यादौ विसर्गस्य “अन्तादिः

शास्त्रनिमित्तकत्वं बोध्यम् । स्पष्टश्चेदमत्र सूत्रे “उरण् रपर” इति सूत्रे च भाष्ये इत्यन्यत्र विस्तरः । प्रत्ययभिन्नसम्बन्धिन इति तु नार्थः । अग्निः करोतीत्यादावपि प्रत्ययभिन्नसमुदायसम्बन्धित्वेन षत्वापत्तेः* । तपरकरणं किम् । गीः करोति । उपधाग्रहणं व्यर्थम् । “उपधाग्रहणं न करिष्यते, इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीयं विशेषयिष्याम” इति हयवरट्सूत्रभाष्योक्तेः ।

तिरसो ऽन्य ॥ अत्र गतिग्रहणं नानुवर्तते पराभवे तिरस्कारशब्दप्रयोगात् । अन्तर्धावेव तिरसो गतित्वात् ।

द्विस्त्रि ॥ कृत्वोऽर्थ इति न विसर्गविशेषणं चतुःशब्दे ऽसंभवात्, किं तु द्विरादीनामित्याह । वर्तमानानामेषामिति । इसुसोरितिसूत्रवक्ष्यमाणरीत्या “सुचः” इति सूत्रयितुमुचितम्* । सुजन्तान्तस्य पदस्येत्यर्थात् । चतुष्कपाल इति । इदुदुपधस्येति नित्यं षः । चतुःशब्दो ऽव्युत्पन्न इति अप्रत्ययस्येति पर्युदासो न । अत एव “चतुष्पाद्भ्यो ढञ्” इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते । चतुष्पश्चाशदित्यत्रापि षत्वं भवत्येव । न चेदुदुपधस्य सस्य यो विसर्ग इति हयवरट्सूत्रभाष्योक्तेः कथमत्र षत्वमिति वाच्यम् । विसर्गस्य पाठाभावेनोपधात्वासम्भवात्तत्स्थानिनिमित्तमुपधात्वं ग्राह्यमिति भाष्यतात्पर्यात् । अत एव “समः सुटि” इतिसूत्रभाष्ये संपुङ्गानामित्यनेन रुविधिरेवास्त्वित्याशङ्क्य पुंस्कामेत्यत्र षत्वापादानं सङ्गच्छते ।

षञ्च” इतिसूत्रसहायेन प्रत्ययसम्बन्धित्वेन षत्वाप्राप्त्यैतज्ज्ञापनस्य नोपयोग इति तत्त्वम् । *षत्वापत्तेरिति* । न च प्रत्ययभिन्नसम्बन्धिविसर्गस्य ष इत्यर्थे सर्वत्रैव प्रत्ययभिन्नसम्बन्धित्वाद्विसर्गस्य षत्वं स्यादित्यप्रत्यय इति व्यर्थं स्यात्, तत्सार्थक्याय प्रत्ययभिन्नप्रातिपदिकावयवेदुदुपधस्य विसर्गस्य ष इत्यर्थेनाग्निः करोति, कविभिः कृतमित्यादौ न दोषः प्रत्ययभिन्नसमुदायसम्बन्धित्वेऽपि विसर्गस्य प्रातिपदिकावयवत्वाभावादिति वाच्यम् । ओजोभिः कृतं, सख्युः पुत्र इत्याद्यलुक्समासे प्रत्ययभिन्नसम्बन्धित्वात्प्रातिपदिकावयवत्वाच्च विसर्गस्य षत्वापत्तेः ।

“सुच” इति सूत्रयितुमिति । न च चतुष्करोति चतुःकरोतीत्यादौ “द्विस्त्रिश्चतुः” इति षत्वस्यासिद्धत्वात् “इदुदुपधस्य” इति नित्यषत्वापत्तिः । “सुच” इति सूत्रस्य तु नापवादत्वम् । विसर्गस्य प्रत्ययसम्बन्धित्वेन “इदुदुपधस्य” इति षत्वाप्राप्त्या द्विष्करोति द्विः करोतीत्यादौ चारितार्थात्, इति वाच्यम् । “द्वित्रिभ्यां सुच्, चतुरो लोपश्च” इति न्या-

न च कृत्वोऽर्थे विद्यमानस्य पदस्येदुदुपधस्य यो विसर्ग इत्यर्थान्न पञ्चकृत्वः करोतीत्यादौ दोषो, नापि चतुष्करोतीत्यादावव्याप्तिरिति द्वित्रिश्चतुरिति व्यर्थमिति वाच्यम् । कृत्वोऽर्थे इत्यस्यासिद्धत्वेन चतुःशब्दे इदुदुपधस्येति नित्यषत्वापत्तेः । प्रकरणे प्रकरणमसिद्धमिति पक्षस्तु “उपसर्गादसमासे ऽपि” इति सूत्रे कैयटे “पूर्वपदात्” इति सूत्रे भाष्ये च दूषित एव* । उपसर्गादिति सूत्रे चोपपादयिष्यते । किं च पूर्वत्रेति पूर्वशब्देन प्रकरणग्रहणे ऽव्यवहितप्रकरणे एव त्रिपाद्यसिद्धत्वं स्यात्, न सम्पूर्णसपादसप्ताध्याय्याम् । किं *चास्याधिकारत्वात्प्रातिसूत्रमुपस्थित्या प्रतियोगमसिद्धत्वं *दुर्वारमित्यन्यत्र विस्तरः ।

इसुसोः ॥ अत्रेसुसोः *प्रातिपदिकावयवयोर्ग्रहणम् । तेन पेचुः काष्ठैः, सख्युः पाकः, कविभिः कृतमित्यादौ षत्वं न । “नित्यं समासे” इति सूत्रोदाहरणे समासविषये तयोरेव सम्भवेनार्थाधिकारानुरोधात्*साहचर्याच्चा इसुसन्तपदावयवविसर्गस्येत्यर्थः । पदस्येत्यधिकारात् । न च प्रत्ययग्रहणपरिभाषया परमसर्पिष्करोतीत्यादौ *षत्वानापत्तिरवयवस्येसुसन्तत्वे ऽपि

सेन चतुष्करोतीत्यादौ विसर्गस्य प्रत्ययसम्बन्धित्वेन नित्यषत्वाप्राप्त्या ऽदोषादिति दिक् । *दूषित एवेति । भोश्छिन्धि भगोच्छिन्धि अघोश्छिन्धि हरिविच्छिन्धीत्यादावनुनासिकानुस्वारयोरापत्तेरवस्यौकारादेशानापत्तेः श्रेति भावः ।

ननु अव्यवहितप्रकरणस्यैव पूर्वदृष्ट्या ऽसिद्धत्वे “अ अ” इत्येतत्पर्यन्तानुवृत्तिप्रयोजकस्वरितत्वकरणं व्यर्थं स्यात् । किञ्च प्रतियोगासिद्धत्वकल्पे ऽप्ययं दोषस्तुल्य इत्यत आह । *किञ्चेति* । *दुर्वारमिति* । यथा “प्राग्दीव्यत” इत्यादौ अवधिसाजात्यादर्थपुरस्कारेण प्रत्ययविधायकेष्वेवाणादेरधिकारः एवं “प्रकरणे प्रकरणे एवानुवर्तते” इत्येतज्ज्ञापकलिङ्गाभावात् “स्त्रियाम्” इत्यादेरिवास्यापि प्रतिसूत्रमनुवृत्तिर्दुर्वारेति भावः ।

प्रातिपदिकावयवयोरिति । इस्साहचर्यादुस्तिङ्गनवयवो गृह्यते, तादृशोस्साहचर्याच्चेस्सुबनवयवो गृह्यते । तेन प्रातिपदिकावयवयोर्ग्रहणमित्यर्थाल्लब्धमिति भावः । *साहचर्यादिति* । निरुक्तसाहचर्यादिति भावः । *षत्वानापत्तिरिति* । इसन्ततदादेरुसन्ततदादेर्विसर्गस्य ष इत्यर्थेन षत्वानापत्तिः । अधिकृतपदस्येत्यनेन सामानाधिकरण्येनान्वयेऽपि धर्मिणः सिद्धत्वेन तदादित्वधर्ममात्रोपस्थित्येसन्तमुसन्तम्-इसुस् च यस्माद्विहितौ तदादित्वविशिष्टं यत्पदं तत्सम्बन्धिविसर्गस्य ष इत्यर्थेन तदनापत्तिरस्त्येवेति भावः । ननु परमसर्पिष्करोतीत्यादौ प्रत्ययलक्षणेन सर्पिरिति पदमिस् यस्माद्विहित-

“उत्तरपदत्वे च” इति* निषेधेनापदत्वादिति वाच्यम् । अनुत्तरपदस्थस्येति निषेधेन क्व चिदुपात्तविशेष्यसत्त्वे ऽपि *शब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्त-विधिज्ञापनेन शब्दरूपं विशेष्यमादाय प्रत्ययग्रहणपरिभाषया लब्धतदन्तार्थ-कस्य पदविशेषणतया *इसुसन्तान्तस्येत्यर्थेनादोषात् । अत एव “वनोर-च” इत्यादौ न दोषः* । ब्राह्मणस्य सर्पिष्करोतीत्यादौ सापेक्षत्वेनासाम-र्थ्यं नाशङ्क्यं तस्यैकार्थीभावः*सामर्थ्याविषयत्वात् । * “अधात्वभिहितं समा-नाधिकरणसमर्थवत्” इत्युक्तेः सर्पिः कालकमित्यादौ न षत्वम् । अधात्व-भिहितमित्युक्तेः सर्पिष्पीयते इत्यत्र षत्वसिद्धिः । धातुसहचरित*प्रत्यया-भिहितार्थेन *समानाधिकरणसमर्थवन्नेति तदर्थः ।

यदा तु सर्पिरादिकमव्युत्पन्नं प्रातिपदिकं-पाणिनेरुणादिष्व-व्युत्पत्तिपक्ष एवेति “आयनेयीनी” इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टमुक्तेः । तत्र हि शङ्ख इत्यादावादेशानाशङ्क्य “उणादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः, प्रातिपदिकवि-ज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धम्” इत्युक्तम् । “अयामन्तालवाय्येतिन्व” ण्युषु इति सूत्रं व्याकरणान्तररीत्यैव, सर्वनामस्थानमिति महासञ्ज्ञा-

स्तदादित्वविशिष्टश्चेति षत्वविकल्पो दुर्वार इत्यत आह । *उत्तरपद-त्वे चेति* । *शब्दरूपं विशेष्यमिति* । तदादिरूपं शब्दमित्यर्थः । *इसुसन्ता-न्तस्येति* । इसन्तमुसन्तं च यत्तदादि तदन्तं यत् पदं तस्येत्यर्थः । *न दोष इति । *वन्नन्तं यत्तदादि तदन्तात्प्रातिपादकादित्यर्थादिति भावः ।

मूले व्यपेक्षेति । तत्त्वञ्च यत्किञ्चित्पदविशिष्टत्वम् । वै० स्वघटित-त्वं-स्वप्रयोज्यविषयतानिरूपितविषयताप्रयोजकपदघटितत्वं-स्वप्रयोज्यविषय-तानिरूपितत्वाभाववद्विषयताप्रयोजकपदाघटितत्वं-स्वानिष्टशक्तिग्रहप्रयोज्य-शक्तिग्रहविषयीभूतशक्तिपर्याप्त्यधिकरणत्वमेतच्चतुष्टयसम्बन्धेन । प्रत्येकपदे ऽतिव्याप्तिवारणायाद्यसम्बन्धद्वयम् । तिष्ठतु सर्पिः पिब त्वमुदकमित्यादाव-तिव्याप्तिवारणाय तृतीयसम्बन्धोपादानम् । समासे ऽतिव्याप्तिवारणाय चतुर्थसम्बन्धोपादानमिति दिक् ।

एकार्थीभावेति । तत्त्वञ्च यत्किञ्चिच्छक्तिविशिष्टत्वम् । वै० स्वपर्याप्त्यधिकरणघटितत्वं-स्वनिरूपकेतरनिरूपितशक्तिपर्याप्त्यधिकरणघटि-तत्वं-स्वग्रहप्रयोज्यग्रहविषयीभूतशक्तिपर्याप्त्यधिकरणत्वमेतन्नितयसम्बन्धेन । यथा राजपुरुष इत्यादौ राजत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तिपर्याप्त्यधिकर-णराजपदघटितत्वम्-राजत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तिनिरूपकेतरपुरुषत्वावच्छि-न्ननिरूपितशक्तिपर्याप्त्यधिकरणघटितत्वं-राजत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तिग्रहप्रयो-ज्यशक्तिग्रहविषयीभूतराजसम्बन्धिपुरुषत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तिपर्याप्त्यधिक-रणत्वञ्च वर्तते इति लक्षणसमन्वयः ।

वत् । अत एव भाष्ये उणादयो ऽव्युत्पन्नानीत्येवोक्तम् । न तु “अनेकार्था अपि धातव” इतिवदव्युत्पन्नान्यपीत्युक्तं, तदा “इदुदुप-
धस्य” इति नित्ये षत्वे प्राप्ते ऽनेन विकल्प इति । प्रत्ययग्रहणाभावा-
त्तत्परिभाषानुपस्थितेः परमसर्पिष्करोतीत्यादौ षत्वविकल्पः सिद्धः ।
“नित्यं समासे” इति सूत्रमनुत्तरपदस्थस्येतिप्रतिषेधार्थम् । नित्यग्रहणं तु
न कर्त्तव्यमेव । समासे नित्यषत्वस्य इदुदुपधस्येत्येव सिद्धेः । सर्पिषेत्यादौ
षत्वं त्वत्र पक्षे क्व चिदन्यदेवेत्यर्थकाद् बहुलग्रहणादिति स्पष्टं भाष्ये ।
व्यपेक्षेति । व्याख्यानात्* । एकार्थीभावसामर्थ्यग्रहणे परमसर्पिःकु-
ण्डिकेत्यादौ समासे विकल्पापत्तिः । अनुत्तरपदस्थस्येति निषेधादुत्तर-
सूत्रस्य न प्रवृत्तिरिति भावः ।

नन्वेनेनैव सिद्धे कस्कादिषु सर्पिष्कुण्डिकाशब्दपाठो व्यर्थ
इत्यत आह । कस्कादिष्विति । एतेन तत्सामर्थ्यादुत्तर-
पदस्थस्यापि *षत्वमित्यपास्तम् । व्यपेक्षाविरहे ऽपीति । आनय
सर्पिष्कुण्डिका तिष्ठतीत्यादौ । व्यपेक्षायामिति । इदं सर्पिष्कुण्डि-
काया इत्यत्र । प्रत्ययभिन्नविसर्गस्येत्यर्थम्—“इदुदुपधस्य” इत्यत्र व्याच-
क्षाणानां व्याख्यादर्शकृतां मते ऽव्यपेक्षायां तेन सिद्धेरिति भावः । एतेन

आद्यसम्बन्धद्वयं स्वरूपकथनपरं न तु व्यावर्तकम् । तृतीयसम्बन्धोपादानं वाक्ये ऽतिव्याप्तिवारणायेति दिक् ।

अधात्वभिहितं समानाधिकरणमसमर्थवदिति । धातुप्रकृ-
तिकप्रत्ययप्रयोज्यत्वाभाववती या विशेष्यता तन्निरूपिता या (अ-
भेदसम्बन्धावच्छिन्ना) सम्बन्धानवच्छिन्ना प्रकारता तत्प्रयोजकं तन्निरु-
पितविशेष्यताप्रयोजकं वा व्यपेक्षारूपसामर्थ्याभाववदित्यर्थः । धातु-
प्रकृतिकप्रत्ययप्रयोज्यत्वाभाववत्त्वस्य विशेष्यतायां विशेषणदानेन सर्पिष्पीयते
इत्यादौ नासामर्थ्यम् । तेपदप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छि-
न्नप्रकारताप्रयोजकत्वस्य सर्पिःपदे सत्त्वेऽपि तेपदार्थकर्मनिष्ठविशेष्यतायां धातुप्र-
कृतिकतिङ्प्रत्ययप्रयोज्यत्वाभावस्याभावात् । *धातुसहचरितेति* । धातुप्रकृ-
तिकेत्यर्थः । सामान्यतः प्रत्ययपदोपादानात् सर्पिष्पेयमित्यादावपि षत्वसिद्धि-
रिति दिक् । *समानाधिकरणमिति* । कालकादिपदप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपि-
तसम्बन्धानवच्छिन्नप्रकारतायाः प्रयोजकं तन्निरूपिताविशेष्यताप्रयोजकं वेत्यर्थः ।

व्याख्यानादिति । उत्तरसूत्रे समासग्रहणस्य सत्त्वेन तस्यैकार्थी-
भावविषयकतया “इसुसोः ” इति सूत्रे सामर्थ्यस्य व्यपेक्षाविषयकत्वमित्येवं-
रूपादित्यर्थः । अन्यथा इत एव सामर्थ्यपदस्य तत्रानुवृत्तौ तत्र समासग्रहणस्य
वैयर्थ्यं स्यादिति भावः । *षत्वमित्यपास्तमिति । अत एव “अनुत्तरपदस्थस्येति

कस्कादिपाठस्याव्यपेक्षायां चारितार्थ्येन व्यपेक्षायां तस्यासिद्धत्वाद्धि-
कल्प* एवोचित इत्यपास्तम् । प्रत्ययसंबन्धिभिन्नविसर्गस्येत्यर्थे तु तद-
प्राप्तिरेवेति व्यपेक्षायां विकल्प एवेति बोध्यम् ।

अतः कृ ॥ कृशब्देन *तदाविग्रहणं, समासाक्षिप्तोत्तरपदस्य वि-
शेष्यत्वात् । “विष्वग्देवयोः” इति सूत्रे वप्रत्ययग्रहणेन धातो*विशेषणत्वे
तदादिविधिज्ञापनात् । अयस्कृन्मीत्यादौ लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स-
त्वं बोध्यम् ।

भास्कर इति । तपरकरणात् “अतः कृ” इत्यस्याप्राप्तिः ॥

इति विसर्गसन्धिः ॥

यत्तु स्वौजसित्यत्र रुरेव पाठ्यः, सर्वत्र सुग्रहणे रुग्रहणमेवास्त्विति, तन्न । यशोऽत्रेत्यादौ रोरसिद्धत्वादुत्वानापत्तेः*, “अतो रोः” इत्यस्य
प्रथमैकवचने चारितार्थात् । तद् ध्वनयन्नाह । स्वौजसेति । पदस्येत्य-
नुवृत्तं ससजूभ्यां विशेष्यते तेन तदन्तविधिः । आदेशस्त्वलोऽन्त्यस्येत्यन्त्य-
स्य । तत्फलितमाह । पदान्तस्येत्यादिना । सजूरित्यत्र व्यपदेशिवद्भावे-

किमर्थम् । परमसर्पिःकुण्डिका” इति भाष्यं सङ्गच्छते । *विकल्प एवेती-
ति* । अव्युत्पत्तिपक्षेऽपि “इसुसोः” इत्यस्य “इदुदुपच” इतिषत्वापवादत्वा-
दिषुसोरित्येतदुद्घृष्ट्या “कस्कादिषु च” इत्यस्यासिद्धत्वाच्च विकल्प एवेति
भावः । एवं च “व्यपेक्षायां नित्यार्थश्च” इति मूलग्रन्थो व्याख्यादर्शमते
एव बोध्यः । अन्यथा कस्कादिषु तत्पाठस्य व्यपेक्षाविरहे ऽसमासे चा-
रितार्थ्येनासिद्धत्वाद्यपेक्षायां विकल्पो दुर्वारः स्यात् इति दिक् ।

तदादिग्रहणमिति । सम्बन्धानवच्छिन्ना (अभेदसम्बन्धाव-
च्छिन्ना) या प्रकारता तत्प्रयोजकं धातुबोधकसप्तम्यन्तं पदं स्वबोधयार्था-
द्यवयवक्रूपरं बोध्यमित्यर्थिकया “धातुग्रहणे तदादिविधिः” इतिपरिभाषयेति
भावः । *धातोरिति* । धातुबोधकसप्तम्यन्तस्येत्यर्थः । *विशेषणत्वे इति* ।
सम्बन्धानवच्छिन्नविशेषणताप्रयोजकत्वे इत्यर्थः ।

अधःशिरसी पदे । अधः, शिर इति च पदे पदशब्दे परे सत्त्वं
लभेते इति सूत्रार्थः ।

इति विसर्गसन्धिः ।

उत्वानापत्तेरिति । न च “वौजसमौङ्” इति न्यासे राम् इत्यस्यां
दशायां विसर्गस्यासिद्धत्वात् “सुपि च” इति दीर्घो दुर्वार इति स एव
दीर्घो देय इति यशोऽत्रेत्यादावुत्वानापत्तिरूपदोषपर्यन्तानुधावनं किमर्थमिति
वाच्यम् । “सुपि च” इत्यस्य स्थाने “आपि च” इति अपि च इति वा
न्यासेन दीर्घोपत्तिरूपदोषवारणसंभवात् । एवं साति रविधानेनैव सिद्धे-

न सिद्धिः । “व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेन” “ग्रहणवत्ता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न” इति परिभाषाद्वयं *प्रत्ययविधिविषयमिति “असमासे निष्कादिभ्य” इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । इदञ्जस्तापवादः । श्रेयानित्यादौ त्वस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोप एवेति दिक् ।

यत्त्वस्यापवाद इति । यदीदं न स्यात्तर्हि यत्वं प्रामोतीत्येतावता । कृते त्वस्मिन् यत्त्वस्यासिद्धत्वादुत्वगुणयोर्यत्वाप्राप्तिरेवेति भावः ।

प्रथमयोः ॥ व्याख्यानात्* प्रथमयोरित्यनेन प्रथमाद्वितीयारूप-
*सुबिभक्त्योर्ग्रहणम्-तदाह । प्रथमाद्वितीययोरिति । पूर्वग्रहणं किम् । अग्नी इत्यत्र पक्षे परसवर्णो मा भूदिति । दीर्घग्रहणं तु त्रिमात्रस्य स्था-

अह्नित्यनेन रुविधानं तु अहःसु इत्यत्र ‘रोः सुपि’ इतिविसर्गार्थम्, अहोभ्यामित्यादौ अनिष्टयत्वार्थं च स्यात् । रुविधानेनैव सिद्धे रुविधानमपि अहर्मातीत्यत्र ‘भोमगो’ इति यत्वं मा भूत् इत्येतदर्थम् । ‘रूपरात्रिरथन्तरेषु’ इति वार्तिकमपि सिद्धान्तानिष्टयत्वार्थमेवेदानीं स्यात् । किं च । एतद्वार्तिकसामर्थ्यात् ‘ससज्जुषो रुः’ इति रोः सिद्धत्वकल्पनेऽपि “मतुवसो रु संबुद्धौ छन्दसि” इति रुत्वस्य असिद्धत्वात् हरिवो मेदिनं-त्वेत्यादौ उत्त्वानापत्तिः, इति न किमपि ज्ञापकमतिप्रसङ्गवारकं सम्भवतीति दिक् ।

प्रत्ययविधिविषयमिति । इदमुपलक्षणम्-सूत्रोपात्तान्तादिशब्दविषयत्वं प्रातिपदिकविशेषविषयत्वं च “व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेन” इति परिभाषाया इत्यस्य, उगिज्जिज्ञत्वे सति प्रत्ययभिन्नत्वे सति वर्णभिन्नत्वं ग्रहणवत्प्रातिपदिकत्वमित्येतद्विषयत्वं ग्रहणवत्परिभाषाया इत्यस्य च । अत एव “रोणी” “अग्रान्त” “अनुदात्तादेरञ्” इत्यादिविषये आद्या, “उगितश्च” “अत इञ्” “यञिञोश्च” इत्यादौ द्वितीया च तेषां प्रत्ययविधित्वेऽपि न प्रवर्तते । तत्त्वञ्च प्रत्ययविशिष्टविधित्वम् । वै० स्वनिष्ठविधेयताप्रयोजकत्वम्-स्वनिष्ठोद्देश्यतानिरूपिताविधेयताप्रयोजकत्वमेतदन्यतरसम्बन्धेन । तेन “नास्तादसंख्यादेः” इत्यस्यापि तत्त्वेन तत्राद्यपरिभाषाप्रवृत्त्या पञ्चम इत्यादौ व्यपदेशिवद्भावामाधेन न संख्यादित्वम् । मटः प्रत्ययत्वन्तु वक्तुमशक्यमित्यन्यत्र निरूपितम् ।

व्याख्यानादिति । अत्र प्रथमयोरित्यनेन न यस्य कस्य चिद् ग्रहणं किन्तु “वा सुपि” इत्यतः सुग्रहणानुवृत्तेः सुबिभक्त्योरेव । तयोरपि न प्रथमवचनयोः । अचीत्यधिकारात्, “तस्माच्छस” इत्यत्र कृतस्य पूर्वसवर्णदीर्घार्थकतच्छब्दस्य “दीर्घाञ्जासि” इति निषेधसूत्रस्य च दर्शनाच्चेत्येवंरूपादित्यर्थः ।

सुबिभक्त्योरिति । इदमत्राकूतम् । प्रथमयोरित्यस्य प्रथमत्वविशिष्टयोरित्यर्थः । प्रथमत्वविशिष्टे ये प्रथमाद्वितीये तद्वत् द्वित्वं द्विवचनार्थः । प्रथमत्वञ्च यादृशसंख्याविशिष्टनिरूपितं प्रथमत्वं वक्तव्यं तत्संख्यावि-

निनास्त्रिमात्रो मा भूदिति । सर्वर्णग्रहणं तु स्पष्टार्थम् । पूर्वस्यादीर्घत्वात्*
पूर्वजातीय इत्यर्थेनेष्टसिद्धेरिति स्पष्टं भाष्ये । आदृगुण इति । “तौ सत्”
इति निर्देशेन भ्रष्टावसरन्यायस्यात्र शास्त्रे *ऽनाश्रयणादिति भावः ।

देवदत्तहन्तृहतन्यायस्य तु नात्र प्रवृत्तिः* । देवदत्तहन्तृहनने हि
नोज्जीवनं, *देवदत्तहननप्रसक्तहनने त्वस्त्येव देवदत्तजीवनं, प्रकृते तु
न हननस्थानीया वृद्धिहन्तुः पूर्वसर्वर्णदीर्घस्य लक्ष्ये प्रवृत्तिः, किं तु

शिष्टत्वम् । वै० स्वजनकापेक्षाबुद्धीयैकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितधर्मितानाश्र-
यत्वं—स्वप्रयोजकापेक्षाबुद्धीयैकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकताश्र-
यत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । यथा सप्तत्वविशिष्टविभक्तिसमुदायनिरूपितं प्रथमत्वं
वक्तव्यं तज्जनिका या अपेक्षाबुद्धिः ‘इमाः षट् एतद्विशिष्टेयमेका’ इति, तदीयैकत्व-
निष्ठप्रकारतानिरूपितधर्मिताश्रयत्वं सप्तम्यां तदनाश्रयत्वं प्रथमाद्वितीयात्मक-
समुदाये, एवं स्वप्रयोजिका या अपेक्षाबुद्धिः “इमे द्वे इमाश्चतस्रः एतद्वि-
शिष्टेयमेका” इति, तदीयैकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छेदकताश्रयत्वमपि
प्रथमाद्वितीयात्मकसमुदाये वर्तते इति लक्षणसमन्वयः । सप्तम्यां प्रथम-
त्ववारणाय प्रथमसम्बन्धोपादानम् । अन्यथा “षष्ठीसप्तम्यौ द्वे, प्रथमा द्वितीया
तृतीया चतुर्थी इति चतस्रः, एतद्विशिष्टेयमपञ्चम्येका” इत्याकारकापेक्षाबुद्धेरपि
सप्तत्वसंख्योत्पत्तिप्रयोजकतया तदीयैकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितधर्मितावच्छे-
दकतायाः सप्तम्यां सत्त्वेनातिव्याप्तिर्दुर्वारा स्यात् । प्रथमां विहाय मध्य-
समुदाये ऽतिव्याप्तिवारणाय द्वितीयसम्बन्धोपादानम् ।

यत्संख्याविशिष्टस्य प्रथमत्वं वक्तव्यं तत्संख्योत्तरसंख्याजनकापेक्षा-
बुद्धीयैकत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वमेव तत्त्वम् । यथा द्वित्व-
संख्याविशिष्टप्रथमाद्वितीययोः प्रथमत्वं चेद्वक्तव्यं तत्संख्योत्तरसंख्या त्रित्वरूपा
तत्संख्याजनिकाऽपेक्षाबुद्धिः ‘एतद्वयविशिष्टेयमेका’ इति, तदीयैकत्वाव-
च्छिन्नविशेष्यता तृतीयायां तन्निरूपितप्रकारताश्रयत्वं प्रथमाद्वितीययोः ।
एवमन्यत्राप्युक्तमित्यन्ये ।

अदीर्घत्वादिति । गौरीरित्यादौ पूर्वस्य दीर्घत्वेऽपि तद्वक्ते-
र्विधातुमशक्यत्वाच्चेत्यपि बोध्यम् । *अनाश्रयणादिति* । वस्तुतस्तु
भ्रष्टावसरन्यायस्यास्मिन् शास्त्रे विषय एव नेति वक्तव्यम् । तथा हि—
शास्त्रस्यावसरो नाम तदीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तिः । तथा च ‘शिव
उ अर्च्य’ इति स्थिते पूर्वसर्वर्णस्य “नादिचि” इति निषेधेन पूर्वसर्वर्ण-
दीर्घोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन आदृगुण इत्यत्र सङ्कोचाभावेन
गुणशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तेः सत्त्वेनावसरस्याभ्रष्टत्वात् । एवं ‘त औ’
इति स्थिते पूर्वोक्तदिशा बुद्धिशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तेः सत्त्वेन “तौ
सत्” इत्यादिनिर्देशासङ्गतेरभावाच्च ।

नात्र प्रवृत्तिरिति । नात्र विषय इत्यर्थः । देवदत्तहन्तृहतन्याय-

हननोधमसजातीयं प्रसक्तिमात्रं, प्रसक्तस्य निषेधे बाध्योज्जीवने न बाधकमिति । स्पष्टं चेदं “स्वादिषु” इति सूत्रे कैयटे ।

सुस्रोत इति । सुस्रोतमशब्दः कस्यचित्सञ्ज्ञा । संबुद्धौ “दूराद्धूते च” इति प्लुतः । तत्सामर्थ्यादिति । प्रतियोगित्वेन तदाश्रयणसामर्थ्यादित्यर्थः । आश्रयात्सिद्धः* इति भाष्योक्तेः । पयस्यटति पयो ददातीत्यर्थे ‘आगच्छ हे पयोऽद्’ ‘आगच्छ हे पयोऽद्’ इत्यादावेकपदस्थवर्णद्वयसापेक्षमन्तरङ्गमुत्वं प्रति वाक्यसंपादकपदान्तरसापेक्षप्लुतस्यासिद्धत्वादुत्वे प्लुतसिद्धिः* । अन्यथा प्लुतस्योत्त्वदृष्ट्या सिद्धत्वात्परत्वात् प्लुते आद्ये ऽप्लुतपरत्वाभावादन्त्ये ऽप्लुतात्परत्वाभावादुत्वं न स्यात् । परिभाषादृष्ट्या बहिरङ्गासिद्धत्वे ऽपि न क्षतिः । स्वदृष्ट्या ऽसिद्धस्यापि परं प्रत्यासिद्धत्वप्रतिपादनसंभवात् । स्वदृष्ट्या ऽविद्यमानस्य परं प्रत्यविद्यमानत्वप्रतिपादनवत् । अन्तरङ्गस्यासिद्धत्वे तु प्रतिपाद्याभावे इव कं प्रत्यसिद्धत्वं प्रतिपाद्येत । तत्राद्ये “वाक्यस्य टेः” इत्यदशब्दाकारः प्लुतः, अन्त्ये रेफदकारसंयोगपरत्वेनाकारस्य गुरुत्वात् “गुरोः” इति प्लुतः । आश्रयेण तु येनना-

विषयाभावमेवोपपादयति *देवदत्तहननप्रसक्तेत्यादिना* । *आश्रयात्सिद्ध इति* । स्यादेतत्—अप्लुते इत्युक्त्या प्लुतस्यासिद्धत्वं न भवतीति कल्पने स्वांशे चारितार्थ्यं दुर्निरूपम् । तपरकरणेनैव प्लुतव्यावृत्त्या अप्लुतात्, अप्लुते इत्यस्य च व्यावर्त्यालाभादिति चेन्मैवम् । अप्लुतादिति पञ्चम्यन्तप्रयोज्या अप्लुते इतिसप्तम्यन्तप्रयोज्या वा या प्लुतभिन्नत्वावच्छिन्ना विषयता तादृशविषयतासाधकमसिद्धत्वं न भवतीति कल्पनेनादोषात् । तथाहि—‘एहि सुस्रोतः अत्र स्नाहि’ ‘तिष्ठतु पय अत्र श्रिदत्त’ इत्यादौ निरुक्ताविषयतासाधकासिद्धत्वस्याभावेऽपि अतः, अतीत्यतेत्पदप्रयोज्यैकमात्रिकत्वविशिष्टत्वावच्छिन्नाविषयतासाधकासिद्धत्वस्य सत्त्वादुत्वं दुर्वारं स्यादिति अप्लुतादिति अप्लुते इति च स्वांशे चारितार्थमिति दिक् । प्लुतपदघटितशास्त्रदृष्ट्या प्लुतस्यासिद्धत्वं न भवतीति कल्पनेन एकम् अप्लुतपदं त्यक्तुं शक्यमिति न वाच्यम् । तथा सति तुल्यन्यायात् रूपदघटितशास्त्रदृष्ट्याऽसिद्धत्वं न भवतीतिकल्पनापत्तौ सः अर्थः रथः मनसः रथः मनारथः इत्यादौ मनोरथ इत्यादाविव उत्त्वापत्तेः । तस्मात्तत्पदग्राह्यता आश्रयणाद्भवतीत्येव कल्पनीयम् । ततश्चोभयोः साफल्यं स्पष्टमेवेति दिक् ।

उत्वे प्लुतसिद्धिरिति । आश्रयात् प्लुतस्य “पूर्वत्र” इत्यनेनासिद्धत्वं नेतिकल्पनेऽपि बहिरङ्गासिद्धत्वाभावकल्पने मानाभावादिति भावः । एतेन बहिरङ्गशास्त्रत्वमन्तरङ्गपरिभाषाप्रवृत्तौ लिङ्गमित्यपास्तम् । आग-

प्राप्तिन्यायेन प्रत्यक्षत्वेन* च पूर्वत्रासिद्धत्वमेव बाध्यते न त्विदम् । सुस्रोत इत्यादौ त्वेकवाक्यमात्रसापेक्षत्वात् प्लुतोऽन्तरङ्गो, भिन्न-
वाक्यस्थाकारसापेक्षत्वादुत्वं बहिरङ्गमिति स्पष्टं भाष्ये । उकारानुब-
न्धेति । उकारेत्सञ्ज्ञकरेफस्येत्यर्थ इति भावः* । तेन देव रुहीत्या-
दौ न दोषः ।

भोभगो॥ “रोः सुपि” इत्यतो रोरिति वर्त्तते न तु “रो रि” इत्यतो र
इति, प्रातरत्रेत्यादाविति प्रसङ्गात् । अशब्दान्तद्वन्द्वेन पूर्वशब्दस्य बहुव्रीहिम-
भिप्रेत्याह । एतत्पूर्वस्येति । नन्वेवं पूर्वरूपापत्तिरत आह । असन्धि-
रिति । भगोऽघोशब्दौकारयोरकाराभ्यां प्राप्तपूर्वरूपात्मकसन्धिकार्याभाव
इत्यर्थः । इदं प्राचामनुरोधेन । वस्तुतः सूत्रे *रान्तानामेवानुकरणमस-
न्धिर्न्याय्य एवेति बोध्यम् ।

न ह्ययमिति । इदमर्वाचामनुसारेण* । भाष्ये तु *रेफस्य *विस-

च्छ पयोऽद्, आगच्छ पयोऽदेत्यादावन्तरङ्गपरिभाषादृष्ट्या त्रैपादिकत्वेन प्लुतस्य
असिद्धत्वाद् बहिरङ्गशास्त्रत्वप्रकारकज्ञानाभावेनैतदप्रवृत्तावुत्पद्यते प्लुतस्य
सिद्धत्वेन परत्वात् प्लुते उत्त्वानापत्तेरिति दिक् । *प्रत्यक्षत्वेनेति*
आनुमानिकस्मृतिप्रमाणापेक्षया प्रत्यक्षश्रुतिप्रमाणे बलवत्त्वस्य “विरोधेत्वनपेक्षं
स्यात्” इत्यधिकरणे (पू० मी० अ० १ पा० ३ अधि० २) निरूपितत्वाद् दुर्बल-
प्रमाणबाधस्यैवोचितत्वादिति भावः । *इति भाव इति* । न च “अतो रोः”
इति सूत्रे रोरित्यनुनासिकोकारविशिष्टमुच्चारितमिति रोरित्यस्य क्त्वाव-
च्छिन्नस्येत्यर्थेऽपि देव रुहीत्यादावनुनासिकविशिष्टरोरभावान्न दोष इति
वाच्यम् । देव र्वर्ण इत्यत्र सानुनासिकतया “हशि च” इत्युत्वापत्तेः ।

रान्तानामेवानुकरणमिति । “विभाषा भवत्” इतिवार्तिकनि-
ष्पन्नानामपि ग्रहणार्थं रान्तानामनुकरणमित्युक्तमिति भावः ।

अर्वाचामनुसारेणेति । वस्तुतस्तु अनल्विधावित्यस्याद्यार्थास्वीकारेण
मूलं सम्यगेव । धिन्वन्तीत्यादौ पञ्चमीसमासेन स्थानिवद्भावाद्यणः परनिमि-
त्तकत्वेन बहिरङ्गत्वाद्वा न दोषः । एः अजो यजस्तस्यापत्यमैयजिरित्येव
भवति न तु याजिरिति न तदर्थमपि तत्स्वीकारः । अल्वव्याप्येक्त्वावच्छिन्न-
स्थानितानिरूपितादेशताश्रयकारधर्मिकारोपप्रकारीभूतपदान्तत्वस्य ऐजाग-
मीयोद्देश्यतायाः साक्षादनवच्छेदकत्वेनाद्यार्थकानल्विधावित्यस्याप्राप्तेः । अत
एव साम्नी इत्यादौ स्थानिवद्भावेन द्विवचनत्वातिदेशात्प्रगृह्यत्वं सिद्धयति ।
अन्यथा अल्वव्याप्यौकारविभक्तित्वावच्छिन्नस्थानिताश्रयेकारधर्मिकारोपप्रका-
रीभूताद्विवचनत्वस्य प्रगृह्यसंशीयोद्देश्यतायाः साक्षादवच्छेदकत्वेन स्थानिवत्त्वा-
प्राप्त्या द्विवचनत्वातिदेशासंभवेन प्रगृह्यत्वं दुर्लभं स्यात् । न चाद्यार्थ-
कानल्विधावित्यस्यास्वीकारे प्रकृतसूत्रस्थभाष्यविरोध इति वाच्यम् । “हल्

र्गस्थानित्वेन *तद्वृत्तिरुत्वाश्रयमपीदमल्विधिरेव । स्थान्यल्वृत्तिधर्मा-
श्रयत्वात् । अग्रहीदित्यत्र च दीर्घे लोपे च इदत्वेनैव निवेश इति
विशेषः । अतः पयःस्वित्यादौ दोषः । तत्र हि “रोः सुपि” इति विसर्गः ।
नियमशास्त्राणि च *विधायकान्येव वाच्यवृत्त्या । आर्थिकार्थमादाय तु नि-
षेधकानीति । तत्रापि रो रेफस्य विसर्ग इत्यर्थे त्वग्रहणं व्यर्थमित्युक्तम् ।
नन्वेवं हे रामेत्यादौ संबुद्ध्यवयवस्य हलः सस्य लोपे तद्वृत्तिमुत्त्वस्या-
ल्वधर्मत्वेन स्थानिवत्त्वाभावे पदत्वासिद्धिरिति चेन्न । आनुमानिकादे-
शस्य रामेत्यस्य स्थानिवद्भावेन सुबन्तत्वस्य तत्प्रयुक्तकार्यस्य वा ला-

ङ्याप्” इतिसूत्रवार्तिकभाष्यविरोधेन “कृन्मेजन्तः” इतिसूत्रस्थवार्तिकभाष्य-
विरोधेन “ग्रहोऽल्लिटि” इतिसूत्रस्थभाष्यविरोधेन चैतस्यैकदेश्युक्तित्वेनादोषात् ।
न च स्थानितायामल्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वस्य, उद्देश्यतायां प्रकारीभूतधर्मेण
साक्षादवच्छिन्नत्वस्य च निवेशान्नोक्तभाष्यविरोध इति वाच्यम् । तदु-
भयं निवेद्य निष्फलाद्यार्थकानल्विधावितिस्वीकारापेक्षया तदुभयमनिवेद्यै-
तस्यैकदेश्युक्तित्वकल्पनाया एव ज्यायस्त्वदिति । निरूपितं चेदं विस्तरेण
स्थानिवत्सूत्रे टिप्पणे । *रेफस्येति* । रेफत्वस्येत्यर्थः । *विसर्गस्था-
नित्वेनेति* । विसर्गीयस्थानितावच्छेदकत्वेनेत्यर्थः । *तद्वृत्तिरुत्वाश्रयम-
पीति* । अल्वव्याप्यरत्वावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयविसर्गधर्मि-
कारोपप्रकारीभूतसाक्षादुत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकमपीत्यर्थः ।

विधायकान्येवेति । नियमशास्त्राणां विधिमुखेन निषेधमुखेन च प्रवृत्तिर्भवति ।
यत्र विधिमुखेन प्रवृत्तिर्न सम्भवति तत्र निषेधमुखेनैव प्रवृत्तिः । यथा “हन्तेर-
त्पूर्वस्य” इत्यत्र “अत्पूर्वस्य” इतिशास्त्रस्य, यथा वा “सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्त-
व्यः” इति वार्तिकप्रत्याख्यानय कृतस्य “तप” इतियोगविभागनियामकस्य “तपः
कर्मकस्यैव” इत्यस्य, यथा वा “बहुव्रीहौ वा” इतिवार्तिकप्रत्याख्यानय कृतस्य
“अनो बहुव्रीहेः” इत्यनुवृत्तिसहितस्य “अन्यतरस्याम्” इतिविभक्तयोगस्य नि-
यामकस्य “उपधालोपिनो वा” इति न्यासस्य च निषेधमुखेनैव प्रवृत्तिः । तत्र
विधिमुखेन प्रवृत्तिस्तु न सम्भवति नियमनियामकशास्त्रयोरुभयोरलस्यासम्भ-
वात् । निषेधमुखेन प्रवृत्तौ तु “अत्पूर्वस्य” इत्यस्यात्पूर्वाभेदहन्तेर्नस्य णत्वं नेत्य-
र्थः । अत्पूर्वस्य तु हन्तेरित्यनेन । तपःकर्मकस्यैवेत्यस्य तपःकर्मकातिरि-
क्ततपधातोः कर्मवद्भावो नेत्यर्थः । तपःकर्मकस्य तु तप इत्यनेन भविष्यति ।
उपधालोपिनो वेत्यस्योपधालोपिभिन्नबहुव्रीहेर्डीप् न भवतीत्यर्थः । उपधा-
लोपिनि तु अन्यतरस्यामित्यनेन भविष्यतीति बहुव्रीहौवेति न कर्तव्यम् ।
यत्र तु उभयमुख्याभ्यां प्रवृत्तिः सम्भवति तत्र विधिमुखेनैव प्रवृत्तिः । यथा
प्रकृते “रोः सुपि” इत्यत्र रुभिन्नसप्तमीबहुवचनाव्यवहितपूर्वत्वाविशिष्टरेफस्य
विसर्गो न भवतीति निषेधमुखेन प्रवृत्तिः, सप्तमीबहुवचनाव्यवहितपूर्व-
त्वाविशिष्टरेफातिरिक्तत्वेन खरवसानयोरित्यत्र सङ्कोचेन कृत्वा विधिमुखेन

भेन तत्सिद्धेः* । प्रत्ययलक्षणेनापि न प्रत्ययवृत्तिधर्मलाभः । लक्षणपदोपादानेन प्रत्ययनिमिनककार्यस्य तन्निमित्तकव्यवहारस्य वाऽतिदेशात् । एवं दीर्घाहो निदाघेत्यादौ हल्ङ्यादिलोपे उक्तरतीत्या स्थानिनि जायमानस्यासुपीति रत्वनिवेधस्यादेशे दीर्घाहन्शब्दे ऽतिदेशेन प्रवृत्त्या न रेफ इति दिक्* ।

तेषां रोरिति । इदञ्च निपातानाख्याय “विभाषा भवत्” इति वार्त्तिकं प्रत्याचक्ष्णस्य वृत्तिकृतो मतेन । परे तु तेषामपि रोरित्यर्थः । अपिना “विभाषा भवद्भगवदघवतामोच्चावस्य” इतिवार्त्तिकनिष्पन्नसङ्ग्रहः । एषामन्त्यस्य रुः स्यादवस्य चौकारः संबुद्धाविति तदर्थः । अवग्रहणसामर्थ्यात्* “अलोऽन्त्यस्य” इति नेति बोध्यम् । वार्त्तिकनिष्पन्नानां त्रयाणां भोस्शब्दनिपातस्य चावश्यकत्वमन्यत्र स्पष्टमित्याहुः ।

व्योर्लघु ॥ यद्यपि वर्णसमाम्नाये यस्य प्राथम्यात् व्योरित्युचितं तथापि “लोपो व्योः” इतिलोपवारणाय सौत्रत्वमाश्रयणीयं स्यात्, अतो व्योरित्युक्तम् । लघुतरः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नतरः । अन्यपदार्थसम्बन्धोत्तरं वर्त्तिपदार्थप्रकर्षविवक्षया साधुः* । प्रयत्ने लघुतरत्वं चैषां शैथिल्यजनकत्वमेव* । लघुच्चारणाविति । *लघुतरोच्चा-

प्रवृत्तिरपि सम्भवतीति विधिमुखेनैव प्रवृत्तिः । अत्र चेदमेव भाष्यं मानमिति दिक् ।

तत्सिद्धेरिति । वस्तुतस्तु अल्वव्याप्यहल्त्वावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयलोपधर्मिकारोपप्रकारीभूतसुप्त्वस्य पदसंज्ञीयोद्देश्यतायाः साक्षादनवच्छेदकत्वेनानल्वधावित्यस्याप्राप्त्या श्रौतादेशे श्रौतस्थानिवृत्तिसुप्त्वस्य स्थानिवत्त्वेन सुलभतया आनुमानिकस्थान्यादेशभावकल्पनापर्यन्तमनुधावनं वृथेति बोध्यम् । *दिगिति* । दिगर्थस्तु “रोऽसुपि” इत्यस्य सुव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टाहन्शब्दस्य रेफादेशो न भवतीत्यर्थेन दीर्घाहो निदाघेत्यादौ अल्वव्याप्यहल्त्वावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयलोपधर्मिकारोपप्रकारीभूतसुप्त्वस्य रेफनिषेधशास्त्रीयोद्देश्यतायाः साक्षादनवच्छेदकत्वेन स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययलक्षणेन वा सुप्त्वातिदेशादसुपीति निषेधाद्रत्वाभावे रुत्वे च न दोष इति दिक् । *सामर्थ्यादिति* । नानर्थक इति परिभाषायाः प्रत्याख्यानादेवमुक्तिः । *साधुरिति* । लघुः प्रयत्नो यस्य स लघुप्रयत्नः । लघुगतप्रकर्षप्रयोज्यलघुप्रयत्नवद्गतप्रकर्षविवक्षायां सूक्ष्मवस्त्रतर इतिवाहिशिष्टात्तरपि लघुप्रयत्नतरशब्दः साधुरिति बोध्यम् । *शैथिल्यजनकत्वमेवेति* । अनेन शास्त्रेण पादमात्रिकयोरेव विधानादेतज्जनकप्रयत्ने एतद्गतशैथिल्यजनकत्वं बोध्यम् । कारणवैलक्षण्ये कार्य-

रणावित्यर्थः । सूत्रे सौत्रत्वादेकवचनम् । वकारोदाहरणम् 'असावादित्य'
इति वृत्तिः ।

ओतो ॥ व्योरित्यत्र *यकारसाहचर्याद्विकारोऽपि धात्वनवयव
एव । अत्राप्यर्थाधिकारात्तथैव । तेन *स्मृतोवच्युतेत्यादौ न दोषः—तदाह ।
यस्येति । तादृशवस्यासम्भवादिति भावः । भोभगो इति तु नानुवर्तते
विच्छेदात्—तद् ध्वनयन्वक्ष्यति “पदान्तस्य किं तोयम्” इति । इदं ल-
घुप्रयत्नयोर्न *गार्ग्यश्रुतेः—तदाह । अलघुप्रयत्नस्येति । पूजार्थमिति ।
व्याख्यानादिति भावः । तादृशश्च भोसादिपूर्वक एवेत्याशयेनाह ।
भो अच्युतेति ।

भाष्यानुसारिणस्तु भो इत्याद्यनुवृत्तेः स्मृतोवित्यादौ
न दोषः । तस्यानभिधानाच्च* । अपूर्वस्येति तु ओत इत्यनेन वि-
रोधान्न सम्बध्यते । “लोपः शाकल्यस्य” इत्येव भोभगो इत्याद्यनुवृत्त्या
सिद्धे नित्यत्वार्थमिदमित्याहुः ।

उजि च ॥ भोइत्यादिपूर्वस्य पूर्वेण सिद्धेराह—अवर्णपूर्वयो-
रिति । एतदपि नित्यमेव । अत्रापि गार्ग्यग्रहणानुवृत्त्या* अलघुप्रय-
त्नस्यैव लोपः । एतेन भोइत्यादिपूर्वे लघुप्रयत्नलोपार्थमत्रापि तदनुवृ-
त्तिरित्यपास्तम् । वकारोदाहरणन्तु “असा उ एकाग्रिः” इति वृत्तिः । उत्त-
रार्थमिति* । * “ङमो ह्रस्वादचि” इत्यर्थमित्यर्थः । एतत्तत्रैव निरूपितम् ।

वैलक्षण्यस्याऽऽवश्यकत्वादिति केचित् । *लघुतरोच्चारणाविति* । एतद्वि-
धेययोः पादमात्रिकत्वादिति भावः ।

यकारसाहचर्यादिति । “व्योर्लघुप्रयत्नतर” इतिसूत्रविषये धात्व-
वयवपदान्तयकारस्यासम्भव इति भावः । *स्मृतोवच्युतेति* । स्मृतां
धातीति वेतोति वा स्मृतोवाः स्मृतोवीः, ताभ्यां ण्यन्ताभ्यां क्विपि अ-
च्युतशब्देन योग इति भावः । *गार्ग्यश्रुतेरिति* । ऋषिविशेषघटितसू-
त्रस्य ऋषिविशेषघटितसूत्रबोधितसाधुत्वाज्ञानादिति भावः ।

अनभिधानाच्चेति । “न पदान्ताः परेऽणः सन्ति” इतिलणसूत्रस्थभा-
ष्यप्रामाण्यादिति भावः ।

गार्ग्यग्रहणानुवृत्त्येति । तथा चैतत्सूत्रस्य ऋषिविशेषघटितत्वेन
ऋषिविशेषघटितव्योर्लघुरितिसूत्रबोधितसाधुत्वस्याज्ञानाल्लघुप्रयत्नयोः प्रवृ-
त्तिर्न भवतीति भावः । *उत्तरार्थमितीति* । स्वीयोह्रस्वतावच्छेदक-
समर्पकज्ञानविषयीभूतानुपूर्वीमत्पदघटितशास्त्रविधेयत्वरूपप्रतिपदोक्तत्वस्य वे-
ङ्गनिष्पन्नोकारे ऽभावादिति भावः । *ङमो ह्रस्वादचीत्यर्थमिति* । वस्तुतस्तु

“हलि सर्वेषाम्” इत्यादौ तु न सम्ब्रूयते । व्यवहिते डम् इत्यत्रैव प्रयोजनकथनपरभाष्यप्रामाण्यात् । अत एव ‘लिङ्त्सु’ इत्यादौ धुडादयः । अन्यथा सादौ पदे इत्यर्थान्न स्युः । अत एव ‘माभ्याम्’ इत्यादौ “हलि सर्वेषाम्” इति लोपसिद्धिरिति दिक् ।

हालि स ॥ भोभगो इत्याद्यनुवर्त्तते । तत्रौकारात्परस्य लघुच्चारणस्यैवानेन लोपः । अलघुच्चारणस्य तु “ओत” इत्येव सिद्धम् । अपूर्वे तूभयोरपि । न चापूर्वालघुप्रयत्ने अस्यासिद्धत्वात् “लोपः शाकल्यस्य” इति प्रामोतीति वाच्यम् । लघुप्रयत्नस्यैवानेन लोपे व्योरिति सूत्रे ऽचीति करणेन हलि विधानाभावेनैव सिद्धावस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्त्या तद्वाधात् । न चालघुप्रयत्नयोरेव लोपः स्यात्, व्योरित्यर्थाधिकारादिति वाच्यम् । ऋषिमात्रग्रहणार्थस्य सर्वेषामित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः । विकल्पस्य विच्छिन्नत्वेन नित्यत्वसिद्धेः । अत्र च यकार एवानुवर्त्तते न वकारः । वृत्तौ तथैवोक्तेः, फलाभावात्, अव्यपरे इत्यादिनिर्देशाच्च । अन्यथा तत्र *सौत्रत्वाद्याश्रयणीयं स्यात्-तदाह । लघ्वलघुच्चारणस्येति ।

न तु सुपीति । पर्युदासे हि सुप्सदृशे प्रत्यये एव स्यात् । एवञ्चाहर्भातित्यत्र न स्यात् । यदि तु सुब्भिन्ने शब्दे स्यात्—दीर्घाहो निदाघेत्यत्रापि स्यात् । सुवन्तेत्यर्थस्तु न । “उत्तमैकाभ्याम्” इत्यादिनिर्देशैः सप्तमीनिर्दिष्टे प्रत्यये तदन्तविध्यभावज्ञापनात्* । लक्ष्यानुरोधेन कचित्प्रत्ययग्रहणे शब्दस्वरूपस्य* विशेषणताया* एवाश्रयणाच्च । अत एव* “रदाभ्यां निष्ठा” इत्यादौ न दोषः* । अहरहरिति । “नि-

तत्रापि न प्रयोजनमिति तत्रैव निरूपितमिति तत एवावधार्यताम् । “उञ्चि च पदे” इत्यत्र पदेग्रहणन्तु अनेकान्तपक्षे उञ्चित्यस्येत्संज्ञकञकाराव्यवहितपूर्ववर्त्तिबोध्ये उशब्दे इत्यर्थेन वेञ्धातुनिष्पन्नोकारस्येत्संज्ञकञकाराव्यवहितपूर्ववर्त्तिवेशब्दबोध्यत्वेन तत्रातिव्याप्तिवारणायेति दिक् ।

सौत्रत्वाद्याश्रयणीयं स्यादिति । अत उत्तरम् “अत एव गव्यमित्यत्र न वलोपः” इति कचित्पुस्तकं पाठः ।

ज्ञापनादिति । अवध्यंशे नित्यसाकाङ्क्षं यद्रूपं तद्रूपवच्छिन्नप्रत्ययमात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकं तदादिविशेष्यकतदन्तविधिप्रयोजकं नेत्यर्थकात् “प्रत्ययग्रहणं चापञ्चम्या” इति निषेधादिति भावः । *शब्दस्वरूपस्येति* । तदादिरूपस्येत्यर्थः । *विशेषणताया इति* । तदादेः परो यः सुप् तदव्यवहितपूर्वत्वाविशिष्टाहन्शब्दस्य रो न भवतीत्यर्थादिति भावः । *अत एवेति* । रेफान्तो दान्तश्च यस्तदादिः तदव्यवहितोत्तरत्वाविशिष्टा या निष्ठा

त्यवीप्सयोः इति द्वित्वम् । “न लुपता” इति निषेधात्सुप्परत्वाभावः* ।

गतमहो रात्रिरिति । केचित्तु भाष्ये आतिदेशिकस्याहोरात्रस्यै-
वोदाहरणात्, “न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य” इति सूत्रे ‘न हि रूपरात्र-
थन्तरेषु रौ रे वा विशेषो ऽस्ति’ इत्यत्र प्रायेण रात्रेति पाठाच्चेदशानामन-
भिधानमेवेत्याहुः । अनन्यत्वादिति । रात्रिशब्दान्तात् समासादचि
समासान्ते “यस्येति च” इति लोपे ऽपि रात्रिशब्दत्वाक्षते*रिति भावः ।
अनुवादे रेफविशिष्टस्योपादानाद्रेफस्य रेफविधानं व्यर्थमत आह—
विसर्गापवाद इति ।

द्वलोपे* ॥ नायं तत्पुरुषो ऽनीयरि चचारेत्यादौ च दोषापत्तेः ।
नापि बहुव्रीहिर्व्यधिकरणत्वात् । अतो णिजन्तात्कर्मण्यण्युपपदसमास-
इत्याह—दरेफावित्यादि । भाष्ये तु व्यधिकरणबहुव्रीहिरेव दर्शितः ।
न चाजर्घा इत्यादौ “सिपि धातोः” इति रुत्वस्य, लीढ इत्यादौ
ढत्वादीनां, पितृ राज्यमित्यादौ संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वात्कथं दीर्घ-
इति वाच्यम् । दग्रहणेन, लण्मूत्रे ऽजर्घा इति भाष्योदाहरणेन च तत्त-
च्छास्त्रैकवाक्यतापन्नपूर्वत्रासिद्धमिति सूत्रस्थपूर्वग्रहणेनैतत्सूत्राग्रहणबोधनात् ।
अणः किमिति । अच इत्येव सिद्धमिति प्रश्नः । तृहू इति पाठे

तदवयवो यो निर्दिश्यमानः तदादेस्तकारस्य नकारादेशो भवतीत्यर्थस्वीकारा-
देवेत्यर्थः । *न दोष इति* । अनुनासिकादनुदात्तात् अशब्दादाचारक्विवन्तात्
“क्विच्चौ च” इति कप्रत्यये “एकाच” इतीडभावे अतो लोपे दृषच्छब्देन योगे
दृषत्त इत्यादाविति भावः । दृषत्तीर्ण इत्यादौ तु निर्दिश्यमानपरिभाषयैव
वारणं सम्भवतीति भावः । विस्तरस्तु परिभाषेन्दुटिप्पणे द्रष्टव्यः । *सुप्परत्वा-
भाव इति* । असुपीतिप्रसज्यप्रतिषेधस्वीकारेण लुप्तप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वेन
साक्षादवच्छिन्ना लुप्तप्रत्ययनिरूपिताङ्गसंज्ञावत्पर्याप्तधर्मेण साक्षात्परम्परया वा
अवच्छिन्ना च योद्देश्यता तादृशोद्देश्यताकत्वस्यासुपीतिनिषेधे सत्त्वा-
दिति भावः ।

रात्रिशब्दत्वाक्षतेरिति वस्तुतस्त्वक्तपरिमाणे एकदेशविकृतन्या-
याप्रवृत्त्या स्थानिवद्भावेन रात्रिशब्दत्वमत्र बोध्यम् ।

द्वलोपे । परेतु लुप्यते तदिति बाहुलकात्कर्मणि घञ् ।
दृश्च रश्चानयोः समाहारः द्वं, तच्च तल्लोपश्चेति विग्रहः । निपातनात्
दृशब्दस्य पूर्वनिपातः । तथा च लुप्यमानद्राव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टाणो दीर्घ-
इति सूत्रार्थः । पूर्वग्रहणं तु स्पष्टार्थमेव । न च पूर्वग्रहणाभावे उत्त-
रपदे इत्यस्याधिकाराल्लुप्यमानद्राद्युत्तरपदाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्याणो दीर्घ-
इति वाक्यार्थबोधः स्यादिति वाच्यम् । लुप्यमानद्राद्युत्तरपदाव्यवहितपूर्वत्व-

‘नकारजावनुस्वारपञ्चमौ’ इति वृद्धोक्तेः “अनिदिताम्” इति नलोपे* तद् इति रूपम् । अत्राण् पूर्वेणैव व्याख्यानात्* ।

विप्रतिषेधे* । विप्रतिपूर्वात्कर्मव्यतिहारे वर्त्तमानात्सेधतेर्ध्वनि पर-
स्परविरोधार्थो विप्रतिषेधशब्दस्तत्र नित्यस्यावश्यकतया ऽन्तरङ्गस्य ज्ञा-
पकादिना ऽपवादस्य वचनप्रामाण्याद् बाधकत्वे स्थिते तद्विज्ञो ऽस्य विषय
इत्याह-तुल्यबलेति । द्वयोः शास्त्रयोः क चिल्लब्धावकाशयोरेकत्र प्रयोगे
युगपदसम्भवि* स्वकार्यसमर्पणश्च सः । तत्र प्रायेणैकस्य कार्यद्वययोगकृते
ऽसम्भवे एतस्य प्रवृत्तिः । यथा ‘वृक्षेभ्य’ इति । तत्र हि दीर्घैत्वयोर्युगप-
त्प्रवृत्तौ स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः* । क चित्केवलसम्भवे ऽपि, यथा-

विशिष्टाणोऽसम्भवात् । किञ्चास्मिन्नर्थे ढूलोप इत्येतद्वदृष्ट्या “रो रि” “ढो ढे
लोप” इत्यनयोरसिद्धत्वस्य बाधोऽपि न वक्तव्यो भवतीत्यपरमनुकूलम्भवति
लोपात्प्रागेव दीर्घप्रवृत्तेरित्याहुः ।

नलोपे इति । तृद्धं इत्येवोपदेशः । “त्रेह्य” इत्यत्र घेर्द्धिती-
तिगुणादिवदनुस्वारादिना तृद्ध इति रूपस्य सम्पन्नत्वेन नकारघटिते एव
धातुत्वाङ्गत्वादेः सत्त्वादिति भावः । *व्याख्यानादिति* । लण्सूत्रस्थभा-
ष्यरूपाद्याख्यानादिति भावः ।

विप्रतिषेधे । विप्रतिषेधे किम् । परानित्यापेक्षया पूर्वनि-
त्यस्य, परबहिरङ्गापेक्षया पूर्वान्तरङ्गस्य च बलवत्त्वं यथा स्यात् । अन्यथा
लौकिकन्यायमूलकस्य “पराश्रित्यं बलवत्” इतिन्यायस्यापेक्षया, “ओमाङोश्च”
इत्याङ्ग्रहणलिङ्गकासिद्धपरिभाषापेक्षया च श्रुतस्य “परं कार्यम्” इति वचनस्य
प्राबल्येन ‘तुदति’ ‘सुलुनी’ इत्यादौ परत्वाद् गुणनुमोरापत्तिः । विप्र-
तिषेधपदसत्त्वे तु निरुक्तविषये तुल्यबलविरोधाभावादेतदप्रवृत्त्या न दोष
इति दिक् ।

युगपदसम्भवीति । सर्वशास्त्रेण स्वविधेयघटिते साधु-
त्वस्यान्यत्र चासाधुत्वस्य बोधनात् पूर्वपरशास्त्राभ्यां परस्परं परस्फ-
रविधेयघटितयोरसाधुत्वबोधनेनासम्भव इति भावः । *स्वस्वनिमित्तानन्त-
र्यासम्भव इति* । वस्तुतस्तु चिन्त्यमिदम् । तत्तन्निमित्तानामावृत्त्या उ-
द्देश्यविधेयोभयविशेषणत्वकल्पने मानाभावात्फलाभावाच्च । न च तत्त-
न्निमित्तानामावृत्त्या उद्देश्यविधेयोभयविशेषणत्वाकल्पने आनुमानिकस्थान्यादे-
शभावकल्पे “इको यणचि” इत्यादेः अजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टेर्घघटितस्थाने
यणघटितं भवतीत्यादिक्रमेणार्थेन ‘सुधी उपास्य’ इत्यस्य स्थाने सुध्य
इति यान्तादेशापत्तिरिति वाच्यम् । तत्तन्निमित्तस्याऽऽवृत्त्या “इको यणचि”
इत्यादेरजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टेर्घघटितस्य स्थाने अजव्यवहितपूर्वत्वविशि-
ष्टयणघटितं भवतीत्यादिक्रमेणार्थस्वीकारेऽपि सुध्युपास्य इत्यस्य मध्वरि-
रित्यादेशापत्तेर्दुर्वारत्वात् । स्थानेन्तरतमपरिभाषया एतद्वारणन्त्वस्मा-

‘शिष्टात्’ इत्यादौ* । अत्र हि तातङ्गशाभावयोर्युगपत्प्रवृत्तौ स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः । *यद्यपि तातङ्गदेः स्थानिवत्त्वेनास्त्येव तत् । तथापि अतिदेश आदेशप्रवृत्त्युत्तरमेव, न तु तत्प्रवृत्तिकाले* इति युगपदसम्भवोऽस्त्येवेति परत्वात्तातङ्गि सकृद्भूतिन्यायेन न शादेशः* । स्पष्टञ्चेदं सर्वं

कमपि तुल्यमित्यावृत्त्या तत्तन्निमित्तस्योभयत्रान्वयो विफल इति दिक् ।

ननु विधेयविशेषणत्वाभावे शिष्टादित्यादौ विरोधोपपादनं न संभवतीति तदर्थं तत्सार्थकम् । नच आनुमानिकादेशे श्रौतस्थानिसमाभिव्याहृतयावद्गर्णघटितत्वस्य निवेशात् शादेशघटिते हिशब्दघटितत्वस्य तातङ्गदेशघटिते शास्घटितत्वस्य लाभात् एकस्मिन् शास्घटितत्वशाघटितत्वयोः हिशब्दघटितत्वतातङ्गघटितत्वयोश्चासम्भव इति विरोधोपपादनं संभवत्येवेति वाच्यम् । अर्थवति स्थानिवद्भावविश्रान्तेः शाघटितस्य तातङ्गघटितस्य चाऽऽदेशस्य कल्पयितुमशक्यत्वात् । किञ्च एवं विरोधोपपादने “आदिवृद्धिरन्त्योपधावृद्धी बाधते” इत्यत्र “परत्वाद् बाधो दीक्षितादिभिरुक्तोऽसङ्गतः विरोधाभावात्” इतिशब्दरत्नप्रन्थासङ्गतिः । तत्रापि पूर्वरीत्या विरोधस्योपपादयितुं शक्यत्वात् इति चेन्न । एकस्मिन् युगपत् कार्यित्वनिमित्तत्वयोरसम्भव इति अचःपरस्मिन्निति सूत्रस्थकैयटेनैव समाधानात् । अयं भावः—कार्यित्वं कार्यरूपेण परिणामित्वम्, निमित्तत्वं कारणत्वविशेषः । नहि वस्तु स्वपरिणामकाले अन्यत् प्रति निमित्तकारणं भवितुमर्हतीति दिक् ।

शिष्टादित्यादाविति । यत्किञ्चिदङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टयोस्तुह्योः स्थाने यत्किञ्चिदङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टस्तातङ्गं भवतीति “तुह्योः” इत्यस्य, ह्यव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टशासः स्थाने ह्यव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टः शा भवतीति “शा हौ” इत्यस्य चार्थेन शिष्टादित्यादौ प्रकृतिप्रत्यययोः—युगपत् शा—तातङ्गोः प्रवृत्तौ शादेशे ह्यव्यवहितपूर्वत्वस्य, तातङ्गि यत्किञ्चिदङ्गाव्यवहितोत्तरत्वस्य चाभावात्केवलनिमित्तानन्तर्यासम्भवः । वृक्षेभ्य इत्यादौ तु “सुपि च” इत्यस्य यत्रादिसुबव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टादन्ताङ्गस्य यत्रादिसुबव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टो दीर्घो भवतीत्यर्थेन, “बहुवचने श्लयेत्” इत्यस्य श्लोदिबहुवचनसुबव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टादन्ताङ्गस्य श्लोदिबहुवचनसुबव्यवहितपूर्वत्वविशिष्ट एकारो भवतीत्यर्थेन च दीर्घत्वयोर्युगपत्प्रवृत्तौ केवलासम्भवः स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवश्चेति भावः ।

ननु शिष्टादित्यादौ स्थानिवद्भावेन ह्यव्यवहितपूर्वत्वस्य शादेशे, यत्किञ्चिदङ्गाव्यवहितोत्तरत्वस्य च तातङ्गि सत्त्वेन कथं स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भव इत्यभिप्रेत्याऽऽशङ्कते *यद्यपीत्यादिना । *न तु तत्प्रवृत्तिकाले इति* । तथा चातिदेशप्रवृत्तिकालिकं तत्प्राक्कालिकं च स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवेमादाय विप्रतिषेधसूत्रं प्रवर्तते इति भावः । *न शादेश इति* । तातङ्गविधायकशक्तेन स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन स्व-

प्रकृतसूत्रे “इको गुणवृद्धी” “अदसो मात्” इत्यादावाकरे* । तत्र युगप-
दुभयोः कार्ययोरसम्भवात्पर्यायेण* तृजादिवच्छास्त्रद्वयप्रसङ्गे नियमार्थमि-
दम्-परमेवेति । तेन तिसृणामित्यत्र यौगपद्यासम्भवेन* परत्वात्तिस्रादेशे

विधेयघटितातिरिक्तत्वेन च “शा हौ” इत्यत्र संकोचादिति भावः । *आकर
इति* कैयट इत्यर्थः ।

पर्यायेणेति । अयम्भावः । अस्मिन् बाधके उद्दे-
श्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयान्वय इति सिद्धान्तः । अवच्छे-
दकावच्छेदेन विधेयान्वय इत्यस्योद्देश्यतावच्छेदकव्यापकत्वं विधेये वि-
धेयसंसर्गे वा नियमतो भासते इत्यर्थः । तथा च “ण्वुल्तृचौ” इत्यादौ
धातुत्वव्यापकत्वस्य ण्वुल्त्वादिना ण्वुलादौ बाधाण्वुलादीनामन्यत-
मत्वेन व्यापकत्वं वक्तव्यम् । न च तद्भिन्नभिन्नत्वरूपान्यतमत्व-
स्य विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहेण नानाविधत्वात्तेषु सर्वेषु
तेनैव हेतुना व्यापकतावच्छेदकत्वं स्यादिति वाच्यम् । यादृशसंख्यावि-
शिष्टानामन्यतमत्वं वक्तव्यम् तत्संख्याका ये तद्देदास्तादृशभेदात्यन्ताभा-
ववत्त्वं तदन्यतमत्वमिति परिष्कारेणादोषात् । यादृशविधेयतावच्छेदका-
वच्छिन्ने यादृशोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकत्वं विवक्षितम् तादृशविधेयेत-
रो यस्तादृशोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयः तदन-
धिकरणं यत्तदुद्देश्यतावच्छेदकाधिकरणं तद्व्यत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वम्
तदुद्देश्यतावच्छेदकव्यापकत्वं तस्मिन् विधेये । यथा “ण्वुल्तृचौ” इत्यादौ
ण्वुल्त्वावच्छिन्ने धातुत्वव्यापकत्वं वक्तव्यं तत्र ण्वुल्त्वावच्छिन्नाति-
रिक्तो यो धातुत्वावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयस्तृजादिस्तदनाधिकरणं
यद्वातुत्वाधिकरणं ‘कारकः’ इति तद्व्यत्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं ण्वुलीति ल-
क्षणसमन्वयः ।

स्यादेतत् । विकल्पशास्त्रे इव “ण्वुल्तृचौ” इत्यादावपि उद्देश्य-
तावच्छेदकसामानाधिकरण्येनैवान्वयः स्वीक्रियतां, किमुद्देश्यतावच्छेदका-
वच्छेदेन विधेयान्वयेन । न च “ण्वुल्तृचौ” इत्यादाबुद्देश्यतावच्छेद-
कसामानाधिकरण्येनान्वयस्वीकारे केवलधातुमात्रस्य ‘पच्’ ‘पत्’ इत्या-
देः प्रयोगापत्तिरिति वाच्यम् । “वर्तमाने लट्” इत्यस्य वर्तमानकालेतरका-
लाविवक्षायां लट्प्रत्ययो भवतीत्यर्थेन तादृशापत्तेरभावात् । नचैव-
मपि स्वौजसमौडित्यादौ उद्देश्यतावच्छेदकप्रातिपदिकत्वसामानाधिकरण्येन
स्वादिविधाने निर्विभक्तिकप्रातिपदिकप्रयोगापत्तिरिति वाच्यम् । “एकत्वे
एकवचनम्” इत्यस्यैकत्वेतरसंख्याया आविवक्षायामेकवचनमित्यर्थेनैकवचनस्य
दुर्वारत्वेन तादृशप्रयोगासम्भवात् । अत एव सुन्दरं पचतीत्यादौ निरर्थकैकव-
चनोपपत्तिः, इति चेन्मैवम् । रीगृदुपधस्य, इत्यनुवर्तमाने “रुग्निर्कौ च लुकि”
इत्यत्रोद्देश्यतावच्छेदकयङ्लुगन्तसम्बन्धदुपधाभ्यासत्वसामानाधिकरण्येन रु-
गादिविधाने रुक् रिक् रीक् एतदघटितलक्ष्यस्यापि साधुत्वापत्तेरिति दिक् ।

पुनः स्थानिवत्त्वेन त्रयादेशो न* । तत्पठ्यते-‘सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव’ इति ।

यद्वा यथा तुल्यबलयोरेकः प्रेष्यो भवति स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति, यदा तमुभौ युगपत्प्रेषयतो नानादिक्षु च कार्यं भवतस्तदोभयोर्न करोति* यौगपद्यासम्भवात् । तथा शास्त्रयोर्लक्ष्यप्रेष्ययोः कचिल्लक्ष्ये यौगपद्यासम्भवादप्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदं ‘परं भवति’ इति विवक्ष्यर्थम् । तत्र कृते यदि पूर्वस्यापि निमित्तमस्ति तदा तदपि भवत्येव* । तत्पठ्यते-‘पुनः प्रसङ्गाविज्ञानात्सिद्धम्’ इति । यथा भिन्धीत्यत्र परत्वात्तातडि पुनार्धिर्भवति* । अत्र तातड्विभावयोर्युगपदेकस्थानिसम्बन्धस्याङ्गरूपनिमित्तानन्तर्यस्य वा न सम्भव इति भाष्ये स्पष्टम् । कार्ये परत्वञ्च परशास्त्रविहितत्वम् । कार्यकालपक्षेऽप्यष्टाध्यायीपाठपरत्वमेव नियामकम् । अत एव “ऊपो ह्रस्वात्” इत्यादौ त्रिपादीस्थे कार्यकालपक्षे एव परिभाषयोः प्रवृत्त्या एकदेशस्थत्वेऽपि परत्वात् “तस्मादित्युत्तरस्य” इत्यनेनैव व्यवस्थेति सङ्गच्छते । त्रिपादीस्थेन शास्त्रेण विरुद्धपरिभाषाद्वयमध्ये परैव काल्यते

यौगपद्यासम्भवेनेति । तिस्रदेशघटिते त्रयादेशघटिते च पूर्वपराभ्यां परस्परणे साधुत्वासाधुत्वयोर्विधानादिति भावः । *त्रयादेशो नेति* । “त्रेस्त्रय” इत्यत्र तिस्रदेशप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन तिस्रदेशघटितातिरिक्तत्वेन च संकोचादिति भावः ।

उभयोर्न करोतीति । यद्यविरोधार्थीति शेषः । अत एव “यद्यसावविरोधार्थो भवति तदोभयोर्न करोति” इति भाष्ये दृश्यते । *तदपि भवत्येवेति* । तिसृणामित्यादौ नुड्विधायके शास्त्रे तिस्रदेशप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वमात्रेण सङ्कोचमिति भावः । *पुनार्धिर्भवतीति* । चिन्त्यमिदम् । भिन्नादिति रूपासिद्धेः । न च भिन्धीत्येकमेव रूपं भवति न तु भिन्नादिति वाच्यम् । भिन्नादित्यादिसिद्धये “तातडि स्थानिवेत्त्वप्रतिषेधो वक्तव्यो न वक्तव्यः सकृद्गतौ विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव” इति स्थानिवत्त्वसूत्रभाष्यवार्तिकविरोधात् । न च “तुह्योः” इति शास्त्रस्य वैकल्पिकत्वेन भावाभावोभयविधायकत्वात् तद्विधेयेनाभावेन धेर्बाधो माभूदित्येवंपरतया ऽयं ग्रन्थो योजनीय इति वाच्यम् । तुह्योरिति शास्त्रस्याप्राप्तविभाषात्वेनाभावस्य सिद्धत्वात्तद्विधानासम्भवेन तत्समानाधिकरणभावस्यैव विधेयत्वात् । अन्यथा “मुचो ऽकर्मकस्य” इत्यस्यापि भावाभावोभयविधायकत्वे ‘मुमुक्षते वत्स’ इत्यादावभावविधाने “अत्र लोप” इत्यभ्यासलोपापत्तिः । “अत्र लोपोऽभ्यासस्य” इत्यत्र अत्रेत्यस्य प्रधानविधेये इत्यर्थकरणात् दोष इति प्रकृतग्रन्थः अभावे विधेयत्वाङ्गीकारेण सुयोज इत्यपि कश्चित् ।

आकृष्यते न पूर्व्वेति तत्त्वम् । सञ्ज्ञानां तु कार्यकालपक्षे प्रदेशे* एव वा-
क्यार्थेन* तदुबोधोत्तरमेव विरोधप्रतिसन्धानं कार्यज्ञानञ्चेति तत्रत्यपरत्व-
मेवैतत्सूत्रप्रवृत्तौ बीजम् । अत एव* “कार्यकालपक्षे ऽयादिभ्यः परैव
प्रगृह्यसञ्ज्ञा” इति “अदसो मात्” इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् । परिभाषाणां तु
तत्पक्षे तद्देशत्वेऽपि स्वस्वदेशे ऽर्थबोधो* ऽस्त्येवेति तासां पाठकृतमेव
तत् एतत्सूत्रप्रवृत्तौ नियामकमिति बोद्धव्यम् ।

*यद्यपीयं परिभाषा *तथापि कार्यग्रहणेन* कार्यमात्रग्रहणात्त-
स्मिन् इतितस्मादिति परिभाषयोरपि व्यवस्थापिका । कार्यकालपक्षे-
ऽपि नैषा इक्परिभाषादिबद्धिद्व्येकवाक्यतया ऽङ्गत्वात्स्वकार्यनिष्पादिका, किं
तु वाक्यभेदेनैव कार्यं व्यवस्थापयति* । यथा-वृक्षेभ्य इत्यत्रैत्वदीर्घत्वयोः
प्राप्तयोः परमेत्वं प्रवर्तयति । एवम् “असिद्धं बहिरङ्गम्” इत्यादयो ऽपीति
“खरवसानयोः” इत्यत्र कैयटे स्पष्टम् । एवञ्च विप्रतिषेध इत्येषा यथोद्दे-
शैवेति स्थितम् । त्रिपाद्यां कार्यकालपक्षे ऽप्यप्रवृत्तेः* । पूर्व्वदृष्ट्या पराव-
स्थानाभावादित्यन्यत्र विस्तरः ।

इति लोपे इति । उत्वं नित्यमिति तु न । “भोभगो” इतिभू-
त्रोक्तरीत्या लोपस्याल्लविधित्वात्* । स्थानिवत्त्वेन तद्धर्मातिदेशे ऽपि *उ-

यत्तु भिन्धीति भिन्धकीत्यस्योपलक्षणम् । तत्र परत्वाद्भ्यादेशे
ऽकचन स्यादिति, तन्न । “भिन्धकीत्यादावन्तरङ्गत्वादकचि धित्वं न स्यात्”
इतिभाष्यविरोधात् । तस्मात्तिसृणामित्यादौ परत्वात्तिसादेशे नुण्न स्यादित्य-
स्योपलक्षणमिदं बोध्यमित्यन्यत्र विस्तरः । *प्रदेश एवेति* । विधिप्रदेश एवेत्य-
र्थः । *वाक्यार्थेनेति* । साक्षात्परस्परया वा अनाहार्याप्रामाण्यज्ञानानास्कन्दि-
तलक्ष्यधर्मिकसाधुत्वप्रकारकज्ञानोपयोगिवाक्यार्थबोधेनेत्यर्थः । *अत एवे-
ति* । यत्र निरुक्तवाक्यार्थबोधो जायते स एव शास्त्रस्य स्वीयो देश इति
स्वीकारादेवेत्यर्थः । *अर्थबोध इति* । निरुक्तवाक्यार्थबोध इत्यर्थः ।

ननु “गुणानाञ्च परार्थत्वात्परस्परमसम्बन्धः तयोः समत्वात्” इति
न्यायेन “विप्रतिषेधे परम्” इति परिभाषया तस्मिन्नितितस्मादिति परिभाषयो-
र्व्यवस्था नोचितेत्यभिप्रेत्याशङ्कते-यद्यपीत्यादिना* । समाधत्ते-तथापीत्या-
दिना* । *कार्यग्रहणेनेति* । “विप्रतिषेधे परम्” इत्येतावतैव सिद्धे कार्य-
ग्रहणसामर्थ्यादित्यर्थः । *व्यवस्थापयतीति* । बाधबीजप्रकरणशेषत्वा-
दिति भावः । *अप्रवृत्तेरिति* । परशास्त्रमेतत्परिभाषाप्रवृत्तौ लिङ्गमिति
स्वीकारेण परशास्त्रत्वप्रकारकज्ञानाभावादिति भावः ।

अल्लविधित्वादिति । अल्लव्याप्यरत्वावच्छिन्नस्थानितानि-
कपितादेशताभयधर्मिकारोपप्रकारीभूतरुत्वेन साक्षाद्वच्छिन्नोद्देश्यताकत्वा-

च्चारणप्रसङ्गरूपस्थानपष्ठ्यर्थाभावेन लोपे तदप्राप्तेश्च ।

एतत्तदोः ॥ अनुकार्यस्वरूपभङ्गभिया कोशे इवैकशेषाभावः* ।
एतत्तदोरनन्तर* इत्यर्थः । तेन परमस ददातीत्यादौ न दोषः । गौणे तु
न दोषः । तत्र त्यदाद्यत्वाभावेन हल्ङ्यादिलोपस्य दुर्वारत्वात् । सुइति
प्रथमैकवचनमेव व्याख्यानात्* । अनञ्समासे किमिति । तस्य पूर्व-
पदार्थप्रधानत्वादुपसर्जनत्वात्त्यदाद्यत्वाभावेन हल्ङ्यादिलोपो दुर्वार इति
प्रश्नः । उत्तरपदार्थप्रधानः स इत्युत्तरम् ।

सो ऽचि ॥ ससिति प्रथमान्तस्य *लुप्तषष्ठीकमनुकरणम् । से-

दुत्वविधायकस्येत्यर्थः । *उच्चारणप्रसङ्गरूपेति* । चिन्त्यमिदम् । वृत्तिवि-
शेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकताकेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारकज्ञानी-
यविशेष्यतावच्छेदकावच्छिन्नविशेष्यताकेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकार-
कज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकतारूपे, अभावरूपे, ज्ञानरूपे वा स्थान-
पदार्थे उच्चारणस्य अप्रविष्टत्वात् । किञ्च स्थानपदार्थस्य उच्चारणघटितत्वे
“दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्” इत्यादौ स्थानपदार्थत्वानुपपत्तिरिति दिक् ।

एकशेषाभाव इति । चिन्त्यमिदम् । एतत्तदोरित्यनयोः त्यदादि-
घटकैतत्तच्छब्दबोधकत्वेऽपि त्यदाद्यर्थाबोधकत्वेन “त्यदादीनां मिथः सहो-
क्तौ” इति शास्त्रस्याप्राप्तेः । प्राधान्येन प्रसिद्धस्वीयसर्वार्थवाचकानामेव
त्यदादीनां तत्र ग्रहणात् । किञ्च कोश इवेति दृष्टान्तो ऽप्यसङ्गतः ।
‘विष्णुर्नारायण’ इत्यादिकोशे एकरूपावच्छिन्नस्यैकरूपावच्छिन्नसंसर्गैकैकरूपा-
वच्छिन्ने अन्वयबोधेच्छारूपसहविवक्षायां अभावेन “विरूपाणाम्” इति-
शास्त्राप्राप्तेः ।

अनन्तर इति । न च परमः स ददातीत्यादौ परमपदोत्तरस्य सोरपि
तत्पदानन्तरत्वेन लोपापत्तिरिति वाच्यम् । एतच्छब्दसाहचर्येण तच्छ-
ब्दानन्तरस्यापि परस्य ग्रहणेनादोषात् । यत्तु एतत्तदर्थगतसंख्याभिधायिनः
सोलोप इति तन्न । परमः स ददाति तत्कल्पमित्यादौ परमपदोत्तरसोः कल्प-
वृत्तरसोश्चतदर्थगतसंख्याभिधायित्वेन लोपापत्तेः । न च स्वाव्यवहितोत्त-
रत्वं—स्वार्थगतसंख्याभिधायित्वमेतदुभयसम्बन्धेनैतत्तद्विशिष्टसोलोप इत्यर्थ-
इति न दोष इति वाच्यम् । स्वार्थगतसंख्याभिधायित्वसम्बन्धस्य वैयर्थ्यापत्तेः ।
अनन्तर इति पदस्याध्याहारे उत्तरत्वरूपार्थालाभेन प्रथमसम्बन्धस्य वक्तु-
मशक्यत्वाच्च । नच परशब्दस्यैवाध्याहार इति वाच्यम् । एतत्तदोः
इत्यस्य पञ्चम्यर्थे लक्षणापत्तेः । वस्तुतस्तु स्वाव्यवहितत्वं—स्वार्थतावच्छे-
दकावच्छिन्नधर्मितानिरूपितसंख्यानिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वमेतदुभयसम्बन्धेनै-
तत्तद्विशिष्टसोलोप इत्यर्थेन सर्वदोषनिरासो बोध्यः । *व्याख्यानादिति* ।
सोरित्यत्रानुनासिकोच्चारणादिति भावः । *लुप्तषष्ठीकमिति* । अन्यथा

मामविड्ढीति । द्वादशाक्षरपादा जगती छन्दः । स एवमुक्तवोति । लोपे ऽत्र पादापूर्तेर्न लोप इति भावः । अवधारणन्त्विति । वृद्धैर्व्याख्यातमवधारणन्त्वित्यर्थः । बहुलेत्यादि । गमकान्तराभावादिति भावः । एवञ्च तदनुवृत्त्यैव क्वचिदप्रवृत्तौ सिद्धायामवधारणपरतया व्याख्यानं व्यर्थमिति भावः । सर्वमेतदवधारणन्त्विति तुना सूचितमित्यलम् ॥

इति स्वादिसन्धिः ॥

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीलक्ष्मीनृसिंहाय नमः ॥ श्रीकृष्णो जयतितराम् ॥

स्वादिविधौ प्रातिपदिकाधिकारात् तां सज्ज्ञामाह-अर्थवदिति । अधातुरित्यादिः पर्युदासो लाघवात् । प्रत्ययान्तमिति । आवर्तिते

“ससोऽचिं” इति स्यादिति भावः । इति स्वादिसन्धिः ॥

इति पञ्चसन्धिप्रकरणं समाप्तम् ॥

अर्थवत् । सन्धिप्रकरणेन सङ्गतिं प्रदर्शयितुमाह-***स्वादिविधावित्यादिना*** । ***लाघवादिति*** । प्रसज्यप्रतिषेधे हि असमर्थसमासकल्पना वाक्यभेदः क्रियाऽध्याहारश्च कर्तव्यो भवतीति गौरवमिति भावः ।

स्यादेतत् । अधातुरित्यस्य धातुभिन्न इत्यर्थे धातोरपि धातुघटोभयभेदमादाय धातुभिन्नत्वेनाधातुरिति पर्युदासो व्यर्थः । नचाधातुरित्यस्य धातुत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवानित्यर्थः । तथाच धातुघटोभयं नेत्याकारकभेदस्य धातुनिष्ठप्रतियोगिताकत्वेऽपि धातुत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकत्वस्याभावात्तं भेदमादाय न दोष इति वाच्यम् । धातुघटोभयं नेत्याकारकभेदीयप्रतियोगिताया धातुत्वघटत्वद्वित्वैतत्त्रितयावच्छिन्नत्वेन ‘भेदीयप्रतियोगिता धातुत्वावच्छिन्ना न’ इति वक्तुमशक्यत्वेन पूर्वोक्तभेदमादाय दोषस्य दुरुद्धरत्वात् । नचाधातुरित्यस्य धातुत्वमात्रावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवानित्यर्थः । तथा चोभयाभावीयप्रतियोगिताया धातुत्वेतरघटत्वाद्यवच्छिन्नत्वेन स भेदो धर्तुं न शक्यते इति नोक्तदोष इति वाच्यम् । धातुत्वस्यापि धातुत्वघटोभयभिन्नत्वेन धातुत्वावच्छिन्ना धातुत्वेतरधर्मानवच्छिन्ना या प्रतियोगिता तादृशप्रतियोगिताकभेदस्यैवाप्रसिद्धेः, इति चेन्मैवम् । अधातुरित्यस्य धातुत्वपर्याप्ता या अवच्छेदकता तादृशावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेदवानित्यर्थः । तथाच निरुक्तोभयाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकताया धातुत्वघटत्वद्वित्वेषु त्रिषु व्यासज्यवृत्तित्वेन धातुत्वपर्याप्तत्वाभावेनादोषात् । नच प्रत्येकमपर्याप्तस्य समुदाये पर्याप्त्यसम्भवात्समुदायस्य च प्रत्येकानतिरेकात् धातुत्वादिषु त्रिषु पर्याप्ता प्रतियोगितावच्छेदकता केवलधातुत्वे पर्याप्ता नेति वक्तुमशक्यत्वेनोक्तदोषतादवस्थमिति वाच्यम् । अवयवावयविनोरिव प्रत्येकसमुदाययोरपि पर-

स्परमस्मन्मते भिन्नत्वेन दोषाभावात् । अत एव समासग्रहणस्य भाष्यो-
क्तनियामकत्वं सङ्गच्छते । अन्यथा प्रत्ययान्ततदादिसमुदायरूपसमासस्या-
पि प्रत्ययान्ततदादित्वेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव ।

अथवा अधातुरित्यस्य धातुत्ववृत्त्येकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकप-
र्याप्तिकावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेदवानित्यर्थः । तथा च निरुक्तोभयाभा-
वीयप्रतियोगितावच्छेदकताया धातुत्वादित्रितयपर्याप्तत्वेन निरुक्तोभयाभावी-
यप्रतियोगितावच्छेदकतायां त्रित्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकत्वस्य सत्त्वे-
ऽपि धातुत्ववृत्त्येकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकत्वस्याभावेनादोषात् ।
नचैवमपि धातुत्ववृत्तित्वविशिष्टोभयाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकतायाः धा-
तुत्ववृत्त्येकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकत्वेन “विशिष्टं शुद्धात्मातिरिच्य-
ते” इति न्यायेन शुद्धनिरुक्तोभयाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकताया अपि
धातुत्ववृत्त्येकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकत्वेनोक्तदोषतादवस्थ्यमिति वा-
च्यम् । धातुत्वं धातुत्वानिरूपितवृत्तित्वविशिष्टवत्, धातुत्वं निरुक्तोभया
भावीयप्रतियोगितावच्छेदकतावत् इत्याकारकप्रतीतिभ्यां क्लृप्तेन पर्याप्ति-
द्वयेनाधिकरणताद्वयेन चोपपत्तौ अतिरिक्तधातुत्ववृत्तित्वविशिष्टनिरुक्तो-
भयाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकताधिकरणत्वस्य, अतिरिक्ताया धातुत्ववृत्ति-
त्वविशिष्टनिरुक्तोभयाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकतापर्याप्तेश्च कल्पने मानाभा-
वेन धातुत्ववृत्तित्वविशिष्टनिरुक्तोभयाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकतायां धातु-
त्ववृत्त्येकत्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकत्वस्याभावेन शुद्धनिरुक्तोभयाभावी-
यप्रतियोगितावच्छेदकतायां सुतरामभावेनादोषादिति दिक् ।

‘धातुत्वेन घटो न’ इति व्यधिकरणधर्मावच्छिन्नप्रतियो-
गिताको भेदो गदाधरादिसिद्धान्ते नास्त्येवेति न तमादाय दोषः
शङ्कनीयः । येषां मते प्रतीतिबलात् व्यवस्थापितः तेषां मते प्रतियोगि-
तायां धातुनिष्ठत्वमपि विशेषणं देयम् । तेन घटनिष्ठप्रतियोगिताया
धातुत्वावच्छिन्नत्वेऽपि धातुनिष्ठत्वाभावाच्च दोषः । अत्र धातुनिष्ठैकत्व-
स्य स्वावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकावच्छेदकताकप्रतियोगिताकत्वम्, स्वाव-
च्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकावच्छेदकतानिरूपकताकत्वम् एतदुभयसम्बन्धेन
विशिष्टो भेद इति निष्कृष्टार्थो बोध्यः । तेन सामान्यधर्मेण विशेष-
भेदमादाय विशेषधर्मेण वा सामान्यभेदमादाय नातिप्रसङ्ग इत्यलम् ।
ननु प्रतियोग्यवृत्तिधर्म एव भेदीयानुयोगितावच्छेदको भवतीति नियमेन
प्रकृतेऽनुयोगितावच्छेदकार्थवत्त्वस्य प्रतियोगिनि धातावपि सत्त्वेन धा-
तुभिन्नमर्थवदिति कथं बोधः ? । अत एव द्रव्यं न घट इत्यादि-
प्रतीतिर्न भवतीति चेन्न । भेदविधेयकस्थले तादृशनियमस्वीकारेण प्रकृते
धातुभेदस्य प्रातिपदिकसंज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपिताद्देश्यतावच्छेदकत्वेनादो-
षात् । अत एव ‘अघटं द्रव्यमानय’ इत्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते ।

अन्येतु प्रतियोग्यवृत्तिरेव धर्मोऽनुयोगितावच्छेदको भवतीति स-
र्वत्र नियमः । परं प्रतियोगिवृत्तिरपि धर्मो भेदान्वयितावच्छेदको भवत्ये-

प्रत्ययपदे प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणम् । “संज्ञा विधौ” इति निषेधस्तु प्रत्ययस्य यत्र संज्ञा* तद्विषय इति भावः ।

अत्र सूत्रे उत्तरसूत्रे चार्थवत्त्वम्- *एतत्संज्ञाफलभूतविभक्ती-

व । अत एव ‘अर्थवदधातुः’ ‘अघटं द्रव्यमानय’ इत्यादिप्रयोगाः संज्ञ-
च्छन्ते । नचैवं रीत्या घटो न द्रव्यमित्यादिप्रयोगापत्तिरिति वाच्यम् ।
अभावविधेयकस्थले उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विधेयान्वय इति सि-
द्धान्तेनोद्देश्यतावच्छेदकद्रव्यत्वादिव्यापकत्वस्य भेदे बाधितत्वेनादो-
षादित्याहुः ।

प्रत्ययस्य यत्र संज्ञेति । संज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपितसाक्षादुद्देश्य-
ताप्रयोजकं यत् प्रत्ययमात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकं पदं तत् तदादिविशेष्यकत-
दन्तविधिप्रयोजकं नेति “संज्ञाविधौ” इत्यस्यार्थस्वीकारेण प्रकृते प्रत्यय-
पदं न संज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपितसाक्षादुद्देश्यताप्रयोजकमिति न तदन्त-
विधिनिषेध इत्यन्यत्र निरूपितम् ।

एतत्संज्ञाफलभूतेति । चिकीर्षितप्रातिपदिकसंज्ञाफलभूते-
त्यर्थः । विभक्तौ प्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतत्वमुपलक्षणं न तु विशो-
षणमतो नान्योन्याश्रयः । अन्यथा अर्थवत्त्वज्ञानाधीना प्रातिपदिक-
संज्ञा तदर्धानञ्चार्थवत्त्वज्ञानमित्यन्योन्याश्रयो दुरुद्धरः स्यात् । एवं च
वस्तुतः प्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतेत्यादिलक्षणं फलितम् ।

स्यादेतत् । खट्वा, पक्त्रिमम्, सांकूटिनम् इत्यादौ खट्व पक्त्रि सांकू-
टिन् इत्यादीनामेतत्संज्ञाफलभूतविभक्तीतरेषां टाबम्बणां समभिव्याहारेणैवा-
र्थविषयकबोधजनकत्वादर्थवत्त्वं न स्यादिति चेन्मैवम् । विभक्तिपदं प्रत्य-
यमात्रोपलक्षणमिति स्वीकारेणादोषात् । नचैवमपि प्रकृतसूत्रस्थभाष्य-
विरोधः । तथाहि-“अधानुरिति किमर्थम् धातोस्तु ‘सुपो धातोः’ इति धा-
तुग्रहणात् ज्ञापकात् प्रातिपदिकसंज्ञा न भाविष्यति धातोः प्रातिपदिकत्वे
तत्त्वादेव लुक्सिद्धेः” इत्याशङ्क्य “प्रतिषिद्धार्थमेतद् धातुग्रहणं स्यात् अ-
पिकाकः श्येनायते” इत्युक्तम् । एतच्चानुपपन्नम्, एतत्संज्ञाफलभूत-
प्रत्ययेतरतिङ्समभिव्याहारेणैव श्येनायेत्यस्य लोके ऽर्थविषयकबोधजन-
नकत्वेनार्थवत्त्वाभादेव प्रातिपदिकत्वाप्राप्तेः प्रतिषेधानुधावनस्यायुक्तत्वादि-
ति वाच्यम् । एतत्संज्ञाफलभूतप्रत्यय-तिङ्एतदन्यतरेत्यादिलक्षणस्वी-
कारेणादोषात् । यद्वा प्रत्ययान्तभिन्नत्वविशिष्टार्थवत्त्वस्य प्रातिपदिकसं-
ज्ञाप्रयोजकत्वेन प्रत्ययान्तभिन्नत्वस्य विशेषणत्वेन पूर्वोपस्थितत्वात् त-
दभावप्रयोज्य एव प्रातिपदिकसंज्ञाऽभाव आपादित इति न किञ्चिदस-
मञ्जसमिति दिक् ।

नन्वेधांचक्रे इत्यादावेधामित्यस्यैतत्संज्ञाफलभूतप्रत्ययतिङ्एतद-
न्यतरेतर-चक्रेइत्येतत्समभिव्याहारेणैव लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वेनार्थवत्त्वं
न स्यात् । नच पदेतरस्यापि लक्षणघटकत्वेन न दोष इति
वाच्यम् । पञ्चनावप्रिय इत्यादौ पञ्चनावेत्यस्य प्रातिपदिकत्वं नेत्युत्तरग्रन्थ-

तरसमभिव्याहारानपेक्षया लोके ऽर्थविषयकबोधजनकत्वम्* । अन्यथा

विरोधात् । नन्वेधामित्यस्यार्थवत्त्वाभावेऽपि न क्षतिः । नचार्थवत्त्वाभावेन पदत्वाभावादेधाञ्चक्रे इत्यादावनुस्वारो न स्यादिति वाच्यम् । “न-
श्चापदान्तस्य” इत्यनेनानुस्वारसिद्धेः, इति चेन्न । एधाञ्चक्रे इत्यादौ
“तिङ्ङतिङः” इति निघातानापत्तेः । वैकल्पिकपरसवर्णानापत्तेश्च । नचैतत्सं-
ज्ञाफलभूतप्रत्यय—तिङ्—स्ववृत्त्येकार्थीभावाभाववत्पदैतदन्यतमेतरेत्यादिलक्ष-
णस्वीकारेण एधामित्यस्यार्थवत्त्वं, पञ्चनावेत्यस्य तदभावश्च सिद्ध्यतीति वा-
च्यम् । मूलकेनोपदंशमित्यादौ स्ववृत्त्येकार्थीभावाभाववत्पदैतरमूलकेने-
त्येतत्समभिव्याहारेणैवोपदंशमित्यस्य लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वेनार्थ-
वत्त्वानापत्तेः । नच एतत्संज्ञाफलभूतप्रत्यय—तिङ्—स्ववृत्तिप्रातिपदिकत्वा-
भाववत्पदैतदन्यतमेत्यादिलक्षणस्वीकारेण न काऽपि क्षतिरिति वाच्यम् ।
अर्थवत्त्वपरिष्कारे प्रातिपदिकत्वप्रवेशोऽन्योन्याश्रयापत्तेः, इति चेन्मैवम् । स्व-
वृत्तिसमासत्वाभाववत्पद—तिङ्—एतत्संज्ञाफलभूतप्रत्ययैतदन्यतमेतरसमभिव्या-
हारानपेक्षया लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वमिति परिष्कारेणादोषात् । तथा-
हि— एधाञ्चक्रे इत्यादौ चक्रे इति स्ववृत्तिसमासत्वाभाववत्पदं तदित-
रसमभिव्याहारानपेक्षया एधामित्यस्यार्थबोधकत्वादर्थवत्त्वम् । पञ्चनाव-
प्रिय इत्यादौ प्रियपदे स्ववृत्तिसमासत्वस्यैव सत्त्वेन तादृशसमासत्वा-
भाववदुदासीनपदैतरप्रियपदसमभिव्याहारेणैव पञ्चनावेत्यस्यार्थबोधकत्वेन न
निरुक्तार्थवत्त्वम् । मूलकेनोपदंशमित्यादौ मूलकेनेत्यत्रोपदंशवृत्त्येकार्थी
भावसत्त्वेऽपि तद्वृत्तिसमासत्वाभावस्य सत्त्वात् तदितरसमभिव्याहारान-
पेक्षयाऽर्थबोधकत्वान्नार्थवत्त्वक्षतिः ।

अथ तन्निभः कुम्भकार इत्यादौ निभ—कारादीनां पञ्च-
नावेत्यस्येवोक्तरीत्याऽर्थवत्त्वं न स्यात् । नच पूर्वपदैतरत्वस्यापि
लक्षणे निवेशेन नोक्तदोषः । अत एवैधामासतुःकल्पमित्यादा-
वासतुःकल्पमित्यादरेर्थवत्त्वं सिद्ध्यतीति वाच्यम् । हरिष्वित्यादौ सो-
रपि निरुक्तार्थवत्त्वापत्त्या प्रत्ययपर्युदासकर्तव्यतापत्तेः । न च पूर्व-
पदशब्देन समासावयवस्यैव ग्रहणान्न दोष इति वाच्यम् । पञ्चनाव-
प्रियपुत्र इत्यादौ प्रियेत्यत्र समासघटकपूर्वपदैतरत्वस्याभावेन पञ्चना-
वेत्यस्यार्थवत्त्वापत्तेः । नच नियतपूर्वत्ववत्सुबन्तमेव लक्षणघटकपूर्वपदशब्दे-
न विवक्षितमिति नोक्तदोष इति वाच्यम् । कन्लुबन्ताश्चश्चाशब्दात्सुपि
चश्चास्वित्यादौ सोरर्थवत्त्वापत्त्या प्रत्ययपर्युदासकर्तव्यतापत्तेरिति चेन्न ।
एतत्संज्ञाफलभूतप्रत्यय—तिङ्—स्ववृत्तिसमासत्वाभाववत्पद—स्वादिष्वितिपद-
त्वानाश्रयनियतपूर्वत्ववत्सुबन्तैतदन्यतमेतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोकेऽर्थ-
विषयकबोधजनकत्वमर्थवत्त्वमिति परिष्कारेणादोषात् । स्वादिष्विति-
पदत्वानाश्रयेत्युक्त्या चश्चासु इत्यादौ न दोषः । नियतेत्युक्त्या पञ्चनाव-
प्रियपुत्र इत्यादौ न दोष इति दिक् ।

बोधजनकत्वमिति । शक्तिलक्षणान्यतरज्ञानाधीनोपस्थित्येति

शेषः । अत एव गवित्यमाहेत्यादौ गवित्यस्यानुकार्यानुकरणयोरभेदविवक्षया सादृश्यज्ञानाधीनोपस्थित्याऽर्थविषयकबोधजनकत्वेऽपि निरुक्तार्थवत्त्वाभावात्प्रातिपादिकत्वाभावेन सुबन्तत्वाभावाच्च बलोपः ।

स्यादेतत् । बोधजनकता स्वरूपयोग्यतारूपा फलापेधायकतारूपा वा गृह्यते ? । नाद्या । व्यावर्त्याभावेनार्थवद्ग्रहणवैयर्थ्यापत्तेः । नाप्यन्त्या । यादृशस्थले योग्यताज्ञानाद्यभावदशायां, बधिरस्य वा शाब्दबोधो न जातस्तत्रार्थवत्त्वानापत्तेरिति चेन्मैवम् । अर्थविषयकबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वमित्यर्थाविषयकबोधजनकत्वस्य परिष्कारेणादोषात् । नचैवमपि सूत्रेऽर्थवद्ग्रहणवैयर्थ्यम् । धनवनादेरर्थविषयकबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वेन तद्व्यटकनकारादिर्नोच्चरित इति वक्तुमशक्यत्वादिति वाच्यम् । स्वविषयकबोधजनकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपिततात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणत्वमित्यर्थवत्त्वघटकबोधजनकत्वस्य परिष्कारात् । नचैवमपि प्रत्येकमपर्याप्तस्य समुदाये पर्याप्त्यसम्भवेन प्रतिवर्णं संज्ञाया दुरुद्धरत्वेनार्थवद्ग्रहणवैयर्थ्यमिति वाच्यम् । अवयवावयनोरिव प्रत्येकसमुदाययोरपि भेदस्वीकारेणादोषात् । अत एव भाष्योक्तं समासग्रहणस्य नियमार्थत्वं सङ्गच्छते । अन्यथा प्रत्ययान्ततदादिसमुदायस्यापि प्रत्ययान्ततदादित्वेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव ।

अन्येतु—अर्थविषयकबोधजनकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपिततात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मवत्त्वमर्थविषयकबोधजनकत्वम् । तथा च धनं, वनमित्यादौ धनपदं धनत्वावच्छिन्नं बोधयत्वित्याकारकतात्पर्यायबोधजनकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकं धनवृत्तिसमुदायत्वमेव न तु धकारादिवृत्तित्वव्यक्तित्वमिति न दोषः । नचैवमपि धकारानिरूपितवृत्तित्वविशिष्टा या पूर्वोक्ततात्पर्याया विशेष्यता तादृशविशेष्यतापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकं धकारादिवृत्तित्वव्यक्तित्वमिति 'विशिष्टं शुद्धान्नानिरिच्यते' इति न्यायेन निरुक्ततात्पर्यायशुद्धविशेष्यतापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकमपि धकारादिवृत्तित्वव्यक्तित्वं भवत्येवेति प्रतिवर्णं संज्ञा दुर्वारेत्यर्थवद्ग्रहणवैयर्थ्यं तदवस्थमेवेति वाच्यम् । धकारादिनिरूपितवृत्तित्वविशिष्टवान् निरुक्ततात्पर्यायविशेष्यतावान् इत्याकारकप्रतीतिद्वयान्यथाऽनुपपत्त्या क्लृप्ताभ्यां पर्याप्तिभ्यामधिकरणताभ्यां चोपपत्तौ निरुक्तधकारादिवृत्तित्वाविशिष्टतात्पर्यविशेष्यताया अतिरिक्ताधिकरणत्व-पर्याप्त्योः कल्पने मानाभावेनादोषात् । नचैवमपि धनपदाद्धनत्वावच्छिन्नं बोद्धव्यमित्याकारकबोधविषयत्वप्रकारकतात्पर्येण, 'धनमानय' इति वाक्यं धनकर्मकानयं बोधयत्वित्याकारकवाक्यधर्मिकतात्पर्येण, 'धनमानय' इतिवाक्याद्धनकर्मकानयनं बोद्धव्यमित्याकारकवाक्यार्थधर्मिकतात्पर्येण वा यत्र धनादिपदमुच्चरितं तत्र निरुक्तार्थवत्त्वं न स्यात् । बोधजनकत्वप्रकारकत्वस्य निरुक्तबोधविषयत्वप्रकारकतात्पर्ययोरभावाद्वाक्यधर्मिकतात्पर्यस्थले विशेष्यतापर्याप्तेः पदेऽभावाच्चेति-वाच्यम् । अर्थविषयकबोधजनकत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपिततात्पर्यविशेष्यताविशिष्टतात्पर्यविषयतापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मवत्त्वमर्थवत्त्वपरिष्कारान्तर्गतार्थविषयकबो-

ऽधातुरिति पर्युदासेन व्याख्यानादर्थवत्त्वेनैव सादृश्यग्रहणेन सिद्धेरुत्तरसूत्रे

धजनकत्वमिति स्वीकारेणादोषात् । वै० च स्वसामानाधिकरण्यं—स्वाव-
च्छेदकधर्मव्यापकानुपूर्वीव्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । त-
थाच पूर्वोक्तबोधविषयत्वप्रकारकतात्पर्यायजन्यत्वसम्बन्धावच्छिन्नधनादि-
पदनिष्ठप्रकारताख्यविषयतायां वाक्यधर्मिकतात्पर्यायधनादिपदनिष्ठविशेष्यता-
वच्छेदकताख्यविषयतायां वाक्यार्थधर्मिकतात्पर्यायधनादिपदनिष्ठजन्यत्वसम्ब-
न्धावच्छिन्नप्रकारतावच्छेदकताख्यविषयतायां च “धनपदं धनं बोध्यतु” इ-
त्याकारकबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतायाः निरुक्तद्वयसंबन्धेन वैशि-
ष्ट्यसत्त्वान्न दोष इत्याहुः ।

अन्येतु—यस्यार्थवत्त्वं वक्तव्यं तन्निष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधे-
यताश्रयेतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वमर्थवत्त्वं
पूर्वोत्तरसूत्रद्वयसाधारणं बोध्यम् । तथाच प्रत्ययानां तन्निष्ठोद्देश्यतानिरूपित-
विधेयताश्रयेतरप्रकृतिसमभिव्याहारेणैव लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वादर्थ-
वत्त्वाभावेन प्रत्ययपर्युदासो विफलः । अत एव “अपि काकः श्येनायते” इति
भाष्यं सङ्गच्छते । श्येनायेत्यस्य श्येनायनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयति-
ङ्प्रत्ययेतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वात् । अत
एव पञ्चनावप्रिय इत्यादौ पञ्चनावेत्यस्य नार्थवत्त्वम् । पञ्चनावनिष्ठोद्देश्य-
तानिरूपितविधेयताश्रयेतरप्रियसमभिव्याहारेणैव पञ्चनावेत्यस्य लोकेऽर्थ-
विषयकबोधजनकत्वात् । अत एव पञ्चाश्वके इत्यादौ पञ्चामित्यस्यार्थवत्त्वं
सिद्ध्यति । चक्रे इत्यस्य पञ्चानिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयत्वेन तदितर
समभिव्याहारानपेक्षया पञ्चामित्यस्य लोके अर्थविषयकबोधजनकत्वात् ।

स्यादेतत् । मूलकेनोपदशमित्यादौ उपदंशमित्यस्यार्थवत्त्वं न स्यात् ।
उपदंशमित्यस्य उपदंशनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयेतरमूलकेनेत्येतत्सम-
भिव्याहारेणैव लोके ऽर्थविषयकबोधजनकत्वात् । एवमेधामासुतःकल्पमि-
त्यादावासुतः कल्पेत्यस्यार्थवत्त्वं न स्यात् । अन्यत्रार्धधातुकादस्धातोः प्र-
योगाभावेनासुतःकल्पनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयेतरैधामित्येतत्समभिव्या-
हारेणैवाऽऽसुतःकल्पेत्यस्य लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्वादिति चेन्मैवम् —य-
स्यार्थवत्त्वं वक्तव्यं तन्निष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रय-स्वादिष्वितिपदत्वाना-
श्रयपूर्वपदैतदन्यतरैतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोकेऽर्थविषयकबोधजनकत्व-
मिति परिष्कारेणादोषात् । पूर्वपदे स्वादिष्वितिपदत्वानाश्रयेत्युक्त्या ह-
रिषु चञ्चास्वित्यादौ सोनार्थवत्त्वम् । न च पञ्चनावप्रियपुत्र इत्यादौ प-
ञ्चनावेत्यस्यार्थवत्त्वं स्यात् प्रियेत्यस्य पूर्वपदत्वादिति वाच्यम् । पूर्वपदे-
त्यत्र नियतपूर्वत्ववत्पदेत्यस्य निवेशेनादोषात् । अत एव तन्निष्ठः कुम्भ-
कार इत्यादौ निम्भ-कारादीनामर्थवत्त्वं सिद्ध्यति । निम्भसंकाशनीकाशप्रतीका-
शेत्यादिकोशप्रामाण्येन निम्भादीनां पूर्वपदसमभिव्याहाराभावेऽसाधुत्वेऽप्युपप-
दसमासस्य नित्यत्वेन तदभावे कारादीनामप्रयोगेऽपि तदितरसमभिव्या-
हारानपेक्षणादित्याहुः ।

कृदादीनामनर्थकानामप्रसिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्यात् ।

न च नञिवयुक्तन्यायानित्यत्वज्ञापनार्थं तत् । तदनित्य-
त्वज्ञापने भाष्यसंमतदृढतरफलाभावात्* । अहन्, काण्डे इत्यादावेत-
त्साध्यविभक्त्यनपेक्षत्वे ऽपि तदितरानपेक्षत्वमस्त्येवेति तत्पर्युदासः सार्थ-
कः । न च तत् केवलप्रत्ययस्य । तदुक्तं—“संख्याया अतिशदन्ताया” इति
सूत्रे भाष्ये “न हि लोके केवलेन प्रत्ययेनार्थो गम्यते, केन तर्हि ? सप्र-
कृतिकेन” इति । हरिरप्याह—

“धात्वादीनां विशुद्धानां लौकिको ऽर्थो न विद्यते ।

कृत्तद्धितानामर्थश्च केवलानामलौकिकः ॥

प्राग्विभक्तेस्तदन्तस्य तथैवार्थो न विद्यते” इति ।

अत एव पदसंज्ञासूत्रे ऽन्तग्रणस्य संज्ञाविधौ तदन्तवि-
ध्यभावज्ञापकत्वे “कृत्तद्धितेति सूत्रे ऽन्तग्रहणं कर्त्तव्यं न कर्त्तव्य-
मर्थवदिति वर्त्तते कृत्तद्धितान्तश्चैवार्थवत् न केवलाः कृतस्तद्धिता वा”
इति भाष्यमुपादाय “शास्त्रीयार्थग्रहणे ऽर्थवद्ग्रहणानुवृत्तिवैयर्थ्येन तद-
नुवृत्तिसामर्थ्याल्लौकिकार्थप्रत्यासन्नो ऽभिव्यक्ततरो यो ऽर्थः प्रत्ययान्तेषु
लक्ष्यते स आश्रीयते” इति कैयटेनोक्तम् । लौकिकं यत्पदं तदर्थस्य प्र-
त्यासन्नः शास्त्रकृत्कल्पितस्वादिप्रकृतेरर्थः प्रत्ययान्तेषु सुबन्तेषु यो ऽभि-
व्यक्ततरो लक्ष्यते बोद्धृभिः स इत्यन्वयः । यत्तु प्रत्ययान्तेष्वित्यस्य
कृदाद्यन्तेष्वित्यर्थ इति । तन्न । तावन्मात्रेण कस्याप्यर्थस्याभिव्यक्तेर-
प्यभावेनाभिव्यक्ततरत्वस्य सुतरामभावात् । अर्थवत्सूत्रे ऽप्येवमेवेति
अनुवृत्तिसामर्थ्यादित्यनेन सूचितम् । अन्यथा तत्सामर्थ्यादित्येव वदेत् ।

भाष्यसंमतदृढतरफलाभावादिति । भाष्यसंमतेत्युक्त्वा ‘अनाचि च’
इत्यत्र पर्युदासस्वीकारेऽपि नञिवयुक्तन्यायानित्यत्वेन वागित्यादिद्वित्वसिद्धेः
फलसत्त्वेऽपि भाष्ये प्रसज्यप्रतिषेधस्यैव स्वीकारेण नैतत् नञिवयुक्तन्यायानि-
त्यत्वस्य फलमिति बोधितम् । दृढतरेत्युक्त्वा ‘वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्’ इत्य-
स्यैतन्न्यायानित्यत्वात्तिङन्तेऽपि प्रवृत्तिरूपफलसत्त्वेऽपि ‘तिङन्तं षत्वं जा-
यते न वा’ इत्यत्र नियामकाभावाच्चैतत् अनित्यत्वस्य दृढतरं फलमिति बोधि-
तमिति दिक् ।

ननु यत्तत्संज्ञाफलभूतविभक्तिसमभिव्याहारापेक्षया लोके ऽर्थविष-
यकबोधजनकत्वमित्यनेनैव सिद्धे नञ इतरपदस्य चोपादानं व्यर्थमि-
त्याशङ्क्याऽऽह *अहन् काण्डे इत्यादि* । अत एव दधि, मधु इत्यादावर्थ-
वत्त्वं सिध्यति । अन्यथा वैयाकरणमते लुप्तविभक्त्यनुसन्धानस्यानङ्गीकारा-
दर्थवत्त्वं न स्यात् । *अत एवेति* । सूत्रद्वयसाधारणनिरुक्तार्थवत्त्वस्वी-

पूर्वसूत्रे यादृशार्थवत्त्वग्रहो ऽत्राप्यनुवृत्तिसामर्थ्यात्तादृशार्थवत्त्वस्यैव ग्रहः ।
शास्त्रीयार्थग्रहणे तु तदनुवृत्तिर्व्यर्था स्यादिति तद्भावः ।

किं च पूर्वसूत्रे सामान्यतो ऽर्थवत्त्वग्रहणे न किं चित्फलं
प्रत्ययेष्वतिव्याप्तिदानातिरिक्तम्* । अत एव तादृशग्रहणस्य नियमार्थत्वा-
श्रयणेन, “*ह्रस्वो नपुंसके यत्तस्य” *इति न्यासेन ‘काण्डे’ इत्यादौ
ह्रस्ववारणात्फलाभावेन वा भाष्योक्ते तत्प्रत्याख्याने पञ्चनावप्रिय इत्यादौ
पञ्चनावेत्यस्यानेन न प्रातिपदिकत्वं, नाप्युत्तरसूत्रेण । प्रातिपदिकत्वे तु
टाबापत्तिः* । एवञ्च प्रत्ययस्य प्राप्तिरेव नेति केवलप्रत्ययपर्युदासो वि-

कारादेवेत्यर्थः । *प्रत्ययेष्वतिव्याप्तिदानातिरिक्तमिति* । वस्तुतस्तु अने-
कभेदघटित-सूत्रद्वयसाधारणशुरुतरनिरुक्तार्थवत्त्वस्वीकारस्य प्रत्ययपर्युदास-
खण्डनातिरिक्तं न किमपि फलमिति प्राचीनमते एव महल्लाघ-
वमिति बोध्यम् । *ह्रस्वो नपुंसके यत्तस्येति* । यत् तस्ये-
त्यनेन च प्रत्यासत्त्या नपुंसकत्वशक्तिपर्याप्त्यधिकरणं यत् तस्यान्त्यस्याचो
ह्रस्व इति सूत्रार्थः । तदेतदाह—*यत्तस्येति* । एतेन “ह्रस्वो नपुंसके
यत्तस्य” इति न्यासेन सिद्धे प्रातिपदिकस्येत्यादि व्याख्यानं परास्तम् ।
सैद्धान्तिकन्यासापेक्षया एकपदाधिक्येन भाष्योक्तप्रातिपदिकग्रहणसामर्थ्यो-
पन्यासस्यासङ्गत्यापत्तेः । नपुंसकत्वशक्तिपर्याप्त्यधिकरणस्येत्यर्थकरणेन ‘वा-
रिणी’ इत्यादौ न दोष इति दिक् ।

टाबापत्तिरिति । पदार्थान्तरनिष्ठविशेष्यतानिरूपितोपस्थितीय-
प्रकारताप्रयोजकत्वरूपोपसर्जनत्वस्य सत्त्वेन छीपः प्राप्तेरभावादिति भावः ।
काचिन्डीबापत्तिरिति पाठः । तस्यायं भावः—यस्योपसर्जनत्वं वक्तव्यं त-
द्वधिकपूर्वपदप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपितोपस्थितीयप्रकारताप्रयोजकतापर्याप्त्य-
धिकरणत्वमुपसर्जनत्वम् । तथाच तादृशोपसर्जनत्वं प्रकृते नेति ।

स्यादेतत् । पञ्चनावप्रिय इत्यादौ पञ्चनावेत्यस्य सत्यप्यर्थवत्त्वे ने
क्षतिः । उत्तरपदानन्तर्ये निमिच्छीकृत्य जायमानायाः समाससंज्ञायाः त-
द्विधातकटाबादिप्रभृतिं प्रत्यनिमित्तत्वमिति सन्निपातपरिभाषया तद्वारण-
सम्भवादिति चेन्मैवम् । “तद्धिताथोत्तरपद” इत्यादीनां संज्ञाशास्त्रत्वेन
अभ्यनुज्ञावाक्यकल्पनाऽभावेनाभ्यनुज्ञावाक्यसङ्कोचकसन्निपातपरिभाषाया अ-
प्रवृत्तेः । वस्तुतस्तु “यतो ऽनावः” इतिसूत्रस्थभाग्यप्रामाण्येन विधात-
कशास्त्रे सङ्कोचावश्यकत्वेन “अजाद्यत” इत्यादेः “अयं टाबादिः स्वोपजीव्यवि-
धातकत्वाभाववान् भवति” इत्यर्थेनोपजीव्यविरोधात्पञ्चनावेत्यस्मान्न टाबादिः ।
किञ्च पञ्चनावप्रिय इत्येतत्पर्याप्तैकार्थीभावेनैव विशिष्टे बहुव्रीहिसंज्ञाया अ-
घान्तरे तत्पुरुषसंज्ञायाश्च सिद्धतया पञ्चनावेत्यत्र शक्तिकल्पने मानाभावात्

फलः* । “दश दाडिमानि षड्पूपाः” इत्यादिनिरर्थकपदसमुदायव्यावृ-

पञ्चनावेत्यस्य अर्थविषयकबोधजनकत्वमेव न । स्पष्टञ्चेदमर्थवत्सूत्रे शब्द-
रत्ने इति दिक् ।

* विफल इति * । परे तु पूर्वोत्तरसूत्रद्वयसाधारणमर्थवत्त्वम् अर्थविषय-
कबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणत्वमिति । गुरुतरलक्षणं
स्वीकृत्य प्रत्ययपर्युदासखण्डनापेक्षया तत्पर्युदासं स्वीकृत्यैतल्लक्षणस्यैव लघु-
त्वात् । नच पञ्चनावप्रिय इत्यादौ पञ्चनावेत्यस्यार्थवत्त्वं स्यादिति वाच्यम् ।
पञ्चनावेत्यत्र शक्तिकल्पने मानाभावेन विशिष्टशक्त्यैवोपपत्तेरित्यादिना दत्तोत्त-
रत्वात् । नचैवमपि “सुप्तिङन्तम्” इतिसूत्रस्थभाष्यविरोधः । तत्र हि अन्त-
ग्रहणेन ‘संज्ञाविधौ’ इतिपरिभाषां ज्ञापयित्वा “यद्येवं “कृत्तद्धित” इति सूत्रे
अन्तग्रहणं कर्तव्यं, न कर्तव्यम् । अर्थवादिति वर्तते, कृत्तद्धितान्तं चैवार्थवत्, न
केवलाः कृतस्तद्धिता वा” इत्युक्तम् । तथा च निरुक्तार्थवत्त्वस्य केवलकृत्त-
द्धितेष्वपि सत्त्वेन तद्विरोधः स्यादिति वाच्यम् । “कृत्तद्धितान्तं चैवार्थवत्”
इत्यस्यानन्तरं ‘प्रातिपदिकम्’ इति, “न केवलाः कृतस्तद्धिता वा” इत्यस्यानन्तरं
‘प्रातिपदिकानि’ इति शेषो बोध्यः, तथा च “संज्ञाविधौ” इत्यस्य संज्ञानिष्ठवि-
धेयतानिरूपितसाक्षादुद्देश्यताप्रयोजकं यत्प्रत्ययमात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकं पदं
तत् तदादिविशेष्यकतदन्तविधिप्रयोजकं नेत्यर्थेन तदादिविशेष्यकतदन्त-
विध्यभावेऽप्यनुवृत्तार्थवद्विशेष्यकतदन्तविधेः सुपपादत्वेन कृत्तद्धितान्तं चै-
वार्थवत् प्रतिपदिकसंज्ञकं भवति, न केवलाः कृतस्तद्धिता वा प्रातिपदिकसं-
ज्ञकानि भवन्ति इत्येवं भाष्यस्य सुयोजत्वेनाविरोधात् ।

एतदेवाभिप्रेत्य भाष्ये—अर्थवादिति किम् ? धनं वनमिति
दोषं प्रदर्श्यापि सूत्रशेषे दशदाडिमानीत्यनर्थकसमुदायस्तत्फलत्वेन प्रद-
र्शितः । नच दशदाडिमानीत्यनर्थकसमुदायस्य समासग्रहणकृतानियमेन
व्यावृत्तिर्भवतीति नैतत्फलम् । धनं वनमित्यादौ वृक्षप्रचलनन्यायेनैव प्र-
तिवर्णं संज्ञा नेत्युक्तमेव । तथा चार्थवद्ग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम् । स्वात-
न्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवत्पूर्वव्यवहकः स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवदुत्तरावयको ऽर्थ-
विषयकबोधौपयिकाकाङ्क्षापर्याप्त्यधिकरणञ्च यः समुदायस्तस्य चेत्तर्हि समा-
सस्यैवेति नियमशरीरस्य वक्ष्यमाणत्वेनानर्थकसमुदाये ऽर्थविषयकबोधौप-
यिकाकाङ्क्षापर्याप्त्यधिकरणत्वस्याभावेन नियमेन व्यावृत्त्यसम्भवेनार्थवद्ग्रहण-
स्यावश्यकत्वात् । अत एव प्रत्ययग्रहणपरिभाषाप्रयोजनं ‘देवदत्तो गार्ग्य’
इत्यस्य प्रातिपदिकसंज्ञाऽभावः इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते । अन्यथा नियमे-
नैव तद्व्यावृत्तिसम्भवेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव । मम त्वभेदसंसर्गकबोधं प्रति
समानविभक्तिकत्वस्य तन्त्रत्वेन (कारणत्वेन) देवदत्तो गार्ग्येत्येतावन्मात्रे
ऽभेदसंसर्गकबोधौपयिकाकाङ्क्षापर्याप्त्यधिकरणत्वस्याभावेन नियमेनाव्यावृत्त्या
तत्सङ्गतिरिति वक्ष्यते ।

त्ति*रर्थवद्ग्रहणस्य फलम् । तत्र हि “सुपो धातु” इति लुगापत्तिरिति भाष्ये स्पष्टमिति दिक् ।

पूर्वसूत्रेणेति । प्रत्ययग्रहणे यस्मादिति प्रत्ययान्तत्वाभावादिति भावः । *नियमस्य सजातीयविषयत्वात्साजात्यं दर्शयितुमाह—पूर्वोभाग इति । एतेन *यत्तच्छब्दार्थयोरननुगतत्वेन *शब्दानुगमस्याप्रयोजकत्वेन व्यवच्छेदाननुगमे ऽपि क्षत्यभावेन* च ‘यत्र सङ्घाते’ इत्यादि व्यर्थमेवेत्यपास्तम्* । पदशब्देनात्र स्वातन्त्र्येणापि प्रयोगार्हमर्थवद्* गृह्यते । अतः

व्यावृत्तिरिति । वृक्षप्रचलनन्यायाश्रयणेनेदं दूषणं, तदनाश्रयणे तु धनं वनमित्यादौ प्रतिवर्णं संज्ञाव्यावृत्तिरेव तत्फलमिति भावः ।

ननु नियम्यत्वेनाभिमतशास्त्रीयविधेयतावच्छेदकरूपावच्छिन्नाविधेयता-कत्वे सति तदीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपव्याप्यरूपावच्छिन्नोद्देश्यताकत्वं नियामकत्वमिति सिद्धान्तेन तादृशस्थले नियामकशास्त्रेण नियम्यशास्त्रे सङ्कोचः कर्तव्यः । तत्र च नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकं, तद्व्याप्यं, तद्व्यापकम्, नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकं, तद्व्याप्यं, तद्व्यापकं चेति षड् रूपाण्युपस्थितानि । तत्र नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन तादृशरूपव्याप्यरूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन वा सङ्कोचः कर्तुं न शक्यते, स्तुषाद्वश्रून्यायप्रसङ्गात् । नापि नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन तादृशरूपव्याप्यरूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन वा सङ्कोचः कर्तुं शक्यते । नियम्यशास्त्रवैयर्थ्यापत्तेः । किन्तु नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकं नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं च यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सङ्कोचः कर्तव्य इत्यभिप्रेत्याह—*नियमस्य सजातीयविषयत्वादिति* ।

यत्तच्छब्दार्थयोरननुगतत्वेनेति । यत्तत्पदयोः सर्वनामत्वेन बुद्धिस्थत्वोपलक्षिततत्तद्धर्मावच्छिन्ने शक्तत्वेन बुद्धीनामानन्त्यात्तदर्थानामप्यानन्त्येनानुगमासम्भवादिति भावः । ननु बुद्धीनामानन्त्येऽपि दीक्षितबुद्धिस्थे प्रकृते यत्तत्पदयोः शक्तिरितिस्वीकारेणानुगमः सम्भवत्येवेत्यत आह—*शब्दानुगमस्याप्रयोजकत्वेनेति* । अयं भावः—दीक्षितोत्पत्तेः प्राक् तदीयबुद्धेरभावेन तदानीमपि समासग्रहणकृतनियमेनार्थवत्सूत्रे सङ्कोचस्यावश्यकत्वेनार्थं नियमो ऽप्रयोजक इति । ननु यत्र सङ्घाते इत्याद्युपलक्षणम् पदपूर्वावयवकसमुदायस्य चेत्तर्हि समासस्यैवेत्यस्य । तथा चानुगमः सम्भवत्येवेत्यत आह—*व्यवच्छेदाननुगमे ऽपि क्षत्यभावेनेति* । *अपास्तमिति* । नियमशास्त्रसार्थक्याय प्रकृते व्यवच्छेदानुगमस्यावश्यकत्वादिति भावः ।

ननु पदपूर्वावयवकसमुदायत्वं नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकसमासत्वव्यापकं भवितुं नार्हति । वृषण्वसुः वृषणश्च इत्यादौ समासत्वस्य सत्वेऽपि “वृषण्वस्वश्चयोः” इति वृषणित्यस्य भत्वेन पदपूर्वावयवकस-

एव* “अर्थवत्समुदायानां* समासग्रहणं नियमार्थम्” इत्युक्तमत्र भाष्ये ।
भाष्ये सुवन्तानामित्यनेन भेदसंसर्गद्वारकार्थवन्त* उपलक्ष्यन्ते इति कैयटेन

मुदायत्वस्याभावादित्यत आह—*स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हमर्थवदिति* ।
अत एवेति । यत्र सङ्घाते पूर्वो भागः पदमिति स्वातन्त्र्येण प्रयो-
गार्हार्थवदित्यस्योपलक्षणमिति स्वीकारादेवेति भावः । *अर्थवत्समुदायाना-
मिति । *अत्र तन्त्रेण षष्ठीतत्पुरुषः कर्मधारयश्च । तथाच अर्थवतां ये स-
मुदायाः तेऽर्थवन्तोऽप्यपेक्षिताः । तेषामेव नियमेन व्यावृत्तिः । न तु दश दाडि-
मानीत्यादीनाम् । बहुवचनं तु प्रयोगभेदाभिप्रायेण । तथा च स्वातन्त्र्येण प्रयो-
गार्हार्थवत्पूर्वावयवकः तादृशार्थवदुत्तरावयवकोऽर्थवांश्च यः समुदायः तस्य
चेत्तर्हि समासस्यैवेति नियमस्वरूपमिति भावः । अत एव पूर्वसूत्रेऽर्थव-
दित्यस्य दशदाडिमानीत्यनर्थकपदसमुदायव्यावृत्तिस्तत्फलमुक्तं भाष्ये ।
अन्यथा समासग्रहणकृतनियमेनैव तद्व्यावृत्तौ तदसङ्गतिः स्पष्टैवेति दिक् ॥

भेदसंसर्गद्वारकार्थवन्त इति । नच नीलो घट इत्यत्राभेदसंसर्गद्वार-
कार्थवत्त्वेन समासग्रहणकृतनियमेन वारणं न स्यादिति वाच्यम् । भेदे सति
संसर्गद्वारकार्थवन्त इत्यर्थस्य विवक्षणेनादोषात् । तथाहि—भेदे सतीत्वस्मात्
पूर्वं शक्तेरित्यध्याहार्यम् । संसर्गश्च विशेष्यविशेषणभावरूपः । तथाच शक्ति-
भेदे सति आकाङ्क्षाभास्यविशेष्यविशेषणभावप्रयोजकार्थवन्त इति फलितम् ।
नीलो घट इत्यत्र नीलपदघटपदयोः शक्तिभेदेन तादृशविशेष्यविशेषणभावप्रयो-
जकार्थवत्समुदायत्वसत्त्वेन च न दोषः । वस्तुतस्तु शक्तिविशिष्टसंसर्गकविशे-
ष्यविशेषणभावप्रयोजकार्थवन्त इति वक्तव्यम् । वै० च स्वनिरूपकार्थप्रतियोगि-
कत्व-स्वनिरूपकार्थानुयोगिकत्वैतदन्यतरवत्त्वम्—स्वनिरूपकार्थभिन्नार्थप्रतियो-
गिकत्व-स्वनिरूपकार्थभिन्नार्थानुयोगिकत्वैतदन्यतरवत्त्वमेतदुभयसम्बन्धेन । श-
क्तिश्च पदनिष्ठा गृह्यते । तथाच ‘गवित्ययमाह’ ‘अस्य गो शृणु’ इत्यादौ न दोषः ।
तत्राऽऽद्ये गोपदस्यानुकरणत्वेन सादृश्यज्ञानेनैवानुकार्योपस्थितौ शक्तिकल्पनस्य
तत्राभावेऽपि इतिपदे शक्तिसत्त्वेन तन्निरूपकार्थानुयोगिकत्वं गवितिपदद्वयजन्या-
ऽऽकाङ्क्षाभास्यसम्बन्धे, एवं स्वनिष्ठशक्तिनिरूपकार्थभिन्नो गोपदार्थस्तत्प्रतियोगि-
कत्वञ्चेति तादृशविशेष्यविशेषणभावप्रयोजकत्वेन ‘गवित्ययमाह’ इत्यस्य समा-
सग्रहणकृतनियमेन व्यावृत्त्या न प्रातिपदिकत्वम् । अन्त्ये चैतच्छब्दनिष्ठशक्ति-
निरूपकार्थप्रतियोगिकत्वमेतत्पदनिष्ठशक्तिनिरूपकार्थभिन्नो गोपदार्थस्तदनुयो-
गिकत्वञ्च अस्यगो इति पदद्वयाकाङ्क्षाभास्यविशेष्यविशेषणभावे इति तत्रापि
न प्रातिपदिकत्वम् । अन्यथा गोपदे शक्तेरभावेन शक्तिभेदस्य वक्तुमशक्यतया
प्रातिपदिकत्वापत्तिर्दुर्वारा स्यात् । नचैवमपि ‘देवदत्तो गार्ग्यः’ इत्येतद्वटकदे-
वदत्तो गार्ग्येत्यस्यार्थवत्त्वेन समासग्रहणकृतनियमेनैव व्यावृत्तौ प्रत्ययग्रहणप-
रिभाषाफलत्वेनोपादानं भाष्योक्तमसङ्गतं स्यादिति वाच्यम् । पदविशिष्टस-
मुदायत्वं भेदसंसर्गद्वारकार्थवत्त्वमिति परिष्कारेणादोषात् । वै० च स्वनिष्ठश-
क्तिविशिष्टसंसर्गकविशेष्यविशेषणभावप्रयोजकत्वं—स्वनिष्ठशक्तिनिरूपकार्थबो-

स्पष्टमेवोक्तम् । तेन गवित्ययमाहेत्यादौ गोइत्यादीनां सुबन्तत्वाभावे ऽपि* न समुदायस्य प्रातिपदिकत्वम् । अनुकरणस्यानितिपरस्यापि प्रयोगसत्त्वेन तावन्मात्रस्यापि पृथक्प्रयोगार्हत्वात् । बहुपटव इत्यादौ प्रातिपदिकत्व-सिद्धये स्वातन्त्र्येणेति* । तत्र पूर्वं इत्याक्षिप्तपरेषामपि स्वातन्त्र्येण प्रयो-

धौपयिकाकाङ्क्षापर्याप्त्यधिकरणत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । देवदत्तो गार्ग्येत्यत्र प्रथमसम्बन्धसत्त्वेऽपि देवदत्तपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छिन्नगार्ग्यत्वावच्छिन्नप्रकारताकशाब्दबोधे स्वन्तदेवदत्तपदसमाभिव्याहृतस्वन्त-गार्ग्यपदस्य प्रयोजकतया तादृशाकाङ्क्षापर्याप्तेः स्वन्ते एव सत्त्वेन तद्रहिते द्वितीयसम्बन्धाभावेनादोषात् । राज्ञः पुरुषेत्यस्य तु स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नराजत्वावच्छिन्नप्रकारताकपुरुषत्वावच्छिन्नविशेष्यताकशाब्दबोधीयाकाङ्क्षायाः राज्ञः-पुरुषेण, पुरुषायेति विभिन्नविभक्त्यन्तानुरोधेन सर्वत्र समानबोधाय पृथ्यन्तराजपदसमाभिव्याहृतविभक्तिरहितपुरुषपदमात्रे क्लृप्ततया तादृशाकाङ्क्षापर्याप्त्यधिकरणत्वेन तादृशविशेष्यविशेषणभावप्रयोजकत्वेन च व्यावृत्तिः निर्बाधैवेति दिक् ।

सुबन्तत्वाभावेऽपीति । सादृश्यज्ञानाधीनोपस्थित्या अर्थ-बोधकत्वेऽपि शक्तिलक्षणान्यतरज्ञानाधीनोपस्थित्या अर्थबोधकत्वाभावेन प्रातिपदिकत्वाभावादिति भावः । *स्वातन्त्र्येणेतीति* । स्यादेतत् । स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवत्त्वं पूर्वसूत्रइव एतत्संज्ञाफलभूतेत्यादि यदि परिष्क्रियते तर्हि पञ्चगवधनेत्यादौ पञ्चगवेत्यस्य तादृशार्थवत्त्वस्याभावेन निरुक्तरूपे (स्वातन्त्र्येणप्रयोगार्हार्थवत्पूर्वावयवक इत्याद्युक्ते) नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकसमासत्वव्यापकत्वं न स्यात् । तत्र समासत्वस्य सत्त्वेऽप्यर्थवत्पूर्वावयवकत्वस्याभावात् । किं च राज्ञः पुरुषावित्यादौ पुरुषेत्यस्य चिकीर्षितप्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतप्रत्ययेतर-औ-समभिव्याहारेणैव लोके अर्थविषयकबोधजनकत्वेन राज्ञःपुरु-षेति समुदाये स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवदुत्तरावयवकत्वाभावेन समास-ग्रहणकृतनियमेन तद्व्यावृत्तिर्न स्यादिति चेन्मैवम् । प्रातिपदिकसंज्ञाफलभू-तप्रत्यय-पद-एतदन्यतरेतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोके ऽर्थविषयकबो-धजनकत्वं स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवत्त्वमिति परिष्कारेणादोषात् । राज्ञः पुरुषावित्यादौ औविभक्तेरपि प्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतत्वेन तदितरस-मभिव्याहारानपेक्षया लोके ऽर्थविषयकबोधजनकत्वेन तत्र समासग्रहणक-तनियमेन व्यावृत्तिः सिध्यति । पञ्चगवधनः, तन्निभः, कुम्भकारः, एधांचक्रे, एधामासतुःकल्पं, मूलकेनोपदंशमित्यादौ धन-तत्-कुम्भ-चक्रे-एधाम-मूलकेनेत्यादिषु प्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतप्रत्ययेतरत्वस्य सत्त्वे ऽपि पदे-तरत्वस्याभावात् प्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतप्रत्यय-पद-एतदन्यतरेतरसमभिव्या-हारानपेक्षया पञ्चगव-निभ-कार-एधाम-आसतुःकल्पम्-उपदंशम् इत्या-

गार्हार्थवतामेव* ग्रहणात्पुत्रकाम्येत्यादौ* न दोषः । *अत एवाङ्गसञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये “प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम्” इति परिभाषायाः फलनिरूपणावसरे देवदत्तो गार्ग्येति समुदायस्य यजन्तत्वेन प्राप्तप्रातिपदिकसञ्ज्ञाऽभावः फलत्वेनोक्तः* । यथाश्रुतमूलोक्तनियमे तु नियमेनैव तत्र तदप्राप्त्या भाष्यासङ्गतिः स्पष्टैव । एतेन वृषण्वसुरित्यादौ

दीनां स्वातन्त्र्येण प्रयोगगार्हार्थवत्त्वं निर्वाधम् । नच चञ्चासु हरिष्वित्यादौ सोः निरुक्तस्वातन्त्र्यप्रयोगगार्हार्थवत्त्वापत्तिरिति वाच्यम् । इष्टापत्तेः । सोः निरुक्तार्थवत्त्वसत्त्वे ऽपि पूर्वभागप्रकृतेस्तदभावाच्च । एवमेवोत्तरभागस्यापि स्वातन्त्र्येण प्रयोगगार्हार्थवत्त्वं परिष्करणीयमिति दिक् ।

स्वातन्त्र्येण प्रयोगगार्हार्थवतामेवेति । उक्त एवार्थः । *पुत्रकाम्येत्यादाविति* । “अ प्रत्ययात्” इति सूत्रविहिताकारप्रत्ययस्य पुत्रकाम्येत्यनेन साकं सामर्थ्येन केवलकाम्यप्रत्ययेनैकार्थीभावाभावेन काम्येत्यत्र शक्त्यभावेन अर्थविषयकबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यताया अभावेन निरुक्तार्थवत्त्वाभवादिति भावः । *अत एवेति* । उत्तरभागोऽपि स्वातन्त्र्येण प्रयोगगार्हार्थवानपेक्षित इति स्वीकारादेवेत्यर्थः । *फलत्वेनोक्त इति* । न च देवदत्तो गार्ग्य इत्यादौ देवदत्तो गार्ग्येत्यस्य चिकीर्षितप्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतप्रत्ययेतरसुसमभिव्याहारेणैव लोके ऽर्थविषयकबोधजनकत्वेनार्थवत्सूत्रोक्तार्थवत्त्वाभावादेतत्फलकथनं भाष्योक्तमसङ्गतमिति वाच्यम् । अर्थवदन्तं यत्तद्विधान्तमित्यर्थस्वीकारेण देवदत्तो गार्ग्येत्यस्यार्थवदन्तत्वेन तद्विधान्तत्वेन च तत्सङ्गतेः ।

स्यादेतत्-देवदत्तेन कृतमित्यादौ कृत्येत्यस्य देवदत्तो गार्ग्य इत्यादौ गार्ग्येत्यस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतप्रत्यय-पद-एतदन्यतरेतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोके ऽर्थविषयकबोधजनकत्वरूपस्वातन्त्र्यप्रयोगगार्हार्थवत्त्वस्य संस्वात्समासग्रहणकृतनियमेनैव वारणात्पुनरपि प्रत्ययग्रहणपरिभाषाफलकथनासङ्गतिरिति वाच्यम् । यः समुदायः समासग्रहणकृतनियमशरीराक्रान्तत्वेन विवक्षितः तत्पर्याप्ता यौपस्थापकशक्तिरानुभविकशक्तिरित्येतदन्यतरा तन्निरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकप्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतप्रत्यय-पद-एतदन्यतरेतरसमभिव्याहारानपेक्षया लोके ऽर्थविषयकबोधजनकत्वं स्वातन्त्र्येण प्रयोगगार्हार्थवत्त्वमिति परिष्कारेणादोषात् ॥ तथाहि-अभेदसम्बन्धावच्छिन्ना (सम्बन्धानवच्छिन्ना) या गार्ग्यत्वावच्छिन्ना प्रकारता तादृशप्रकारतानिरूपितदेवदत्तत्वावच्छिन्नविशेष्यताकशाब्दानुभवत्वावच्छिन्नं प्रति स्वन्तदेवदत्तपदसमभिव्याहृतस्वन्तगार्ग्यपदत्वप्रकारकज्ञानस्य कारणत्वेन देवदत्तो गार्ग्येत्यत्र औपस्थापकशक्तिरानुभविकशक्तेर्वा पर्याप्तेरभावेन देवदत्तो गार्ग्य इत्येतत्पर्याप्तानुभविकशक्त्यौपस्थापकशक्त्यन्यतरानिरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकप्रातिपदिकसंज्ञाफलभूतविभक्तीतरत्वेन गार्ग्यपदोत्तरसोः तत्समभिव्याहारानपेक्षयैव गा-

पूर्वभागस्य भत्वात्पूर्वो भागः पदमित्ययुक्तमित्यपास्तम्* ।

वाक्यस्य नेति । प्रातिपदिकत्वे हि सुपः श्रवणानापत्तिः । पिण्डीमित्यादौ वाक्यैकदेशप्रयोगे ऽलुक्समासे चाङ्गाधिकारविहितसुप्प्रत्ययनिमित्तककार्याणां सुवादेशानाञ्च चारितार्थ्यं, विकल्पेन समासविधानञ्च स्वराद्यर्थमिति भावः । शशशृङ्गादिपदानाञ्च बौद्धे शशशृङ्गादौ शक्तिरिति पूर्वेणैव प्रातिपदिकत्वं सिद्धम् । स्वप्नाद्यनुरोधेन च बौद्धपदार्थस्याऽऽवश्यकत्वम्* । अक्षौहिणीरथन्तरादिपदेषु अवयवानामत्यन्तनिरर्थकानामप्यन्यत्र दृष्टार्थारोपेण प्रातिपदिकत्वमुत्पत्त्यादिना यथाकथाञ्चित्साधुत्वान्वाख्यानं बोध्यम् ।

अधिकारोऽयमिति । सञ्ज्ञाऽधिकार इत्यर्थः । सञ्ज्ञात्वावगमस्तु व्याख्यानात् । विकारागमानान्तु न तत्सञ्ज्ञा । 'प्रत्यय' इति महासञ्ज्ञया स्वस्वप्रकृत्यन्यतरार्थप्रत्यायकस्यैव तत्सञ्ज्ञकत्वात् । स्वप्रकृत्यर्थत्वञ्च धातुपाठकोशादौ तमुच्चार्य्य बोधितत्वम् । अत एव नभवधाद्यादेशानां न सञ्ज्ञा । तेषां स्थान्यर्थेनैवार्थवचनं, न तु स्वार्थो ऽस्ति । अत एव कोशादौ तदर्थाकथनम् । एतदर्थमेव भाष्ये स्वीयमर्थं प्रत्याययन्तीति विग्रहे स्वीयपदोपादानम् । भाष्यप्रामाण्याच्च तदर्थान्तर्भावेण प्रत्ययशब्दस्य वृत्तिः ।

ग्येत्यस्य लोके अर्थविषयकबोधजनकत्वेन निरुक्तार्थवत्त्वाभावाच्च समासग्रहणकृतनियमेन व्यावृत्तिरिति भाष्यसङ्गतिः । देवदत्तेन कृतमित्यादौ तु भेदसंसर्गकदेवदत्तप्रकारककृतपदार्थविशेष्यकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तृतीयान्तदेवदत्तपदसमभिव्याहृतकृतपदत्वप्रकारकं ज्ञानमेव कारणम्, न तु तादृशान्तकृतपदत्वप्रकारकं ज्ञानम् । अन्यथा देवदत्तेन कृतेन, देवदत्तेन कृतायेत्यादौ शाब्दानुभवानुदयप्रसङ्गात् । तथा च देवदत्तेन कृतेत्येतत्पर्याप्तानुभविकशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजिकैवाऽभविभक्तिरिति तदितरसमभिव्याहारानपेक्षया कृतेत्यस्य लोके अर्थविषयकबोधजनकत्वेन निरुक्तार्थवत्त्वस्य सत्त्वेन देवदत्तेनकृतेत्यस्य समासग्रहणकृतनियमेन व्यावृत्तिश्च सिध्यतीति दिक् ।

अपास्तमिति । वृषण्वसुरित्यादौ व्यभिचारेण समासत्वव्यापकत्वस्य पदपूर्वावयवकसमुदाये ऽभावेऽपि स्वातन्त्र्येण प्रयोगार्हार्थवत्पूर्वावयवकसमुदाये सत्त्वादिति भावः । *आवश्यकत्वमिति* । ज्ञानमात्रं प्रति विषयस्य कारणत्वेन अतीतानागताविषयकज्ञानोपपत्तये बौद्धविषयकल्पना आवश्यकीति भावः ।

यत्तु विकारागमादेशानां देशांशे निराकाङ्क्षत्वात् “परश्च” इत्यस्यानुप-
स्थितौ तत्सन्नियोगशिष्टप्रत्ययसज्ज्ञाया अप्रवृत्तिरिति, तन्न । श्रमकञ्वहुष्व-
प्रवृत्त्यापत्तेः* । किं च लविषीयेत्यत्र विशेषविहितत्वात्परत्वाच्च पूर्वं सीयुटि
ततो लादेशे प्रत्ययसज्ज्ञासन्नियोगेनेदो विधीयमानमाद्युदात्तत्वं सीयुट एव
स्यादत आगमानुदात्तत्वं वक्तव्यमिति “आद्युदात्तश्च” इति सूत्रस्थभाष्यकै-
यटासङ्गतिः । लस्थानिकत्वेन देशांशे निराकाङ्क्षत्वेन “परश्च” इत्यस्याप्रवृत्तौ
“प्रत्यय” इत्यस्याप्यप्रवृत्तौ* तत्सन्नियोगकथनासङ्गतेरिति दिक् ।

परश्च ॥ “गुप्तिञ्जकिञ्च” इत्यादावपादानत्वासम्भवादिग्योगलक्षणा
पञ्चमी । तत्र परः पूर्वो वेत्यत्रानियमेनाध्याहारे प्रसक्ते पर एवेति निय-
मार्थमिदम् । “गापोष्टक्” इत्यादावपि षष्ठ्यर्थे आनन्तर्ये पूर्वपरसाधारण-
मित्यनियमोऽस्त्येव । अत्र तस्मादिति परिभाषोत्तराङ्गविकला प्रवर्तते*
इत्यव्यवहिता एव प्रत्ययाः । न चैवं षष्ठ्यंशविकलं संपूर्णं सूत्रमुपति-
ष्ठतां किं परश्चेत्यनेनेति वाच्यम् । प्रकृत्यर्थमात्रविवक्षायां केवलप्रकृतेः पञ्च पत्
इत्यादेः *प्रयोगो मा भूदिति प्रत्ययः परो भवत्येवेति नियमार्थत्वात् । तेन

अप्रवृत्त्यापत्तेरिति । ननु श्रमि शकारस्य इत्संज्ञार्थं, सर्विकेत्यादौ
इत्त्वार्थमकचि प्रत्ययत्वस्यावश्यकत्वेऽपि बहुचि प्रत्ययत्वे किं प्रयोजनम् । नच
ईषदूनः उः बहूः तस्मात् क्यचि “सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायाम्”
इत्यनेन सुकि बहुष्यतीत्यादौ पूर्वान्तवत्त्वेन प्रत्ययत्वमादाय षत्वार्थं बहुचः
प्रत्ययत्वमावश्यकमिति वाच्यम् । तस्य वार्तिकस्य दधिमधुमात्रविषयक-
त्वस्य शेखरे वक्ष्यमाणत्वात्, इति चेन्न । ईषदूनः उः बहूः तस्मा-
दाचारकिबन्तात्कर्तरि किपि नपुंसकह्रस्वे च बह्विति जाते तस्मादाचा-
रकिबन्ताद्वनिपि बह्वेत्यादौ “लोपश्चास्यान्यतरस्यां ष्वोः” इत्यनेन पूर्वान्तवज्ज्ञा-
त्वेन प्रत्ययत्वमादाय उतो लोपार्थं बहुचः प्रत्ययत्वस्यावश्यकत्वादिति दिक् ।

प्रत्यय इत्यस्याप्यप्रवृत्ताविति । वस्तुतस्तु भोभगो इतिसूत्र-
स्थभाष्यरीत्या प्रत्ययत्वस्य स्थान्यल्वृत्तिधर्मत्वेन तदनुवृत्तिरावश्यकी ।
नच स्वस्वप्रकृत्यन्यतरार्थप्रत्यायकत्वरूपप्रत्ययत्वस्याभावात्कथं तिबाद्यादे-
शानाम् प्रत्ययत्वमिति वाच्यम् । लः कर्मणीति शास्त्रेण लादेशानाम्
कर्माद्यर्थकत्वस्योक्तत्वेन स्वार्थप्रत्यायकत्वस्य सत्त्वात् ।

प्रवर्तत इति । उत्तरत्वांशस्य सिद्धत्वात् प्रत्ययविधौ षष्ठ्यंशस्य
बाधितत्वाच्च केवलाव्यवहितत्वांश एवोपतिष्ठत इति भावः । *प्रयोगो मा-
भूदिति* । स्यादेतत् । “वर्तमाने लट्” इत्यस्य वर्तमानकालेतरकालावि-
वक्षायाम् धातोर्लट् भवतीत्यर्थेन, “प्रातिपदिकार्थ” इत्यस्य प्रातिपदिकार्थे-
तरार्थाविवक्षायां प्रथमा भवतीत्यर्थेन एकस्मिन्नेकवचनमित्यस्य एकत्वेतर-

‘न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः’ इति सिद्धम् । अनुकरणे तु अभेदविवक्षया *ऽर्थवत्त्वाभावात्प्रातिपदिकत्वाभावेन प्रकृतित्वाभावाद् ‘गवित्ययमाह’ इत्यादौ नानुपपत्तिः । प्रकृतित्वं *प्रत्ययविधाबुद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वम्* । अयं न्यायः शास्त्राबोधितान्यतरप्रयोगविषयः, अत एव लिट्, इयानित्यादौ न दोषः । अत्र प्रकृतिविशेषोद्देशेनैव प्रत्ययानां विधानान्नापि केवल इति न्यायमूलकम् । एतन्मूलकमेव पठ्यते “अपदं न प्रयुञ्जीत” इति । अपरिनिष्ठितमिति तदर्थः । परिनिष्ठितत्वञ्चाप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वम् । निहते तिङन्तादावव्याप्तिवारणाय प्रवृत्तेति* । वैकल्पिकेडागमोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्ते सेद्धेत्यादावव्याप्तिवारणाय नित्येतीति दिक् ।

संख्याया अविवक्षायामेकवचनं भवतीत्यर्थेन च धातोर्लटः, प्रातिपदिकात्प्रथमैकवचनस्य च दुर्वारत्वेन केवलप्रकृतेः प्रयोगो नैव प्राप्नोतीति परश्चेति सूत्रं पुनरपि व्यर्थमिति चेन्नैवम् । वाक्येवाक्यैकदेशन्यायेन ‘पिण्डो’ ‘पिण्डेहि’ इतिवत् पदेपदैकदेशन्यायेन ‘सत्या’ ‘भामा’ ‘देवः’ ‘दत्तः’ इतिवच्च समभिव्याहारनियन्तृकार्यविषयेऽपि सुध्युपास्य इत्येतत्तात्पर्येण सुध्य इति यान्तस्य, पाचक इत्येतत्तात्पर्येण पच्, अकः इत्यादेः प्रयोगस्य च वारणाय समभिव्याहारनियन्तृकार्याणां तत्समभिव्याहारोभावे असाधुत्वबोधनाय परश्चेति सूत्रस्याऽऽवश्यकत्वादिति दिक् ।

अर्थवत्त्वाभावादिति । सादृश्यज्ञानाधीनोपस्थित्या ऽर्थविषयकबोधजनकत्वेऽपि शक्तिलक्षणान्यतरज्ञानाधीनोपस्थित्या ऽर्थविषयकबोधजनकत्वस्याभावादित्यर्थः । *प्रत्ययविधाविति* । औत्सर्गिकैकवचनविधावित्यर्थः । यथाश्रुतं तु न युक्तम् । तस्य यावत्प्रत्ययविधौ इत्यर्थे कस्यापि सकलप्रत्ययोद्देश्यत्वासम्भवेनासंभवात्पत्तेः । यस्य कस्य चित्प्रत्ययस्य ग्रहणे तु तद्धितप्रत्ययविधौ सुबन्तस्योद्देश्यतया तस्य प्रकृतित्वापत्त्या तावन्मात्रस्यापि प्रयोगानापत्तेः । *प्रत्ययविधाबुद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वमिति* । स्यादेतत्स्वस्वप्रकृत्यन्यतरार्थप्रत्यायकत्वरूपप्रत्ययत्वशरीरे प्रकृतित्वस्य, मूलोक्तप्रकृतित्वशरीरे प्रत्ययत्वस्य च पतितत्वादन्योन्याश्रय इति चेन्नैवम् । आगमभिन्न आदेशभिन्नश्च यस्तृतीयचतुर्थपञ्चमाध्यायविधेयस्तन्निष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयत्वं प्रकृतित्वमिति प्रकृतित्वपरिष्कारेण, अवध्यंशे नित्यसाकाङ्क्षं यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नतृतीयचतुर्थपञ्चमाध्यायघटकपदप्रयोज्यविधेयताश्रयत्वं प्रत्ययत्वम् इति प्रत्ययत्वस्य परिष्कारेण वाऽदोषात् । *अप्रवृत्तेतीति* इदं विशेषणं लक्ष्येलक्षणन्यायप्रयोज्यसंकोचमबुद्ध्वा दत्तम् । अन्यथा तेन न्यायेन स्वस्मिन् स्वविधेयघटितातिरिक्तत्वेन संकोचात्स्वप्रवृत्त्युत्तरं स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तेरभावादिवं विशेषणं व्यर्थम् ।

ङ्याप्रातिपदिकात् । समाहारद्वन्द्वः । ननु “परश्च” इत्यनेन
 प्रकृतेराक्षेपात्प्रातिपदिकाधिकारो व्यर्थः । तिङन्तात् न द्वितीयादिः ।
 संख्याऽभावात् । संख्यायास्तिङोक्तत्वाच्च* । धातुभ्यस्तु न । तिङामपवा-
 दत्वात् । तस्येत्यादिसमर्थविभक्तिनिर्देशात्, तमन्विधौ “तिङश्च” इति
 ज्ञापकाच्च न तेभ्यस्तद्धितव्यावृत्त्यर्थः; इति चेन्न । तदभावे “स्वार्थद्रव्यलिङ्ग-
 संख्याकारकप्रयुक्तकार्यैः संस्कृतस्य* बहिर्भूतापत्यादियोग” इति “कुत्सिते”
 इति सूत्रभाष्योक्तन्यायेन, “तस्यापत्यम्” इत्यादौ *तत्संबन्ध्यपत्यमित्याद्यर्थे
 प्रथमोच्चारितबोध्यात्प्रत्यय इत्यर्थस्य सत्त्वेन च सार्थकतद्धितानां सुबन्तादु-
 त्पत्त्या अनुदात्तादेरित्यस्य प्राधान्यादुपस्थितसुबन्तविशेषणत्वापत्तौ सर्वस्य
 विकारः सार्व इत्यत्राजनापत्तेः । “सर्वस्य सुपि” * इत्याद्युदात्तत्वात् ।
 तदाधिकारसामर्थ्यात् प्रातिपदिकस्यैव तद्विशेषणमिति न दोषः ।
 सर्वशब्दस्योञ्छादि* पाठेनान्तोदात्तत्वात् । स्पष्टश्चेदमत्र भाष्ये ।

न चान्तरङ्गानपीति न्यायेन लुङ्निमित्तप्रत्ययात्पूर्वमाद्यु-
 दात्ताप्राप्त्या तस्य सुबन्तविशेषणत्वेऽपि न दोष इति वाच्य-

प्रकृतेराक्षेपादिति । परत्वस्यावध्यंशे नित्यसाकाङ्क्षत्वादिति
 भावः । *द्वितीयादिरिति* । प्रथमायास्तु तद्विधायकसूत्रे प्रातिपदिकार्थ इति
 सत्त्वेन तिङन्तार्थे न प्राप्तिरिति भावः । एतेन प्रथमोपस्थितत्वात् प्रथमादिरिति
 वक्तुमुचितमित्यपास्तम् । *उक्तत्वाच्चेति* । ‘उक्तार्थानामप्रयोगः’ इति न्यायेन
 तिङन्तान्न सुबुत्पत्तिरिति भावः । *संस्कृतस्येति । स्वार्थद्रव्य-
 लिङ्गसंख्याकारकाणां क्रमेणोपस्थित्या येन क्रमेणार्थोपस्थितिस्तेन क्रमेण
 शब्दप्रादुर्भावेण येन क्रमेण च शब्दप्रादुर्भावस्तेन क्रमेण तत्प्रयुक्तकार्यप्रवृत्ते-
 रिति भावः । *तत्संबन्ध्यपत्यमिति । विशिष्टार्थे प्रत्ययानां विधाने-
 ऽपि प्राप्ताप्राप्तविवेकन्यायेन “लोहिताष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति” इति
 वदपत्यादिमात्रार्थकत्वं प्रत्ययानामिति बोध्यम् । *सर्वस्य सुपीति* । ‘सौव-
 र्यः सप्तम्यः तदन्तसप्तम्यः’ इति ‘भीही’ इति सूत्रस्थेन ‘प्रत्ययात्पूर्वं पिति’ इ-
 त्यनेन ज्ञापितया परिभाषया सुबन्तस्य सर्वशब्दस्याऽऽदिरुदात्त इति
 तदर्थः । *उञ्छादिपाठेनेति* । “स्वाङ्गशिष्टामदन्तानाम्” इत्याद्युदात्तवा-
 धनार्थमयं पाठ इति भावः । नच पूर्वं सर्वशब्दस्योञ्छादिपाठेनान्तोदात्त-
 त्वेऽपि पश्चात् “सर्वस्य सुपि” इत्यनेनाऽऽद्युत्ततयोञ्छादिषु तत्पाठो व्यर्थ
 एवेति वाच्यम् । “अल्पात्तरम्” इति निर्देशेन तरप्प्रत्ययस्यात्यन्तस्वार्थि-
 कत्वंबोधनात् सर्वशब्दादत्यन्तस्वार्थिके तरपि कृते तत्रान्तोदात्तश्रवणार्थं, आ-
 चारक्विन्ताल्लुटि सर्वति इत्यादौ तच्छ्रवणार्थं च तस्य चारितार्थ्यात् ।
 न च सर्वति इत्यादौ धातोरित्यन्तोदात्तत्वम् । तस्य नामधातुष्वप्रवृत्तेः । अत
 एव काम्यचश्चित् चरितार्थमिति दिक् ।

ध्रु । तेन न्यायेन धर्मिग्राहकमानादन्तरङ्गनिमित्तविनाशकलुक एव* प्राबल्यबोधनेन दोषात् । “सर्वस्य सुपि” इत्यत्र सौवरीणां सप्तमीनां तदन्तसप्तमीत्वात् प्रत्यये परतः पूर्वकार्यत्वाभावेन* “न लुभता” इत्यस्याप्राप्तौ प्रत्ययलक्षणेन सुबन्ततया तस्यान्तरङ्गनिमित्तविनाशकत्वाभावात् । अत एव सर्वस्तोमादिवहुव्रीहेराद्युदात्तत्वसिद्धिः । न चानुदात्तादिप्रकृतिकषष्ठ्यन्तादित्यर्थेन न दोष इति वाच्यम् । “गर्गादिभ्य” इत्यादौ सुबन्तं प्रति गर्गादीनां विशेषणत्वासम्भवादगत्या लक्षणास्वीकारेऽपि प्रकृते लक्षणायां मानाभावात्* । वस्तुतस्तत्रापि न लक्षणा । गर्गादिरूपात्प्रातिपदिकात्तत्संबन्ध्यपत्यमित्यर्थे प्रत्यय इत्यर्थे प्रातिपदिकात्परत्वं तद्व्यवधानेन भविष्यति* । तद्व्यतिरिक्तव्यवधाने तु न, मानाभावात् । एतच्च मनुष्मूत्रे कैयटे स्पष्टमित्यन्यत्र विस्तरः ।

लिङ्गविशिष्टस्येति* । इयञ्च प्रातिपदिकसामान्यग्रहणे* तद्विशेषग्रहणे* च । अनया परिभाषया ल्याबुग्रहणवैयर्थ्यस्य भाष्ये शङ्कितत्वात् ।

अन्तरङ्गनिमित्तविनाशकलुक एवेति । लुक्यन्तरङ्गनिमित्तविनाशकेतिविशेषणदानादातिभवकानित्यत्राकच् सिध्यति । अन्यथा लुक्यन्तरङ्गनिमित्तविनाशकत्वाभावस्य सत्त्वेऽपि समाससंज्ञायां तत्सत्त्वेनाकञ्ज स्यात् । अत एव ‘अर्णुहि’ इत्यादावन्तरङ्गनिमित्तविनाशकत्वाभावाल्लुकः पूर्वं गुणे संयोगपूर्वकत्वान्न लुक् । एवं राजपुत्री इत्यादौ बहिरङ्गसमासादेः प्राक् शार्ङ्गरवादिपाठान् डीनि “ञित्यादिर्नित्यम्” इत्याद्युदात्तत्वं सिध्यतीति दिक् ।

पूर्वकार्यत्वाभावेनेति । लुप्तप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वेन साक्षादवच्छिन्ना लुप्तप्रत्ययनिमित्तकाङ्गसंज्ञावत्पर्याप्तधर्मेण साक्षात्परम्परया वा अवच्छिन्ना या उद्देश्यता तादृशोद्देश्यताकत्वस्य “सर्वस्य सुपि” इत्यत्राभावेन “न लुभता” इति निषेधाप्रवृत्तेरिति भावः । *मानाभावादिति* । “तस्य विकारः” इत्यादौ तस्येत्यस्य षष्ठ्यन्ततदाद्यर्थबोधकत्वेन तदेकदेशः षष्ठ्यां ‘पदार्थः पदार्थेन’ इति न्यायेनानुदात्तादिप्रकृतिकेत्यस्यान्वयासम्भाव्येत्यपि बोध्यम् । *भविष्यतीति* । “यकालतनेषु” इतिज्ञापकात् ‘स्वार्थे परिपूर्णमर्थान्तरेण युज्यते’ इति “कुत्सिते” इतिसूत्रस्थभाष्यप्राप्तन्यायाच्चेति भावः ।

लिङ्गविशिष्टस्येतीति । लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टस्येत्यर्थः । वै० च स्वघटितत्वं—स्वनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयघटितत्वं—स्वविशिष्टाघटितत्वमेतन्नित्यसम्बन्धेन । स्ववैशिष्ट्यञ्च—स्वेतरत्वं—स्वनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयेतरत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । *प्रातिपदिकसामान्यग्रहण इति* । प्रातिपदिकत्वेन रूपेण तद्ग्रहण इत्यर्थः । *तद्विशेषग्रहण इति* । प्रातिपदिकत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नग्रहण इत्यर्थः । नन्वेवं “कुमारः श्रमणादिभिः” इति-

विशेषविषये बहुतरोदाहरणदानाच्च । स्त्रीप्रत्ययसमभिव्याहारे प्रातिपदिकत्वतद्व्याप्यधर्मा* विशिष्टे ऽनेनातिदिश्यन्ते । अत एव “बहुव्रीहेरुधस” इति सूत्रे भाष्ये “नद्यन्तश्च” इत्यस्य नद्यन्तबहुव्रीहेरित्यर्थे कुण्डोऽधीत्यत्र क्वापादितः । अन्यथा तु ङ्यन्तस्य बहुव्रीहित्वाभावात्तदसङ्गतिः । *नद्यन्तानां यो बहुव्रीहिरित्यर्थेन च परिहृत इत्यन्यत् ।

समासान्तेषु तत्परिभाषाऽभावस्तु ङ्याप्सूत्रभाष्योक्तो ऽवयवविषय* एव । समुदायविषये तत्प्रवृत्तावपि दोषाभावेन तदंशे तदप्रवृत्तौ न मानमित्याशयः । ङ्याबन्तादिति । ङ्यावग्रहणं स्त्रीप्रत्ययमात्रोपलक्षणम् । तेन ब्रह्मबन्धूतरा युवतितरेत्यादेः सिद्धिः । “जातेश्च” इति निषेधान्न पुंवत्त्वम् । वयोवाचिनां वैकल्पिकजातिकार्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

ज्ञापकासङ्गतिः । कुमारशब्दत्वस्य ‘कुमार क्रीडायाम्’ इतिधातावपि सत्त्वेन प्रातिपदिकत्वव्याप्यत्वस्य कुमारशब्दे ऽभावात् । नच समर्थकुमारशब्दत्वं प्रातिपदिकत्वव्याप्यं भवत्येवेति न दोष इति वाच्यम् । अदन्तप्रातिपदिकत्वस्यापि प्रातिपदिकत्वव्याप्यत्वेनानया रमाशब्दे ऽतिदेशेन “अत इञ्” इतीजापत्तेः, इतिचेन्न । तद्विशेषग्रहणे इत्यस्य पदप्रतिपाद्यप्रातिपदिकत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्य ग्रहणे इत्यर्थेनादन्तप्रातिपदिकत्वस्य वाक्यप्रतिपाद्यत्वेन, कुमारपदस्य समर्थकुमारप्रकृतिके लक्षणया समर्थकुमारत्वस्य च पदप्रतिपाद्यत्वेनादोषात् ।

अन्येतु तद्विशेषग्रहणे इत्यस्य प्रातिपदिकमात्रग्रहणे इत्यर्थः । तत्त्वञ्च प्रातिपदिकमात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकत्वम् । विषयतायां प्रातिपदिकमात्रवृत्तित्वञ्च प्रातिपदिकवृत्तित्वे सति प्रातिपदिकेतरनिरूपितवृत्तित्वाभाववत्त्वम् । अभावश्च सामानाधिकरण्येनान्वयाप्रयोज्यो विवक्षितः । तथाच अत्पदप्रयोज्यविषयतायां प्रातिपदिकेतरनिरूपितवृत्तित्वाभावश्च अत्पदार्थस्य प्रातिपदिकपदार्थेन साकं सामानाधिकरण्येनान्वयप्रयोज्य एवेति न दोष इत्याहुः ।

धर्मा इति । लिङ्गबोधकप्रत्ययनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयपर्याप्ता इति शेषः । *नद्यन्तानां यो बहुव्रीहिरिति* । नद्यन्तोत्तरपदकबहुव्रीहिरित्यर्थः ।

अवयवविषय एवेति । अत एव अतिशयिताः श्रेयांसो यस्यां नगर्यां सा अतिश्रेयसी अः अतिश्रेयसी यस्मिन् स आतिश्रेयसी, अतिशयिताः भ्रातरो यस्यां नगर्यामतिभ्रात्री अः अतिभ्रात्री यस्य स आतिभ्रात्रिरित्यादौ “ईयसश्च” “वन्दिते भ्रातुः” इति कब्जिषेधः, कियतः समीपमुपकियतं तस्मात् ण्यन्तात्किपि उगित्वात् ङीपि उपकियती, आ उपकियती यस्मिन्नोपकियतमित्यत्र “अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः” इति टच्ञ सिञ्चति ।

तद्धित इति । एतच्च समासान्ततिप्रत्ययाद्यतिरिक्तपरं व्याख्या-
नात् । एतेन यूनीतिर्वहुगोमतीकेति स्यादित्यपास्तम् । एवञ्च स्त्रीप्रत्ययेषु,
अत्यन्तस्वार्थिकानारभ्य तद्धितेषु च ड्यावग्रहणासम्बन्धो व्याख्या-
नात् । अत एव लोहिनिकेत्येतत्सिद्धये “लोहितालिङ्गवाधनं वा” इति
चरितार्थम्* । अत्यन्तस्वार्थिकानां सुबुत्पत्तेः पूर्वमुत्पत्तिरिति “सर्वस्य द्वे”
इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टं कैयटे च । तत्र हि पदस्येत्यस्य प्रयोजनं-द्विपदिके-
त्यादौ द्वित्वसंख्यायुक्तपदार्थस्य वीप्सितत्वात् वीप्सायामेकत्वलक्षणसं-
ख्याया अनन्तर्भावात्समासाद्विभक्त्यभावेन पदत्वाभावात्प्राक् तद्धितोत्पत्ते-
र्द्विवचनाभाव इत्युक्तम्* । पुंयोगादिति सूत्रे भाष्ये ऽप्येतत्स्फुटम् । तत्र
हि गतिकारक्योपपदानामित्यस्याः साङ्कूटिनमिति प्रयोजनमुक्तम् । तत्र
हि अभिविधौ भाव इनुणि कूटिन्शब्दादणप्रत्ययविभक्त्योः प्राप्तयोः स्वार्थि-
कत्वेनान्तरङ्गत्वादाणि कूटिन्नित्यस्यैव वृद्धिः स्यादित्युक्तम् । तस्यापि
सुबन्तादुत्पत्तौ तु पूर्वं सुपि इनुणन्तत्वरूपाधिकसापेक्षत्वेन बहिरङ्गतया
ऽणः पूर्वं समासे विशिष्टादाणि रूपसिद्धौ भाष्यासङ्गतिः* । प्राक्सुबुत्पत्तेः
समासे तु उक्तरीत्यैवान्तरङ्गत्वात्पूर्वं समासे ततो विशिष्टादणिति साङ्कू-
टिनसिद्धिरित्यन्यत्र विस्तरः ।

स्वौजस ॥ सूत्रे समाहारद्वन्द्वः* । टङ्पाश्चेत इति । न च फ-

चरितार्थमिति । अन्यथा लोहिनिकेत्यादौ ड्यन्तादेव तद्धितोत्पत्त्या
तत्सिद्ध्यर्थं तद्वार्तिकप्रणयनमसङ्गतं स्यादिति भावः । *इत्युक्तमिति* । अयं भावः-
द्विपदिकेत्यादौ द्वीत्यस्य पादेत्यस्य च पदत्वेऽपि तदर्थमात्रगतवीप्साया अभा-
वाद्धिशिष्टस्य च पदत्वाभावात्तद्धितान्तेन वीप्साया उक्तत्वाच्च न द्विर्भावः ।
स्वार्थिकप्रत्ययानां सुबुत्पत्त्युत्तरमुत्पत्तौ तु द्विपादेत्यस्यापि प्रत्ययलक्षणेन
पदत्वान्नाश्यासङ्गतिः स्पष्टैवेति । *भाष्यासङ्गतिरिति* । वस्तुतस्तु
संकूटिन्निति शब्दस्वरूपसमुदायस्य अण्समासयोः समानत्वेन बहिरङ्गत्वा-
भावेन परत्वादाणि सङ्कूटिनमिति स्यादिति भाष्योक्तदूषणं सङ्गच्छत एवेति
नैतद्भाष्यं सुबुत्पत्तेः प्राक् स्वार्थिकप्रत्ययोत्पत्तौ नवीनमते मानम् । किन्तु
प्राचीनैस्तथा स्वीकारेण तन्मते एवासंगत्यभिधानमिति दिक् ।

समाहारद्वन्द्व इति । तृतीयाद्विवचनभ्याम्-पर्यन्तं समाहारद्वन्द्वं कृत्वा
तदनन्तरं चतुर्थीद्विवचनभ्याम्-पर्यन्तं समाहारद्वन्द्वं कृत्वा तदनन्तरं पञ्चमीद्विवच-
नभ्याम्-पर्यन्तं समाहारद्वन्द्वं कृत्वा तदनन्तरं षष्ठीद्विवचनौपर्यन्तं समाहारद्वन्द्वं
कृत्वा ततश्चावशिष्टानां समाहारद्वन्द्वं कृत्वा सर्वेषां समाहारद्वन्द्वानां समाहारद्वन्द्वं
इति भावः । अत एव भ्यामोः भ्यसोः ओसोश्च नैकशेषः । ननु “एचोऽयवायावः”
इत्यादाविव लोपमात्रफलकत्वे इत्संज्ञैव न स्यादत आह ।

लाभावः । लोपस्यैव फलत्वात् । *तत्र तत्रेतरव्यावृत्त्या चरितार्थानां लो-
पफलकत्वस्वीकारे बाधकाभावात् । काम्यजादौ तु लोपे सति वर्णो-
च्चारणवैयर्थ्याच्च तन्मात्रफलिकेत्सञ्ज्ञेति बोध्यम् ।

न विभक्ताविति निषेधोपयोगिनीं विभक्तिसञ्ज्ञामाह-विभक्तिश्च ।
चकार एकसञ्ज्ञाधिकारेऽपि पुरुषवचनसञ्ज्ञाभ्यां *समावेशार्थः । अन्यथा
पर्यायः स्यात् । “सुप” इति सूत्रं, “तिङ्स्त्रीणि” इति सूत्रात्तिङ् इति
चानुवर्तते । प्रथमयोरित्यादौ व्याख्यानात्प्राचां वैयाकरणानां प्रथमाद्वि-
तीयापदवाच्ययोर्ग्रहणं बोध्यम् । अन्यथा “औजसोः पूर्व” इत्येव वदेत् ।
विभक्तिप्रदेशेषु सुप्तिङिति न वक्तुं शक्यम् । यत्र तत्रेत्यादौ त्यदा-
द्यत्वानापत्तेः । तेषां सुप्सञ्ज्ञा त्वशक्या । एतर्हीत्यादौ “सुपि च” इति दी-
र्घापत्तेः* । ससम्यन्ता इति । स्त्रीलिङ्गा इति शेषः । प्राचां-वैयाकर-
णान्तराणाम् । इहापि—अस्मिन् व्याकरणे ऽपि ।

सुपः ॥ सुविति प्रत्याहारात्पृथग्र ।

द्व्येकयोः ॥ नियमार्थे इमे । इह सूत्रे द्व्येकशब्दौ संख्यापरौ, न
संख्येयपरौ बहुवचनापत्तेस्तदाह-द्वित्वैकत्वयोरिति । लौकिकप्रयोगे तु
‘आदशतः संख्याः संख्येये’ इति कोशभाष्याद्युक्तेः संख्येयपरत्वे एव प्रायः
साधुत्वम् । क्वचित्संख्यापरत्वे ऽपि संख्येयगतसंख्यारोपेण साधुत्वम् ।
अत एव कस्य द्वित्वे इत्याद्यर्थे कयोर्द्वयोः केषां बहुष्विति भाष्ये प्रयुक्तमिति

तत्र तत्रेत्यादिना ।

समावेशार्थ इति । वस्तुतस्तु स्वतादात्म्यं-स्वप्रतियोगिकविधेया-
नुयोगिकसंसर्गघटकनिरूपितत्वसमसंख्याकनिरूपितत्ववत्संसर्गप्रतियोगिकत्व-
मेतदुभयसम्बन्धेन यत्किञ्चिच्छास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकविशिष्टोद्देश्यतावच्छेदक-
कत्वरूपसमानावधित्वस्य तत्र स्वीकारेण “विभक्तिश्च” इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छे-
दकतिङ्त्वस्य “तिङ्स्त्रीणि” इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकतिङ्त्वे तादात्म्यस्य
सत्त्वेऽपि तदीयोद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदकतिङ्त्वे स्वप्रतियोगिकविधेयानुयो-
गिकसंसर्गघटकनिरूपितत्वसमसङ्ख्याकनिरूपितत्ववत्संसर्गप्रतियोगित्वस्याभा-
वेन समानावधित्वाभावादाकडारसूत्राप्राप्त्या चकारः सुप्तिङनुवृत्तिमात्र-
फलक एवेति बोध्यम् ।

दीर्घापत्तेरिति । ननु ‘एतर्हि’ इत्यादौ “इदमोर्हिङ्” इत्यत्र
‘इदमो ऽर्हिङ्’ इति छेदेन न दीर्घापत्तिः । तथा च “प्राग्दिशः सुप्”
इति न्यासे न दोषः । नचार्हिलिति न्यासे ‘एतर्हि’ इत्यादौ “एतेतौ र-
थोः” इत्यनेनैतादेशानापत्तिरिति वाच्यम् । ‘एतेतावथोः’ इति न्यासं कृ-
त्वा अकारादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये परे इदमेतदोः एत-इत इत्यादेशौ स्त

बोध्यम् । एकशब्दो द्विशब्दसाहचर्यात्संख्यावाच्येव । एकग्रहणन्त्यत्वेक-
वचनमुत्सर्गः कर्तव्यस्तेनाव्ययेभ्यः पचतिकल्पमित्यादौ च व्यर्थैकवच-
नप्रयोगासिद्धिरिति “तद्धितश्च” इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

बहुषु ॥ बहुशब्दोऽत्र द्वित्वादिपराङ्मान्तसंख्यानां व्यापको यो
धर्मविशेषो बहुत्वं तत्परः । बहुवचनन्त्वाश्रयगतबहुत्वं धर्मे आरोप्य
कृतम् । तेन वैपुल्यवाचिनो न ग्रहणम् । दारा इत्यादौ त्ववयवादि-
गतबहुत्वस्यावयविन्यारोपो बोध्यः । स च कोशवृद्धव्यवहारानुसारे-
णैवेति नातिप्रसङ्गः । ‘भर्तृदारयोरप्तेजसोः’ इत्यादौ वृत्तौ तु द्विवचनमे-
व । आरोपे मानाभावात् । अत एव व्येकयोरिति सङ्गच्छते । एतेनैक-
स्मिन्नपि गुरवः समागता इत्यादि समर्थितम् । अन्वर्थसञ्ज्ञयैव सिद्धे
इदं सूत्रद्वयं स्पष्टार्थम् । राम इति । रत्ने एकदेशविकृतन्यायेन* सुबन्त-
तया पदत्वादिसर्गः ।

सरूपाणामे ॥ “वृद्धो यूना” इति सूत्रादेवकारोऽपकृष्यत* इत्याह—

इत्यर्थेनादोषात्, इति चेन्न । सदा सर्वदा इत्यादौ दाप्रत्ययस्य सुप्संज्ञायां
“सर्वस्य सुपि” इत्याद्युदात्तापत्तेः । कतरशब्दात् ण्यन्तात्किपि तस्मा-
त्तसिल्लप्रत्यये ‘कतस्त’ इत्यादौ तसिल्लः सुप्त्वेन रोःसुपि इति नियमाद्विसर्गाभा-
वेन सत्वानापत्तेश्चेति दिक् । *एकदेशविकृतन्यायेनेति* । स्थानिव-
द्भावेनेत्यर्थः ।

सरूपाणामे । *अपकृष्यत इति* । स्यादेतत्—सरू-
पाणामिति निर्धारणे षष्ठी । सारूप्यवदारब्धसमुदायघटकानामित्यर्थः । तत्र न
तावत् अपकृष्टैवकारः सारूप्यवदारब्धसमुदायघटकानामित्यनन्तरं योजयितुं
शक्यः । सारूप्यवदारब्धसमुदायघटकानामेवैकः शिष्यते इत्युच्यमाने एव-
पदवैयर्थ्यापत्तेः । नापि सारूप्यवदारब्धसमुदायानन्तरं योजयितुं शक्यः ।
सारूप्यवदारब्धसमुदायमात्रघटकानामित्युच्यमाने ऽप्येवपदवैयर्थ्यापत्तेः ।
नापि सारूप्यवदित्यनन्तरं योजयितुं शक्यः । सारूप्यवन्मात्रारब्ध-
समुदायघटकानामित्युच्यमानेऽपि जननीपरिच्छेत्तृवाचिनोर्मातृशब्दयोर्भ्यामा-
दौ समुदायस्य सारूप्यवन्मात्रारब्धत्वेनैकशेषापत्तेः । नापि सारूप्या-
नन्तरं योजयितुं शक्यः । सारूप्यमात्रवदारब्धसमुदायघटकानामित्युच्यमा-
ने मृगीवाचकहरिणीशब्दस्य वर्णवाचकहरिणीशब्दस्य तद्धितादौ वैरूप्य-
सत्त्वेन ‘हरिणीहरिणी’ इति समुदाये सारूप्यमात्रवदारब्धत्वस्याभावेन तयो-
रेकशेषानापत्तेः, इति चेन्मैवम् । विभक्तौ परतः सारूप्यमेव येषां दृष्टं
तेषामेकः शिष्यते इति सूत्रार्थकरणेनादोषात् । तथाच—हरिणीशब्दयोर्विभक्तौ

परतः सारूप्यस्यैव दर्शनादेकशेषः सिद्ध्यति । मातृशब्दयोस्तु-औजसादिषु
वैरूप्यदर्शनान्नैकशेष इति दिक् ।

अत्रेदं विचार्यते- विभक्तौ परतः सारूप्यमेव येषां तेषां
तत्त्वं किम् ? । न तावत् स्ववृत्ति-विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वसमानाधिकरण-
यावद्रूप-वत्त्वसम्बन्धेन स्वविशिष्टत्वं तत्त्वम् । नित्यबहुवचनान्ताक्षत-
शब्दस्य क्षतशून्यार्थकसर्वविभक्त्यन्ताक्षतशब्दस्य चैकशेषानापत्तेः । वि-
भक्त्यव्यवहितपूर्वत्वाविशिष्टसर्वविभक्त्यन्ताक्षतशब्दवृत्त्येकविंशतिरूपत्रत्वस्य
नित्यबहुवचनान्ताक्षतशब्दे ऽभावात् । नापि स्वाव्यवहितोत्तरत्वप्रका-
रकयावद्विभक्तिविशेष्यकसम्भावनाप्रयोज्यतावद्विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वप्रकारक-
यावद्रूपविशेष्यकसम्भावनाप्रयोज्यतावद्रूपवत्त्वप्रकारकसम्भावनाविशेष्यत्वसम्ब-
न्धेन स्वविशिष्टत्वं तत्त्वम् । यद्यस्मान्नित्यबहुवचनान्ताक्षतशब्दाद्यावत्यो
विभक्तयो भवेयुः तावद्विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्ववन्ति यावन्ति रूपाणि भवे-
युः तावद्रूपवानयं भवेदित्याकारकसम्भावनाविशेष्यत्वसम्बन्धेन निरुक्ताक्ष-
तशब्दयोः परस्परवैशिष्ट्यसत्त्वेन दोषाभावेऽपि संज्ञाभूतसर्वशब्दस्य स-
र्वनामसर्वशब्दस्य च स्वाव्यवहितोत्तरत्वप्रकारकयावद्विभक्तिविशेष्यिका या
सम्भावना अस्मात्संज्ञाभूतसर्वशब्दाद्यावत्यो विभक्तयो भवेयुरित्याकारिका
तादृशसम्भावनाप्रयोज्या या तावद्विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वप्रकारकयावद्रूप-
विशेष्यिका सम्भावना तावद्विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्ववन्ति यावन्ति रूपा-
णि भवेयुरित्याकारिका तादृशसम्भावनाप्रयोज्या या तावद्रूपवत्त्वप्रकारि-
का सम्भावना 'तावद्रूपवानयं भवेत्' इत्याकारिका तादृशसम्भावनाविशे-
ष्यत्वसम्बन्धेन परस्परं वैशिष्ट्यसत्त्वेनैकशेषापत्तेः । न चेष्टापत्तिः । यथा
समाननगरे समानैव वृत्तिर्येषां तेषामेको गुरुर्भवति अन्ये तस्य शिष्या भ-
वन्ति इति वाक्यस्य काश्यां प्रयागे गयायां च व्यत्ययेन याजनाध्यापनप्र-
तिग्रहान् कुर्वन्तो ब्राह्मणा न विषयाः तथा विभक्तौ परतः सारूप्यमेव
येषां तेषामेकः शिष्यते अन्ये लुप्यन्ते इति वाक्यस्यापि संज्ञाभूतसर्वश-
ब्दसर्वनामसंज्ञकसर्वशब्दविषयकत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात् ; इति चेन्मैवम् ।

स्ववृत्तिरूपविशिष्टरूपवद्भिन्नत्वमिति , परिष्कारादोषात् । रूपवै-
शिष्ट्यञ्च रूपे-स्वभिन्नत्वं, स्वाश्रयप्रकृतिकविभक्तिवृत्तिविभक्तिविभाजकधर्म-
वद्विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वसमानाधिकरण्यमेतदुभयसम्बन्धेन । संज्ञाभूतस-
र्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञकसर्वशब्दस्य च नैकशेषः । स्वं संज्ञाभूतसर्वशब्दः
तद्वृत्तिरूपं 'सर्वाय' इत्यत्र 'सर्वा' इति तद्भिन्नत्वस्य-स्वाश्रयप्रकृतिकविभ-
क्तिवृत्तिविभक्तिविभाजकङ्गत्वावच्छिन्नाव्यवहितपूर्वत्वसमानाधिकरण्यस्य च
'सर्वस्मै' इत्यत्र 'सर्व' इत्याकारकरूपे सत्त्वेन स्ववृत्तिरूपविशिष्टरूप-
वद्भिन्नत्वरूपतत्त्वस्याभावात् । नित्यबहुवचनान्ताक्षतशब्देऽपि न दोषः ।
'अक्षतेभ्य' इत्यत्र 'अक्षते' इत्येतद्रूपभिन्नत्वस्य 'अक्षताय' इत्यत्र सत्त्वेऽपि स्वा-
श्रयप्रकृतिकभ्यस्ववृत्तिविभक्तिविभाजकभ्यस्त्वधर्मवद्विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वसा-
मानाधिकरण्यस्याभावेन निरुक्ततत्त्वस्य सत्त्वात् । एवं समाननगरे स-

मानैव वृत्तिर्येषां तेषां तत्त्वमपि स्ववृत्तिवृत्तिविशिष्टवृत्तिमङ्गिन्नत्वमिति परि-
ष्करणायम् । वृत्तिवैशिष्ट्यञ्च वृत्तौ स्वभिन्नत्वं स्वाश्रयनगरवृत्तिनगरत्वव्या-
प्यधर्मसामानाधिकरण्यमेतदुभयसम्बन्धेन ।

नचैवमपि मति-जराशब्दादावेकशेषानापत्तिः । तथाहि-स्ववृत्तिरूपं
'मत्यै' इत्यत्र 'मत्य्' इति तद्भिन्नत्वस्य, स्वाश्रयप्रकृतिकविभक्तिवृत्तिविभक्तिवि-
भाजकडेट्वधर्मावच्छिन्नव्यवहितपूर्वत्वसामानाधिकरण्यस्य च 'मत्यै' इत्यत्र
'मत्य्' इतिरूपे सत्त्वेन स्ववृत्तिरूपविशिष्टरूपवद्भिन्नत्वस्याभावादिति वाच्य-
म् । स्वभिन्नत्वमित्यत्र स्वविशिष्टभिन्नत्वमिति निवेशनादोषात् । वै० च स्वसा-
मानाधिकरण्यं-स्वाश्रयप्रकृतिकविभक्तिवृत्तिविभक्तिविभाजकधर्मवद्विभक्त्यव्य-
वहितपूर्वत्वसामानाधिकरण्यमेतदुभयसम्बन्धेन । मत्य् इत्येतद्रूपसामानाधि-
करण्यस्य, एतद्रूपाश्रयप्रकृतिकविभक्तिवृत्तिविभक्तिविभाजकधर्मवद्विभक्त्यव्यव-
हितपूर्वत्वसामानाधिकरण्यस्य च 'मत्य्' इतिरूपे सत्त्वेन स्वविशिष्टभि-
न्नत्वस्याभावात् । संज्ञाभूत-सर्वनाम-सर्वशब्दयोरेकशेषवारणाय द्वितीयस-
म्बन्धदानम् । असम्भववारणायाऽऽद्यसम्बन्धदानम् ।

नचैवमपि नित्यैकवचनान्तैकशब्दस्य नित्यद्विवचनान्तद्विशब्दस्य
चैकशेषापत्तिः । द्वाभ्यामित्यत्र 'द्वा' इतिरूपविशिष्टभिन्नत्वस्य 'एकस्मै' इ-
त्यत्र 'एक' इति रूपे सत्त्वेऽपि स्वाश्रयप्रकृतिकविभक्तिवृत्तिविभक्तिविभाजक-
धर्मवद्विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वस्याभावादिति वाच्यम् । स्ववृत्तिरूपविशिष्टरूपव-
द्भिन्नत्वे सति स्ववृत्तिरूपविशिष्टरूपवत्त्वं तत्त्वमिति परिष्कारेणादोषात् । सत्यन्त-
दले रूपवैशिष्ट्यमुक्तमेव । द्वितीयदले रूपवै०-च रूपे स्वाश्रयप्रकृतिकविभक्तिवृत्ति-
विभक्तिविभाजकधर्मवद्विभक्त्यव्यवहितपूर्वत्वसामानाधिकरण्यसम्बन्धेनाद्विती-
यदलदानादेकद्विशब्दयोनैकशेषः । प्रथमदले रूपे रूपवैशिष्ट्यघटकस्वविशि-
ष्टभिन्नत्वसम्बन्धदानात् मतिजरादिशब्दानामेकशेषः सिद्धः । स्वविशिष्ट-
भिन्नत्वघटकवैशिष्ट्ये स्वाश्रयप्रकृतिकेत्यादिसम्बन्धदानात् संज्ञाभूतसर्वश-
ब्द-सर्वनामसंज्ञकसर्वशब्दयोनैकशेषः । तत्रैव स्वसामानाधिकरण्यमात्रोक्ता-
वसम्भवः । रूपवैशिष्ट्ये स्वाश्रयप्रकृतिकेत्यादिमात्रोक्तावप्यसम्भव एवेति दिक् ।

परेतु एवकारापकर्षे न मानम् । अत एव "प्रातिपदिकानामेकशेषे
मातृमात्रोः प्रतिषेधो वक्तव्यः" माता जनयित्री, माता च परिच्छेत्ता, तयोरपि
क्वचित्सारूप्यं दृश्यते इति प्रातिपदिकैकशेषे एव शङ्का कृता न तु विभक्त्यन्तै-
कशेषादिकल्पे भाष्ये । अन्यथा ऽस्मिन्कल्पे इव तेष्वपि कल्पेषु "मातृमात्रोः
प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति वचनमारब्धव्यं स्यात् । अत एव "किमुच्यते प्रातिप-
दिकानामेकशेषे मातृमात्रोः प्रतिषेधो वक्तव्य इति, न पुनर्यस्यापि विभक्त्य-
न्तानामेकशेषः तेनापि मातृमात्रोः प्रतिषेधो वक्तव्यः स्यात् । तस्यापि
ह्येतानि क्वचिद्विभक्त्यन्तानि सरूपाणि मातृभ्यां च मातृभ्यां चेति । अथ
मतमेतद्विभक्त्यन्तानां सारूप्ये भवितव्यमेवैकशेषेणेति प्रातिपदिकानामेक-
शेषे दोषो भवति" इति भाष्यं सङ्गच्छते । अन्यथा एकस्य सूत्रस्य
व्याख्याभेदेन एकस्यैव लक्ष्यस्य साधुत्वमसाधुत्वं च स्यात् । एतद्भाष्यै-
कधाक्यतया मातृमात्रोः प्रतिषेधो वक्तव्य इति सामान्यत आरब्धमपि

सरूपाण्येवेति । तेन जननीपरिच्छेत्तृवाचिनोर्मातृशब्दयोर्भ्यामि*नैकशेषः* । न चैकविभक्ताविति व्यर्थम् । यानि सरूपाण्येवेत्युक्त्वैवोक्तदोषवारणादिति वाच्यम् । हरिणस्त्रीवाचकहरिणीशब्दस्य हरितवर्णविशिष्टस्त्रीवाचकहरिणीशब्दस्य चैकशेषानापत्तेः । पुंवद्भावेन तद्धितादौ वैरूप्यात्* । दृष्टानीति । लौकिके प्रयोगे इति शेषः । एकशेषश्चायमनैमित्तिकत्वेनान्तरङ्गत्वाद्भिभक्त्युत्पत्तेः पूर्वमेवेति एतद्विषये द्वन्द्वप्राप्तिरेव नेति बोध्यम् ।

वार्त्तिकं सर्वनामस्थानविभक्तिपरत्वविषयं बोध्यम् । अन्यथा विभक्त्यन्तैकशेषवादिमते मातृभ्यामित्यादावेकशेषो भवति, प्रातिपदिकैकशेषवादिमते एकशेषो न स्यादिति फलभेदः स्यात् । तथा च जननीपरिच्छेत्तृवाचकयोर्भ्यामि सारूप्यसत्त्वात्प्रातिपदिकैकशेषवादिमतेऽप्येकशेषो भवत्येव । केवलं सर्वनामस्थाने एव न भवति तत्र वैरूप्यात् । नच “मातृमात्रोः प्रतिषेध” इति वार्त्तिके एकशेषाकरणेनैवकारापकर्षोऽस्तीति गम्यते । अन्यथा ओसि जननीपरिच्छेत्तृवाचिनोः सारूप्यसत्त्वेन “मात्रोः प्रतिषेधो वक्तव्यः” इत्येव वक्तव्यं स्यादिति वाच्यम् । अनुकरणस्वरूपभङ्गभियैकशेषाकरणेनादोषादित्याहुः ।

अत्रेदमवधेयम् । सरूपाणामिति निर्धारणे षष्ठी । निर्धारणषष्ठी-प्रकृत्यर्थस्य च निर्धार्यमाणे स्वघटकत्वं- स्वघटकनिर्धार्यमाणत्वाभिमतत-रावृत्तिविधेयवत्त्वमेतदुभयसम्बन्धेनान्वयः । यथा नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठ इत्यत्र निर्धारणषष्ठीप्रकृत्यर्थस्य नृत्वावच्छिन्नसमुदायस्य स्वघटकत्वं द्विजे तथा स्वघटकनिर्धार्यमाणत्वाभिमतद्विजेतरशूद्रावृत्ति यच्छैष्यं तद्वत्त्वमपीत्यु-भयसम्बन्धेन निर्धार्यमाणे द्विजे ऽन्वयः । प्रथमसम्बन्धोपादानेन नृणां सिंहः श्रेष्ठः इत्यादिप्रयोगो न । तत्र द्वितीयसम्बन्धोपादानेन नृणां ब्राह्मणः प्रमेयः इत्यादि च न । तत्र निर्धारणषष्ठीप्रकृत्यर्थनृसमुदायघटकनिर्धार्यमाणत्वाभिमतब्राह्मणेतरशूद्रादिवृत्तित्वेन विधेयस्य प्रमेयत्वस्य तदवृत्ति-विधेयवत्त्वाभावात् । निरूपयिष्यते चेदं “यतश्च निर्धारणम्” इतिसूत्रव्याख्यावसरे विस्तरेण । तथा च प्रकृते निर्धारणषष्ठीप्रकृत्यर्थ-सारूप्यवत्समुदायघटकनिर्धार्यमाणत्वाभिमतैकत्वसंख्याविशिष्टेतरस्याप्रसिद्धेरन्वयानुपप-त्या शब्दबोधासम्भवः । एकत्वस्य केवलान्वयित्वात्, इति चेन्न । एकशब्दस्य प्रथमवाचकस्य प्रकृतसूत्रे ग्रहणेन तदितरद्वितीयादीनां प्रसि-द्ध्या ऽन्वयसम्भवेनादोषात् । एकशब्दस्य च प्रथमवाचकत्वं वृद्धैरुक्तम्-एको ऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।

साधारणे समाने ऽल्पे संख्यायाञ्च प्रयुज्यते इति ॥

भ्यामीति । भ्यामि सारूप्यसत्त्वेऽपीत्यर्थः । *नैकशेष इति* । सर्वासु च विभक्तिष्वेकशेषो न भवतीत्यर्थः । *वैरूप्यादिति* । हरिण-स्त्रीवाचकहरिणीशब्दस्य हारिणेति, हरितवर्णविशिष्टस्त्रीवाचकहरिणीश-

ननु *तन्त्रेणैव सिद्धेरिदं व्यर्थम् । अक्षा भज्यन्तां भुज्यन्तां दी-
व्यन्तामित्यत्राक्षा इति कारकस्य सकृदुपादाने ऽपि सर्वत्रान्वयः । त-
न्त्रकारणं तु शब्दानां तुल्यरूपता* । एवमक्षो* भज्यतां भुज्यतां दीव्यता-
मित्यपि । तन्त्रं द्वेधा-शब्दतन्त्रमर्थतन्त्रञ्च । शब्दस्य पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वे*
आद्यम् । यथा-अक्षा इत्यादौ । तत्सहत्वे* त्वन्त्यम् । यथा-घटा इत्यादौ ।
तत्राक्षा भज्यन्तां भुज्यन्तामित्यादावन्वयिपदार्थभेदाद् बोद्धुरावृत्त्यैव बो-
धः । उच्चारणन्तु तन्त्रेण । अन्वयिपदार्थस्यैकत्वे तु *एकोपस्थित्यैवान्वयः ।
यथा-अक्षान्पश्य, घटान् पश्येत्यादौ; इति चेत्सत्यम् । सरूपाणामेक-
शेष एवेतिनियमार्थत्वात् । तत्फलन्तु प्रत्यर्थ* शब्दनिवेशस्यापि द-
र्शनेन कदाचित्तादृशप्रयोगे प्राप्तद्वन्द्वस्य निवृत्तिः । स चायं नियमो विभ-

व्दस्य हारितेति वैरूप्यादित्यर्थः । *तन्त्रेणैवेति* । नानाफलकसमाना-
कारकानेकव्यापाराणां मध्ये ऽनेकफलोद्देशेनैकव्यापारकरणं तन्त्रम् । *तु-
ल्यरूपतेति* । स्ववृत्तिधावणप्रत्यक्षाविषयतावच्छेदकधर्मेणेत्यर्थः । एतेन बहुव-
चनसङ्गावे एव तन्त्रेण निर्देशो नान्यथेति परास्तम् । तदाह-*अक्ष इति* । न-
न्वत्राक्षशब्दस्य शकटाक्षविभीतकाक्षदेवनाक्षेतिबह्वर्थकत्वेन बहुवचनापत्तिरिति
चेन्न । विभक्त्यन्तस्य तन्त्रस्वीकारेण विशिष्टस्याप्रातिपदिकत्वेन बहुवचना-
प्राप्तेः । *पर्यायपरिवृत्त्यसहत्वे इति* । पर्यायस्य या परिवृत्तिः स्वप्रयोगा-
भावेऽपि स्वबोध्ययावत्सु प्रवृत्तिस्तस्यासहत्वे इत्यर्थः । यस्य शब्दस्य
तन्त्रेण निर्देशः कर्तव्यः तत्पर्यायशब्दान्तरासम्भवे शब्दतन्त्रमिति यावत् ।
तत्सहत्वे इति । यस्य शब्दस्य तन्त्रेण निर्देशः कर्तव्यस्तत्पर्यायश-
ब्दान्तरासम्भवे अर्थतन्त्रमिति यावत् ।

वस्तुतस्तु प्रवृत्तिनिमित्तनिष्ठैकप्रकारतानिरूपितनानाविशेष्यताको
बोधो यत्र सम्भवति तत्रार्थतन्त्रम् । यथा-घटा इत्यादौ । अत्र हि घ-
टत्वनिष्ठैकप्रकारतानिरूपितनानाघटानिष्ठविशेष्यताकबोधसम्भवादर्थतन्त्रम् ।
प्रवृत्तिनिमित्तनिष्ठनानाप्रकारतानिरूपितनानाविशेष्यताको बोधो यत्र तत्र
शब्दतन्त्रम् । यथा-घटा इत्यत्रैव घटत्वानिष्ठनानाप्रकारतानिरूपितनानाघटानि-
ष्ठविशेष्यताकबोधसम्भवात् । नानार्थस्थले च शब्दतन्त्रमेव । यथा-अ-
क्षा इत्यादौ । अत्र हि प्रवृत्तिनिमित्तस्यैकस्याभावेन प्रवृत्तिनिमित्तनिष्ठ-
नानाप्रकारतानिरूपितनानाविशेष्यताकबोधस्यैव सम्भवादिति दिक् ।

एकोपस्थित्यैवेति । एकरूपपुरस्कारेण नानार्थोपस्थित्योपस्थि-
तेषु तेषु समभिव्याहृतपदार्थान्वयसम्भवादित्यर्थः । *प्रत्यर्थमिति* । अत्रा-
र्थपदेन प्रवृत्तिनिमित्तनिष्ठप्रकारता ग्राह्या । तथा च यावत्तः प्रवृत्तिनि-
मित्तनिष्ठप्रकारतास्तावच्छब्दप्रयोगः कर्तव्य इत्यर्थः । अत एव घटोऽयं
घटोऽयं घटोऽयमिति प्रवृत्तिनिमित्तनिष्ठप्रकारताभेदेनैकप्रवृत्तिनिमित्तस्थले-

क्तौ यानि सरूपाण्येव* तद्विषयः, सहविवक्षाविषयश्च ।

अतः* एव विभक्त्यन्तानामेकशेष इति पक्षे 'द्वन्द्वप्रति-
षेधो वक्तव्य' इत्याशङ्क्य 'अनवकाश एकशेषो द्वन्द्वं बाधि-
ष्यते' इति भाष्ये उक्तम् । किं चासहविवक्षायामपि तत्प्रवृत्तौ
सहविवक्षायां द्वन्द्वस्येवान्यत्र कर्मधारयस्यापि बाधापत्तौ * 'सा-
रवसारवोर्मिज' इत्यादिप्रयोगविरोधापत्तिः । असहविवक्षाविषयेण वि-
भक्त्यन्ततन्त्रेण ब्राह्मणाभ्यां* कृतं देहि, पयो* जरयतीत्यादि, नीलोत्पल-
स्पर्धिनी* नेत्रे तनुर्वा हरेरिति वत् * विद्वन्मानसहंसेति वच्चेष्टमेवेति बोध्यम् ।
न चासहविवक्षायां तन्त्रसत्त्वे 'इदित' इति गुरुनिर्देशो व्यर्थः । अन्यपदार्था-
वगतये* तत्सत्त्वात् । इद्यस्य धातोरिति करणे तु गौरवम् । एतच्च सूत्रं
भाष्ये प्रत्याख्यातम्* अर्थावयौ प्रति यदर्थानर्थान्प्रति च * यत्तदपि प्र-
त्यर्थमेवेत्याश्रयणेन । अनेकघटादिपदानां साहित्ये वृत्तिरेव नानभिधा-
नात् । एकस्यैव त्वनेकार्थस्य तत्र वृत्तिरभिधानस्वाभाव्यादिति तदाशयः ।
“द्विर्वचनेऽचि” इत्यादावेकशेषशब्दस्तु भाष्ये तन्त्रपरः । स चोच्चारयितुः,

ऽपि नानाशब्दप्रयोगः कृतो भाष्ये । *सरूपाण्येवेति* । अत्र यद्वक्तव्यं त-
त्पूर्वमेवावोचाम । एकशेषस्य सहविवक्षाविषयकत्वे प्रमाणं दर्शयति- *अत
एवेति* । *सारवसारव इति* । आरवैः सहिताः सारवाः, सरव्यां भवाः
सारवाः । सारवाश्च ताः सारवाश्चोर्मयस्तासु जात इत्यर्थः । *ब्राह्मणा-
भ्यामिति* । तृतीयान्तं चतुर्थ्यन्तश्च । *पय इति* । प्रथमान्तं द्वितीया-
न्तं च । *नेत्रे तनुर्वा हरेरिति* । काव्यप्रकाशे लिङ्गवचनश्लेषोदाहरणमि-
दमुक्तं नवमोल्लासे । *विद्वन्मानसहंस इति* । विदुषां मानसाभिन्नं य-
न्मानसं सरस्तत्रत्यहंसेत्याद्यर्थः । अत्र शब्दानां तुल्यरूपत्वस्य कारणस्य
सत्त्वात्तन्त्रम् । तदुक्तम्—

“अक्षादिषु यथा भिन्ना भक्षिभञ्जिदिविक्रियाः ।

प्रयोगकालाभेदेऽपि प्रतिभेदं पृथक् स्थिताः ॥

अक्षाणां तन्त्रिणां तन्त्रे उपायस्तुल्यरूपता” इति ।

अन्यपदार्थावगतये इति । चिन्त्यमिदम् । चक्षिङ्धातौ नुस्वारणाय
'इच्चासाविच्च' इति कर्मधारयसमासं स्वीकृत्येदन्तधातोर्नुम् भवतीति
“इदितो नुम् धातोः” इतिसूत्रार्थस्याऽऽवश्यकत्वात् । *प्रत्याख्यातमिति* ।
अत्र प्रातिपदिकतन्त्रमाश्रित्यैव प्रत्याख्यानं बोध्यम् । मातृमात्रोस्तु अनभिधाना-
न्नैकशेषः । एतेन प्रत्याख्यानमेकदेश्युक्तिः । विभक्त्यन्ततन्त्रे ब्राह्मणाभ्यामित्यत्र
करणत्वविशिष्टब्राह्मणद्वयस्य सम्प्रदानत्वाविशिष्टब्राह्मणद्वयस्य प्रतीतिरिति
ब्राह्मणचतुष्टयप्रतीतिवत् मातृभ्यामिति तृतीयाद्विर्वचनेनापि मातृचतुष्टयस्य प्रती-
त्यापत्त्या फलभेदात् । एकशेषे तु मातृद्वयस्य प्रतीतिः स्पष्टैवेति परास्तम् । *अर्था-

बोद्धुस्त्वावृत्तिरेवेति बोध्यम् ॥

एकविभक्तावित्यत्रैकपदं तु स्पष्टार्थम् । एकस्यामपि विभक्तौ यानि विरूपाणि नेत्यर्थं स्पष्टं बोधयितुम् । ध्वनितश्चेदं विभक्तिः सारूप्ये उपलक्षणमिति भाष्ये एकपदानुच्चारणेन । समाहारद्वन्द्वविषये तु नैकशेषः । 'एकवच्चास्यान्यतरस्याम्' इत्यनेनैकशेषविषयपदानां समाहारे *वृत्त्यभावबोधनात् । 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादौ तु जातिपक्षेणैव निर्वाहः* । अत एव तत्र व्यक्तिपक्षे 'यं कश्चिद् ब्राह्मणमहत्वा कृती स्यात्' इति दूषणं* भाष्ये उक्तम् ।

शेषशब्दार्थश्चेतरनिवृत्तिपूर्वकमवस्थानं तदाह—एक एवेति । एकेति लुप्तविभक्त्यन्तं पृथक्पदम् । अत एव तत्र सरूपाणामित्यस्यान्वयः । तत्रावस्थानस्य सिद्धतया निवृत्तिरेव विधेया । तत्र "शिष्यमाणं लुप्यमानार्थाभिधायि" इति न्यायेन श्रूयमाणपदवृत्त्या बोधः । धातुषु तु नास्य प्रवृत्तिः । एकनिष्ठानेकव्यापाराणामिवानेकनिष्ठानामप्येकधातुत एव निवृत्तभेदानां प्रतीत्या ऽनेकधातुप्रयोगाप्रसक्तेः ।

सरूपाणां किम् । घटपटौ । शेष इत्येतन्मात्रोक्तौ द्विबहोरपि शेषः प्रसज्येत । एक इत्येतावदुक्तौ त्वेक आदेश इत्यर्थः स्यात् । तथा चाश्वश्चाश्वश्चेत्यादौ कदाचित् द्व्युदात्तवत्त्वद्वयनुदात्तवत्त्वरूपसाम्यमादायोभयस्वरितैकादेशः* प्रसज्येत । न च "अक्षस्यादेवनस्य" इति फि-

वर्थौ प्रति यदर्थानर्थान् प्रति चेति* । अत्राप्यर्थपदेन प्रवृत्तिनिमित्तनिष्ठप्रकारतैव ग्राह्या । *वृत्त्यभावबोधनादिति* । नचान्यतरस्यांग्रहणसामर्थ्येन इतरेतरयोगविषये एव वृत्तिर्नैति कस्मान्न कल्प्यते, तावतापि अन्यतरस्यामित्यस्य सार्थक्यसम्भवादिति वाच्यम् । सरूपाणामित्यादिनिर्देशाऽन्यथाऽनुपपत्त्या एकशेषविषयपदानां समाहारे वृत्तिर्नैति कल्पनाया एवोचितत्वात् । *निर्वाह इति* । 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादौ ब्राह्मणत्वनिष्ठैकप्रकारतानिरूपितनानाविशेष्यताकबोधतात्पर्येणैदं ब्राह्मणपदमुच्चरितमित्यर्थतन्त्रेण निर्वाह इत्यर्थः । *दूषणमिति* । आवृत्तिमकृत्वा तन्त्रं चानङ्गीकृत्य ब्राह्मणत्वनिष्ठैकप्रकारतानिरूपितैकविशेष्यताकबोधपरत्वे इत्यर्थः । *स्वरितैकादेश इति* । ननु इश्च इश्चेत्येकशेषे इकारैकादेशस्यालरूपत्वाद् "अलोऽन्त्यस्य" इत्यन्त्यस्यैव कृते सवर्णदीर्घे च पूर्वसवर्णस्य "दीर्घाञ्जसि च" इति निषेधेन यणादेशे 'यौ' इति स्यात् । शेषग्रहणसत्त्वे तु 'ई' इति भवतीति लक्ष्यदोषसत्त्वे किमर्थं स्वरदोषपर्यन्तानुधावनमिति चेन्न । लोपश्च इतिवत् एकश्च इति विवक्षणेन शित्वात्सर्वादेशे 'ई' इति लक्ष्यस्य निर्वाधात् । विवरणकारास्तु

सूत्रेण शकटाक्षे आद्युदात्तस्य देवनाक्षे “फिष” इत्यन्तोदात्तस्य चैकशेषे कदाचिदन्तोदात्तस्यापि शेषः स्यादिति वाच्यम् । *‘स्वरभिन्नानां यस्योत्तरस्वरविधिः’ इति वचनेनैव निर्वाहात् । एकादिदशान्तसंख्यावाचिनामेकशेषद्वन्द्वाव*नभिधानान्न भवतः । विंशत्यादौ त्विष्ट एवैकशेष इत्यलम् ॥

चुटू ॥ “आदिर्जिदुडवः” इत्यत आदिरिति “षः प्रत्ययस्य” इत्यतः प्रत्ययस्येति चानुवर्तते तदाह-प्रत्ययाद्याचिति* । तेन वाचाटे नेत्त्वम् । प्रत्ययेति किम् । चामरादाविस्त्वं मा भूदिति* । चुञ्चुप्चणपोर्यादित्वात्* परनिमित्तयलोपस्य बहिरङ्गासिद्धत्वात्प्रत्ययादित्वाभावाच्चेत्त्वम् ॥

न विभक्तौ ॥ “इलन्त्यम्” इत्यस्य निषेधोऽयम्* । अनित्यमिदं थमोर्मकारपरित्राणार्थादुदित्करणात् । तेन “किमोऽत्” क इति सिद्धम् । प्राग्दिशीयत्वादयं विभक्तिः । अत एव दानीमो मस्य नेत्त्वमिति नव्याः । भाष्ये तु प्राग्दिशीयेष्वस्याप्रवृत्ताबुदिस्त्वं ज्ञापकमित्युक्त्वा “दानीश्च” इति सूत्रे लोपोव्योरिति लोपेन यकारं प्रक्षिप्येत्सञ्ज्ञा वारिता । अन्यत्रानित्यत्वस्य *फलाभावाच्चैवमेवोक्तम् । लोपस्यासिद्धत्वाच्च नान्त्यत्वमिति बोध्यम् । विभक्तौ किम् । “अचो यत्” ।

रमागमन्यायेन सरूपाणामिति बहुवचनश्रुत्या प्रत्येकं स्थानित्वात्सर्वनिवृत्तेरदोष इत्याहुः । *स्वरभिन्नानामिति* । स्वरा भिन्ना येषामिति विग्रहः । भिन्नस्वरकाणामिति यावत् । *अनभिधानादिति* । सङ्कलितसंख्यातात्पर्येणेत्यर्थः । अत एव “ऊकाल” इति सूत्रे शेखरे ‘एकद्वित्रिमात्राणाम्’ इति प्रयोगः सङ्गच्छते इत्वादि तत्रैव निरूपितम् ।

चुटू । *प्रत्ययाद्याचितीति* । प्रत्ययबोधकाद्यावित्यर्थः । *माभूदिति* । न च चामरशब्दचकारस्येत्सञ्ज्ञायामपि चितः प्रत्ययस्यैवान्तोदात्तत्वविधानान्न दोष इति वाच्यम् । चित्त्वसामर्थ्येन प्रत्ययत्वाभावेऽपि अन्तोदात्तत्वं भविष्यतीति कल्पनापत्त्या दोषात् । *यादित्वादिति* । तथा च प्रत्ययबोधकाऽऽदित्वस्य चुञ्चुप्चणवादौ चकारोऽभावाच्च दोष इति भावः । समाधानान्तरमप्याह-*परनिमित्तेत्यादि* । वस्तुतस्तु बहिरङ्गासिद्धत्वस्य नोपयोगः । प्रत्ययबोधकाऽऽदित्वस्याभावादेवेत्सञ्ज्ञाया अप्राप्तेः ।

निषेधोऽयमिति । अनन्तरस्य विधिरिति न्यायादिति भावः । *फलाभावादिति* । नच “इतोऽत्” “औत्” इत्यादौ “न विभक्तौ” इति निषेधाप्रवृत्तये सामान्यतः थमोरुकारोच्चारणेन नविभक्ताविति निषेधानित्यत्वं कल्पनीयमिति वाच्यम् । “तपरस्तत्कालस्य” इति शास्त्रेण ‘अत्’ ‘औत्’ इत्यादी-

अतो गुणे ॥ “उस्यपदान्तात्” “इत्यतोऽपदान्तादिति” एङि पररूपम्” इत्यतः पररूपमिति चानुवर्त्तते । पुरस्तादिति । अत एव “नादि-चि” इतीज्ग्रहणं चरितार्थम् । तद्धि रामाः रामानित्यादौ निषेधाभावाय । पररूपेण पूर्वसवर्णदीर्घवाधे हि तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । नोत्तरानिति । अनन्तरापेक्षयोत्तरान् *व्यवहितानित्यर्थः ।

एकवचनं सं ॥ “सुः सम्बुद्धिः” इत्युचितम्* । “सम्बोधने च” इत्यतः सम्बोधन इत्यनुवृत्तेः सप्तमीबहुवचने न दोषः* । सम्बुद्धौ अङ्गस्य गुण इति व्यवहाराच्च तदन्तस्य सञ्ज्ञा* । तस्मात्पारायणादावदृष्टार्थमेवं न्यास इति बोध्यम् । सम्बुद्ध्याक्षिप्तस्येति । सम्बुद्धेः प्रत्ययत्वेन यस्मात्स विहितस्तदादीत्यंशोपस्थितिः । स चात्र योग्यतया पञ्चम्यन्त इति भावः । प्रत्यये गृह्यमाणे यस्मात्स विहित इत्याद्युपतिष्ठतइति “प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहित” इत्यादिपरिभाषार्थ इति “अङ्गस्य” इति सूत्रे

नां सञ्ज्ञात्वेनादोषात् । *व्यवहितानिति* । उत्सर्गकर्तृकव्यवधानवत् इत्यर्थः ।

उचितमिति । नच सप्तमीबहुवचनसुपोऽपि “सुः सम्बुद्धिः” इति न्यासे सम्बुद्धिसञ्ज्ञापत्तिरिति वाच्यम् । तदनुबन्धकपरिभाषया दोषाभावात्*न दोष इति* । वस्तुतस्तु सुः सम्बुद्धिरित्यत्रानुनासिकोकारनिर्देशेन बहुवचनसुपो व्यावृत्त्या तन्न्यासकलपे सम्बोधन इत्यनुवृत्तेः फलं राम इत्यत्र प्रथमैकवचनस्य लोपो नेति बोध्यम् । *न तदन्तस्य सञ्ज्ञेति* । यादृशसञ्ज्ञापुरस्कारेण प्रत्ययानामङ्गाधिकारे निमित्तत्वेनोपादानं तत्सञ्ज्ञाशास्त्रे तदादिविशेष्यकतदन्तविधिर्न भवतीति ज्ञापनादिति भावः । नच सञ्ज्ञाविधाविति तदन्ताविधिनिषेधादेतत्कल्पनाया नोपयोग इति वाच्यम् । इयं परिभाषाऽनुपयुक्तेति तात्पर्येणैतद्ग्रन्थप्रवृत्तेः । अत एव “अर्थवदधातुरप्रत्ययः” “प्रथमचरमतया” “विभाषा प्रकरणे तीयस्य” “कृत्तद्धित” “कृन्मेजन्तः” “तद्धितश्चा” “क्त्वातो” “स्त्रामन्त्रितम्” इत्यादिषु तदन्तविधिः सिध्यति । अन्वया निरुक्तस्थलेषु तदन्तविधिसिद्धये महान् यत्नः कर्त्तव्यः स्यादिति गौरवं स्यात् ।

नच “कृत्तिङ्” “ते तद्वाजाः” “ज्यादयस्तद्वाजाः” “तिङ्शित्सार्वाधातुकम्” “आर्धधातुकं शेषः” “लिट् च” इत्यादौ एतत्परिभाषाऽभावे तदन्तविधिः स्यादिति वाच्यम् । चतुर्थपञ्चमयोः प्रातिपदिकादित्यधिकारसत्त्वेन तृतीयाध्याये धातोरित्यधिकारसत्त्वेन च “प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्या” इतिपरिभाषया तदन्तविधिनिषेधस्य सिद्धत्वात् । नच “कृत्तवत् निष्ठा” इत्यादौ तदन्तविधिः स्यादिति वाच्यम् । कृपदस्य प्रत्ययमात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकत्वाभावेन कृवतुपदस्य च प्रत्ययबोधकत्वाभावेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषायास्तत्राप्रवृत्तेः ।

भाष्ये स्पष्टम् । अनुमानरूपाऽऽक्षेपस्तु नात्र फलाभावात् । यथा पीनत्वानुपपत्त्याऽनुमीयमानरात्रिभोजनस्य पीनत्वोपपत्तिः फलं, न तथा एतत्सूत्रे तदनुमानेन सम्बुद्ध्युपपत्तिर्भवति । किं च प्रत्ययस्योत्पत्तावङ्गापेक्षत्वेऽपि ज्ञाने तदपेक्षत्वाभावेन शास्त्रे तदाक्षेपे मानाभावः । अत एवाङ्गस्येति सूत्रे तत्स्थाने प्रत्यय इत्यधिकारः कार्य इति पक्षे प्राकरोदित्यादौ उपसर्गात्पूर्वमडादिः स्यादित्याशङ्क्य प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेरिति परिभाषोपस्थित्या समाहितं भाष्ये न त्वङ्गाक्षेपेणेति दिक्* ॥

अङ्गस्य—उक्तार्थस्य । हल्ङ्याबिति सूत्राद्धलित्यनुवर्त्तते । हेकतरदिति । प्रकृत्यकारस्य टिलोपेनापहारादिति भावः । न न्वङ्गात्परस्याः संबुद्धेरवयवस्य हलो लोप इत्युचितम्, संबुद्ध्याक्षिप्तस्य संबुद्ध्यैवान्वयस्योचितत्वादत आह—कुलेतीति । अत्र परत्वात्पूर्वरूपे

नचैवमपि “षः प्रत्ययस्य” इत्यादौ तदन्तविधिः स्यादिति वाच्यम् । तत्र प्रत्ययपदस्य प्रत्ययबोधकपरत्वेन प्रत्ययबोधकबोधकत्वेऽपि प्रत्ययमात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकत्वरूपप्रत्ययबोधकत्वाभावेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया अप्रवृत्तेः । नचैवमपि “ईदूदेद् द्विवचनम्” इत्यादौ तदन्तविधिप्रसङ्ग इति वाच्यम् । श्रुतानुमितपरिभाषया ईदूदेदित्यस्य द्विवचने एव विशेषणेन सत्यपि तदन्तविधौ क्षत्यभावात् । नचैवमपि “तरप्तमपौ घः” इत्यादौ तदन्तविधिप्रसङ्गो दुर्वार इति वाच्यम् । “परौ तरप्तमपौ घः” इतिन्यासेन कस्मात् पराविति नियतावध्याकाङ्क्षायामुपस्थितप्रातिपदिकादित्यस्यान्वयेन प्रत्ययग्रहणे चेति परिभाषया तदन्तविधेरभावादिति दिक् ।

दिगिति नन्वङ्गस्याऽऽक्षेपाभावे कतरदित्यादौ दोषो दुरुद्धरः । ह्रस्वान्ततदाद्यव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टस्य सम्बुद्ध्यवयवहलः सत्त्वात् । भवामि भविष्यामीत्यादौ दीर्घसम्पत्तये तदादेरित्यत्र स आदिर्यस्येति बहुव्रीहेरावश्यकत्वात् । नच ह्रस्वान्ततदादेरित्यस्य सम्बुद्धौ विशेषणत्वेन न दोष इति वाच्यम् । कुलेत्यादौ मकारस्य लोपानापत्तेः; इतिचेन्मैवम् । एङ्साहचर्यात् ह्रस्वस्यापि सम्बुद्ध्यनवयवस्य ग्रहणेनादोषात् । वस्तुतस्तु एवं साहचर्येण कतरदित्यादौ दोषवारणे तदादेरित्यस्योपस्थित्या शेखरोक्तमङ्गाक्षेपस्य खण्डनं वृथैव स्यात् । तस्मात् अङ्गसंज्ञासूत्रे तदादिपदेन प्रत्ययाव्यवहितपूर्वस्यैव ग्रहणात् तन्मूलकपरिभाषायामपि प्रत्ययाव्यवहितपूर्वस्यैवादितानिरूपकस्य ग्रहणम् । ततश्च कतरत् इत्यादौ अकारान्तस्य तदव्यवहितपूर्वत्वाभावान्न दोषः । भवामीत्यादौ मिप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वं प्रकृतिनिष्ठाऽऽदितानिरूपकत्वं च शब्धान्तसमुदायस्य स्पष्टमेवेति दिक् ।

अत्रेदं बोध्यम् । अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन अङ्गत्वव्याप्यत्वस्य सम्बुद्धौ सत्त्वेन तथा ऽङ्गाक्षेपेऽपि आक्षिप्तस्य शाब्दबोधे ऽनन्वयात् कतरदित्यादौ दो-

उभयत आश्रयणे ऽन्तादिवद्भावाभावात्तत्स्वीकारे ऽपि* ह्रस्वसंबुद्धयोः पौर्वापर्यव्यवहारासम्भवात्, *ताद्रूप्यानतिदेशाच्च ह्रस्वान्ताङ्गात्परसम्बुद्धेरभावान्मलोपो न स्यात् । एवञ्च लक्ष्यानुरोधादन्याक्षिप्तस्याप्यन्यत्रान्वय इति भावः । एतदर्थमेव “ह्रलुप्यते सम्बुद्धेश्चेत्” इति व्याख्यातम् । मस्य सम्बुद्धित्वाभावाद् । अर्द्धविकारेणैकदेशविकृतन्यायेनापि न संबुद्धित्वम् । एकवचनसङ्गासंबुद्धिसंज्ञयोरक्तपरिमाणनिष्ठतया त-

षवारणं साहचर्यमन्तरा न सम्भवतीति परममूलोक्तं न सम्यक् । शेखरोक्तखण्डनं तु न सम्यक् । अनुमाने व्याप्तिज्ञानस्यैव कारणत्वेन व्याप्येन व्यापकानुमाने बाधकाभावात् । न च श्रुतार्थापत्त्या ऽङ्गस्येत्यस्याक्षेप इति परममूलोक्तं सङ्गतमेवेति वाच्यम् । तदभाववत्तानिश्चयमुद्रया तदभावव्याप्यवत्तानिश्चयमुद्रया वा परस्परविरुद्धयोर्धर्मयोर्विरोधपरिहारस्यैवार्थापत्तेः फलत्वेन तादृशविरुद्धधर्मद्वयोपादानस्याभावेनार्थापत्तिविषयत्वस्यात्राभावात् । शेखरोक्तं फलाभावेन परममूलोक्तखण्डनं तु न युक्तम् । पीनो देवदत्त इत्यादौ पीनत्वोपपत्तिरूपफलवद् अङ्गाक्षेपेण प्रत्ययत्वोपपत्तिरूपफलस्य सत्त्वात् । किञ्चेत्याद्युक्तं शेखरोक्तमसङ्गतमेव । धूमोत्पत्तौ वह्नेरपेक्षासत्त्वेऽपि धूमज्ञाने वह्नेरनपेक्षणेन धूमेन वह्नेरनुमानस्यासङ्गत्यापत्तेरिति दिक् ।

अत्रेदं तत्त्वम्-कतरदित्यादौ अदृङि डित्करणसामर्थ्यादेव अदृङादेशाकारमादाय प्राप्तसम्बुद्धिलोपवारणम् । न चादृङो डित्करणं “प्रथमयोः पूर्वसवर्णः” इति पूर्वसवर्णदीर्घबाधनार्थमिति वाच्यम् । लुकि विधातव्ये अदादेशविधानसामर्थ्येन पूर्वसवर्णदीर्घवारणेन डित्करणवैयर्थ्यस्य सुस्थत्वात् ।

अन्ये तु एङ्साहचर्याद् ह्रस्वः प्रकृत्यवयवो गृह्यत इति कतरदित्यादौ न दोषः । सम्बुद्ध्यनवयवत्वेन साहचर्यं स्वीकृत्य कतरदित्यादौ दोषवारणं तु न सम्यक् । कुलेत्यादौ परादिवद्भावेन सम्बुद्धित्वात् सम्बुद्ध्यनवयवह्रस्वाभावेन लोपानापत्तेरित्याहुः ।

तत्स्वीकारेऽपीति । “उभयत आश्रयणे” इति परिभाषाया अनङ्गीकारेण एकास्मिन्नादेशे अन्तवत्त्वादिवत्त्वोभयस्वीकारेऽपि व्यपवर्गबुद्धेरभावादित्यर्थः । *ताद्रूप्यानतिदेशादिति* । अन्तादिवृत्तियों वर्णत्वव्याप्यो धर्मः तद्वद्विधर्मस्यानतिदेशादित्यर्थः । वस्तुतस्तु चिन्त्यमिदम् । क्षीरपेणेत्यादौ पे इत्यत्रैकाजुत्तरपदत्वस्यातिदेशाय “अन्तादिवृत्तिर्वर्णमात्रवृत्तिस्तत्स्थानिकादेशावृत्तिश्च यो धर्मस्तद्वद्विधर्मो नायाति” इति ‘ताद्रूप्यानतिदेशाद्’ इत्यस्यार्थस्य वक्तव्यतया ह्रस्वत्वे ऽन्तादिवृत्तित्ववर्णमात्रवृत्तित्वोभयसत्त्वेऽपि तत्स्थानिकादेशावृत्तित्वस्याभावेन ह्रस्वान्तत्वस्यातिदेष्टुं शक्यत्वात् । निरूपितश्चायमर्थो-ऽन्तादिसूत्रव्याख्यावसरे विस्तरेणेति तत एवावधार्यताम् ।

योस्तेन न्यायेनालाभाच्च । मकारस्यादेशत्वाभावाच्च* नात्र स्थानिवद्भावः । अत एव राममित्यादौ “सुपि च” इति दीर्घो न । न च संबुद्धित्वस्य सकारमात्रनिष्ठत्वेन स्थानिभूतालधर्मत्वेनामः संबुद्धित्वाभावे* कथं मस्य संबुद्ध्यवयवत्वमिति वाच्यम् । सुप्सज्ज्ञाया उकारविशिष्टे सत्त्वेन तदुपस्थाप्ये जायमानैकवचनसज्ज्ञाया विशिष्टे सत्त्वेन संबुद्धिसज्ज्ञायामित्सज्ज्ञोकारविशिष्टस्यैवोद्देश्यत्वेन तस्यानलिवधित्वात् । एतेनाद्वादेशेनैव नपुंसकत्वाभिव्यक्तौ कुलेतीति व्यर्थमित्यपास्तम् ।

आदेशत्वाभावादिति । ननु “अतोम्” इत्यत्र ‘म्’ इतिच्छेदः क्रियत इति कल्पे स्थानिवद्भावेन सम्बुद्धित्वमायास्यत्येव । एतत्कल्पे ज्ञानमित्यादौ “सुपि च” इति दीर्घापत्तिस्तु “अदन्तमङ्गं निमिचीकृत्य जायमानो मादेशस्तद्विधातकं “सुपिच” इतिदीर्घं प्रति निमित्तं न भवति” इत्यर्थकसन्निपातपरिभाषया वारणीया । न च रामायेत्यादौ “सुपिच” इतिदीर्घसम्पत्तये “सुपिचेति दीर्घविषये सन्निपातपरिभाषा न प्रवर्तते” इति कल्पनाज्ज्ञानमित्यादौ दीर्घो दुर्वारः स्यादिति वाच्यम् । कष्टायेतिनिर्देशेन सन्निपातपरिभाषाप्रयोज्ये “स्वोपजीव्यविघातकत्वाभाववान्” इति सङ्कोचे “ङेर्यः” इत्येतन्मात्रभिन्नत्वेन सङ्कोचं कृत्वा सङ्कुचितसङ्कोचस्य “सुपिच” इत्यत्र करणेन ज्ञानमित्यादौ दीर्घवारणात् । अत एव ‘सुपिचेति दीर्घो यद्यपि परस्तथापीह न प्रवर्तते’ इति कौमुदीग्रन्थस्सङ्गच्छते, इति चेन्न । सुपिचेत्यत्र सन्निपातपरिभाषाप्रयोज्ये “स्वोपजीव्यविघातकत्वाभाववान्” इति सङ्कोचे “ङेर्यः” इत्येतन्मात्रभिन्नत्वेन सङ्कोचं कृत्वा सङ्कुचितसङ्कोचे प्रमाणाभावेन ज्ञानमित्यादौ सुपिचेति दीर्घापत्तेस्तदवस्थतया “म्” इतिच्छेदस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अत एव मादेशकल्पे “कुण्डाम्” इति प्राप्नोति इति दीर्घापत्तिरुक्ता भाष्ये । “न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति” इति “उच्चैरुदात्त” इतिसूत्रस्थभाष्येण मकारमात्रस्यादेशत्वासम्भवाच्च ।

*सम्बुद्धित्वाभावे इति । “अतोऽम्” इत्यत्र स्थानितायाः सुत्वावच्छिन्नत्वेनालत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नत्वस्याभावाद्, सम्बुद्धित्वस्य ‘हे कतरद्’ इत्यादौ अदितिसमुदाये सत्त्वेनालत्वव्याप्यत्वाभावाच्च अलत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नस्थानितानिरूपितादेशताश्रयधर्मिकारोपप्रकारीभूतधर्मेण साक्षादवच्छिन्ना या उद्देश्यता तदुद्देश्यताके कार्ये कर्तव्ये स्थानिवन्न भवतीत्यर्थकानलविधावित्यस्य, अतिदिदिक्षितालत्वव्याप्यधर्मघटितधर्मस्यातिदेशो न भवतीति द्वितीयार्थकानलविधावित्यस्य च प्राप्त्यभावेन सम्बुद्धित्वैकवचनत्वे स्थानिवद्भावेनायास्यत एवेति चिन्त्यमिदम् । आरोपप्रकारीभूतसम्बुद्धित्वेन “एङ्स्वात्सम्बुद्धेः” इतिशास्त्रीयोद्देश्यतायाः साक्षादनवच्छिन्नत्वाच्च ।

एङ्ग्रहणं किमिति । हरे विष्णो इत्यादावङ्गाधिकारस्थात् *पर-
निमित्तापेक्षाच्च गुणात्पूर्वं ह्रस्वान्तत्वादेव मिद्धिः । सेप्रभृतीनां सम्बोधने
प्रयोगसत्त्वे* एङ्ग्रहणेनैव सिद्धेः प्रत्याहारग्रहणं व्यर्थमिति प्रश्नः ।
हरे इति । सामर्थ्यादेवात्र सन्निपातपरिभाषा न । गुणात्संबुद्धेरिति
वक्तव्ये एङ्ग्रहणग्रहणसामर्थ्याच्च । अत एव 'हे लक्ष्मि' इत्यादौ लोपसि-
द्धिः । "परस्वात्" इति अभ्युच्चयः । "नित्यत्वाच्च" इति चेनान-
वकाशत्वसङ्ग्रहः* । नपुंसके त्रपो इत्यादावस्यापि लुका बाध इत्यन्यत् ॥

अमि पूर्वः ॥ पूर्वसवर्ण इत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे पूर्वग्रहणं तु राममि-
त्यादौ द्विमात्रवारणाय ॥

लशक्नु ॥ समाहारद्वन्द्वः । अतद्धिते किम् । "कर्णललाटात्कनल-
ङ्कारे" कर्णिका । किञ्चफलन्त्वादिदृष्टिः स्यात् । आदिग्रहणाद् वृङ्ः
पाकनो न । तस्य किञ्चे गुणो न स्यात् ।

तस्माच्छ ॥ पुंसीति पञ्चम्यर्थे सप्तमी । पुंसो विहितस्येत्यर्थः,
*तत्र विद्यमानाद्विहितस्येत्यर्थो वा । तस्मादिति किम् । एतान् गाः प-

*परनिमित्तापेक्षाच्चेति । चिन्त्यमिदम् । "एङ्ग्रहणाद्" इत्यत्रापरनिमि-
त्तकत्वस्य सत्त्वेऽपि "अचस्तास्वद्" इत्यादिसुत्रस्थभाष्यसङ्गमनाय 'अपूर्वनिमि-
त्तकत्वे सति' इत्यस्य 'अपरनिमित्तकत्वमन्तरङ्गत्वम्' इत्यत्रावश्यं निवेशनीयतया
लोपस्याऽपूर्वनिमित्तकत्वाभावात् । अपरनिमित्तकैङ्ग्रहणादिति शास्त्रस्य,
परनिमित्तकस्य "ह्रस्वस्य गुणः" इति शास्त्रस्य चाधीयमाणशब्दसमुदायस्य
अन्यूनानतिरिक्तत्वाभावाच्च । निरूपितं चेदमन्तरङ्गपरिभाषाटिप्पणे । *प्रयो-
गसत्त्वे इति* । 'नहि पदान्तादेङो रुस्ति' इति भाष्यप्रामाण्येन एकारान्ता-
नामनभिधानमेवेति बोधनायेदम् । *अनवकाशत्वसङ्ग्रह इति । तदप्राप्तियोग्ये
ऽचारितार्थरूपबाधबीजस्य सत्त्वादिति भावः । वस्तुतस्तु सम्बुद्धिलोपे कृते
प्रत्ययलक्षणेन गुणस्य चारितार्थ्यादनवकाशत्वादित्यसमञ्जसमेव ।

अमि पूर्वः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया "यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि"
इत्युपतिष्ठते, तच्च पञ्चम्यन्तं षष्ठ्यन्तं वा । आद्ये तदादेः परीभूतो योऽम्यच्
तस्मिन् परतः पूर्वरूपमित्यर्थः । अन्त्ये अगन्ततदादेरम्यचि परतः पूर्वरूप-
मित्यर्थः । अत एव 'हे देवदत्त अम्' इत्यादावनेन पूर्वरूपं न ।

*तत्र विद्यमानाद्विहितस्येति । पुंस्त्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकबोधता-
त्पर्य्येणोच्चरिताद्विहितस्येत्यर्थः । 'प्रधानाप्रधान-' इति न्यायात् । अत एव
राजकुमारीः पश्येत्यादौ नानेनादेशः । अन्यथा राजकुमारीशब्दस्य पुंस्त्वा-
वच्छिन्नविषयताकबोधतात्पर्य्येणोच्चरितत्वेन तस्माच्छसो नकारो दुर्वारः
स्यात् । एतान् गाः पश्येति* । "अकः सवर्णे" इति सूत्रादीर्घपदम्-

इयम् । पुंसि किम् । मतीः ॥

अट्कु ॥ बाधितुमिति । तेन पर्याणद्धमित्यत्र “उपसर्गादसमा-
सेऽपि” इति णत्वसिद्धिरिति भावः । अयोगवाहानामिति । न विद्यते
योगो वर्णसमाभ्याये येषान्ते ऽयोगाः । अनुपदिष्टत्वादुपदिष्टैरगृहीत-
त्वाच्चेत्यर्थः । ते च ते वाहयन्ति प्रयोगं निर्वाहयन्ति ते वाहाः । ते चा-
नुस्वारविसर्गजिह्वामूलीयोपध्मानीयमाः । अत एवोरःकेनेत्यादौ वि-
सर्गव्यवधाने ऽपि णत्वसिद्धिः । तदुक्तं भाष्ये—“नार्थो नुम्ग्रहणेनानुस्वारे
कृतेऽद्वयवाये इत्येव सिद्धम्” इति । आदर्शेनेत्यादौ तु नातिप्रसङ्गः ।
अडातिरिक्तव्यवायात् । “तस्माद्” इत्युपस्थितं निर्दिष्टग्रहणमेतत्समभिव्या-
हारे *अडादिव्यतिरिक्ताव्यवहितपरम् । तदुक्तं—“णत्वे ऽन्यव्यवाये प्रति-
षेधो वक्तव्यो, न वा ऽन्येन व्यवेतत्वात्” इति ग्रन्थेन । एतदुत्तरम् “अटा
व्यवायसत्त्वात्प्राप्नोत्येव, अटैव व्यवाये इत्यर्थात्” इत्यादिभाष्यमेकदेशि-
नोरुक्तिप्रत्युक्तिपरम् । “खुटुतुलशर्व्यवाये न” इति प्रतियोगिज्ञानसापेक्ष-
निषेधबोधकगुरुन्यासेन सिद्धे “अट्कुप्वाङ्” इत्युक्त्वा “एतैरेव व्यवाये”
इत्यर्थं वदता तस्यास्तदुक्तित्वध्वननात् । एतद्वार्तिकमतम् ।

भाष्ये तु “रषाभ्याम्” इति सूत्रे “ऋवर्णान्नस्य” इत्यस्य

नुवर्त्य पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणमय्य दीर्घात्परीभूतो यश्शसः सकारस्तस्य नका-
रादेशः स्यादित्यर्थेन लिह इत्यादौ दोषो नास्तीति प्रश्नकर्तुराशयः । वस्तुत-
स्तु दीर्घपदमनुवर्त्य पञ्चम्यन्तत्वेन विपरिणामेऽपि तस्य शस्येवान्वयः स्यात्
श्रुतत्वात् । तथा च रामानित्यादौ दीर्घात्परीभूतशसो ऽभावेन अव्याप्तिः
स्यादिति नायं प्रश्नकर्तुराशयः । किन्तु दीर्घपदमनुवर्त्य सकारं च प्रक्षिप्य
दीर्घात्परीभूतो यः शसः सकारस्तस्य नः स्यादित्यर्थकरणेन न दोष इति
प्रश्नाशय इति ।

अडादिव्यतिरिक्ताव्यवहितपरमिति । चिन्त्यमिदम् । “अट्-
कुप्वाङ्” इति सूत्रे अव्यवहितत्वांशस्य बाधात् तद्विकलांशस्योपस्थित्या अडा-
दीतरत्वेनाव्यवहितपदार्थे सङ्कोचस्य कर्तुमशक्यत्वात् । “तस्मिन्” इति “तस्मा-
त्” इति परिभाषे हि योऽंशो बाधितः सिद्धो वा तमंशं परित्यज्य अन्यांशविशिष्टे
उपतिष्ठते । यथा प्रत्ययविधौ परश्चेत्यधिकारेण उत्तरत्वांशस्य सिद्धत्वात् त-
दंशरहिता “तस्माद्” इत्युपतिष्ठते । यथा च “प्रत्ययस्थात्” इत्यादौ पूर्वस्ये-
त्युक्त्योत्तरत्वांशस्य बाधितत्वात्तदंशरहितोपतिष्ठते । एवं व्यवायेऽपीत्यु-
क्त्या ऽव्यवहितत्वांशस्य बाधितत्वात्तदनुपस्थितौ तत्र कथमडादीतरत्वेन
सङ्कोच इति विभाव्यताम् । तथा चादर्शेनेत्यादौ णत्वं दुर्वारमेवेति बोध्यम् ।

प्रत्याख्यानाय “व्यवाये” इति योगं विभज्य “अट्कुप्वाङ्नुमभिः” इत्येतत्
“एतैरेवाक्षरसमाप्नायिकैर्व्यवाये नान्यैः” इत्यर्थकं व्याख्यातम् । तदा
त्वादशेनेत्यादौ *प्राप्तिरेव नेति बोध्यम् । णत्वे इति । णकारे इत्यर्थः* ।

प्राप्तिरेव नेति । इदमपि चिन्त्यमेव । नियमस्थले हि नि-
यामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकं नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं
च यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन नियम्यशास्त्रे सङ्कोचं कृत्वा नियमशास्त्राणां
विधिमुखेन प्रवृत्तिरित्येकः कल्पः । अथ वा निरुक्तरूपावच्छिन्ने नियामक-
शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सङ्कोचं कृत्वा नञमध्याहृत्य नि-
यमशास्त्राणां निषेधमुखेन प्रवृत्तिरित्यपरः । तथा च प्रकृते आद्यकल्पे “व्यवाये-
ऽपि” इत्यत्र नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्य-अट्कुप्वाङिति नियामक-
शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकाक्षरसमाप्नायिकत्वावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन स-
ङ्कोचं कृत्वा “अट्कुप्वाङ्” इत्यस्य विधायकत्वे आदर्शेनेत्यादौ अडादिव्यव-
धानसत्त्वात् “अट्कुप्वाङ्” इत्यनेन, “अट्कुप्वाङ्” इत्यत्र वा ऽडादिकर्तृ-
कव्यवधानवद्भिन्नो य आक्षरसमाप्नायिककर्तृकव्यवधानवान् तस्य नस्य णत्वं
न भवतीति निषेधमुखेन प्रवृत्तौ “व्यवायेऽपि” इत्यनेन वा आदर्शेनेत्यादौ णत्व-
स्य तुर्वारत्वात् । अत एव “रषाभ्याम्” इति सूत्रभाष्ये मातृणामित्याद्यर्थं “णत्वे
ऋकारग्रहणं कर्तव्यम्” इति वार्तिकमुक्त्वा “अट्कुप्वाङ्” इति योगविभागेन नि-
यमं च स्वीकृत्य तद् वार्त्तिकं प्रत्याख्याय “अट्कुप्वाङ्” इति सूत्रे आदर्शेने-
त्यादौ णत्ववारणाय “अटा व्यवाये णत्वे अन्यव्यवाये प्रतिषेधो वक्तव्यः”
इति वार्त्तिकमुक्तम् । अन्यथा पूर्वसूत्रे एव आदर्शेनेत्यादौ नियमे-
नैव णत्ववारणादेतद्वार्त्तिकानुत्थानं स्यात् । भाष्यकारेण चोक्तम्—
“व्यवायेऽपीति योगो विभज्यते, अट्कुप्वाङिति नियमार्थम्” इत्यादि ।
अग्रे च “अटैव व्यवधाने भवति । किं वक्तव्यमेतत् ? । नहि । कथमनुच्यमानं
गंस्यते, अङ्ग्रहणसामर्थ्यात् । यदि हि अटा चान्येन च व्यवाये स्याद्,
अङ्ग्रहणमनर्थकं स्यात्, व्यवाये नो णो भवतीत्येव ब्रूयात् । अस्ति चान्यदङ्-
ग्रहणस्य प्रयोजनम् । किम् ? , यो ऽनिर्दिष्टैरेव व्यवायस्तत्र मा भूत-कृत्स्नम्,
मृत्स्नेति । यद्येवं प्रयोजनं स्यात् शर्व्यवाये नेत्येव ब्रूयात्” इति भाष्ये समा-
हितम् । “चुटुतुलशर्व्यवाये न” इति मूलोक्तं चिन्त्यमेव । भाष्ये अदर्शनात् ।
तस्माच्छर्व्यवाये नेत्येव सिद्धे अट्कुप्वाङिति गुरुन्यासकरणादट्कुप्वाङ्-
नुमभिरेव व्यवाये णत्वं भवतीति सूत्रार्थ इत्यादर्शेनेत्यादौ णत्वं न
भवतीति । नच शर्व्यवाये नेति न्यासकल्पे आर्होदित्यादौ णत्वं स्यात्, य-
थाश्रुतन्यासे चाडादिव्यवधानाभावाण्णत्वं न स्यादिति फलभेद इति वा-
च्यम् । तुशर्व्यवायेनेत्येव सिद्धे अट्कुप्वाङ् इति गुरुन्यासकरणेन निरुक्तार्थस्य
लाभात् । भाष्ये शर्व्यवाये नेत्यपि तुशर्व्यवाये नेत्यस्यैवोपलक्षणमिति दिक् ।
णकारे इत्यर्थ इति । अयं भावः—णपदस्य णत्वावच्छिन्नाभिन्नो

पदान्तस्य ॥ “न भाभू-” इति सूत्रान्नेति वर्तते । अत्र सूत्रे “अनन्तरस्य” इत्यादिव्यवस्थापकन्यायानामप्रवृत्तिर्बोद्ध्याः* । “अपदान्तस्य” इत्यनुवर्त्येतस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात् ।

यस्मात्प्र ॥ “यस्माद्” इति “तदादि” इतितच्छब्दाकाङ्क्षापूरणाय । तदादीति । तत्-प्रकृतिरूपमादिर्यस्येत्यर्थः* । प्रत्यासत्तिन्यायलब्धार्थमाह-तस्मिन्प्रत्यये* इति । ‘गुणः कृतात्मसंस्कारः’ इति न्यायेनात्रापि “तस्मिन्” इति परिभाषाप्रवृत्तिः* । प्रकृतिमात्रस्य तु व्यपदेशिवद्भावेन तदादित्वं बोध्यम् । स्त्री इयतीति । इदम्शब्दादुपि वस्य “किमिदंभ्यां वो घः” इति घादेशे तस्येयादेशे “इदं किमोः” इतीशि “यस्य” इति लोपे ङीपि इयतीति रूपम् । न च तत्र परतः स्त्रीशब्दस्येयङ्गाद्यापत्तिरूपो दोषो न, यस्येतिलोपस्याभीयत्वादसिद्धत्वेनात्र तदप्राप्तेरिति वाच्यम् । व्याश्रयत्वेनाभीयासिद्धत्वाप्राप्तेः । तत्र हि समानाश्रयत्वमसिद्धत्वाश्रयशास्त्रसम्बन्धिनिमित्तसमुदायान्यूनानतिरिक्ताश्रयकत्वम्* । अस्ति च यस्येतिलोपापे-

यो णपदवाच्यः तत्र शक्तिः । तथा च प्रत्ययप्रकृतिणपदजन्यबोधे णत्वावच्छिन्नस्य प्रकारीभूतत्वात् त्वप्रत्ययार्थोऽपि णकार इति । अत एव “कुत्वं कस्मान्न भवति” इति भाष्येऽपि कुपदस्य कवर्गाभिन्नो यः कुपदवाच्यः तत्र शक्त्या कुत्वं कस्मान्न भवतीत्यस्य कवर्गः कस्मान्न भवतीत्यर्थः । तथा च “वृद्धिरादैज्” इत्यादौ “कुत्वं कस्मान्न भवति” इत्यस्य सङ्केतसम्बन्धेन कुपदं कस्मान्न तिष्ठति इति प्रश्नाशय इत्याहुः ।

परे तु शब्दग्रहवादिमते धर्म्मा सर्वत्रैक एव सत्यज्ञानानन्दस्वरूपो ऽखण्डोऽखण्डानन्दैकरसः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमानिति तस्य विधातुमशक्यत्वात् धर्म्मा एव विधेयाः । तथा च कुत्वं कस्मान्न भवतीति यथाश्रुतमेव समीचीनम् । प्रत्युत कुर्भवतीत्यादेरेव कुत्वं भवतीत्यर्थः कर्त्तव्यः । तथा च णत्वे इत्यस्य णकार इत्यर्थ इति व्याख्यानमसमञ्जसमेवेत्याहुः ।

अप्रवृत्तिर्बोध्येति । सर्वणत्वविधिकाण्डानन्तरं णत्वनिषेधकाण्डारम्भादिति भावः । प्रमाणान्तरमप्याह-अपदान्तस्येत्यादि । *यस्येत्यर्थ इति* । प्रत्ययनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयनिष्ठाद्यवयवतानिरूपक इति भावः । *तस्मिन्प्रत्यय इति* । तथा च स्वनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयाद्यवयवकत्वं-स्वान्वयवहितपूर्वत्वमेतदुभयसम्बन्धेन प्रत्ययविशिष्टत्वमङ्गत्वमिति फलितम् । *परिभाषाप्रवृत्तिरिति* । औपश्लेषिकाधिकरणबोधकसप्तम्यन्तघटितत्वरूपतस्मिन्नितिपरिभाषाशास्त्रोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वादिति भावः ।

अन्यूनानतिरिक्ताश्रयकत्वमिति । तत्त्वञ्च यत्किञ्चिदाभीयशास्त्रविशिष्टम् । वैशिष्ट्यञ्च स्वविशिष्टत्वं-स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नत्वेन आश्रीय-

क्षया “स्त्रियाः” इति सूत्रेऽधिकस्य स्त्रीशब्दस्यापेक्षा । प्रत्यासत्त्याऽजादि-
प्रत्ययनिरूपिताङ्गे एवेयङ्प्रवृत्त्या स्त्रीशब्दस्य मुनिरूपिताङ्गत्वेऽपि न दोषः ।
विधिग्रहणादेव #भनक्तीत्यादौ “अतो दीर्घो यञि” इति न । तदादि-
ग्रहणं करोमीत्यादौ विकरणस्य गुणार्थम् । प्रत्ययविशिष्टस्येति ।
तथा सत्यङ्गेन प्रत्ययपरत्वलाभानापत्तौ वन्नश्चेत्यस्यासिद्धिः । किं च
राजपुरुष इत्यादौ “न लुमता” इति #निषेधात्पूर्वपदे पदत्वाभावेन नलो-
पानापत्तिरिति भावः । ततोऽप्यधिकस्य वेति । देवदत्त ओदनमपाक्षी-
दित्यादौ देवदत्तादिशब्दोत्तरमुप निमिचीकृत्य लुङ्पर्यन्तमङ्गत्वात्तस्य
लुङ्परत्वेन देवात्पूर्वमप्यडापत्तिः । अङ्गसञ्ज्ञायाः प्रत्ययनिमित्तत्वाभावेन
लुङादिनिरूपिताङ्गस्येत्यर्थस्य दुर्लभत्वादिति भावः ॥

टाडसि ॥ अङ्गस्येति षष्ठ्या “अतो भिसः” इत्यतोऽनुवृत्तेनात

माणो यावान् शब्दसमुदायः तत्समभिव्याहृतो यः तदघटितशब्दसमुदायाश्रय-
कत्वमेतदन्यतरसम्बन्धेन । प्रथमसम्बन्धवैशिष्ट्यं च स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकरू-
पावच्छिन्नोद्देश्यताकत्व-स्वीयविधेयतावच्छेदकरूपावच्छिन्नविधेयताकत्वोभय-
सम्बन्धेन । प्रथमसम्बन्धानुपादाने चिणोलुङ्गदृष्ट्या चिणोलुकोऽसिद्धत्वं
न स्यात् । द्वितीयसम्बन्धे ‘शब्दसमुदायः’ इति विशेषणानुपादाने जहीत्यादौ
“अतो हेः” इति दृष्ट्या, “हन्तेर्जः” इत्यस्यासिद्धत्वं न स्यात् । तयोरर्थे न्यूना-
धिकभावस्य सत्त्वात् । समभिव्याहृतइत्युपादानात् स्थान्यादेशयोः भिन्नस्व-
रूपमादाय न दोषः । एतेन यथाश्रुतमूलरीत्या जहीत्यादौ हेर्लुकि क-
र्त्तव्ये जादेशस्यासिद्धत्वानापत्तिः, चिणोलुङ्गदृष्ट्या चिणोलुकोऽसिद्ध-
त्वानापत्तिश्चेति परास्तम् । मूलोक्तान्यूनानतिरिक्तसमुदायाश्रयकत्वमित्यस्य
निरुक्तलक्षणोपलक्षणत्वात् । चङ्गायिता इत्यादौ यङन्ताल्लुटि “यस्य हलः”
इति लोपे कर्त्तव्ये “ये विभाषा” इत्यात्वस्यासिद्धत्वं न, तस्य लोपापेक्षया न्यू-
ननिमित्तकत्वात् । पपुष इत्यादौ “वसोः संप्रसारणम्” इति संप्रसारणस्य “आ-
तो लोपः” इत्यालोपे कर्त्तव्ये नासिद्धत्वम् । संप्रसारणस्य अधिकापेक्षत्वात् ।

#भनक्तीत्यादाविति# । अयम्भावः-प्रत्ययेऽङ्गमित्येव सिद्धे यस्मात्
प्रत्ययस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गमिति करणाद् यदवधिकपरत्वावच्छिन्नविधेयताश्रयो
यः प्रत्ययः तस्मिन् परतः तदादि अङ्गसञ्ज्ञं स्यादिति स्त्री इयतीत्यादौ स्त्रीशब्दा-
वधिकाव्यवहितपरत्वावच्छिन्नविधेयताश्रयत्वस्य वतुप्यभावात् स्त्रीशब्दस्याङ्गस-
ञ्ज्ञा न प्राप्नोतीति विधिग्रहणं किमर्थमिति प्रश्नः । भनक्तीत्यादौ “मिदचोऽन्त्या-
द्” इति परिभाषया भकारोत्तराकारावधिकपरत्वावच्छिन्नविधेयताश्रयत्वस्य
इनमि सत्त्वेनाकारस्याङ्गसञ्ज्ञायाम् “अतो दीर्घो यञि” इति दीर्घापत्तिरिति भावः ।
#निषेधादिति । लुप्तप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वनिमित्तके इत्यर्थाभावेनेति शेषः ।

इत्यनेन पञ्चम्यन्तेन सामानाधिकरण्यानुरोधात्पञ्चम्या विपरिणाम इत्याह-अकारान्तादिति । अकारात्परेषामङ्गसञ्ज्ञानिमित्तदादीनामित्यर्थ इति पक्षान्तरं भाष्ये । किं चादन्तादङ्गादित्यर्थेऽपि ब्राह्मणभिस्सेत्यादावतिप्रसङ्गः । ब्राह्मणेत्यस्यापि “युवोरनाकौ” इति सूत्रभाष्योक्तरीत्या ऽन्तर्वर्तिविभक्त्याऽङ्गत्वात् । अर्थवत्परिभाषया प्रत्ययग्रहणपरिभाषया वा प्रत्ययस्यैव भिसो ग्रहणे त्वेषामङ्गाधिकारे पाठो व्यर्थः । भिसः प्रत्ययस्यैव ग्रहणे हि प्रत्यासत्त्या तन्निरूपिताङ्गस्य ग्रहणमिति युज्यते वक्तुं, नान्यथा । इदमेव हि “अतो भिसः” इत्यत्राङ्गाधिकारस्य प्रयोजनं भाष्ये दत्तमित्यलम् ॥

सुपि च ॥ “अतो दीर्घो यञि” इत्यनुवर्तते । यञीत्यनेनाल्तात्तदादिविधिरित्याह-यञादाविति ।

डेर्यः ॥ चतुर्थ्येकवचनस्यैव ग्रहणं व्याख्यानादित्याह-डे इत्येतस्येति । सन्निपातेति । उपजीव्यविरोधन्यायमूलैषा । सन्निपातः *संश्लेषस्तन्निमित्तको यो विधिः स तं सन्निपातं यो विहन्ति स तद्विधातस्तस्यानिमित्तमित्यर्थः । न च यजादित्वसापेक्षदीर्घस्य बहिरङ्गतया ऽसिद्धत्वान्नात्र सन्निपातविधात इति वाच्यम् । आरोपितासिद्धत्वे ऽपि वस्तुतस्तद्विधातस्य जायमानत्वेन तत्प्रवृत्तेः । *किं चान्तरङ्गे कर्तव्ये बहिरङ्गासिद्धत्वेऽपि तत्र कृते ऽसिद्धत्वे मानाभावः । *किं चातिदेशिक*संनिपातविधाताभावमादायैतदप्रवृत्तौ गौरीत्यादौ संबुद्धिलोपे ऽपि स्थानिवत्त्वेन ह्रस्वनिमित्तविधाताभावात्तत्रैतस्या अतिव्याप्तिपरभाष्याऽसङ्गतिः । सन्निपातस्याशास्त्रीयत्वान्नात्र स्थानिवत्त्वमिति चेत्तत्रासिद्धत्वमपि कथमिति वद ।

*संश्लेषइति । उपजीव्यमात्रस्योपलक्षणमिदम् । ननु शास्त्रे ज्ञानमेव प्रवृत्तिनिवृत्तिनियामकम् । अन्यथा अतिदेशशास्त्रप्रणयनं व्यर्थं स्यात् । तथा च “सुपिच” इति दीर्घस्य बहिरङ्गासिद्धत्वे तद्धर्मिकस्योपजीव्यविधातकत्वप्रकारकज्ञानस्य अभावाद् “डेर्यः” इति शास्त्रं “सुपिच” इति शास्त्रस्याऽभ्यनुज्ञां ददात्येवेत्यरुचेराह *किञ्चेति* । ननु रामायेत्यादौ यादेशस्य जातत्वेऽपि “डेर्यः” इति शास्त्रस्य—‘स्वप्रवृत्त्युत्तरकालिकप्रवृत्तिमता शास्त्रेण यस्य साधुत्वं बोध्यते तदपि साधु’ इति अभ्यनुज्ञादानसमये तत्समानकालप्राप्तिसुपिचेति शास्त्रस्याऽसिद्धत्वं वक्तुं शक्यते इत्यरुचेराह *किञ्चेति* । आतिदेशिकेति* । आतिदेशिकपदा-

कार्यस्य निमित्तं *ययोः सन्निपातस्तयोः* सूत्रे उपादानमपेक्षितमिति तु नाग्रहः । अत एव दाक्षिरित्यत्राकारान्तप्रकृतीञ्सन्निपातनिमित्ताऽङ्गसञ्ज्ञा ऽनयो परिभाषया ऽल्लोपस्य निमित्तं न स्यादित्याशङ्क्यानित्यत्वेन समाहितं भाष्ये कृन्मेजन्तसूत्रे । न ह्यङ्गसंज्ञायामदन्तस्याङ्गसञ्ज्ञेत्युक्तमस्ति । न च कष्टायेत्यस्य “अकृतसार्व” इति दीर्घेणोपपत्तेरनित्यताज्ञापकत्वं कथमिति वाच्यम् । तस्यापि सन्निपातपरिभाषयाऽप्राप्तेः । *विरोधाभावात्फले* विशेषाभावाच्च परत्वेऽप्यकृदिति नोपन्यस्तम् * । तस्याकृदित्यादिपर्युदासेनामुप्येव प्रवृत्तिरित्यन्ये ।

र्थतावच्छेदकातिदेशपदार्थे यदागमन्यायसिद्धातिरिक्तत्वेन एकदेशविकृतन्यायसिद्धातिरिक्तत्वेन च सङ्कोचः कर्त्तव्यः । अत एव येषाम्, तेषाम्, शैवः, गार्ग्य इत्यादौ सुडागमयस्येतिलोपौ सिद्धौ । अन्यथा विभक्ति निमित्तीकृत्य जायमानमत्वं तदानन्तर्यविघातकसुदप्रवृत्तिं प्रति, शिव(गर्ग)रूपप्रातिपदिकं निमित्तीकृत्य जायमानोऽण् (यञ्) तादृशप्रातिपदिकविघातकयस्येतिलोपं प्रति च निमित्तं न स्यात् । मम तु यदागमन्यायेन सामित्यत्र विभक्तित्वस्य, एकदेशविकृतन्यायेन यस्येतिलोपे ऽपि शिव(गर्ग)प्रातिपदिकत्वस्य सत्त्वान्नोपजीव्यविरोधः । अत एव “स एषां ग्रामणीः” इति निर्देशो, “वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तम्” इति वार्त्तिके वर्णाश्रयविशेषणं च सङ्गच्छते । *ययोरिति* । यद्रूपावच्छिन्नयोरित्यर्थः । *तयोरिति* । तद्रूपावच्छिन्नयोरित्यर्थः ।

विरोधाभावादिति । चिन्त्यमिदम् । रामायेत्यादौ “सुपि च” इति “अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः” इत्युभाभ्यामेकस्य दीर्घस्य विधातुमशक्यत्वादेकस्य शास्त्रस्य विधायकत्वमपरस्यानुवादकत्वञ्च वक्तव्यम्, तथा च कस्य विधायकत्वं कस्यानुवादकत्वमित्यत्र विनिगमकाभावाद् विरोधस्य सत्त्वात् । इत एवारुचेराह *फले इति* । *नोपन्यस्तमिति* । केचित्तु अकृतसार्वधातुकयोरिति पर्युदासाद्धातुत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रये यादौ प्रत्यये परतस्तेन दीर्घ इति नात्र तस्य प्राप्तिरित्याहुः । तन्न । कष्टायेत्यादौ दीर्घानापत्तेः ।

ननु “सुपि च” इति सूत्रं माऽस्तु, रामायेति सार्वधातुके इत्यस्याननुवृत्त्या “अतो दीर्घो यञि” इति दीर्घेण सिद्धम्; इति चेन्न । तत्र तदनुवृत्त्यभावे केशवः, अङ्गेनेत्यादौ दीर्घापत्तेः । न च आरकनि आकारोच्चारणसामर्थ्येन तद्धितेषु “अतो दीर्घो यञि” इत्यस्याप्रवृत्तिज्ञापनाच्च दोषः । अन्यथा शृङ्गवृन्दशब्दाभ्यां “शृङ्गवृन्दाश्रयमारकन्” इति सूत्रेण रकन्मात्रविधाने तस्य यजादित्वेनोक्तसूत्रेण दीर्घे शृङ्गारकः, वृन्दारक इत्यनयोः सिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव; इति वाच्यम् । शृङ्गशब्दात् णिजन्तात्किपि ततः प्रत्यये तत्राकारश्रवणार्थं तस्यावश्यकत्वात् । न चैतादृशरूपाणां रका सिद्धे आकारोच्चारणस्यान्य-

झलि किमिति । “उतो वृद्धिः” इत्यतो हलीत्येवानुवर्त्य सन्निपातपरिभाषया रामाणामित्यत्र न दोष इति प्रश्नः । झल्यग्रहणमेतत्वे सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तिज्ञापनार्थम् । तेन सर्वेषामित्यादावेत्वसिद्धिरित्युत्तरम् । एतेन “बहुवचने किं रामस्य” इति व्याख्यातम् । *रामाभ्यामित्यपि प्रत्युदाहरणं बोद्धव्यम् । “बहुवचने झलीक” इति तु न सूत्रितम् । ज्ञानयोरित्यादौ *नुमापत्तेः ।

तो विधानार्थत्वज्ञापनपरभाष्यप्रामाण्येन निजन्तप्रकृतिकिबन्तात्तद्धिताभावकल्पनेनानभिधानमेव । अन्यथा गोधाशब्दाणिच ततः किबन्ताद्वकि आरकि च फलभेदस्य स्पष्टतया भाष्यासङ्गत्यापत्तेः, इति वाच्यम् । वासुदेवार्जुनाभ्यां कन्विधानेन वासुदेवक इत्यादीनां सिद्धौ बुन्विधानस्य व्यर्थतापत्तेः । तद्धि वासुदेवशब्दाण्यन्तात्किबन्ताद्वासुदेवक इत्यर्थम् । न चेदानीं तदभिधानं, यदर्थं तत्सार्थकं स्यात् । किञ्च “आरगुदीचाम्” इति सूत्रस्थं भाष्यम् “आरगुदीचाम्” इत्यत्र आकारप्रश्लेषतात्पर्यकम् । तेन आकारान्तात् गोधाशब्दादित्यर्थः । तेन किबन्तेऽपि न फलभेदः । अन्यथा गोधाशब्दस्य ऋशब्देन समासे तस्य पूर्वान्तवस्त्वेन गोधाशब्देन ग्रहणे तत आरकि ‘गौधरार’ इत्यर्थमाकारस्यावश्यकत्वेन फलभेदावश्यंभावादिति दिक् ।

मूले बहुवचने किम् राम इति । ननु स्वौजसित्यत्र वौजसिति न्यासेन रामशब्दाद्गुप्रत्यये तस्य झलादित्वाभावेन नात्र दोषः । न चैवं तस्य यञादित्वेन “सुपि च” इति दीर्घापत्तिरिति वाच्यम् । सुपि चेत्यस्य स्थाने “आपि च” इति न्यासेन तस्य च तृतीयादिविभक्तावित्यर्थेन तदप्राप्तेः । न च छन्दसि प्रथमायाः “सुपां सुलुक्” इति यादेशे दीर्घानापत्तिः । छान्दसत्वेन तत्राऽऽपाद्यमानरूपाभावेनादोषात्, इतोऽरुचेराह *रामस्येति* । नन्वत्रापि “टाडसि” इति सूत्रेऽकारं निर्दिश्याऽस्यादेशे ‘अतो गुणे’ इति पररूपेण न दोषः । न चास्यादेशविधानेऽमुष्येत्यत्र सकारस्येणः परत्वाभावात्षत्वानापत्तिः । अद् अस्येत्यत्र मुत्वस्यासिद्धत्वात्पूर्वं पररूपे पश्चान्मुत्वे इणः परत्वेन सस्य षत्वसिद्धेः । नापि ‘अस्य’ इत्यत्र प्रत्ययस्य हलादित्वाभावेन हलिलोपानापत्तौ तदसिद्धिः । “आपि लोपोऽकः” “अन् टौसोः” इति न्यासेन सिद्धेः । इत्यरुचेराह *रामाभ्यामिति* ।

*नुमापत्तेरिति । ज्ञान ओसिति स्थिते “ओसि च” इत्यनेन इगागमे वार्णादाङ्गमितिपरिभाषया “इकोऽचि” इति नुमापत्तिरिति भावः । न च वार्णशास्त्रीयस्थानितावच्छेदकपर्याप्तयुगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकस्थानिताकत्वरूपसमानस्थानिकत्वस्य “इकोऽचि विभक्तौ” इत्यत्राभावाद् वार्णपरिभाषाया अप्रवृत्तौ अन्तरङ्गत्वाद् गुणे इगन्तत्वाभावान्नुमोऽप्रा-

जश्त्वमिति । बाधित्वेति शेषः । अवसाने चर्त्वस्य पदान्त-
जश्त्वापवादत्वात्* । द्वित्वे रूपेति । 'पूर्वत्रासिद्धमद्वित्वे' इति न्यायाच-
त्त्वोत्तरं द्वित्वं बोद्धव्यम् । तादेश इति । अन्यथा "खरि च" इति चर्त्वेन

सया ज्ञानयोरित्यादौ न दोष इति वाच्यम् । ज्ञानशब्देन अशब्देन समा-
से तस्मादाचारक्रिवन्तात्कर्तरि क्विपि नपुंसकइस्वे परमशब्देन समासे प-
रमज्ञान ओसिति स्थिते इकि जाते इयङि निरुक्तसमानस्थानिकत्वस्य स-
त्त्वेनेयङादेशापत्तेः । न च "परनेकाच" इति याणि निरुक्तं परमज्ञानयोरिति रूपं
सिध्यतीति वाच्यम् । सपूर्वपदस्य चेद् गतिकारकपूर्वपदस्यैवेति नियम-
परेण "गतिकारकपूर्वस्यैवेत्येते" इति वार्त्तिकेन यणोऽप्राप्तेरिति दिक् ।

टि० *सम्बुद्धिलोपानापत्तिरिति । न च गङ्गे इत्यादौ पञ्चमीसमासस्या-
नित्यत्वाद्प्रवृत्तौ एङन्तत्वादेव सम्बुद्धिलोपः सिध्यतीति न दोष इति वाच्यम् ।
एभिरित्यादौ भिस इटि हलादित्वाभावेन हलिलोपानापत्तेः । केचित्तु "आपि
लोपोऽकः" "अन् दौसोः" इति न्यासः क्रियते । हलीति न क्रियते । तथा च ए-
भिरित्यादौ न दोष इति 'बहुवचने झलीट्' इति न्यासः सम्यगेव । "हलि लोप"
इत्यत्र हल्ग्रहणाभावे प्रथमैकवचने "इदोऽय् पुंसि" "यः सौ" इत्याभ्याम्,
ओ-जस्-अम्-औट्-शस्सु "दश्च" इति बाधात् न तत्रातिप्रसङ्ग इत्याहुः ।

अपवादत्वादिति । तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थविशिष्टस्य कृतेचा-
रितार्थस्य सत्त्वादिति भावः । ननु "वाऽवसाने" इति चर्त्वस्य जश्त्वापवादत्वे
"रत्नमुट्" इति रूपं न स्यात् । "रत्नमुष्" इति दशायां जश्त्वचर्त्वयोः प्राप्तावपवाद-
त्वात्पूर्वं चर्त्वप्रवृत्त्या महाप्राणप्रयत्नसाम्येन षकाररूपे चर्त्वे तदभावपक्षे जश्त्वे
लक्ष्येलक्षणन्यायेन पुनश्चर्त्वाप्रवृत्तेः । "ष्णान्ता षट्" इतिनिर्देशानुपपत्त्या इष्टाप-
त्तिस्तु कर्तुं न शक्यते; इति चेन्न । उद्देश्यदलप्रविष्टविषयतावच्छेदकधर्मयोर्यत्र
व्याप्यव्यापकभावः तत्र माठरकौण्डिन्यन्यायप्रवृत्तौ तेन न्यायेन एकविनियो-
गोद्देशप्रयुक्तवाक्यकदम्बघटकव्यापकधर्मावच्छिन्नबोधकपदप्रतिपाद्यतावच्छे-
दकावच्छिन्ने तद्वाक्यकदम्बघटकव्याप्यधर्मावच्छिन्नबोधकपदप्रतिपाद्यताव-
च्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सङ्कोचात् । प्रकृते "जश्त्वचर्त्वे करवाणि" इति
विनियोगोद्देशेन प्रयुक्तः "झलं जश् झशि" "अभ्यासे चर्च" "खरिच" "वाऽवसा-
ने" इति वाक्यकदम्बस्तद्वट्टकव्यापकधर्मावच्छिन्नबोधकं झलपदं तत्प्रतिपाद्य-
तावच्छेदकझलत्वावच्छिन्ने चर्पदार्थतावच्छेदकचर्त्वावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सङ्कोचे
'रत्नमुष्' इति दशायां चरतिरिक्तझलोऽभावात् "वाऽवसाने" इत्यस्याप्रवृत्तौ
जश्त्वे "वाऽवसाने" इति चर्त्वे रत्नमुट् रत्नमुट् इतिरूपद्वयसिद्धेः । अत
एव शसिदद्योरेत्वाभ्यासलोपनिषेधः सङ्गच्छते । चरतिरिक्तझलामभावेन

(१) इटि तु गङ्गे इत्यादौ गुणे तस्य पञ्चमीसमासेन स्थानिवत्त्वात् "एङ्"
इत्यस्याप्राप्तौ व्यवधानाद् "हलङ्गयाब्" इत्यस्य चाप्राप्तौ *सम्बुद्धिलोपानापत्ति-
रिति केषु चित्पुस्तकेष्वधिकं पाठः ।

सिद्धाविदं व्यर्थं*स्यादिति भावः ॥

ह्रस्वन ॥ ह्रस्वनद्याप इति पञ्चमी । “आमि सर्वनाम्न” इत्यत आमीति वर्तते । तच्च षष्ठ्या*विपरिणम्यते नामीति लिङ्गादित्याह-ह्रस्वान्तादित्यादि । आभ्र षष्ठीबहुवचनमेव न तु डेरामादीति स्पष्टं भाष्ये ।

यत्तु नुडिति विभज्य सामान्येन नुड् विधेयः । नद्याप इति दीर्यान्ताच्चेन्नद्याप एवेति नियमार्थमिति दीर्घेषु न दोषः । हलन्ताच्चेत् षद्वचतुर्भ्य एवेति नियम इति हलन्तेषु न दोषः । एवञ्च ह्रस्वग्रहणं न कार्य-

“अभ्यासे चर्च” इत्यस्याप्रवृत्तेः । तथा च अनादेशादेरित्यत्र ‘आदेशो वैरूप्यसम्पादक एव गृह्यते’ इत्यादि न वक्तव्यम् । एतदर्थज्ञापकताया एव तस्योचितत्वादिति दिक् ।

इदं व्यर्थं स्यादिति । न च “अत्र उपसर्गात्” इति सूत्रात् इत्यनुवृत्त्या “सः स्यार्धधातुके” इति तादेशो घत्स्यतीत्यादौ ‘चयो द्वितीया’ इति द्वितीयादेशो भवति, चत्वे तु तस्यासिद्धत्वाद् द्वितीयादेशो न स्यादिति वाच्यम् । तावन्मात्रप्रयोजनकत्वे तपदे एतत्सूत्रपर्यन्तानुवृत्तिप्रयोजकस्वरितत्वमकृत्वा “सः स्यार्धधातुके” इत्यनेनादेशमात्रविधाने स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया सस्य स्थाने अर्थादेव तो भवतीति तस्यासिद्धत्वाभावाद् द्वितीयादेशसम्पत्तेः । एतत्सूचनायैव ‘सः सीति तादेश आरभ्यते’ इति तादेशपक्षोपादानम् । तादेशो न कर्त्तव्यः । तत्स्थाने आदेशमात्रं विधातव्यमान्तरतम्यात् त एव भवतीति कौमुद्यर्थः । नचैवमपि “सः स्यार्धधातुके” इत्यत्र तपदस्यानुवृत्त्यभावेन सकारस्य स्थाने कदाचित्तकारः कदाचित्सकारश्चाऽऽन्तरतम्याद्भविष्यति । त इत्यस्यानुवृत्तौ तु स एव भविष्यतीति फलभेद इति वाच्यम् । सकारादेशो तकारादेशो वा “खरि च” इति चर्त्तस्य दुर्वारतया तकारघटितस्य घत्स्यतीत्यस्य सम्पत्त्या तपदानुवृत्तौ अननुवृत्तौ वा फलभेदाभावादिति दिक् । “अन्तरतम” इत्यस्य “सादृश्यं” इत्यर्थात् सादृश्यस्य भेदघटितत्वेन सस्य स्थाने तकार एव भविष्यति न तु सकार इति वैधाकरणसिद्धान्तानभिज्ञस्य कस्यचित् शङ्कां दूरीकर्तुं “सादृश्यं न भेदघटितम्” इति सिद्धान्तमभिप्रेत्य ज्ञापकमुपन्यस्यति *अत एव सः सीति तादेश इति । इत्थं च आदेशमात्रविधाने कदाचित् सकारोऽपि स्यादिति शङ्का नोचिता । सादृश्यस्य भेदघटितत्वपक्षे सकारस्य स्थाने सकाराप्राप्तेः । वस्तुतस्तु पूर्वोक्तमाठरकौण्डिन्यायेन चरतिरिक्तत्वेन शल्पदार्थे सङ्कोचे सकारस्थाने चर्त्तं नैव प्राप्नोति । सः सीति तादेशविधानमपि न्यायप्रवृत्तावेवोपोद्बलकमित्याहुः ॥

विपरिणम्यत इति । वस्तुतस्तु विपरिणामाभावेऽपि “उभयनिर्देशो पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्” इति परिभाषया षष्ठ्यंशसहितायास्तस्मादितिपरिभाषाया उपस्थित्या षष्ठ्यंशविकलायास्तस्मिन्नितिपरिभाषाया उपस्थित्या

मिति; तन्न । नद्याप इत्यस्य*स्त्रीलिङ्गानाञ्चैनद्याप एवेति नियमपरतया ऽपि व्याख्यातुं शक्यत्वेन, नदीत्वात्त्वयोर्ह्रस्वेऽपि दृष्टत्वेन त्वदुक्तनियमे दृढतरमानाभावेन च मतीनामित्यादौ नुडनापत्तेः ॥

नामि॥ “दूलोपे” इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्त्तते। अङ्गस्येति किम्। चर्मणाम्।

नन्वामीत्येवास्तु—नित्यत्वात्पूर्वं दीर्घेऽपि ह्रस्वान्तान्नुद्धित्येतत्सा-
मर्थ्यात्*भूतपूर्वह्रस्वान्तत्वमादाय नुट्सिद्धेः । न च “नृ च”इति दीर्घ-
विकल्पान्नृगाभित्यत्र नुट् चरितार्थः । *नृनञाप इत्येव सिद्धेः । तदुक्तं

चामव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टं यद्ध्रस्वान्तमावन्तं न चान्तश्चाङ्गं तदव्यवहितोत्तरत्व-
विशिष्टस्य जुङ् भवतीत्यर्थेन सामञ्जस्यम् । * स्त्रीलिङ्गानां चेदिति * । वस्तु-
तस्तु कुमारीशब्दात्क्यजन्तात् किपि तस्मादामि कुमारीणां ब्राह्मणानामित्यत्र
कुमारीशब्दे स्त्रीलिङ्गत्वस्याभावेन न चान्तत्वस्य च सत्त्वेन, वनिताशब्दादा-
चारक्विन्तात्कर्त्तरि किपि वनितानां ब्राह्मणानामित्यादौ वनिताशब्दे स्त्री-
लिङ्गत्वस्याभावादावन्तत्वस्य च सत्त्वेन स्त्रीलिङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टा-
म्त्वे नियम्यनुडितिशस्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाम्त्वव्याप्यत्वस्य सत्त्वेऽपि निया-
मकनद्यापइतिशस्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकन चान्तावन्ताङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टा-
म्त्वव्यापकत्वस्य—न चान्तावन्ताङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टाम्त्वाधिकरण—कुमा-
रीणां वनितानां ब्राह्मणानाम् इत्येतद्घटक-वृत्त्यभावप्रतियोगित्वस्य स्त्रीलिङ्गाव्य-
वहितोत्तरत्वविशिष्टाम्त्वे सत्त्वेन अभावात् स्त्रीलिङ्गानां चेन्न चान्तावन्ताना-
मेवेति नियमो न सम्भवतीति मतीनामित्यादौ न दोषः । तस्मान्नियमद्वयाश्रय-
णे गौरवान्नद्याप इति न्यासः कर्तुं न शक्यत इत्येव वक्तव्यम् ।

॥ भूतपूर्वह्रस्वान्तत्वमिति ॥ पञ्चमीसमासेन स्थानिवद्भावाद् ह्रस्वान्त-
त्वातिदेशेनेति भावः । *नृनद्याप इत्येव सिद्धेरिति* । ननु ह्रस्वनद्यापे इति
ऽप्राप्तया यणि ब्रामिति, दीर्घाभावे नृणामिति रूपद्वयम् । नृनद्याप इति न्यास-
कल्पे तूभयत्र नुटि नृणां नृणामिति फलभेदः । एवं नृशब्दादाचारकिंवन्तात्कर्त्त-
रि किपि तुकि तस्मादामि नृन् आमिन्यत्र ह्रस्वनद्याप इति कल्पे नुण्ण भवति,
नृनद्याप इति न्यासे च भविष्यतीति फलभेदः । एवं नृशब्दस्य ऋशब्देन समासे
तत आमि सूत्रपक्षे नुडभावो, न्यासपक्षे च नुडिति फलभेद इति चेत्, अत्र
केचित् । नृनद्याप इति न्यासे शेखरतात्पर्यं, तपरकरणसामर्थ्याच्च ह्रस्वऋका-
रान्तस्यैव नृशब्दस्य ग्रहणं न तु दीर्घान्तस्य तुगन्तस्य वेति न पूर्वोक्तफलभेदा
इत्याहुः । परेतु “नद्यापो नुड्” “नुर्वा” इति आमीतिसूत्रकल्पे न्यासः क्रियते ।
नृचेति सूत्रं च न क्रियते । “नुर्वा” इति च तक्रकौण्डिन्यन्यायेनामीत्येतद्-
प्राप्तिर्योग्ये ऽचारितार्थस्य कृतेचारितार्थस्य च सत्त्वादीर्घस्य बाधक-
मिति नुट्कल्पे नृणामिति तदभावे ब्रामिति न फलभेदः । नन्वेतन्न्यासकरणे

भाष्ये*“नैकमुदाहरणं योगारम्भं प्रयोजयति”इति । तिसृणामिति षड्वि-
त्यत्र त्रेरित्यनुवृत्त्या*सिद्धमिति भाष्ये एव स्पष्टम् । एतेन ऋन्नद्याप इ-
ति न्यासे भाष्यतात्पर्यमित्यपास्तम् । चतसृणां प्रियचतसृणामित्यत्र
“षट्चतुर्भ्य” इति सिद्धम् । गौणे तदप्रवृत्तौ तु न मानम् । बहुवचनन्तु ला-
घवार्थम् । द्विवचने हि चतुर्भ्यामिति गुरुनिर्देशः स्यात् । नैकमुदाहरणमिति
प्रकृतसूत्रस्थभाष्यविरोधश्च । समाहारद्वन्द्वेन निर्देशे कार्ये बहुवचननिर्देश-
स्तदर्थ इति तु न युक्तम् । “अस्थिदधि” “तिसृभ्यो जसः” इत्यादौ
व्यभिचारात् * ।

न च-“अङ्गाधिकारे पञ्चम्या यदुच्यते गृह्यमाणविभक्तेस्तद्भवति”
इति सर्वादिसूत्रभाष्याद् गृह्यमाणाद्विहितविभक्तेरित्यर्थकादस्य नुटो गौणे
ऽप्रवृत्तिः । ‘षट्भ्य’ इत्यत्रापि विहितविशेषणमेवेत्याशयेन परमपञ्चेत्या-
दौ लुगभावमाशङ्क्य षट्प्रधान एष समास इत्युक्तम् । समासस्य षट्प्रधा-
नत्वेन *संख्याप्रकारकसङ्ख्येयविशेष्यकबोधजनकत्वेन षट्सत्त्वान्न

योगद्वयकरणप्रयुक्तं गौरवमेवेति चेन्न । नृचेतिसूत्राकरणेन सिद्धान्त-
सिद्धसमयोगद्वयेन ह्रस्वपदाकरणप्रयुक्तलाघवस्यैव सत्त्वात् । एवं नद्याप्साह
र्चयान्शब्दो ऽप्यजन्तो गृह्यते इति नृतामित्यत्रापि न फलभेदः । पञ्चमीसमा-
सेन स्थानिवद्भावात् नृशब्दयोः समासेऽपि नुण्न भवतीति न तत्रापि फलभेद
इत्याहुः ।

नैकमुदाहरणमिति । सामान्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकं शास्त्रमे-
कमुदाहरणं न प्रयोजयतीत्यर्थः । तेन अग्नेर्द्विगित्यादिकरणेऽपि न दोष
इति भावः । *सिद्धमिति* नचामीति कल्पे “ह्रस्वनद्यापः” इति
सूत्रे ह्रस्वग्रहणसत्त्वे त्रिशब्दादामि त्रयादेशे परत्वादीर्घे ह्रस्वा-
न्तत्वाभावान्नुडभावे त्रयामिति, ह्रस्वग्रहणाभावे “षट्चतुर्भ्य” इत्यत्र
त्रेरित्यनुवृत्तिकल्पे त्रयादेशे दीर्घे स्थानिवद्भावेन त्रिशब्दत्वस्य सत्त्वान्नुटि
त्रयाणामिति च रूपमिति फलभेद इति वाच्यम् । षट्चतुर्साहचर्येणा-
नकारान्तत्रिशब्दस्यैव ग्रहणे त्रयादेशे नुटो ऽप्राप्त्या त्रयामित्येव रूपं
भवतीति फलभेदाभावात् । त्रितामित्यादावपि साहचर्यादिना फलभेदः परि-
हरणीय इति दिक् ।

व्यभिचारादिति । “अस्थिदधि” इत्यस्य बहुवचननिर्देशेन गौणे-
ऽप्रवृत्तौ प्रियसक्थना ब्राह्मणेनेत्यादावनङ्गाद्यनापत्तिरिति भावः । सङ्ख्याप्रकार-
कसङ्ख्येयविशेष्यकबोधजनकत्वेनेति* । न च सङ्ख्याप्रकारकसङ्ख्येयविशे-
ष्यकबोधजनकत्वरूपसङ्ख्यावाचकत्वस्य राजान इत्यादौ बहुत्वप्रकारकबहुत्व-
विशिष्टविशेष्यकबोधजनकत्वस्य राजन्शब्दे सत्त्वेन सत्त्वात् षट्वापत्तिरिति

वाच्यम् । सङ्ख्याप्रकारकसङ्ख्येयमुख्यविशेष्यकोपस्थितिजनकत्वं सङ्ख्या-
वाचकत्वमिति परिष्कारेणादोषात् । अत एव सङ्ख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपि-
तसंख्येयनिष्ठमुख्यविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वरूपसंख्यावाचकत्वस्य प्रियपञ्चा
द्रौपदीत्यादौ पञ्चनशब्दे सत्त्वेन “न षट्” इति निषेधः सिध्यति । नन्वे-
वं “दण्डिन इव त्रयः त्रिदण्डिन” इत्यादौ संख्याप्रकारकसंख्येयमु-
ख्यविशेष्यकोपस्थितिजनकत्वस्य सत्त्वेन संख्यावाचकत्वात्षट्संज्ञापत्तिः ।
न चेष्टापत्तिः । “स्वं रूपम्” इति सूत्रस्थाशब्दसंज्ञेत्यस्य प्रत्याख्यानपरभाष्य-
विरोधापत्तेः । तत्र हि “शब्दशास्त्रीयसंज्ञाविषये स्वरूपग्रहणं न भवति षान्त-
स्य षट्संज्ञाविधानसामर्थ्यात् । अन्यथा “षड्भ्यो लुक्” इत्यादौ स्वरूपस्य,
संज्ञाविधानसामर्थ्यात् षट्संज्ञकनान्तस्य च ग्रहणे षान्तैत्यत्र वेति व्यर्थं
स्यादित्युक्तम् । उक्तस्य च सङ्ख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपितसङ्ख्येयनिष्ठमुख्य-
विशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वरूपसङ्ख्यावाचकत्वस्य परमषडित्यादावपि सत्त्वे-
न तस्य षट्संज्ञार्थं षान्तग्रहणस्यावश्यकत्वेन स्वरूपग्रहणपक्षे च वि-
शिष्टाद्विहितत्वेन षष् इति स्वरूपाद्विहितत्वाभावेन जश्शसोलुङ्गनापत्तेरिति
भाष्यासङ्गतिः स्पष्टैवेति चेन्न । यस्य सङ्ख्यावाचकत्वं वक्तव्यं तदन्तर्पर्याप्तप्रयो-
जकतानिरूपितप्रयोज्यतावती या विशेष्यता तादृशविशेष्यतानिरूपितप्रकार-
त्वासमानाधिकरणा या सङ्ख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपितसङ्ख्येयनिष्ठविशेष्यता ता-
दृशविशेष्यताप्रयोजकतापर्याप्त्यधिकरणत्वं सङ्ख्यावाचकत्वमिति परिष्कारे-
णादोषात् । प्रियपञ्चा द्रौपदीत्यादौ पञ्चनित्यत्र बहुव्रीहिप्राक्कालिकस्य निरुक्त-
सङ्ख्यावाचकत्वस्य सत्त्वात् “न षट्” इति निषेधः सिध्यति । तत्र भूतपूर्वषट्त्व-
ग्रहणस्य परिभाषेन्दुशेखरे अन्तरङ्गपरिभाषाव्याख्यानावसरे स्पष्टत्वात् । प्रि-
यपञ्चान इत्यादौ बहुव्रीहिप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासमानाधिकरण्य-
मेव संख्येयनिष्ठविशेष्यताया इति नातिव्याप्तिः । त्रिदण्डिन इत्यादौ च
संख्येयनिष्ठविशेष्यताप्रयोजकतापर्याप्तिः त्रिद्वयेतन्मात्रस्य न तु त्रि-
दण्डिन् इत्यस्येति न तत्राप्यतिप्रसङ्गः । न चैवं परमषडित्यत्र षष्शब्दस्य
षट्संज्ञायामपि ततो विहितत्वाभावात् परमषडित्यत्र लुङ्गनापत्तिरिति
वाच्यम् । षड्भ्यो विहितयोर्जश्शसोरित्यस्य षट्संज्ञकनिष्ठोद्देश्यतानिरू-
पितविधेयताश्रययोरित्यर्थकरणेन तत्र चोद्देश्यताया अपर्याप्ताया अपि
ग्रहणेन परमषडित्यादौ षषे अपर्याप्तोद्देश्यतायाः सत्त्वेनादोषात् ।

परे तु सङ्ख्याविशिष्टत्वं सङ्ख्यावाचकत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वनिष्ठ-
प्रकारतानिरूपितसङ्ख्येयनिष्ठनिरवच्छिन्नविशेष्यताप्रयोजकतापर्याप्त्यधिक-
रणान्तत्वं—स्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताप्रयोजकतापर्याप्त्यनधिक-
रणत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । तथा च परमपञ्चनित्यस्य प्रियपञ्चनघटकपञ्चनि-
त्यस्य च सङ्ख्यावाचकत्वं सिध्यति । द्वितीयसम्बन्धदानात्प्रियपञ्चनिति
विशिष्टस्य न षट्संज्ञा । संख्यावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितान्यपदार्थनिष्ठविशेष्य-
ताप्रयोजकतापर्याप्तेः विशिष्टे सत्त्वात् । प्रियपञ्चा द्रौपदी इत्यत्र पञ्चन इत्ये-

दोष इति तदर्थः । षणान्तेत्यत्र लोके गणनायां प्रसिद्धानामेव ग्रहण-
मित्यत्र न मानम् । प्रकृते ऽपि तथैव, षड्भ्य इत्यादौ पञ्चम्या विरु-
द्धविभक्तित्वादङ्गस्येत्यनेन संबन्धायोग्यत्वात् विहितेत्यद्वयाहारेण प्र-
त्ययविशेषणतैवेति भाष्योक्तेः, इति गौणे नुटो. ऽप्रवृत्तिरिति वाच्यम् ।
नामीतिसूत्रस्थोक्तभाष्यप्रामाण्यान्नुद्बिधायके विहितपदानध्याहारेण षडा-
दिभ्यः परस्याङ्गसज्ज्ञानिमित्तस्यामो नुडित्यर्थेन गौणे ऽपि प्रवृत्तेः ।
“अतो भिस” इत्यादावङ्गस्येत्यस्यैवमन्वयस्यैवाङ्गसज्ज्ञासूत्रे भाष्ये उक्त-
त्वात् । अत एव परमचतुर्णामित्यादौ नुट् ।

यद्यप्येवं षड्भ्योऽद्भ् डतरादिभ्य इत्यनयोरपि वक्तुं शक्यं, तथापि
लक्ष्यानुसारात्तत्र विहितविशेषणम् । विरुद्धविभक्तित्वादिति भाष्योक्तयुक्ति-
स्त्वेकदेशिन इति बोद्धव्यम् । “अद्भ् डतरादिभ्यः” “षड्भ्यो लुक्” इत्यनयो-
रेवसर्वादिसूत्रे भाष्ये उपन्यासाच्च । “षड्भ्य” इत्यादेः षडर्थगतसंख्याभिधा-
यिजश्शसोरित्यादिक्रमेणार्थ इति कैयटोक्तं तु “अद्भ् डतरादिभ्य” इतिसूत्रे-
भाष्यविरोधादिभिर्दूषयिष्यते । न च पदां दतामित्यादावतिप्रसङ्गः । ह्रस्वत्वं
नाम मात्राकालिकात्त्वं, तत्र सामर्थ्याद्विशेष्यभूतमात्राकालिकत्वांशे एव
भूतपूर्वगत्याश्रयणं न तु विशेष्यभूतात्त्वांशेऽपीत्यदोषात्; इति चेन्न ।
“नोपधाया” इत्युत्तरार्थत्वात् । तेन चर्षणामित्यादौ दीर्घाभावः सि-
द्ध इति दिक्* ।

तन्मात्रस्य तादृशविशेष्यताप्रयोजकतापर्याप्तेरसत्त्वेन तन्मात्रस्य षट्त्वं
सिध्यतीति तदन्तत्वाद्विशिष्टे निषेधः सिध्यति । स्त्रीप्रत्यये तदन्तविधेः
सत्त्वात् । प्रथमसम्बन्धदानात् त्रिदण्डित्यादेः न षट्सज्ज्ञा । तत्र दण्डिसा-
दृश्यस्यापि अवच्छेदकत्वेन समासार्थविशेष्यताया निरवच्छिन्नत्वाभावात् ।
त्रिपदमात्रस्य तथा सत्त्वेऽपि तस्य नान्तत्वाभावेन विशिष्टे त्रिपदान्तत्वा-
भावेन च नातिप्रसङ्गः । परमपञ्चनित्यत्र तु पञ्चन् इत्यस्य तादृशविशेष्य-
ताप्रयोजकत्वस्य सत्त्वेन तदन्तत्वात् षट्त्वसिद्धिः । एवं च न कचिद् दोषः ।
स्वं रूपम् इति सूत्रस्थाशब्दसंज्ञेत्यस्य प्रत्याख्यानाय षणान्तेत्यत्रत्यषग्र-
हणस्य शब्दशास्त्रीयसंज्ञायां स्वरूपग्रहणं न भवति इत्येतज्ज्ञापकतापरं भाष्यं
तु “षड्भ्यो लुक्” इत्यत्र विहितविशेषणाश्रयणेऽपि स्वरूपनिष्ठोद्देश्यताया अप-
र्याप्त्या ग्रहणेन योजनयिम् । तथा सति प्रियषष् इत्यादौ अतिव्या-
प्तिः षट्संज्ञकसाहचर्यात् अन्यपदार्थनिष्ठविशेष्यताप्रयोजकतापर्याप्त्यनधिक-
रणस्यैव पष् इति स्वरूपस्य ग्रहणेन निरसनीयेत्याहुः ।

परिभाषाविरोधादिति । सर्वत्रानित्यत्वाश्रयणे मानाभाव इति भावः ।
कृताकृतप्रसङ्गित्वात् “नामि” इति नित्यम् । न च विशेषाभावेन फला-
भावान्न कृते तत्प्राप्तिरिति वाच्यम् । विशेषाभावे ऽपि पर्जन्यन्यायेन

दिगिति । तदर्थस्तु “येन विधिस्तदन्तस्थ” इति शास्त्रप्रवृत्ति वि-
ना संख्यावाचकत्वशरीरे प्रयोजकतापर्याप्त्यधिकरणान्तत्वनिवेशे न मानम् ।
ततश्च परमपञ्चनित्यादेः षट्त्वं दुर्लभम् । पञ्चनित्यादेः तत्सम्भवेऽपि ततो-
विहितत्वाभावात् परमपञ्चेत्यादौ षट्भ्य इति लुगनापत्तिः । “षट्भ्य” इत्यत्र
स्वनिष्ठोद्देश्यताया अपर्याप्ताया ग्रहणे प्रियपञ्चान इत्यत्रापि पञ्चनशब्दस्य
संख्यावाचकत्वेन तत्रापर्याप्त्योद्देश्यतायाः सत्त्वाज्जसो लुगापत्तिः । द्वितीयसंबन्धे
प्रयोजकताऽनधिकरणत्वमात्रनिवेशे प्रियपञ्चा द्वौपदी इत्यत्रापि उत्तरपदस्य
षट्त्वानापत्तौ “न षट्” इति डाबुनिषेधानापत्तिः । तत्र भूतपूर्वषट्त्वमित्यस्य
पूर्वं जातषट्त्वस्यारोप इत्यर्थः, न तु बहुव्रीहिप्राक्कालिकस्य तस्य
ग्रहणे प्रमाणम् इति न तेन निर्वाहः । अतो गृह्यमाणविभक्तेरित्यस्य गृह्य-
माणार्थान्त्यिन्या विभक्तेरित्यर्थः । अर्थद्वारकं च विधानमाश्रयणीयमिति
भावः । तथा च “षट्भ्य” इत्यस्य षडर्थान्वयिनोर्जशशसोर्लुगित्यर्थः । षडर्थ-
गतसंख्याभिधायिनोरिति यावत् । एवञ्च परमषडित्यत्र जशशसोः
षडर्थगतसंख्याभिधायित्वेन लुरू सिद्धः । प्रियपञ्चान इत्यत्र च जसोऽन्यपद-
र्थगतसंख्याभिधायकत्वादन्यपदार्थस्य च षडर्थत्वाभावान्न दोषः । न चैवं
षट् ब्राह्मणा इत्यत्र ब्राह्मणपदोत्तरजसो लुगापत्तिः, तस्य षडर्थगतसंख्या-
भिधायित्वात्, इति वाच्यम् । षडर्थतावच्छेदकावच्छिन्नधर्मितानिरूपितसं-
ख्यानिष्ठप्रकारताप्रयोजकजशशसोर्लुगित्यर्थस्य विवक्षितत्वेन ब्राह्मणपदोत्तरजस्-
प्रयोज्यसंख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपितधर्मितायाः ब्राह्मणत्वावच्छिन्नत्वेन षडर्थता-
वच्छेदकावच्छिन्नत्वाभावेनादोषात् । नन्वेवमपि षट्काः, षट्कल्पा इत्या-
दौ प्रत्ययार्थस्य प्रकारत्वेन जसः षडर्थगतसंख्याभिधायित्वाल्लुग् दुर्वा-
रः । न च षडर्थतावच्छेदकमात्रावच्छिन्नेतिविवक्षणेन प्रकृते जसर्थसंख्यानि-
ष्ठप्रकारतानिरूपितधर्मितायाः षडर्थातिरिक्तप्रत्ययार्थतावच्छेदकावच्छिन्नत्वेन
न दोष इति वाच्यम् । परमपञ्चेत्यत्रापि तादृशधर्मितायाः परमत्वावच्छिन्नत्वेन
लुगनापत्तेः, इति चेन्न । षड्विंशतिविभक्तेर्लुगित्यर्थेनादोषात् । वैशिष्ट्यञ्च स्वार्थ-
तावच्छेदकावच्छिन्नधर्मितानिरूपितसंख्यानिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वं-स्वाव्यवहि-
तत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । षट्काः, षट्कल्पा इत्यादावाद्यसम्बन्धसत्त्वेऽपि
द्वितीयस्यासत्त्वान्न दोष इति । किञ्च बहुवचनान्तविरुद्धविभक्त्युपादाने अङ्गा-
धिकारे सर्वत्र गृह्यमाणार्थगतसंख्याभिधायिविभक्तेर्ग्रहणे “अतो भिस पेस्”
इत्यादौ न कुत्रापि दोष इति “षट्चतुर्भ्य” इत्यत्रापि तादृशविभक्तेरेव ग्रहणमु-
चितम् । ततश्च गौणे तदप्रवृत्तौ प्रियचतसृणामित्याद्यासिद्धिरिति ऋगद्याप
इति न्यासे एव भाष्यतात्पर्यम् । अत एव धाता धातृणाम् इति तैत्तिरीयपाठे
नुद्सिद्धिरिति ह्रस्वग्रहणवैयर्थ्यमुपपद्यते । नैकमुदाहरणमिति भाष्यं तु

शास्त्रप्रवृत्तेः “इको झल्” इति सूत्रे भाष्ये उक्तत्वात् । “आयादय” इति सूत्रे भाष्ये स्यादिभिः परत्वादायादिबाधमाशङ्क्य* “अनवकाशत्वादायादयः । न च गोपायतीत्यादिरवकाशः । अत्रापि शपः स्यादेः प्राप्तेः । न च नास्ति विशेषः । अन्यदिदानीमिदमुच्यते नास्ति विशेष इति । यदुक्तम्—आयादीनां स्यादिभिरव्याप्तो ऽवकाश इति, स नास्त्यवकाशः” इति *भाष्योक्तेश्चेत्यपि बाधयम् ।

आरम्भेति । यत्तु—कतीनामित्यत्र “षट्चतुर्भ्य” इति नुटि सन्निपातपरिभाषाया अप्राप्तेः सावकाशत्वमस्त्येवेति; तन्न । न ह्येकमित्युक्तन्यायेन “कतेर्नामि” इत्येव सिद्धे* सामान्यसूत्रारम्भेत्यर्थात् । एवञ्च “न तिसृचतसृ” इत्यकरणेन लाघवमिति भावः । नुटीति तु नोक्तम्* ।

“व्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकं लक्ष्यं व्यापकधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकशास्त्रप्रणयनप्रयोजकं न भवति” इत्यर्थकम् इति ह्रस्वत्वस्य ऋत्वव्यापकत्वात् सुयोजम् । परमकतरत् इत्यादौ अदृढादेशो भवत्येव । अङ्गाधिकारे इति भाष्यस्यैकदेश्युक्तित्वे मानाभावात् । अतिप्रसङ्गस्य पूर्वोक्तार्थकल्पनेनाभावादित्याहुः ॥

बाधमाशङ्क्येति । परत्वात्स्यादिषु पञ्चादायप्रत्यये आर्धधातुकोपदेशो ऽकारान्तत्वाभावाद् “अतो लोप” इति न स्यादिति भावः । *भाष्योक्तेश्चेति* । न च—इदं भाष्यम् “आयादयो वा” “सार्वधातुके नित्यम्” इति न्यासपरम्, तथा च यथाश्रुतन्यासकल्पे गोपायिष्यति, गोपिष्यति, गोप्स्यति, इति रूपत्रयं भवति, एतन्न्यासकल्पे चापवादत्वात् “सार्वधातुके” इति नित्यायप्रत्यये गोपायिष्यति इत्येकमेव रूपं स्यादिति फलभेद इति वाच्यम् । “आयादयो वा” “आर्धधातुके” “सार्वधातुके नित्यम्” इति न्यासपरत्वेन भाष्यस्यादोषात् । अत्रार्धधातुके इति शास्त्रं “सार्वधातुके नित्यम्” इति नित्यायप्रत्ययबाधनायेति न फलभेदः ।

कतेर्नामीत्येव सिद्ध इति । न च कतेर्नामीति न्यासेऽपि षट्संज्ञकत्वं निमिचीकृत्य जायमानो नुट् स्वोपजीव्यषट्संज्ञकत्वाविघातककतेर्नामीत्येतत्प्रवृत्तिं प्रति निमित्तं न स्यादिति पुनरपि सन्निपातपरिभाषाविरोध इति वाच्यम् । षट्संज्ञकत्वस्यैकदेशविकृतन्यायेन दीर्घं जातेऽपि सत्त्वेन सन्निपातविघाताभावात् । न चातिदेशिकसन्निपातविघाताभावमादायैतत्परिभाषाप्रवृत्तिप्रतिबन्धो न भवतीति वाच्यम् । तत्रैकदेशविकृतन्यायातिरिक्तातिदेशस्य ग्रहणमिति पूर्वमेवोक्तत्वात् ।

नोक्तमिति । भृङ्ग इत्यादौ दीर्घापत्तेरिति भावः । न च “भृजः किन्नुट् च” इत्यत्र नुगेव क्रियत इति न दोष इति वाच्यम् । अनश्वः, अनेपक इत्यादौ प्रत्ययलक्षणेनाङ्गत्वस्य नुट्परकत्वस्य च सत्त्वेन दीर्घाप-

अपदान्तस्य । ष इत्येव सिद्धे मूर्धन्यग्रहणम् “इणः षीध्वम्” इत्यत्र ढविधानार्थं, “रषाभ्याम्” इत्यत्रानुवृत्त्यर्थश्च । एवञ्च तत्र णग्रहणं, “पदान्तस्य” इति च न कर्त्तव्यमिति भाष्ये स्पष्टम् ।

इणकोः ॥ वर्गग्रहणश्चत्वस्यासिद्धत्वात् स्याद्वित्याद्यर्थम् ।

आदेशः ॥ प्रत्ययशब्दस्तदवयवपरो व्याख्यानात्*, सातेः षत्वनिषेधाल्लिङ्गाच्च । तदाह—प्रत्ययावयवेत्यादि । विवृताघोषस्येति । विवृतत्वरूपाभ्यन्तरप्रयत्नवतो ऽघोषरूपबाह्यप्रयत्नवतश्चेत्यर्थः । ठकारवारणाय द्वितीयम् । रामस्येति । “टाङ्सि” इति सूत्रे सकारोच्चारणं तु “इणकोः” इत्यनुवृत्तावेव तात्पर्यग्राहकमिति भावः ।

सर्वादीनि ॥ तद्गुणसंविज्ञानो*बहुव्रीहिः । आदिशब्दो ऽवयववाची । तेन सर्वशब्दघटित उद्भूतावयवभेदः समूहः समासार्थ इति

चेत् । तत्रापि जुगेव क्रियत इति न दोष इति तु न वाच्यम् । अनेषक इत्यादावेव ऊमुडापत्तेः ।

व्याख्यानादिति । “लोपे प्रत्ययलक्षणम्” इत्यनेन सिद्धे “प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्” इति करणात्प्रत्ययावयवे प्रत्ययत्वं स्वीक्रियत इति व्याख्यानादिति भावः । अत एव कविभिः कृतमित्यादौ प्रत्ययरूपो यो विसर्गस्तस्य षत्वं न भवतीति सामानाधिकरण्येनान्वयेऽपि “इदुदुपधस्य” इति षत्वं न भवति । न च-प्रत्ययावयवे प्रत्ययत्वस्वीकारे अचिश्नुसूत्रे ऽज्रूपे प्रत्यये इयङ्ङुवङ्ङौ भवत इत्यर्थे श्रियौ, भ्रूवावित्यत्रैव इयङ्ङुवङ्ङौ स्यातां न तु श्रियो भ्रूव इत्यादाविति भाष्यविरोधः । जसवयवाकारेऽपि भवन्मते प्रत्ययत्वस्य सत्त्वात् । एवं रामाणामित्यादौ प्रत्ययावयवे आमि प्रत्ययत्वस्य सत्त्वेन रामन्नित्यस्य भसंज्ञायां परत्वादल्लोपापत्तिश्च । एवं भूयादित्यादौ प्रत्ययावयवतकारमात्रे प्रत्ययत्वस्वीकारे ऽपृक्तसंज्ञायां हल्ङ्यादिलोपापत्तिश्चेत्यादिदूषणगणपातः, इति वाच्यम् । षष्ठी-प्रकृतिप्रत्ययपदप्रयोज्या या विषयता तादृशविषयताश्रयत्वेन प्रत्ययावयवोऽपि गृह्यत इति विवक्षणेन सर्वसामञ्जस्यादिति दिक् ।

*सर्वादीनि । *तद्गुणसंविज्ञान इति* । तस्यान्यपदार्थस्य गुणा उपसर्जनानि (वृत्तिघटकपदार्था इति यावत्) संविज्ञायन्ते यत्र स बहुव्रीहिस्तद्गुणसंविज्ञान इत्यर्थः । क्रियान्वयित्वेनेति शेषः । तथा च एकक्रियान्वयित्वेन वृत्तिघटकपदार्थविशिष्टान्यपदार्थवाचकत्वं तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहित्वम् । यथा ‘लम्बकर्णमानय’ इत्यत्रान्यपदार्थस्यानयनक्रियायामन्वये वृत्तिघटकपदार्थस्य श्रोत्रस्यापि तस्यामन्वयो ऽनुभवसिद्ध इति लम्बकर्ण इति तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । प्रकृते च समुदायरूपान्यपदार्थान्वयिसर्वनामसंज्ञासत्तारूपक्रियायां सर्वशब्दस्यान्वय इति तद्गुणसंविज्ञानम् । तत्र च समुदायस्यैकत्र प्रयो-

बहुवचनम् । उद्भूतावयवभेद इत्यस्यारोपितावयवगतसंख्य इत्यर्थः । तत्र वैयर्थ्यादप्रवृत्तावपि अवयवेषु प्रवर्त्तमाना ऽविशेषात्* सर्वशब्दे ऽपि भवति । सर्वनामानीत्यत्र “पूर्वपदात्” इति णत्वमतएव *निपातनान्न । नाप्राप्ते णत्वे कृतस्य निपातनस्य तद्वाधकत्वात् णत्वसाहितमसाधु इति स्पष्टं भाष्ये । ‘प्रयोजनं सर्वनामावयवसंज्ञायाम्’ इति वार्त्तिकेण शब्दरूपविशेष्यमादाय ज्ञापकात्तदन्तविधिरित्याह-द्वन्द्वे चेतीति । *प्रथमार्थे सप्तमी । द्वन्द्वः सर्वनामसंज्ञो नेति तदर्थः । न हि तदन्तविधिं विना समुदाये* सञ्ज्ञापप्रवृत्तिरस्ति, या निषिद्ध्येतेति भावः । ननु तदन्तस्यापि सर्वना-

गासम्भवेन तद्वटुकानामेव तन्त्रान्वय इत्यन्यत् । न चैवं नागो यज्ञोपवीतं यस्य तत्कर्मकभोजनतात्पर्येण ‘नागयज्ञोपवीतं भोजय’ इति प्रयुक्ते वृत्तिघटकयज्ञोपवीतपदार्थस्यान्यपदार्थान्वयिभोजनक्रियान्वयासम्भवात्तस्य बहुव्रीहेस्तत्त्वानापत्तिरिति वाच्यम् । संयोगसमवायान्यतरसम्बन्धेन वृत्तिघटकपदार्थविशिष्टान्यपदार्थवाचकत्वं तत्त्वमिति विवक्षणेन यज्ञोपवीतस्य संयोगसम्बन्धेनान्यपदार्थे पुरुषे ऽन्वयेन तत्त्वाक्षणेः । लम्बकर्णमानयेत्यत्रापि कर्णपदार्थस्य खरपदार्थे समवायसम्बन्धेनान्वयोऽस्त्येव । प्रकृतेऽपि सर्वशब्दस्य समुदाये ऽवयवावयविनोः समवायात् समवायसम्बन्धेनान्वय इति सर्वं समञ्जसम् ।

केचित्तु विशेषणोपलक्षणाभ्यां तद्गुणातद्गुणत्वे बहुव्रीहिस्थले वदन्ति । यथा चित्रगुरिति । अन्यपदार्थस्य यदा कार्यान्वयित्वविवक्षायां गोस्वामित्वसञ्ज्ञावः तदा तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । यदा च तदानीं गोस्वामित्वाभावेऽपि कदाचित् गवां दर्शनेन तस्मिन् चित्रगुशब्दप्रयोगस्तदाऽतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । लम्बकर्णनागयज्ञोपवीतयोस्तु विशिष्टस्य क्रियान्वयकाले कर्णयज्ञोपवीतयोरुक्तसम्बन्धाभ्यां सत्ताविवक्षणेन तत्राऽऽद्य एवेति बोध्यम् ।

अविशेषादिति । सर्वशब्दनिष्ठाद्यावयवतानिरूपकसमुदायघटकत्वस्य विश्वादिशब्देष्विव सर्वशब्देऽपि सत्त्वादित्यर्थः । *निपातनान्नेति* । न च कृतणत्वेन यत्र संज्ञाया अवगमस्तत्रैव “पूर्वपदात्” इति णत्वं भवति । अत एव रघुनाथादिशब्दे न णत्वम् । तथा च प्रकृते कृतणत्वेन संज्ञाऽनवगमात् णत्वप्राप्तिरेव नेतीदमसङ्गतमिति वाच्यम् । पाणिनिना कृतणत्वे संज्ञाकरणे कृतणत्वेन संज्ञावगमसम्भवाण्णत्वप्राप्तेरित्याशयात् । रघुनाथादिशब्दानां तु अनादिसंज्ञात्वेन तत्रैवं वक्तुमशक्यत्वात् ।

प्रथमार्थे सप्तमीति । वस्तुतस्तु “आकाशे त्रिदिवे नाक” इत्यादाविव वाचकत्वं सप्तम्यर्थः । तथा च वाचकतासम्बन्धेन सर्वनामपदं द्वन्द्वे न तिष्ठतीति यथाश्रुतमेव सङ्गतमिति प्रथमार्थे सप्तमीत्यस्य नोपयोगः । *समुदाय इति* । न च अथ इतरश्चानयोस्समाहार एतरम् । अथान्यश्चानयोस्समा-

मत्वे “सर्वनाम्नः स्मै” इत्यादिषु सर्वनाम्नो विहितस्य छेः स्मै इत्यर्था-
श्रयणेनातिसर्वादौ दोषाभावादुपसर्जनप्रतिषेधो न कार्य इति भाष्यसूचितं*
विरुद्ध्येतेति चेन्न । “प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसञ्ज्ञायाम्” इतित्दन्तविधि-
सूत्रस्थवार्तिकभाष्यविरोधेनास्य भाष्यस्यैकदेश्युक्तित्वात्* । इत एव वाऽरु-
चेर्भाष्ये पक्षान्तरोपादानम् । न च ऋष्युक्तपक्षेषु नारुचिरिति भ्रमितव्यम् ।

हार आन्यम् इत्यादौ परादिवद्भावेन सर्वादित्वस्य सत्त्वात्सर्वनामसञ्ज्ञानिषे-
धार्थं “द्वन्द्वे च” इति सूत्रं चरितार्थमिति कथं तदन्तविधिज्ञापकत्वं, फलं च
स्मायाद्यभावः; इति वाच्यम् । पूर्वोत्तरनिमित्तककार्यत्वात्पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येका-
देशो नेत्यस्य वस्तुतः पूर्वोत्तरनिमित्तककार्यं कर्तव्ये ऽन्तरङ्गत्वाज्जातोऽ-
प्येकादेशो ऽसिद्धो भवतीत्यर्थः । तथा च “द्वन्द्वे च” इति निषेधस्य वस्तुतः
पूर्वोत्तरपदनिमित्तकत्वेन तस्मिन् कर्तव्ये जातस्याप्येकादेशस्यासिद्धत्वेन
“द्वन्द्वे च” इति निषेधवैयर्थ्यस्य स्पष्टत्वात् । अत एव सरूपाणामि-
त्यत्र विभक्तौ परतः प्रातिपदिकैकशेषकल्पे विभक्त्यन्तानामेकशेषकल्पे च
न फलभेदः । अन्यथा रामावित्यादौ राम सु राम सु इत्यनयोस्सारू-
प्याद्विभक्त्यन्तैकशेषकल्पे एकशेषो भवति, विभक्तौ परतः सरूपाणामेक-
शेषकल्पे च राम राम औ इति स्थिते ऽन्तरङ्गत्वाद् वृद्धौ परादिवद्भावेन
विभक्तिपरकत्वस्य सत्त्वेऽपि राम इत्यस्य राम् इत्यनेन सारूप्याभावादे-
कशेषो न स्यादिति फलभेदः स्यात् । मम तु वस्तुतः पूर्वोत्तरनिमि-
त्तकैकशेषे कर्तव्ये एकादेशस्यासिद्धत्वात्सारूप्यमस्यैवेति न फ-
लभेदः । *भाष्यसूचितमिति* । “अङ्गाधिकारे पञ्चम्या यदुच्यते तद्
गृह्यमाणविभक्तेर्भवति” इति भाष्यस्य गृह्यमाणाद्विहितविभक्तेरित्यर्थकरणे-
नेति भावः ।

एकदेश्युक्तित्वादिति । वस्तुतस्तु नेदं भाष्यमेकदेश्युक्तिः ।
तथा हि—भाष्ये “सञ्ज्ञोपसर्जनानां प्रतिषेधो वक्तव्यः” इत्युक्त्वा पूर्वप-
रेति सूत्रे ऽसञ्ज्ञायामिति योगं विभज्य यानि सर्वादीनि तान्यसञ्ज्ञायां
द्रष्टव्यानीति सञ्ज्ञाभूतानां सर्वादिषु पाठाभावादेव पर्युदास इति सञ्ज्ञाप्र-
तिषेधो ऽनर्थक इत्युक्त्योपसर्जनप्रतिषेधखण्डनाय समाधानत्रयमु-
क्तम् । तत्र प्रथमं तावद् “अनुपसर्जनात्” इतियोगः प्रत्याख्यायते इत्य-
नुपसर्जनं अ अदिति छेदं कृत्वा अ इत्यनेन त्यदादीनामः अदित्यनेनाद्-
भुतरादिभ्य इत्यद्भ् चानुपसर्जनस्यैव भवतीति अतितत्, अतिकतरं कुल-
मित्यादौ न दोष इत्युक्तम् ।

तस्यायम्भावः । स्त्रियामित्यस्य गृह्यमाणविशेषणत्वाद्भुङ्गुरुचरे-
त्यादौ टिडर्थागतस्त्रीत्वस्यासत्त्वान्न डीपः प्राप्तिरित्यनुपसर्जनाधिकारो व्य-
र्थः । स्त्रीप्रत्ययप्रकरणे सर्वत्र “वनोर च” इत्येतद्विहाय स्त्रियामिति गृह्यमा-
णविशेषणमेव । न च कुम्भकारेय इत्यापत्तिवारणाय तदन्तविधिज्ञापना-

वृद्धिसञ्ज्ञासूत्रे “अपरितुष्यन् खल्वपि भवान् ‘अनाकृतिः’ ‘लिङ्गेन वा’ इत्याह” इति वार्तिककारं प्रति भाष्योक्तेः ।

अकच्चेति । “कुत्सिते” इति सूत्रोक्तमप्यरीत्या संख्याकारकाभ्यां पूर्णार्थस्येतरान्वयेन सुबन्तादेव तद्धितोत्पत्तेः, प्रत्यासत्त्या सर्वनामप्रकृतिकसुबन्तात्तदर्थगतकुत्साविवक्षायां सर्वनामावयवटेः प्रागकृत्यर्थोत्तदन्तसञ्ज्ञाऽभावे तदसिद्धिरिति भावः । एवमेव त्रलाद्यासिद्धिर्बोद्ध्या । एतेनावयवनिष्ठसर्वनामत्वेन तत्सिद्धिरित्यपास्तम् ।

र्थमनुपसर्जनाधिकारः सार्थक इति वाच्यम् । अनुपसर्जनाधिकाराभावेऽपि “शूद्रा चामहत्” इत्यत्रामहत्पूर्व्वेतिपर्य्युदासेन सामान्यतः स्त्रीप्रत्ययप्रकरणे तदन्तविधिरस्तीति ज्ञापयितुं शक्यत्वात् । न चापिशलेन प्रोक्तां मीमांसामधीते आपिशला ब्राह्मणीत्यादावणन्तत्वप्रयुक्तङीव्वारणायाऽनुपसर्जनाधिकारः सार्थक इति वाच्यम् । प्रोक्ताणर्थगतस्त्रीत्वमादायैकवारं ङीपो जातत्वेन लक्ष्येलक्षणन्यायेन पुनस्तस्याप्राप्त्या ऽध्येत्रणो लुप्तत्वेनाऽणो यो ऽकारस्तदन्तादित्यर्थेन “वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्” इति परिभाषया ऽणि यो ऽकारस्तदन्तत्वस्यानेतुमशक्यत्वाद्ध्येत्रर्थगतस्त्रीत्वमादाय ङीपो ऽप्राप्तेरनुपसर्जनाधिकारस्योपयोगाभावात् । न चैवमप्यातिसर्वायेत्यादौ स्मायाद्यापत्तिर्दुर्वारा अदृडावेवानुपसर्जनस्य भवत इत्युक्तत्वादिति वाच्यम् । “डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्” इति सूत्रादन्यतरस्यामित्यनुवर्त्यान्यतरस्य अनुपसर्जनस्य आमिति विवक्षणेनादोषात् । तथा हि अन्यतरस्येत्यत्रान्यतरशब्दो ऽर्शआद्यजन्तः । तथा चान्यतरस्येत्यस्यान्यतरशब्दघटितसर्व्वविश्वेत्यादिसमुदायस्येत्यर्थः । तत्रानुपसर्जनं आम् ज्ञानमित्यर्थः । आमिति अमृधातोर्गत्यर्थान्नावे किप् । ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्था इति प्रकृते अमृधातुर्ज्ञानार्थकः । अनुपसर्जनेति लुप्तषष्ठ्यन्तं पदम् । अ अदिति प्रकृतार्थकरणस्योदाहरणम् ।

द्वितीयं च समाधानम् “अथवा अङ्गाधिकारे पञ्चम्या यदुच्यते गृह्यमाणविभक्तेस्तद् भवति” इति । तस्यायम्भावः—“सर्व्वनाम्नः स्मै” “ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ” “जसः शी” “आमि सर्व्वनाम्नः सुद्” “अद्ङ् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः” “त्यदादीनाम्” इत्यादौ “सप्तम्यास्त्रल्” इत्यादौ च सर्व्वत्र स्वाव्यवहितोत्तरत्वं स्वार्थगतसङ्ख्याभिधायित्वमेतदुभयसम्बन्धेन स्वाविशिष्टेप्रभृतीनां स्मायाद्यादेशा भवन्तीत्यर्थ इति अतितत्, अतिकतरं कुलम्, अतिसर्वायेत्यादौ न दोषः । गृह्यमाणविभक्तेरिति भाष्यस्य गृह्यमाणार्थगतसङ्ख्याभिधायिविभक्तेरित्यर्थः । एतत्कल्पे च सर्वादीनीत्यत्र तदन्तविधिर्नास्तीति अतिसर्वायेत्यादौ सर्व्वनामार्थगतसङ्ख्याभिधायिङेप्रत्ययस्याभावान्न स्मायादेशः । परमसर्व्वस्मायित्यादौ तु समुदायस्य सर्व्वनामत्वाभावेऽपि ङेप्रत्ययस्य सर्व्वनामार्थगतसङ्ख्याभिधायित्वस्य सर्व्वनामाव्यवहितोत्तरत्वस्य च सत्त्वात् न दोषः ।

जसः शी ॥ दीर्घोच्चारणमुत्तरार्थं वारिणी इति । “अद-
न्तात्”इति-परस्येत्यनेनान्वेति । अत इत्यस्याङ्गविशेषणतया अदन्ता-
दङ्गादित्यर्थः । सर्वनाम्न इति तु विहितविशेषणम्* । तस्य तु नाङ्गं
विशेष्यमावृत्तौ मानाभावात्* । तेन वर्णाश्रमेतरा मासपूर्वा इत्यत्र
न । अत एव “विभाषा जसि”इति चरितार्थम्* । अङ्गसञ्ज्ञानिमित्त-
स्यादन्तात्सर्वनाम्नो विहितस्येत्यर्थस्तु न । ते, तेषामित्याद्यसिद्धेः ।
अत्वविधौ विषयसप्तमी तु न । तस्मिन्नितिपरिभाषाबाधे मानाभा-
वात् । प्रागित्सञ्ज्ञाया इति । प्रत्ययादित्वज्ञानाभावात्तज्ज्ञानाभा-
व इति भावः ।

अथवा सर्वेषां नामानि सर्व्वनामानीति तृतीयं समाधानमुक्तम् ।
अत्र कल्पे च “प्रयोजनं सर्व्वनामाव्ययसञ्ज्ञायाम्”इति वार्तिकेन सर्वादीनी-
त्यत्र तदन्तविधिरस्तीति सञ्ज्ञोपसर्जनप्रतिषेध इति वार्त्तिककल्पे त-
त्प्रत्याख्यानकल्पेषु त्रिषु च न फलभेद इति भावः । न च—तृतीयक-
ल्पेऽपि तदन्तविधेर्नोपयोगः । परमसर्व्वस्मायित्यादावङ्गाधिकारे तदन्त-
विधिर्नैव दोषाभावात् । अतिसर्व्वयेत्यादौ सर्व्वेत्यस्य सर्व्वदित्वमेव नास्ति
पदार्थान्तरोपादानात् । परमसर्व्वेत्यादौ तु सर्व्वनाम्नः परीभूना या सप्तमी
तदन्तात्परेत्यर्थ इति न दोषः, इति वाच्यम् । मासपूर्वायेत्यादौ वर्णाश्रमेतरा-
णामित्यादौ च स्मायाद्यभाववारणाय विहितविशेषणस्यावश्यकत्वेन मासपूर्वा-
येत्यादाविव परमसर्व्वस्मै इत्यादावपि स्मायाद्यादेशानापत्या तदन्तविधे-
रावश्यकत्वादिति दिक् ।

विहितविशेषणमिति । वस्तुतस्तु “जसः शी”इत्यस्य सर्व्वनामा-
भिन्नं यददन्तमङ्गं (तदादि वा) ततः परीभूतस्य जसः शी भवतीत्यर्थकरणेन
वर्णाश्रमेतरा इत्यादौ दोषाभावेन विहितविशेषणं व्यर्थम् । तस्मादिति
परिभाषायां जागरूकायां विहितपदाध्याहारस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् ।

मानाभावादिति । तस्मिन्नितिपरिभाषाशास्त्रोद्योद्देश्यतावच्छेदकसम्प-
त्तये ‘असति प्रमाणान्तरे यावत्यः सप्तम्यस्ताः सर्वा औपश्लेषिकाधिकरणबो-
धिका मन्तव्या’इत्येतन्मूलकव्याख्यानपरिभाषाशेषभूत “उपपदविभक्तेः कारक-
विभक्तिर्वलीयसी”इतिपरिभाषाबाधे मानाभावादिति भावः । *चरितार्थ-
मिति* । “द्वन्द्वे च”इति निषेधे प्राप्ते शीभावे कर्त्तव्ये विकल्पेन
निषेधार्थं तत् । यदि द्वन्द्वे चेति निषेधेन शीभावो न प्रतिषिध्येत तर्हि “विभाषा
जसि”इति शीभावे कर्त्तव्ये विकल्पेन सर्व्वनामसञ्ज्ञानिषेधो व्यर्थः स्यादिति
भावः । “द्वन्द्वे च”इत्यनेन समुदायस्य निषेधेऽपि अवयवस्य निषेधाभावात्
सर्व्वनामान्ताङ्गात्परत्वे शीभावस्य दुर्वारत्वेन “विभाषा जसि”इत्यनेन शीभावे
कर्त्तव्ये, द्वन्द्वस्य सर्व्वनामसञ्ज्ञाविकल्पस्योपयोगाभावात् ।

परे तु अनुबन्धत्वयोग्यतयाऽत्रापि तन्निषेधप्रवृत्त्या शित्वा-
देव सर्वादेशः । इत्सञ्ज्ञायोग्यशकारवत्त्वमेव तत्सूत्रे शित्वम् । अ-
त एव काणोर्विषये 'नानुबन्धकृतमसारूप्यम्' इति विकल्पाभावः । अ-
न्यथा* कादीनां कादेर्वाक्यार्थबोधोत्तरं प्रत्ययत्वज्ञाने इत्सञ्ज्ञादेः प्र-
वृत्त्या वाक्यार्थबोधरूपतत्प्रवृत्तिकाले ऽनुबन्धज्ञानाभावेन विकल्पो दु-
र्वारः । पश्चादनुबन्धत्वज्ञाने ऽपि जातनिवृत्त्ययोगात् । यदि तत्र
पश्चात्तज्ज्ञाने तन्निवृत्तिस्तर्ह्यत्रापि पश्चात्तत्त्वज्ञाने सर्वादेशत्वस्यापि निवृ-
त्त्यापत्तिः । *ध्वनितश्चेदं "लुटः प्रथमस्य" "अनेकालिशद्" इत्यादिसूत्रेषु
भाष्ये इति प्राहुः* ।

अन्यथा-अनुबन्धपदस्य सङ्केतसम्बन्धेनेत्पदविशिष्टार्थकत्वे ।

ध्वनितमिति । "लुटः प्रथमस्य" इतिसूत्रभाष्ये "डाविकारस्य
शित्करणं सर्वादेशार्थम् । डाविकारः शित्कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । सर्वादेशार्थ-
म् । शित्सर्वस्येति सर्वादेशो यथा स्यात् । अक्रियमाणे हि शकारे ऽलोऽन्त्यस्य
विधयो भवन्ति इत्यन्त्यस्य प्रसज्येत" इत्युक्तम् । अत्र कैयटः-डाविकार इति ।
डादेश इत्यर्थः । नानुबन्धकृतमनेकालत्वमित्यन्त्यस्य स्यादिति डाश्वक्तव्य इ-
त्याह । तदग्रे भाष्ये "सिद्धमलोऽन्त्यविकारात् । सिद्धमेतत् । कथम् । अलो-
ऽन्त्यविकारात् । अस्त्वयमलोऽन्त्यस्य । का रूपसिद्धिः । कर्त्ता । डिति टेलोपात्
लोपः । डिति टेलोपेन लोपो भविष्यति । अभत्वाच्च प्राप्नोति । डित्करणसामर्थ्याद्
भविष्यति" इत्युक्तम् । डितीति । आकारे डिति परतः सतकारस्य टिसंज्ञकस्य
लोपो डित्करणसामर्थ्याद्भविष्यतीति । एतज्भाष्ये अन्त्यादेशत्वमभ्युपेत्य टिलो-
पेन समाहितम् । पूर्वपक्षिणा च डादेशस्य शित्वं कर्तव्यमित्युक्तम् । एतेन ध्वनि-
तम् । यद्यनुबन्धपदस्यानुबन्धत्वयोग्ये लक्षणा न स्यात् तदा आदेशप्रवृत्तिकाले
ऽप्युक्तरीत्या ऽनुबन्धत्वाभावेन नानुबन्धेत्यस्याप्राप्त्या ऽनेकालत्वेनैव सर्वादे-
शत्वे सिद्धे पूर्वपक्षसमाधानयोर्निर्दलत्वापत्तिरिति । *प्राहुरिति* । न च डादि-
विषये सर्वादेशत्वं विना ऽनुबन्धत्वस्याभावादानुपूर्व्यात्सर्वादेशत्वं सिद्ध-
मिति परिभाषेन्दुशेखरग्रन्थविरोध इति वाच्यम् । डादिविषये सर्वादेशत्वाभा-
वेन प्रत्ययादित्वाभावादित्सञ्ज्ञाया अप्रवृत्त्या स्वोपजीव्यानुबन्धत्वविघातादु-
पजीव्यविरोधेन डादिविषये नानुबन्धकृतमिति परिभाषाया अप्रवृत्तावपि प्रकृते
एतत्परिभाषाप्रवृत्तावपि शित्वात् सर्वादेशस्य जायमानत्वेन स्वोपजीव्यानुबन्ध-
त्वविघातस्याभावाच्चानुबन्धकृतमिति परिभाषया शी सर्वादेशो न भवतीति
परिभाषेन्दुशेखरग्रन्थविरोधाभावात् ।

अन्ये तु "मिदचो ऽन्त्यात्परः" "आद्यन्तौ टकितौ" "डिञ्च" इत्यादिवत् "अ-
नेकाल्शित्सर्वस्य" इत्यप्यनन्यार्थडित्वेष्विवानन्यार्थशित्वेष्वेव प्रवर्तते । अत एव
तातडि डिञ्चेत्यादि न प्रवर्तते । तथा चानुबन्धत्वघटितधर्मनिमित्तकपरिभा-

अतः सर्वनाम्न इति । अदन्तादङ्गात् परस्य *सर्वनाम्नो विहितस्येत्यर्थः । तेन मासपूर्वायेत्यत्र स्मै न ॥

ङ्सिङ्योः ॥ स्मात्स्मिनोः “हलन्त्यम्” इति न । “न विभक्तौ” इति निषेधात् । यद्यपि इत्त्रप्रवृत्तिकाले न विभक्तित्वज्ञानं, तथापि विभक्तावित्यस्य विभक्तित्वयोग्ये इत्यर्थान्न दोषः । अत एव सूत्रे तुग्रहणं चरितार्थम् ।

आमि स* ॥ “आज्जसेरसुक्” इत्यत आदिति वर्त्तते । पञ्चत्रिंशदिति । तेन सर्वार्थप्रतिपादकत्वे ऽपि कृत्स्नसकलादिशब्दानां नेति भावः । सर्वविश्वौ बुद्धिस्थानेकसंख्याकावयवारब्ध*समुदाये शक्तौ* ।

भाषाशास्त्रमनन्यार्थेत्सञ्ज्ञकेष्वेव प्रवर्त्तते इति ‘जसः शी’ इत्याद्यावनेकाल्त्वादेव सर्वादेशः । जसःशीति शकारस्य “विभाषा ङिङ्योः” इत्यादौ विशेषणार्थतया चारितार्थ्येनानन्यार्थत्वाभावात् । अत एवानन्यार्थङित्वेष्विति प्रतीकमुपादाय “तद्वलकल्प्यमानार्थानुवाद एव ङिङ्येतत् अर्थान्तरकल्पनानिवृत्त्यर्थमिति भावः । परिभाषाणां च प्रायेण पक्षप्राप्तार्थानुवादेनार्थान्तरनिवृत्त्यर्थत्वं “व्रीहीनवहन्ति” इत्यादिवदिति स्पष्टमेव” इति शेखरोक्तं सङ्गच्छते । यद्वा “नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्” इति परिभाषायामनुबन्धपदमनुबन्धत्वयोग्यपरमित्यत्र न मानम् । पूर्वभाष्यं तु एकदेश्युक्तिः । अत्र तथास्वीकारे फलाभावात् ! अत एवानायासेन ङाणलादौ सर्वादेशत्वं सिद्धम् इत्याहुः । *सर्वनाम्नो विहितस्येति* । अस्यापि पूर्ववदेव सर्वनामाभिन्नं यददन्तमङ्गं (तदादि वा) तस्मात्परस्य ङेत्येतस्य स्मै भवतीत्यर्थ इति वर्णाश्रमेतरायेत्यादौ न दोष इति बोध्यम् । एवं “ङ्सिङ्योः स्मात्स्मिनौ” इत्यस्यापि सर्वनामाभिन्नं यददन्तमङ्गं (तदादि वा) ततः परयोर्ङ्सिङ्योः स्मात्स्मिनौ भवत इति मासपूर्वात् मासपूर्वं इत्यादौ न दोषः । एवमेव “आमि सर्वनाम्नः सुद्” इत्यस्यापि सर्वनामाभिन्नं यददन्तमङ्गं (तदादि वा) तस्मात्परस्यामः सुङित्यर्थ इति वर्णाश्रमेतराणामित्यादौ दोषाभाव इति सुधियो विभावयन्तु ।

आमि सर्वनाम्नः सुद् । आमीति सप्तम्याः “त्रेन्नय” इत्यादौ चारितार्थ्येन, आदिति पञ्चम्या “आज्जसेरसुक्” इत्यादौ चारितार्थ्येन परत्वात्पञ्चमीनिर्देशस्य प्रबलत्वेन तस्मादितिपरिभाषा षष्ठ्यंशसहितोपतिष्ठते, तस्मिन्नितिपरिभाषा च षष्ठ्यंशविकला । तथा चाऽऽमव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टं यत्सर्वनामाभिन्नमदन्तमङ्गं तदव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टस्य सुङिति सूत्रार्थः । *अनेकसङ्ख्याकावयवारब्धेति* । अनेकसङ्ख्याकावयवारब्धत्वं विना समुदायत्वस्यैवासम्पत्त्या समुदाये इदं विशेषणमुपरञ्जकमिति बोध्यम् । *शक्ताविति* । वस्तुतस्तु विधेयव्याप्या या उद्देश्यतावच्छेदकव्यापिका पर्याप्ति-

तस्य समुदायस्यानुद्भूतावयवभेदत्वे* एकवचनं, यथा—‘सर्वो लौक’
इति । तादृक्समुदायद्वयादिविवक्षायां द्विवचनादि—सर्वो व्यूहा, स-
र्वे व्यूहा इति । यदा ऽप्युद्भूतावयवभेदसमुदायविवक्षा* तदाऽपि बहु-
वचनं—सर्वे घटा इति ।

पूर्वपरावर ॥ व्यवस्थाऽसंज्ञावर्तिन एवेमे सर्वादय इत्यर्थः ।
एवमुत्तरसूत्रद्वये ऽपि ।

स्तत्पर्याप्तिकयावत्त्वावच्छिन्ने तयोः शक्तिर्बोध्या । तेन “सर्वाणि द्रव्याणि
रूपवन्ति” इति न प्रयोगः । उद्देश्यतावच्छेदकद्रव्यत्वव्यापकपर्याप्तेः विधेय-
रूपवत्त्वाव्याप्यत्वात् । वाय्वादौ तदभावात् । सर्वे घटा रूपवन्त इत्यत्र
तु घटत्वव्यापकपर्याप्तेः रूपवत्त्वव्याप्यत्वात्तादृशप्रयोगोपपत्तिः । यदि तु प्रक्रान्त-
विषयिण्येव मूलोक्ता शक्तिरिति तदा तु मूलोक्तिरपि साध्येव । घटादयः
सन्ति, जलं शीतमस्ति, अग्न्यादिकं तेजः—(एतानि) ‘सर्वाणि द्रव्याणि
रूपवन्ति’ इति प्रयोगदर्शनात् । अनेकत्वावच्छिन्नेऽपि तयोः शक्तिः । तेन
सर्वे गगनमित्यादयो न प्रयोगा इत्यन्यत्र विस्तरः । *अनुद्भूतावयवभे-
दत्वे इति* समुदायत्वगता समुदायगता वा यत्रैकत्वसङ्ख्या विवक्ष्यते तत्रा-
नुद्भूतावयवभेदत्वं बोध्यम् । *उद्भूतावयवभेदसमुदायविवक्षेति* । अवय-
वगतबहुत्वसङ्ख्याविवक्षेत्यर्थः ।

परममूले *द्वित्वविशिष्टस्य वाचक इति* । स्वानधिकरणवृत्तित्व-स्व-
सजातीयमात्रवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टं यद् द्वित्वं तत्समानाधिकरणभे-
दप्रतियोगितावच्छेदकतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववद् द्वित्वमुभ-
शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं बोध्यम् । साजात्यं च एकवचनार्थैकत्वपरिष्कारघटकसा-
जात्यवत् स्वसमभिव्याहृतपदार्थसंसर्गित्वविशिष्टप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्त्वरूपेण-
ग्राह्यम् । इदमेव द्वित्वं द्विवचनार्थोऽपि । यथोभौ घटपटावित्यादौ
स्वं द्वित्वं तदनाधिकरणवृत्तित्वं—स्वसजातीयमात्रवृत्तित्वमेतदुभयसम्बन्धेन
स्वविशिष्टद्वित्वस्याप्रसिद्धावपि तद्वृत्तिभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वरूपसम्बन्ध-
स्यैतद्द्वित्वे ऽभावात्स्वाभाववत्त्वं स्वस्मिन् सुलभमिति लक्षणसमन्वयः ।
भूतले घटादित्रयदशायां मेषत्रयादेर्यागसम्बन्धित्वे च नानाद्वित्वानां स्वानधि-
करणवृत्तित्व-स्वसजातीयमात्रवृत्तित्वोभयसम्बन्धेन द्वित्ववैशिष्ट्यस्य परस्परं
सत्त्वात् चालनीन्यायेन सर्वेषामेव स्वविशिष्टद्वित्वसमानाधिकरणभेदप्रतियो-
गितावच्छेदकत्वमेवेति सम्बन्धप्रसिद्धिः । तथा च तत्र तादृशसम्बन्धस्यैव
सत्त्वात् तत्सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्त्वं दुर्लभमिति न
तत्र तादृशप्रयोगः, नवा मेषत्रयादिकरणकयागाददृष्टसिद्धापत्तिः । स्वस-
जातीयमात्रवृत्तित्वनिवेशादुभौ घटाकाशावित्यादौ यत्किञ्चिद्घटाकाशोभयवृ-
त्तिद्वित्वे यत्किञ्चिद्घटाकाशोभयगतद्वित्ववैशिष्ट्यस्य सर्वेऽपि न निरुक्तद्वि-

नित्यं द्विवचनान्त इति । द्विवचनान्त एवेत्यर्थः । अक-
जर्थ इति । ननु काकचोः को विशेषः । प्रत्ययस्वरचित्स्वराभ्या-
मन्तोदात्तत्वस्यैव सत्त्वात् । न च सुवन्तात्तद्धितोत्पत्त्या चित्त्वप्रयुक्तमन्तो-
दात्तत्वम् 'उभकाभ्याम्' इत्यादौ सुवन्तस्य, के तु प्रकृतेरिति विशेष इ-
ति वाच्यम् । तद्धितविधौ प्रातिपदिकादित्यधिकारेण प्रातिपदिकस्यैव
प्रकृतित्वात् । स च जायमानो न्यायात्सुवन्तात्पर इत्यन्यदेतत् । यु-
ष्मदस्मद्विषये तु वचनात्सुवन्तस्यैव प्रकृतित्वं, तस्यैव टेः प्रागकजिति
बोद्धव्यम् । न चाकचि तन्मध्यपतितन्यायेन तस्योभग्रहणेन ग्रहणे उ-
भकावयवौ यस्येत्यर्थे उभकशब्दादयच्युभकय इति रूपं, के तु नेति
विशेषः । "कश्चेदानीं काकचोर्विशेषः" इति भाष्यप्रामाण्येन तेषामनभि-
धानादिति शङ्कते-न चेति ।

द्विवचनपरत्वाभावेनेति । अकचि तन्मध्यपतितन्यायेनोभ-
शब्दस्य द्विवचनपरत्वं, के तु तेन व्यवधानात् तस्य तत्त्वमित्यर्थः ।
"उभादुदात्त" इति सूत्रे भाष्यकृता ऽयच्चः प्रत्ययान्तरत्वेन व्याख्याना-
न्महाविभाषासम्बन्धस्यावश्यकत्वेन नित्यग्रहणमयोग्यं सत् योगविभा-
गेनोभशब्दाद्धृत्तिविषये ऽत्यन्तस्वार्थिकायज्विधानार्थम् । अयञ्च त-
द्विषये सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव, स्वार्थिकत्वेनान्तरङ्गत्वात् । अत एवायज्वि-
शिष्टस्योभस्य सर्वनामत्वात्सर्वनामप्रकृतिकसमुपगच्छन्तत्वेन त्रलाद्युत्प-
त्तिः । अत्र नित्यशब्दस्य वाच्यार्थविरोधान्महाविभाषाया असम्बन्धः ।

त्वलक्षणाव्याप्तिः । सङ्ख्यामात्रं द्वित्वं नोभशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं न वा द्विवचनार्थः ।
उभावाकाशावित्यादिप्रयोगाणां प्रामाण्यापत्तेः । धवद्वयखदिरद्वयतात्पर्येण धव-
खदिरौ छिन्धीत्यादिप्रयोगाणां प्रामाण्यापत्तेश्च । न च द्वित्वत्वेन रूपेण नाना-
द्वित्वावगाहिबोधो ऽव्युत्पन्न इति वाच्यम् । "सारस्वतौ मेधौ भवतः" 'ब्राह्मणा-
भ्यां ब्राह्मणाभ्यां देहि' इत्यादौ द्वित्वत्वेन नानाद्वित्वावगाहिबोधदर्शनेनेतादृश-
द्वित्वावगाहिबोधो न भवतीति वक्तुमशक्यत्वात् । न चैवमप्युभावाकाशावि-
त्यादिप्रयोगवारणार्थमुद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यत्वविशिष्टपठ्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्व-
स्यान्वय इति विवक्षणेनोक्तदोषानवकाशाच्च परिष्कृतद्वित्वमुभशब्दप्रवृत्तिनिमि-
त्तं, न वा द्विवचनार्थ इति कथनस्योपयोग इति वाच्यम् । 'उभौ धवखदिरौ
छिन्धि' इत्युदाहृतेऽप्युद्देश्यतावच्छेदकधवत्वव्याप्यत्वस्य खदिरत्वव्याप्यत्वस्य
च द्वित्वेऽभावेनैकैकधवैकैकखदिरतात्पर्येण तादृशप्रयोगानापत्तेः । तादृशप्रयो-

अयमप्याद्युदात्त एवोदात्तग्रहणानुवृत्तेः । अयञ्च वार्तिकप्रामाण्याद्यत्रोभ-
 शब्दस्योभयशब्दस्य वा द्विवचनविषयत्वाभावसम्भावना तत्रैव । अत
 एवोभयोर्वास इत्यादौ “शयवास” इत्यलुकि नायच् । तद् ध्वनयन् वा-
 र्तिकमाह—उभयोऽन्यत्रेति । द्विवचनपरत्वाभावे इति । तत्पर-
 त्वविषयत्वाभावे इत्यर्थः । उभयो मणिरित्यादौ तु न । “लिट्यभ्या-
 सस्योभयेषाम्” इति निर्देशेन योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वेन* च तस्य क-
 चिदप्रवृत्तेः । अतो रूपाद्यन्ते नायच् । रूपादेरस्मादनभिधानमेव वा ।

गोपपक्षये शुद्धपर्याप्तिसम्बन्धेन द्वित्वस्यान्वयस्वीकारे धवद्वयत्वादिरद्वय-
 तात्पर्येणोभौ धवद्वयद्विरौ छिन्धीतिप्रयोगस्योभावाकाशावित्यादिप्रयोगस्य चा-
 पत्तेर्दुर्वारत्वादिति दिक् ।

उभशब्दस्येति । अयच्प्रवृत्त्यभावसम्भावनाप्रयोज्या यत्रोभ-
 शब्दस्य द्विवचनपरत्वसम्भावना ततोऽन्यत्रायजिति भावः । यद्युभ-
 शब्दादयच् न स्यात्तर्हि उभशब्दस्य द्विवचनपरत्वं स्यादिति यत्र सम्भाव्यते ततो
 अन्यत्रायच् साधुरिति यावत् । अत एवोभे भद्रे इति सिद्धम् । यद्यु-
 भशब्दादयच् न स्यात्तर्हि टापि पूर्वान्तवद्भावेन टाबन्ते उभशब्दत्वस्य सत्त्वाद्
 द्विवचनपरकत्वमेवेति तत्रायचोऽसाधुत्वात् । नन्वेवं उभतयाविति रूपं न
 स्यात् । यद्ययज् न स्यात् तर्हि तयपि तेन व्यवधानादुभशब्दस्य द्विवचनपरक-
 त्वाभावेन अपवादायजिविषयत्वेनोत्सर्गतयपोऽप्रवृत्तेः । एवं भाष्यकृन्मते उभ-
 यत उभयत्रेत्याद्यसिद्धयापत्तिश्च । यद्ययज् न स्यात्तर्हि उभशब्दस्य सर्वादौ पाठा-
 भावात्तत्प्रकृतिकसप्तम्याः सर्वनामप्रकृतिकत्वाभावेन ब्रलाद्यनुत्पत्तौ उभशब्दस्य
 द्विवचनपरत्वमेवेति ततोऽन्यत्र न जातमिति तत्रायचः साधुत्वस्य दुरुपपादत्वा-
 दिति चेत्तत्राह—*उभयशब्दस्येति* अयच्प्रवृत्तिसम्भावनाप्रयोज्या यत्रोभय-
 शब्दस्य द्विवचनपरत्वसम्भावना ततोऽन्यत्रायच् साधुरिति भावः । तथा चोभ-
 तयाविति रूपं भाष्यमते उभयत्रेत्यादि च सिद्ध्यति । यद्युभशब्दादयच् स्यात्तर्हि
 अयजन्तस्य द्विवचनपरत्वमेवेति ततोऽन्यत्रेति न जातमिति अपवादविषय-
 त्वाभावेनोत्सर्गतयप्रवृत्तेः । एवं यद्युभशब्दादयच् स्यात्तर्हि भाष्यमते ऽयज-
 न्तोभयशब्दस्य सर्वादौ पाठात्सर्वनामत्वेन तदुत्तरसप्तम्याः सर्वनामप्रकृतिक-
 त्वेन तस्मात् ब्रलि उभयशब्दस्य द्विवचनपरकत्वाभावेनायचः साधुत्वस्य
 सूपपादत्वादिति दिक् ॥

इष्टसिद्ध्यर्थत्वेन चेति । चिन्त्यमिदम् । विभक्तयोगद्वयमध्ये अन्यत-
 रेणान्यतरस्य यत्र वैयर्थ्यं तादृशातोधातोर्इत्यादिविषय एव “योगविभागादिष्ट-
 सिद्धिः” इति परिभाषाप्रवृत्तिस्वीकारेण प्रकृते चावयवार्थायचोऽन्यन्तस्वार्थिका-
 यचश्चैकेन योगेन विधातुमशक्यतयाऽपरयोगवैयर्थ्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् अन्य-

अयच्यकच् तु न वाच्यः* । उपजीव्यत्वेन कस्यैव प्राप्तेः* । अपवादस्त्वन्यत्र* चरितार्थः ।

अत्रेदं चिन्त्यम्—अकजिवधावेवोभग्रहणेन सिद्धे सञ्ज्ञाप्रणयनं किमर्थम्* । अभिव्यक्तपदार्थकृत्वात्संज्ञाव्यावृत्तिः, सर्वनामसाहचर्याच्च । अत एवोपसर्जनव्यावृत्तिरपि । “उभयोऽन्यत्र” इति वार्तिके तयप्समानार्थकोऽप्ययञ् गृह्यते । उभयो मणिः, उभये देवमनुष्या इति भाष्ये तदुदाहरणात् । स्वार्थिकस्य च ग्रहणं, तदुपक्रमेण वार्तिकप्रवृत्तेः । एवञ्चाव-

तरेणान्यतरयोगवैयर्थ्यस्यैतत्परिभाषावीजत्वाच्च । तथैव स्वयमप्युक्तत्वाच्च । न चैवमपि उभे भद्रे इति न स्यात् । यद्युभशब्दादयच् स्यात्तर्हि तदन्तात् टिङ्ढेति ङीपि तेन व्यवधानादुभयशब्दस्य द्विवचनपरकत्वज्ञास्तीति ततोऽन्यत्रेति जातमिति अयजापत्तेरिति वाच्यम् । ङीप्यपि तदन्ते लिङ्गविशिष्टपरिभाषया उभयशब्दत्वस्य सत्त्वेन उभयशब्दस्य द्विवचनपरकत्वस्यैव सत्त्वात् । न च “विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम्” इति ङ्यन्ते लिङ्गविशिष्टपरिभाषया उभयशब्दत्वज्ञायास्यतीति वाच्यम् । विभक्तिनिमित्तककार्यं कर्तव्ये एव तत्परिभाषायाः प्रवृत्त्या अयचो द्विवचनपरकत्वाभावनिमित्तकत्वेन विभक्तिनिमित्तकत्वाभावात् तदप्रवृत्तेः । यत्तु—उभयसम्भावनाया ग्रहणेन उभे भद्रे इत्यत्र पूर्वोक्तरीत्याऽऽद्यसम्भावनायाः सत्त्वेनोत्तरसम्भावनाया असत्त्वेऽपि ततोऽन्यत्र न जातमित्यदोषः । मूलोक्तवाशब्दस्तु चार्थे इति बोध्यमिति केचित् । तन्न, उभयत्रेत्यत्रापि अयचप्रवृत्त्यभावसम्भावनाप्रयोज्या उभशब्दस्य गणे पाठाभावेन त्रलाद्यनुत्पत्त्या द्विवचनपरत्वसम्भावना वर्तते इति ततोऽन्यत्रजातत्वाभावेन तदसिद्ध्यापत्तेरिति ।

ननु अयचप्रवृत्तिसम्भावनाप्रयोज्या यत्रोभयशब्दस्य द्विवचनपरकत्वसम्भावना ततोऽन्यत्रायचः साधुत्वस्य स्वीकारे सर्वादौ पुनरप्युभशब्दस्य पाठो व्यर्थः । यद्युभशब्दादयच् स्यादयजन्तोभयशब्दस्य सर्वादौ पाठात्सर्वनामत्वादकच्युभयशब्दस्य द्विवचनपरत्वमेवेति ततोऽन्यत्रेति न जातमित्ययचोऽसाधुत्वात् केऽपि उभकावितिरूपसिद्धेरत आह—*अयच्यकच् तु न वाच्य इति* । अयचप्रवृत्तिसम्भावनाप्रयोज्या योभयशब्दस्य द्विवचनपरकत्वसम्भावना तस्यां कतव्यायामकचप्रवृत्तिशङ्का न कर्तव्येत्यर्थः । अत्र हेतुमाह—*उपजीव्यत्वेन कस्यैव प्राप्तेरिति* । “यद्युभशब्दादयच् स्यात्तर्हि अयजन्तोभयशब्दस्य सर्वादौ पाठात्सर्वनामत्वादकच् स्यात्” इति अकचप्रवृत्तिसम्भावनायां “यदि कप्रत्ययः स्यात्तर्हि द्विवचनलोपेन द्विवचनपरकत्वं न स्यात्” इति द्विवचनपरकत्वाभावसम्भावनाद्वारा कस्योपजीव्यत्वादिति भावः । *अन्यत्रेति* । उपजीव्योपजीवक्रभावस्याभावविषये सर्विकेत्यत्रेति भावः । *किमर्थमिति* । न च सर्वा-

यवद्वयारब्धमणिद्वयविवक्षयोद्भूतावयवभेदविवक्षया वा द्विवचनमस्यासा-
ध्वेव । एतन्मूलकपेवोभयस्यासर्वविभक्तित्वं “तद्धितश्च” इति सूत्रे कैयटेनो-
क्तं, तदाह—कैयट इति । हरदत्त इति । अत्रारुचिबीजं प्रागुक्त-
भाष्यविरोधः ॥

भाष्ये तूभशब्दपाठः प्रत्याख्यातः । कप्रत्ययस्याज्ञाताद्यर्थविशिष्ट-
स्वार्थे विधानेन *द्वित्वसंख्याप्रकारकसंख्येयविशेष्यकबोधविषयार्थानुवा-
दकत्वरूपद्विवचनत्वेन वार्तिके द्विवचनशब्देन तस्यापि ग्रहणमुभशब्द-
ग्रहणवत् । अत एवोभयोरुभावोभाविष्यादौ नायच् । तदुक्तं भाष्ये-
“केऽप्यन्तरेण वचनं द्विवचनपरो भविष्यति । कथं ? , स्वार्थिकाः प्रत्ययाः
प्रकृतितो ऽविशिष्टा भवन्तीति प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकानामपि ग्रहणं भ-
वति” इति । इति—हेतोः, प्रकृतेः—कादिप्रकृतेरुभशब्दस्य ग्राहकेण द्विवच-

दाबुभशब्दपाठेऽकज्जिघौ पाठे वा लाघवाभावाद्विशेषाभावेनेयमाशङ्का ऽसङ्ग-
तेति वाच्यम् । सर्वादाबुभशब्दपाठे उभे भद्रे इत्यादावन्तोदात्तदर्शनेन
स्वाङ्गशिष्टामित्याद्युदात्तत्वबाधनार्थमुञ्छादिषु उभशब्दपाठस्यावश्यकत्वेनो-
भयत्र पाठे गौरवेणाकज्जिघावेवोभशब्दस्य ग्रहणं कस्मान्न क्रियत इति
शङ्कायाः समीचीनत्वात् ॥

द्वित्वसंख्याप्रकारकेति । स्यादेतत् । यदि द्वित्वसंख्याप्रकारकसं-
ख्येयविशेष्यकबोधजनकत्वं द्विवचनत्वं तर्हि घटपदादपि द्वित्वसंख्याप्रकारक-
संख्येयविशेष्यकबोधजननात्तस्यापि द्विवचनत्वापत्तौ उभयोर्घटौ उभयघटा-
वित्यादावयच् न स्यात् । उभशब्दस्य उभयशब्दस्य वा द्विवचनपरकत्वस्यैव स-
त्त्वात् । न च द्वित्वसंख्याप्रकारकसंख्येयविशेष्यकोपस्थितिजनकत्वं द्विवचनत्व-
मिति नोक्तदोष इति वाच्यम् । अतसिलादेरपि द्वित्वसंख्याप्रकारकसंख्येयविशे-
ष्यकोपस्थितिजनकत्वेन तस्यापि निरुक्तद्विवचनत्वापत्तौ अतसिलादेर्द्विव-
चनत्वं नास्तीत्यग्रिमग्रन्थविरोधात्, उभावित्यादावौविभक्तोर्द्वित्वसंख्याप्र-
कारकसंख्येयविशेष्यकोपस्थितिजनकत्वस्याभावेन निरुक्तद्विवचनत्वस्याना-
पत्तेश्चेति चेन्मैवम् । यस्य द्विवचनत्वं वक्तव्यं तत्प्रयोज्यप्रधानतानिरूपि-
ताप्रधानत्वासमानाधिकरणा या द्वित्वसंख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपितसंख्येयनि-
ष्ठप्रधानता तादृशप्रधानताप्रयोजकत्वं द्विवचनत्वमिति परिष्कारेणादोषात् ।
तथा हि—प्रधानता नाम संसर्गताविशेष्यतासाधारणो विषयताविशेषः ।
तथा चोभयत्रेत्यादौ सप्तम्यन्तात् ब्रलाद्युत्पत्त्या ब्रलपदप्रयोज्याऽऽधाराधेयभा-
वसंसर्गनिष्ठप्रधानतानिरूपिताप्रधानत्वसमानाधिकरणैव द्वित्वसंख्यानिष्ठ-
प्रकारतानिरूपितसंख्येयनिष्ठा प्रधानता जातेति अतसिलादेर्नोक्तद्विवचनत्वम् ।

नशब्देन स्वार्थिकस्यापि ग्रहणमिति तदर्थः । त्रतंसिलौ तु विभक्त्यन्त-
स्य स्वार्थे विहिताविति *तत्तत्कारकशक्तिप्रधानावेवेति न तयोरुक्तद्वि-
वचनत्वमिति ।

तस्मात्—उभयशब्दात् । जसीति । अवयवद्वयारब्ध-
समुदायबहुत्वविवक्षायामित्यर्थः । अन्तरङ्गत्वादिति । *सर्वार्थबोधक-
त्वरूपार्थस्योभयत्रापि निमित्तत्वेन न तत्कृतं नित्यसञ्ज्ञाया बहिरङ्गत्वम् ।
अत एव सञ्ज्ञोपसर्जनप्रथमादिशब्दे न विकल्पः । अर्थकृतबहिरङ्गत्वस्या-
नाश्रयणाच्चेति भावः । इदमर्वाचामनुरोधेन ।

परे तु—अस्य *पक्षे ऽभावबोधकतया “निषेधाश्च बलीयांसः” इ-
त्यनेनास्य प्राप्तिः । किं च न “अन्तरङ्गं बलीयः” इत्यस्या अत्र विषयो
युगपत्प्राप्त्यभावात् । सञ्ज्ञानां वाध्यबाधकभावाभावेन प्रातिपदिकस-
ञ्ज्ञासमकालमेव सर्वनामसञ्ज्ञाप्रवृत्तेः* ।

कप्रत्ययस्य प्रातिपदिकादेवोत्पत्त्या संसर्गनिष्ठप्रधानताख्या विषयता न कपद-
प्रयोज्येति कस्य नोक्तद्विवचनत्वभङ्ग इति । तदेतत्सर्वं ध्वनयन्नाह—*तत्तत्का-
रकशक्तिप्रधानाविति* ।

परे तु “स्वार्थिकाः प्रत्ययाः प्रकृतितो ऽविशिष्टा भवन्ति” इत्यस्य यदा-
गमपरिभाषावत् स्वार्थिकप्रत्ययप्रकृतिपर्याप्तधर्माः स्वार्थिकप्रत्ययान्ते तदादाव-
तिदिश्यन्ते इत्यर्थः । प्रकृतिग्रहणेन स्वार्थिकप्रत्ययविशिष्टस्य ग्रहणमिति यावत् ।
वैशिष्ट्यश्च स्वघटितत्वं—स्वनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयघटितत्वं—स्व-
विशिष्टाघटितत्वमेतन्नित्यसम्बन्धेन । सम्बन्धघटकवैशिष्ट्यं तु स्वेतरत्व-
स्वीयविधेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयेतरत्वोभयसम्बन्धेन बोध्यम् । तथा चो-
भशब्दग्रहणेनोभकशब्दस्यापि ग्रहणात्केऽप्युभशब्दस्य द्विवचनपरत्वमेवेत्युभ-
शब्दपाठो व्यर्थः । अत एव प्रकृतितो ऽभिज्ञा इत्यर्थकप्रकृतितोऽविशिष्टा
इति भाष्यं सङ्गच्छते । जराशब्दात् कप्रत्यये जरसादेशस्तु निर्दिश्यमानत्वा-
भावात् । श्वशुरकशब्दात् “राजश्वशुराद्यत्” इति यदादेरतिप्रसङ्गस्त्वन-
भिधानाद्वारणीय इत्याहुः ।

सर्वार्थबोधकत्वरूपार्थस्येति । प्राधान्येन स्वीयसर्वार्थवाचकत्व-
रूपार्थस्येत्यर्थः । *पक्षे ऽभावबोधकतयेति* । अयं भावः—प्रथमचरमेतिवि-
कल्पस्य नेमशब्दे प्राप्ते अन्यत्राप्राप्ते उभयत्रविभाषात्वेन पक्षे ऽभावस्यापि
विधायकत्वेनावृत्त्या नञं चाध्याहृत्य प्रथमादीनां सर्वनामसंज्ञा न भवतीति पूर्वं
सामान्यतो निषिद्ध पश्चादुद्देश्यतावच्छेदकसामानाधिकरण्येन विधेया-
स्वीयाद्विकल्पेन सर्वनामसंज्ञाविधाने “निषेधाश्च बलीयांसः” इतिन्यायेन उ

अत एवोभये इत्यत्र सर्वनाम्नो विहितत्वेन शीभावासिद्धिः* ।
 पूर्वापरेत्यादि तु पक्षे तदभावमात्रबोधकम् । “असिद्धं बहिरङ्गम्”
 इत्यपि न । अन्तरङ्गोत्तरं बहिरङ्गप्राप्तेः । अन्तरङ्गे कर्तव्ये बहि-
 रङ्गासिद्धत्वेऽपि तत्प्रवृत्त्युत्तरं बहिरङ्गप्रवृत्तेरनया वारयितुमशक्यत्वात्* ।
 बहुशस्तथा दृष्टत्वात् । तदुत्तरमप्येतत्प्रवृत्त्या पूर्वादिविव पक्षे तदभावविशिष्टे
 साधुत्वबोधनस्य शक्यत्वात् । जसीति विषयसम्पत्तीतिपक्षेऽपि प्रातिपदिका-
 दिसञ्ज्ञोत्तरमेवास्याः प्रवृत्तिस्तदुत्तरमेव तद्विषयात् । स्थानिवदतिदेशप्रापि-
 ताया *निरवकाशत्वाच्च । प्रत्यक्षस्य स्थानिवद्भावस्यानुमानिक्याऽनया
 बाधायोगाच्च । सर्वनामसञ्ज्ञायामुक्तयुक्त्या यथोद्देशपक्षस्यैवौचित्यं*-

भये इत्यादौ प्रथमचरमेति विकल्पस्यैवापत्तेरिति भावः । *सर्वनामसंज्ञाप्रवृत्ते-
 रिति* । वस्तुतस्तु “उपसञ्जनिष्यमाणानिमित्तोऽप्यपवाद उपसञ्जातनिमित्तम-
 प्युत्सर्गं बाधते” इति न्यायेन यदि नित्या संज्ञा न स्यादस्माज्जसि अपवादः
 प्रथमचरमेतिविकल्पः स्यादिति सम्भावनायाः सत्त्वेन भविष्यदपवादविषयाति-
 रिक्तत्वेन सङ्कोचात्पूर्वरीत्या निषेधशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरि-
 क्तत्वेन सर्वादीनीत्यत्र सङ्कोचान्नित्यसंज्ञाया अप्रवृत्तेरिदमयुक्तम् ।

शीभावासिद्धिरिति । वस्तुतस्तु जसुत्पत्त्यनन्तरं सर्व-
 नामसंज्ञायामपि सर्वनामसंज्ञकाभिन्नं यददन्तमङ्गं ततः परस्य जसःशी
 स्यादित्यर्थकरणेन वर्णाश्रमेतरा इत्यादौ दोषाभावाद्धिहितपदाध्याहार-
 स्य पूर्वमेव खण्डितत्वात् जसुत्पत्त्यनन्तरमपि सर्वनामसंज्ञायां नो-
 क्तदोष इति बोध्यम् । *वारयितुमशक्यत्वादिति* । वस्तुतस्तु
 नित्यसंज्ञाप्रवृत्तिकाले विकल्पस्याप्राप्तिरूपमेव बहिरङ्गत्वं प्रथमचरमे-
 त्यस्य मूलकृतोऽभिप्रेतमिति नेदं दूषणं सम्यक् । *निरवकाशत्वाच्चे-
 ति* । चिन्त्यमिदम्, प्रथमचरमेतिशास्त्रस्यात्र प्रवृत्तेरभावेन स्थानिवादित्यति-
 देशार्थमन्यत्संज्ञाशास्त्रमन्यविषयेऽन्यदिति वक्तुमशक्यत्वेन निरवकाशत्वस्य
 दुरुपपादत्वात् । न च उभये इत्येतल्लक्ष्यासिद्ध्यर्थं व्यक्तिपक्षे उपप्लुतं प्रथम-
 चरमेतिशास्त्रं निरवकाशमिति वक्तुं युक्तम् । एवन्तर्हि उभये इतिलक्ष्यार्थमु-
 पप्लुतस्य “सर्वादीनि सर्वनामानि” इतिशास्त्रस्यापि निरवकाशत्वस्य तुल्यत्वात् ।
 बाधायोगाच्चेति । इदमपि चिन्त्यमेव । नित्यसंज्ञाप्रवृत्तिकाले विकल्पसं-
 ज्ञाया अप्रवृत्त्या नित्यसंज्ञाप्रवृत्तिकाले परस्य निमित्ताभावादप्रवृत्तिरूपं बहिरङ्ग-
 त्वमिति वदितुर्मते प्रत्यक्षस्थानिवदितिशास्त्रस्य ज्ञापकसिद्धत्वेनानुमानि-
 कया “असिद्धं बहिरङ्गम्” इतिपरिभाषया बाधायोगादिति कथनस्यायुक्तत्वात् ।
 उक्तयुक्त्येति । सर्वनाम्नो विहितत्वेन जसः शीत्यादिसमासत्तये प्रातिपदिक-
 संज्ञासमकालमेव सर्वनामसंज्ञा भवतीत्युक्तयुक्त्येत्यर्थः । *औचित्यादिति* ।

त्यात् । अत एव*“तयादेशे उभयप्रतिषेधः । तयपो ग्रहणेन ग्रहणात् ज-
सि विभाषा प्राप्नोति”इति स्थानिवत्सूत्रस्थं वार्तिकम् “अयच् प्रत्ययान्तर-
म्”इति सूत्राशयप्रदर्शनेन भाष्ये प्रत्याख्यातं, न त्वन्तरङ्गन्यायवलेन ।
उभयीत्यत्र ङीप्त् “टिड्ढा” इतिसूत्रे मात्रशब्दादारभ्यायचश्चकारात्प्रत्या-
हाराश्रयणेन सिद्धः । अत इत्यनुवृत्त्या च कतीत्यादौ नातिप्रसङ्गः ।
तयग्रहणन्तु सूत्रे ऽवयुत्यानुवादः* । द्वित्रिशब्दप्रकृतिकायजन्तस्य जसः-
शीविषये ऽनभिधानमेव, पुंस्त्वेव वा ऽनभिधानमिति तदाशय इति वदन्ति ।
तथापीहेति । “प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्”इति “प्रयोजनं सर्वनामा-
व्ययसंज्ञायाम्”इति च तदन्तविधिद्वयेन डतरान्तान्तेत्याद्यर्थे परमकतरस्य,

अन्यथा कार्यकालपक्षे जसुत्तरमेव सर्वनामसंज्ञानिमित्तकशीभावरूपकार्यप्राप्त्या
जसुत्पत्त्यनन्तरं संज्ञायां जसः सर्वनाम्नो विहितत्वाभावेन शीभावो न स्यादिति
भावः । *अत एवेति* । “निषेधाश्च वलीयांसः”इतिन्यायेन प्रथमचरमेतिशास्त्र-
स्योभयत्रविभाषात्वेन पूर्वं निषेधमुखेन प्रवृत्त्युपपत्तये कल्पितात् निषेधशालीयो-
द्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन सर्वादीनीत्यत्र सङ्कोचाक्षित्यसंज्ञाया अप्रा-
प्त्या, पक्षे सर्वनामसंज्ञासंपत्तये कल्पितेन ‘विभाषा जसि सर्वनामसंज्ञा भवति’
इतिवाक्येन उभये इत्यादौ विकल्पेन संज्ञा प्राप्नोति इति स्वीकारादेवेत्यर्थः ।

अवयुत्यानुवाद इति । पृथक्कृत्यैकदेशालुवाद इत्यर्थः । अत्रेदं तत्त्वम् ।
“धातोर्द्वये प्रत्ययाः सुपस्तिङश्च” इतिभाष्ये ‘द्वये’ इतिप्रयोगदर्शनेन—द्वि-
त्रिशब्दप्रकृतिकायजन्तस्यानभिधानकथनं साहसमात्रमेव । तयादेशकल्पे द्वये
द्वयाः, अयच् प्रत्ययान्तरमिति कल्पे च द्वया इति फलमेदस्तु न । “उभादुदात्तो
नित्यम्” इत्यनेनायच्चः प्रत्ययान्तरत्वेन विधानेऽपि “द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा”इति
सूत्रेण तयस्यैवायज्विधानात् । अत एव “तयादेशे उभयप्रतिषेधः”
इति वार्तिके उभयग्रहणं सङ्गच्छते । अन्यथा तयादेश इत्येव ब्रूयात् ।
तथा च द्वये द्वया इत्यत्र विकल्पो भवत्येव । “उभादुदात्त
इति सूत्रे तयस्येत्यननुवर्त्योभशब्दात् स्वातन्त्र्येणाऽयज्विधेयो, “द्वित्रि-
भ्यां तयस्य” इत्यनेन तु तयपः स्थाने इति तद्भावः । आदेशकल्पे तयादेशे
उभयप्रतिषेध इति वार्तिकेन स्थानिवत्त्वनिषेधात्, अयच् प्रत्ययान्तरमिति कल्पे
च प्रथमेत्यस्याप्राप्त्या विकल्पाभावेन उभये इत्येकमेव रूपमित्यत्राप्यारम्भप्रत्या-
ख्यानयोर्वैषम्याभावः । एवञ्च तदनभिधाने मानाभाव इति केचित् ।

वस्तुतस्तु आदेशकल्पे “तयादेशे उभयप्रतिषेध”इति वार्तिककरण-
रूपगौरवेणाग्रच् प्रत्ययान्तरमतिकल्पो भगवता स्वीकृतः । तथा
चायच् प्रत्ययान्तरमिति कल्पे “द्वित्रिभ्याम्” इतिसूत्रे तयस्येति
पदं न-कर्तव्यं भवति । एवं “टिड्ढाण्” इतिसूत्रे मात्रजिति प्रत्याहाराश्रय-
णेन तत्रत्यतयग्रहणमपि न कर्तव्यम्भवति । एवं प्रथमचरमेतिसूत्रे तयग्रहणं,

व्यपदेशिवद्भावेन कतरस्य च *संज्ञा सिद्धेति भावः । तत्र मानमाह—
केवलगोरिति । प्रयोजनाभावात्-फलाभावादित्यर्थः । अदन्तादङ्गा-
त्परस्य *सर्वसाम्नो विहितस्येत्येव “जसः शी” इत्यादेरर्थादिति भावः ।
ननु इतरग्रहणेनैव सिद्धेऽन्यतरशब्दपाठो व्यर्थो ऽत आह—अन्यत-
रेति । किञ्चित्तद्व्य एव तयोर्विधानादिति भावः । अपुरीति । पूःश-
ब्दस्य *विशेष्यत्वे नेत्यर्थः । तद् ध्वनयन स्त्रियामुदाहरति-अन्तरा-
यामिति ।

‘एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा ।

साधारणे समाने ऽल्पे संख्यायां च प्रयुज्यते’ ॥

इति केचित् । केवले ऽसहाये । तत्र संख्याऽन्यार्थासहायवाची-
“ष्णान्ता षट्” “बहुषु बहुवचनम्” “एकादाकिनिच्च” इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्प-
ष्टमुक्तः । “एको गोत्रे” इति सूत्रशेषे भाष्ये प्रथमार्थोऽपि उक्तः । साधारण-
समानार्थयोः संख्यावाचिन एवार्थतः पर्यवसानम्, यथा तेनैकदिक्, चैत्रमै-
त्रयोरेका मातेत्यादौ । “सर्वस्य द्वे” इति सूत्रे एकैकश इति भाष्यमुपादा-

“तयादेशे उभयप्रतिषेधः” इति वार्त्तिकश्च न कर्तव्यमभवतीति महत्त्वा-
द्यम् । एवञ्च तदनभिधाने एव भाष्यतात्पर्यम् । उभयीत्यत्रैव द्वयीत्यत्रापि
कीदृ भवत्येव । “द्वित्रिभ्यां तयस्य” इत्यत्र तयग्रहणमकृत्वा द्वित्रिभ्यां विकल्पे-
नायच्प्रत्ययस्यैव तेन विधातुं शक्यत्वात् । अत एव द्वयं द्वयी स्यादिति कोशः
सङ्गच्छते । धातोर्द्वये प्रत्यया इति भाष्यं तु धातोर्द्वये आख्यातप्रातिपदिकार्थ-
विषय इत्यर्थविवक्षणेन कथञ्चित्सङ्गमनीयमिति दिक् ॥

संज्ञासिद्धेति भाव इति । वस्तुतस्तु अत्रत्यशेखरो मूलञ्चै-
तदुभयमपि चिन्त्यमेव । साक्षात्सर्वनामसंज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताप्र-
योजकत्वस्य सर्वादिपदे सत्त्वेऽपि प्रत्ययमात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकत्वस्य
तत्राभावेन, सर्वादिगणान्तर्गतइतरइतमेत्यत्र प्रत्ययमात्रवृत्तिविषयताप्र-
योजकत्वस्य सत्त्वेऽपि सर्वनामसंज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताप्रयोजकत्व-
स्य साक्षादभावेन साक्षात्संज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपितप्रत्ययमात्रवृत्त्युद्देश्यताप्र-
योजकं पदं तद्वादिविशेष्यकतदन्तविधिप्रयोजकमेत्यर्थिकायाः “संज्ञाविधौ प्रत्यय-
ग्रहणे तदन्तग्रहणमस्ति” इति परिभाषायाः प्रकृते प्राप्त्यभावात् । *स-
र्वनाम्नो विहितस्येति* । अत्रापि पूर्ववत्सर्वनामाभिन्नं यददन्तमङ्गं तस्मात्पर-
स्येत्यर्थो बोद्धव्यः । *विशेष्यत्वे नेति* । विशेष्यताप्रयोजकत्वे नेत्यर्थः । तथा
च पूःपदप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकेतरस्यैवान्तरशब्दस्य “अन्तरं
बहिर्योग” इति गणसूत्रे ग्रहणमिति भावः । वस्तुतस्तु अपुरीत्यस्य पूःशब्दार्थ-

य केचिदाहुरलपार्थोऽप्येकशब्दोऽस्तीति वदता कैयटेन केचिदित्युक्त्यस्य तदर्थकाभावो ध्वनित एव । एवं च प्रधानार्थे न दृढं मानम्* ।

“स्वाभिधेयापेक्षावधि” इति समस्तः पाठः । नियमेनावधिसापेक्षेऽर्थे* वृत्तमानपूर्वादीनामित्यर्थः । दक्षिणा गन्धका इति । उत्कर्षस्यावधिसापेक्षत्वादत्र व्यवस्थाऽस्तीत्याग्रहे तु ‘उत्तरे प्रत्युत्तरे च शक्त’ इति प्रत्युदाहरणं बोद्धव्यम् । उत्तराः कुरव इति । सुमेर्ववधिकपरदेशत्वरूपोपाधिविशिष्टकुरुषु उत्तरशब्दः शब्दं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य वर्तते इति व्यवस्थाविषयत्वं बोद्धव्यम् । दिग्वाचकपूर्वादिशब्दानां* मध्याह्नसूर्यसंयोगिदेशावधिकोदयाचलास्ताचलसंनिहितदेशतत्कालिकसूर्यसम्मुखयावदेशतत्कालिकतत्पृष्ठस्थयावदेशरूपोपाधिविशिष्टदिशि तत्तच्छब्दं प्रवृत्तिनिमित्तीकृत्य प्रवृत्तिरिति उपाध्यन्तर्गततया व्यवस्थाऽस्त्येव, मध्याह्ने सूर्यस्योदङ्मुखत्वात् । देशवृत्तीनां त-

स्य विशेष्यत्वे नेतिव्याख्यानमिति स्वीत्वविशिष्टपूःशब्दार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकेतरान्तरशब्दस्य ‘अन्तरं बहिर्योग’ इति गणसूत्रे ग्रहणमिति अन्तराया नगर्यामित्यादिसिद्धिः ।

न दृढं मानमिति । चिन्त्यमिदम् । अर्थनिर्णयस्य कोशाधीनत्वेन तदनिर्णायके शब्दशास्त्रे महाभाष्ये मुख्यार्थकैकशब्दादर्शनमात्रेण प्रधानेऽर्थे न दृढं मानमिति कथनस्य साहसमात्रत्वात् । “एके मुख्याभ्यकेवलाः” इति कोशस्य तदर्थं मानत्वाच्च । “नेत्येके ऽसेहि दृश्यते” इति वार्तिके मुख्यार्थकैकशब्दस्य, “समो वा लोपमेके” इति भाष्ये मुख्यार्थकैकशब्दस्य दर्शनाच्च । शब्दार्थनिर्णयस्य लौकिकान्वयव्यतिरेकसिद्धत्वाच्चेति दिक् ।

अवधिसापेक्षे ऽर्थे इति । अवध्यंशं नित्यस्माकाङ्क्षं यद्रूपं तद्रूपावच्छिन्नवाचकत्वमेव व्यवस्थावाचकत्वम् । यद्धर्मावच्छिन्नज्ञानोत्तरमवधिविशेषविषयिणी जिज्ञासा नियमेनोदेति तद्धर्मावच्छिन्नवाचकत्वमिति यावत् । *मध्याह्नसूर्यसंयोगीति* । वस्तुनो नेदं दिग्वाचकपूर्वादिप्रदप्रवृत्तिनिमित्तम् । एवं सति दक्षिणात्यानाम् “उदङ्मुखः प्राङ्मुखो वा त्रिवारमुपस्पृशेत्” इत्यादिविधीनाङ्कतुमशक्यत्वं स्यात् । तद्दृष्ट्या सर्वस्यैव दक्षिणदिक्त्वात् । एवमेव पाश्चात्यानां “दक्षिणाभिमुखः सन् भ्राज्यादिविधिं कुर्यात्” इत्यादिविधीनाङ्कतुमशक्यत्वमेव स्यादिति दिग्वाचकपूर्वादिप्रदानां यत् प्रवृत्तिनिमित्तमुक्तं मूले तद् देशवाचिनां बोध्यं, देशवाचकपूर्वादिशब्दानां च यदुक्तं तद् दिग्वाचिनां बोध्यमिति केचित् । मध्याह्नसूर्यसंयोगिदेशावधिकोदयाचलसन्निहितादिदेशोपाध्यवच्छिन्नत्वस्य दिग्धर्मत्वेन तत्तदवधिकोदयाचलसन्निहितत्वादेर्देशधर्मत्वेन यथाश्रुतमेव दिग्देशवाचिनां पूर्वादिशब्दानां प्रवृत्ति-

तदवधिकोदयाचलसन्निहितत्वादि प्रवृत्तिनिमित्तमित्यन्यत्र विस्तरः ।

‘अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्दिभेदतादर्थ्ये ।

छिद्रात्मीयविनावहिरवसरमज्ज्येऽन्तरात्मानि च’ ॥

इतिकोशोक्तार्थान्तरव्युदासार्थमाह—अन्तरं बाहिर्योगेति । अयं त्रिसूत्र्या क्रियमाणः सञ्ज्ञाविकल्पो जसाधारे शीभाव एव, न त्वकजाद्युदात्तत्वादविति बोध्यम् ।

न बहुव्रीहौ । “चिकीर्षिते” इत्यध्याहारलभ्यम् । प्राचीनवृत्तिकृद्रीत्येदं व्याख्यानम् । नेदं सूत्रं बहुव्रीहेस्तत्त्वनिषेधकमुपसर्जनप्रतिषेधेन सिद्धेः । प्रक्रियावाक्य इति । अलौकिके इत्यर्थः । न चालौकिके समासप्रवृत्त्यैकार्थीभावस्यापि तत्रैव कल्पनादुपसर्जनत्वादेव समास इव तत्रापि निषेधः सिद्ध इति वाच्यम् । तत्रैकार्थीभावस्यारोपेऽपि *स्वार्थविशिष्टार्थान्तरबोधक-त्वरूपोपसर्जनत्वाभावेनातिभवकानिबन्धेव प्राप्तस्याकचोऽभावार्थं सञ्ज्ञा-निषेध इत्यत्र तात्पर्यात् । लौकिके तु नास्य प्रवृत्तिस्तत्र समासस्य चि-

निमित्तमुचितम् । ‘प्रयागात् काशी पूर्वा’ इत्यादौ पूर्वादिशब्दा देशवाचका एव । तत्तदवधिकोदयाचलसन्निहितत्वादिधर्मविशिष्टदेशस्यैव बोध्यमानत्वात् । मध्याह्नस्य देशभेदेन भेदात् तात्कालिकसूर्यसंयोगिदेशभेदस्य आवश्यकत्वेन तदवधिकोदयाचलसन्निहितादिदेशरूपोपाधेर्भेदात् तदवच्छिन्नप्राच्यादिदिशां भेदेन न दक्षिणात्यादीनां “प्राङ्मुखस्तिवारमुपस्पृशेत्” “दक्षिणाभिमुखः ध्राञ्चं कुर्यात्” इत्यादिविध्यनुष्ठानाशक्यत्वम् । अयं पूर्वो देशः, अयं पश्चिमः, अयं दक्षिणः, अयमुत्तर इतिव्यवहारस्तु लङ्घातः प्रवृत्ताया मेरुं यावद्गतायाः कुरुक्षेत्रादिदेशसंस्पर्शिन्या मध्यरेखाया मध्यभागमुज्जयिनीप्रदेशमुपाधिं स्वीकृत्य तदवधिकोदयाचलसन्निहितत्वादिकं प्रवृत्तिनिमित्तकृत्य पूर्वादिशब्दानां प्रवृत्त्या उपपादनीयः । यद्वा तत्र देशशब्देन दिगेवोच्यते । पूर्वो देश इत्यस्य मध्यरेखामध्यभागावधिकोदयाचलसन्निहितदेशरूपोपाध्यवच्छिन्ना दिगित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् । अत एव रामायणे किष्किन्ध्याकाण्डे पूर्वादिशः, दक्षिणां दिशमित्यादिना दिग्विभाग एवोक्तः । अत एव चतस्रो दिश इति व्यवहारोपपत्तिः । अन्यथोपाधीनामानन्त्यादुपधेयदिशामप्यानन्त्यमेव स्यात् । तस्मात् वैपरीत्यकल्पनं मूलाशयाज्ञानमूलकमेवेत्यन्ये ।

स्वार्थविशिष्टार्थान्तरबोधकत्वरूपेति । पदार्थान्तरनिष्ठविशेष्यतानिरूपितोपस्थितप्रकारताप्रयोजकत्वरूपोपसर्जनत्वस्यालौकिकाविग्रहवाक्ये गुप्त्वसु इत्यत्राभावादिति भावः । अतिदिश्यमानधर्मसमनियतधर्मनिमित्तककार्याभावस्यातिदेशस्वभावसिद्धत्वेन समाससंज्ञार्थमलौकिकाविग्रहवाक्ये एकार्थीभावस्यारोपेऽपि तत्समनियतोपसर्जनत्वनिमित्तकसर्वनामसंज्ञानिषेधस्य च-

कीर्षितत्वाभावात् । अतिक्रान्त इत्यादिना पूर्वोक्तस्य लौकिकवाक्यस्य समासस्य च दृष्टान्तद्वयमुच्यते । *अकृतव्यूहपरिभाषा तु नास्त्येवेति भावः । भाष्यकारस्त्विति ।

“अकचस्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयम्”

इति भाष्योक्तेः वृत्तिकुट्टीत्येदं व्याख्यानमयुक्तमिति भावः ।

ननु स्मृतिद्वयप्रामाण्याद्विकल्पो ऽस्तु, कथं प्रत्याख्यानमत आह—यथोत्तरमिति । एतच्च “धिन्विकृण्वोर च” इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितम्* । एवञ्च वृत्तिकुट्टकार्यकं नेदम् । तस्मादुपसर्जनप्रतिषेधानुवादकम् । यद्वा वार्त्तिककृता तस्य कृतत्वात् सूत्रकृतेदमारब्धम् । सञ्ज्ञाया अन्वर्थत्वमपि भाष्यकृद्दूहितमेव न सूत्रकृद्दूहितमिति “विभाषा दिक” इति सूत्रे कैयटे स्पष्टम्* । सूत्रे सप्तमीनिर्देशः प्रथमार्थ एव* । अतएव वृत्तिकुट्टः प्रक्रियावाक्ये निषेध इत्यर्थो भाष्यकृता बहुव्रीहपदस्य तदर्थवाक्यस्थपदलक्षणया साधितः । अन्यथा मूलोक्तरीत्या सिद्धे तादृशलक्षणाप्रयासो व्यर्थः स्यादिति तत्त्वम् ।

तदनुगुणानामेवेति । प्राधान्येनोपस्थितिर्विषयप्रसिद्धस्वीयसर्वार्थवाचकत्वसमानाधिकरणसर्वनामपदवत्त्वेन *बोधकमहासञ्ज्ञया सर्वार्थो-

क्तुमशक्यत्वात् । अत एव ‘अति भवत् अम्’ इत्यलौकिकविग्रहवाक्ये अकञ् भवति । ननु अति भवत् अम् इत्यस्यां दशायामकचो निमित्तस्य सर्वनामत्वस्य समासोत्तरं नक्ष्यमाणतया अकृतव्यूहपरिभाषया पूर्वमप्यकच् न प्रवर्ततेत्यत आह—*अकृतेति* । *ध्वनितमिति* । तत्र हि लोपविधानेऽपि “न धातु लोप” इति सूत्रेण धिनोति इत्यादौ गुणनिषेधे सिद्धे ऽकारादेशविधानं किमर्थमित्याशङ्क्य तत्प्रत्याख्यानपक्षे स्थानिवद्भावाय तद्विधानमित्युक्तम् । यदि पूर्वमुनिरुत्तरमुन्यभिप्रेतं न जानीयात्तर्हि प्रत्याख्यानस्य भाष्यकृतकृतत्वेन तत्र पक्षे तत्सिद्ध्यर्थं सूत्रकारकृतमकारादेशविधानमसङ्गतं स्यादिति निरुक्तं ध्वन्यते । *कैयटे स्पष्टमिति* । अत्रारुचिवीजन्तु महर्षीणां सर्वज्ञत्वभङ्गः । अतो ऽस्मिन् शास्त्रे उत्तरमुनितात्पर्यानुसारेणैव पूर्वमुनेस्तात्पर्यमवधारणियमिति बोध्यम् । *प्रथमार्थ एवेति* । वस्तुतस्तु वाचकत्वं सप्तम्यर्थं स्वीकृत्य बहुव्रीहौ वाचकतासम्बन्धेन सर्वनामपदं न तिष्ठतीति न बहुव्रीहावित्यस्यार्थ इति यथाश्रुतमपि सम्यक् । *बोधकमहासंज्ञयेति* । महासंज्ञालब्धे ऽर्थे प्राधान्येनोपस्थितिर्विषयेति निवेशादुपसर्जनव्यावृत्तिः । प्रसिद्धेति निवेशात् संज्ञाव्यावृत्तिः । स्वीयसर्वार्थेति निवेशात् सर्वादिप्रवृत्तिनिमित्तेतरूपेण सर्वार्थवाचकत्वस्याभावेऽपि स्वीयप्रवृत्ति-

पस्थापकसर्वादीनामनुकरणावश्यकत्वेनेतरेषामनुकरणे मानाभावः ।
नामपदस्वारस्येन प्राधान्येनेत्यस्य लाभः । उपसर्जनं हीतरविशेष-
णतयैवोपस्थापकमिति* तेन तद्व्यावृत्तिः । पूर्वादिसङ्ग्रहाय स्वीयसर्वार्थे-
ति । सज्ज्ञाव्यावृत्तये ऽभिव्यक्तेतिन्यायमूलकं प्रसिद्धेतीति भावः ।

सर्वादिसूत्रस्य चायमर्थः । सर्वादीनि तदन्तानि चोक्त-
सर्वार्थवाचकत्वसमानाधिकरणसर्वनामपदवन्तीति । तत्र प्राप्ताप्राप्तविवेक-
न्यायेन सर्वनामपदवत्त्वांशे एव विधिः । सर्वार्थवाचकत्वस्य लोकतः सि-
द्धेः । एतेनान्वर्थसंज्ञोपस्थितसर्वार्थवाचकस्य विशेष्यतया सर्वादीनीत्य-
स्य तद्विशेषणत्वात्तदन्तविधिरित्यपास्तम् । एकपदोपस्थाप्ययोरर्थयोः
परस्परमुद्देश्यविधेयभावेनान्वयस्याव्युत्पन्नत्वात् । रूढ्यर्थयोगार्थयोरन्य-
तरवियोगेनान्यत्रान्वयायोगाच्च । तदन्ते सर्वार्थवाचकत्वं त्ववयवद्वारा
बोध्यम् । एतेन तदाक्षिप्तस्य विशेष्यतेत्यपास्तम् । तद्विनाऽनुपपत्त्यभा-
वेनाक्षेपायोगादाक्षिप्तस्य शाब्देऽन्वये मानाभावाच्च ।

के चित्तु आवृत्त्या एकस्योद्देश्यता ऽपरस्य विधेयतेति वदन्ति ।
परन्तवाद्यः पक्षः *इतो लघु रिति बोध्यम् । सन्निवेशादिति । तद-
नुमानादित्यर्थः । अत्रोपसर्जनत्वमितरविशेषणत्वेनार्थोपस्थापकत्वम्* ।

निमित्तपुरस्कारेण सर्वार्थवाचकत्वमव्याहृतमिति बोध्यते ।

इतरविशेषणतयैवोपस्थापकमिति । पदार्थान्तरनिष्ठविशे-
ष्यतानिरूपितप्रकारतासम्बन्धेनोपस्थापकत्वमुपसर्जनत्वमिति भावः । *इतो
लघुरिति* । सर्वाद्यन्तानि शब्दस्वरूपाणि प्राधान्येनोपस्थितिविषयप्रसिद्ध-
स्वीयसर्वार्थवाचकत्वविशिष्टसर्वनामपदवन्तीति प्रथमकल्पे एकमेव वाक्यमिति
लाघवम् । सर्वाद्यन्तानि प्रसिद्धस्वीयसर्वार्थवाचकानि, तानि च सर्वनाम-
पदवन्तीति द्वितीयकल्पे वाक्यद्वयमिति गौरवम् ।

इतरविशेषणत्वेनार्थोपस्थापकत्वमिति । पदार्थान्तरनिष्ठविशेष्यता-
निरूपितोपस्थितीयप्रकारताप्रयोजकत्वमुपसर्जनत्वमिति यावत् । अन्ये तु पदा-
न्तरार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितोपस्थितीयप्रकारताप्रयोजकत्वमुपसर्जनत्वम् ।
अत एव “द्वीयतेरप्रत्यये द्व इति प्राप्नोति स्व इति चेभ्यते” इति भाष्यं
सङ्गच्छते । अन्यथा उपसर्जनत्वात्सत्वाप्राप्त्या तदसङ्गतिः स्पष्टैव । न च
यथालक्षणमप्रयुक्ते इत्यत्राऽलक्षणासिद्धिच्छेदः । लक्षणपदं लक्षणप्रवृत्तिप-
रमुपचारात् । तथा चाप्रयुक्ते लक्षणप्रवृत्त्यभावयोग्यतेत्यर्थ इति एतस्या-
नभिधानमिति वाच्यम् । प्रवृत्तौ लक्षणास्वीकारे गौरवात् । अलक्ष-
णमितिच्छेदे मानाभावाच्च । पदार्थानितिवृत्तावव्ययीभावं स्वीकृत्य अप्रयु-

“तदोः स” इति मूत्रे अदस एव दस्य नान्यस्येति नियमेः “द्वीयतेरप्रत्यये द्व इति प्राप्नोति स्व इति चेष्ट्यते यथालक्षणमप्रयुक्ते”—इति भाष्यन्तु प्रकृत-
सूत्रनञ्सूत्रादिस्थानेकभाष्यविरोधादेकदेश्युक्तिः* रिति न तद्विरोधः ।

तृतीयासमासे । “द्वन्द्वे च” इति सूत्रस्थाकरोक्तरीत्या “न बहुव्रीहौ”
इति सूत्रस्थाकररीत्या च प्रथमार्थे सप्तमी* । अयमपि समासस्यैव नि-
षेधो नावयवानाम् ।

समुदायस्येति ।

“अकच्स्वरौ तु कर्तव्यौ प्रत्यङ्गं* मुक्तसंशयम्”* ।

इति भाष्योक्त्या एतत्प्रकरणविषयस्मृत्या एतत्प्रकर-
णस्थसप्तमीनिर्देशानां *प्रथमार्थकत्वमिति तस्यावयवसञ्ज्ञा-
निषेधकत्वाभाव उचितः । किं चावयवमात्रस्य निषेधे वर्णाश्रमेत-
राणामित्यत्र सर्वार्थवाचकसर्वाद्यन्तत्वेन समुदायसञ्ज्ञायां *मुडापत्तिः।

कविषये लक्षणमनतिक्रम्य प्रयोगः कर्तव्य इत्यर्थस्यैव ‘यथालक्षणमप्रयु-
क्ते’ इति भाष्यस्य न्याय्यत्वादित्याहुः ।

परे तु सर्वादिविशिष्टत्वमुपसर्जनत्वम् । वैशिष्ट्यञ्च स्वान्तपर्याप्तशक्ति-
निरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितोपस्थितार्थप्रकारताप्रयोजकत्वसम्बन्धेन ।
अत एव सर्वेषाम्पुत्रः परस्मैपदम् अतिभवकान् सर्वस्मिञ्शय इत्यादिषु
सुट्स्मायादयः सिद्ध्यन्ति । अन्यथा पूर्वोक्तलक्षणद्वयस्यापि सर्वादिशब्देषु स-
त्वेनोपसर्जनत्वात्सुडादयो न स्युः । नच “द्वीयतेरप्रत्यये द्व इति प्राप्नोति
स्व इति चेष्ट्यते” इति भाष्यविरोधो निरुक्तोपसर्जनत्वस्य सत्वादिति वाच्यम् ।
स्वावधिकपूर्वपदप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपितोपस्थितार्थप्रकारताप्रयोजकतापर्या-
प्त्यधिकरणत्वसम्बन्धेन सर्वादिविशिष्टत्वमुपसर्जनत्वमिति स्वीकारादित्याहुः ।

नियमे इति । “तदोः सः सौ” इत्यत्रानन्त्ययोरित्यस्य खण्डनाय
कृतेन “अदस” इति योगविभागेन ‘दस्य सत्त्वं भवति चेददस एव’ इति नियमे
इत्यर्थः । *एकदेश्युक्तिरिति* । चिन्त्यमिदम् । पूर्वोक्तदिशा सिद्धान्त्युक्ति-
त्वस्य समर्थयितुं शक्यत्वात् । *प्रथमार्थे सप्तमीति* । वस्तुत-
स्तु वाचकत्वं सप्तम्यर्थे स्वीकृत्य वाचकतासम्बन्धेन तृतीयासमासे
तृतीयासमासार्थवाक्ये च सर्वनामपदं पाणिनिसङ्केतसम्बन्धेन न ति-
ष्ठतीत्यर्थस्वीकारेण सामञ्जस्यात् प्रथमान्तेन विपरिणामो वृथेति बोध्यम् । *प्र-
त्यङ्गमिति* । अन्तरङ्गमित्यर्थः । *मुक्तसंशयमिति* । क्रियाविशेषणमे-
तत् । निःसंशयमन्तरङ्गत्वात् समासात्प्रागेव अकच्स्वरौ कर्तव्यावि-
त्यर्थः । *प्रथमार्थकत्वमिति* । इदमपि चिन्त्यमेवाक्युक्तेः । *सु-
डापत्तिरिति* । परे तु “न बहुव्रीहौ” “तृतीयासमासे” “द्वन्द्वे च” इति निषे-
धैस्तद्व्यघटकानि सर्वादीनि न भवन्तीति सर्वादित्वमेव निषिध्यते,

तस्य सञ्ज्ञानिषेधेऽपि सर्वार्थवाचकसर्वादित्वानपायात् । अवयवस्य व्यपदे-
 शिवद्भावेन, समुदायस्य च द्वन्द्वे विद्यमानत्वेन निषेधे तु अवयवस्य निषेधे फ-
 लाभावः । न च त्वच्छब्दस्य तान्तत्वे काकचोर्विशेषेण फलम् । द्वन्द्वावयवमात्रे-
 मुन्दरादिविशेषणान्वयाभाववत् कुत्सादिविवक्षाया अभावात्* । समुदाये
 तद्विवक्षायां समुदायोत्तरप्रत्ययेनावयवगतकुत्सादेरपि बोधेनोक्तार्थत्वाद-
 वयवेभ्यः पृथक् तदनुत्पत्तेः । अन्यथा तत्र प्रत्येकं कप्रत्ययोत्पत्त्यापत्तिः ।
 अत एवोक्तं भाष्ये “अकज् हि न भवति” इति विभाषाजसीतिसूत्रे । समुदायकु-
 त्साविवक्षायामिति तदर्थः । कृताकचा समासस्तु भवत्येव । तत्र सर्वार्थ-
 त्वादनेन विकल्पो भवत्येव । *त्वदधरमधुरमधूनि पिबन्तम्’ इति जयदेव-
 प्रयोगबलेनान्यार्थकत्वच्छब्दस्य सत्त्वेऽपि तस्य सर्वनामत्वे मानाभावात् ,
 बहुसंमतत्वाच्च । एतेन *न बहुव्रीहाविति वदस्यापि द्वन्द्वे चि-
 कीर्षिते इत्यर्थः’ इत्यपास्तम् । फलाभावात् । जसाधारे शीमा-

न सर्वनामसंज्ञा । तथा च वर्णाश्रमेतराणामित्यत्र इतरशब्दस्य सर्वादित्वनिषेधे
 तदन्तस्य सर्वनामसंज्ञाया दूरापास्तत्वेन सुटोऽप्रवृत्तिः । एवं च यथाश्रुतसप्तम्यः
 समीचीना एव घटकत्वस्य सप्तम्यर्थत्वे क्षतिविरहात् । न चावयवस्य सर्वादि-
 त्वनिषेधे सर्वनामत्वाभावादकज् न स्यादिति वाच्यम् । “अकच्स्वरौ तु कर्त्त-
 व्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयम्” इति भाष्येण समासात्प्रागेव अकच्प्रवृत्तेरित्याहुः ।
 कुत्सादिविवक्षाया अभावादिति । वृत्त्युत्तरमिति शेषः । वृत्तेः प्राक् कुत्सा-
 दिविवक्षायां तु अन्तरङ्गत्वादकच् भवत्येवेति बोध्यम् । तदेतद् ध्वनयन्नाह—
 कृताकचा समासस्त्विति ।

त्वदधरमधुरमिति । अन्ये तु राधिका इत्यन्तविरहोत्कलिततया
 स्वाधारे कृष्णाधरत्वभ्रमेण मधुपानं कुर्वतीति बोधयितुं त्वदधरमधुर-
 मित्यत्र त्वच्छब्दो युष्मच्छब्द एवेत्याहुः । *न बहुव्रीहाविति* । अय-
 म्भावः । “चार्थे द्वन्द्वः” इत्यनेन इतरेतरयोगसमाहारयोर्द्वन्द्वो विधीय-
 ते । तत्र घटपटौ घटपटमित्युभयत्रापि घटपटोभयप्रकारकसमुदायविशे-
 ष्यकबोधस्यैव जननात् परस्परान्वयोपपत्तये घटत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपिता
 या पटनिष्ठा समुदायत्वावच्छिन्ना विशेष्यता तादृशविशेष्यतात्वावच्छिन्ना या प-
 टत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितसमुदायत्वावच्छिन्ना घटनिष्ठा विशेष्यता तादृश-
 विशेष्यताकबोधस्यौचित्येन समुदायत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितोपस्थितय
 प्रकारताप्रयोजकत्वस्य वर्णाश्रमेतरे वर्णाश्रमेतरा इत्यादावितरशब्दे सत्त्वेन नि-
 रुक्तोपसर्जनत्वस्य सत्त्वात् द्वन्द्वघटकानामुपसर्जनत्वादेव पाठात्पर्युदासे सिद्धे
 “द्वन्द्वे च” इति सूत्रमपि न बहुव्रीहाविति वन्न कर्तव्यमेवाप्यत्र द्वन्द्वस्थले अवयवग-
 तसंख्या यदा विवक्ष्यते तदा इतरेतरयोगः । समुदायगतं समुदायत्वगतं वा

वे एव विकल्पविधायकस्य “विभाषा जसि” इत्यस्यासङ्गतेऽचेति भावः । उद्भूतावयवभेदसमूहस्य द्वन्द्वे विशेष्यतयोपसर्जने संज्ञाया अप्राप्त्या “द्वन्द्वे च” इत्यपि “न बहुव्रीहौ” इतिवदिति तच्चम् । अत एव गोस्त्रियोरिति सूत्रे “कुक्कुटमयूरी” इत्यादौ ह्रस्ववारणाय *द्वन्द्वे न’ इति वचनमारब्धमिति दिक् ।

नाकजिति । समुदायनिष्ठकुत्साबोधको ऽकञ् नेत्यर्थः ।

प्रथमचरम् । अत्र सूत्रे ‘न’ इति न सम्बध्यते प्रथमादिष्वसम्भवात् । ‘जसि’ इत्यनुवृत्तेरर्थाधिकारादयमपि शीभावे एव विकल्पस्तदाह—जसः कार्यं प्रतीति । तयः—“संख्याया अवयवे तयप्” इति तदन्ता इत्यत्र हेतुरुक्तः* । द्वितीयतृतीयौ “द्वेस्तीयः” “त्रेः संप्रसारणं च” इति साधू । अर्थवदिति । *प्रतिपदोक्तस्येत्यपि बोध्यम् । तेनान्नन्ते आद्युदात्तस्य ‘द्वितीयाय भागाय’ इत्येव, अनभावे तु स्मै भवत्येव ।

जराया । “अष्टन” इत्यतो विभक्ताविति, “अचिर” इत्यतो ऽचीत्यनुवर्त्तते, तदादिविधिश्चेत्याह—अजादाविति । जरसावित्यादौ तु व्यपदेशिवद्भावेन । विभक्तौ किम् । जराया इदञ्जारम्* । प्रतिपत्तिलाघवाय

यत्रैकत्वं विवक्ष्यते तदा समाहारद्वन्द्वः। उभयत्रापि द्वन्द्वविषये समुदायविशेष्यकावयवप्रकारकयोश्च इति सुधियो विभावयन्तु । एतत्सर्वं प्रमाणयन्नाह—द्वन्द्वे नेति वचनमारब्धमिति* ।

हेतुरुक्त इति* । केवलतयस्य सर्वनामसंज्ञायामपि जसः शीत्यत्र विहितविशेषणस्य सत्त्वेन फलाभावादिति भावः । *प्रतिपदोक्तस्येत्यपीति* । द्वितीयाय भागायेत्यादौ ‘पूरणाद्भागे तीयादन्’ इत्यनि तस्य तीयप्रत्ययार्थेनैवार्थवत्त्वात्तत्रार्थवद्ग्रहणपरिभाषया वारणं न भवतीति लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा ऽवश्यं शरणीकरणीयेति तथैव परिभाषया पटुजातीयायेत्यादावपि वारणं भवतीति भावः । लाक्षणिकभिन्नत्वं प्रतिपदोक्तत्वमिति निष्कर्षे तु अर्थवत्परिभाषासंचार आवश्यक इति बोध्यम् ।

जारमिति । न च शरदादौ ‘जराया जरस् च’ इत्यन्तर्गणसूत्रस्य वैयर्थ्यात्तेन ‘तद्धिते चेत्समासान्त एव’ इतिनियमेनैव जारमित्यादौ दोषवारणाद्विभक्ताविति व्यर्थमिति वाच्यम् । जराशब्दात् क्यजन्तात्किपि ‘क्यचि च’ इतीत्वे अल्लोपयलोपयोः कृतयोः जरीत्यादौ अल्लोपस्य ‘अचः परस्मिन्’ इति स्थानिवद्भावेन अच्परकत्वाद् जरसादेशापत्तेः । जराशब्दादाचारकिबन्तात्तव्यदादौ इटि आतो लोपं बाधित्वा परत्वाज्जरसादेशापत्तेश्च । वस्तुतस्तु अन्तर्गणसूत्रस्य नित्यार्थतया चारितार्थात् न नियामकत्वसम्भव इति बोध्यम् ।

जराया असुङ् न कृतः* । पदाङ्गाधिकारे इति । पदमङ्गं च विशेष्यं* विशेषणेन तदन्तविधिरिति भावः । पदशब्देनोत्तरपदाधिकारः केवलपदाधिकारश्च गृह्यते इति “येन विधिः” इत्यत्राकरे स्पष्टम् । निर्दिश्यमानस्येति । “षष्ठी स्थानेयोगा” इति सूत्रमावर्तते, आवृत्तस्य चायमर्थः—*षष्ठ्यन्तमुच्चार्यमाणमेव स्थानेन युज्यते न प्रतीयमानमिति, तेनेदं सिद्धमिति भावः ।

असुङ् न कृत इति । वस्तुतस्तु द्वितीयान्तजराशब्दस्य पदद्वित्वे अत्यादिशब्देन समासे तत औविभक्तौ अतिजराजरा औ इति स्थिते स्थानिवद्भावेन जराशब्दत्वाज्जरसि अतिजरसाविति रूपं भवति, असुङ्पक्षे तु अतिजराजरसौ इति फलभेदात् तथा न्यासः कर्तुं न शक्यते इति बोध्यम् । पदद्वित्वं च पौनःपुनिक इत्यादौ प्रातिपदिकत्वासिद्ध्या ठगादिसिद्धयर्थमिति “सर्वस्य द्वे इति सूत्रे शेखर एव स्पष्टम् । यत्तु जराशब्दात् ण्यन्तात् किपि टिलोपे तस्मादौविभक्तौ जरऔ इति स्थिते असुङ्पक्षे जासाविति, आदेशकल्पे जरसाविति फलभेद इति; तन्न । णिलोपस्य स्थानिवद्भावेन जरसादेशस्यैवाप्राप्तेः । एतेन जराम् अस्तीति जरात् तस्मात् ण्यन्तात् किपि निरुक्तादिशा फलभेदादसुङ् न कर्तुं शक्यत इति परास्तम् । णिलोपस्थानिवत्त्वस्य दुर्वात्त्वात् । जरात् इत्यस्य पूर्वस्थानिभूतजराशब्दावयवेतरतकारघटितत्वेन तत्र पूर्वान्तवद्भावेन जराशब्दत्वस्य दुर्लभतया तदादेशे जरइत्यत्र सुतरां दुर्लभत्वाच्च । जराशब्दस्य ऋशब्देन समासे एकादेशे जररशब्दात् जसादिविभक्तौ फलभेदापादनं तु अतिस्थूलम् । तत्र अतो गुणे इति पररूपेण फलभेदाभावात् ।

*विशेष्यमिति । *विशेष्यमेवेत्यर्थः । एवञ्च पदाधिकारे ऽङ्गाधिकारे उत्तरपदाधिकारे चास्ति प्रमाणान्तरे पदस्याङ्गस्योत्तरपदस्य च विशेष्यत्वमेवेतीयं परिभाषा बोधयति । एतेन एतत्परिभाषावत् तस्मिन्क्षित्यादिपरिभाषालभ्यार्थमादाय ‘अव्यवहितपूर्वस्य कार्याणि भवन्ति’ इत्यादिपरिभाषाः सिद्ध्युरित्यपास्तम् । पदाङ्गाधिकारयोरसति मानान्तरे पदस्याङ्गस्य च विशेष्यत्वमेवेति बोधनाय परिभाषायाः सार्थक्यात् । अन्यथा ‘गर्गादिभ्यो यञ्’ इत्यादौ प्रातिपदिकादित्यस्य विशेषणत्ववद् अङ्गस्य पदस्य च कदाचिद्विशेषणत्वं स्यात् । ततश्च अतिजरसौ इत्यादौ जराशब्दस्याजादिविभक्तिनिरूपिताङ्गत्वाभावाज्जरसादेशानापत्तिरिति भावः ।

षष्ठ्यन्तमिति । षष्ठी अन्ते यस्य तत् षष्ठ्यन्तम् । अन्तशब्दः समीपवाची । षष्ठी-प्रकृतिरित्यर्थः । यत इति सूत्रे शेषं कृत्वा यतः षष्ठी सा स्थानपदार्थानुयोगिकसम्बन्धप्रतियोगिनी भवतीति सूत्रार्थेन तथैव लाभात् । तत्र निर्दिश्यमानत्वं षष्ठीप्रकृतिविशिष्टप्रकारताश्रयत्वम् । षष्ठीप्रकृतिवैशिष्ट्यञ्च स्वजन्यशब्दबोधीयत्वं—स्वपर्याप्तप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यतावत्त्वं—स्वपर्याप्तप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्य-

नन्वयं जरशब्दो, न जराशब्दो ऽत आह—एकदेशेति । स्थानि-
वत्सूत्रेणेति भावः* । जरा इत्युक्तपरिमाणस्य ग्रहात् । अनेन स्थानिवु-
द्ध्यैव कार्यप्रवृत्त्या “निर्दिश्यमानस्य” इति परिभाषावाधाभावो बोध्यः ।
“येन विधिस्तदन्तस्य” इत्यस्य तु सञ्ज्ञासूत्रत्वात् सूत्रस्थजराशब्दो जराश-
ब्दान्तपर इति तदन्ते आदेशप्रवृत्तौ परिभाषाविरोधः स्पष्ट एवेति दिक् ।
निर्जरसेति । अत्र “स्वादिषु” इति पदत्वेन रूढं न । भत्वेन पदत्व-
वाधात् । सूत्रेषूत्तरस्थस्य पूर्वत्रापकर्षवदग्रे लेखो वैचित्र्यायेति बोध्यम् ।
पक्षे इति । जरसादेशाभावपक्षे इति भावः । इदमर्वाचामनुरोधेन ।

परे तु ‘विभक्त्यादेशेभ्यः परत्वाज्जरस्’ इत्यसङ्गतम् । विभक्त्यादेशाना-
मेव पूर्वविप्रतिषेधेनेष्टत्वात् । अत एव ‘जराया’ इति सूत्रे ‘अजरांसि’ इत्यत्र
नुमृजरसोः प्राप्तयोर्विप्रतिषेधेन जरस्’ इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते । अन्यथा
त्वद्रीत्या शिभावात्पूर्वमेव जरसः प्रवृत्तौ तदा सर्वनामस्थानत्वाभावाद्
नुमा विप्रतिषेधविचारासङ्गतिः स्पष्टैव । मम तु पूर्वविप्रतिषेधेन जर-
सः पूर्वं शिभावे प्रवृत्ते तत्सङ्गतिः स्पष्टैव । अत एव “टाङ्सि” इति सूत्रे
कैयटेनोक्तं—“भाष्यकारः सन्निपातपरिभाषया जरसादेशमनभ्युपयन्ति-
जरेणातिजरादिति भाव्यं न त्वतिजरसिना ऽतिजरसादिति गौरवमुद्धा-
वितवान्” इति । भवद्रीत्या पूर्वं जरसादेशे इनाद्यप्राप्त्या, तदभावपक्षे
च तस्याप्राप्त्या ‘सन्निपातपरिभाषया जरसादेशमनभ्युपयन्’ इत्यस्यासङ्ग-
तिः स्पष्टैव ।

वृत्तिकारोऽप्याह—“अतिजरसिन अतिजरसादिति के चिदिच्छ-
न्ति, यथा तु भाष्यं तथा नैतदिष्यते इति लक्ष्यते” इति । नपुंसकद्वितीयै-
कवचने ऽपि लुग्वाधेन “अतोऽम्” इत्यमि सन्निपातपरिभाषया जरसभावः ।
न च तत्र न अकारान्तसन्निपातकृत एवाजादिः, किं तु तदभावे ऽपि ।
एषा तु सन्निपातलक्षणविधिं विना न यस्य प्रवृत्तियोग्यता तत्रैवेति

तावद्विशेष्यतानिरूपितत्वमेतत्त्रितयसम्बन्धेन । विस्तरस्तु परिभाषेन्दुटिप्पणे
प्रष्टव्य इति दिक् । *इतिभाव इति* । संख्यात्वपरिमाणत्वैतदन्यतरव्याप्यधर्म-
प्रकारकसंशयसामान्यनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकविषयता-
धर्मरूपाक्तपरिमाणत्वसमनियतधर्मनिमित्तकार्यस्यैकदेशविकृतन्यायेनातिदे-
ष्टुमशक्यत्वेन निरुक्ताक्तपरिमाणचतुष्टयसमनियतजराशब्दत्वस्यैकदेशविकृत-
न्यायेनाऽऽनेतुमशक्यत्वादिति ।

अत्र भवत्येव जरसिति वाच्यम् । मानाभावात् । 'टाडसि' इति सूत्रस्थेना-
तिजरेणेत्येतद्विषयकैयटेन विरोधाच्च । ध्वनितश्चेदं "जराया" इति सू-
त्रे भाष्ये । तत्र हि पूर्वपक्षिणा—'अतिजरसं पश्येत्यत्र लुक् कस्मान्न' इति
पृष्ठे, परेण—'प्रथमैकवचनेऽप्यतिजरसं तिष्ठतीत्यत्रापि कुतो लुङ् न शङ्का-
ते' इति पृष्ठे, पूर्वपक्षिणा 'प्रथमैकवचने ऽम्भावोत्तरमेव जरस् । तत्र जर-
सि कृते सन्निपातपरिभाषया न लुक्' इति विशेष उक्तः । यद्वा 'अम्भा-
वे कृते सन्निपातपरिभाषया न जरस्' इति पाठभेदेन विशेष उक्तः । ततः
परेण 'यद्येवम् अतिजरसम् अतिजरसैरित्यत्र न प्राप्नोति जरस्' इति द्विती-
यैकवचनादौ शङ्किते, सिद्धान्तिना—इष्टमेवैतदतिजरमतिजरैरिति भवि-
तव्यमिति । अत्र विशेषोपपादनेऽन्त्यपाठ एव युक्तः । अन्यथा लुङ्
प्रथमैकवचने तेनाभावे उपपादिते द्वितीयैकवचने ऽपि तेन न्यायेन लु-
को ऽप्राप्तौ विशेषोक्तिरसङ्गतेति बोध्यम् । एवं स्त्रियां जरसादेशे कृते
"याडापः" इत्यादीनामाकारप्रश्लेषेण वारणं विफलमेव तेषां परत्वात् ।
अतिखट्वशब्दे तेषां वारणाय तु प्रश्लेष आवश्यक इत्याहुः ।

परे तु—जरसादेशाद् विभक्तिसम्बन्धिकार्यमात्रं पूर्वविप्रतिषेधेन । ते-
न जराणामित्यादावामि पूर्वं नुटि जरसो ऽभाव एव । एवं च "ह्रस्वनद्या-
प" इत्यत्राऽऽकारप्रश्लेषे न फलं, नापि मानम् । अत एव 'ङ्याब्ग्रहणे
ऽदीर्घः' इति वज्जरसादेशस्य स्थानिवत्त्वप्रतिषेधो वार्तिककृता नाऽऽरब्ध
इत्याहुः* ।

*इत्याहुरिति । *वस्तुनस्तु विभक्तिसम्बन्धिकार्यमात्रात्प्रागेव जरस् ।
यत्र जरसादेशस्य परत्वं तत्र "विप्रतिषेधे परम्" इति जरस् । यथा—अतिजरां-
सि । यत्र याडादयः पराः तत्रापि पूर्वविप्रतिषेधेन जरस् । यथा जरसे
इत्यादौ याट्स्वाधित्वा जरस् । अत एव जरसो ऽवकाशः जरसा जरसे इति
भाष्यं सङ्गच्छते । अन्यथा "याडापः" इत्यनेन याटि अजादिविभक्तिपर-
कत्वाभावेन जरसोऽप्राप्त्या तदसङ्गतिः स्पष्टैव ।

अत एव 'अथेह लुक् कस्मान्न भवति अतिजरसम्पश्येति । किं
पुनः कारणं द्वितीयैकवचनेमेवादाह्रियते न पुनः प्रथमैकवचनमपि अति-
जरसं तिष्ठतीति ? । अस्त्यत्र विशेषः—नात्राकृते ऽम्भावे जरस्भावः प्राप्नोति ।
किं कारणम् । अचीत्युच्यते—' इति भाष्यम्—तदप्राप्तियोग्ये चारितार्थ्याभाववि-
शिष्टा कृते चारितार्थ्याभावविशिष्टा याऽपवादशास्त्रप्रवृत्त्यनन्तरोत्सर्गशास्त्रप्रवृत्ति-

परिभाषाया अनित्यत्वमिति । इनातोरिकारदीर्घोच्चारणम्, एसि कर्त्तव्ये ऐस्करणञ्च तदनित्यत्वे मूलमिति तदाभिमानः । षष्ठ्येकवचने इति । एकसूत्रोपात्तत्वात्स्यादेशविषये ऽपि पूर्वविप्रतिषेध इति तद्भावात् । एलच्च भाष्येति । इनातोरिकारदीर्घोच्चारणप्रत्याख्यानपरभाष्येत्यर्थः, 'इष्टमेवैतत्सङ्गृहीतमतिजरमतिजरैरिति भवितव्यम्' इति "जराया" इति सूत्रस्थभाष्येति चार्थ इत्यन्यत्र विस्तरः ॥

सम्भावनाप्रयोज्यवैयर्थ्यसम्भावना तादृशसम्भावनारूपबाधकत्वबीजवता अतो ऽमिति शास्त्रेण "स्वमोर्नपुंसकात्" इति सूत्रे स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन स्वविधेयघटितातिरिक्तत्वेन च सङ्कोचादतिजरसं तिष्ठतीत्यत्र प्रथमैकवचने जरसादेशे कृते अमृघटितातिरिक्तस्वमोरभावेन लुको ऽप्राप्तिरिति द्वितीयैकवचने एवलुक् कस्मान्न भवतीति शङ्कोचिता, न तु प्रथमैकवचने इति विशेषप्रदर्शकं सङ्गच्छते । अन्यथा द्वितीयैकवचनेऽपि भवद्गीत्याऽमादेशे सन्निपातपरिभाषया तत्रापि जरसो ऽप्रवृत्तौ इदं भाष्यमसङ्गतं स्यात् । मम तु परत्वाज्जरसि द्वितीयैकवचने लुक्कस्मान्नेति शङ्का युज्यते ।

अग्रेऽपि 'यदा च जरस्भावः कृतः तदा लुग् न भविष्यति सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्येति' इति सिद्धान्तिना समाहितम् । अत एवाग्रे पूर्वपक्ष्येकदेशिना 'यद्येवमतिजरसमतिजरसैरित्यत्र न प्राप्नोति । अतिजरमतिजरैरिति भवितव्यम्' इति प्रथमैकवचनतृतीयाबहुवचनयोः शङ्का कृता । ततः सिद्धान्तिना इष्टापत्तिं मत्वा गोनर्दीय आह—'इष्टमेवैतत्सङ्गृहीतम्भवति अतिजरमतिजरैरिति भवितव्यम् सत्यामेतस्यां परिभाषायां सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य' इत्युक्तं सङ्गच्छते । अन्यथा विशेषोपपादन एव लुगैसोः सन्निपातपरिभाषया जरसोऽप्राप्त्या इमे शङ्कासमाधाने ऽसंगते स्याताम् ।

न च 'नुमो ऽनङ्जरसौ भवतो विप्रतिषेधेन अतिजरांसि ब्राह्मणकुलानि' इति भाष्यविरोधः । भवद्गीत्या शिभावादेव परत्वाज्जरसि नुमृजरसोर्विप्रतिषेधविचारस्यासङ्गत्यापत्तेरिति वाच्यम् । अतिजरसस् इति स्थिते परमपि जरसादेशम्बाधित्वा नित्यत्वाच्छिः कस्मान्न भवतीति शङ्काम्नसि निधाय इयादेशे कृतेऽपि परत्वान्नुमं बाधित्वा जरसेव भविष्यतीति जरसादेशोऽपि नित्य इति बोधयितुं तद्वार्त्तिकप्रवृत्तेः, अग्रिमभाष्येण तथैव लाभात् । एतेन यद्वा ऽम्भावे कृते सन्निपातपरिभाषया न जरसिति पाठभेदेन विशेषोपपादनम्, एवं स्त्रियां जरसादेशे कृते याडाप इत्यादीनामाकारप्रश्लेषेण वारणं विफलमेव तेषां परत्वादिति कथनं च परास्तम् । पूर्वोक्तभाष्यप्रामाण्येन पूर्वविप्रतिषेधेन जरसि याडादिवारणाय प्रश्लेषस्यावश्यकत्वात् । न च टाडसिङ्सामितिसूत्रस्थेनातिजरेणेत्येतद्विषयकेण

पदज्ञो ॥ आदेशैः *स्वानुरूपाः स्थानिन आक्षिप्यन्ते इत्याह-
पाददन्तेति । “अनुदात्तस्य चर्दुपधस्य” इत्यतोऽन्यतरस्यामित्यनुवर्तते ।
अत एव तुल्यास्यसूत्रादिभाष्ये ‘आस्ये तुल्यः’ ‘पादेनोपहतं’ ‘मासेन पूर्वा-
य’ इत्यादिप्रयोगा, ‘हृदयस्य प्रिय’ इति सौत्रप्रयोगश्चोपपन्ना भवन्ति ।
“ये च तद्धिते” इति सूत्रस्थे ‘वा केशेषु’ इतिवार्तिके वाग्रहणन्तु तत्र सू-
त्रे वाग्रहणासम्बन्धबोधकम् ।

यद्यपि निशाशब्दस्य निशशब्दप्रकृतिकत्वेन भागुरिमतसिद्धतया-
ऽऽपो वैकल्पिकत्वेन च वाक्वाचेत्युभयवन्निश्चिनशयोः सूत्रे निशग्रहणं विना-
पि सिद्धिः तथापि सुटि हलन्तस्यासाधुत्वबोधनायात्र ग्रहणमिति वृत्त्य-
नुसारिणः ।

परे तु “अनुदात्तस्य” इति सूत्रेऽन्यतरस्यामित्यस्य स्वरितत्वं
नास्ति । अत एव “शीर्षेच्छन्दसि” इति सूत्रे ‘शीर्षिन्निति प्रकृत्यन्तरं द्रष्टव्य-
म् । आदेशत्वे हि छन्दसि शिरस्शब्दस्य प्रयोगो न स्यात्’ इत्युक्तं भा-
ष्ये । अन्यथा विकल्पानुवृत्त्याऽऽदेशत्वेऽपि दोषाभावेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव ।
“ये च तद्धिते” इत्यत्र चाऽऽदेशत्वाय शिरसो ग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तं, “वा
केशेषु” इति च वक्तव्यमित्युक्तम् । तस्मात् शसादिविषयाणि प्रकृत्यन्तराण्ये-
व पदादयः । एवं मांसपृत्स्नवोऽपि । अत एव नस्पृतोः स्थानिवद्भावा-
दावन्तत्वमादाय नसां पृतामित्यादौ न नुडादिः । “नासिकाया नम् य-
त्तमक्षुद्रेषु” इतिवार्तिके आदेशत्वमेव । नासिकाया इत्युक्तेः । अत एव
ताद्विषये ‘नासिकाक्षुद्र’ इत्यादि न । अत एव पदादिषु, ‘मांसपृत्स्ननामुप-
संख्यानम्’ इतिवार्तिके स्थानिनिर्देशो न कृत इत्याहुः ।

कैयटेन विरोध इति वाच्यम् । अतिजर आ इतिस्थिते जरसभावपक्षे इनादौ
कृते तदनन्तरं कुतो न जरसिति शङ्कां मनसि निधाय सन्निपातेत्या-
दिग्रन्थस्य प्रवृत्त्या तत्सङ्गतेः । जरसादेशस्य स्थानिवत्त्वप्रतिषेधोऽपि
‘व्याघ्रहणे ह्रस्व’ इति वक्तव्येऽदीर्घ इत्युक्त्येव तत्सङ्गदेणाऽऽरब्ध एवेत्यन्ये ।

स्वानुरूपा इति । तत्त्वञ्च स्वबोध्यार्थबोधकत्वं-स्वघटकव्य-
ञ्जनघटितत्वमेतदुभयसम्बन्धेन पदादिविशिष्टत्वम् । आद्यसम्बन्धदानेन
आसनशब्दस्य सकारादिघटितत्वेऽपि नादेशः । द्वितीयसम्बन्धदानेन
चरणशब्दस्य न पदादेश इति तस्य क्लीबत्वात् पन्दि इति न । एवं
रात्रिशब्दस्य न निशादेश इति इदमहर्निशा गतमित्यादौ न रूप-
रात्रीति कथमिति बोध्यम् ।

प्रत्याहार इति । व्याख्यानादौट्टकारेणेति भावः । अक्लीब-
स्येति* । पर्युदासपरतगाऽप्यस्य भाष्ये व्याख्यानात् लघुत्वाच्चेति भा-
वः । प्रसज्यप्रतिषेधेन व्याख्याने ऽत एव ज्ञापकात्केपांचिदसमर्थस-
मासानां साधुत्वं बोध्यम् ।

स्वादिषु ॥ सुरत्र प्रथमैकवचनम् । आदिशब्देन कवन्तानां ग्रह-
णं व्याख्यानात्* तदाह—कप्प्रत्ययावधीति । तदन्तेष्वित्यर्थः* ।

यचि भम् । समाहारद्वन्द्वे सौत्रत्वान्न टच् । यचीत्यनेन स्वादे-
र्विशेषणात्तदादिविधिः । असर्वनामेति । तेन सुपादावित्यादौ पादः
पञ्च । भसञ्ज्ञा पदत्वकार्यप्रतिबन्धरूपे ऽशास्त्रीयेऽपि कार्ये भवति, न-
पदान्तसूत्रस्थभाष्यप्रामाण्यात् ।

आकङ्कारा* ॥ “प्राकङ्कारात्” इति नावधिः तत्पुरुषो द्विगुश्चेति लि-

अक्लीबस्येतीति । अनन्तर इति शेषः । तथा चाक्लीबस्यानन्तरः प्रत्यास-
स्या ऽक्लीबप्रकृतिकश्च सुट् सर्वनामस्थानसंज्ञक इति सूत्रार्थः । स्यादेतत् ।
‘सुडशी’ इत्येवोच्यताम् । प्रथमैकवचने अमा बाधेन ज्ञानमित्यादौ न नुम् । न च
वारि इत्यत्र तदापत्तिः । न लुमतेतिनिषेधेन सर्वनामस्थानपरकत्वाभावेन नुमः
प्राप्त्यभावात् । वारिणी इत्यत्र नुमि सर्वनामस्थाने चेति दीर्घस्तु न शङ्क्यः ।
इयाः सर्वनामस्थानसंज्ञाया अशीत्यनेन पर्युदस्तत्वात् । नापि कतरादित्या-
दावड्डादेशस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायामङ्गस्य भत्वाभावेन टिलोपानापत्तिः ।
ङित्वसामर्थ्येन तत्सिद्धेः । न च अशीति पर्युदासेन रमे इत्यत्र इयादे-
शस्य सर्वनामस्थानत्वाभावेन भसञ्ज्ञा यस्येतिलोपापत्तिरिति वा-
च्यम् । इयां तस्य “औङ्ः इयां प्रतिषेधः” इति निषेधात् । यदि सर्वे
इत्यत्र इयादेशस्य औङ्स्थानिकत्वाभावेन तदापत्तिरिति चेद्, वार्तिके औङ्-
ग्रहणमपि न कार्यम्, तेन न दोष इति । न च इयामिति स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन
स्त्रियामेव प्रवृत्तौ पुनरपि तदवस्थैव सर्वे इत्यत्रापत्तिरिति वाच्यम् । विभ-
क्तिविशेषणत्वार्थं स्त्रीलिङ्गनिर्देशेन तस्य विवक्षाया अत्राभावात्, इति चेन्न ।
द्वितीयैकवचने अतिजरसमित्यत्र झलन्तलक्षणनुमापत्तेरिति दिक् ।

*व्याख्यानादिति *प्रथमायामित्येव वक्तव्ये असर्वनामस्थानग्रहणेन प्रत्या-
सत्तिन्यायकपिञ्जलन्यायाप्रवृत्तौ व्याप्तिन्यायरूपादित्यर्थः ।

स्वादिषु, यचि भमित्युभयत्रापि—प्रत्ययस्य निमित्तत्वेनोपादानं यत्र तत्रापि
प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदादिमात्रांशोपस्थित्या तदादेरेव पदसंज्ञाभसंज्ञे भवत
इति बोधयन्नाह—*तदन्तेष्वित्यर्थ इति* । असर्वनामस्थानकप्रत्ययान्तस्वादि-
प्रत्ययान्यवहितपूर्वत्वविशिष्टं पदसंज्ञं स्यादित्याद्यर्थः ।

आकङ्कारा

। अत्रैकपदप्रवृत्तिनिमित्तं

स्वसमभि-

ज्ञात् समोवशार्थं हि तदित्याह—कडारा इत्यादि। व्याप्त्यर्थकाऽऽङ्गा 'आ-
चार्यात्' इति वक्तुं युक्तम् । एकैवेति । *संख्यावाच्यकशब्दोपादानादव-
धारणं संपद्यत इति भावः । या परेति । द्वयोः सावकाशयोः परा । नि-
रवकाशत्वे तु सैवेत्यर्थः । आभ्यामेव बाधसिद्धिस्तु न । अन्यत्र तव्य-
दादौ कृतकृत्यप्रत्ययसञ्ज्ञादीनां समावेशदर्शनेन विरोधाभावाद् विप्रतिषे-
धाप्रवृत्तेः । लौकिकस्य तत्क्रकौण्डिन्यायस्यापि लोके सञ्ज्ञाविषये ऽदर्श-

व्याहृतपदार्थसंसर्गित्वविशिष्टप्रकृत्यर्थतावच्छेदकवत्स्वरूपेण स्वसजाती-
यनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकैकत्वं बोध्यम् । विस्तरस्त्वेकः पूर्वप-
रयोरित्यत्र द्रष्टव्यः । एका संज्ञा भवतीत्यस्य इत आरभ्य "क-
डाराः कर्मधारये" इत्यतः प्राक् स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकविशिष्टोद्देश्यताव-
च्छेदकसंज्ञान्तरसामानाधिकरण्याभावविशिष्टा संज्ञा भवतीत्यर्थः । स्वीयोद्दे-
श्यतावच्छेदकवैशिष्ट्यञ्चोद्देश्यतावच्छेदके स्वतादात्म्यम्—स्वप्रतियोगिको वि-
धेयानुयोगिको यः संसर्गः तादृशसंसर्गघटकनिरूपितत्वसमसंख्याक-
निरूपितत्ववान् यः संसर्गः तत्संसर्गप्रतियोगित्वम्—एतदुभयसम्बन्धे-
न । अत एव परमदध्नेत्यादौ तत्पुरुषबहुव्रीह्यादिसंज्ञाभिरङ्गसंज्ञायाः,
वैत्रमित्यत्र घिलघुसंज्ञयोः, गार्गीबन्धुरित्यादौ गुरुसंज्ञया नदीसंज्ञायाः,
अङ्गसंज्ञया भपदसंज्ञयोश्च समावेशः सिद्ध्यति । अन्यथा परमदध्नेत्यादौ परया त-
त्पुरुषसंज्ञया अङ्गसंज्ञाबाधेनानङ्गादेशः, वैत्रमित्यत्र उभे अपि वर्णस्येति पक्षे परया
लघुसंज्ञया घिसंज्ञाबाधे "द्वन्द्वे घि" इति पूर्वनिपातः, गार्गीबन्धुरित्यादौ परया
गुरुसंज्ञया नदीसंज्ञाबाधेन 'नदी बन्धुनि' इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वं च न स्यात् ।

लक्षणसमन्वयस्तु यथा—भसंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकतदादित्वस्य
पदसंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकतदादित्वे स्वतादात्म्यस्य—स्वप्रतियोगि-
को यः स्वनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितोद्देश्यतानिरूपितविषयतावत्स्वरूपो वि-
धेयानुयोगिकः संसर्गस्तत्संसर्गघटकनिरूपितत्वसमसंख्याकनिरूपित-
त्ववत्संसर्गप्रतियोगित्वस्य च सत्त्वाद्बोध्यः । नचाङ्गसंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्य-
तावच्छेदकतदादित्ववैशिष्ट्यस्य भपदसंज्ञाशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकतदादि-
त्वे सत्त्वात्तयोः समावेशो न स्यादिति वाच्यम् । अङ्गसंज्ञायामव्यव-
हितपूर्वं यत्तदादि तदेवोद्देश्यं, भपदसंज्ञयोश्च तदाद्यभिन्नं यदव्यवहितपूर्वं
तदुद्देश्यमिति स्वप्रतियोगिकसंसर्गघटकनिरूपितत्वतुल्यसंख्याकनिरू-
पितत्ववत्संसर्गप्रतियोगित्वस्य तदादित्वयोरभावेनाव्यवहितपूर्वत्वतदादि-
त्वयोश्च तादात्म्यस्याभावेन परस्परमुद्देश्यतावच्छेदकवैशिष्ट्यस्य उद्दे-
श्यतावच्छेदके ऽभावेनादोषात् । एवं ययोः बाध्यबाधकभावो नेष्यते
तत्र विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेन निरुक्तसमानोद्देश्यतावच्छेदकत्ववि-
घटनं बोध्यम् । कारकाधिकारस्थसंज्ञानां तु न कदाचिदपि समावेशः ।

नेन* शास्त्रेऽपि संज्ञाविषये ऽप्रवृत्तेश्च । तेनेति । अनवकाशत्वेनेत्यर्थः ।

परोदाहरणं तु 'अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते' इत्याद्याकरेस्प-
ष्टम् । विरोधाद्यभावेन विप्रतिषेधसूत्राद्यप्रवृत्तावपि* परत्वादेरन्यत्र बल-
वत्त्वेन दृष्टतयाऽत्रापि तेन व्यवस्था । अपादानादिसंज्ञानां समावेशे
तु तत्कार्ययोः *पर्यायापत्तिर्दोषः । भपदसंज्ञयोः समावेशे तु
राज्ञ इत्यादौ नलोपस्यापत्तिर्वोधा । न च राजन्य इत्यादौ "सुप्तिङन्त-
म्" इति पदत्वं दुर्वारम् । परया भसंज्ञया तु न बाधस्तस्या अन्तरङ्गत्वादि-
ति वाच्यम् । समानावधिकाया* अन्तरङ्गाया अप्यनया बाध्यसामान्य-
चिन्तया ऽपवादत्वेनैव बाधादित्याहुः ।

आकडारस्थसंज्ञासु च यथोद्देशपक्ष एवेत्यदद्रय-
ङ्शब्दे निरूपयिष्यते । भपदसंज्ञाविधावङ्गप्रकरणे भस्येत्यस्य
पाठेनाङ्गमित्यनुवर्त्याङ्गं सत् पदं भवति, भं भवतीत्यर्थेन ता-

सर्वत्र कारकत्वस्यैवोद्देश्यतावच्छेदकत्वेन निरुक्तसमानोद्देश्यतावच्छेदक-
त्वस्यैव सत्त्वात् । 'सिति च' इत्यत्र सित्वस्य प्रत्ययत्वव्याप्यधर्मत्वेन प्रत्ययग्रहण-
परिभाषयोपस्थितस्य तदादेरित्यस्योद्देश्यत्वेन भसंज्ञायां चाव्यवहितपूर्वस्य त-
त्त्वेन पदसंज्ञया भसंज्ञाबाधानापत्तौ 'पाश्चर्म' इत्यत्र "ओर्गुणः" इति गुणापत्तिरिति
तु न शङ्कनीयम् । "सिति च" इत्यत्रापि तस्मिन्निति परिभाषोपस्थितपूर्वत्वांश-
स्यैव विशेष्यत्वविवक्षणेन तदाद्यभिज्ञाव्यवहितपूर्वत्वस्यैवोभयत्राप्युद्देश्यता-
वच्छेदकतया समानावधिकत्वेन भसंज्ञाबाधाक्षतेरदोषात् । सिद्धान्तस्य तदा-
देरिति तु नार्थः । संज्ञाविधाविति निषेधात् । *संख्यावाचीति* । निरुक्तसं-
ख्यावाचीत्यर्थः ।

अदर्शनेनेति । विरोधे हि वलीयसा दुर्बलं बाध्यते इति न्यायेन वि-
रोधाभावे तत्क्रौण्डिन्यन्यायस्याप्रवृत्तेरिति भावः । *अप्रवृत्तावपीति ।
चिन्त्यमिदम् । 'आकडारादेका संज्ञा' इत्यनेन निरुक्तसमानोद्देश्यतावच्छेदक-
संज्ञान्तरसामानाधिकारण्याभावस्य निरुक्तसमानोद्देश्यतावच्छेदकसंज्ञायां
बोधनेन विप्रतिषेधस्य सत्त्वेन विप्रतिषेधशास्त्रप्रवृत्तौ बाधकाभावात् । *प-
र्यायापत्तिरिति* । वस्तुतस्तु संज्ञयोरविरोधेन समावेशेऽपि तत्प्रयुक्तकार्ययो-
र्विरोधस्य सत्त्वेन गां दोग्धीत्यादौ द्वितीयाबाधेन पञ्चम्यापत्तौ वैपरीत्यापत्तिरा-
पादयितुं श्याय्या । *समानावधिकाया इति* । समानावधिकत्वञ्च निरुक्तोभयस-
म्बन्धेन स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकविशिष्टोद्देश्यतावच्छेदकत्वं बोध्यम् । तेन
'ईबन्धुः' इत्यत्र गुरुनदीसंज्ञयोः परिष्कृतसमानावधिकत्वाभावेन समावेशाद्
'गुरोरनृत' इति प्लुतो, 'नदी बन्धुनि' इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वञ्च सिद्ध्यति ।

भ्यां तस्य समावेश एव* न पर्याय इति बोध्यम् । पुरुषसञ्ज्ञापरस्मैपदसञ्ज्ञयोरपि “णलुत्तमो वा” इति ज्ञापकात्समावेशः । गुरुलघुसञ्ज्ञे वर्णस्य, नदीधिसञ्ज्ञे तदन्तस्येति भिन्नावधिकत्वात्समावेशतः । उभे अपि वर्णस्येति पक्ष आकरे उपलभ्यमानोऽप्येकदेशिन एव समावेशानुपपादादिति दिक् । यलोप इति । “हलि सर्वेषाम्” इत्यनेनेत्यर्थः ।

अल्लोपो ऽनः ॥ तपरकरणं किम् । अनितेः क्विपि आन इत्यादौ लोपाभावाय । अन्तं त्वत्रैकदेशविकृतन्यायेनेत्यन्यत्र विस्तरः । पूर्वस्मादिति । अचः परस्मिन्नित्यत्र ‘पूर्वविधौ’ इत्यस्यावृत्त्या पञ्चमीसमासाश्रयणादयमर्थो लभ्यते इति भावः । तेन *प्रत्यैषिषन्नित्यादिसिद्धिः । अन्यथा जुस् स्यात् । अत एव “उभे अभ्यस्तम्” इति सूत्रे उभेग्रहणं यत्रोभे श्रूयते तत्रैवाभ्यस्तसञ्ज्ञार्थम् ऐर्त्सन् इत्यत्राभ्यस्तलक्षणो जुस् मा भूदित्युक्ते शपैकादेशस्य पूर्वविधाविति पञ्चमीसमासेन स्थानिवत्त्वाज्जुसोऽप्राप्तेरसति प्रयोजने उभेग्रहणं सहार्थमित्युक्तम् । तेन उभे यत्र श्रूयते इत्यर्थेऽपि प्रत्यैषिषन्निति सिद्धये आवश्यकेन पञ्चमीसमासेन तत्सिद्धावुभेग्रहणं सहार्थमिति तद्भावः ।

इति पक्षे त्विति । तुनाऽस्यानित्यत्वं सूचितम् । प्रविगणय्येति भाष्योदाहरणमपि तदनित्यत्वे एव सङ्गच्छते । अत एव हे गौरित्यत्र वृद्धेः स्थानिवत्त्वान्न सम्बुद्धिलोपः । पूर्वस्मान्निमित्तत्वेनाऽऽश्रितादिति व्याख्याने तु न मानम् ।

(के(१) चित्तु पूर्वस्मादव्यवहितपरस्यैव* कार्ये स्थानिवत्त्वम् ।

समावेश एवेति । निरुक्तसमानोद्देश्यतावच्छेदकत्वस्याभावादिति भावः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् ।

प्रत्यैषिषन्निति । न च जुसः पदचरमावयवत्वेन “न पदान्त” इति स्थानिवत्त्वनिषेधः शङ्क्यः । पदे अन्त इति सप्तमीसमासस्य सिद्धान्तितत्वेन पदपरकचरमावयवत्वस्य जुस्यभावेन निषेधाप्रवृत्तेः । न चैवमपि प्रत्यैषिषन्देवदत्ता इत्यादौ पदपरकत्वस्य चरमावयवे जुसि सत्त्वेन पुनरपि तन्निषेधः शङ्क्यः । इत एव दोषात्तत्र प्रत्यासत्त्या परपदस्थाजादेशस्यैव ग्रहणमित्यदोषात् ।

अव्यवहितपरस्यैवेति । न च भवतीत्यादौ पञ्चमीसमासेन गुण-

(१) अयं पाठो बहुषु पुस्तकेषु नास्ति ।

प्रविगणयेत्यादौ तु स्थानिवद्भावलब्धाकारस्यैव व्यपदेशिवद्भावेन लघुपूर्व-
त्वमादाय न दोष इति तदनित्यत्वे न मानमित्याहुः*) ।

पूर्वत्रासिद्धे नेति । अतिदेशदृष्ट्या त्रिपाद्या असिद्धत्वेन न्या-
यसिद्धानुवादोऽयम् । तत्फलं त्वतिदेशान्तराणां वतिघटितानां त्रिपाद्यां
प्रवृत्तिबोधनम् । अत एव *अमी, क्षीरपेणेत्यादौ मीत्वणत्वे भवतः । अत्रै-
कारस्यादस्सम्बन्धित्वं, पे इत्यस्यैकाजुत्तरपदत्वश्चान्तवद्भावार्थिनम् ।
तस्य दोष इति । इदं वाचनिकमेव । “न मु ने” इति सूत्रे ‘न’ इति योग-
विभागस्तु भाष्ये न दृश्यते । अत एव सिद्धकाण्डं वार्त्तिककृताऽऽरब्धं,
“नलोपः सुप्” इति सूत्रञ्च सूत्रकृता ।

प्रकारार्थमिति । प्रकारः सादृश्यं, तच्च सुप्त्वेन ।
मांसपचनीत्यादावपि “न लुपता” इति निषेधानित्यत्वाच्छादिप-
रत्वं बोद्धव्यम् । शब्दत्वेन सादृश्यमित्यन्ये । तन्न । “वा शोक्ष्यज्ज्रो-
गेषु” इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, “नामिकाया यत्तस्क्षुद्रेषु नम्” इति भाष्यपठि-
तवार्त्तिकस्य *वैयर्थ्यापत्तेश्च । “आसन्यं प्राणमूचुः” इत्यत्रापि तद्वदेव श-
सादिपरत्वम् । अत्र ‘सुप्रभृतिषु’ इति वाच्ये ‘शस्प्रभृतिषु’ इत्युक्त्या ऽन्यत्र
क्वचिदेव प्रवृत्तिर्बोध्यते । अत एव पद्महर्निशां ग्रहणं चरितार्थम् । तेषां
द्विविधानामपि कोशसिद्धतया तत्र व्यवस्थार्थताया एव वक्तव्यतया
सुप्प्रत्ययमात्रे प्रवृत्तौ तस्या असम्भवेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । प्रकारार्थत्वे
प्रमाणमाह-भाष्ये इति । तत्र हि “शस्प्रभृतिष्वित्युच्यते, अशस्प्रभृतिष्वपि

स्य स्थानिवद्भाववादेशो न स्यादिति वाच्यम् । स्वविधौ पञ्चमीसमासे-
नापि स्थानिवद्भावस्याप्रवृत्तेः । अत्राव्यवहितपरत्वं श्रूयमाणम्बोध्यम् ।
आहुरिति । अत्रारुचिबीजन्तु प्रविगणयेति भाष्यासङ्गतिः । स्थानिभूतादच्चः
पूर्वत्वेन दृष्टो यो णकारस्तदव्यवहितोत्तरत्वस्य श्रूयमाणस्य णौ सत्त्वेनाल्लापस्य
स्थानिवद्भावेन एकस्मिन्नित्युक्त्या ऽसहाये एव व्यपदेशिवद्भावस्य प्रवृत्तेर्निर्णी-
ततया प्रकृते व्यपदेशिवद्भावप्रवृत्तौ लघुपूर्वशब्देन अकारस्यः ग्रहणायोगात्,
लघुपूर्वाणकाराच्च णेरव्यवहितपरत्वाभावेन णेर्यावेशानापत्तेः ।

अमी क्षीरपेणेत्यादाविति । “अन्तादिवच्च” इति सूत्रं न कर्तव्यमिति
मते “स्थानिवद्भावेऽनल्लिख्यौ” इत्यस्य त्रिपाद्यामपि प्रवृत्त्या तेनानयोः
सिद्धिर्बोध्येत्यन्तादिवत्सूत्रे विस्तरेण निरूपितम् ।

वैयर्थ्यापत्तेरिति । विरुद्धोऽर्थो यस्य स व्यर्थः तस्य भावो वैयर्थ्यं त-
स्माद्विरुद्धार्थत्वापत्तेरित्यर्थः । तथा हि नासिक्त्यं नगरं नासिक्त्यो वर्ण इत्यादौ

दृश्यते-शलादोषणी ककुदोषणी याचते महादेवः"इत्युक्तम् । आद्यस्याघ्रिगु-
प्रैवे पठ्यमानस्य शलाकाकारे दोषणी इत्यर्थः । छान्दसः कादिलोपः ।
एतेन दोष इत्यकारान्तस्य दूषणवाचिनो दोषन्नादेश इत्यपास्तम् ।

तेन पदङ्घ्रिरिति । न च कोशस्थपदादीनां पादाद्यादेशत्वे
पादादिभ्यः पृथक्पदादिवचनं तत्र व्यर्थम् । न हि स्थान्यादेशयोः पृथगुपा-
दाने प्रयोजनमस्ति, स्थान्युपादानेनैव तदर्थभिधानममर्थादेशस्याप्यर्थ-
बोधनात् । अत एव नसाद्यादेशानां कोशे ऽनुपन्यास इति वाच्यम् ।
पदादीनां भाष्यरीत्या ऽनादेशत्वात् । तच्चेपि "तृज्वत्क्रोष्टुः"इतिवद्व्य-
वस्थार्थमस्यावश्यकत्वेन सौ परतो हृदादीनां प्रयोगार्थं प्रकारार्थत्व-
स्यावश्यकत्वात् । स्पष्टं चेदं "वा शोक"इति सूत्रे मूले ।

कोशे शब्दा अर्थपरा एव । शक्तिग्रहस्तु पदत्वहेतुकानुमानेन सा-

नसादेशवारणाय कृतम्-‘अवर्णनगरयोः’इतिवार्तिकं परिमुखादौ पाठेन नासिकयो
वर्ण इति, सङ्काशादिषु पाठान्नासिक्यं नगरमिति च साधयित्वा प्रत्याख्यातम् ।
शब्दत्वेन सादृश्यग्रहणे-प्रत्याख्यानकल्पे पद्वन्निति विकल्पेन नसादेशे
नासिक्यं नास्यामिति वृद्धिघटितं वर्णे रूपद्वयम्, एवं नगरेऽपि; आरम्भपक्षे च
नस् नासिकाया इति वार्तिकप्राप्तादेशस्य निषेधेऽपि पद्वन्निति विकल्पेन
नसादेशे नासिक्यं नस्यामिति रूपद्वयं स्यादिति फलभेदेन
प्रत्याख्यानसङ्गत्यापत्या विरुद्धार्थत्वापत्तिः । मम तु सुप्त्वेन सादृश्यात्
'न लुमता' इति निषेधेन नसादेशप्राप्त्योभयपक्षेऽपि नासिक्य-
मित्येकमेव रूपमिति फलभेदाभावात् न प्रत्याख्यानसङ्गतिः । एतेन 'नस् ना-
सिकाया'इतिवार्तिकस्य स्थानिघटितस्यासाधुत्वबोधनायाऽऽवश्यकत्वमिति
वैयर्थ्याभावादिदमसङ्गतमित्यपास्तम् ।

स्यादेतत् । 'स्वान्तं हन्मानसं मनः' 'पदङ्घ्रिश्चरणो ऽस्त्रियाम्'इत्यत्र
हृत्पच्छब्दयोः शब्दस्वरूपपरतया, स्वरूपतो हृदयत्वप्रकारकहृदयविशेष्यकबो-
धतात्पर्येणोच्चरितहृदयशब्दस्य-एवं स्वरूपतश्चरणत्वप्रकारकचरणविशेष्यक-
बोधतात्पर्येणोच्चरितपादशब्दस्य हृदादेशपदादेशयोर्विधानेन प्रकृते हृत्पदादेश-
योरप्राप्त्या'तेन "पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्" "स्वान्तं हन्मानसं मनः"इति सङ्गच्छ-
ते'इति कौमुदी असङ्गता । एतेन स्वान्तं हृत् पदङ्घ्रिरित्यादौ शब्दे ऽर्थस्यापि
प्रकारीभूततया भानात् चरणहृदयविषयकबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वमस्त्येवेति कौ-
मुदी सङ्गतैवेति परास्तम् । स्वरूपतः चरणत्वादिप्रकारकचरणादिमुख्यविशेष्य-
कबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वस्याभावेनादेशाप्रवृत्तेः कौमुदिसङ्गतेस्तदवस्थत्वादित्य-
त आह- *कोशे शब्दा अर्थपरा एवेति* ।

अनुमानेनेति । इदं त्रिष्णुपदं नारायणत्वावच्छिन्नार्थनिरूपितश-

मान्यत एव । एवञ्च 'विष्णुर्नारायण' इत्यादौ विष्णुपदार्थाभिन्नो नारायणपदार्थ इति क्रमेण बोध इत्यादि मञ्जूपायां नामार्थवादे विस्तरेण निरूपितम् । 'एतत्पदममुकवाचकम्' इति शक्तिग्रहस्तु स्वस्वप्रसिद्धमादाय तत्तत्पुरुषस्यानियतः पश्चान्मनसैव । 'अघ्न्ये देवि सरस्वति इडे काव्ये विहव्ये एतानि ते ऽघ्न्ये नामानि' इत्यादौ यत एतानि तव नामानि अतस्त्वदभिन्ना एवामर्था इति बोधः । अत एव "नामन्त्रिते समानाधिकरणे" इति सूत्रभाष्ये सामान्यवचनमित्यस्य इदं प्रत्युदाहरणं दत्तम् । अन्यथैकार्यबोधकत्वरूपसामानाधिकरण्यस्याप्यभावात्तदसङ्गतिः स्पष्टैव । एकशेषस्तु न ।

क्तिमद् नारायणपदघटितप्रघट्टकघटकत्वादित्यनुमानेनेत्यर्थः । अगृहीतशक्तिकपदघटितप्रघट्टकघटकेषु कोशाच्छक्तिग्रहो न भवति । पदत्वहेतुकानुमानेनार्थबोधकत्वग्रहस्तु अर्थत्वप्रकारकार्यविशेष्यकबोधमेव जनयति, न तु स्वरूपतः शक्यतावच्छेदकधर्मप्रकारकबोधमिति पदत्वहेतुकानुमानं विफलमेव । न चार्थत्वस्योपलक्षणत्वात्तद्धर्मप्रकारकशब्दबोधस्यानुदयेऽप्यर्थत्वेन रूपेण तत्तच्छक्यतावच्छेदकधर्मप्रकारकमेव शक्तिज्ञानं भवतीति निरुक्तहेतुपर्यन्तानुधावनं व्यर्थमिति वाच्यम् । विशेषधर्मप्रकारकशक्तिज्ञानाभावदशायामुपलक्षितधर्मप्रकारकशब्दबोधस्य 'तमानय' इत्यनन्तरं 'कमानयामि' इति प्रदर्शनदर्शनेनानुभवसिद्धत्वाभावाद् विशेषधर्मप्रकारकशक्तिज्ञानस्य चानेनानुमानेनासम्भवाद् अर्थत्वप्रकारकचरणविशेष्यकबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वस्यार्थत्वप्रकारकहृदयविशेष्यकबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वस्य च सत्त्वेऽपि स्वरूपतश्चरणत्वप्रकारकचरणविशेष्यकबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वस्य स्वरूपतो हृदयत्वप्रकारकहृदयावशिष्यकबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वस्य चाभावेनाऽऽदेशप्राप्त्या कौमुद्यसङ्गत्यापत्तस्तदवस्थत्वात् । तस्मात्पूर्वोक्तानुमानेन पर्यायघटितप्रघट्टकघटकपदशक्तिग्रहवतः पुरुषस्य स्वरूपतः तद्धर्मप्रकारकशक्तिज्ञानजायत इति सर्वं समञ्जसम् इति केचिदाहुः ।

परेतु "सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यः" इत्यादौ अगृहीतशक्तिकपदानाम् "इदं पदम् क्वचिदर्थे शक्तम् साधुपदत्वात्" इत्येवं साधुपदत्वलिङ्गेन अर्थत्वेन शक्तिग्रहे वृत्ते तत्तत्पदप्रकारिकायामर्थत्वप्रकारिकायां चोपस्थितौ "सिंहपदार्थाभिन्नो मृगेन्द्रपदार्थः" इत्येवं वाक्यार्थबोधे पदानामपि समानार्थकत्वग्रहाद् व्यवहारादिना कस्मिंश्चित्सिंहादिपदे विशिष्य तत्तद्रूपेण गृहीतशक्तिकस्य पुंसः हर्यादिपदान्तरेषु "इदं पदं सिंहत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तिमत् सिंहत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तिमत्सिंहादिपदसमानार्थकत्वात्" इत्येवं सर्वेषु एकप्रघट्टकीयेषु पर्यायेषु शक्तिग्रहो विशिष्य जायते । ततश्च लोके प्रयुक्तहर्यादिपदेभ्यः विशिष्य सिंहत्वादिना बोधः । न तु

तथा सति तत्तच्छब्दस्वरूपस्य सम्यग् बोधानापत्तेः* । अनेकशब्दानां स्वरूपबोधनपूर्वमेकार्थबोधने कोशतात्पर्यात् । अत एव 'यत्तदेतेभ्य' इत्यादौ पाणिनिनैकशेषो न कृतः । एतेन कोशे शब्दानां शब्दपरता । अत एवैकशेषो न । अर्थपरत्वन्तु न सम्भवति इतः पूर्वं शक्तिग्रहाभावात् । एते शब्दा एकार्था इति बोधः । एवञ्चात्र प्रकारार्थत्वाभावेऽपि न क्षतिरित्यपास्तमिति दिक्* ।

संख्यावि । 'सायेभ्य' इति वक्तव्ये पूर्वग्रहणमुत्तरपदे इत्यधिकृतस्य षष्ठ्यन्तत्वलाभाय । एतेन द्व्यह्नपिय इत्येवैतदुदाहरणमित्यपास्तम् ।

विश्वपा इति । विश्वं पातीति विश्वे 'आतोऽनुपसर्गे' इति प्राप्ते वाऽसरूपन्यायेन "आतो मनिन् कनिब्वनिपश्च" इति चेन विश्व । स चाऽऽदन्तेभ्यो लोकेऽपि, 'कीलालप आगतम्' इति "विभाषा पूर्वाह्ण" इति सूत्रे भाष्यप्रयोगात् । किपस्त्वादन्तेभ्यो भाष्यानुक्तक्विबभ्योऽनभिधानमेव । अत एव "यू स्याख्यौ" इत्यत्र विजुक्तो भ्रष्टे, न तु किप् । अत एव शंस्था

कोशे प्रयुक्तसिंहादिपदेभ्यः विशिष्य सिंहत्वादिना बोधः । विरूपेणोपस्थित्यभावेन अभेदान्वयबोधासंभवात् । तस्मात् तत्तत्पदार्थत्वादिना बोधार्थं पदत्वलिङ्गकानुमानं सफलमेव । न च कोशे विशिष्यबोधाभावे विशिष्य हृदयत्वादिना बोधतात्पर्येणोच्चरितहृदयादिशब्दस्यैव हृदाद्यादेशविधायकपद्वन्निति शास्त्राप्रवृत्तौ प्रभृतिग्रहणप्रकारार्थत्वफलतया पदङ्घ्रिरित्यादिकोशोपन्यासो मूलकारस्यासंगतः स्यादिति वाच्यम् । विशिष्य तत्तद्रूपेण बोधतात्पर्येणोच्चरिते एव शास्त्रप्रवृत्तिरित्यत्र प्रमाणाभावात् । अत एव विशिष्यानवगतवामदेवादिबोधकेषु अस्मदादिप्रयुक्तवामदेवादिशब्देषु "वामदेवाङ् व्यङ्ग्यौ" इत्यादिशास्त्रप्रवृत्तिरित्याहुरिति दिक् । *बोधानापत्तेरिति* । वस्तुतस्तु एक रूपावच्छिन्नस्य एकरूपावच्छिन्नसंसर्गेणैकरूपावच्छिन्नेऽन्वयबोधेच्छारूपसहविवक्षायाः कोशेऽभावेनैवैकशेषाऽप्रवृत्तिरिति बोध्यम् ।

दिगिति । अन्ये तु कोशे शब्दानामर्थपरत्वं सर्वत्र न सम्भवति । 'विधुर्विष्णौ चन्द्रमसि' इत्यादावर्थपरत्वस्यासम्भवात् । सर्वत्र शब्दपरत्वमपि न । 'सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकुदः' इत्यत्र शब्दपरत्वासम्भवात् । कौमुदीयोजनन्त्वेवम् । असर्वविभक्तिकपदानां 'लाजाः पुंभूस्त्रि चाक्षताः' 'नासत्यावश्चिनौ दस्त्रौ' 'दाराः पुंभूस्त्रि' इत्यादिवत् पदाद्यादेशस्य शसादिष्वेव प्रयोग इत्येव वक्तव्ये सामान्यतः पदङ्घ्रिरितिकरणं, स्वान्तं हन्मानसं मन इतिकरणं च प्रभृतिग्रहणं प्रकारार्थमित्यत्र मानीमत्याहुः ।

इत्यादिप्रयोगेषु भाष्यकृता ईत्वं न कृतमिति केचित् । अन्ये क्पिमेवाहुः* । दीर्घाज्ज ॥ चेन 'इचि' इत्यनुकर्षः । 'दीर्घाच्छस्येव' इति नियमपरं "दीर्घाच्छसि" इत्येव तु न सूत्रितम् । दीर्घादेव शसीतिविपरीतनियमापत्तेः । प्रत्याहारेषु जातिपक्षाश्रयणादत्र प्राप्तिः । न्याय्यत्वादिति । जसि पूर्वस-
वर्णदीर्घनिषेधस्य न्याय्यत्वादित्यर्थः । धातोः किं हाहानिति । अव्युत्पन्नमिदम् । अस्य क्रियाशब्दत्वे तु 'सान्' इति प्रत्युदाहरणम् ।

परे तु क्तवः इन इत्यादिसिद्ध्यर्थम् "आतो ऽनाप" इति वक्तव्यम्" इत्युक्ते 'आत' इति योगविभागेन तत्संसाध्य तत्प्रत्याख्यातं भाष्ये । एवञ्च सांशब्दादेर्यत्राभिधानं तदा योगविभागेन लोप इष्ट एव । सूत्रे धातुग्रहणमावन्तनिवृत्त्यर्थमेव । भाष्यवार्त्तिककृतोरङ्गानकल्पनापेक्षयेदृशार्थ-
कल्पनस्यैवौचित्यात् । आवन्तादाचारकिबेव न, तत्किवन्ताद्वा कर्त्तृकिब् न अनभिधानादिति न तत्र सूत्रवार्त्तिकयोर्विरोधः । *अत एव "प्रथमयोः" इतिसूत्रभाष्ये पररूपं वाच्यसामान्याचिन्तया दीर्घमात्रस्य बाधकमिति पक्षे रामानित्यादिसिद्ध्यर्थम् 'अतो दीर्घ' इति, 'सुपि च' इति चानुवर्त्त-
माने "बहुवचने झल्येत्" इति सूत्रे बहुवचने इति योगविभागेन पररूपवा-
धकं दीर्घं विधाय रामाणामित्यादावनेन दीर्घे परत्वात्कृते ऽग्नीनामित्यादौ सावकाशस्य नुटो ऽप्राप्तिमाशङ्क्य "ह्रस्वनद्यापः" इति सूत्रे "आज्जसेः"-

*क्पिमेवाहुरिति । परे तु "ईत्वमवकारादाविति वाच्यम्" इति, वसां वसापावानः पिबत' घृतं घृतपावानः पिबत' इत्यादावीत्ववारणाय कृतं वा-
र्त्तिकं भगवता पावान इति वनिषा साधयित्वा प्रत्याख्यातम् । विश्वपाः शंस्था इत्यादौ वार्त्तिकमते ईत्वाप्राप्त्या भाष्यमते ईत्वप्राप्त्या ऽऽरम्भप्रत्याख्यानयोः फलभेदेन प्रत्याख्यानासङ्गत्यापत्तेः 'ईत्वमवकारादौ' इति वार्त्तिकस्य श्रूय-
माणवकारादावीत्वं न भवतीत्यर्थः । तथा च विश्वपाः शंस्था इत्यादौ न फलभेद इति । एवं च क्विपि वकारस्य श्रूयमाणत्वाभावेन निषेधा-
प्रवृत्तौ ईत्वस्य दुर्वारतया विजेव । अत्र मानं 'कीलालप आग-
तम्' इति भाष्यप्रयोग एव । अत एव "यू रूयाख्यौ" इत्यत्र विचक्ष्यनं भाष्योक्तं संगच्छते । एवञ्च आदन्तेभ्य आचारकिवन्तेभ्यः कर्तरि क्पि फलभे-
दाभावेनाऽऽचारकिपो ऽनभिधाने न मानम् । न च वार्त्तिकमते पीवा पीवान इति लक्ष्यासिद्धिरिति वाच्यम् । एतदुद्धारायैव भगवता वार्त्तिकस्य प्रत्याख्यानात् । यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिति सिद्धान्ताच्चेत्याहुः ।

अत एवेति धातुग्रहणमावन्तनिवृत्त्यर्थमेवेति स्वीकारादेवेत्यर्थः ।

इत्यत आद्ग्रहणानुवृत्त्या समाधाय कीलालपामित्यादौ-नुड्विधायके 'आतो धातोः' इत्यनुवर्त्य लोपेन नुड्वाधकेन समाहितम् । नुड्विधायके आब्-ग्रहणं न कार्यमिति तदाशयः । अधात्ववयवाकारान्तानां लोपाभावे तु तदसङ्गतिः* स्पष्टैवेत्याहुः ।

क्त्वः श्र इति । क्त्वाप्रत्ययस्य इडित्याद्यर्थकं 'क्त्व इट्' 'इनः शस्येत्वम्' इत्यादिप्रयोगस्थमत्रोदाहरणम् । एतेनाऽऽचारविवन्तात् कर्तृकि-

तदसंगतिरिति । यथाश्रुतन्यासे ह्रस्वान्तत्वाभावाच्च नुट् प्राप्नोति, 'ह्रस्व-नद्याप' इत्यत्राऽऽदित्यनुवर्त्यादन्तान्नुडितिकल्पे च नुड् भवतीति फल-भेदाद् भाष्यासंगतिरिति भावः ।

परे तु "आतो धातोः" इतिसूत्रकृन्मते, "आतो ऽनापः" इतिवार्त्तिककृन्मते, "आतः" इति योगविभागेन तद्वार्त्तिकप्रत्याख्यानपरभाष्यमते च फलभेदवारणाय आतोधातोरिति सूत्रे आत इतिपदं स्त्रीत्वबोधकतापर्याप्त्यधिकरणघटकाऽऽकार-भिन्नाऽऽकारपरम् । तथा च सामित्यादावाकारस्य लोपे नुटोऽप्राप्त्या प्रथमयो-रितिसूत्रस्थभाष्यमते फलभेदाभावेनानभिधाने न दृढम्मानम् । न च धातुपदं निरुक्तार्थपरं भवत्विति वाच्यम् । सूत्रे आत इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, आत इतिविभक्तसूत्रस्य लक्ष्यासम्भवाद्भाष्यकृतकृतयोगविभागस्य वैयर्थ्यापत्ते-श्च । एवं धातुग्रहणमावन्तानिवृत्त्यर्थमिति शेखरग्रन्थोऽसंगतः । 'न मु ने' इति निर्देशासङ्गतेः । ना इत्यस्य आवन्तभिन्नत्वेन तत्र लोपस्य दुर्वारतया 'नि' इति रूपस्यैव त्वन्मते लाभात् । अस्मन्मते आत्पदं स्त्रीत्वावच्छिन्नबो-धकघटकाकारभिन्नाकारपरमित्युक्तत्वेन नाशब्दस्य च स्त्रीलिङ्गत्वेन लो-पाप्राप्त्या नासंगतिः । न च भवन्मते प्रथमयोरितिसूत्रस्थभाष्यविरोधः । तत्र हि कीलालपामित्यादौ लोपार्थं नुड्विधायके आतो धातोरित्यनुवृत्तिं कृ-त्वा योगविभागेन समाहितम् । भवन्मते आत इत्यनुवृत्तावपि कीलालं पान्तीति कीलालपाः स्त्रियस्तासामित्यर्थके कीलालपामिति प्रयोगे आकारस्य स्त्रीत्वावच्छिन्नबोधकघटकाकारभिन्नत्वाभावेन तत्र लोपार्थं कृताया आत इत्यनुवृत्तेर्व्यर्थत्वात् । नागेशमते च न भाष्यविरोधः । प्रियहाहामित्यादौ आतो धातोरित्यस्य चारितार्थ्येन नुड्विधायके आत इत्यनुवृत्तेरावश्यकत्वात्, इति वाच्यम् । आत इत्येतत्साहचर्येण आज्ञासेरिति सूत्रादनुवृत्ताऽऽत्पदस्यापि स्त्रीत्वबोधकाकारभिन्नाकारपरत्वेन प्रियहाहामित्यादौ नुटोऽप्राप्त्या तत्र लो-पार्थमातोधातोरित्यनुवृत्तेरावश्यकत्वात् ।

अत एव ड्याप्सूत्रे भाष्ये आवन्तस्थले पूर्वान्तवद्भावेनैव सिद्धे आब्ग्रहणं किमर्थमित्याशङ्क्य बहुदामेत्यादि डाबन्तविषयं प्रयोजनमुक्तं संगच्छते। अन्यथा क्त्वायामित्यादिभाष्यप्रयोगेण क्त्व इत्यादिप्रयोगेण च क्त्वाशब्दस्य स्त्रीपुं-लिङ्गत्वानुमानेन क्त्वायामित्यादिप्रयोगे याहुपपत्तये टावर्थमजादौ क्त्वाशब्दपा-

पा एते प्रयोगा निर्वाह्या इत्यपास्तम् । आचारक्विवन्तप्रकृतिकर्तृक्विवन्त-
स्य भाष्ये क्वाप्यनुपन्यासेन तेभ्यः कर्तृक्विपो ऽनभिधानस्यैव लाभाच्च ।

जसि च* । ह्रस्वस्य गुण इति वर्त्तते ।

ह्रस्वस्य । “संबुद्धौ च” इत्यतः संबुद्धाविति वर्त्तते ।

शेषो घ्य । “यू स्यात्पौ” इत्यतो यू इति, “ङिति ह्रस्वश्च” इत्यतो
ह्रस्व इति च वर्त्तते । शेषपदार्थमाह—अनदीत्यादि । तदन्तमिति ।
अनुवृत्तयुभ्यां शेषपदार्थस्य विशेषणात्तदन्तलाभ इति भावः । ननु मत्स्ये
इत्यत्रानवकाशत्वान्दीसञ्ज्ञैव भविष्यतीति शेषग्रहणं व्यर्थमत आह—एक-
सञ्ज्ञेति । अधिकारादिति । “कडाराः कर्मधारये” इत्येतत्पर्यन्तं तस्य
बुद्धिस्थत्वादित्यर्थः । स्पष्टार्थमिति । स्पष्टतया तदन्तविधिलाभार्थमिति
भावः* । मात्रे इति । “ऋतो ङि” इति तु यू इत्यनुवृत्तावेव तात्पर्यग्राहक-
मिति भावः ।

ठस्यावश्यकत्वेन त्वन्मते आचन्तभिन्नकत्वासम्बन्धी य आकारस्तदन्तस्यावन्त-
भिन्नत्वेन टापि परतो भसंज्ञायां लोपे टाच्चिष्ये एव आबग्रहणस्य प्रयोजनसत्त्वेन
डाप्पर्यन्तमावग्रहणप्रयोजनानुधावनमसंगतं स्यात् । मम तु स्त्रीत्वावच्छिन्नबो-
धकघटकाकारभिन्नाकारस्याभावेन लोपाभावे पूर्वान्तवद्भावेन क्त्वायामित्यादौ
प्रातिपदिकत्वमायातीति डाप्पर्यन्तमनुधावनं सङ्गच्छते इति प्राहुः ।

जसि च । न च ‘जिति च’ इत्येव सूत्रमस्तु ह्रस्वस्येति च नानुव-
र्तनीयमिति अबिभयुरित्यादावपि अनेनैव गुणसिद्धिरिति ‘जुसि च’ इति सूत्रं न
कर्तव्यं भवतीति महल् लाघवमिति वाच्यम् । भूयासुः, जागृयुरित्यादौ गुणापत्तेः ।
न च ‘जुसि च’ इत्यस्य स्थाने तत् पठ्यते । इक्पारेभाषा चोपस्थाप्यते ।
तथा च ‘क्ङिति च’ इति निषेधाद्, अचीत्यनुवर्तनाद्वा नोक्तदोष इति
वाच्यम् । वातप्रम्यः, नियः, लक्ष्म्य इत्यत्रापि गुणापत्तेः । न च लक्ष्म्य इत्या-
दौ गुणे पूर्वसवर्णदीर्घाप्राप्त्या “दीर्घाज्जसि च” इति सूत्रस्थजस्रग्रहणं जसि पर-
तो दीर्घान्तस्य गुणो न भवतीत्यत्र ज्ञापकं भविष्यतीति वाच्यम् । लक्ष्मी-
शब्दात् क्यजन्तात् क्विपि अल्लोपयलोपयोः निष्पन्नालक्ष्मीशब्दात् जसि
प्राप्तपूर्वसवर्णदीर्घनिषेधार्थं तस्यावश्यकत्वात् । तत्र अल्लोपस्य स्थानिवद्भावेन
गुणस्याप्राप्तेः पूर्वस्यैव विधौ स्थानिवद्भावेन पूर्वसवर्णे कर्तव्ये तु न स्थानिवत्त्व-
प्राप्तिरिति दिक् ।

इति भाव इति । न च गवां पत्यै इत्यादौ “पतिः समास एव” इतिनिय-
माद्विसंज्ञाया अप्राप्त्या तत्र नदीसंज्ञायाश्चरितार्थत्वात् मत्स्ये इत्यादौ परत्वाद्
घिसंज्ञा मा भूदित्येतदर्थं शेषग्रहणमावश्यकमिति वाच्यम् । ‘ङिति पतिश्च’ इत्ये-
व कर्तव्ये नह्येकमिति न्यायेन ‘ङिति ह्रस्वश्च’ इत्यस्य धैयर्थ्येन तेन स्वविषये

आडो ना । पुंसीति तु नोक्तम् । अमुना कुलेनेत्यत्र मुत्वस्या-
सिद्धत्वान्नुमनापत्तौ पुंस्त्वाभावेन नाभावस्याप्यनापत्तौ रूपासिद्धेः ।
“न मु ने” इति निषेधस्तु न नुमि । ‘न मु टादेश’ इतिवार्तिकविरोधात् ।
अत एव सूत्रकृता ‘क्त्व’ इतिवत् ‘नि’ इति नोक्तम् । तथा सति तन्त्रेण
नकारनिर्देशोऽपि सम्भाव्येत । आगन्तुनाऽकारेण तस्यापि ने इति निर्देशे-
न तन्त्रस्वीकारे त्वत्यन्तं ज्ञानगौरवमिति न किञ्चिद्वाधमिति स्पष्टं
भाष्ये । आङ्गितीति । ङकारविशिष्टा सज्ज्ञा न त्वस्य ङस्येत्त्वम् ।
अत एव हरिणा, मत्या इत्यादौ न गुणः । एत्रम् “औङ आपः” इत्यत्रापि ।
अत एवासम्भवे एवापवादत्वमिति वार्तिकमते ऽपि रमे इत्यादौ न याट् ।
घेङ्ङिति । ‘सुपि च’ इत्यतः सुपीति वर्त्तते । तेन पट्तीति सिद्धम् । न
च ‘घिङ्ङि’ इत्येव सूत्रं कार्यं, ङकारादावित्यर्थः । प्रवाहवा इत्यत्र ‘आङयाज-
यारामुपसंख्यानम्’ इत्याङादेशस्तु ङा इत्येव वक्तुं शक्यः, इति वाच्यम् ।
मत्यामित्यादौ “आणनद्याः” इत्यस्यानापत्तेः । अलिवधित्वेन स्थानिवत्त्वा-
भावात् । इद्ग्रहणे त्वनुबन्धकार्यत्वात् स्थानिवत्त्वं स्पष्टमिति दिक्* ।

ङासिङ । एङो द्वित्वेऽपि अस्वरितत्वाद्यथामुख्यं न । (‘ङितश्च’ इति

विसंज्ञावाधेन मत्तै इत्यादौ पक्षे नदीसंज्ञा भविष्यतीति शेषग्रहणं स्पष्टार्थ-
मित्याशयात् । वस्तुतस्तु पतिः समास एवेत्यनेन बाधेऽपि असंकुचि-
तविषयतायाः सत्त्वेन न च तार्थशङ्काऽवकाशः । स्पष्टं चेदम् “अहन्”
इति सूत्रे शेखरे ।

न मु ने इति निषेधस्तु न नुमि इति । सैद्धान्तिके न्यासे इति शेषः ।
वार्तिकविरोधादिति । न च “आडो ना पुंसि” इतिन्यासकल्पे नुम्यपि “न
मु ने” इति प्रवर्तिष्यत इति अमुना कुलेनेत्यादौ मुत्वस्य सिद्धत्वान्नुमप्रवृत्तौ
पुंस्त्वाभावेन नाभावस्याप्रवृत्तावपि न रूपासिद्धिरिति वाच्यम् । अमुष्मै कुला-
येत्यादौ मुत्वस्य सिद्धत्वान्नुमापत्तेः, स्मायादेशानापत्तेश्चेति भावः ।

घेङ्ङिति । *इति दिगिति* । दिगर्थस्तु “नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्” इत्यस्य
अनुबन्धमात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकपदप्रतिपाद्यतावच्छेदकधर्मघटिततत्तद्धर्माति-
रिक्ता आनुपूर्वीव्यतिरिक्ताश्च ये ऽनुबन्धघटितबोधकवृत्तिधर्मास्तन्निमित्तके
कार्ये कर्तव्ये ऽनुबन्धा अविद्यमानवद्भवन्तीत्यर्थकरणाद्, ‘न ह्यपि’ इति प्रा-
माण्याद् अनुबन्धमात्रवृत्तिविषयताप्रयोजकपदप्रतिपाद्यतावच्छेदकेतरो यो
ऽल्वव्याप्यो धर्मस्तद्घटितातिदिदिक्षितधर्मनिमित्तके विधौ कर्तव्ये स्था-
निवन्न भवतीति ‘अनल्विधौ’ इत्यस्यार्थकरणात्, ङेङादेशकरणाद्वा मत्यामि-
त्यादौ दोषाभावाद् घेङ्ङित्येव सुवचमिति ।

तु नासूत्रि* “ऋत उत” इत्यत्र ऋदन्तात् ङितो ऽति परे पूर्वरूपामित्यर्थे जाग्रतीत्यादौ दोषः स्यादिति(१) । ङसोरित्येव सिद्धे ङसिग्रहणं स्पष्टार्थम् ।

अत्र घेः । इदुद्ग्यामिति किम्? घेः परस्य ङरौदच्च’ इति, ‘ङिप्रकृतेर्वैरौ दच्च’ इति वा ऽर्थो मा भूदिति । अदौतोस्तपरत्वं मुखसुखार्थम् । इत्सज्ज्ञायां च “तस्य लोप” इति तयोर्लोपः । न चौतो विभक्तित्वात् “न विभक्तौ” इति निषेधात् कथमित्सज्ज्ञेति वाच्यम् । सुखसुखार्थमित्यस्य तदेव प्रयोजनं न-
तु कार्यान्तरं, नापि प्रयोगे श्रवणमित्यर्थात्तत्त्वप्रतिज्ञैव “न विभक्तौ” इत्यस्य तत्राप्रवृत्तेः । अत एव ‘इद्वृद्धौ’ ‘पत्यावैश्वर्ये’—इत्यादिनिर्देशाः सङ्ग-
च्छन्ते* । यदि तूच्चारणार्थानां विनैव शास्त्रमपगमः स्यात्, तदा इत्सज्ज्ञ-
कानामपि तद्वदेव निवृत्तिरस्तु, किं तस्य लोप इत्यनेन । स्वभावादस्यो-
भयत्रापि समत्वात् । ध्वनितश्चेदं “तस्य लोप” इत्यत्र भाष्ये इति दिव-
औत्सूत्रे निरूपयिष्यामः ।

न चैवमनावित्यत्रौतः स्वरितत्वापत्तिः,—न च ‘प्रत्य-
याप्रत्यययोः’ इत्येव सिद्धे पुनः ‘तिति प्रत्ययग्रहणं कर्त्तव्यम्’ इति
वार्त्तिकदादौपदेशिकप्रत्ययत्ववत्येव तत्प्रवृत्तिरिति वाच्यम् । तस्याः परि-
भाषाया लक्ष्यसिद्धये भाष्यकृता काप्यनाश्रयणात्* । स्पष्टश्चेदं “तित्स्व-
रितम्” इत्यत्र कैयटे । “अङ्गस्य” इति सूत्रे भाष्ये तु तत्प्रत्याख्यानायैकदेशि-
ना सेक्ता, न तु सिद्धान्तिनेति स्पष्टं तद्विदाम् । “शान्नलोपः” इति सूत्रे-

* ङितश्चेति तु नासूत्रीति* । आ समन्ताद् ओ वासुदेवो यस्मिन्नगरे
तद् आ, ततो बहुचि पुनर्नपुंसकद्वस्वे बह्व इति जाते तत आचारकिपि ल-
ङि शपि “आङ्गकार्यस्य संभावनायां वार्षे पूर्वं न प्रवर्तत” इति यणोऽप्रवृत्तौ
लघूपधगुणे ‘बहो अ अत’ इति स्थिते पररूपे परादिबद्धान्तेन ङित्संबन्ध्य-
त्परकत्वस्य सत्त्वेन पूर्वरूपापत्तेः इहार्थमापि ङसिङ्सोश्चेति बोध्यम् ।

सङ्गच्छन्ते इति । वस्तुतस्तु “तपरस्तत्कालस्य” इतिशास्त्रेण अतः,
आदित्यादीनामेव संज्ञात्वबोधनेन नेत्संज्ञासाप्तिरिति बोध्यम् । *अनाश्रयणा-
दिति* । चिन्त्यमिदम् । “वसोः सम्प्रसारणम्” “वसुसंसु” “वले” “व-
नो र च” “न पदान्तात्” इत्याद्यर्थे परिभाषाया आवश्यकत्वेन एकदे-
श्युक्तित्वमात्रेण परिभाषा न स्वीक्रियत इति वक्तुमशक्यत्वात् । अन्य-
था “न वा बहिरङ्गलक्षणत्वाद्वा” इत्यनेन अन्तरङ्गपरिभाषाया एकदेश्युक्तित्वबो-
धनेन तस्या अपि लक्ष्यसिद्ध्यनुपयुक्तत्वापत्तेः । विस्तरस्तु परिभाषे न्दुटिप्पणे
द्रष्टव्य इति दिक् ।

(१) अयं पाठः केषु चित्पुस्तकेषु नास्ति ।

भाष्येऽपि ध्वनितस्तदभावः,—इति वाच्यम् । ‘प्रत्ययग्रहणम्’ इत्यस्य विधानकालिकप्रत्ययत्ववद्ग्रहणमित्यर्थात् । अत एवाऽऽदेशेषु दिच्चमाश्रित्य तत्प्रत्याख्यानं फलभेदो नेति दिक् ।

अनङ् सौ । साविति प्रथमैकवचनम् असम्बुद्धाविति पर्युदासात् । नकाराकारस्तुच्चारणार्थ इत्सञ्ज्ञकः ।

अलो ऽन्त्यात्* । अवध्यवधिमतोः साजात्यादाह—पूर्वो वर्ण इति । अत एव शिष्ट इत्यादौ शा इति समुदायस्य “शास इत्” इतीत्वं न । *पञ्चम्यन्तालग्रहणाच्च शस्य न ।

सर्वनामस्थाने । “नोपधाया” इति, “द्वलोपे” इत्यतो दीर्घ इति चानुवर्त्तते ।

अपृक्त । अपृक्त इति पुंस्त्वमविवक्षितम् । अत एवापृक्तं हलिति सङ्गच्छते । अपृक्तप्रदेशेषु हलग्रहणेनैव सिद्धे सञ्ज्ञाविधानमदृष्टार्थम् ।

हल्ङ्याप् । सुतिसीति पृथक् पदम् । हलन्तादिति । सुतिसीनां प्रत्ययत्वेनोपस्थितस्य यस्मात्स विहितस्तदादेरित्यस्य विशेष्यत्वेन तदन्तलाभः* इति भावः । एवं ङ्यावंशे तदुपस्थित्या ङ्यावन्तान्तादित्यर्थो द्रष्टव्यः । हल्ङ्याब्भ्यः किमिति । राम इत्यादौ दीर्घान्तत्वाभावान्न दोष इति प्रश्नः । दीर्घात्किं निष्कौशाम्बिरतिखट्व इत्यारभ्य संयोगान्तलोपस्यामिद्धत्वादित्यन्तो ऽपपाठः, मनोरमायां दर्शनात् । सखेति । यद्यप्यत्रैव “सरूपुरसम्बुद्धौ” इति लेख उचितस्तथापि नान्तलक्षणदीर्घेणैव सिद्धेः ‘अत उपधायाः’ इत्यपेक्षया नित्यत्वेन तस्यैवौचित्याच्चात्र नोक्तम् ।

अलोऽन्त्यात्पूर्व । उपधात्वञ्च यत्किञ्चित्समुदायविशिष्टत्वम् । वैशिष्ट्यञ्च स्वघटकत्वं—स्वघटकान्त्यालव्यवहितपूर्वत्वमित्युभयसम्बन्धेन । अत्रान्त्यालो ऽवधित्वेन तदव्यवहितपूर्वोऽपि अलेव गृह्यते अवध्यवधिमतोः साजात्यादिति शिष्ट इत्यादौ न दोष इति भावः । *पञ्चम्यन्तालग्रहणादिति* । “गुणः कृतात्मसंस्कार” इति न्यायात् संज्ञाशास्त्रेऽपि तस्मिन्निर्वातिपरिभाषाप्रवृत्तिरिति भावः ।

तदन्तलाभ इति । सुतिसिभिस्तदादिरिति धर्मी उपस्थापनीयो, ङ्याब्भ्यां तदादिरिति धर्मी उपस्थापनीयो वेत्यत्र नियामकाभावेन विनिगमनाविरहादुभाभ्यां धर्म्युपस्थितौ सुतिसीत्येतदुपस्थितं तदादिं विशेष्यीकृत्य तदन्तविधिना ङ्यावन्तं यत्तदादि तदन्तं यत्तदादि तस्मात्परीभूतं सुतिसीत्येतदपृक्तं

अचो ङिण । “मृजेर्दृद्धिः” इत्यतो वृद्धिरित्यनुवर्तते, अङ्गस्येति चाधिकृतं, तदाह—अङ्गस्य वृद्धिरिति ।

ख्यत्यादिति । उच्चारणार्थाकारेण कृतयणः प्रयोगस्थस्यानुकरणाद्विशेषेणोभयोर्ग्रहणमित्याह—खितीत्यादि । ङस्यादिपरस्तादृशः खिखीतितीशब्दप्रकृतिक एव संभवतीति भावः । सुसखेति । “न पूजनात्” इति निषेधाद् “राजाहःसाखिभ्य” इति टञ् न । समुदायस्येति । असखीत्यस्य *सखिभिन्नावयवाविति वर्णसंज्ञापक्षेऽर्थः । *अत्र पक्षे पर्युदासेन तद्भिन्नप्रातिपदिकान्त्येवणादिरेव ग्रहणात् ‘कृतं सख्या’ इति वाक्ये न दोषः । सिद्धान्तिसंमते तदन्तसञ्ज्ञापक्षे सखिभिन्नावित्यर्थः । पर्युदस्यमानसमर्पकसखिशब्दे तदन्तग्रहणन्तु न, विशेष्यासन्निधानादिति भावः । एतत्सर्वं हरदत्तानुरोधेन ।

“यस्येति च” इति सूत्रभाष्यात्—‘साखिशब्दस्य तदवयवे लक्षणया सख्यवयवभिन्नयोरिदुतोरित्यर्थः । यथा “अत्वसन्तस्य” इति सूत्रे ऽधातो-रित्येतद्घटकधातुपदस्य ‘पिण्डग्रः’ इत्यादिसिद्धयर्थं धात्ववयवे लक्षणाऽऽकरे दृश्यते । तदन्तसञ्ज्ञापक्षेऽप्यसखीति खोरेव विशेषणं, ततस्तदन्तविधिः । “उतश्च प्रत्ययाद्” इतिवत् । ततश्च सख्यवयवभिन्ने वर्णाद्यन्तमित्यर्थः । तदन्तविधिश्च शेषपदार्थविशेषणतया । एवञ्च प्रकृते नैव घिसञ्ज्ञा इति—लभ्यते । तत्र हि भाष्ये “इवर्णस्य ईति किमुदाहरणम् ? अतिसखेरागच्छति । यद्यत्र लोपो न स्यात्तदा कृतदीर्घस्य पूर्वान्तवद्भावेन सखिशब्दत्वाद् अतिदेशविषये प्रातिपदोक्तपरिभाषाया अप्रवृत्त्योपसर्जनहस्वत्वे कृते ऽपि घिसञ्ज्ञा न स्यात् । लोपे तु लक्षणप्रातिपदोक्तपरिभाषया न दोषः” इत्युक्तम् । भवद्गीत्या हि विशिष्टस्य सखिभिन्नत्वेन घिसञ्ज्ञा निर्वाधैवेति तदसङ्गतिः स्पष्टैव । न च लोपेऽपि लिङ्गविशिष्टपरिभाषया दोषः । सखिशब्दस्य तदवयवपरत्वेन प्रातिपदिकग्रहणाभावात् । प्रातिपदिकत्वबहुपस्यापकपदोपादानं हि प्रातिपदि-

हल्लुप्यते इति सूत्रार्थ इति भावः ।

सखिभिन्नावयवाविति । न च सखिभिन्नं खीति तदवयवेकारस्य घिसंज्ञा दुर्वारैवेति वाच्यम् । पर्युदासन्यायेन सखिभिन्नं यत्प्रातिपदिकं तदवयवेकारोकारयोर्धिसंज्ञा भवतीत्यर्थेनादोषात् । एतदेवाभिप्रेत्याह—*अत्र पक्षे इति ।

कग्रहणम् । रूपत्यात्सूत्रे-“किमर्थं विकृतनिर्देशो ‘न सखिपतिभ्याम्’ इत्ये-
वोच्येत, अतिसखेरित्यत्र मा सूत्” इति भाष्येऽपि ङ्यन्तप्रकृतिक एवायम् ।
विहितविशेषणानाश्रयणेनैव प्रतिपदोक्तपरिभाषानाश्रयणनैवैतद् भाष्यं
प्रवृत्तमिति न तद्विरोध इत्यलम्* ।

पतिः समा । एवकार इष्टतोऽवधारणार्थः । स्मृतिपुराणेषु पतये
सखिनेत्यादि व्याकरणानिष्पन्नत्वेनासाध्वेव । त्रिशङ्काद्ययाज्ययाजः
नादाविव तपोमाहात्म्येनासाधुप्रयोगेऽपि ऋषीणां दोषाभावात् । याज्ञे क-
र्मण्येवासाधुप्रयोगे दोषाच्च । अस्माकमपि स्मृतिपुराणाध्ययनविधिबलात्
तेषां तपोबलाच्च यज्ञमध्येऽपि तदन्तर्गततत्पाठे दोषाभावः । स्वातन्त्र्ये-
णेदृशं प्रयुञ्जाना अस्मदादयः प्रत्यययन्त्येव । अत एव नदीसंज्ञासूत्रे
भाष्ये छन्दोवत् कत्रयः कुर्वन्तीत्युक्त्वा न ह्येषेष्टिरस्तीत्युक्तम् । “यू स्या-

इत्यलमिति । परे तु असखीत्यस्य सखिभिन्नप्रातिप-
दिकावयवावित्यर्थः । ननु-यत्र पर्युदस्यमानोऽवयवः, पर्युदाससमर्पकं च
समुदायबोधकं पदं, तत्र तत्पदं तदवयवे लाक्षणिकमिति व्याप्तिः ।
अत एव “इदुदुपधस्य” “न पदान्तात्” “नश्छव्यप्रशान्” “अत्वसन्तस्य”
इत्यादौ सर्वत्र प्रत्ययपद-नाम्पद-प्रशान्पद-धातुपदानि तदवयवपराणीति
आग्निः करोति, षण्णामयम्, परमप्रशान् करोति, पिण्डग्रः इत्यादौ न षत्व-
श्रुत्वनिषेध-रुत्व-दीर्घाः । अन्यथा अग्निस् इत्यस्य प्रत्ययभिन्नत्वेन तत्र षत्वा-
पक्षेर्बुद्धिरत्वात् । एवमन्यत्राप्यूह्यम् । एवञ्च प्रकृते सखिपदं तदवयवे लाक्षणिकं
भवतीति कथं सखिभिन्नप्रातिपदिकावयवावित्यर्थ इति; चेन्न । “रूपत्यात्परस्य”
इति सूत्रस्थस्य “किमर्थं विकृतनिर्देशो, न सखिपतिभ्यामित्येवाच्येत । अ-
तिसखेरागच्छति” इति भाष्यस्य प्रामाण्येन प्रकृते तादृशार्थकरणात् ।
अन्यथा घिसंज्ञाया अभावेन गुणाप्राप्त्या तदसङ्गतिः स्पष्टैव । न च ङ्यन्तप्रकृ-
तिक एवायमिति विहितविशेषणमनाश्रित्यैव इदं भाष्यं प्रवृत्तमिति नैतद्विरोध
इति वाच्यम् । ङ्यन्तप्रकृतिकसखिशब्दस्य लाक्षणिकत्वेन ‘शेषो व्यस-
खि’ इत्यत्र लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषयैतत्सखिशब्दग्रहणस्य वक्तुमशक्यत्वात् ।
रूपत्यादित्यपेक्षया ‘सखिपतिभ्याम्’ इतिन्यासस्य गुरुभूततया “सखि-
पतिभ्यामित्येवोच्येत” इति भाष्यसङ्गत्यर्थं तस्य खित्योरुपलक्षणपरत्वेनावश्यं
व्याख्यातव्यत्वेन विहितविशेषणाश्रयणस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च । तस्मादिति
परिभाषाया जागरूकत्वाच्च ।

न चैवमपि “यस्येति च” इति सूत्रस्थभाष्यविरोधः । तत्र
हि “इवर्णस्य ईति किमुदाहरणम् ? अतिसखेरागच्छति । यद्यत्र-
लोपो न स्यात्तदा कृतदीर्घस्य पूर्वान्तवद्भावेन सीखशब्दत्वा-

ख्यौ"इति सूत्रे हरदत्तग्रन्थे स्पष्टतरञ्चैतत् । समास इत्युक्तेः बहुचूर्णे न घित्वम् । अत एव "पतिर्वृत्तावेव"इति नामूत्रिः* । वर्णमञ्ज्ञापक्षे पत्यवयवेकार इत्यर्थः* । तदन्तसञ्ज्ञापक्षे पत्यवयवेकारान्त इत्यर्थः । सूत्रे पतिशब्दश्च तदवयवेकारे लाक्षणिकः । एतेन "शेषो घ्यसखिपती" "पतिसखी समास एव"इति वा सूत्र्यतामित्यपास्तम् । "यस्येति च"इतिसूत्रस्थभाष्यरीत्या पतिना सुसख्येत्यादीष्टासिद्ध्या तथा न्यासस्य कर्तुमशक्यत्वादिति स्पष्टमेवेति दिक् ।

नित्यं बहुवचनान्त इति । "किमः संख्यापरिमाण"इत्यनेन किंशब्दाद् बहुत्वसंख्यावच्छिन्नसंख्येयविषयप्रश्न एव डतिरिति भाष्ये स्पष्टत्वादिति भावः ।

अतिदेशविषये लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाया अप्रवृत्त्या उपसर्जनह्रस्वत्वे कृतेऽपि तत्त्वसत्त्वाद् घिसंज्ञा न स्यात् । लोपे तु लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया न दोषः" इत्युक्तम् । भवद्रीत्या विशिष्टस्य सखिभिन्नत्वेन घिसंज्ञा निर्वाधैवेति तदसङ्गतिः स्पष्टैवेति वाच्यम् । लोपेऽपि लिङ्गविशिष्टपरिभाषया ड्यन्तस्य सखिशब्दत्वेन स्थानिवद्भावेन कृतह्रस्वस्यापि तत्त्वेन असखीतिनिषेधप्रवृत्तेः सुलभत्वेन भाष्यासङ्गत्यापत्तेर्दुर्वारतया एतस्य भाष्यस्यैकदेश्युक्तित्वेनादोषात् । न चास्मिन्पक्षे असखीत्यत्र सखिपदं सख्यवयवे लाक्षणिकमिति तस्य प्रातिपदिकत्वतद्व्याप्यधर्मावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकोपस्थितिजनकत्वाभावाच्च लिङ्गविशिष्टपरिभाषाप्रवृत्तिरिति न तदसंगतिः, भवन्मते त्वसंगतिर्दुर्वारैवेति वाच्यम् । विनापि प्रत्ययमित्यनेन अतिशब्दस्य लोपे ततो डसि सखोरित्यत्र लोपाभावे घिसंज्ञाऽनापत्तिरूपदोषस्य जागरूकत्वेन, सखीशब्दे यस्येति लोपाभावे अतिसखिरित्यादौ सखीशब्दे पूर्वान्तवद्भावेन सखिशब्दत्वे ह्रस्वान्ते एकदेशविकृतन्यायेन पुनस्तत्त्वे अतिदेशविषये लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषाया अप्रवृत्त्याऽनङ्गिद्वद्भावायोरपत्तिरूपदोषान्तरसत्त्वेन च भाष्यस्योपलक्षणतया व्याख्यातुं शक्यत्वादित्याहुः ॥

*नासूत्रीति । वस्तुतस्तु वृत्तिसंज्ञायाः शास्त्रकारैरनुक्त्या ऽस्मदादिकृतसंज्ञाया अव्यवस्थापकत्वेन च 'पतिर्वृत्तावेव'इति न्यास एव वक्तुं न शक्यत इति बोध्यम् । *इत्यर्थ इति* । 'पतिः समास एव'इत्यस्य समासाघटकपत्यवयवेकारो घिसंज्ञको न भवतीति प्रकृते नियमस्य निषेधमुखेन प्रवृत्तिः । विधिमुखेन प्रवृत्तौ तु पतिभिन्नत्वेन "शेषो घ्यसखि"इत्यत्र सामान्यतः सङ्कोच इति बोध्यम् । *कर्तुमशक्यत्वादिति* । नागेशमते "शेषो घ्यसखिपती"इति न्यासे भूपतिनेत्याद्यसिद्धिः, "सखिपती समासे एव"इति न्यासे तु सुसख्येत्यादौ घिसंज्ञापत्तिः । अस्मन्मते च पूर्वन्यासे बहुवि बहुपत्येत्यादौ

बहुगण ॥ संख्याप्रदेशेष्वेतत्संज्ञाकरणज्ञानरूपप्रकरणसत्त्वेऽपि तन्मूलकृत्रिमाकृत्रिमन्यायस्य न प्रवृत्तिः कर्त्तरि कर्मेत्यादाविव । अत एव “संख्याया अतिशदन्ताया” इति शदन्तपर्युदासः सङ्गच्छते । न हि शदन्ता कृत्रिमा संख्याऽस्ति । तस्मात्संख्याप्रदेशेषूपभयगतिः । किं च लोकप्रसिद्धमहासंज्ञाकरणेन प्रदेशेषु लोकप्रसिद्धार्थस्याप्यवगतिरिति स्पष्टं भाष्ये । अत एव पञ्चकृत्व इत्यादिसिद्धिः । एतन्न्यायोपयोगस्त्वभ्यासाम्रेडितादिसंज्ञाविषये द्रष्टव्यः । सूत्रे बहुगणग्रहणन्तु तयोर्नियतविषयपरिच्छेदहेतुत्वाभावेनासंख्यात्वात् । बहुत्वादि हि व्यादिसंख्याव्यापको धर्मविशेषः । अत एव भाष्ये “एतत्सूत्रमतिदेशार्थं यदयमसंख्यां संख्येत्याह” इत्युक्तम् । यत्तु भाष्ये “एकादिकया चापि संख्यायते” इत्युक्तं, तस्यायमर्थः । बह्वादिकयाऽपि स्वव्याप्यत्रित्वादिसंख्याया संख्यायते । कतिशब्दोऽपि संख्यानकरणीभूतार्थविषयप्रश्नार्थकतया संख्यानकरणम् । एवं वत्त्वन्तेऽप्युक्तम् । यद्वा चापिशब्दौ वाक्यालङ्कारे । एकादिकया संख्यायते साऽपि प्रदेशेषु यथा गृह्येतेति लोकप्रसिद्धमहास-

घिसंज्ञापत्तिः, उत्तरन्यासे बहुसंख्येनेत्यादौ घिसंज्ञानापत्तिः । एतेन ‘पत्तिर्गुणावेव’ इति न्यासोऽपि प्रत्युक्त इति दिक् ।

*बहुगण । *नियतविषयपरिच्छेदहेतुत्वेति* । यद्धर्मप्रकारकनिश्चयोत्तरं लोके गणनायां प्रसिद्धा ये स्वातिरिक्ता यावद्धर्मास्तद्धर्मप्रकारकसंशयसामान्यं नोदेति तद्धर्मावच्छिन्नवाचकत्वमिति भावः । *व्यादिसंख्याव्यापक इति* । बहुत्वे त्रित्वादिसंख्याव्यापकत्वस्य सत्त्वेऽपि निरुक्तसंख्यात्वव्याप्ययावद्धर्मप्रकारकसंशयसामान्यनिष्ठप्रतिबध्यतानिरूपितप्रतिबन्धकतावच्छेदकविषयताश्रयत्वं नास्तीति न बह्वदिपदं संख्यावाचकमिति भावः । यावत्पदनिवेशाच्च बहुत्वज्ञानस्य एकत्वद्वित्वप्रकारकसंशयप्रतिबन्धकत्वेऽपि न दोषः । *धर्मविशेष इति* । तथा च त्रित्वाद्यतिरिक्तमेव बहुत्वम् । अत एव दूरस्थसमुदितजनेषु त्रित्वाद्यन्यतमसंख्याप्रतीत्यभावेऽपि बहुत्वमानम् ।

*इत्यपास्तमिति । परे तु संख्यावाचकत्वं संख्यात्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नवाचकत्वमेव । अत एव “एकादिकया चापि संख्यायते” इति भाष्ये चापिशब्दौ सङ्गच्छेते । अन्यथा बह्वादीनां निरुक्तसंख्यावाचकत्वस्याभावेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव । न च “यदयमसंख्यां संख्येत्याह” इति भाष्यविरोध इति वाच्यम् । वत्त्वन्तस्य इति प्रत्ययान्तस्य च संख्यात्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नवाचकत्वरूपसंख्यावाचकत्वस्याभावेन तस्य भाष्यस्य तद्विषयकत्वेनादोषात् । भूर्यादीनान्तु “अनियतसंख्यावाचिनां चेद्बहु-

ज्ज्ञाकरणमिति तदर्थः । एतेन “अर्थान्तरवाचित्वे सति बहुत्ववाचिनश्चेत्संख्याकार्यं तर्हि बहुगणयोरेव” इति नियमार्थं तत् । तेन भूर्यादीनां न । तेषां वैपुल्याद्यर्थान्तरवाचित्वात् । वैपुल्यं-विशालता । विशेष्यविशेषणदलाभ्यामवहुत्ववाचिन एकशब्दस्य बहुर्थमात्रवाचिनां ज्यादीनाञ्च न व्यावृत्तिः । यद्वा “अनियतसंख्यावाचिनाञ्चेद् बहुगणयोरेव” इति नियमः । अनन्तशब्दवदनन्तवाचिशतशब्दस्य संख्याकार्याभाव इष्ट एवेत्यपास्तम्* । संघवैपुल्यवाचकयोर्नेह ग्रहणं परस्परसाहचर्येण ज्यादिसंख्याव्यापकधर्मवाचिनोरेव ग्रहणात् । ‘वतु’ इति सानुबन्धनिर्देशो ब्राह्मणवदित्यादिव्यावृत्त्यर्थः । इतिस्तद्धित एव वतुसाहचर्यादित्यलम् ।

“ष्णान्ता” इत्यतः षडिति वर्तते, संख्येति च प्रकृतं* तदाह-
डत्यन्तेति । अत एव “पट्कति” इति डडनुवादेन शुग्विहितः । अत एव सज्ज्ञाविधावपि प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् । संख्येति किम् । पतयः* ।

प्रत्ययस्य । अनेकसज्ज्ञाकरणाद् आहृत्या विभक्तिविपरिणामेन च तज्ज्ञावितसज्ज्ञाश्रयणम्, अतो न सङ्करः । तेन ‘हन्ति’ इत्यादौ “श्लौ” इति द्वित्वं न, तदाह—लुक्शब्दैरिति । “अदर्शनं लोपः” इत्यतोऽदर्शनमित्यनुवर्त्तते । प्रदेशेषु भाविसज्ज्ञाविज्ञानान्नान्योन्याश्रयः* । एकसज्ज्ञाप्रकरणादन्यदेशस्थत्वेन लोपसज्ज्ञया आसां समावेशः । तेन प्रत्ययलक्षणसिद्धिः ।

गणयोरेव” इत्यादिनियमेनैव वारणं बोध्यमित्याहुः ।

संख्येति च प्रकृतमिति । तेन साक्षात्संज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपिता या प्रत्ययमात्रवृत्त्युद्देश्यता तादृशोद्देश्यताप्रयोजकं तदादिविशेष्यकतदन्तविधिप्रयोजकं नेत्यर्थिकायाः “संज्ञाविधौ” इतिपरिभाषाया अप्रवृत्तिरिति भावः । साक्षात्पट्संज्ञानिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यताप्रयोजकत्वस्य संख्यापदे एव सत्त्वेन डतिपदे ऽभावात् । *पतय इति । पतिशब्दस्य पातेर्डतिरित्यौणादिकडतिप्रत्ययान्तत्वादिति भावः । न च “बहुगणवतुकति संख्या” “कति च” इत्येव सुञ्यतामिति वाच्यम् । छान्दसडत्यन्तपतिशब्दस्य संख्याषट्संज्ञयोरनापत्तेः ।

नान्योन्याश्रय इति । ‘अस्य सूत्रस्य शाटकं वय’ इतिवाक्यश्रवणे वानक्रियायां प्रवृत्तिः ‘अस्य सूत्रस्य’ इतिवाक्यार्थज्ञानात्, तज्ज्ञानं च वानक्रियोत्तरं, तदुत्तरमेव शाटकसिद्धेरित्यन्योन्याश्रयस्य-भाविसंज्ञाविज्ञानाद् ‘अस्य सूत्रस्य शाटकं वय’ इत्यस्य वानक्रियोत्तरभाविशाटकत्वप्रवृत्तिनिमित्तेन पूर्वं प्रयोग इति यस्य उतस्य सूत्रस्य ‘शाटकम्’ इति संज्ञा भविष्यति तादृक् वयेत्यर्थे

षड्भ्यो । “जश्शसोः शिः” इत्यतो जश्शसोरिति वर्त्तते । षट्भ्य इति विहितविशेषणम्* । तेन गौणे न । परमपञ्चेत्यादौ तु विशिष्टस्यापि संख्याप्रकारकसंख्येयविशेष्यकबोधजनकत्वेन* संख्यावाचितया षट्त्वम-
स्त्येवेति न दोषः । स्पष्टञ्चेदं ‘षट्प्रधान एष समासः’ इत्यादिना सर्वादि-
सूत्रे भाष्ये । कैयटस्य तु प्रमाद इत्यन्यत्र निरूपितम् ।

तात्पर्यावधारणेन न प्रसक्तिः । तथैवात्रापि ‘यस्य जातस्य लुगित्या-
दिसंज्ञा भविष्यन्ति तादृशादर्शनस्य लुगादिसंज्ञा’ इति विवक्षणादिति भावः ।

वस्तुतस्तु लुक्श्लुलुप्पदानां लुक्श्लुलुप्पदप्रयोज्यत्वे, विधेयतायाम्, अदर्शने
च खण्डशः शक्तिः । यत्र लुगादिपदं विधेयसमर्पकं तत्रादर्शनरूपखण्डस्यैवोप-
स्थितिः, न तु लुगादिप्रयोज्यत्वरूपखण्डस्य, विधेयतारूपखण्डस्य च । अनुपयो-
गात्तन्निमित्तामिका च समभिव्याहृता प्रथमेति । यत्र तु लुगादिपदमुद्देश्यसमर्पकं
तत्र खण्डत्रयस्याप्युपस्थितिः । लुगादिपदप्रयोज्यविधेयताश्रयादर्शनरूपार्थलाभ-
स्त्वाकाङ्क्षावैचित्र्यात् । तथा च न लुकि श्लुपदप्रयुक्तं कार्यं, नापि लुपि; न वा श्लौ
लुगादिप्रयुक्तकार्यसङ्कर इति भाविसंज्ञाविज्ञानस्य नोपयोग इति । गुरुच-
रणास्तु लुगादिपदशक्यतावच्छेदकमदर्शनत्वमेवान्यत्सर्वमुपलक्षणमिति
वदन्तीति दिक् ।

विहितविशेषणमिति । “षड्भ्यो लुक्” इत्यस्य षट्सं-
ज्ञकविशिष्टयोर्यजश्शसोर्लुगित्यर्थः । वैशिष्ट्यञ्च-स्वनिष्ठोद्देश्यतानिरूपि-
तविधेयताश्रयत्वसम्बन्धेन । तेन ‘पञ्च ब्राह्मणाः’ ‘षट्कल्पा’ इत्यादौ
न दोषः । ब्राह्मणपदोत्तरजसि कल्पवन्तप्रकृतिकजसि च षट्संज्ञकनिष्ठोद्देश्य-
तानिरूपितविधेयताश्रयत्वस्याभावात् ।

बोधजनकत्वेनेति । यस्य संख्यावाचकत्वं वक्तव्यं त-
दन्तर्प्राप्तप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यतावती या विशेष्यता तादृशविशे-
ष्यतानिरूपितप्रकारत्वासमानाधिकरणा या संख्यानिष्ठप्रकारतानिरूपि-
तसंख्येयनिष्ठविशेष्यता तादृशविशेष्यताप्रयोजकतापर्याप्त्याधिकरणत्वरूपसं-
ख्यावाचकत्वस्य परमपञ्चनशब्दघटकपञ्चनशब्दे सत्त्वेन “षड्भ्यो लुक्”
इत्यादाबुद्देश्यताया अपर्याप्ताया अपि विवक्षणात्परमपञ्चेत्यादौ न दोष
इति भावः । एतेन मूलोक्तदिशा त्रिदण्डिन इत्यादौ त्रिदण्डित्वस्य सं-
ख्यावाचकत्वं स्यात्, परमषडित्याद्यर्थे षान्तग्रहणस्यावश्यकत्वेन तेन ज्ञा-
पकेनाशब्दसंज्ञेतिप्रत्याख्यानपरस्वरूपमिति सूत्रस्थभाष्यविरोधश्चेत्यपास्तम् ।
त्रिदण्डिन इत्यादौ संख्येयनिष्ठविशेष्यताप्रयोजकतापर्याप्तिः त्रिदण्डित्वमात्रस्य
न तु त्रिदण्डित्वस्येति, “षड्भ्यो लुक्” इत्यस्य षट्संज्ञकनिष्ठोद्देश्यतानिरूपि-
तविधेयताश्रययोर्यजश्शसोर्लुगित्यर्थेन तत्रोद्देश्यताया अपर्याप्ताया विवक्षणेन
परमषडित्यादौ षडित्यत्रापर्याप्तोद्देश्यतायाः सत्त्वेनोक्तभाष्यविरोधाभाव इति
घादोपात्तः ।

प्रत्ययलोपे । *प्रत्ययस्येत्यनुवृत्त्या सिद्धे आद्यप्रत्ययग्रहणमवयवलोपे मा भूत् । तेन 'आग्नीय' इत्यादौ नानुनासिकलोप इति स्पष्टं भाष्ये । इदमेव प्रत्ययग्रहणं ज्ञापकमवयवेऽपि प्रत्ययत्वव्यवहारस्य । एवञ्च "आदेशप्रत्यययोः" "इदुदुपधस्य" इत्यनयोर्लक्षणादि नाश्रयणीयं, "सात्पदाद्योः" इति च चरितार्थम् ।

*स्थानिवत्सूत्रेण सिद्धे इदं सूत्रं नियमार्थमिति भाष्यम् । प्रत्ययस्यासाधारणं रूपं यत्राश्रीयते तत्रैवेति । न चैवं दाधर्त्तीति सूत्रे "तेतिक्ते इति किं निपात्यते ? । आत्मनेपदम् । नैतदस्ति । "अनुदात्तङित" इत्येव सिद्धम् । नियमार्थं तर्हि भविष्यति अत्रैव यङ्लुगन्तस्य, नान्यत्र बेभिदीति"

प्रिषपञ्चान इत्यादौ बहुव्रीहिप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासामानाधिकरण्यमेव संख्येयनिष्ठविशेष्यताया इति नातिव्याप्तिः । प्रियपञ्चा द्रौपदीत्यादौ "डाबुभाभ्याम्" इति सूत्रेऽनुवृत्तेन "न षट्" इत्यनेन डाव्निषेधस्तु पञ्चमित्यत्र बहुव्रीहिप्राक्कालिकस्य निरुक्तसंख्यावाचकत्वस्य सत्त्वात् सुलभ इति सर्वं विस्तरेण 'नामि' इतिसूत्रटिप्पणे निरूपितमिति तत एवावगन्तव्यमिति दिक् ।

प्रत्ययलोपे । *प्रत्ययस्येत्यनुवृत्त्येति* । अत्रेदं तत्त्वम् । "प्रत्ययस्य लुक्" इत्यतः प्रत्ययस्येत्यनुवृत्त्या 'लोपे प्रत्ययलक्षणम्' इत्येव सिद्धे पुनः प्रत्ययग्रहणं षष्ठीप्रकृतिप्रयोज्यप्रत्ययत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नविषयता प्रत्ययावयवे स्वीक्रियत् इति बोधनाय । तेन "इदुदुपधस्य" इत्यत्र 'प्रत्ययमिन्नो यो विसर्गः' इति सामानाधिकरण्येनान्वयेऽपि कविभिः कृतमित्यादौ न दोषः । न च प्रत्ययस्येत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे आद्यप्रत्ययग्रहणमवयवलोपे मा भूत् । तेनाग्नीयेत्यादौ नानुनासिकलोप इति भाष्यविरोध इति वाच्यम् । तस्यापि भाष्यस्यास्मिन्नेवार्थे तात्पर्यमिति कल्पनेनादोषात् । अत एव "आदेशप्रत्यययोः" इत्यत्रादेशः प्रत्ययश्च यः सकार इति सामानाधिकरण्येनान्वयेऽपि रामेष्टित्यादौ षत्वं सिध्यति । अत्रैव "सात्पदाद्योः" इतिसूत्रस्थं सातिग्रहणमपि ज्ञापकम् ।

'प्रत्ययलोपे' इति सूत्रे स्थानिवदित्यनुवृत्त्यैव सिद्धे प्रत्ययलक्षणग्रहणं प्रत्ययस्य यत्रासाधारणं रूपमाश्रीयते, अर्थात् प्रत्ययत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्ननिमित्तताके कार्ये कर्तव्ये एव प्रत्ययलक्षणं यथा स्यादित्येतदर्थम् । तेन सुदृषत् प्रासाद इत्यत्र प्रत्ययलक्षणेन 'अन्वसन्तस्य' इति दीर्घो न । अस्तु प्रत्ययत्वव्याप्यत्वाभावेन प्रत्ययलक्षणाभावात् ।

स्थानिवत्सूत्रेण सिद्धे इति । स्थानिवत्सूत्रेणैव सिद्धे इदं सूत्रं नियमार्थम् । प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणमेव, न स्थानिवदिति । तथा च स्थानिवत्सूत्रे आदेशपदार्थे प्रत्ययलोपातिरिक्तत्वेन सङ्कोच इति 'सुदृषत् प्रासादः' इत्यादौ

इत्युक्तम् । अस्य नियमत्वे तेनात्मनेपदं दुर्लभं छित्त्वस्य प्रत्यया-
प्रत्ययसाधारणत्वादिति वाच्यम् । आत्मनेपदमित्यस्यैव मिद्धान्त्युक्ति-
त्वात् । ततो विध्यर्थमिदमिति वार्तिकानुसारिणा “अनुदात्तछित्” इत्येव
सिद्धमिति शङ्किते तदनुसार्येकदेशेन एव तत्समाधानमित्यदोषादि-
त्यन्यत्र विस्तरः ।

स्थानिवद्भावेनासन्तत्वमादायापि नात्वसन्तस्येति दीर्घः । न चातुसाहचर्या-
त्सकारप्रश्लेषाद्वा ऽसन्तमपि श्रूयमाणासन्तमेव गृह्यते इति, निर्दिश्यमानपरि-
भाषया वा ‘सुदृषत् प्रासाद’ इत्यादौ श्रूयमाणस्यासोऽभावेन, निर्दिश्यमानस्यासो
ऽभावाद्वा न दीर्घप्राप्तिरिति उक्तं निष्फलमिति वाच्यम् । यत्रमच्छब्दात् णिज-
न्तात् किपि णिलोपटिलोपयोः ततः सुविभक्तौ तत्र अतोऽपि अश्रूयमाणस्य स-
म्भवेन श्रूयमाणत्वेनातुसाहचर्यस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात् । साहचर्य-
परिभाषाया अनित्यत्वाच्च । सुदृषच्छब्दात्प्रत्ययलक्षणेन स्थानिवद्भावेन
वा ऽसन्तत्वमादाय ‘अस्मायामेधा’ इति विनेरापत्तेर्दुर्वारत्वाच्च । किञ्च शोभ-
ना दृषद् यस्यां सा सुदृषत् नगरी इत्यत्र सुलुक्ः स्थानिवद्भावो गित्त्व-
माश्रित्य ‘उगितश्च’ इतिङीवापत्तेः । अजायाः क्षीरमजक्षीरमित्यत्र असः
स्थानिवत्त्वेन स्यादेशापत्तेश्च । नियमे तु प्रत्ययलोपसत्त्वेन स्थानिवत्त्वा-
प्रवृत्त्या प्रत्ययलक्षणस्य चाप्राप्त्या न दोषः । अत्वसन्तस्येत्यत्राप्यदोषोत्तरं ष-
ष्ठ्या अभावेन निर्दिश्यमानपरिभाषाया अप्रवृत्तेश्च ।

न चैवमपि अर्थवद्ग्रहणे-लक्षणप्रतिपदोक्त-प्रत्ययाप्रत्यय-निरनुबन्धक-
इतिपरिभाषाचतुष्टयस्यानित्यमन्ग्रहणेष्वप्रवृत्तये “अनित्यमन्” इति परिभा-
षयाऽन्त्वादिषु वर्णत्वव्याप्यत्वारोपस्यावश्यकत्वेनानल्लिख्यावेतिनिषेधादेव न
स्थानिवद्भावो, नापि प्रत्ययलक्षणमिति ‘सुदृषत् प्रासाद’ इत्यादौ नोक्तदोषावतार
इति वाच्यम् । रमाशब्दाण्यन्तात् क्त्वाप्रत्यये प्रादिना समासे ‘समासे नञ्’
इत्यनेन ल्यवादेशे प्ररम्येत्यत्र प्रत्ययाप्रत्यययोरितिपरिभाषया इदानीमापः प्रत्यय-
स्यैव ग्रहणापत्त्या तत्परिभाषानङ्गीकारे ऽपि प्रत्ययस्याऽपि आपो ग्रहणापत्त्या
प्रत्ययलक्षणेन स्थानिवद्भावेन वाऽऽप्त्वमादाय “विभाषाऽपः” इत्यनेन णेरया-
देशापत्तेः । नियमे तु प्रत्ययलोपसत्त्वेन स्थानिवद्भावाप्रवृत्त्या प्रत्ययस्यासा-
धारणं रूपं यत्राश्रीयते तत्रैव प्रत्ययलक्षणमिति आप्त्वस्याप्लवातावपि
सत्त्वेनापत्वं प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणमिति प्रत्ययलक्षणस्याप्यप्रवृत्त्या आप्लवा-
तोरेव “विभाषाऽपः” इति सूत्रे ग्रहणमिति न दोषः ।

न च मित्रशीः, अतृणेडित्यादौ “शास इदङ्ङ्लोः” “तृणह इम्”
इत्यादि न स्यात् । प्रत्ययलोपसूत्रस्य स्थानिवत्सूत्रनियामकत्वसिद्ध्यर्थं
नियम्यस्थानिवत्सूत्रमात्रविषयकत्वावश्यकतयाऽत्र सूत्रे ‘अनल्लिख्यौ’ इत्यस्या-
नुवृत्तेः सत्त्वेन हलादित्वस्य अत्वव्याप्यधर्मघटितत्वात् प्रत्ययलक्षणाप्रवृत्तेरिति

प्रत्ययलोपे प्रत्ययवदिति सिद्धे* लक्षणग्रहणं प्रत्ययनिमित्तकमेव,
न तु प्रत्ययस्थानिकमित्यर्थलाभार्थम् । तेन नखभिन्न इत्यादावैसादिकं

वाच्यम् । “शास इद्ङ्हलोः” इति सूत्रे. हलिति न क्रियते “शास
इत्” “अङि” इति च योगो विभज्यते अजादौ चेदङ्ङ्येति नियमेन
“तृणह इम्” इत्यत्र हलोति पदमननुवर्त्य “नाभ्यस्तस्य” इति सूत्रात्
नेति अचीति चानुवर्त्य अजादौ न भवतीति निषेधेन च इदादेशमागमयोरनैमि-
त्तिकतया तत्र प्रत्ययलक्षणानावश्यकत्वेन दोषाभावात् ।

प्रत्ययलोपे प्रत्ययवदिति सिद्धे इति । प्रत्ययलोपे प्रत्ययवदित्येव सिद्धे
लक्षणग्रहणं प्रत्ययत्वव्याप्यश्रमावच्छिन्ननिमित्तताके एव कार्ये कर्तव्ये प्रत्ययल-
क्षणं यथा स्यादित्येतदर्थम् । अत एव नखभिन्न इत्यादौ प्रत्ययलक्षणेन भिन्न
पेस् न । न च लुगुत्तरमपि प्रत्ययलक्षणेन पेसः प्राप्या अन्तरङ्गनिमि-
त्तविनाशकत्वस्य लुक्प्रभावाद् ‘अन्तरङ्गानपि’ इति परिभाषाया अप्रवृत्त्या लुक्
पूर्वमेवैसि ततो लुकि लक्ष्यलक्षणन्यायेन पुनरैसोऽप्रवृत्त्या दोषाभाव इति
लक्षणग्रहणं व्यर्थमिति वाच्यम् । पञ्चभिः खट्वाभिः क्रीतं पञ्चखट्वम्
इत्यत्र क्रीतप्रत्ययलुकि टाब्लुकि च टाब्लुकः पूर्वमदन्तत्वाभावेनैसादेशा-
प्राप्या लक्ष्यलक्षणन्यायाविषयत्वेन भिन्नः प्रत्ययलक्षणेन पेसादेशवारणाय,
रमायाः पुत्रः रमापुत्र इत्यादौ निरुक्तदिशा पूर्वं याटि निर्दिश्यमानपरिभाषया
याङ्गहितस्य लुकि याङ्गव्रणाभावाय च प्रत्ययनिमित्तकार्ये एव प्रत्य-
यलक्षणं न तु प्रत्ययोद्देश्यकार्ये इत्यर्थस्वावश्यं वक्तव्यत्वात् ।

इदमत्रावधेयम् । यद्यपि सर्वत्र नियमस्थले नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छे-
दकव्यापकं नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्यं च यदप्यं तदवच्छिन्ना-
तिरिक्तत्वेन सङ्कोचो नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्ने भवति । यथा-
“समासाश्च” इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकं समासत्वं तद्व्यापकम्-‘अर्थवत्’ इति
शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकमर्थवत्त्वं तद्व्याप्यं च यत् पदसंज्ञकपूर्वभागकप्रत्ययानु-
त्तरभागकसमुदायत्वं तदवच्छिन्नातिरिक्तत्वेन नियम्यशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेद-
कार्थवत्त्वावच्छिन्ने सङ्कोचः । तेन ‘गामानय’ इत्यत्र तथासमुदायसत्त्वेन पूर्वसूत्रेण
न प्रातिपदिकसंज्ञा, तथाऽपि-नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपमात्रावच्छि-
न्नातिरिक्तत्वेन संकोचे समासातिरिक्तस्य अर्थवत्समुदायस्य प्रातिपदिकसं-
ज्ञेति नियम्यशास्त्रस्यार्थे जाते राजपुरुष इत्यादौ न पूर्वसूत्राप्रवृत्तिपूर्व-
कस्वप्रवृत्तिव्यतिरिक्तं फलमिति (१) स्तुषाश्च श्रूण्याय प्रसङ्गो यत्र तत्र
सर्वत्र नियामकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकव्यापकरूपावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन स-
ङ्कोचः । यत्र तु स नास्ति तत्र व्यापकरूपेण संकोचे प्रमाणाभा-

(१) स च यथा-भिक्षामदत्ते बटवे भिक्षां प्रत्याचक्षाणां स्वस्तुषां
भर्त्सयित्वा श्वश्रूः पुनस्तमाहूय समागते तस्मिन्नास्ति भिक्षा, निर्गच्छेति
तथैव प्रत्याचष्टे इति ।

घेन उपात्तरूपातिरिक्तत्वेनैव सङ्कोचः । तथा च प्रकृते स्थानि-
वत्सूत्रीयोद्देश्यतायां प्रत्यलोपातिरिक्तत्वेन सङ्कोचेऽपि यशश्शब्दाणिजन्ता-
त्किपि टिलोपणिलोपयोः असः प्रत्ययत्वाभावेन नियमाप्राप्त्या स्थानि-
वद्भावेनाऽसन्तत्वाद् “अस्मायामेधास्रजो विनिः” इति विनिप्रत्यये ‘यङ्गी’
इतिफलसत्त्वेन तन्न्यायाप्राप्त्या उपात्तरूपातिरिक्तत्वेनैव सङ्कोचः । प्रत्युत
लोपातिरिक्तत्वेनैव सङ्कोचे यङ्गीत्यस्यासिद्धापत्तिः स्यात् । प्रत्ययलक्षणं
तु न सम्भवति । प्रत्ययत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्ननिमित्तताके एव तत्प्रवृत्तेर्निरुक्त-
तया अस्त्वस्य प्रत्ययत्वव्याप्यत्वाभावेन तदप्राप्तेः ।

नन्वत्र मते प्रत्ययलक्षणस्य नियमपरत्वेन व्याख्यानात् स्थानिवत्सू-
त्रमात्रविषयतया अत्रानल्लिङ्गावित्यनुवृत्तेः सत्त्वेन “आम्नीय” इत्यत्र झलादि-
त्वनिमित्तके ऽनुनासिकलोपे कर्तव्ये ऽनल्लिङ्गाविति निषेधेनैव प्रत्ययल-
क्षणाप्रवृत्तेः सिद्धत्वात् प्रथमप्रत्ययग्रहणं व्यर्थम् । न च तस्य षष्ठी-
प्रकृतिप्रयोज्यप्रत्ययत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नविषयता प्रत्ययावयवेऽपि स्वी-
क्रियते इति ज्ञापनार्थतया साफल्यमिति वाच्यम् । ज्ञापनोत्तरमपि
वैयर्थ्यस्य तदवस्थत्वाद् ; इति चेन्न । प्रथिमानमाचष्टे प्रथि-
मयति ततः किपि णिलोपटिलोपयोः तस्य उपेत्यव्ययेनाव्ययीभावस-
मासे “उपप्रथिमम्” इत्यत्र टिलोपस्य स्थानिवद्भावेन “अनश्च” इति ट-
जर्थे, वाग्मिनमाचष्टे वाग्मयति ततः किपि बहवो वाग्मो यस्यां सा बहुवा-
ग्मका इत्यत्र स्थानिवद्भावेन इन्नन्तत्वमाश्रित्य “इनः स्त्रियाम्” इति क-
प्प्रत्ययार्थं, सर्वत आचष्टे सर्वतयति ततः किपि ‘सर्वात्’ इत्यत्र स्थानिव-
द्भावेनासन्तत्वमाश्रित्य “अत्वसन्तस्य” इति दीर्घार्थं, सर्वाद् विद्यते यस्य
ययोर्वा ‘सर्वत्वी’ ‘सर्वत्विनौ’ इत्यत्र स्थानिवद्भावेनाऽसन्तत्वमाश्रित्य “अ-
स्मायामेधास्रजो विनिः” इति विनिप्रत्ययार्थं च स्थानिवत्सूत्रे प्रत्ययपर्याप्त-
स्थानिताकलोपातिरिक्तत्वेनैव सङ्कोचो यथा स्यात् न तु प्रत्ययावयवलोपा-
तिरिक्तत्वेनापि इत्येतदर्थं तस्यावश्यकत्वात् । अन्यथा उक्तोदाहरणेषु प्रत्यया-
वयवलोपसत्त्वेन स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तौ अन्त्वादीनां प्रत्ययत्वव्याप्यत्वाभावेन
प्रत्ययलक्षणाप्रवृत्तेश्च तदसिद्धापत्तिरिति दिक् । एतत्सर्वं भाष्यकृन्मतानुरोधेन ।

वार्तिककारस्त्वल्लिङ्गावपि प्रत्ययलक्षणार्थमिदं सूत्रं स्वीकरोति । अत एव
मित्रशीः, अतृणेडित्यादौ न दोषः । अत्र मतेऽपि द्वितीयप्रत्ययग्रहणात्
गवे हितं गोहितम् इत्यत्र चतुर्थ्येकवचनस्य ‘सुपो धातुप्रातिपदिकयोः’ इ-
त्यनेन लुकि ‘एचो ऽयवायावः’ इत्येतच्छास्त्रनिमित्ततायां प्रत्ययत्वव्याप्य-
धर्मावच्छिन्नत्वाभावेन आवादेशे कर्तव्ये न प्रत्ययलक्षणम् । अन्यथा प्रत्यय-
पर्याप्तस्थानिताकलोपसत्त्वेन प्रत्ययलक्षणादवादेशापत्तेः । न च “न लुमता” इति
निषेधेनावदेशो नेति वाच्यम् । तस्य लुप्तप्रत्ययनिमित्तकाङ्गसंज्ञावत्पर्याप्तोद्देश्य-
ताके एव प्रवृत्त्या अवादेशस्यौकारमात्रोद्देश्यकत्वेन तस्य चाङ्गत्वाभावेन तदप्र-
वृत्तेः । निरूपयिष्यते चेदमनुपवे इति तत एवावगन्तव्यम् ।

नेत्येके । अतिदेशेनाहार्यतद्बुद्धिमपादनेऽप्युच्चारणप्रसङ्गः *रूपषष्ठ्यर्थाभावा-
नैसा ति तद्व्यर्थमित्यपरे ।

कार्यामिति । प्राधान्यात् कार्यातिदेशोऽयमिति भावः । “इहा-
पि परिवीरिति शास्त्रपरविप्रतिषेधेन परत्वादीर्घत्वं भविष्यति” इति
भाष्येण तृज्वत्सूत्रे शास्त्रकार्यातिदेशयोरैक्यकथनेन चातिदिश्यमानका-
र्याणामुत्पत्तिदेश एव देश इत्यङ्गीकारात्परिवीरित्यत्र तुग्दीर्घौ पर्यायेण न;
किं तु दीर्घ एव । परत्वात् । अन्यथाऽनेनैवोभयोर्विधानान्परत्वाभावेन
पर्यायो दुर्वार इति बोध्यम् । तदाह—जसि चेति गुणे प्राप्ते इति(१) ।

नन्वेवमपि चित्रायां जाता चित्रा इत्यत्र अणो लुकि तस्मादणन्तत्वनिमि-
त्तके ‘टिड्ढा’ इति सूत्रेण ङीपि कर्तव्ये प्रत्ययत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्ननिमित्तकत्वेन
प्रत्ययलक्षणापत्तिरिति चेन्न । ‘प्रत्ययलोपे तल्लक्षणम्’ इतिन्यासे प्रत्यासत्त्या प्रत्यय-
त्वव्याप्येति पूर्वोक्तार्थलाभसम्भवे प्रत्ययग्रहणं प्राधान्येन यत्र प्रत्ययस्य निमित्तत्वे-
नाश्रयणं तत्रैव प्रत्ययलक्षणमित्यर्थलाभार्थमिति स्वावयवनिष्ठविशेष्यतानिरूपि-
तप्रकारत्वासमानाधिकरणा या प्रत्ययत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्ना विषयता तादृश-
विषयताके कार्ये एव प्रत्ययलक्षणमित्यर्थस्य फलिततया प्रकृते अत इत्यनुवृत्ता-
कारे अणपदस्य विशेषणतया प्रत्ययस्याप्राधान्येनाश्रयणात् तदप्रवृत्तेः । एत-
न्मूलकमेव “वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्” इति ‘वर्णप्राधान्यविषयमेतत्’ इति
चोच्यते । अनेन तत्परिभाषायामेतदेव ज्ञापकमिति लभ्यते इत्यन्यत्र विस्तरः ।

सुदृषत् प्रासाद इत्यादौ दोषवारणं तु अनिनस्मन्निति परिभाषया
अन्त्वादौ वर्णत्वव्याप्यत्वस्यातिदेशेनैव बोध्यम् । युप्लुवोः साहचर्याद् “विभाषा
ऽऽपः” इत्यत्र आप्लुधातोरेव ग्रहणमिति पूर्वोक्तदोषवारणं बोध्यमिति दिक् ।

उच्चारणप्रसङ्गरूपषष्ठ्यर्थाभावादिति । चिन्त्यमिदम् । वृत्तिवि-
शेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकताकेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्रकारकज्ञानी-
यविशेष्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नविशेष्यताकेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वप्र-
कारकज्ञानीयविशेष्यतावच्छेदकतावच्छेदकताया एव स्थानपदार्थत्वेन स्था-
नपदार्थस्योच्चारणघटितत्वस्याभावात् । स्थानपदार्थस्योच्चारणघटितत्वे “द-
र्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्” इत्यादौ स्थानपदार्थानुपपत्तेः । “इको
यणचि” “दर्भाणां स्थाने शरैः प्रस्तरितव्यम्” इत्यादिशास्त्रैरिक्कर्म-
मुच्चारणं दर्भकरणप्रस्तरणं चेष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषयः, यण्कर्म-
मुच्चारणं शरकरणकप्रस्तरणं च इष्टसाधनत्वप्रकारकप्रमाविषय इत्येव बो-
धनादिति “स्थानेऽन्तरतम” इति सूत्रे विस्तर इति दिक् ।

(१) “जसि च” इति विहितेऽनेन गुणे प्राप्ते इत्यर्थः इति मुद्रित-
पुस्तके अधिकः पाठः ।

न लुमता । लुशब्दयुक्ता लुमन्तस्तदाह-लुगित्यादि । अङ्गकार्यमिति । लुप्तप्रत्यये परतो यः पूर्वस्तत्प्रकृतिभूतो लब्धाङ्गसञ्ज्ञकस्तदुद्देश्यकं यत्कार्यमाङ्गमनाङ्गं वेत्यर्थः* । तेन पञ्चेत्यादौ पदसञ्ज्ञा भवति । राजपुरुषादौ भसञ्ज्ञा च न । अङ्गसञ्ज्ञा तु यथोद्देशत्वाद् प्रत्ययसंज्ञाकाले जाता तिष्ठत्येव । तत्काले कार्याभावादप्रवृत्तावपि प्रत्ययलक्षणेन सा । तस्या लब्धाङ्गसञ्ज्ञककार्यत्वाभावेन निषेधाप्रवृत्तेः । स्पष्टश्चेदं “युवोरनाकौ” इत्यत्र कैयटे ।

“न लुमता” इत्यस्यानित्यत्वादङ्गसञ्ज्ञायामप्रवृत्तिरिति कश्चित्* । अत एव पञ्चभिः क्रोष्ठीभिः क्रीतं कुलमिति “तद्धितार्थ” इति समासे ठको “अध्यर्ध” इति लुकि “लुक्तद्धित” इति स्त्रीप्रत्ययलुकि च ‘पञ्चक्रोष्टृ’ इत्यत्र तृज्वत्त्वम्* । तदुक्तं भाष्ये तृज्वदिति सूत्रे-“न चापरं निमित्तमाश्रीयते, किं तर्हि, अङ्गस्य क्रोष्टुस्तृज्वदिति; अङ्गसञ्ज्ञा च भवति *प्रत्ययलक्षणेन” इति । न चोरदस्त्वत् तृज्वत्त्वेऽपि परनिमित्ताश्रयणमिति पञ्चक्रोष्टृ इत्यस्यासिद्धिरिति वाच्यम् । “उरत्” इत्यत्र शब्दतः परस्य निमित्तत्वानाश्रयणेऽपि *अङ्गसञ्ज्ञाद्वारोरदस्त्वस्यापि परनिमित्तकत्वेन स्थानिवत्त्वप्रवृत्तिरित्येव “लिट्यभ्यासस्य” इति सूत्रस्थभा-

इत्यर्थ इति । लुप्तप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वेन साक्षादवच्छिन्ना लुप्तप्रत्ययनिमित्तकाङ्गसंज्ञावत्पर्याप्तधर्मेण साक्षात्परंपरया वा अवच्छिन्ना च योद्देश्यता तादृशोद्देश्यताके कार्ये प्रत्ययलक्षणं न भवतीति न लुमताङ्गस्येति सूत्रार्थ इति भावः । तेन राजपुरुषादौ भसंज्ञा परमन्निपुत्र इत्यादौ त्रयादेशश्च न भवति । साक्षाल्लुप्तप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वावच्छिन्नत्वनिवेशादुत्क्रामेत्यादौ न दोषः । विस्तरस्तु ‘वर्णाश्रये’ इति परिभाषाव्याख्याने परिभाषेन्दुटिप्पणे द्रष्टव्य इति दिक् ।

कश्चिदिति । अत्रारुचिवीजन्तु अङ्गसंज्ञाया उपजीव्यत्वेन तन्निषेधो न लुमता ऽङ्गस्येत्यनेन कर्तुमशक्य इति । *तृज्वत्त्वमिति* । पूर्वं जातं तिष्ठत्येवेति शेषः । तथा हि “पञ्चक्रोष्टृ” इत्यत्र प्रत्ययलक्षणेनाङ्गसंज्ञायां लुक्पि तृज्वद्भावप्राप्त्या लुक्तद्धितेति लुक्ः अन्तरङ्गस्त्रियांचेति शास्त्रनिमित्तविनाशकत्वाभावेन लुक्तद्धितेत्यतः पूर्वमेव तृज्वद्भावेऽपि पश्चाद् ‘अध्यर्ध’ इति लुकि लुक्तद्धितेति स्त्रीप्रत्ययलुकि च पञ्चक्रोष्टृ इति तृज्वद्भावघटितस्य निर्वाधत्वात् ।

प्रत्ययलक्षणेनेतीति । तथा च लुकोऽन्तरङ्गनिमित्तविनाशकत्वाभावेनान्तरङ्गानिति परिभाषाया अप्राप्त्या लुक्ः प्रागेव “स्त्रियां च” इति तृज्वद्भावो भवतीति भावः । *अङ्गसंज्ञाद्वारेति* । अचः परस्मिन्नित्यत्रान्य-

व्याशयात् । नियमतः परबुद्धेः पूर्ववृत्तितया परनिमित्तत्वात् । अत एव 'चर्करीति' 'अजर्घा' इत्यादावस्वप्रवृत्तिः । "अचिश्नु" इत्यादावजादिप्रत्यय-
इत्यर्थस्तु अङ्गस्येतिषष्ठ्या 'निमित्ते' इत्यद्वयाहारेण तस्य विशेष्यत-
या यथाकथञ्चिदुपपाद्यः । आकङ्काराधिकारस्थेषु *कार्यकालत्वस्याभा-
वाच्च । एतेन "कार्यकालपक्षेऽपि क्रोष्टुशब्दः प्रत्यये ऽङ्गसञ्ज्ञो भवति,
अङ्गसञ्ज्ञकस्य च तस्य तृज्वस्वं स्त्रियामित्येवार्थः । "उरत्" इत्यादौ तु
आवृत्त्या ऽस्वं प्रति निमित्तताऽपि वद्वशेति लक्ष्यानुरोधात् । न तथा प्रकृते,
लक्ष्यानुरोधादेवेति तदाशयः । पदैकवाक्यतयाऽन्वयस्तु सञ्ज्ञासूत्राणां
दुर्लभ इत्यन्यत्र निरूपितम् । 'चर्करीति' 'अजर्घा' इत्यादौ तु "न लुमता"
इतिनिषेधानित्यत्वादस्वप्रवृत्तिः 'त्रपो' इत्यादौ गुणवत् । अङ्गाक्षिप्त-
प्रत्ययनिमित्तं लुकि भवत्येवेति तु भ्रुवे हितं भूहितमित्यादावुपपत्त्या
चिन्त्यम्"—इत्यपास्तम् ।

त्रिषु सरूपा इति । "ङे प्रथमयोः" इति सूत्रे युष्मानित्यादौ "त-
स्माच्छसो नः" इत्युपन्यासपरेण भाष्येण "स्वमोर्नपुंसकात्" इति सूत्रे शिशी
नुमादिभिर्युष्मदाद्यादेशानां विप्रतिषेधपरेण वार्तिकेन, तद्भाष्येण च, "न
षट्" इति निषेधेन च लिङ्गसत्ताबोधनेऽपि लिङ्गबोधकप्रत्ययानुत्पत्त्या रूपे
न विशेष इत्यर्थः । "साम आकम्" इति सूत्रस्थस्य "अलिङ्गे युष्मदस्मदी"
इति भाष्यस्य पदान्तरसन्निधानं विना लिङ्गविशेषो युष्मदस्मच्छब्दमात्रात्
न प्रतीयते इत्यर्थ इति दिक् ।

त्रेस्त्रयः । अयं न सान्तो "निजां त्रयाणाम्" इति निर्देशात् । त्रेरयङ्
न कृतः* "अयङ् यि" इत्यादाविबोद्धारणार्थत्वशङ्कावारणाय । केचि-
दिति । "आमि सर्वनाम्न" इति साहचर्यादिति भावः । वस्तुतस्त्वि-
ति । साहचर्यस्यासार्वात्रिकत्वात्सूत्रान्तरस्थतदाश्रयणे दृढतरप्रमाणाभावा-
च्चेति भावः । न च गौणमुख्यन्यायेनात्र नेति वाच्यम् । अप्रसिद्धत्व-

थासिद्धमपि परम्परया निमित्तं निमित्तपदेन गृह्यते इति भावः ।
कार्यकालत्वस्याभावादिति । कार्यकालपक्षीयविधिदेशीयत्वरूपांशस्याभा-
वादित्यर्थः । निरूपितं चैतद्विस्तरण परिभाषेन्दुटिप्पणे यथोद्देशपरिभाषा-
व्याख्यावसरे इति तत एवावगन्तव्यम् ।

त्रेस्त्रयः । अयङ् न कृत इति । "ङिच्च" इति शास्त्रस्य ङित्वसाम-
र्थ्येन कल्प्यमानान्यादेशत्वानुवादकत्वेन प्रकृते ङित्करणसामर्थ्यादित्यादेश

गौणलाक्षणिकत्वान्यतरूपगौणत्वाभावात् । अत एवोपसर्जनानां सर्वनामत्वनिषेध आरब्धो वार्त्तिककृता । इतरविशेषणतामात्रेण तत्त्वाभावात् । *पदकार्य एव तत्प्रवृत्तेश्चेत्यन्यत्र विस्तरः ।

द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्त इति । संख्यापरत्वेऽपीत्यर्थः । अत एव कस्य द्वित्वे इत्यर्थे “कस्य द्वयोः” इति भाष्ये “बहुषु” इति सूत्रे प्रयुक्तम् ।

त्यदादी ॥ “अष्टन” इत्यतो विभक्तावित्यनुवर्त्तते, तत्फलं तत्कुलम् । सोर्लुक्पत्वं न । इष्टिरिति । भाष्यकारस्येति भावः । द्विपर्यन्तानां किमिति । युष्मदस्मदोरात्वयत्वलोपैर्वाधात् किमः कादेशविधानाच्च प्रश्नः । भवान् भवन्तावित्यभ्युचयाय* ।

डौ तु सवर्णदीर्घ इति । इदं सम्भावनामात्रेण । एषां डौ “ईदूतौ च सप्तम्यर्थे” इति सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येनानभिधानात् । क्विबन्तवातेति । “ईत्वमवकारादौ” इति वार्त्तिकस्य, पावान इत्यादीनां वनिपा साधनरूपस्य तत्प्रत्याख्यानभाष्यस्य च फलैक्यायेदृशेभ्यः क्विपो *ऽनभिधानमावश्यकमिति ।

एव भविष्यतीति कल्पनीयमिति कल्पनागौरवम् । किं च त्रयाणामित्यस्य द्वित्वे स्थानिवद्भावेन सुबन्तत्वाद् इशब्देन समासे समासत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञया तदवयवत्वादामद्वयस्यापि लुकि विशिष्टादामि त्रित्री आमिति स्थिते ऽयङ्कल्पे त्रित्रयाणामिति स्यात्, यथाश्रुतकल्पे त्रयाणामिति फलभेद इति अयङ् कर्तुमशक्यः । मूलोकं तु न युक्तम् । त्रयाणामिति निर्देशेन सान्तत्ववारणवदुच्चारणार्थत्वस्यापि वारणसम्भवादिति बोध्यम् ।

पदकार्ये एवेति । तत्त्वं च स्त्रीत्वानिमित्तकत्वे सति विभक्त्यनिमित्तकत्वम्, स्त्रीत्वानिमित्तकत्वे सति प्रातिपदिकप्रकृतिकप्रत्ययानिमित्तकत्वं वा, पदात्परत्वव्याप्यविषयताप्रयोजकपदघटितशास्त्रविधेयताकत्वं वेत्यन्यत्र विस्तरः ।

अभ्युचयायेति । अन्ये तु “ननु त्यच्छब्दात्प्रागेव भवच्छब्दः पठिष्यते । तथा च भवानित्यादौ न दोष इत्यरुचेराह- *भवन्ताविति । स च भवांश्च भवन्ताविति विग्रहः । अत्र “त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते” इति तच्छब्दस्यैकशेषापत्तिः” इति लापनिकामाहुः । यथाश्रुतपाठं परित्यज्यान्यथापाठं कृत्वा भाष्यकारेष्टेः खण्डनस्यायुक्तत्वात्, एतादृशरीत्या दोषद्वारेण ऽनवस्थापाताच्च एवं लापनमनुचितमिति केचित् । *अनभिधानमिति* । वस्तुतस्तु यथोत्तरमिति परिभाषया “ईत्वमवकारादौ” इति वार्त्तिकं पावादीनां वनिपा स्निद्धिमबुध्वैव प्रवृत्तमिति “धीर्ध्यायतेर्द्धातेर्वा” इति भाष्यानुग्रहात् कल्प्यते । शंस्था इत्यादावन्तरङ्गपरिभाषया ईत्वात्पूर्वमेव “विरपृक्तस्य” इति लोपे

धीवरी पीवरीत्यादितु “ध्याप्योः संपसारणश्च” किप् कनिप् च चेनेत्यर्थकात्
“जनसनखनां सज्जलोः” “धुमास्थागापा” इति सूत्रभाष्यपर्यालोचनया
सिद्धाद्वार्तिकेति सिद्धम् । धीर्द्ध्यायतेर्दधातेर्वेति “क्विब्वचि” इति वार्तिक-
स्थभाष्ये दधातेर्वेत्युक्तिरेकदेशिनः* । शंस्था इत्यत्र विजेवेति न दोषः ।
मीड् माने इतीकारान्तात् क्वित्येके । वातप्रमीर्निःशृङ्गो मृगाकृतिर्जन्तुवि-
शेषः । बहुश्रेयसीति । “ईयसो बहुव्रीहेर्न” इति निषेधान्नोपसर्जनह्रस्वः ।

यू स्या । दीर्घयोरेव ग्रहणं व्याख्यानात्* । “वा छन्दसि” इति पूर्व-
सवर्णदीर्घः । यू किम् । मात्रे । “आणनद्या” इति न । स्त्रियमाचक्षाते स्याख्यौ ।
मूलविभ्रुजादित्वात् कः । स्याख्यावित्युपस्थितस्त्रीवाचकशब्दस्य वि-
शेष्यत्वात्तदन्तविधिरित्याह—ईदूदन्ताविति । “आच्छीनद्योः” इत्यादौ
नदीशब्दस्य तदवयवे लक्षणा बोद्ध्या । आख्याग्रहणाक्षित्यत्वलाभस्त-
दाह—नित्यस्त्रीलिङ्गाविति । तत्फलन्तु ग्रामण्यादेर्व्यावृत्तिः । नित्यस्त्री-
त्वञ्च* प्रवृत्तिनिमित्तैके लिङ्गान्तरविशिष्टार्थानभिधायकत्वम्* । ल्यन्तकु-

हलादित्वाभावादेव नेत्वप्राप्तिः । धीः वातप्रमीरित्यादौ अन्तरङ्गपरिभाषाया अ-
नित्यत्वान्न दोषः ।

परे तु प्रकृतिविशेषोद्देश्यककिपि परत एव “ईत्वमवकारादौ” इति
वार्तिकं प्रवर्त्तते । शंस्था इत्यादौ “स्थः क च” इति चकारेण स्थाधातोः क्विपो
विधानादीत्वं न जायते । धीः वातप्रमीरित्यादौ “किप् च” इत्यनेन क्विपो
विधानात्तत्र प्रकृतिविशेषोपादानाभावात् “ईत्वमवकारादौ” इत्यस्य विषयो ना-
स्तीति ईत्वमवकारादाविति वार्तिकमते, वनिपा तत्प्रत्याख्यानपरभाष्यमते च
न फलभेद इत्याहुः । *एकदेशिन इति* । नेयमेकदंश्युक्तिरित्यबोचाम ।

व्याख्यानादिति । किं पुनरिदं दीर्घयोर्ग्रहणमाहोस्विद् ह्रस्वयोरिति
विकल्प्य दीर्घग्रहणपक्षे यू इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घस्य ‘ङिति ह्रस्वश्च’ इति सूत्रे
सामानाधिकरण्यस्य चानुपपत्तिमुद्भाव्य, ह्रस्वग्रहणे शकटिबन्धुरित्यत्र ‘नदी
बन्धुनि’ इति पूर्वपदान्तोदात्तस्य बहुशकटिरित्यत्र ‘नद्युतश्च’ इति कपः प्राप्ति-
श्चोक्त्वा दीर्घयोर्ग्रहणमिति सिद्धान्तितम् । पूर्वसवर्णदीर्घस्तु “दीर्घाञ्जसि
च” इत्यत्र “वा छन्दसि” इत्यनुवृत्त्या साधित इत्येवंरूपाद्याख्यानादित्यर्थः ।

नित्यस्त्रीत्वं चेति । प्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टशक्तिविशिष्टत्वम् । प्रवृ-
त्तिनिमित्तवैशिष्ट्यं च स्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्वं—स्वावच्छिन्नविशे-
ष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वं—स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्री-
त्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताऽप्रयोजकत्वमेतद्विषयसम्बन्धेन । शक्तिवैशिष्ट्यञ्च स्व-
पर्याप्त्यधिकरणत्वं—स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्य-
विशेष्यताविशिष्टतात्पर्यविषयतापर्याप्त्यधिकरणत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । ता-

त्पर्यविशेष्यतावैशिष्ट्यं च स्वावच्छेदकतत्त्वव्यापकानुपूर्वीव्याप्यधर्माव-
 च्छिन्नत्व-स्वसामानाधिकरण्योभयसम्बन्धेन । प्रवृत्तिनिमित्तवैशिष्ट्यघटकप्रथ-
 मसम्बन्धोपादानेन सेनानीशब्दस्य न नित्यस्त्रीत्वम् । अन्यथा सेनात्वरूपप्रवृत्ति-
 निमित्तमादाय स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वस्य
 स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताऽप्रयोजकत्वस्य च
 सेनाकर्मकनयनकर्तृत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तौ सत्त्वेन दोषो दुरुद्धरः स्यात् । प्रथम-
 सम्बन्धोपादाने तु सेनात्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्वस्योक्तशक्तावभावाच्च
 दोषः । द्वितीयसम्बन्धोपादानेन जिह्मेतीति ह्रीः इत्यादौ धातुवाच्यतावच्छे-
 दकसाध्यत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तमादाय न दोषः । अन्यथा साध्यत्वस्य कस्यापि
 लिङ्गस्यान्वयितानवच्छेदकतया स्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्वस्य स्वा-
 वच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताऽप्रयोजकत्वस्य च सा-
 ध्यत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तौ सत्त्वेन दोषो दुरुद्धरः स्यात् । तृतीयसम्बन्धो-
 पादानेन स्त्रीलिङ्गविषयकबोधतात्पर्येणोच्चरितसेनानीशब्दे एव सेनाकर्मकन-
 यनकर्तृत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तमादाय न दोषः । अन्यथा सेनाकर्मकनयनकर्तृ-
 त्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्वस्य स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्री-
 त्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वस्य च सेनाकर्मकनयनकर्तृत्वावच्छिन्ननिरूपि-
 तशक्तौ सत्त्वेन दोषो दुर्वारः स्यात् । तस्योपादाने तु सेनाकर्म-
 कनयनकर्तृत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वेतरपुंसकलिङ्गनिष्ठप्रकारताप्र-
 योजकत्वस्यैव निरुक्तशक्तौ सत्त्वेन न दोषः । शक्तिवैशिष्ट्य-
 घटकप्रथमसम्बन्धानुपादाने सेनानीशब्दे एव सेनात्वं प्रवृत्तिनि-
 मित्तमादाय स्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्वस्य स्वावच्छिन्नविशे-
 ष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वस्य स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपि-
 तस्त्रीत्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताऽप्रयोजकत्वस्य च सेनात्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तौ स-
 त्त्वेन तज्ज्ञानार्थिनोपस्थितिप्रयोज्यशब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्य-
 तावैशिष्ट्यतात्पर्यविषयतापर्याप्त्यधिकरणत्वस्य सेनानीशब्दे सत्त्वेन दोषो
 दुर्वारः स्यात् । शक्तिवैशिष्ट्ये द्वितीयसम्बन्धोपादानेन वात्स्यायनः आर्यः वा-
 त्स्यायः तं नयतीति वात्स्यायनीरेत्यादौ वात्सीसम्बन्धायकर्मकन-
 यनकर्तृत्वावच्छिन्नविषयकबोधतात्पर्येणोच्चरिते वत्ससम्बन्धित्वावैशि-
 ष्ट्यापत्यत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तमादाय न दोषः । अन्यथा स्त्रीत्व-
 विशिष्टवत्सापत्यत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्वस्य स्वा-
 वच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वस्य स्वावच्छिन्न-
 विशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वाभावस्य च स्त्रीत्व-
 विशिष्टतदपत्यत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तौ सत्त्वेनैतादृशशक्तिपर्याप्त्यधिकरण-
 त्वस्य निरुक्तवात्स्यायनीशब्दे सत्त्वाद्दोषो दुरुद्धरः स्यात् । बोधजनक-
 त्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतावैशिष्ट्यस्य दानेन बोधविषयत्वादिप्रकारकतात्पर्ये-
 णोच्चरितस्थले न दोष इत्यर्थवत्सुत्रे विस्तर इति दिक् ।

मार्यादीनां क्यचि निर्वृत्तेन त्रिलिङ्गेन समानाकारतया नित्यस्त्रीत्वाभाव-
वारणाय प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये इति ।

नन्वेवं बहुश्रेयसीशब्दस्य नदीत्वं न स्यात्, अत आह-
प्रथमोति । अर्थान्तरसङ्क्रमात्पूर्वं विद्यमानं नित्यस्त्रीत्वमादाय
तस्यार्थान्तरसङ्क्रमे ऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः । यथोद्देशे पूर्व-
प्रवृत्तसंज्ञामादायैव कार्यम् । कार्यकालपक्षेऽपि कुमारीत्यादौ प्रकृतिभू-
तकुमारीशब्दस्य नित्यस्त्रीत्वेन वृत्तावपि विशेषणतया नित्यस्त्रीलिङ्गरूपा-
र्थबोधकत्वेन नदीसञ्ज्ञा । समासे तु स्पष्टैव तदवयवस्य तत्प्राप्तिः । त-
न्मात्रबोधकत्वनिवेशे प्राधान्येन तद्बोधकत्वनिवेशे वा न मानम् । तदुक्तं
भाष्ये “अवयवस्त्रीविषयत्वान्सिद्धम्, अवयवोऽत्र *स्त्रीविषयस्तदाश्रया
नदीसञ्ज्ञा भविष्यति” इति । *आकडारस्थसञ्ज्ञानां कार्यकालत्वाभावा-
त्* । अन्यथा तत्तद्विध्यैकवाक्यत्वापन्नयोः कथं बाध्यबाधकभावः स्या-
दिति बोध्यमित्यपि केचित् ।

हे बहुश्रेयसीति । ह्रस्वे कृते गुणस्तु न । प्रक्रियालाघवाय
‘अम्बार्थानां ह्रस्वः’ “ह्रस्वनद्योगुणः” इत्येव वाच्ये ह्रस्वविधानसामर्थ्या-
त् । “जसि च” इत्यत्रैकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञया ह्रस्वपदस्यैवानुवृत्तिरिति
भाष्ये स्पष्टम् । अम्बार्थानामपि गुणस्तु वक्तुमशक्यः । “अनः क्लीबं जले
शोके मातृस्यन्दनयोरपि” इतिरभिसाद्युक्तानः शब्दस्याम्बार्थत्वेन गुणाप-
त्तेः । ह्रस्वग्रहणे तु ‘अच’ इत्युपस्थित्याऽजन्तः स्वार्थग्रहणान्न दोषः ।
तस्य नपुंसकत्वेऽपि हेवारे इतिवत् पक्षे गुणः स्यादेव । गुणश्रुत्येकूप-
रिभाषोपस्थितौ त्वम्बेत्यादावप्यनापत्तिः । अयं ह्रस्वः—‘अनन्तरस्य’-
इतिन्यायाद् “ह्रस्वस्य गुणः” इत्यस्यैव बाधकः । तेन मातरित्यत्र “ऋतो

लिङ्गान्तरविशिष्टार्थानभिधायकत्वमिति । यत्प्रवृत्तिनिमित्तं स्त्रीत्व-
स्यान्वयितावच्छेदकं स्त्रीत्वेतरलिङ्गस्यान्वयितावच्छेदकं च भवति तदूपवि-
शिष्टार्थानभिधायकत्वमित्यर्थः । अर्थात् स्त्रीत्वान्वयितावच्छेदकं स्त्रीत्वेतरलि-
ङ्गान्वयितानवच्छेदकं च यत्प्रवृत्तिनिमित्तं तादृशप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टार्थानभिधा-
यकत्वमिति फलति । *स्त्रीविषय इति* । स्त्रीविषयत्वं च पूर्वोक्तमेव बोध्यम् ।
यदुक्तं ‘कार्यकालपक्षेऽपि’ इत्यादि तद् दूषयति *आकडारस्थसंज्ञानामिति* ।
कार्यकालत्वाभावादिति । अयं हेतुः ‘यथोद्देशे पूर्वप्रवृत्तसंज्ञामादायैव कार्य-
म्’ इत्युत्तरं योज्यः ।

ङि"इति गुणो भवत्येवेति दिक् ।

आटश्च ॥ "न माङ्योगे"इति सूत्रस्थभाष्योक्ते "अटश्च"इति न्यासे तु "वृद्धिरेचि"इति बोध्यम् । अत्र अट् तु वक्तुमशक्यः । अस्वपोऽहसन्नित्यत्र वृद्धिवारणाय "आटश्च"इत्यत्र धातावित्यपकर्षेण वृद्ध्यनापत्तेः । "वृद्धिरेचि"इत्यस्य तु पररूपं बाधकमिति बोध्यम्* । डेरिति सप्तम्येकवचनं व्याख्यानात् । इह परत्वादिति । *सकृद्भूतिन्यायाश्रयणादिति भावः । स्पष्टञ्चेदं "ह्रस्वनद्यापः"इत्यत्र भाष्ये । यद्यपीह आम् अपवादो नद्यां सर्वथाऽनवकाशत्वात् । 'अपवादो नुगदीर्घत्वस्य'इति "दीर्घोऽकित"इति सूत्रभाष्ये उक्तत्वेनाऽऽगमादेशयोरपि तत्त्वसत्त्वात्, तथापि अनवकाशत्वेन बाधेऽपवादप्रवृत्त्यनन्तरमुत्सर्गप्रवृत्तेर्न दोषः । अत एव "न गणेरीत्वमपवादत्वाद्धलादिः शेषं बाधते किं तर्ह्यनवकाशत्वात्"इति "गुणो यङ्लुकोः"इति सूत्रभाष्ये उक्तम्* । "पादः पत्"इति सूत्रस्थं "शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्ययोराढामोः परत्वादाम्"इति भाष्यं त्वेकदेश्युक्तिरिति बोध्यम् ।

अङ्यन्तत्वादिति । "लर्क्षेमुट् च"इत्यौणादिक'ई'प्रत्ययान्तत्वादिति भावः । कुमारीति । ह्रस्वविधायके शास्त्रीयोपसर्जनग्रहणाद् "गोस्त्रियोः"इति ह्रस्वो न ।

आचि ङनु । भ्रूशब्दोऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकं, भ्रमेर्ह्रस्वप्रत्यया-

बोध्यमिति । न चाङ्घ्रिधानसामर्थ्यादेव पररूपं न भवतीति आङ्घ्रिधानं व्यर्थमिति वाच्यम् । बहुश्रेयस्यामित्यादौ नुङ्बाधेनाऽङ्घ्रिधानस्य चारितार्थ्यात् । न चैवमप्यस्वपोऽहसन्नित्यादौ बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वाद् 'अटश्च'इति न्यासेऽपि वृद्धिर्न प्राप्नोतीति तत्र धातावित्यस्यापकर्षो व्यर्थ इति वाच्यम् । "नाजानन्तर्य"इति निषेधादन्तरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेरिति दिक् ।

सकृद्भूतिन्यायाश्रयणादिति । एतेन यत्र परशास्त्रप्रवृत्तौ पूर्वशास्त्रप्रवृत्तिप्रयोज्यं परशास्त्रप्रवृत्तिवैयर्थ्यं तत्र सकृद्भूतिन्यायोऽन्यत्र पुनः प्रसङ्गन्याय इत्यपास्तम् । बहुश्रेयस्यामित्यादौ परशास्त्राण्यन्त्याइति प्रवृत्त्यनन्तरं नुट्प्रवृत्तावपि परशास्त्रप्रवृत्तिवैयर्थ्याभावेन सकृद्भूतिन्यायाप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । *उत्सर्गप्रवृत्तेरिति* । तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यविशिष्टं कृते चारितार्थ्याभावरूपं बाधबीजं यत्र तत्र स्वप्रवृत्तियोग्यो यः स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नस्तदतिरिक्तत्वेनोत्सर्गशास्त्रे संकोच इति नियमात् प्रकृते आम्प्रवृत्त्युत्तरं तत्प्रवृत्तियोग्यताया अभावेन उत्सर्गप्रवृत्तौ बाधकाभाव इति भावः । *भाष्ये उक्तमिति* । तथा चापवादशब्दस्य कृते चारितार्थ्यप्रयुक्तो बाधो यत्र तत्र रुढिरन्यत्र गौणत्वमिति भावः ।

न्तो वा । इह 'योः' इति धातोः समानाधिकरणं विशेषणं, तदाह-इव-
र्णोवर्णान्तधातोरिति । इत्यस्येति । इत्यन्तस्येत्यर्थः । तेन सुध्रुवाविति
सिद्धम् । आन्तरेति । स्थानत इति भावः । योरिति किम् । वत्रे ।
अचि किम् । युयात् । इतीयङीति । सुधीशब्दे यणिपेधारम्भादत्र प्र-
करणे "धातोः स्वरूपग्रहणे" इति परिभाषाया *अप्रवृत्तिरिति भावः ।

एरनेकाचो । धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवतीति । धात्ववयव-
संयोगपूर्वभिन्न इत्यर्थः । तद्भिन्नश्च धात्ववयवपूर्व एवेति उदियावित्यादौ
न दोषः । असंयोगादित्येव धात्ववयवसंयोगभिन्नात्परस्येत्यर्थेन सिद्धं
पूर्वग्रहणं स्पष्टार्थम्* । एः किम् । असंयोगपूर्वग्रहणमिवर्णविशेषणं यथा
स्याद्, अङ्गविशेषणं मा भूदिति । तेन यवक्रियावित्यादौ नातिप्रसङ्गः ।
लुलुवतुरित्यादौ तु नातिप्रसङ्गः । "ओः सुपि" इति नियमात् । विपरीतनिय-
मस्तु न । सुधीशब्दे 'अचि सुपि' यणिपेधारम्भात् ।

कुमार्थाविति । अन्तर्वर्तिविभक्त्या पदत्वाच्छाकलं त्वत्र न । "नः
क्ये" इति निषेधात्* । प्रधीरिति । 'प्रकृष्टं ध्यायति' इति विग्रहे नित्यस्त्री-

अप्रवृत्तिरिति । "न भूसुधियोः" इति ज्ञापकेन धातुत्वेतरधातु-
त्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताकं कार्यं धातुत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्य-
तानिरूपितविधेयताश्रये प्रत्यये भवतीति धातोः कार्यमुच्यमानमिति
परिभाषार्थकरणादिति भावः । नच 'इको यणाचि' इतियणनिषेधेन "न
भूसुधियोः" इति चरितार्थमिति कथमत्र ज्ञापकमिति वाच्यम् । इको-
यणचीत्यनन्तरमेव निषेधे कर्तव्ये एतत्प्रकरणे निषेधकरणातिरिक्तार्थज्ञापन-
सम्भवात् । न भूसुधियोरिति -इयङ्घटितनिर्देशेन निरुक्तार्थज्ञापनसं-
भवाच्च । अन्यथा "धातोः कार्यमुच्यमानम्" इति परिभाषया इयङोऽप्राप्त्या
तन्निर्देशासङ्गतिः स्पष्टैवेति दिक् ।

स्पष्टार्थमिति । चिन्त्यमिदम् । धात्ववयवसंयोग-
भिन्नात्परस्येत्यर्थे यवक्रियौ कटप्पूर्वावित्यादौ धात्ववयवसंयोगभिन्नं यवक्
कटप् इति ततः परत्वस्येकारे सत्त्वेन यणापत्तेः । नच धात्ववयवसंयो-
गभिन्नोऽपि पर्युदासन्यायेन धात्ववयवो गृह्यत इति नोक्तदोष इति वा-
च्यम् । एवं तर्हि धात्ववयवसंयोगभिन्नधात्ववयवरेफमादायोक्तदोषस्य दु-
र्वारत्वादिति दिक् । *नः क्ये इति निषेधादिति* । न चैवमपि राजीय-
तेः क्षिपि राज्यावित्यादौ "इकोऽसवर्णे" इति शाकलं स्यादिति वाच्यम् । अ-
त्रय इत्यादाविव यद्वृत्तिनिमित्तसुबुनिमित्तिका पदसंज्ञा चिकीर्षिता त-
द्व्यघटकार्थवद्व्यवहितपूर्वत्वाभाववत्त्व-स्वघटकत्वैतदुभयसम्बन्धेन वृत्तिवि-

त्वाभावान्न नदीत्वम् । “प्रकृष्टा धीर्यस्य” इति विग्रहे तु नदीत्वम् । ग्रामणी-
रिति । अग्रग्रामाभ्यां नयतेरिति णत्वम् । ‘गतिकारकपूर्वस्यैव’ इति भाष्ये प-
ठ्यते । स च नियमः । तेन गतिकारकपूर्वभिन्नस्य नेति फलति । तद्धिन्नश्च
तत्सदृशं सपूर्वपदमेव । तेन निन्यतुरित्यादौ यण् । तदाह-गतिकारके-
तरेति । यच्चत्र गतिसमासो नित्याधिकारस्थ एव प्रतिपदोक्तत्वाद् गृह्यत
इति । तन्न । भाष्ये पूर्वपदग्रहणाभावेन समासोपस्थितेरभावेन विशिष्टरूपो-
पादानविषयप्रतिपदोक्तपरिभाषाया अप्रवृत्तेः* । अत एव नदीसञ्ज्ञासूत्रस्थः
‘प्रकृष्टा धीर्यस्या’ इति विग्रहाभिप्रायेण प्रवृत्तः ‘प्रद्धयै ब्राह्मण्यै’ इति भाष्यप्र-
योगः सङ्गच्छते । शुद्धधियाविति । ‘शुद्धा धीर्यस्य’ इति विग्रहः । ‘शुद्धं,
ध्यायति’ इति विग्रहे यणेव । आद्ये सस्वभूतार्थकर्षाशब्दार्थविशेषणत्वात्
शुद्धत्वस्य कथमपि न कारकत्वमिति भावः । कथन्तर्हीति । ‘दुर्ध्यायान्ते’ इति
‘दुष्टा धीर्ध्यानं येषाम्’ इति, ‘दृष्टिकाद् भीः’ इति विग्रहाभिप्रायेण प्रश्नः ।
दुःस्थितेति । दुःशब्दोपात्तदुष्टत्वस्य स्थितिक्रियाविशेषणत्वमिति भा-
वः । प्रकृष्टा धीरित्यादौ प्रकर्षः प्रशब्दार्थो धीशब्दोपात्तधात्वर्थे
विशेषणमिति यण् भवत्येव । यत्किमेति । या चासौ क्रियेत्यर्थः* ।
तं प्रति-तद्वाचकं प्रति ! यद्वा यस्य धातोर्वाच्यया क्रियया युक्ता
इत्यर्थः । नेहेति । ततश्च सम्बन्धसामान्यपष्ठ्यैव समासः । भीत्रार्था-

शिष्टत्वरूपोत्तरपदत्वस्थ सत्त्वेन “उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ” इति नि-
षेधेनादोषात् ।

अप्रवृत्तेरिति । प्रतिपदोक्तत्वेनाभिमतशास्त्रीयविधेयताव-
च्छेदकं लाक्षणिकत्वेनाभिमतशास्त्रीयविधेयतावच्छेदकं च यदूपं तदुपाव-
च्छिन्नोद्देश्यताकत्वरूपलक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषालिङ्गस्याभावात् । यत्किञ्चि-
च्छास्त्रविशिष्टत्वरूपप्रतिपदोक्तत्वस्याभावाच्च । वैशिष्ट्यं च स्वीयोद्देश्यतावच्छे-
दकरूपावच्छिन्नविधेयताकत्वं—स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकसमर्पकज्ञानविषयीभूता-
नुपूर्वीविशिष्टविधेयताकत्वेतदुभयसम्बन्धेन । आनुपूर्वीवैशिष्ट्यं च स्वावच्छि-
न्नत्वं—स्वावच्छिन्नप्रयोज्योद्देश्यतानिरूपितत्वमेतदन्यतरसम्बन्धेन । प्रकृते च ग-
तिकारकेतरेति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकं समासत्वं नास्तीति यत्किञ्चि-
च्छास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नविधेयताकत्वं “कुगति” इत्यस्य नास्ती-
ति भावः । द्वितीयसम्बन्धदानेन “विशेषणं विशेष्येण” इत्यादिलाक्षणिके-
षु न तत्त्वम् । आनुपूर्वीवैशिष्ट्ये प्रथमसम्बन्धोपादानेन ‘पा पाने’ इत्यादौ
नाव्याप्तिः । द्वितीयसम्बन्धोपादानेन ‘तृतीया तत्कृतार्थेन’ इत्यादौ न दोष
इति परिभाषेन्दुटिप्पणे विस्तरेण निरूपितम् । *इत्यर्थ इति* । जन्यबोधविषयी-

नामिति तु हेतुत्वप्रकारकबोधे तृतीयाबाधनार्थम् । विभक्तिप्रकरणे तु न कृतं, कारकत्वप्रयुक्तकार्यानापत्तेरिति भावः । किं च हेतुत्वाविवक्षायां सम्बन्धत्वेन विवक्षया षष्ठी सूत्रारम्भेऽपीत्यपि बोध्यम् । अभ्युच्येनाह— वृश्चिकसम्बन्धिनीति । अत्र पूर्वपदान्तर्गतोत्तरपदलोपः शाकपार्थि-
वादित्वात् ।

न भू * ॥ अनन्तरस्येति न्यायेन “एरनेकाचः” “ओःसुपि” इत्यनयो-
रेव निषेधः । सुपीति चानुवर्तते तदाह—सुपीति । लोपाविति । “अतो
लोपः” “लोपो व्योर्वलि” इत्याभ्यामिति भावः । यलोपे निषेधादलोपो
न स्थानिवत् । वेरपृक्तलोपात्पूर्वं वलि लोप इष्यते* । स्थानिव-
त्त्वादिति । एवञ्च यणादेशे यलोपे सख् इति स्यादिति भावः । अन्त-
र्वर्त्तिविभक्त्या पदत्वात् “न पदान्त” इति निषेधस्तु न स्थानिवत्त्वस्य ।
“नः क्ये” इतिसामान्यापेक्षनियमेनास्यापदत्वात् । परपदस्याजादेशस्यैव
तेन स्थानिवत्त्वनिषेधाच्च । किवपेक्षक्यत्सम्बन्धियलोपस्य यणि वहिर-
ङ्गासिद्धत्वन्तु न । अनित्यत्वात् । कौलुसमिति । भावे क्तः । लोप इत्यर्थः ।

भूतक्रियाविशेषविषयकतात्पर्यग्राहकत्वे सति प्राद्यन्यतमत्वमुपसर्गत्वमि-
तिपरिष्कारेण यज्जन्यबोधविषयीभूतक्रियाविशेषविषयकतात्पर्यग्राहकत्वं
यस्य पदस्य तन्निरूपितोपसर्गत्वं तस्येति स्वीकारादिति भावः ।

न भूसुधियोः । ननु भूग्रहणमत्र व्यर्थम् । “सपूर्वस्य भू-
शब्दान्तस्य यण् भवति चेत् तर्हि वर्षापूर्वकस्यैव” इति “वर्षाभ्वश्च” इति
नियमेन परमभुवावित्यादौ दोषवारणात् । वर्षापूर्वकस्य चेत् भूशब्दान्तस्यैवेति
विपरीतनियमस्तु न । “हन्कर” इतिवार्तिकारम्भसामर्थ्यात् ; इति चेन्न ।
वर्षाभूशब्दाद् गौरादित्वाद् ङीषि निष्पन्ने वर्षाभ्वीशब्दे केमठपिर्यायेषु
(वर्षाभ्वी कमठी हुलिः) इति कोशनिर्दिष्टे सुप्परकत्वाभावेन “ओः
सुपि” इत्यस्याप्राप्त्या यण्प्रवृत्त्यर्थे ‘वर्षाभ्वश्च’ इत्यस्यावश्यकतया निया-
मकत्वानुपपत्तेः । मूले ‘न भूसुधियोः’ इत्येतद्वृत्तौ ‘वर्षाभ्वश्च’ इत्येत-
द्वृत्तौ च सुपीत्यस्योल्लेखस्तु लेखकप्रमादात् । अतएव मनोरमायां सु-
द्धशुपास्य इत्यत्र ‘न भूसुधियोः’ इतिनिषेधाशङ्का तत्समाधानान्तरं च
सङ्गच्छते । सुपीत्येतत्सम्बन्धे तु तदसङ्गतिः स्पष्टैवेति दिक् ।

वेरपृक्तलोपात्पूर्वं वलि लोप इष्यते इति । वेरपृक्तलोपात् पूर्वं वलि
लोपो यथा स्यात्, तथा कर्तव्यमित्यर्थः । एतेन वेरपृक्तलोपात्प्राग् वलि
लोपेऽपि अतो लोपात्प्राक् “वेरपृक्तस्य” इतिलोपाप्रवृत्तौ मानाभावादन्तरङ्गत्वा-
त्प्राक् वेरपृक्तलोपे ततो ऽलोपेऽपि “लोपो व्योर्वलि” इत्यस्य प्राप्त्यभावालोपो
न स्यादित्यपास्तम् । निरुक्तार्थकरणेनातोलोपस्य वलिलोपस्य च वेर-

गोमत्यतेरप्रत्यये गोमानिति भाष्योक्तेरस्याप्यर्थस्य कचिदङ्गीकारः* ।
कौ विधिं प्रति नेत्येव तु सार्वत्रिकमित्यन्यत्र विस्तरः ।

अनङ्गिति । “अभिव्यक्तपदार्था ये” इति न्यायस्तु गौणमुख्यन्याय-
वत् *पदकार्यविषय एवेति भावः । दीर्घस्यापीति । प्रयोगस्थयकारान्तानु-
करणं, सूत्रे ऽकारश्चोच्चारणार्थ इति भावः । लूनीरित्यादि । “स्वादिभ्यः”
“क्षायो मः” “प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्” इति नत्वमत्वे । “शुषः कः” “पचो वः”
इति कत्ववत्वे ।

व्याख्यानात् प्राधान्याच्च रूपातिदेशोऽयमित्याह—क्रोष्टृशब्द इति । तच्चो-
दात्तक्रकारविशिष्टमतिदिश्यते तृज्वादिति चकारोच्चारणात् । तेन क्रोष्टृयादौ
“उदात्तयणः” इति स्वरसिद्धिर्बोद्ध्या । पक्त्रादेस्तु नातिदेशः । अर्थत आ-
न्तर्याभावात् । इदं सूत्रं “स्त्रियाञ्च” इति च प्रयोगनियमफलकमिति बोध्यम् ।

पृक्तलोपात्पूर्वमेव प्रवृत्तेः ।

कचिदङ्गीकार इति । ननु “कौ लुप्तं न स्थानिवत्” इत्यस्य—
“सख्युर्गोमान् पदस्त्वं च कौ लुप्तस्य निदर्शनम्”

इति फलचतुष्टयमुक्तमभियुक्तैः । तत्रैकमपि फलं न स-
म्भवति । तथा हि—सखीयतेः किपि सखीरित्यादौ यलोपस्य
बहिरङ्गासिद्धत्वादेव न यणः प्राप्तिः । “नाजानन्तर्ये” इति निषेधस्तु न
प्रवर्तते तस्यासत्त्वात्, सत्त्वे ऽनित्यत्वाद्वा । एवं गोमानित्यपि फलं न सम्भव-
ति । गोमत्यतेः किपि अतोलोपयलोपयोः कृतयोरतो लोपस्य स्थानिवद्भावाच्च-
मोऽप्राप्तावपि दीर्घे स्थानिवत्त्वनिषेधात्पूर्वम् ‘अत्वसन्तस्य’ इति दीर्घे तद्विशिष्टे
स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टत्वस्याभावात्स्थानिवत्त्वाप्राप्त्या ततो जुमि रूप-
सिद्धेः । एवं पद इत्यपि न फलम् । पादयतेः किपि शसि पद इत्यादौ
यद्यतो लोपस्य स्थानिवद्भावात्पदादेशो न स्यात्तर्हि पादस्य पादित्येव
सिद्धे सामान्यग्रहणार्थेन पादस्य लोपकरणेन प्रकृते स्थानिवद्भावो न भवतीति
वक्तुं शक्यत्वात् । एवं त्वमित्यपि न फलम् । युष्मयतेः किपि त्वमित्यादि-
रूपाणामनभिधानस्य “मपर्यन्तस्य” इति सूत्रशेखरे वक्ष्यमाणत्वात् ; इति चेन्न ।
अक्यजन्तानां गोमानित्यादिरूपाणामसिद्ध्यापत्तेः । तथा हि—सिद्धान्ते परं नित्यं च
जुमं बाधित्वा आदौ दीर्घो भवति । त्वद्रीत्या तु क्यजन्तगोमानित्यादौ दीर्घस्य
चारितार्थ्येन पूर्वोक्तवचनसामर्थ्यरूपबाधनिमित्ताभावात्पूर्वं नित्यत्वान्नुमि
तद्विशिष्टे निर्दिश्यमानत्वाभावाद्दीर्घानापत्तिः । एवं त्वमित्याद्यपि फलं भवितु-
मर्हति । एतेषामनभिधानं यथा न, तथा ‘मपर्यन्तस्य’ इत्यत्रैव वक्ष्यत इति दिक् ।

पदकार्यविषय एवेति । पदकार्यत्वं च स्त्रीत्वानिमित्तकत्वे स-
ति विभक्त्यनिमित्तकत्वमित्यादि पूर्वोक्तं न विस्मर्तव्यम् ।

अप्तुन् ॥ ननु व्युत्पत्तिपक्षे तुन्नन्तत्वात्तृजन्तत्वाद्वा दीर्घे सिद्धे नष्पादिग्रहणं व्यर्थम्, अत आह —नियमार्थमिति । *अन्येषामुणादिव्युत्पन्नानां सञ्ज्ञाशब्दानां नेति । नेष्ठादयोऽप्युणादय एवेति भावः । तेषां “तृन्” इति सूत्रस्थवार्तिकेन व्युत्पादनात् नष्पादीत्यादिग्रहणेन प्रशास्तृशब्दस्यैव ग्रहणमित्यन्ये । अव्युत्पत्तिपक्षे तु विद्वत्त्वर्थमेवेति बोद्धव्यम् । भाष्यप्रयोगादिति । एवञ्चोणादिष्वस्य व्युत्पादनमप्रामाणिकमिति भावः । पङ्कजादिपदव्योगरूढोऽयम् । ये त्वौणादिकत्वमेवास्य स्वीकृत्य भाष्यप्रयोगादेव दीर्घत्वमिच्छन्ति, ते मान्याः । भाष्यकृताऽन्यप्रयोगस्योदाहरणत्वेन दा-नेऽप्यस्य भाष्यप्रयोगत्वाभावात् । “ष्वुत्तृचौ” इति भाष्ये तु “तृचश्चकारो व्यर्थः । न च “अप्तुन्तृच्” इत्यादौ विशेषणार्थः । तृ इत्येव सिद्धेः । न च तृ इत्युच्यमाने मातरौ पितरावित्यादौ प्राप्नोति । तत्र हि तृप्रत्ययो निरनुबन्धक इति वाच्यम् । नप्तृग्रहणस्य योनिसम्बन्धवाचिनाञ्चेदस्यैव मान्येषां योनिसम्बन्धवाचिनामिति नियमात्” इत्युक्तम् । नेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृणान्तृन्नन्तत्वस्य प्रशास्तृस्तृजन्तत्वस्य “तृन्” इति सूत्रे भाष्यवार्तिकयोर्भूतत्वेन तेषाङ्ग्रहणं प्रपञ्चार्थमेव । एवञ्च यथान्यासे नियमफलं चिन्त्यम् ।

क्रोष्टेति । अनङि “सर्वनामस्थाने च” इति दीर्घः । प्रथमोपस्थितत्वात् । क्रोष्टारावित्याद्यर्थन्तु तल्लेखः । यद्वा विशेषविहितत्वाच्छीघ्रोपस्थितिकत्वेन स एव न्याय्यः ।

त्रिभाषा तु । अयमपि नियम एव* । “तृतीयादावच्येवोभयम्” इति । तेन भ्यामादौ, शसि, क्रोष्टुपुत्र इत्यादौ च न दोषः । सर्वत्र विशिष्टाभावस्य सुलभत्वात्* । “तृज्वत्क्रोष्टुः” “स्त्रियाञ्च” इत्याभ्यां सर्वनामस्थाने

अन्येषामिति । इदं फलितार्थकथनम् । नियमशरीरं तु ‘उणादिव्युत्पन्नानां तृन्तृजन्तानां दीर्घो भवति चेन्नष्पादीनामेव’ इत्येव ।

अयमपि नियम एवेति । अपिरेवार्थे । लाघवादेकस्यैव सूत्रस्य नियामकत्वेन सिद्धे सूत्रत्रयस्य नियामकत्वेन गौरवात् । *विशिष्टाभावस्य सुलभत्वादिति* । न च क्रोष्टूनित्यादौ तुन्नन्ताभावप्रयुक्त एव विशिष्टाभावः कस्मान्न स्वीक्रियते । तथा च तुन्नन्तस्य प्रयोगो न स्यादिति वाच्यम् । “विभाषा तृतीयादिष्वचि” इति नियमेन तुन्नन्तविशिष्टतृजन्ताभा-

स्त्रियाश्च तृजन्तरूपविधानेन तयोः प्रयोगनियमार्थत्वं फलति । एतेन तृज्वत्सर्वनामस्थान एवेति नियमादिदं विद्वर्थमिति परास्तम् । न चैवमपि क्रोष्टृनित्याद्यसङ्गतम् । अन्यत्र तृजन्तस्यैव प्रयोगेणाप्युक्तनियमस्य चारितार्थ्यादिति वाच्यम् । तृज्वत्क्रोष्टुरिति योगविभागस्यैवं सति वैयर्थ्यार्पितेः । न च “तद्धितेष्वचामादेः” “इको गुणवृद्धी” इति सूत्रयोः क्रौष्ट्रः, क्रोष्ट्रीया इति भाष्यप्रयोगासङ्गतिरिति वाच्यम् । ऋकारान्तस्यैव ऋषिवाचकत्वेनादोषात् । इदं सूत्रत्रयन्तु शृगालवाचिक्रोष्टुक्रोष्टृशब्दयोर्व्यवस्थार्थमित्यवधेयम् । तदुक्तं भाष्ये—“तृज्वद्धावविषये ‘एतत् तृजन्तं शृगवाचि’ इति । तृतीयाद्यजादिविभक्तिषु तृजन्तं तु जन्तश्च शृगवाचि” इति च । अनेन हि अन्यत्र तु जन्तमेवेत्यपि सूचितमिति दिक् ।

ऋत उत् ॥ तपरत्वं भाव्यमानस्यापि कचित्सवर्णग्राहकताज्ञापनद्वाराऽऽन्तर्यतो द्विमात्रनिवृत्त्यर्थम् । तेनाम् *इत्यादिसिद्धिरिति छवोरिति सूत्रे कैयटः । यत्तु तपरत्वं “दूलोप” इति दीर्घवाधनार्थमिति; तन्न ।

वक्ष्यान्यत्र बोधने प्राधान्यादन्यत्र विशेष्याभावप्रयुक्तविशिष्टाभावकल्पनेनैवोपपत्तौ गौरवादुभयाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावकल्पनस्य, अप्राधान्याद्विशेषणाभावप्रयुक्तविशिष्टाभावकल्पनस्य चान्याय्यत्वात् सर्वनामस्थानं स्त्रीलिङ्गं तृतीयादिविभक्तिश्च विहायान्यत्र सर्वत्र विशेष्यतृजन्ताभावप्रयुक्तस्यैव तु जन्तविशिष्टतृजन्ताभावस्य कल्पनेनादोषात् । “स्त्रियां च” “तृज्वत् क्रोष्टुः” इति शास्त्रद्वयप्रामाण्यात्तद्विषये विशेषणतु जन्ताभावप्रयुक्त एव विशिष्टाभाव इति सर्वनामस्थाने स्त्रियां च तृजन्तमेव साधु, अन्यत्र तु जन्तमेव साध्विति विवेकः । एवं “पहन्” इति सूत्रेऽपि बोध्यम् । तेनापि सूत्रेण पादशब्दादिसमानाधिकरणपच्छब्दाद्यभावस्य शसादिव्यतिरिक्ते बोधने प्राधान्यात् पच्छब्दाद्यभावप्रयुक्त एव विशिष्टाभावो बोध्यते । तेन स्वादो न मदादयः प्रयुज्यन्ते किन्तु पादादय एवेति । एवं “विप्रतिषिद्धं चानाधिकरणवाचि” इति सूत्रेणापि इतरेतरयोगद्वन्द्वविशिष्टः समाहारद्वन्द्वः विरुद्धार्थवाचिनां चेद् अद्रव्यवाचिनामेवेति नियमेन विरुद्धार्थवाचिनां द्रव्यवाचिनां विशेष्यभूतसमाहारद्वन्द्वभावप्रयुक्त एव विशिष्टाभाव इति शीतोष्णे उदके स्त इत्यादौ इतरेतरयोगद्वन्द्वो भवत्येवेति दिक् ।

इत्यादिसिद्धिरिति । वस्तुतस्तु अन्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वं स्वीकृत्य “अदसोऽसे” इत्यत्र समाहारद्वन्द्वविदेशेनैवोपपत्तौ इयं परिभाषा विफलेति

“सुपत्रपातिता वाणा ज्वलिता इव पन्नगाः ।

नैर्ऋतोरस्यभासन्त सवितू रश्मयो यथा” ॥

इतिरामायणप्रयोगविरोधात् । “ऊरण् रपरः” इति सूत्रे ऽग्रहणाभावे ‘ऊ रपर’ इति भाष्यप्रयोगविरोधाच्च ।

सस्यैवेति । संयोगान्तलोपेन सिद्धे नियमार्थम् । तेनोर्गित्यादौ नेति भावः । *विपरीतनियमस्तु न, “पुमान् स्त्रियो” इति निर्देशात्* ।

“एरनेकाचः” इति सूत्रमेरितिपदरहितं सानुवृत्तावृत्तविशेषणं स-
वार्त्तिकश्चानुवर्त्तत इत्याह—धात्ववयवेत्यादि । गतीत्यादि च ।
सकृल्लवावित्यत्र क्रियाविशेषणत्वेन कर्मत्वाद्यण् ।

“न भूसुधियोः” इति निषेधे प्राप्ते आह—वर्षाभ्वश्चेति । “वर्षा-
भूर्देदुरे पुमान्” । स्वार्थिक इति । स्वस्याः प्रकृतेरर्थः स्वार्थस्तत्र
भव इत्यर्थे ऽध्यात्मादित्वावृज् । द्वारादिषु स्वग्रामस्वाध्याययोः पा-
ठेन स्वशब्दादेशेदेतयोरेवेति नियमार्थकेनैजागमो न* । पुनर्भूशब्दस्य रू-
ढस्य नित्यस्त्रीत्वादाह—यौगिक इति ।

इत्युदन्ताः ।

वर्णैकदेशानां वर्णग्रहणेनाग्रहणे रेफाभावादाह—ऋवर्णादिति । व्यु-
त्पत्तिपक्षे इति । अव्युत्पत्तिपक्षे ऽवादिष्वपाठादीर्घशङ्कैव नेति भावः । व्यु-
त्पत्तिपक्षे निरनुबन्धकतृप्त्ययान्ता एवेति “ण्वुल्लृचौ” इति भाष्यस्वरसः ।

इत्युदन्ताः ।

वैकल्पिकेति । “यत्तदेतेभ्यः” इत्यत्र त्यदाद्यत्वकरणादतिदेशस्य,
“क्षियः” इत्यादौ धात्वनुकरणे विभक्तिकरणेन वैकल्पिकत्वस्य च ज्ञा-
पनादिति भावः । अनुकरणस्यानुकार्यशब्दस्वरूपमात्रमर्थ इति प्राति-
पदिकत्वम् । अनुकार्यश्चानुकरणाद्भिन्नमेवेति “मतौ छः” इति सूत्रे भा-

परिभाषेन्दुशेखरे विस्तरः । *विपरीतनियम इति* । सस्य संयोगान्तलोपश्चेद्रे-
फात्परस्यैवेति विपरीतनियम इत्यर्थः । *निर्देशादिति* । न च “शरो शरि
सवर्णे” इति लोपेनेदं रूपं सिध्यतीति न निर्देशासङ्गतिरिति वाच्यम् । अस्या-
सिद्धत्वेन “नश्चाप्रदान्तस्य” इत्यनुस्वारापत्या निर्देशासिद्धेः । एतेन व्यञ्जना-
त्परस्यैकस्यानेकस्य बोद्धारणे वैलक्षण्याभावादिदमसङ्गतमित्यपास्तम् ।

पेजागमो नेति । न च—“सौवर्थः सप्तम्य” इति निर्देशासङ्गतिः,

प्ये स्पष्टम् । ईषदानुपूर्वव्यत्ययेऽपि वाचकसादृश्यादर्थोपस्थापकत्वमिति अत्र कैयटे, “प्राग्दीव्यतोऽण्” इत्यत्र भाष्ये च स्पष्टम् । अत एव ‘किर’ इत्यादितः कृधातुरिति बोधः । “भू सत्तायाम्” इत्यादौ त्वित एव निर्देशात्कदाचिदनुकरणाद्विभक्त्यभावोऽपि । स च सूत्रेष्वेवेति प्रामाणिकाः । गविययमाहेति वान्तस्यैवानुकरणम् । अनुकार्यस्वरूपभङ्गाभिया च न वलोपः* “झलां जश्” इत्यादौ जश्त्वाभाववदित्याहुः ।

इत्वे इति । “किरश्च पञ्चभ्य” इति निर्देशाद्धातुप्रत्ययेऽपि तत्प्रवृत्तिरिति भावः । कीरिति । कृधातुरित्यर्थः । गुणो नेति । “ऋत उत्” इत्युत्त्वमप्यत एव न । अत एव “प्रो यङि” इति सूत्रनिर्देशः सङ्गच्छते ।

इत्युदन्ताः ।

अनङिति । ऋलृवर्णयोः सावर्ण्यादिति भावः । गमृनिति । लृवर्णस्य दीर्घाभावाद्द्वर्ण एवेति भावः । ननु तुल्यास्यसूत्रे भाष्यकृता “ऋति ऋ वा” इत्यादिविधेययो रेफद्वयगर्भलृद्वयगर्भयोरन्वदीर्घत्वाङ्गीकारेणात्र द्विलकार ईषत्स्पृष्टो दुर्वारः । आमि च तथा धातृणामित्यत्र रेफद्वयगर्भोऽपीति चेन्न । “अकः सवर्णे” इति सूत्रे उक्तोत्तरत्वात्* । गम्लेति । यत्तु-लणसूत्रे “उरण् रपरः” इत्यत्र “अजिति वक्तव्येऽण्ग्रहणसामर्थ्येनाणपूर्वेणैव” इत्युक्तं भाष्ये, लृकारस्य यणि हि तत्र लपरत्वार्थं परेणाण्ग्रहणं स्यादिति सामर्थ्योक्तिरसङ्गता । ऋकारस्य यणितु “रो रि” इति लोपेन न विशेष इति । तन्न, ऋकारांशे हलरूपाऽणि रोरीति प्रवृत्त्या फलाभावेनाप्रवृत्त्या तत्साहचर्याद् लृकारांशेऽपि हलरूपाऽण्यप्रवृत्तिरित्याशयात् । वस्तुत ईदृशानामभिधाने दृढं मानं चिन्त्यम् ।

स्वशब्दादेश्चेत्स्वाध्यायस्वग्रामशब्दयोरेवेति नियमेनैवोऽप्राप्तेः । अत एव ‘अप्राकृतस्तु यः स्वारः’ इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते इति वाच्यम् । स्वरशब्दश्च सुपूर्वकक्रधातोरधि एकः, स्वशब्दपूर्वकराधातोः के एक इति द्विविधस्वरशब्दस्वीकारेणादोषात् । अत्र च “सौवर्ग्यः सप्तम्यः” “अप्राकृतस्तु यः स्वारः” इत्यादिनिर्देशा एव प्रमाणमिति दिक् ।

न वलोप इति । गवित्यस्य सादृश्यज्ञानाधीनोपस्थित्या ऽर्थबोधकत्वेऽपि शक्तिलक्षणान्यतरज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यार्थविषयकबोधजनकत्वरूपार्थवत्सुत्रोक्तार्थवत्त्वस्याभावेन प्रातिपदिकत्वाभावादिति भावः ।

उक्तोत्तरत्वादिति । ह्रस्वक्रकारद्वयस्थानिकस्यैवेषत्स्पृष्टक्रकारस्य ह्रस्वक्र-

सेरिति । इना सहेत्यर्थः । “वोपसर्जनस्य” इति सत्वम् । एकादेशस्य पूर्वान्तवच्चेऽपि लिङ्गाद्यन्वयर्थप्रतिपादकत्वात्* अव्ययमिति महासञ्ज्ञयाऽस्यानव्ययत्वान्न विभक्तिलुक् । सादेशात्पूर्वमाद्गुणस्तु न । “नेन्द्रस्य” इति ज्ञापकेन पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्थात्पूर्वमेकादेशाप्रवृत्तेः । न च “नान्तः पादम्” इति सूत्रस्थेन “न चैङः पदान्तात्परो ररस्ति” इति भाष्येण विरोधात्सावीदृशानां प्रयोगोऽनुचितः, सावपि पदत्वसत्त्वादिति वाच्यम् । योगविभागसिद्धस्य सौ पदत्वस्य काचित्कत्वेनादोषात् । सात्रप्रयोग एवेत्यन्ये । सय इति । न चास्यान्तर्वाचि विभक्त्या पदत्वाद् “एङः पदान्तात्” इत्यादि दुर्वारमिति वाच्यम् । भाष्ये “स्वादिषु” इति योगं विभज्य स्वादिषु पूर्वं पदमित्यर्थः । ततो “अ सर्वनामस्थाने यचि” । सुवन्तमिति अनुवर्तते । अ य-

कारह्रस्वलकारैतदुभयस्थानिकस्यैवेषत्स्फुटलकारस्य च साधुत्वस्योक्तत्वादिति भावः । *लिङ्गान्वयर्थप्रतिपादकत्वादिति । न चैवमव्ययीभावस्य “अव्ययीभावश्च” इत्यनेन नपुंसकत्वादव्ययीभावे तत्प्रयुक्तकार्यानुपपत्तिरिति वाच्यम् । विनापि घटिमब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याहेत्यादौ सादृश्यप्रतीतिदर्शनेनाव्ययीभावश्चेत्यनेनानपुंसकाव्ययीभावस्य नपुंसकत्वोक्त्या नपुंसकवदित्यतिदेशलाभेन तत्प्रयुक्तकार्यसिद्धेः ।

यजादौ सर्वनामस्थान इति । न च शम्भुरिवाऽऽचरति शम्भवति, परमकविरिवाचरति परमकवयति, लेढीति लिट् परमश्चासौ लिट् च परमलिट् तस्मादाचारकिबन्ताद्वनिपि परमलिङ्गा, द्रोग्धीति ध्रुक् परमश्चासौ ध्रुक् च परमध्रुक् तस्मादाचारकिबन्ताद् वनिपि परमदुह्येत्यादौ चारम्भपक्षे पूर्वरूपभत्वढत्वादिकं न भवति, प्रत्याख्यानपक्षे भवतीति फलभेद इति वाच्यम् । यजादौ सर्वनामस्थाने इत्यस्य सुभिन्नप्रत्ययमात्रस्योपलक्षणत्वात् । न चैवमपि परमवाग्भ्यामित्यादावपि पदसंज्ञानिषेधः स्यादिति वाच्यम् । यजादौ सर्वनामस्थान इत्यस्य हलादिस्वाद्यतिरिक्तप्रत्ययमात्रस्योपलक्षणत्वेनादोषात् । परमवाचामित्यादौ तु “भम्” इति विभक्तसूत्रेण यजादौ सर्वनामस्थाने परे पूर्वं भसंज्ञं, मध्ये चेत्युवन्तं तदपि भं भवतीति भसंज्ञया पदसंज्ञाया बाधाश्च न दोषः । न चारम्भपक्षे कार्यित्वनिवेशादुत्तरपदत्वे इति निषेधाप्रवृत्त्या अटतीत्यट् परमश्चासावद् च परमाद् तस्मादाचारकिबन्तात् “किञ्चकौ च संज्ञायाम्” इति किञ्चिप्रत्ययलक्षणेन पदत्वात् “न पदान्तात्” इति षटुत्वनिषेधेन परमादृतिरिति रूपं भवति, प्रत्याख्यानपक्षे च पूर्वोक्तदिशा पदसंज्ञानिषेधात् षटुत्वेन परमादृतिरिति रूपमिति फलभेद इति वाच्यम् । प्रत्याख्यानपरभाष्यप्रामाण्येन तस्यानभिधानात् ।

चीति प्रसज्यप्रतिषेधः । तेन *यजादौ सर्वनामस्थाने पूर्वं पदं न, मध्ये चे-
त्सुवन्तं तदपि पदं नेति व्याख्यानानादोषात् । आतिदेशिकस्याप्ययं
निषेध इति स्पष्टमेव । *“उत्तरपदत्वे चापदादिविधौ” इति प्रतिषेधाच्च । उ-
त्तरपदस्य तद्व्यतिरस्य वा पदत्वे कर्तव्ये ऽन्तर्वर्त्तिविभक्तेः प्रत्ययल-
क्षणं नेति तदर्थः । अतो न योगविभागमूलकप्रत्याख्यानान्न फलभे-
द इति केचित् ।

इतोदित्यतो ऽनुवृत्तं सर्वनामस्थाने इति प्रथमया विपरिणम्यते*
णिदित्यनेन सामानाधिकरण्यादित्याह—सर्वनामस्थानमिति । तत्र
णितः कार्यस्यासंभवात् णिति यत्कार्यं तदातिदिश्यते । शस्येति । अची-
त्यधिकारात्तद्धितशसो न ग्रहणमिति भावः । गामिति । परत्वादत्र
वृद्धिस्तु न । अनवकाशत्वेन आत्वस्यापवादत्वात् । तदाह—ओतो णि-
दिति । सूत्रे तपरकरणेन गस्याविवक्षितत्वमिति भावः । तेन चित्रगुरि-
त्यादौ न दोषः । अन्यथा ऽङ्गाधिकारे तदन्तविधेः सत्त्वेन
स्थानिवत्त्वेन गोऽन्तत्वादोषः स्यादेव । मम त्वोकारान्तत्वाभावादस्त्रिधौ
स्थानिवत्त्वाभावाच्च न दोषः । परे तु गोतो णिदिति सूत्रे भाष्ये

परे तु कार्यित्वनिवेशे न मानम् । आरम्भप्रत्याख्यानयोः फलभे-
देन पूर्वोक्तानां सर्वेषामेवानभिधानम् । यजादौ सर्वनामस्थान इत्यस्योपल-
क्षणतया व्याख्यानं त्वयुक्तमेव । परमवाचावित्याद्यर्थे भूमितियोगविभागेन
मध्यस्य सुवन्तस्य च संज्ञाविधानस्यानर्थक्यापत्तेः । यजादौ सर्वनामस्थान-
इत्यस्य हलादिस्वाद्यतिरिक्तप्रत्ययमात्रस्य भवन्मते उपलक्षणत्वेन पदसंज्ञा-
निषेधेनैवोपपत्तेरित्याहुः ।

उत्तरपदत्वे इति । उत्तरपदत्वं च यद्व्यत्यारम्भकसुबन्निमित्तिका
पदसंज्ञा चिकीर्षिता तद्वृत्तिविशिष्टत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वघटकार्थवद्व्य-
वहितपूर्वत्वाभाववत्त्व-स्वघटकत्वैतदुभयसम्बन्धेन । तेन अत्रयः भृगवः बहु-
पटवः परमवाचा परमलोमिशयः पूर्वदण्डिप्रियः पञ्चगवधन इत्यादौ
कुत्रापि न दोष इत्यन्यत्र विस्तरः ।

प्रथमया विपरिणम्यत इति । वस्तुनस्तु-विभक्तेः विपरिणामम-
कृत्वा णिदित्यत्र कर्मधारयं स्वीकृत्य गोशब्दाङ्गाव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टसर्वना-
मस्थाने इत्संज्ञकणकारो भवतीत्यर्थेन सामञ्जस्यात् न विभक्तिविपरिणामः न च गो
तो वृद्धिरित्येव सिद्धे णित्वकरणं व्यर्थमिति ब्रूयम् । “णलुत्तमो वा” इत्यत्र
“णल्युत्तमे” इति वक्तव्यतया तत्रेकपरिभाषोपस्थित्या चलादेत्यादौ वृद्ध्यापत्तेः ।
एवं गाङ्गुटादिसूत्रेण उत्तमणलो ङित्वाप्राप्त्या चुकुट चुकोटेतिरूपद्वयासिद्धेश्च ।

तपरत्वं प्रत्याख्यातम् । चित्रगुरित्यादौ तु न दोषः । गोः पूर्व-
त्वणित्वात्वस्वरेषु स्थानिवत्त्वप्रतिषेधात् । हे चित्रगो इत्यादौ तु ला-
क्षणिकत्वाच्च दोष इति अत्रैव सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । “द्योः सर्वना-
मस्थाने णित्वं वक्तव्यम्” इति “औतो ऽम्” इत्यत्र भाष्ये उक्तमित्याहुः ।
सुद्यौरिति । केवलद्योशब्दस्य स्त्रीत्वाद् बहुव्रीहिरुदाहृतः ।

विहितमिति । यदि तु वर्णग्रहणेऽपि प्रतिपदोक्तपरिभाषा
प्रवर्तते तदा व्यर्थोऽयं यत्नः* ।

स्मृतौरिति । स्मृत उर्येनेत्यर्थः । यत्तु एषामभिधाने “अयवायावा-
दिष्वेकादेश उदात्तेनोदात्त इत्यस्य सिद्धत्वं वक्तव्यं तत्स्थानिकायादीना-
मस्वरितत्वाय” इति वार्तिकव्याख्यावसरे “अवादेशे नास्युदाहरणम्” इति
“स्वरितो वा” इति सूत्रस्थ भाष्यविरोधः । प्रकृते पूर्वपदप्रकृतिस्वरेण स्मृत-
स्यान्तोदात्तत्वे शेषनिघातेन उशब्दस्यानुदात्तत्वाच्चेकादेशस्य “एकादेश
उदात्तेन” इत्युदात्तत्वे स्मृतवेत्यादौ तदुदाहरणसम्भवादिति । तन्न; तृती-
यादिष्वनभिधानेऽपि अन्यत्र तत्सत्त्वे बाधकाभावात् । न च गोत इति
सूत्रे “द्योश्च वृद्धिर्वक्तव्या” इति वार्तिके द्योशब्दस्यैवोपादानादन्यौका-
रान्ताभाव इति वाच्यम् । उपलक्षणतया व्याख्यानेनादोषात् । परे
तु ईदृशानामनभिधानेऽपि न क्षतिरित्याहुः ।

रायो हलि ॥ अष्टन आ इत्यत आ विभक्तावित्यनुवर्तते ।

इत्यजन्ताः* पुल्लिङ्गाः ॥

रमेति । रमयतेः पचाद्यच्,* टाप् । एकादेशस्य पूर्वान्तवत्त्वेन*

व्यर्थोऽयं यत्न इति । वस्तुतस्तु लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा
वर्णग्रहणे न प्रवर्तत इति परिभाषेन्दुटिप्पणे विस्तरेणाभिहितमिति तत
एवावधारणीयम् । *अजन्ता इति* । अत्र कुत्वं न्याय्यम् । अन्ये तु
“अल्पाच्त्तरम्” इति निर्देशादादिरन्त्येनेतिसुत्रबोधितसंज्ञासु हल्सन्धिकार्यं न
प्रवर्तत इति प्रकृते कुत्वं नाशङ्कनीयमित्याद्यच्सन्धौ निरूपितम् ।

इत्यजन्ताः पुँलिङ्गाः ।

पचाद्यजिति । नच “घञजपः पुंसि” इति पुंस्त्वापत्तिरिति
वाच्यम् । तत्र सूत्रे भावे इत्यनुवृत्त्या भावार्थकतदन्तानामेव पुंस्त्वविधानेन
कर्त्रर्थकाऽजन्ते तदप्राप्तेः । अत एव ‘सम्बन्धमनुवर्तिष्यते’ ‘शेषं पुंवत्’
इत्यादौ पुंस्त्वङ्गीबत्वोक्तिः सङ्गच्छते । *पूर्वान्तवत्त्वेनेति* । लिङ्गविशि-

प्रातिपदिकत्वात्स्वादयः । *वाचेत्यादौ तु लिङ्गविशिष्टपरिभाषया तत्त्वात्ते ।

आप इति पञ्चम्यन्तेन सामानाधिकरण्यादङ्गस्येति पञ्चम्या विपरिणम्यते, विशेषणेन तदन्तविधिरित्याह*—आबन्तादिति । “जसः शी” इत्यतः शीति वर्त्तते । रमे इति । यस्येति लोपो न, अभत्वात् ।

सम्बुद्धौ च ॥ “बहुवचने झलि” इत्यत एदिति, “आङि चापः” इत्यत आप इति चानुवर्त्तते । एङ्हस्वादिति । सम्बुद्धौ प्रतिपदोक्तत्वेन* शीघ्रोपस्थितिकतया हल्ङ्यादिलोपात् प्रथममेत्वे ऽनेन सम्बुद्धिलोप इति भावः । सन्निपातपरिभाषा त्वनित्यत्वान्नात्र प्रवर्त्तते ।

आङि चा ॥ चेन प्रकृतम्—“ओसि” इति परामृश्यते । “घेङिति” इत्यतोऽनुवृत्तं ङितीति—आप इति पञ्चम्या षष्ठ्या विपरिणम्यते इत्याशयेनाह—ङिङ्गचनस्येति ॥

सर्वनाम्नः स्या ॥ आबन्तात्परस्य *सर्वनाम्नो विहितस्येत्यर्थः । तेन मासपूर्वायै इति सिद्धम् । अत्र ह्रस्वो न स्याटः, तस्य विधेयत्वेनोद्देश्यत्वासम्भवात् । नापि ङिङ्गचनस्य, व्याख्यानात् । अत आपो ह्रस्व इत्याह—आपश्चेति । आबन्तस्य गणे पाठाभावेन सर्वनामत्वाभावादाह—एकादेशस्येति । ग्रहणादिति । सर्वनामशब्देनेत्यर्थः । न चैवमप्याबन्तत्वाभावः एकादेशनिष्पन्नस्यापत्वाभावात्, अत एव खट्वेत्यादौ परादिवद्भावेनाप्यमाश्रित्या-

ष्टपरिभाषाप्रवृत्तौ स्त्रीत्वावच्छिन्नबोधकप्रत्ययविशिष्टत्वज्ञानायान्तवत्सूत्रप्रवृत्तेरावश्यकतया तेनैव निर्वाहे तेनाप्यमादाय तत्त्वाश्रयणे गौरवमिति भावः । *वाचेत्यादाविति* । वस्तुतस्तु अस्य भागुरिमते सत्त्वेऽपि ‘एकादेशानपहृतटापोऽसम्भवः’ इति भाष्यप्रामाण्येन हलन्तेभ्यः टाबभावस्यैव लाभेन भाष्यमतेऽसत्त्वात् बहुदामा, अनङ्गुही इत्यादौ तत्परिभाषाया आवश्यकत्वमिति बोध्यम् ।

इत्याहेति । वस्तुतस्तु स्वङ्गसंज्ञानिमित्तस्याबन्ततदाद्यव्यवहितोत्तरत्वविशिष्टस्यैङः शी स्यादित्येवार्थः ।

प्रतिपदोक्तत्वेनेति । तदप्राप्तियोग्ये ऽचारितार्थ्यरूपबाधबीजस्य “सम्बुद्धौ च” इत्यत्र सत्त्वादिति भावः । एतद्ग्रन्थलापनायैवैतद्बाधबीजकथनम् । वस्तुतस्तु सत्त्वेतद्बाधबीजाकथनेऽपि हल्ङ्याविति लोपे प्रत्ययलक्षणेनैतदप्रवृत्तौ बाधकाभावाच्च दोष इति परिभाषेन्दुटिप्पणे विस्तरः ।

सर्वनाम्नो विहितस्येति । वस्तुतस्तु आबन्ताङ्गाभिन्नं यत्सर्वनाम ततः

वन्तादिति सोल्लोप उक्तः, परादिवद्भावेन तत्त्वं तु न लभ्यम्, उभयत आश्रयणेऽन्तादिवन्ताभावादिति वाच्यम् । उभयत आश्रयणे तदभावस्य भाष्ये एकदेश्युक्तत्वे ऽपि सिद्धान्तिसंमतत्वाभावात् । एतच्च तिङन्ते इण्धातौ वक्ष्यामः ।

परे तु लिङ्गविशिष्टपरिभाषया ऽऽवन्तस्य सर्वनामत्वम् । आवन्तत्वन्तु परादिवद्भावेनेत्याहुः । सर्वस्यामिति । इह परत्वात्स्याटि कृते *सकृद्भूतिन्यायात्सुण ।

प्रतिपदोक्तस्येति । दिक्शब्दमुच्चार्य विहितत्वादस्य तत्त्वं । योत्तरेति “अनेकमन्यपदार्थे” इति बहुव्रीहिः । “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे” इतिमात्रग्रहणात्सम्प्रत्यसर्वनामत्वेऽपि पुंवच्चम् । योत्तरेति । यत्तच्छब्दाभ्यामुद्देश्यविधेयत्वप्रतीत्या योत्तरात्वप्रकारकज्ञानविशेष्या सा प्रसिद्धपूर्वा यस्या इत्यर्थेनोत्तरापदस्य गुणवाचकत्वात्पूर्वनिपात इत्यन्यत्र विस्तरः* । स्पष्टार्थमिति । ‘दिङ्नामानि’ इत्यस्य बहुव्रीह्यधिकारे सत्त्वादिति भावः । अन्तरायै नगर्यै इति । अपुरीत्यस्य पूःशब्दार्थस्य विशेष्यत्वे इसर्थ* इति भावः । अत्र मानमन्वेष्यम्* ।

हे अम्बेति । ह्रस्वे कृते “सम्बुद्धौ च” इत्येत्वं न । आ-आविति प्रश्लेषात् । व्यसरं यदीति पठित्वा व्यच्चाम्बार्थकस्यैव ह्रस्व इति नियममाश्रित्य ‘डलकवतां ह्रस्वो न’ इत्यस्य भाष्ये प्रत्या-

परस्य छितः स्याद् स्यादापञ्च ह्रस्व इत्युच्यमानेऽपि मासपूर्वायै इत्यादौ दोषाभावाद्धिहितविशेषणे गौरवात्, तस्मादिति परिभाषायां जागरूकायां दिग्योगलक्षणपञ्चम्यन्तं विहायान्यथा कल्पनायां मानाभावाच्च चिन्त्यमिदम् । *सकृद्भूतिन्यायादिति* । निरनुबन्धकपरिभाषया “आमि सर्वनाम्नः” इत्यत्रत्याम्पदेन स्थानिवद्भावेन छित्वात्तस्यामोऽग्रहणात्सुङ् न भवतीत्यपि बोध्यम् । एवं रमायां, बहुश्रेयस्यामित्यादावपि जुङ् नेति बोध्यम् । एवं च ‘नद्याम्’ इत्यत्र “आणनद्या” इत्यनेनाडभावेऽपि न दोषः । निरनुबन्धकपरिभाषयैवास्याप्यामः स्थानिवद्भावेन छित्वात्तत्रत्याम्पदेनाग्रहणेन नुटोऽप्राप्त्या लक्ष्यसिद्धेः ।

अन्यत्र विस्तर इति । शब्दरत्न इत्यर्थः । *विशेष्यत्व इत्यर्थ इति* । पूःशब्दार्थनिष्ठविशेष्यताप्रयोजकत्व इत्यर्थः । *अत्र मानमन्वेष्यमिति* । के चित्तु अपुरीत्यस्याष्टाध्यायीस्थान्तरंबहिर्योगेति सूत्रे पाठे करणीये गणसूत्रपाठकरणमेव मानमित्याहुः । पुरीशब्दस्य विशेष्यताप्रयोजकत्वे सर्वनामसंज्ञा न भवतीत्येवार्थो लाघवाद् इत्यन्तरस्यां नगर्यामि-

ख्यानात्फलाभेदाय* सामान्यतोऽपि वार्तिकमसंयुक्तविषयमित्याशयेनाह-
असंयुक्ता इति । अक्षरं यदीत्यस्याङ्गत्वाद् अक्षराम्बार्थकाङ्गस्य ह्रस्व इति
नियमशरीराज्जगदम्बेत्यादौ *ह्रस्वो भवत्येव ।

यद्यपि जरसादेशस्येति । एवञ्चैत्वशीनुड्याडामां निसत्वा-
पूर्वमेषु क चिदजादित्वाभावात्क्वचित्सन्निपातपरिभाषया जरसो ऽनाप-
त्तिरिति भावः* । यद्यपि याडामोर्जरसपेक्षया परत्वात् तयोः*
कृतयोराद्ये ऽजादित्वविघातादन्त्ये सन्निपातपरिभाषया न जरसः प्राप्तिः,
एवमेत्वेऽपि; तथापि तत्र प्रश्लेषफलं दर्शयितुमाह-एवमिति । अत्र
यद्वक्तव्यन्तर्निर्जरशब्दे उक्तम्* ।

स्वाश्रयमिति । स्वं श्रूयमाण आकारः । स्थानिवद्भावेना-
प्त्वमिति । न च ड्याव्ग्रहणे ऽदीर्घ आदेशो न स्थानि-
वदिति ह्रस्वे आप्त्यस्य विच्छेदात्कथं दीर्घे स्थानिवत्त्वेन तल्ला-
भः । ड्याप्स्थानिको दीर्घभिन्न आदेशो न स्थानिवदिति तदर्थ इति
वाच्यम् । “याडापः” “औड आपः” “आडि चापः” “ङेरास्नद्याब्”
“हल्ड्याब्”, इत्येतेष्वकारप्रश्लेषमाश्रित्य स्थानिवत्त्वनिषेधप्रत्याख्या-

त्यादौ स्याद् भवत्येवेति भावः ।

फलाभेदायेति । अक्षरं यदीतिप्रत्याख्यानपक्षे ‘हे अक्क’इत्यादौ
ह्रस्वः प्राप्नोति, ‘डलकवतां ह्रस्वो न’इति वार्तिकमते ह्रस्वो न प्राप्नोतीति
फलभेदवारणायासंयुक्ता इति वक्तव्यमिति भावः । *ह्रस्वो भवत्येवेति* ।
न चादन्तत्वाद्वाप्स्यादिति वाच्यम् । ह्रस्वस्य बहिरङ्गासिद्धत्वेन टापोऽप्राप्तेः ।
सन्निपातपरिभाषया टापः प्राप्यभावाच्च ।

इति भाव इति । वस्तुतस्तु क्वचित्परत्वात्क्वचित्पूर्वविप्रतिषेधेन
पूर्वमेव जरसिति एत्वशीनुड्याडामां वारणाय “सम्बुद्धौ च” “औड आपः”
“ह्रस्वनद्यापः” “याडापः” “ङेराम्” इत्यादिषु सर्वत्राऽऽकारप्रश्लेष आवश्यकः ।
यथा च पूर्वं जरस् तथा निर्जरशब्दे एवावोचाम । *परत्वात्तयोरिति ।
चिन्त्यमिदम्, पूर्वविप्रतिषेधेन जरसेव पूर्वं भवतीति “जरसो ऽवकाशः
जरसा जरसे” इति ‘जराया’ इतिसूत्रभाष्यतो लाभात् । *निर्जरशब्दे
उक्तमिति* । यदत्र वक्तव्यं तदस्माभिरपि तत्रैवोक्तमिति बोध्यम् । न च
जरसि कृते स्थानिवद्भावेनाऽऽवन्तत्वेऽपि निर्दिश्यमानाऽऽपो ऽभावादेत्वं नैव
प्राप्नोतीति तत्राऽऽकारप्रश्लेषो व्यर्थ इति वाच्यम् । प्राचीनमते निर्दे-
श्यमानपरिभाषाया वर्णग्रहणे ऽप्रवृत्तेरित्याशयात् । वस्तुतस्तु हे अतिखट्वेत्या-
दावेत्ववारणाय तत्र प्रश्लेष आवश्यक एवेति बोध्यम् ।

तृभाष्यनये शङ्कासत्त्वेनादोषात् । अत्र यत्रोदाहरणे सूत्रभाष्यवा-
र्त्तिकानां फलभेद आपतति तेषामनभिधानम् । यथा अतिखट्वस्य अः
अतिखट्वा इत्यादेः । वक्ष्यमाणरीत्या दीर्घात्पूर्वं फलाभावेन स्थानिव-
त्त्वाऽप्रवृत्तौ फलभेदस्यैवाभावाच्च* ।

यच्चाकारान्तरं प्रश्लिष्याकाररूप एव यो न कदाचिद्रूपान्तरं
प्राप्त इत्यर्थ इति । तन्न; मानाभावात् । भाष्ये तस्यानुक्तेश्च ।
आबन्तं यदङ्गमिति* । “प्रत्ययग्रहणे” इति परिभाषया ऽति-
खट्वस्य *नाबन्तत्वं, यच्चाबन्तं* खट्वेति, न तदङ्गमिति भावः ।
न चानया ऽऽबन्तग्रहणे तेनाङ्गविशेषणादाबन्तान्तं *यदङ्गमित्यर्थादति-
खट्वापेत्यादौ दोषस्तदवस्थ इति वाच्यम् । अङ्गस्य विशेषणत्वात् ।
एतेन श्रुतमाकारमादाय स्मृतमनुबन्धमादाय आप्तवानुसन्धानात्स्यादेव
यादित्यपास्तम् । तस्य लाक्षणिकत्वाच्च ।

ननु स्त्रीप्रत्यये वाचनिकस्तदादिविधिनिषेधो भाष्ये पठितस्त-
त्कथमस्य तत्र प्राप्तिरत आह-उपसर्जनेति । “स्त्रीप्रत्यये चानुपस-
र्जनेन” इति वचनस्यैव भाष्ये पाठादिति भावः । अत्रोपसर्जनत्वं
लौकिकमेव* । स्त्रीप्रत्यये शास्त्रीयोपसर्जनत्वासम्भवात् । यद्यपि स्त्री-
प्रत्ययान्ते शास्त्रीयोपसर्जनत्वमस्ति तथापि न तेन ‘प्रत्ययग्रहणे’ इति
तदादिनियमप्रसक्तिः । एतत्सर्वं व्याख्यादशार्धनुरोधेन ।

परे त्वस्याकारस्य लाक्षणिकत्वान्नात्र याद् । वर्णग्रहणेऽपि तत्प्र-
वृत्तेः “ओत्” इत्यादौ भाष्ये स्पष्टमुक्तत्वात् । न च खट्वायै इत्यत्र याडना-
पत्तिः, सूत्रन्तु *निशायै इत्यादौ चरितार्थमिति वाच्यम् । यस्य रूप-

फलभेदस्यैवाभावाच्चेति । वस्तुतस्तु “धात्वन्तयकोस्तु नित्यम्,
सुनयिका, सुपाकिका” इत्यादौ प्रथमस्थानिवद्भास्य फलाभावाद् अप्रवृत्तौ द्वि-
वारं स्थानिवत्त्वमन्तरा धात्वन्तयकारासम्भवेन तदसङ्गत्यापत्त्या चिन्त्यमिदम् ।

आबन्तं यदङ्गमितीति । आबन्ततदाद्यमिन्नं यदङ्गमित्यर्थः ।
नाबन्तत्वमिति । नाबन्ततदादित्वमित्यर्थः । *यच्चाबन्तामिति* ।
यच्चाबन्ततदादीत्यर्थः ।

लौकिकमेवेति । शास्त्रीयोपसर्जनत्वसमानाधिकरणं लौकिकमेवो-
पसर्जनत्वमित्यर्थः । तेनैकदेशिसमासप्रकरणतत्प्रत्याख्यानयोर्न फलभेद इत्य-
न्यत्र विस्तरः । *निशायै इत्यादाविति* । इदमुपलक्षणं बहुदामायै इत्यस्य ।

स्य लक्षणप्रवृत्तिं विना न सम्भवस्तस्यैव लाक्षणिकस्य तत्परिभाषा-
विषयत्वात् । न चेह तथा । एकादेशतः प्रागपि तद्रूपसत्त्वात् । पदा-
ङ्गाधिकारे इति वार्तिकेनाङ्गस्य विशेष्यताया एवौचित्यबोधनाच्च । अत
एवावन्तान्तं* यदङ्गमित्यर्थाभिप्रायेणातिखट्वायेत्येतत्सिद्धये ऽतिखट्वा-
ए इति स्थिते प्रवृत्तं “ङ्याबुग्रहणे ऽदीर्घ” इति वार्तिकं व्याख्याय श्रु-
ताकारस्मृतानुबन्धाभ्यामाप्त्वेनाशङ्कां कृत्वा लाक्षणिकत्वेन समाधायका-
रप्रश्लेषेण तत्प्रत्याख्याने एतत्परिहारायोपायान्तराकथनं भाष्ये ।

किं च अङ्गस्य विशेषणत्वे वार्तिकस्य तत्प्रत्याख्यानायाऽऽकारप्रश्ले-
षस्य च वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । किं च खट्वाया अर्द्धे ऽर्द्धखट्वायामित्यादौ
याडनापत्तिः । किं चाऽऽकारप्रश्लेषपक्षे ऽपि दीर्घोत्तरं स्वाश्रयाकारत्वं
स्थानिवद्भावेनाप्त्वमिति शङ्का ऽयुक्तैव । दीर्घात्पूर्वं स्थानिवत्त्वस्य फला-
भावादप्रवृत्तौ स्थानिन्याप्त्वबुद्धेरभावात्तदादेशे दीर्घे तदारोपस्य दुर्लभ-
त्वात् । परंपरया कार्यमादाय स्थानिवत्त्वप्रवृत्तौ मानाभावात् । “या-
डापः” इति सूत्रे भाष्ये ऽपि “अतिखट्वायेत्यत्र स्थानिवत्त्वात् प्राप्तस्य
याटः प्रतिषेधो वक्तव्यः, न वक्तव्यो ङ्याबुग्रहणे ऽदीर्घ इति स्थानिव-
त्त्वनिषेधात् । न च दीर्घत्वे आवसौ भूतपूर्वं इति याट् प्राप्नोति । ला-
क्षणिकत्वात् । स्थानिवत्त्वे तु तत्सामर्थ्यान्नैतत्परिभाषाप्रवृत्तिः” इत्युक्तम् ।
यद्यपि स्थानिवत्सूत्रयाडापसूत्रस्थभाष्याभ्यां हल्ङ्याप्सूत्रयाडापसूत्रयो-
रेव प्रश्लेषो लभ्यते, तथापि भाष्यमुपलक्षणमितरसूत्रविषयोदाहरणानभि-
धानं वेत्यनयोर्युक्तं सुधीभिर्विचार्यमित्याहुः* ।

निश्धातोरिगुपधलक्षणे के टापि खट्वाशब्दतुल्ययोगक्षेमत्वात् । *आवन्तान्तं
यदङ्गमिति । आवन्ततदाद्यन्ताभिन्नं यदङ्गमित्यर्थः ।

इत्याहुरिति । परे तु हे अतिखट्वा, अतिखट्वेन, अ-
तिखट्वाय, अतिखट्वयोः, अतिखट्वानाम् इत्यादौ, विभक्तिनिमित्तकका-
र्यात्पूर्वमेव जरस् भवतीति निर्जरशब्दे परेत्वित्यादिना सिद्धान्तितत्वेन
जरसा, जरसे, जरसः, जरसोः, जरसामित्यादौ च तत्तद्विधिवारणाय
“सम्बुद्धौ च” “आङि चापः” “याडापः” “ङेराम्” इत्यत्राऽऽकारप्रश्लेष
आवश्यकः । अतिखट्वायेत्यादावाकारप्रश्लेषेऽपि याड्वारणाय स्त्रीप्रत्यये
चेति परिभाषया उपसर्जनवाक्ये तदादिनियमसत्त्वेनावन्ततदाद्यभिन्नं यदङ्गं
ततः परस्य ङितो याडित्यवश्यं “याडापः” इत्यस्यार्थो वक्तव्यः । न

चातिखट्वायेत्यादावाकारस्य लाक्षणिकत्वाच्च याडिति वाच्यम् । वर्णग्रहणे फलाभावेनयं परिभाषा न प्रवर्तत इति सिद्धान्तात्तत्परिभाषाया अप्रवृत्तेः । न च ओत्सूत्रे भाष्ये 'अदो ऽभवत्' इत्यादौ प्रगृह्यसंज्ञामाशङ्क्य लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया वारणपरभाष्यविरोधो वर्णग्रहणे एतदप्रवृत्ताविति वाच्यम् । तस्य भाष्यस्यैकदेशयुक्तित्वेनादोषात् । अन्यथा गोऽभवदित्यादौ दोषवारणायैतदग्रे एव गौणमुख्यन्यायस्य प्रवर्तितत्वात्तेनैवात्रापि दोषवारणे एतद्भाष्यासङ्गतिः स्यात् ।

खट्वायै इत्यादौ याहुपपत्तये यस्य रूपस्य लक्षणप्रवृत्तिं विना न सम्भवस्तस्यैव लाक्षणिकस्यैतत्परिभाषाविषयत्वमिति वारणापेक्षया वर्णग्रहणे एतदप्रवृत्तरेव युक्तत्वात् । न च 'पदाज्ञाधिकारः' इतिपरिभाषया आवन्तं यत्तदादि तदन्तं यदङ्गं तस्मात्परस्य डितो याडित्यर्थेनातिखट्वायेत्यादौ पुनरपि दोषो दुरुद्धर एवेति वाच्यम् । यत्र धर्मी सिद्धस्तत्र प्रत्ययग्रहणपरिभाषया अदग्धदहनन्यायेन तदादित्वरूपधर्ममात्रोपस्थित्या आवन्तं यदङ्गम् आव् यस्माद्विहितस्तदादित्वविशिष्टं तस्मात्परस्य डितो याडित्यर्थेनादोषात् ।

नच खट्वेव मनुष्यः खट्वा बहूनां खट्वा बहुखट्वा तस्यै बहुखट्वायै इत्यादावावन्ततदादित्वाभावादुपसर्जनवाक्येन याङ् न स्यात्, स्वान्तपर्याप्तशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठाविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठावच्छेदकताप्रयोजकत्वरूपोपसर्जनत्वस्य प्रकृते सत्त्वादनुपसर्जनवाक्येनापि न स्यादिति वाच्यम् । स्वान्ततदाद्यवाधिकपूर्वत्ववत्पदपर्याप्तप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यतान्विशेष्यतानिरूपितप्रकारतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठावच्छेदकताप्रयोजकत्वमुपसर्जनत्वमितिकल्पे वाक्यभेदाभावेऽपि याट्सिद्धेः ।

न च द्विवारं स्थानिवत्त्वप्रवृत्तौ प्रमाणाभावात्प्रकृते आप्तवमेव नेति वाच्यम् । धात्वन्तयकोस्तु नित्यं सुनयिका सुपाकिकेत्यादौ द्विवारं स्थानिवत्त्वप्रवृत्तिमन्तरा यकारे धात्वन्तत्वासम्भवेन द्विवारं स्थानिवद्भावस्य दर्शनात् । न चावन्तं यत्तदादि तदन्तं यदङ्गमित्यभिप्रायेणातिखट्वादौ दोषवारणाय प्रवृत्तम् "ङ्याव्ग्रहणेऽदीर्घः" इति वार्त्तिकं व्याख्याय श्रुताकारस्मृतानुबन्धाभ्यामाप्तवेन शङ्कां कृत्वा लाक्षणिकत्वेन समाध्याकारप्रश्लेषेण तत्प्रत्याख्यानकल्पे एतत्परिहारायोपायान्तरं भाष्ये नोक्तमिति वर्णग्रहणे इयं परिभाषा प्रवर्तते इति कल्प्यत इति वाच्यम् । उपायान्तराकथनमात्रेणैतत्कल्पनायाः कर्तुमशक्यत्वात् । "स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन" इतिपरिभाषया दोषवारणेन तत्कथने फलाभावाच्च ।

न च खट्वाया अर्धमर्धखट्वा तस्यामर्धखट्वायामित्यादौ याण् न स्यान्निरुक्तोपसर्जनत्वस्य सत्त्वेनावन्ततदादित्वाभावादिति वाच्यम् । स्त्रीप्रत्यये चेतिपरिभाषायां शास्त्रीयोपसर्जनत्वसमानाधिकरणलौकिकोपसर्जनत्वं स्वीक्रियते इति "एकविमक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्" इतिवचनेन शास्त्रीयोपसर्जनत्वाभावात्तदादिनियमाभावेनादोषात् । अत एवैकदेशिसमासत-

ब्रश्च । अत्र राजिसाहचर्याद् भ्राजिः फणादिरेव* । तेनान्यस्य विभ्रागित्येवाहुः । छशौ वर्णौ ताभ्यां शब्दरूपं विशेष्यमादाय तदन्तग्रहणमित्याह-छशान्तयोरिति । छशयोरित्युक्तेऽपि न क्षतिरिति चिन्त्यम् । पदस्येति तु पृष्ठमित्यादिसिद्धये व्यधिकरणमेव । अन्तादेश इति । अलोऽन्त्यस्येति वचनात् । अत्र “झलो, झलि” इत्यतो झलीति, पदस्येति, “स्कोः” इत्यतो ऽन्ते इति चानुवर्तते । “छ्वोः शृङ्” इत्यत्र कङ्ठितीत्यनुवृत्तेः प्रष्टेत्पादौ शादेशाभावाद् अशान्तत्वेन षत्वाप्राप्तौ छग्रहणम् । अत्रापि सतुङ्निर्देशो बोद्धव्यः । तस्यासिद्धत्वादिति । “चयो द्वितीया” इत्यस्य “नादिन्या” इति सूत्रे भाष्ये पाठादिति भावः । टनयोरिति । धुडभावे

त्प्रत्याख्यानयोर्न फलभेदः । न च स्थानिवत्सूत्रस्थयाडापइतिसूत्रस्थभाष्याभ्यां हल्ङ्याप्सूत्रस्थयाडापइतिसूत्रस्थभाष्याभ्यां च तयोरैवाऽऽकारप्रश्लेषो लभ्यत इति कथं सर्वत्राऽऽकारप्रश्लेष इति वाच्यम् । जरसा, जरसे, जरसोः, जरसामित्यादौ दोषवारणाय प्रश्लेषस्यावश्यकत्वेन प्रकृतभाष्ययोरुपलक्षणतया व्याख्येयत्वात् । केवलं सम्बुद्धौ चेत्यत्राकारप्रश्लेषस्य फलं चिन्त्यम् । हे अतिखट्वेत्यादौ स्त्रीप्रत्यये चेति परिभाषया ऽऽबन्ततदादित्वस्याभावाच्चिदिश्यमानपरिभाषया वा निर्दिश्यमानस्यापोऽभावेनैव तस्याप्रवृत्तेः । न च गङ्गायमुने इत्यादौ “औङ आपः” इति न प्राप्नोतीति दोषः । प्रकृते नवीनमते समुदायविशेष्यकबोधेन स्त्रीप्रत्ययस्योपसर्जनत्वादाबन्ततदादित्वाभावादिति वाच्यम् । गोस्त्रियोरितिसूत्रे ऽत्र ह्रस्ववारणाय कृतस्य “द्वन्द्वे न” इति वार्तिकस्य स्त्रीप्रत्यये इत्यादिनिषेधेऽपि तात्पर्यमित्यदोषात् । विशेष्यान्तरसत्त्वेऽपि अनुत्तरपदस्येति ज्ञापकात् कचित्तदादीति धर्म्युपतिष्ठते इति कल्पनेन तदन्तविधिद्वयेनादोषाद्वेति सुधियो विभावयन्तु ॥

फणादिरेवेति । अर्थवद्ग्रहणपरिभाषया राजृ दीप्तावित्यस्यैव ग्रहणे तत्साहचर्याद्भ्राजिरपि फणादिरेव गृह्यत इति भावः । न च फणादिभ्राजधातुर्नैवास्ति । अन्यथा फणादेर्भ्रैजतुरफणादेशश्च बभ्राजतुरितिरूपद्वयसिद्धेरफणादेशाकारानुबन्धकरणेनाविभ्रजत् फणादेशश्च ऋदित्वेन “नाग्लोपि” इति निषेधादवभ्राजदितिरूपद्वयसिद्धेश्च “भ्राजभास” इति सूत्रे भ्राजिग्रहणमनर्थकं स्यादिति वाच्यम् । पेक्षुर्भ्रैजुर्यस्मिन्कर्मणि इति विग्रहे “आख्यातमाख्यातेन” इति समासे णिचि, टिलोपे चङि च अपेक्षुर्भ्रैज् इ अत् इति स्थिते ह्रस्वविकल्पाय भ्राजभासेतिसूत्रे भ्राजिग्रहणस्यावश्यकत्वात् । यत्तु फणादौ भ्राजृ इति, अन्यत्र भ्राजेतिपाठेन ब्रश्चेतिसूत्रे च- राजृ इति पाठेन विभ्राद् विभ्रागिति रूपद्वयसिद्धौ भ्राजेः पुनः पाठो ऽर्थवद्ग्रहणपरिभाषाज्ञापक इति; तन्न । विभ्राज्शब्दात् ण्यन्तात् किपि टिलोपे विभ्र् इति स्थिते षत्वार्थं भ्राजिग्रहणस्य ब्रश्चेतिसूत्रे आवश्यकत्वादिति दिक् ।

टस्य, धुटि तस्येत्यर्थः । न भवतीति । जश्वात्प्राक् षस्य नेत्यर्थः । जश्वे तु प्राप्तिरेव नेति बोध्यम् ।

के चिच्चिति । “एकाचः” इत्युत्तरसूत्रे ऽनुवृत्त्या मध्येऽपि सम्बन्ध एवोचित इति भावः । जश्त्वेनेति । यत्तु ‘जश् शशि’ इति निर्देशात् शस्य न जश्त्वमिति । तन्न; अविकृतस्वरूपप्रतिपादने तात्पर्यादयस्प्रयादित्वेन भत्वाच्च तत्र तदप्राप्तौ न्यायसिद्धायां ज्ञापकत्वायोगात् । “उपदेशेऽज्” इत्यादिनिर्देशैः* कुत्वाद्यनापत्तेश्च । अत्र मते भाष्यानुग्रहो विचार्यः । ‘मांसपृतना’ इत्यस्य “पद्म” इति सूत्रे उपसंख्यातत्वादाह-शासादौ वेति । स्त्रीत्वादिति । पुंस्त्वाभावादित्यर्थः । नात्वं नेति । स्त्रीत्वादित्यनुकुर्यते । अत एव पुंस्त्वाभावान्नत्वाभाव इति नोक्तम् । न हि पुंस्त्वाभावो नाभावे प्रतिबन्धकः । नपुंसकेऽपि तदङ्गीकारात् ।

ङिति द्व ॥ अत्र वाक्यद्वयम् । आद्ये यू इति, स्याख्याविति, अस्त्रीति, इयङुवङ्स्थानाविति, वेति चानुवर्त्तते । अन्त्ये यू इति, वेति, स्त्रीवाचकावित्येतन्मात्रार्थकं स्याख्याविति च । तत्र ह्रस्वयोरप्राप्ते दीर्घयोस्तु “नेयङ्” इति निषेधादप्राप्ते विभाषा । इष्वादिष्वप्राप्तिमाशङ्क्य “ङिति ह्रस्वश्च” इत्यत्र नित्यस्त्रीलिङ्गावित्येवंविधो नियमो नाश्रीयत इति कैयटस्तु ह्रस्वांशमात्रविषय इत्याशयेनाह—नित्यस्त्रीलिङ्गाविति । अत एवास्य दीर्घांशे निषेधविकल्पत्वं भाष्ये उक्तं “यू स्याख्यौ” इति सूत्रे । तत्फलं कटपुत्रे ब्राह्मण्यै इति । लिङ्गान्तरविशिष्टार्थाभिधायकत्वेन* तत्त्वाभावात् ।

परे त्वत्र विकल्पो भवत्येव । आख्याग्रहणरहितस्यैवात्र संबन्धात् । यद्वा स्याख्यावित्येतदेव स्त्रीवाचकावित्येतन्मात्रार्थकमत्र, शब्दाधिकारात् । तच्च ङिदाक्षिप्ताङ्गस्य विशेषणम् । अत एव “प्रथमलिङ्गग्रहणं च” इत्यस्यात्राप्रवृत्त्यन्वाख्यायके ‘ह्रस्वौ चेयङुवङ्स्थानौ च प्रवृत्तौ स्त्रीवचनावेव नदी-

निर्देशैरिति । “आदिरन्त्येन” इति बोधितसंज्ञासूत्रेषु हल्सन्ध्यप्रवृत्तिज्ञापनादिति भावः । *लिङ्गान्तरविशिष्टार्थाभिधायकत्वेनेति* । स्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्वं—स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वं—स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताऽप्रयोजकत्वमेतत्त्रितयसम्बन्धेन प्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टा या शक्तिः (स्वपर्याप्त्याधिकरणत्वं—स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यता-

सञ्ज्ञौ भवतो न तु पुंवाचकाविति वक्तव्यम्' इति वार्तिके—“अतिशक्तयै
ब्राह्मण्यै' क्व मा भूत् ? अतिशक्तयै ब्राह्मणाय; अतिश्रियै ब्राह्मण्यै, श्रियै
ब्राह्मण्यै । क्व माभूत् ? अतिश्रिये ब्राह्मणाय श्रिये ब्राह्मणाय” इति यूस्या-
ख्यावितिसूत्रशेषे भाष्ये उक्तम् । एवञ्चास्य निषेधविकल्पत्वमसम्भ-
वि । समुदायस्य केनापि प्राप्त्यभावात् । अवयवस्य प्राप्तावपि तस्या-
नेन विकल्पाभावात् । डिदाक्षिप्ताङ्गस्यैवानेन विकल्पात् । एतच्च प्रवृ-
त्तौ स्त्रीवचनावित्यनेन सूचितम् ।

अत एवात्र वाक्यद्वयेऽपि विधिविकल्प एव दर्शितः । एवञ्च-
'अत्र नियमो नाश्रीयते' इति कैयटो वाक्यद्वयपर एवोचितः । उपक्रमे
निषेधपरतया व्याख्यानं तु स्याख्यावित्यस्य नित्यस्त्रीत्वार्थकत्वमजा-
नत एकदेशिनो 'यू इति ह्रस्वयोर्ग्रहणम्' इतिपक्षोपपादने उक्ति-
भूतमिति तन्नादरणीयम् ।

यत्तु “दीर्घवाक्ये स्याख्याविति ईदूतोस्तदन्तस्य वा विशेषणं, पुनर-
ङ्गेन तदन्तविधिः, अङ्गस्य च केवलस्त्रीत्वं विशेषणम्। एवं ह्रस्वघटितवाक्येऽपि
स्त्रियामित्येतन्मात्रमुभयोर्विशेषणम्” इति । तत्तु चिन्त्यम् । भाष्यात्तदलाभात् ।
“नेयडुवङ्” इत्यत्र तु नेयङाद्याक्षिप्ताङ्गविशेषणं स्त्रीत्वम् । तदाक्षिप्तस्येय-
ङादिविशेषणताया एवौचित्यात् । “यस्याङ्गस्येयुवौ” इति भाष्योक्तेः । स्या-
ख्यावित्यस्य नित्यस्त्रीलिङ्गावित्यर्थकस्य यू इत्यनेनैव क्लृप्तसम्बन्ध-
त्वाच्च । अत एवातिश्रिये ब्राह्मणायेत्यत्रानेन निषेधादवयवनदीत्व-
प्रयुक्तमपि नदीकार्यं न ।

ननु यथा खरकुट्यै ब्राह्मणायेत्यादौ लुबन्तस्य त्रिलिङ्गत्वेऽपि
प्रथमालिङ्गग्रहणाभित्यनदीत्वं भवतीति भाष्ये उक्तम् । चञ्चा ब्राह्म-
णान् पश्येत्यादौ युक्तवद्भावेन स्वलिङ्गप्रयुक्तकार्याभावस्याप्यतिदेशान्न
नत्वम् । स्पष्टं चेदं “तस्माच्छस” इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः । यद्वा
ऽतिदेशेन प्रकृतिलिङ्गप्रयुक्तेन कार्यातिदेशेन तद्विरुद्धस्वाश्रय-
कार्याप्रवृत्तिः* । स्पष्टञ्चेदं “स्त्रियाम्” इति सूत्रे भाष्ये । युक्तवद्भा-

पर्याप्त्यधिकरणत्वमेतदुभयसम्बन्धेन) तादृशशक्तिविशिष्टत्वरूपनित्यस्त्रीत्वस्य
कटप्त्वे ब्राह्मण्यै इत्यादावभावादिति भावः । *तद्विरुद्धस्वाश्रयकार्याप्र-
वृत्तिरिति* । चिन्त्यमिदम् । “अधुः” इत्यादौ आत्वोत्तरं “विभाषा ग्राधेद्” इति

वादिप्रत्याख्यानोऽपि यथा दारादिशब्दैः पुंस्त्वेन स्त्रीरूपार्थस्य भानं, तथा प्रकृते स्त्रीत्वेन पुंसो भानमिति न नत्वम् । पुंस्त्वे वाच्ये नत्वमित्यर्थात् । न चैवं खरकुट्यै इत्यत्रापि युक्तवद्भावेन नित्यस्त्रीत्वात्सूत्रेणैव सिद्धमिति वाच्यम् । स्याख्यावित्यस्य स्त्रीत्वविशिष्टमेव य आहेत्यर्थात् । न चायं तथा । स्त्रीत्वेन रूपेण वस्तुतः पुंस्त्वविशिष्टस्याभिधानात् । यद्यपि पदार्थमात्रे शास्त्रीयलिङ्गत्रयमस्ति, तथापि व्यक्तिवस्तुपदार्थादिपदबोध्यत्वकाले तत्तल्लिङ्गोपजननेऽपि स्त्रीपदादिबोध्यत्वदशायां तत्सत्त्वे मानाभावात् । प्रकृते तु ब्राह्मणायेत्यादिविशेष्यदर्शनेन तत्सत्त्वानुमानात् । स्पष्टं चेदं भाष्यकैयटयोः । एवं श्रीशब्दात्कानि लुपि श्रिये ब्राह्मणायेत्यादौ विकल्पापत्तिः । युक्तवद्भावेन स्त्रियामङ्गस्य वर्त्तनात्, अत्र सूत्रे नित्यस्त्रीत्वानिवेशाच्च; इति चेन्न । सत्यभिधाने इष्टापत्तेः । भाष्ये दृश्यमानं 'श्रिये ब्राह्मणाय' इत्यादि तु क्यजन्तात्किपि बोध्यम् । विपरीतं नित्यस्त्रीत्वनिवेशादिनो लुवन्ते श्रियै ब्राह्मणायेत्यादौ तदनापत्तिर्दोष इत्याहुः* ।

लुगर्थं धेत्वातिदेशस्यावश्यकतया तदभावव्याप्यवृत्तानिश्चयमुद्रया स्थानिवद्भावेनातिदिश्यमानधेत्वाविरुद्धस्वाश्रयाऽऽदन्तत्वप्रयुक्तस्य "आत" इति श्लेर्जुसोऽप्रवृत्त्यापत्तेः ।

इत्याहुरिति । अन्ये तु सूत्रकृत्-प्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टत्वं नित्यस्त्रीत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वविशिष्टशक्तिविशिष्टत्वं—स्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वावच्छिन्नाभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताकबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । शक्तौ प्रवृत्तिनिमित्तवैशिष्ट्यं च स्वावच्छिन्नविशेष्यताप्रयोजकत्वं—स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वं—स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताऽप्रयोजकत्वमेतद्वित्रितयसम्बन्धेन । शक्तिवैशिष्ट्यं च स्वपर्याप्त्यधिकरणत्वं—स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणत्वमेतदुभयसम्बन्धेनेत्यभिप्रेति ।

एतल्लक्षणं बहुश्रेयस्यै ब्राह्मणाय, कुमार्यै ब्राह्मणायेत्यादावव्याप्तमिति मत्वा "प्रथमलिङ्गग्रहणं कर्तव्यम्" इति वदन्वार्तिककारश्च प्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टशक्तिविशिष्टत्वं नित्यस्त्रीत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्वं—स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वं—स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताऽप्रयोजकत्वमेतद्वित्रितयसम्बन्धेन । शक्तिवैशिष्ट्यं च स्वपर्याप्त्यधिकरणान्त-

त्व—स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यता-
पर्याप्त्यधिकरणत्वैतदुभयसम्बन्धेनेत्यभिप्रेति ।

“अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धम्” इत्युक्त्या “प्रथमलिङ्गग्रहणं च” इति वार्तिकं
प्रत्याक्षणाणो भाष्यकारश्च प्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टशक्तिविशिष्टत्वं नित्यस्त्रीत्वम् ।
प्रवृत्तिनिमित्तवैशिष्ट्यं च शक्तौ स्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्व—स्वाव-
च्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वानिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्व—स्वावच्छिन्नविशेष्य-
तानिरूपितस्त्रीत्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताऽप्रयोजकत्वैतत्त्रितयसम्बन्धेन । शक्तिवै-
शिष्ट्यं च स्वपर्याप्त्यधिकरणत्व—स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशब्दबोधज-
नकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणत्वैतदुभयसम्बन्धेनेत्यभिप्रेति ।

“ङिति ह्रस्वश्चेत्यत्र ‘प्रथमलिङ्गग्रहणं च’ इति यद् चो-
दितं तदत्र द्वेष्यं विजानीयात्” इति भाष्यप्रामाण्येन सूत्रकृतसंमतं यन्नित्यस्त्री-
त्वं तदेवात्र संमतमिति बोध्यम् । अत्रेतिपदस्वारस्यात् । “वाऽऽमि” इत्यत्र तु
‘प्रथमलिङ्गग्रहणं च’ इति ‘अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धमिति चेत्’ इत्याद्युक्त्या
‘यूस्याख्यौ’ इति सूत्र इवात्रापि वर्तत इति लाभात् वार्तिककृतसंमतं
भाष्यकृतसंमतं वा नित्यस्त्रीत्वं बोध्यम् । अत एव श्रीणां श्रियां ब्राह्मणाना-
मित्यादौ “वामि” इति विकल्पो भवत्येव । अत एवोपक्रमे ‘वामि’ इत्यस्य नि-
षेधपरतया व्याख्यानं भाष्ये सङ्गच्छते । अत एव “ह्रस्वौ च” इत्युक्त्या स्थानौ
च प्रवृत्तौ च प्राक् च प्रवृत्तेः स्त्रीवचनावेव नदीसंज्ञौ भवतो न तु पुंवा-
चकाविति वक्तव्यं शकटयै अतिशकटयै ब्राह्मण्यै, क माभूत् ? शकटयै अ-
तिशकटयै ब्राह्मणाय; धेन्वै अतिधेन्वै ब्राह्मण्यै; क माभूत् ? धेनवे ऽतिधेनवे
ब्राह्मणाय; श्रियै अतिश्रियै ब्राह्मण्यै; क माभूत् ? श्रिये ऽतिश्रिये ब्राह्मणाय;
भुवै अतिभुवै ब्राह्मण्यै, क माभूत् ? भुवे ऽतिभुव ब्राह्मणाय” इति भाष्यं सङ्गच्छ-
ते । अत्र प्रवृत्तौ च प्राक् च प्रवृत्तेः स्त्रीवचनावेवेत्युक्त्या पूर्वोक्तं सूत्रकारसं-
मतं नित्यस्त्रीत्वं ङिति ह्रस्वश्चेत्यत्र ब्राह्ममिति बोध्यते । अत्र षष्ठीबहुवच-
नोदाहरणादानेन यूस्याख्यावित्यत्रेव वामीत्यत्रापि भाष्यकारादिसम्मतं नि-
त्यस्त्रीत्वं ब्राह्ममिति बोध्यम् ।

यत्तु भाष्ये दृश्यमानं श्रिये ब्राह्मणायेत्यादि कय-
जन्तात् किपि बोध्यमिति; तत्र । शकटयै ब्राह्मणाय, धेनवे ब्रा-
ह्मणायेत्यादौ कयजन्तात्किपि तुगापत्तेः । यदपि—पदार्थमात्रे शा-
स्त्रीयं लिङ्गत्रयमस्ति तथापि व्यक्तिवस्तुपदार्थादिपदबोध्यत्वकाले तल्लिङ्गोपज-
ननेऽपि स्त्रीपदादिवोध्यत्वदशायां मानाभावादिति । तदपि न । कस्य चित्प्रि-
यस्य पुष्टिकामनादशायां तस्य पुंस्त्वेन बहुवारं बोधे पुष्ट्यापत्तेः । एवं यस्य
द्वेषादिना अपुष्ट्यादिकामना तस्य स्त्रीत्वेन बोधे ऽपुष्टिप्रसङ्गात् । एवं
यस्य साम्यकामता तस्य नपुंसकत्वेन बहुवारं बोधे साम्यप्रसङ्गाच्च ।
पुंस्त्वादशास्त्रीयलिङ्गस्य सत्त्वाद्युपचयापचयादिरूपत्वादिति केचित् ।

न च चञ्चा ब्राह्मणानित्यादौ युक्तवद्भावेन स्त्रीलिङ्गत्वेऽपि

यु किम् । मात्रे । यद्यपि यू इति दीर्घपरं तथापि विभक्तिविपरिणामेन य्वोर्हस्वावित्यन्वयो बोद्धव्यः । एतत्सर्वं वामीत्यत्रापि बोद्धव्यम्* ।

‘इदुङ्ग्यामौदचघेः’ इति सूत्रं योगविभागेन व्याचष्टे, इदुङ्ग्याम् । अनदीसंज्ञकेषु “अच्च घेः” “औत्” इत्याभ्यां बाधात्, “ङिराम्” इति सूत्रान्नदीग्रहणानुवृत्तेश्चाह—नदीसञ्ज्ञकाभ्यामिति । मत्यामिति । सन्निपातपरिभाषाया* अनित्यत्वाद्यण् ।

त्रिचतुरोः ॥ “अष्टन आ” इत्यतो विभक्ताविति वर्तते । तत्फलं त्रिभार्यः । तृतीयान्तेन समासः । भार्यो भरणीयः ।

आचि र ॥ अलोऽन्त्यपरिभाषयैव सिद्धे ऋत इति अनुवर्तमानतिसृचतसृ इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वकल्पनाय । अन्यथा त्रिचतुरोरित्यस्यैवानुवृत्त्यापत्तौ रादेशेन तिसृचतस्रोर्वाधापत्तिरिति दिक् । नुमचिरेति । अत्राचिरांशे “नतिसृ” इति निषेधो मूलम् । एतेन* स्त्रीत्वरूपार्थविशेषविभक्ति-

स्वाश्रयपुंस्त्वप्रयुक्तनकारादेशापत्तिरिति वाच्यम् । युक्तवद्भावेन प्रकृतौ यल्लिङ्गयद्वचनप्रयुक्तं कार्यं भवति, यल्लिङ्गयद्वचनप्रयुक्तं च कार्यं न भवति तदुभयोर्भावाभावयोः “अच्चः परस्मिन्” इत्यनेनेवातिदेशस्वीकारेणादोषात् । न च श्रिये ब्राह्मणायेत्यादौ युक्तवद्भावेन स्त्रियामङ्गस्य वर्तनाद्विकल्पापत्तिरिति वाच्यम् । स्त्रीत्वातिदेशेऽपि पूर्वोक्तसूत्रकृत्संमतानित्यस्त्रीत्वस्य व्यक्तिपदार्थत्वाभावेन युक्तवद्भावेन प्रकृते कन्लुबन्तेऽतिदेष्टुमशक्यत्वात् । एतेन तत्र विकल्पो भविष्यत्येवेत्यपास्तम् । पूर्वोक्तभाष्यविरोधाच्च । तथा च “ङिति ह्रस्वश्च” इत्यत्र पूर्वोक्तं सूत्रकृत्संमतं नित्यस्त्रीत्वमेव ग्राह्यमिति सुधियो विभावयन्निवत्याहुः ।

वामीत्यत्रापि बोध्यमिति । चिन्त्यमिदम्, “प्रथमलिङ्गग्रहणं चेति यच्चोदितं तदत्र द्वेष्यं विजानीयात्” इत्यत्र अत्रेतिपदस्वारस्यभङ्गापत्तेः । ह्रस्वौ च इयडुवङ्स्थानौ च प्रवृत्तौ च प्राक् च प्रवृत्तेः स्त्रीवचनावेव नदीसंज्ञौ भवतो न तु पुंवाचकावितिवार्तिकोदाहरणदानावसरे षष्ठीवडुवचनोदाहरणादानाच्च । एतेन “वांऽचि ह्रस्वश्च” इत्येव सिद्धे “वाऽऽमि” “ङिति ह्रस्वश्च” इति पृथग्योगकरणात्सन्निपातपरिभाषा ज्ञाप्यत इत्यपास्तम् । ङिति ह्रस्वश्चेत्यत्र ‘प्रथमलिङ्गग्रहणं च’ इति वार्तिकस्याभावेन वामीत्यत्र च तद्वार्तिकस्य सत्त्वेन कथमप्येकयोगस्य कर्तुमशक्यत्वात् । अत एव च “आपि ह्रस्वश्च” इति न सूत्रितम् । आबिति टा इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहार इति दिक् ।

अनित्यत्वादिति । “सोऽचि लोपे च” इत्यादिनिर्देशेन सन्धिकार्ये सन्निपातपरिभाषा न प्रवर्तत इति भावः । *एतेनेति* अर्थ-

सञ्ज्ञानिमित्ततिस्राद्यपेक्षया नुडन्तरङ्ग इत्यपास्तम् । अतो निषेधादेवार्थस-
ञ्ज्ञाकृतबहिरङ्गत्वानाश्रयणम् । अन्यथाऽऽमितिप्रत्ययविशेषापेक्षत्वेऽपि संज्ञा-
ऽर्थविशेषानपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात्तयादेशे तदसङ्गतिः स्पष्टैव । वस्तुतः स्व-
रूपेणोपादाने न बहिरङ्गत्वं किं तु केन चिद्विशेषधर्मेणोपादाने एवेति, विशे-
षापेक्षस्य बहिरङ्गत्वमेव न इति च रुदधातौ निरूपयिष्यामः । तृज्वत्सू-
त्रे भाष्ये तु “न तिस्रितिसिद्धतापकाद् रादेशो नुडविषये न । पूर्वविप्रतिषेधेन
तु न सिद्ध्यति । अपवादविषये विप्रतिषेधाप्रवृत्तेः । रादेशस्य सर्वाप-
वादत्वात्” इत्युक्तम् ।

त्रिचतुरोर्विशेषणादिति । स्त्रीनिष्ठसंख्यायां वर्त्त-
मानयोरित्यर्थ इति भावः । नेहेति । त्रिशब्दस्य पुनपुंसकवृ-
त्तित्वेऽपि समुदायस्य स्त्रियां वृत्तेरङ्गविशेषणत्वे आदेशः स्यादिति
भावः । आमि त्विति । तत्राऽऽम् षष्ठीबहुवचनमेवार्थाधिकारादतो न
ङेरामि त्रयादेशः* इति बोध्यम् । प्रियतिसेति । अङ्गविशेषणत्वेऽत्राव्या-
प्तिः स्यादिति भावः । प्रिया जम् त्रि जसिति स्थिते ‘अन्तरङ्गान-
पि’ इतिन्यायेन विभक्तिलुकि पुनः सुपि तदन्तविधिना निर्दिश्यमान-
परिभाषया त्रिशब्दस्यादेशः । ततो “नद्युतश्च” इति कप्त्तु न । समासार्था-
लौकिकवाक्ये ऋकारान्तोत्तरपदत्वाभावात्* । “ऋदुशन” इत्यनङ् । प्रिय-
तिसृणी इत्यादि । अत्र नुमः परत्वात्तिस्रादेशे पुनः प्रसङ्गविज्ञानेन
नुम् । “न तिसृ” इति ज्ञापकेन सामान्यत आगमविषये रादेशो नेति
ज्ञाप्यते । “प्रत्ययोत्तर” इति सूत्रे चेमौ भाष्ये प्रयोगौ ।

ङेरत्वे इति । बहिरङ्गासिद्धत्वन्तु “न यासयोः” इति निर्देशे-
नानित्यत्वान्न प्रवर्त्तते । विभक्ताविति । “युवोरनाकौ” इत्यत्र भाष्ये
पाठात्, ङ्याप्सूत्रे तत्परिभाषादोषेषु पाठाच्च । “सख्यशिश्वी” इति ङीप् ।
“यस्येति च” इतीकारलोपः ।

कृतबहिरङ्गत्वस्य स्वीकारे तिसृणामित्यादौ स्त्रीत्वरूपार्थनिमित्तकत्वेन तिस्रा-
देशस्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात्पूर्वं त्रयादेशे नुडि दीर्घे च लक्ष्येलक्षणस्येति-
न्यायेन पुनर्दीर्घाप्रवृत्त्या ‘न तिसृचतसृ’ इतिनिषेधवैयर्थ्येनेत्यर्थः ।

त्रयादेश इति । इदमुपलक्षणं नुडदीर्घयोरपि । *ऋकारान्तो-
त्तरपदत्वाभावादिति* । “नद्युतश्च” इत्थं नदीसाहचर्येणालौकिकप्र-
क्रियावाक्ये ऋदन्तोत्तरपदकसमास एव कप्रवृत्तेः । अन्तरङ्गपरि-

लक्ष्मीरिति । “कृदिकारात्” इति ङीष् लक्ष्मीत्यपि । स्त्यायतोऽस्यां शुक्रशोणिते इति स्त्री । स्त्यायतेर्द्दृ, टिलोपयलोपौ, टित्वात् ङीप् । इयङिति । स्त्रीशब्दस्येकारान्तत्वादियङ्बानुवर्तते इति भावः ।

गुणनेति । “जसि च” इति गुणः । “आङो ना” “अच्च घेः” “ह्रस्व-
द्यापः” इत्येतैरित्यर्थः । बाध्यते इति । स्त्रीशब्दस्येयङ् इत्यनेनान्वयः । नुम्—
“इकोचि” इति । पूर्वकारिकोक्तैर्वाधे सति यत्फलितं तदाह—ओस्या-
विति । अजादौ य इयादेशो विहितः स उपसर्जने पुंसि विद्य-
मानस्य (स्त्रियाः) स्त्रीशब्दस्यौसादिषु चतुर्ष्वेव, न त्वन्यत्र, गुणादिभि-
र्बाधादिति भावः । पुंवद्भावादिति । “तृतीयादिषु भाषितपुंस्कम्” इत्य-
नेनेति भावः । ननु ह्रस्ववाक्येऽप्यस्त्रीत्यस्य संबन्धेन स्त्रीशब्दावयव-
भिन्नह्रस्वेवर्णान्तादित्यर्थेन कथमत्र प्राप्तिरत आह—अस्त्रीति । तत्र वी
जमाह—तत्संबद्धस्यैवेति । प्रसज्यप्रतिषेधस्तु न, वाक्यभेदाद्यापत्तेः । न-
न्वियङ्बुवङ्स्थानावित्यनेनापि ह्रस्वस्य निषेधः किं नेत्यत आह—दीर्घस्याय-
मिति । तत्र ह्रस्वपदाभावादिति भावः । श्रयन्त्येतामिति श्रीः । “क्वि-
चि” इत्यादिना वागित्यत्रेव कर्मणि क्विदीर्घौ । अङ्च्यन्तत्वान्न सुलोपः ।

नेयङ् ॥ ङ्द्वयोच्चारणं स्पष्टार्थम् । स्थानशब्दो भावल्युङन्तः ।
इयङ्बुवङोः स्थानं स्थितिर्ययोरिति बहुव्रीहिः । सा च बाधकाविषये
एव । तेन प्रकृष्टा धीः प्रधीः प्रङ्ख्यै इत्यादौ न निषेधः । सा चो-
पलक्षणं व्याख्यानात् । तेन हे श्रीरित्यादौ निषेधसिद्धिः । श्रियावि-
त्यादौ तत्स्थितिसत्त्वात् । यत्र नदीकार्याश्रये ऽङ्गे बाधकाबाधिते-
यङादिस्थितिः क्वचित् दृष्टा तस्य तदवयवस्य च निषेध इति फलि-

भाषयाऽन्तरङ्गे कपि कर्तव्ये विभक्तिनिमित्तकत्वेन बहिरङ्गत्वेन तिस्रादे-
शस्यासिद्धत्वाच्च । एतेन समासार्थालौकिकविग्रहवाक्ये समासत्वाभा-
वारोपणे कुण्डोऽधनीत्यत्र कबापादनपरभाष्यविरोधादिदं चिन्त्यमित्यपास्त-
म् । समासार्थालौकिकविग्रहवाक्ये एव च कम्प्रवर्तत इत्युक्त्या बहुकुमारिके-
त्यादौ “गोस्त्रियोः” इति ह्रस्वो न । न च बहु जस् कुमारी जस् इत्यस्यां दशायां
परत्वात्कपि स्त्रीप्रत्ययान्तप्रातिपदिकत्वाभावाद् ह्रस्वो न भवत्येवेति
वाच्यम् । समासान्ते जाते यदागमपरिभाषया क्विचिशिष्टे स्त्रीप्रत्ययान्ततदा-
द्वित्वस्य प्रातिपदिकत्वस्य च सत्त्वेन निर्दिश्यमानपरिभाषया ह्रस्वस्य प्रवृत्ते-
र्दुर्वारत्वात् ।

तम्* । अत एव प्रकृष्टा धीर्यस्या, यस्य वा प्रधीरित्यत्रावयवधीशब्द-
स्य नदीत्वं भवत्येव । तदुक्तं भाष्ये “अवयवस्त्रीविषयत्वात्सिद्धमिति-
चेदियङुवङ्स्थानप्रतिषेधे यणस्थानयोरपि योः प्रतिषेधः प्राप्नोति, अ-
वयवस्येयङुवङ्स्थानत्वात् । आङ्ग्यै प्रङ्ग्यै । सिद्धं त्वङ्गरूपग्रहणात् । यस्या-
ङ्गस्येयुवौ भवतस्तस्येदं ग्रहणम् । न चैतस्याङ्गस्येयङुवङ्गौ भवतः” इति ।
श्रियै इति । ङिति ह्रस्वश्चेति विकल्पः ।

वामि ॥ आमीतिच्छेदः । प्रधीशब्दस्येति । प्रकृष्टं
ध्यायतीत्यर्थकस्येत्यर्थः । वृत्तिकारादीनामिति । अयं भावः—भाष्ये
आङ्ग्यै प्रङ्ग्यै इत्यादावियङ्स्थानत्वान्निषेधमाशङ्क्य यत्र नदीकार्याभ्रयेऽङ्गे
इत्युक्तीत्या समाहितम् । तत्र न बहुव्रीहिः, कवापत्तेः । किं तु प्रकृ-
ष्टं ध्यायतीत्याद्यर्थकं तत् । तत्र *कैयटोक्तनित्यस्त्रीत्वाभावेन नदीत्वा-
प्राप्त्या भाष्यासङ्गतिः । अतः “स्त्रीविषयावेव यौ यू नित्यम्” इत्यत्र भा-
ष्ये एवकारो भिन्नक्रमः । नित्यमेव यौ स्त्रीविषयावित्यर्थः । नित्य-
मेवेत्यस्य पदान्तरं विनापीत्यर्थः । खलपूकटप्रग्रामणीत्यादीनां क्रियाशब्द-
तया पुंसि मुख्या वृत्तिः । पुंसः खल्वयमुचितो धर्मः, शक्तत्वान्नयरहितत्वा-
च्च । अतस्तेषां न पदान्तरं विना स्त्रीवृत्तित्वम् । ध्यानादि तु स्त्री-
पुंससाधारणमिति । अत्रारुचिवीजन्तु सूत्रभाष्याद्यक्षरैरीदृशनित्यस्त्री-
त्वालाभः । भाष्योदाहरणे बहुव्रीहिरेव । कन्तु न । ऋकारसाहचर्ये-
ण यस्य वृत्तेः प्राग्रदीत्वं तदुत्तरपदके एव तत्प्रवृत्तेः । धीशब्दस्येय-
ङ्स्थानत्वेन प्राङ्नदीत्वनिषेधात् । गतिपूर्वकत्वाद्यणपि सुलभः । “आ-

फलितमिति । न च प्रधीरित्यादौ धीरूपे ङङ्गे इयङ्सिद्धेः
क्वचिद् दृष्टत्वेन पुनरपि दोषस्तदवस्थ एवेति वाच्यम् । अजादिविभक्तिपरत्व-
प्रकारकसम्भावनाप्रयोज्या यस्मिन्नङ्गे इयङुवङ्प्रवृत्तिसम्भावना तस्य तदव-
यवस्य च नदीसंज्ञा न भवतीत्यर्थेनादोषात् । यदङ्गावयवयोर्न-
दीसंज्ञानिषेधश्चिकीर्षितस्तदुत्तरमजादिप्रत्ययं सम्भाव्य यस्मिन्नङ्गे इय-
ङुवङ्गौ सम्भाव्येते तस्य तदवयवस्य च नदीसंज्ञा नेति फलितम् ।
कैयटोक्तनित्यस्त्रीत्वे इति । स्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकत्व-
स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्व-स्वावच्छिन्नविशे-
ष्यतानिरूपितस्त्रीत्वेतरलिङ्गनिष्ठप्रकारताऽप्रयोजकत्वैतन्नित्यसम्बन्धेन प्रवृ-
त्तिनिमित्तविशिष्टा या शक्तिः (स्वपर्याप्त्यधिकरणत्व-स्वज्ञानाधीनोपस्थिति-
प्रयोज्यशब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणत्वैतदुभयस-

ज्यै इति चिन्त्यमेतत्, क्रियाशब्दत्वेन *नित्यस्त्रीत्वाभावात्" इति कैय-
टस्तु चिन्त्य एवेति दिक् ।

लक्ष्मीवदिति । स्त्रियामिति शेषः । पुंनद्रूपमिति । उ-
क्तविग्रहे नित्यस्त्रीत्वाभावात् पुंसीव स्त्रियामप्यनदीत्वादिति भावः ।
प्रकृष्टा धीरिति विग्रहे इति । ईदृशपदघटितविग्रहे इत्यर्थः ।
तेन कर्मधारये बहुव्रीहौ च सर्वलिङ्गेऽपि मतद्वये ऽपि लक्ष्मीवत् ।
“प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च” इत्यवयवधीशब्दस्य नदीत्वात् । “नेयङ्” इति निषेध-
स्योक्तरीत्या प्राप्त्यभावादिति भावः । विशेष इति । लक्ष्मीशब्दापे-
क्षयेत्यर्थः । श्रीवदिति । स्त्रियामिति शेषः । विशिष्टस्यापीयङ्स्थान-
त्वेन डिदामोर्विकल्पस्यान्यत्र निषेधस्य च प्राप्तेरिति भावः । पुं-
सि त्वीदृशबहुव्रीहावपि न नदीत्वम् । नेयङित्यवयवस्य निषेधात्, स-
मुदायस्याप्राप्तेश्च । पुंनद्रूपमिति । ‘सुष्ठु ध्यायतीति विग्रहे’ इति शे-
षः । तस्य नित्यस्त्रीत्वाभावेन पुंसीव स्त्रियामप्यनदीत्वादिति भावः ।
इति विग्रहे त्विति । ईदृशपदघटितविग्रहके स्त्रीलिङ्गबहुव्रीहौ क-
र्मधारये चेत्यर्थः । तत्र बहुव्रीहावयवस्य “नेयङ्” इति निषेधः डि-
ति तु समुदायस्य विकल्प इति बोध्यम् ।

स्त्रियाञ्च ॥ अत्र ‘असंबुद्धौ सर्वनामस्थाने’ इति न संबध्यते । आ-
रम्भसामर्थ्यात् । ऋन्नेभ्य इति । तदन्तशब्दानां बहुत्वाद् बहुवचनम् ।
प्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । स्त्रियामिति चाधिकारः । कासि
हे सुष्ठु इति । रावणेन सीताऽपहारोत्तरं रामविलापोऽयम् । विधिना
त्वया हापितस्त्याजितः सः “हे सुष्ठु कासि” इत्येवं बहु विललापेत्यर्थः ।
“नेयङ्” इत्यनेनावयवस्य समुदायस्य च नदीत्वनिषेधात्प्रश्नः । प्रमाद
इति । विरहपीडितत्वेनानवधानलक्षणोऽत्र प्रमादः । स च विरहपोष-
कत्वात्काव्ये गुणः ।

एकाजुत्तर । एकोऽच् यस्मिन्, तादृशमुत्तरपदं यस्येति सूत्रे ब-
हुव्रीहिगर्भो बहुव्रीहिः । उत्तरपदे इत्यनेनास्य वाक्यस्य समासपदघ-
टितवाक्यैकदेशत्वानुमानात्समासो विशेष्य इत्याह—तस्मिन्समासे

म्बन्धेन) तादृशशक्तिविशिष्टत्वरूपनित्यस्त्रीत्वेत्यर्थः ।

नित्यस्त्रीत्वाभावादिति । निरुक्तनित्यस्त्रीत्वाभावादित्यर्थः ।

इति । आरम्भेति । “प्रातिपदिकान्त” इत्यनेन विकल्पेन णत्वे सिद्धे इत्यर्थः । पुनरिति । णग्रहणे ऽनुवर्तमाने इत्यर्थः । यणामिति । “दन्कर” इति यणमित्यर्थः । भेकजाताविति । “शिथी गण्डूषदी भेकी वर्षाभ्वी कमठी डुलिः” इत्यमरादस्य बाह्यादित्वेन वा ङीषिति भावः ।

अन्ये त्वस्य गौरादिपाठान्नित्यमेव ङीष् । ‘भेक्यां पुनर्नवायां स्त्री’ इति यादवस्य—‘सुतः पुत्रः स्त्रियान्त्वमी आहुर्दुहितरम्’ इतिवत् नित्यङ्यन्तत्वे ऽप्युपपत्तेरित्याहुः । गौरादित्वादिकल्पने मानाभावात् अमरे ‘वर्षाभूः कमठी डुलिः’ इत्येव पाठ इति सुबोधिनीकार इति माधवः । तदनुसारेण मूलं बोध्यम् ।

टाङ्ङीपौ न स्त इति । * “स्त्रियां यत्प्राप्नोति तन्न” इति व्याख्यानादिति भावः । स्वस्त्रादिषु मातृशब्दस्य ननान्द्रादिसाहचर्यात्प्रसिद्धत्वाच्च * ससम्बन्धिकजननीवाचकस्यैव ग्रहणम् । सन्निपातपरिभाषयैव तिसृचतस्रोर्ङीवभावे सिद्धे तदनित्यत्वज्ञापनार्थन्तयोर्ग्रहणमिति केचित् । स्वस्त्रादिषु तिसृचतस्रोः पाठो ऽनार्प इति कुन्मेजन्तसूत्रस्थभाष्यस्वरसः ।

इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

अतोऽम् । अत इत्येतत् अधिकृतस्याङ्गस्य विशेषणम् । ‘स्वमोर्नपुंसकात्’ इति चानुवर्तते । अम् लुग्वावाधको * येन नाप्राप्त इति न्यायात् । ‘अ-

* स्त्रियां यत्प्राप्नोति इति * । “न षट्स्वस्त्रादिभ्यः” इत्यत्र “टावृचि” इत्यतष्टापः, “ऋन्नेभ्यः” इत्यतो ङीपश्चानुवृत्त्योभयनिषेधेन, “डावुभाभ्याम्” इत्यत्र “न षट्स्वस्त्रादिभ्यः” इत्यनुवृत्त्या डापो निषेधाच्चेति भावः । * प्रसिद्धत्वाच्चेति * । अवयवशक्तिग्रहानधीनशक्तिग्रहाधीनोपस्थितिष्वियार्थे एव लाघवात् तात्पर्यकल्पनं युक्तमित्येतन्मूलिकया । “अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्वलीयसी” इति परिभाषयेत्यर्थः ॥

* इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

* येन नाप्राप्त इति न्यायादिति * । “स्वमोर्नपुंसकात्” इत्येतदप्राप्तियोग्ये चारितार्थ्याभावविशिष्टा कृते चारितार्थ्याभावविशिष्टा स्वमोर्नपुंसकादित्येतत्प्रवृत्तिसम्भावनाप्रयोज्या याऽतोऽमितिशास्त्रवैयर्थ्यसम्भावना तादृशसंभावनारूपवृत्तीयबाधबीजस्य “अतोऽम्” इत्यत्र सत्त्वादिति भावः । एतन्न्यायविषये च “अतोऽम्” इत्येतत्प्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन “अतोऽम्” इतिशास्त्रविधेयघटितातिरिक्तत्वेन च “स्वमोर्नपुंसकात्” इत्यत्र सङ्कोचो भवतीत्यतोऽमित्येतत्प्रवृत्तेः प्राक् तत्प्रवृत्त्यनन्तरं च ज्ञानमित्यादौ “स्वमोर्नपुंसकात्” इति लुप्तं भवतीति बोध्यम् ।

म्' इतिच्छेदो न तु 'म्'इति* । ज्ञानमित्यादौ "सुपि च"इति दीर्घापत्तेः । सन्निपातपरिभाषया दीर्घवारणे तु* हेज्ञानेत्यादौ सम्बुद्धिलोपस्यानापत्तिः । मनिमित्तस्य प्रकृतिप्रत्ययसन्निपातस्य प्रत्ययलोपेन विनाशात् । अत एव "एङ्हस्वात्"इति सूत्रे ज्ञानेत्यादौ मलोपाय, कंतरादित्यादौ लोपाभावाय चाङ्गाक्षेपव्यधिकरणान्वयहल्पदानुवृत्तय आस्थिता भाष्ये, न तु 'म्' इतिच्छेद उक्त इत्यलं भाष्यविरुद्धकल्पनयेति दिक् ।

"जसः शी" "औङ आपः" इत्याभ्यां शी, औङ इति चानुवर्तते तदाह-ह्रोवादिभ्यादि ।

यस्येति च । इथाश्च यं तस्येत्यर्थो व्याख्यानात् । भस्येत्यधिकारः, चेन "नस्तद्धिते"इत्यतः 'तद्धित'इत्यनुकृष्यते तदाह-भस्येत्यादि । भस्येति किम् । गर्गरूप्यम् । औङः श्यामिति । इत एव निर्देशादस्य नित्यस्त्रीत्वं बोध्यम् । औङ इति स्वरूपकथनं 'सर्वे' इत्यस्य भाधिकारेण सिद्धेः ।

न तु मिति । अज्जहितैकहलादेशस्यास्मिन्शास्त्रे ऽदर्शनादित्यर्थः । *वारणे त्विति* । वस्तुतस्तु सुलुनी इत्यादौ नुमप्रवृत्तये सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वेऽपि सुलु इत्यादौ ह्रस्वस्येति तुगापत्त्या "ह्रस्वो नपुंसके"इत्यत्र सामान्यतः "सन्निपातपरिभाषाप्रयोज्यः सङ्कोचो नास्ति"इति वक्तुमशक्यत्वेन यथा सङ्कुचितसङ्कोचस्यैवावश्यमङ्गीकृतव्यत्वं तथा "गुणात् सम्बुद्धेः"इत्येव वक्तव्ये "एङ्हस्वात्"इति करणेन सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वस्यावश्यकत्वेऽपि कष्टायेति निर्देशेन ड्ये इत्यत्र स्वप्रवृत्त्युत्तरकालिकप्रवृत्तिमत्सुपिचेतिशास्त्रातिरिक्तस्वोपजीव्यविघातकातिरिक्तेन शास्त्रेणत्येवं संकोचेऽपि च अतोऽमित्यभ्यनुज्ञावाक्ये स्वप्रवृत्त्युत्तरकालिकप्रवृत्तिमदेङ्ह्रस्वादित्येतदतिरिक्तस्वोपजीव्यविघातकातिरिक्तेन शास्त्रेण यस्य साधुत्वं बोध्यते तदपि साध्वित्येवं सङ्कुचितसङ्कोचे 'म्'इति छेदे ज्ञानमित्यादौ "सुपि च"इति दीर्घो वारायितुं शक्य इति सन्निपातपरिभाषया प्रकृते दीर्घवारणे हे ज्ञानेत्यादौ दोषोद्भावनं न युक्तमिति बोध्यम् ।

अन्ये तु "सुपि च" इत्यत्र विघातकशास्त्रे कष्टायेति निर्देशेन "ड्येः" इत्येतदतिरिक्तस्वोपजीव्यविघातकत्वाभाववान् दीर्घो भवतीति संकोचे, गुणात्सम्बुद्धेरित्येव वक्तव्ये एङ्ह्रस्वग्रहणेन च अतोऽमित्येतदतिरिक्तस्वोपजीव्यविघातकत्वाभाववान् लोपो भवतीति "एङ्ह्रस्वात्"इत्यत्र च सङ्कोचे च सुपिचेत्यत्र 'अतोम्'इत्येतदतिरिक्तस्वोपजीव्यविघातकत्वाभाववान् दीर्घो भवतीत्येवंसंकोचाभावात् ज्ञानमित्यादौ सन्निपातपरिभाषया न दीर्घः । नापि

जह्शसोः । शस् अत्र सुवेव, व्याख्यानात्* ।

नपुंसकस्य । इदितो लुम् इत्यतो लुम् इति, सर्वनामस्थान इति चानुवर्तते । अङ्गस्येति च प्रकृतम् । तच्च झलज्भ्यां विशेष्यते । नपुंसकस्येति गृहमाणस्याभावादङ्गस्यैव विशेषणम् । “अस्थिदधि” इत्यादौ तु गृहमाणस्यैव । प्रकरणात् श्रुतेर्वलवत्त्वात्* । अत एव “त्रिचतुरोः” इत्यत्र स्त्रियामिति । तयोरेव विशेषणमित्याकरः । उपधादीर्घ इति । “सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ” इत्यनेनेति भावः । शेषामिति । कर्मणि घञ् । “घञजपः पुंसि” इति प्रायोवादः ।

अद्भु । दड्हेति पाठः । दस्य षटुत्वं, दस्य संयोगान्तलोपश्चाऽऽदेशस्वरूपमङ्गमिया न कृत इति कैयटः* । पञ्चभ्य इति अधिकव्यवच्छेदाय । अस्य सर्वाद्यन्तर्गणत्वात् ।

परे तु डतरादिभ्य इति विरुद्धाविभक्तिपञ्चम्यन्तत्वादङ्गस्येत्यनेनान्वयानर्हमिति *डतरादिभ्यो विहितयोः स्वमोरङ्गसंज्ञानिमित्तयोरित्यर्थ इति सर्वादिमुत्रे भाष्ये स्पष्टम् । एवञ्च *परमकतरं कुलमित्यादौ नादृङ् ।

यत्तु कैयटेनार्थद्वारकं विधानमाश्रयितव्यम् । तेन परमकतरदित्युक्तम् । तन्न । तस्य यदि डतराद्यर्थगतसंख्याभिधायिन इत्यर्थस्तदा पञ्चम्यन्तात्तादृशार्थप्रतीत्यसम्भवः । यदि षष्ठ्यर्थे पञ्चमी, तदा ‘विरुद्धविभक्तित्वात्’ इति भाष्यासङ्गतिः, विधानस्य सर्वथाऽनाश्रयेण नार्थद्वारकं विधानमिति तद्ग्रन्थासङ्गतिश्च । न

हेज्ञान इत्यादौ सन्निपातपरिभाषया संबुद्धिलोपानापत्तिः । तथा च “म्” इतिच्छेदे न कोऽपि दोषो, न चैङ्हस्वादित्यत्राङ्गाक्षेपवैयधिकरणान्वयहल्पदानुवृत्तिक्लेशा इत्याहुः ।

व्याख्यानादिति । जस्साहचर्यादिति भावः । *वलवत्त्वादिति* । “श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो वलौयान्” इति परिभाषयेति भावः । *कैयट इति* । अत्रारुचिबीजन्तु हलनुबन्धात्प्रागचोऽङ्गरूपस्यानुबन्धस्य वा सर्वत्र दर्शनेन प्रकृतेऽपि अकारानुबन्धसहितादडित्येव पाठः सम्यगिति । *डतरादिभ्यो विहितयोरिति* । डतरप्रत्ययान्ततदादि—डतमप्रत्ययान्ततदादि—अन्य—अन्यतर—इतर—इत्येतेभ्यो विहितयोः स्वमोरदृङ् इति, अङ्गाभिन्नेभ्यो डतरान्ततदादि—डतमान्ततदादि—अन्य—अन्यतर—इतर—इत्येतेभ्यः परयोः स्वमोरदृङिति वार्थ इति भावः । एतादृशार्थकरणस्य फलमाह—*परमकतरं कुलमित्यादौ नादृङिति* ।

चैतदर्थे उपसर्जनप्रतिषेधारम्भो व्यर्थः स्यादिति वाच्यम् । तत्प्रत्याख्यानायैवैतद्भाष्यप्रवृत्तेः । परमकतरादिव्यावृत्तये ऽवश्याश्रयणीयविहितविशेषणेनैवातिकतरादिव्यावृत्तौ स व्यर्थ इति तदाशयः । “त्यदादीनामः” इत्यत्र षष्ठ्यन्तत्वात्त्यदादीनामित्यर्थद्वारकं विभक्तिविशेषणम्, “अस्थिदधि” इत्यादावङ्गं तथा तद्विशेषणं व्याख्यानादित्यपि तत्रैव भाष्ये स्पष्टमित्याहुः* ।

डिन्वफलमाह—टेः । “ति विंशतेः” इत्यतो डितीति वर्त्तते, भस्येति चाधिकृतम् । पञ्चम इति । डटो मटि भत्वाभाव इति भावः । अन्यतमस्येति । डतरादिष्वपाठादिति भावः । एकतरमिति । “एकाच्च प्राचाम्” इति डतरच् । एकतमस्य त्वेकतमदित्येव । परत्वादिति । नुमपेक्षयेति शेषः । शब्दान्तरप्राप्त्या झलन्ताजन्तलक्षणभेदाच्च नुमप्यनित्य इति भावः ।

के चित्तु शिभावात्परत्वाज्जरसि ततः शौ झलन्तत्वान्नुमित्यर्थमाहुः । अत्र यद्वक्तव्यं तद् निर्जरशब्दे उक्तम्* ।

सान्तमहतः । सान्तेति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदं संयोगस्ये-

इत्याहुरिति । परे तु “संज्ञोपसर्जन” इतिप्रतिषेधकवार्त्तिकसत्त्वे सर्वस्मै, परमसर्वस्मै, अतिसर्वाय, कतरत्, अतिकतरम् इत्यादि रूपाणि भवन्ति । तत्प्रत्याख्यानेऽपि फलैक्याय तथैव रूपाणि यथा भवेयुस्तथा वक्तव्यम् । त्वद्गोत्याऽङ्गाधिकारे यदुच्यते इति प्रत्याख्यानकल्पे “सर्वादीनि” इत्यत्र यदि तदन्तविधिरस्ति तदा अतिसर्वाय, अतितत्, अतिकतरम् इत्यादौ दोषो दुरुद्धरस्स्यात् । यदि तदन्तविधिर्नास्ति तदा ‘परमसर्वे परमसर्वस्मै’ परमसर्वस्मात्, परमसर्वेषां, परमसर्वस्मिन्, परमसर्वत्र, इत्यादिरूपाणि न सिद्ध्यन्तीति “गृह्यमाणविभक्तेः” इत्यस्य गृह्यमाणार्थगतसंख्याभिधायिविभक्तौ परतः, गृह्यमाणार्थगतसंख्याभिधायिविभक्तेश्च तत्कार्याणि भवन्तीत्युपलक्षणतया निरुक्तभाष्यस्यावश्यं व्याख्येयत्वेन ‘परमकतरमित्येव भवति न तु परमकतरत्’ इति तदुक्तिः साहसमात्रमेव । “अदुद्धतरादिभ्यः” इत्यस्य डतरान्ततदादि-डतमान्ततदादि-अन्य-अन्यतर-इतरेत्येतदर्थगतसंख्याभिधायिनौ तदव्यवहितोत्तरौ च यौ स्वमौ तयोरदुद्ध इत्यर्थः । एवं “सप्तम्याखल” इत्यादेः सर्वनामार्थगतसंख्याभिधायिनी या सप्तमी सर्वनामोत्तरा च तदन्ततदादेखलादिर्भवतीति ‘अतिसर्वाय’ ‘अतिकतरम्’ इत्यादौ कुत्रापि प्रत्याख्यानकल्पे न दोष इति प्राहुः ।

निर्जरशब्दे उक्तमिति । अत्र यद्वक्तव्यं तदस्माभिस्तत्रैवोक्तमिति बोध्यम् ।

त्यनेन समानाधिकरणम् । नोपधायाः, सर्वनामस्थाने चासं-
बुद्धावित्यनुवर्त्तते तदाह—सान्तसंयोगस्येत्यादि । उपधाग्रहणञ्च
पूर्वत्वमात्रोपलक्षणम् । पारिभाषिकार्थस्येहासंभवात् । सर्वनामस्थान
इति सान्तसंयोगस्य विशेषणम् । अत एव हंसाशिरांसीत्यादौ न दोषः ।
यद्वा अनन्त्यविकारे ऽन्त्यसदेशस्येति न दोषः ।

मांसपचन्या इति । मांसस्य पचनीत्यर्थः । “मांसस्य पचि-
युद्धजोः” इत्यप्येतत्सिद्धार्थानुवाद एव । शब्दत्वेन च सादृश्यं, “न
लुमता” इत्यस्य च नित्यत्वमित्यभिमानः । वृत्ताविति । भाष्यस्वर-
सस्त्वननुवृत्ताविति भावः । मासश्छन्दसीति । मासस्तकारः स्या-
द्भादौ प्रत्यये छन्दसीत्यर्थः । ‘माद्भिः शरद्भिर्दुरोदरं तव’ इत्युदाहरणम् ।

ह्रस्वो नपुंसके । क्लीबवदर्थे वर्त्तमानस्याजन्तस्येत्येव
सामर्थ्यात्प्रातिपदिकलाभे प्रातिपदिकस्येत्येतत्सत्त्वप्रधानस्येत्यर्थकम्* ।

सत्त्वप्रधानस्येत्यर्थकमिति ननु ‘वारिणी’ इत्यादौ ह्रस्ववारणाय
प्रातिपदिकग्रहणं सूत्रे चरितार्थम् । नच तत्र इयादेशो ईकारोच्चारणसामर्थ्या-
देव ह्रस्वो न भविष्यतीति वाच्यम् । तथापि वारिणे वारिणा इत्यादौ ह्रस्व-
वारणाय प्रातिपदिकग्रहणस्य चरितार्थत्वात् इति चेन्न । अर्थवत्सूत्रात्प्रातिपदि-
कग्रहणमनुवर्त्य षष्ठ्या विपरिणामेनोक्तदोषवारणेन प्रातिपदिकग्रहणवैयर्थ्यस्य
तदवस्थत्वात् । “ह्रस्वो नपुंसके” इत्यस्य नपुंसकत्वशक्तिपर्याप्त्याधिकरणस्याजन्त-
स्य ह्रस्वो भवतीत्यर्थेन निरुक्तदोषवारणेन प्रातिपदिकग्रहणस्य वैयर्थ्योपपाद-
नं तु न युक्तम् । वैयाकरणमते सुबन्तपदे शक्तिपर्याप्त्याधिकरणत्वस्य सत्त्वेनो-
क्तदोषवारणस्य कर्तुमशक्यत्वात् । न च प्रातिपदिकग्रहणे ऽनुवर्तमाने पुनः
प्रातिपदिकग्रहणादनतिदिष्टप्रातिपदिकस्यैव ग्रहणमिति कैयटरीत्या, “सप्त-
म्यधिकरणे चेति निर्देशाद् विभक्त्येमादेशो नान्तवत्” इति दीक्षितरीत्या च
काण्डे इत्यादौ दोषाभावात् ‘सत्त्वप्रधानस्यैव ह्रस्वो भवति’ इति निष्फलमिति
वाच्यम् । दोषाभूतमहः इत्यादौ द्विप्रत्ययान्तदोषाशब्दस्य विकारवाचकाहः-
शब्दसामानाधिकरण्येन नपुंसकवृत्तित्वस्य सत्त्वेन कैयटदीक्षितयोर्मते ह्रस्वस्य
दुर्वारतया तत्र दोषवारणाय सत्त्वप्रधानस्यैव ह्रस्वो भवतीत्यवश्यवक्तव्य-
त्वात् । सत्त्वप्रधानस्येत्यत्र सत्त्वपदेन लिङ्गान्वयितावच्छेदकं यद्रूपं तद्रूप-
पुरस्कारेण बुध्यमानं विवक्षितम् । प्रधानत्वं च संसर्गविशेष्योभयवृत्तिः निरव-
च्छिन्नविशेषणताश्रयावृत्तिर्विशेष्यतासंसर्गताव्यापकीभूतः प्रकारतानिरूपित-
त्वाख्यः स्वरूपसम्बन्धविशेषः । तथा च सत्त्वप्रधानत्वं यत्किञ्चि-
त्प्रधानतानिरूपिताप्रधानत्वासमानाधिकरणलिङ्गान्वयितावच्छेदकरूपावच्छि-

तेन काण्डे इत्यादौ अन्तवद्भावेन प्रातिपदिकत्वेऽपि न ह्रस्वः । विभक्त्यर्थस्य संसर्गत्वेऽपि प्रकृत्यर्थापेक्षया प्राधान्यमस्त्येव । प्रथमाया अपि अन्याभिहितशक्तिरर्थ इति तत्रापि तत्संसर्गको बोध इति तस्याः प्राधान्यम् । काण्डे तिष्ठत इत्यादावाख्यातार्थकर्तुः कर्तृक्रियाभावेन क्रि-

न्नप्रधानताप्रयोजकत्वम् । काण्डे इत्यादौ सप्तम्यर्थसंसर्गनिष्ठप्रधानतानिरूपिताप्रधानत्वसामानाधिकरण्यमेवं लिङ्गान्वयितावच्छेदककाण्डत्वरूपावच्छिन्नप्रधानतायामिति नोक्तं सत्त्वप्रधानत्वम् ।

नन्वेवं श्रीपपुत्र इत्यादौ ह्रस्वो न स्यात् । लिङ्गान्वयितावच्छेदकश्रीकर्मकपालनकर्तृत्वावच्छिन्नप्रधानतायां जन्यजनकभावसंसर्गनिष्ठप्रधानतानिरूपिताप्रधानतासामानाधिकरण्यस्य सत्त्वात् । एवं श्रीपं कुलं, सुलु पश्येत्यादावपि ह्रस्वो न स्यात्; कर्मत्वादिसंसर्गनिष्ठप्रधानतानिरूपिताप्रधानतासामानाधिकरण्यस्यैव तत्तदवच्छिन्नप्रधानतायां सत्त्वात् इति चेन्मैवम् । यस्य ह्रस्वश्चिकीर्षितस्तत्पर्याप्तप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यतावती या प्रधानता तादृशप्रधानतानिरूपिताप्रधानताऽसामानाधिकरणा या लिङ्गान्वयितावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रधानता, तादृशप्रधानताप्रयोजकतापर्याप्त्यधिकरणत्वं सत्त्वप्रधानत्वमिति परिष्कारेणादोषात् । श्रीपपुत्रः, श्रीपं कुलं, सुलु पश्येत्यादौ संसर्गनिष्ठप्रधानताप्रयोजकतापर्याप्त्यधिकरणत्वस्य विनिगमनाविरहेणोपस्थापकशक्तेरानुभाविकशक्तेश्च समासे वाक्ये च कल्पनेन तत्रैव सत्त्वात् यस्य ह्रस्वश्चिकीर्षितस्तत्र संसर्गनिष्ठप्रधानताप्रयोजकत्वस्याभावेन तत्प्रयोज्यप्रधानतानिरूपिताप्रधानताऽसामानाधिकरण्यस्य लिङ्गान्वयितावच्छेदकरूपावच्छिन्नप्रधानतायां सत्त्वेन प्रकृते सत्त्वप्रधानत्वस्याव्याहतत्वात् ।

न च श्रीपपुत्र इत्यादौ समासात् प्रागेवान्तरङ्गत्वाद्भ्रूस्वः स्यादिति अयं प्रयासो विफलः, पदावधिकान्वाख्याने श्रीपं कुलमित्यादौ दोषाभावाच्चेति वाच्यम् । श्रीपपुत्र इत्यादौ समासे लुकि च निरुक्तसत्त्वप्रधानत्वाभावेन लुक्प्रत्ययान्तरङ्गनिमित्तविनाशकत्वस्य सत्त्वात् 'अन्तरङ्गानपि' इति परिभाषया पूर्वं ह्रस्वाप्रवृत्तौ समासोत्तरश्च पूर्वोक्तरीत्या सत्त्वप्रधानत्वस्याभावेन ह्रस्वाप्राप्त्यैतादृशपरिष्कारस्यावश्यकत्वात् । न च 'यः शिष्यते स लुप्यमानार्थामिधायी' इति न्यायेन सुलु कुलमित्यादौ संसर्गनिष्ठप्रधानताप्रयोजकतापर्याप्तेः सुल्वित्यत्र सत्त्वात्पुनरप्युक्तसत्त्वप्रधानत्वस्याभावात्तद्दोषतादवध्यमिति वाच्यम् । यस्य ह्रस्वश्चिकीर्षितस्तत्पर्याप्तप्रयोजकतानिरूपितप्रयोज्यतावदुपस्थितीयप्रधानतानिरूपिताप्रधानत्वासामानाधिकरणा या लिङ्गान्वयितावच्छेदकरूपावच्छिन्नोपस्थितीयप्रधानता तादृशप्रधानताप्रयोजकत्वं सत्त्वप्रधानत्वमिति परिष्कारेणादोषात् ।

नचैवं काण्डे इत्यादौ काण्डवृत्तिनिरुक्तसत्त्वप्रधानत्वस्य पूर्वान्तवद्भावेनैकादेशविशिष्टेऽतिदेशाद्भ्रूस्वो दुर्वार इति वाच्यम् । अर्थघटिताशा-

यायामन्वये तदभिन्नप्रथमार्थस्यापि तेन सम्बन्धेनान्वयात्तस्य प्राधान्यम् । स्पष्टञ्चेदं भाष्ये । ज्ञानवदिति । दीर्घान्तत्वप्रयुक्तो न कश्चिद्विशेष इति

स्त्रीयत्वेन प्रातिपदिकग्रहणसामर्थ्येन च सत्त्वप्रधानत्वस्य पूर्वान्तवद्भावेनातिदेशो न भवतीति कल्पनेनादोषात् । अत एव प्रयुनेत्यादौ तृतीयाद्विभ्विति न पुंवद्भावः । भाषितपुंस्कत्वस्यार्थघटिताशास्त्रीयत्वात् । अत एव 'सप्तम्यधिकरणे' इति निर्देशः सङ्गच्छते । एतेन एकत्वस्योक्तिः एकत्वोक्तिरित्यादौ ह्रस्वो दुर्वार इत्यपास्तम् । अपरनिमित्तके ह्रस्वे कर्तव्ये बहिरङ्गत्वेन एकादशस्यासिद्धत्वाच्च ।

अन्ये तु स्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताकशाब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणत्वं,—निरुक्तपर्याप्त्यधिकरणेतरत्वं यत् स्वावच्छिन्ननिरूपितसंसर्गताकशाब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणं तदघटितत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्त्वम्—एतदुभयसंबन्धेन लिङ्गान्वयितावच्छेदकरूपविशिष्टत्वमेव सत्त्वप्रधानत्वम् । काण्डे इत्यादौ प्रथमसंबन्धसत्त्वेऽपि स्वविशिष्टनिरूपिताधिकरणतासंसर्गताकशाब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यताधिकरण—निरुक्तविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणेतरसप्तमीविभक्ति-घटितत्वस्य सत्त्वेन दलद्वयघटितसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्स्वरूपो द्वितीयसंबन्धो नास्तीति न तत्र दोषः । तत्र प्रथमसम्बन्धानुपादाने दोषाभूतमहरित्यादौ ह्रस्वापत्तिः । तदुपादाने तु न दोषः । अहःशब्दसामानाधिकरण्येन दोषापदस्य लिङ्गविशिष्टार्थबोधकत्वेऽपि तद्वाच्यतावच्छेदकरूपस्य लिङ्गान्वयिताऽनवच्छेदकत्वात् । द्वितीयसंबन्धघटकविशेष्यानुपादाने श्रीपं कुलं, श्रीपपुत्र इत्यादौ ह्रस्वानापत्तिः । निरुक्तविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणेतरलुप्तविभक्तिघटितत्वात् । तदुपादाने तु संसर्गविषयताप्रयोजकत्वस्य श्रूयमाणपदे एव स्वीकारेण तत्राभावात् काण्डे इत्यादौ सप्तम्यादिविभक्तेरेव तत्सत्त्वात्तद्वटितत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्त्वस्य सुलभत्वान्न दोषः । तदीयविशेषणदलानुपादाने सुलु पश्य श्रीपपुत्र इत्यादौ ह्रस्वानापत्तिः । संसर्गताप्रयोजकत्वस्य श्रूयमाणे एवाङ्गीकारेण तद्वटितत्वस्यैव प्रातिपदिके सत्त्वेन तदघटितत्वाभावात् । तदुक्तौ तु निरुक्तविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणे तदितरत्वस्याभावेन तदितरसंसर्गताप्रयोजकघटितत्वाभावाद् ह्रस्वः सुलभ इत्याहुः ।

परे तु नपुंसकत्वावच्छिन्ननिरूपितशक्तिविशिष्टत्वं क्लीबत्ववदर्थं वर्तमानत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वपर्याप्त्यधिकरणत्व-स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्यधिकरणत्वैतदुभयसंबन्धेन । काण्डे इत्यादौ च निरुक्तोभयसंबन्धेन शक्तिवैशिष्ट्याभावाच्च दोषः । दोषाभूतमहरित्यादावपि तादृशशक्तेरनङ्गीकारान्न दोषः । अब्भक्षन्यायेन नपुं-

भावः । श्रीपाणीत्यादौ “एकाजुत्तरपदे” इति णत्वं भवत्येवेति बोध्यम् ।
इकोऽचि । सुपीति वक्तव्ये विभक्ताविति चिन्त्यप्रयोजनम्* । वि-
भक्तौ किम् । मधुन इदं माधवम् । हेवारे हेवारीति । अत एव “इको-
ऽचि” इति सूत्रस्थम् “इह किञ्चिन्नपो” इति, “एङ्हस्वात्” इति सूत्रस्थं ‘हेत्रपु’
इति च भाष्यं सङ्गच्छते । वृद्ध्यात्वेति । वृद्ध्यादीनां क्रमेण गावौ, हरौ,
क्रोष्टा, हरये इत्यवकाशः, नुमो वारिणी इति ।

तृतीयादिषु* । भाषितः पुमान् येन शब्देनेत्यर्थे पीलुशब्दे ऽतिप्रस-
ङ्गस्तस्माद्भाषितः पुमान् यास्मिन् प्रवृत्तिनिमित्तरूपेऽर्थे इति बहुव्रीहिः । भा-
षणक्रियया स्वकरणतयाऽऽक्षिप्तशब्दश्च क्लीबेन समानानुपूर्वीकः समानार्थश्च
गृह्यते । प्रत्यासत्तेः । ततो ऽर्शआद्यच् । तत्फलितमाह—प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये
इति । इकोऽचीति, नपुंसकस्येति चानुवर्तते । ते च तत्र षष्ठ्यन्ते ।
अत्रार्थात्प्रथमान्ते । इक इति किम् । श्रीपेण । टादौ कि-
म् । अनादिनी । अयश्च ह्रस्वनुमोरभावातिदेशः क्लीबत्वविशिष्टार्थ-
वाचकस्य । पुंस्त्वविशिष्टार्थवाचकरूपातिदेशे क्लीबत्वरूपार्थनिवृत्तेस्त-
त्प्रयुक्तसर्वकार्याप्रवृत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः ।

सकृत्वावच्छिन्नमात्रनिरूपितोद्भूतशक्तिमत्त्वं विवक्षितम् । तेन पदे न दोषः ।
अत एवात्रत्यं प्रातिपदिकग्रहणं प्रत्याख्यातमित्याहुः ।

चिन्त्यप्रयोजनमिति । वारिशब्दादाचारक्लिवन्तात् यङ्लुकि त-
स्मात् तृजादौ नुमभावार्थं विभक्तावित्यावश्यकमिति केचित् । वारिशब्दादा-
चारक्लिवन्तादाशीर्लिङि ‘वारि-इषीष्ट’ इति स्थिते नुमर्थं सुपीति विहाय विभ-
क्तावित्युक्तमिति परे ।

तृतीयादिषु । यत्प्रवृत्तिनिमित्तं पुंस्त्वस्यान्वयितावच्छेदकं तदेव
यत्र नपुंसकत्वस्यान्वयितावच्छेदकं भवति तद्भाषितपुंस्कमित्यर्थः । पीलुशब्दे
च वृक्षत्वव्याप्यजातिरूपं पुंस्त्वस्यान्वयितावच्छेदकं, फलत्वव्याप्यजातिरूपं च
नपुंसकत्वस्यान्वयितावच्छेदकमिति न तस्य भाषितपुंस्कत्वमिति भावः ।

परे तु भाषितः पुमान् यया शक्त्या सा भाषितपुंस्का, सा विद्यते यस्मि-
स्तद्भाषितपुंस्कम् । अर्शआद्यजितिभावः । तत्र च प्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टशक्ति-
विशिष्टत्वम् । शक्तौ प्रवृत्तिनिमित्तवैशिष्ट्यं च स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितपुं-
स्त्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वं—स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितनपुंसकत्वनिष्ठप्रका-
रताप्रयोजकत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । शक्तिवैशिष्ट्यं च स्वपर्याप्त्यधिकरणत्व—स्व-
ज्ञानार्थानोपस्थितिप्रयोज्यशब्दबोधजनकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यतापर्याप्त्य-

अस्थिदधि ॥ नकारादकार उच्चारणार्थः । अनङ् उदात्त-
स्योच्चारणेन सिद्धाबुदात्तग्रहणम् 'असति यत्र उदात्तादिशब्दैरनुपात्तो
गुणो ऽविवक्षितः' इति ज्ञापनार्थम्* । त्रिचतुरोरिति सूत्रे तिसृचतस्त्रित्यत्र
द्वन्द्वप्रयुक्तेऽन्तोदात्ते कर्त्तव्ये आद्युदात्तानिपातनं विवक्षार्थम्* । निपा-
तनं नामान्यादृशे प्रयोगे प्राप्ते ऽन्यादृशप्रयोगकरणम् । वधादेशेऽपि
हन्त्यनुरूपेऽन्तोदात्ते ऽनुदात्ते वोच्चारणीये आद्युदात्तोच्चारणं विवक्षार्थम् ।
तदुक्तमसति यत्रे इति । परमास्थिशब्दादावन्तोदात्ते उदात्तगुणस्यापि
स्थानित्वेनात्र तद्विवक्षायां न मानमिति भाष्ये स्पष्टम् । उदात्त-
त्वफलं दध्नेत्यादावल्लोपे उदात्तनिवृत्तिस्वरेण विभक्त्युदात्तत्वं, द-
धनीत्यादौ श्रवणञ्च । ज्ञापनफलन्तु तृनृजन्तानां भिन्नस्वरकान्तानाम्
ऋदुशनेत्यनेन तत्स्वरकानङ्सिद्धिरिति दिक् ।

तदन्तेति । आङ्गत्वादिति भावः । अत्रापि नपुंसकस्येति
संबद्ध्यते । तेन धाञ् "आह्वगमहन" इति किप्रत्यये दधिनेत्यादौ न ।
एतच्च गृह्यमाणस्यैव विशेषणम्* । तेनातिदधा ब्राह्मणेनेत्यादि सिद्धम् ।

धिकरणत्वेतदुभयसम्बन्धेन । पीलुशब्दे च यदि वृक्षत्वव्याप्यजातिरू-
पं प्रवृत्तिनिमित्तं ध्रियते तर्हि स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितपुंस्त्वनिष्ठप्र-
कारताप्रयोजकत्वस्य तदवच्छिन्ननिरूपितशकौ सत्त्वे ऽपि स्वावच्छिन्नवि-
शेष्यतानिरूपितनपुंसकत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वस्याभावात्, यदि फल-
त्वव्याप्यजातिरूपं प्रवृत्तिनिमित्तं ध्रियते तर्हि तदवच्छिन्ननिरूपितशकौ
स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितनपुंसकत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वस्य सत्त्वेऽपि
स्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितपुंस्त्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वस्याभावाच्च दोष
इत्याहुः ।

ज्ञापनार्थमिति । "स्वं रूपम्" इत्यत्र रूपपदेनोदात्तत्वानुदात्तत्वस्व-
रितत्वानुनासिकत्वनिरनुनासिकत्वातिरिक्तश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मा-
वच्छिन्नस्य ग्रहणमिति ज्ञापनार्थमिति भावः ।

विवक्षार्थमिति । नच हन्धातोरेकाच्कत्वेन वधादेश आद्युदात्तोऽन्तोदा-
त्तो वा भवतीति 'स्थान्यनुरूपगुणकस्वरे उच्चारणीये' इत्यसङ्गतमिति वाच्यम् ।
'हनो वध' इत्यत्र 'फिष' इति शास्त्रानुगुणेऽन्तोदात्ते वधादेशे उच्चारणीये आ-
द्युदात्तोच्चारणस्य विवक्षितत्वात्, स्थानिनो हन आद्युदात्तत्वेऽपि "धातोः" इत्य-
नेनान्तोदात्तत्वरूपेण साधुत्वबोधनात् तेनैव रूपेणान्तोदात्ते पठनीये आद्युदा-
त्तोच्चारणस्य विवक्षितत्वाद्वा, हनधातोरेनुदात्तोपदेशत्वेन सर्वानुदात्ते वधा-
देशे पठनीये आद्युदात्तोच्चारणस्य विवक्षितत्वादेति दिक् ।

सुभियेति । शोभनज्ञानवत्त्वरूपैकप्रवृत्तिनिमित्तत्वात्* पुंवत् । प्रधीशब्दे प्रकृष्टज्ञानवत्त्वमेकं तत् । माध्विति । मकरन्द-मद्य-माक्षिकवाचिनः पुंनपुंसकयोः सत्त्वात्पुंवत्त्वम् । मृद्वीकाविकारवाचिनो नित्यनपुंसकस्य तु न । स च “माद्वीकं मधु न द्वयोः” इत्यमरेणोक्तः । भाष्ये म-धोस्तृप्ता इत्यस्य लिङ्गव्यत्ययोदाहरणत्वन्तु “माध्वीर्गावो भवन्तु नः” इति-लिङ्गसिद्धक्षीरवाचिनपुंसकमधुशब्दाभिप्रायेणेति दिक्* ।

स्तुर्वेति । “मांसपृत्स्नूनां पदादिषूपसंख्यानम्” इतिवार्तिकेने-ति भावः । पूर्वविप्रतिषेधेनेति । न च नित्यत्वादेव नुम्सिद्धः, किं पूर्वविप्रतिषेधेनेति वाच्यम् । तदन्ते नुमि कृतेऽपि अङ्गाधिकारे तदन्तविधेः सञ्चयेन यदागमा इति न्यायेन नुम्विशिष्टस्य तद्ग्रहणेन ग्रहणात् सूत्रे षष्ठीनिर्देशाभावाच्चिर्दिश्यमानस्य नुमा व्यवधानमित्यस्या-भावेन* तृज्वत्त्वप्राप्तेः । सकृद्वतिन्यायाच्च पुनस्तृज्वत्त्वम् । नन्वयं कुश-क्रोष्ठुनेइत्यस्यैव भाष्ये उदाहरणात्तृतीयादिष्वचीत्येतद्विषयक एव । अ-न्यथा प्रथमोपस्थितसर्वनामस्थानोदाहरणत्यागे वीजानापत्तिरिति चेन्न । उदाहरणस्य संकोचकत्वे मानाभावात् । तदुक्तं ‘न चोदाहणमादरणीयम्’ इति । उदाहृतातिरिक्तोदाहरणाभाव इत्येवंपरतया नादरणीयमिति तदर्थ इत्याहुः ।

स्तुल्वेति । अत्र शोभनलवनकर्तृत्वं प्रवृत्तिनिमित्तम् । पुंव-त्त्वे ह्रस्वाभावेनाधित्वान्नाभावो न । नुमभावाच्च यण् । धातु इति । अनङ् न । नलुप्तमिति निषेधात् । धारणादिकर्तृत्वं चास्यैकं प्रवृत्ति-निमित्तम् । हेधातरिति । “ह्रस्वस्य गुणः” इति गुणः ।

गृह्यमाणस्यैव विशेषणमिति । श्रुतानुमितपरिभाषयेति भावः । *एकप्रवृत्तिनिमित्तत्वादिति* । पुंस्त्वनपुंसकत्वयोः शोभनज्ञानवत्त्वस्यैवा-न्वयितावच्छेदकत्वादिति भावः । *दिगिति* । दिगर्थस्तु “माध्वीर्गावो भ-भवन्तु नः” इतिमन्त्रे मधुशब्दस्य माधुर्यमेवार्थ इति तत्रत्यमधुशब्दस्य क्षीरवाचित्वे न मानमिति दिक् ।

इत्यस्याभावेनेति । न च “तृज्वत्क्रोष्ठुः” इत्यादौ निर्दिश्यमान-परिभाषाया अप्रवृत्तौ परमक्रोष्टेत्यादौ परमक्रोष्ठुशब्दस्य स्थाने तृजन्त-तदादिरूपादेशापत्तिरिति वाच्यम् । अनुत्तरपदस्थस्येतिज्ञापकेन क्वचित्त्वा-द्विधिवेधेनप्रवृत्त्या परमक्रोष्ठु इत्यस्य स्थाने “स्थाने ऽन्तरतम” इति परिभा-

एच इक् । आदेश इति कर्मणि घञ् । ह्रस्वपदेन कर्मधारयः । निर्द्धारणे सप्तमी, सौत्रमेकवचनं, तदाह-आदिश्येत्यादि । मध्ये इत्यपपाठः । तद्योगे षष्ठ्या एवौचित्यात् । एचं पूर्वभागो ऽवर्णसदृशः, उत्तरस्तु इवर्णो-
वर्णसदृशः । तत्रोभयान्तरतमह्रस्वाभावात्पर्यायेणावर्णादेः प्राप्ताववर्णाभावा-
येदं, तदाह-इगेवेति । यथाप्राप्तमेव नियम्यत इति न यथासंख्यम् । ह्रस्व
एचतु नास्त्येव । “एओङ्” इत्यादौ दीर्घनिर्देशादिति स्पष्टं भाष्ये । न
चार्द्धमात्राऽवर्णस्यार्द्धमात्रेवर्णोवर्णयोरिति उत्तरभूयस्त्वात्तत्सदृश इगेव
भविष्यतीति नार्थः सूत्रेणेति वाच्यम् । अर्द्धमात्राऽवर्णस्यार्द्धमात्रेवर्णो-
वर्णयोरित्यस्यापि पक्षस्य “प्लुतावैच” इति सूत्रे विनिगमनाविरहेण
भाष्ये उक्ततया समप्रविभागपक्षस्यैव भाष्यकृतसंमतत्वादित्याहुः ।

प्ररीणामिति । न च “रायो हलि” इति विषयसप्तमी, इति प्रागेवा-
ऽऽत्वम् । निर्दिष्टपरिभाषाबाधे मानाभावात् । आत्वे कृते नुडनापत्या
ह्लादिविषयाभावेन पूर्वमात्वाप्रवृत्तेश्च । केचित्तु नुटो निमित्तस्य सन्निपात-
स्य दीर्घेण विनाशावश्यकत्वेन तद्विषये सन्निपातपरिभाषाया विषय एव न ।
नामीति दीर्घस्तु “सुपि च” इति दीर्घं नित्यत्वाद् बाधते इति माधवाशयमा-
हुः* । ग्रामाणि कुलमित्यादौ नपुंसकह्रस्वत्वे “ह्रस्वस्य पिति” इति तुम् ।
समुदितपातिपदिकापेक्षह्रस्वस्य बहिरङ्गत्वेन वर्णमात्राश्रये ऽन्तरङ्गे तुकि

षया परमकोष्ठ इतितृजन्तादेशो भवतीत्यदोषात् ।

यद्वा, क्रोष्टुरिति षष्ठ्यन्तमेव । तृज्वदिति च मतुबन्तम् । तथा च क्रो-
ष्टुशब्दस्य स्थाने तृज्वानादेशो भवतीत्यर्थ इति षष्ठ्याः सत्त्वेन निर्दि-
श्यमानपरिभाषयैव दोषवारणात् । न च तुन्नन्तक्रोष्टुशब्दस्य कथं क्रोष्टु-
रिति षष्ठ्यन्तं रूपं स्यादिति वाच्यम् । प्रकृतिवदनुकरणमिति परिभाषया अ-
नेनैव तृज्वद्भावेन “घेडिति” इति गुणेन तद्रूपसिद्धिरिति दिक् ।

एच इक् । निर्द्धारणे सप्तमीति । नृणां द्विजः श्रेष्ठ इत्यादौ
यथा नागेशमते नृशब्दार्थस्य स्वघटकत्वं—स्वघटकद्विजेतरयावदवृत्तिश्रे-
ष्ठवत्त्वमेतदुभयसम्बन्धेन, यथा वा ऽस्मन्मते नृपदार्थस्य स्वघटकवृत्तित्वं-
स्वघटकद्विजेतरयावदवृत्तित्वमेतदुभयसम्बन्धेन श्रेष्ठे च अन्वयस्तथा प्रकृतेऽपि
नागेशमते स्वघटकत्वं—स्वघटकेतरावृत्येच्छस्थानिकत्ववत्त्वमेतदुभयसम्बन्धे-
न ह्रस्वादेशपदार्थस्येकपदार्थेऽन्वयः, अस्मन्मते च स्वघटकवृत्तित्वं—स्वघटके-
तरावृत्तित्वमेतदुभयसम्बन्धेनादेशपदार्थस्येच्छस्थानिकत्वे ऽन्वय इति भावः ।

आहुरिति । अभ्यनुज्ञावाक्ये विघातकशाले वा सुङ्कुचि-

असिद्धत्वात् । ये तु “षत्वन्तुकोरसिद्धः” इति वचनात्, “न लोप” इति सूत्रे कृतिरुग्रहणाच्च “ह्रस्वस्य पिति” इति सूत्रे ऽन्तरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तिं वदन्ति तेषामुपजीव्यविरोधान्न तुक् । अजन्तत्वमुपजीव्य ह्रस्वप्रवृत्तेः । न चैवं सन्निपातपरिभाषा व्यर्था । तस्या अप्युपजीव्यविरोधमूलकत्वात् । किं च तस्या अपि स एवार्थः । अत एव सन्निपातपरिभाषादोषनिरूपणावसरे ‘वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तं स्यात्’ इत्युक्तम् । न च ‘न प्रत्ययः सन्निपातलक्षणः, अङ्गसञ्ज्ञा तर्ह्यनिमित्तं स्यात्’ इत्याग्रिमभाष्यविरोध इति वाच्यम् । तस्यैकदेश्युक्तित्वात् । अन्यथा शैव इत्यादावपि सा लोपनिमित्तं न स्यादित्यन्यत्र निरूपितम् । ग्रामणिपुत्रो ग्रामणि कुलमित्यादौ पूर्वोत्तरपदानिमित्ते ह्रस्वे बहिरङ्गपरिभाषयापि (तुग्वारणं) सिद्ध्यतीत्याशयेन “कृन्मेजन्तः” इति सूत्रे ह्रस्वस्य पितीसादौ तदुपन्यास एकदेशिन इति न तद्विरोध इत्यलम् ॥

इत्यजन्ता नपुंसकालिङ्गाः ॥

हो ङः ॥ “झलो झलि” इत्यतो झलीति, पदस्येति, स्कोरित्यतो ऽन्त इत्यनुवर्तते । झलि परे पूर्वस्य पदान्ते विद्यमानस्य* ह्रस्येत्यर्थः । इस्तु न विहितः । (झषन्तत्वाभावेन भष्भाषाप्राप्त्या) धुडित्याद्यसिद्धेः ।

दादेर्धा ॥ दादिग्रहणमौपदेशिकदादित्वबल्लक्षकं व्याख्यानादित्यभिप्रेत्य फलितार्थमाह—उपदेशो इति । एतच्च प्रकृतसूत्रे भाष्ये ध्वनितम् । तत्र हि घत्वस्यासिद्धत्वाद्दृढत्वं प्राप्नोती-

तसङ्कोचमकृत्वा सामान्यतः सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वविषये सङ्कोचाभावे नि कुलमित्यादौ तुगापत्तिः । सुलुनी इत्यादौ जुमर्थं सन्निपातपरिभाषाऽनित्यत्वस्यावश्यकत्वेन “ह्रस्वो नपुंसके” इत्यत्राभ्यनुज्ञावाक्यं सन्निपातपरिभाषाप्रयोज्यसङ्कोचाभावे जुम इव तुकोऽप्यभ्यनुज्ञादाने प्रतिबन्धकाभावात् इति अत्रारुचिर्बोध्या । सङ्कुचितसङ्कोचे तु सकलेष्टसिद्धिः ।

इत्यजन्ता नपुंसकालिङ्गाः ॥

पदान्ते विद्यमानस्येति । ह्रस्य पदविशेषणत्वं स्वीकृत्य हान्तं यत्पदं तदवयवस्य निर्दिश्यमानस्येति वक्तुं युक्तम् । यद्वा धर्मिपारतन्त्र्येण ह्रस्वसमानाधिकरणपदान्तत्वाश्रये विद्यमानस्य ह्रस्येत्युचितम् । यद्वा ऽन्ते इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वं प्रकल्प्य पदान्तस्य ह्रस्येत्यव्याख्यानमुचितम् । यथाश्रुतन्तु न सम्यक् । लिहावित्यादौ हाविति समुदायस्य पदान्तत्वेन तत्र विद्यमानस्य ह्रस्य दत्त्वापत्तेरिति केचित् । वस्तुतस्तु पद-

त्पाशङ्क्यापवादत्वेन समाधाय, 'अथवा एवं वक्ष्यामि-होढो ऽदा-
देरिति । ततो धातोरिति । दादेरिति वर्त्तते, नेतिनिवृत्तम्' इत्युक्तम् ।
बुहेस्तु "वा बुह" इत्यनेन ढत्वस्यापि विधानात्तत्र न दोष इति तदाश-
यः । तत्र धातोरिति-सूत्रे भाष्यकृत्कृतदादेरित्यनुवृत्तेः फलान्तराभावे-
न* तद् उपदेशवद्वादिलक्षकम् । सामर्थ्यात् । अर्थाधिकारानुरोधाच्च पूर्वत्र
निषेधसमर्पकेऽप्येवम् । अत एव नामधातुविषये दामलिङित्यादौ ढत्व-
घत्वाभावौ सिद्धौ । एवञ्च तदेकवाक्यतया ऽपवादत्वपक्षे ऽपि दा-
दिपदस्योपदेशकालिकदादित्ववल्लक्षकतोचिता । तदनन्तरं दादेरिति व-
र्त्तते इति भाष्यस्योक्ताशयमजानतो धो दादेरित्युच्यते कथमधोगिति
शङ्कायाम् "एकाच" इति सूत्रार्थमपि प्रसङ्गान्निर्णेतुं धातोरवयवो यो दादि-
रित्यर्थमुक्त्वा गर्दभयतेरप्रत्यये गर्द्वित्यादौ भष्भावायोत्तरसूत्रे आ-
वश्यकं वैयधिकरण्यमुक्त्वा दोग्धेति तु व्यपदेशिवद्भावात्सिद्धमिति भाष्ये
उक्तम् । तत्रोत्तरार्थं वैयधिकरण्यमावश्यकमिति वदता तस्येहानाव-
श्यकत्वं सूचितम् । तेन च दादेरित्यस्योक्तार्थकत्वं सूचितमित्यन्यत्र
विस्तरः ।

स्य वैयधिकण्यान्वयात्, धर्मिपारतन्वयेण्यान्वयस्यापि अत्राप्रामाणिकत्वात्,
अन्ते इत्यस्य षष्ठ्यर्थकत्वकल्पनायां गौरवात् अन्तशब्दस्य प्रकृते ऽवसा-
नार्थकत्वं स्वीकृत्य 'वाऽवसाने' इत्यादाविव पदावसाने विद्यमानस्य हस्ये-
त्यर्थकरणेन लिहौ इत्यादौ ढत्वादिवारणं बोध्यमिति दिक् ।

फलान्तराभावेनेति । दादिभिन्ने धातौ घत्वस्यासिद्धत्वाद्ढत्वेन
न तत्र घत्ववारणाय सेति भावः । ननु दाद्यवयवभिन्नहस्यं ढत्वविधानेन
लेढीति लिट् दामनः लिट् दामलिङित्यत्र हस्यं दाद्यवयवत्वेन ढत्वानापत्तिरिति
चेन्न । अर्थाधिकारानुरोधेनौपदेशिकदादिधात्ववयवभिन्नस्येत्यर्थेनादोषात् ।

परे तु दादेरित्यस्यानुवृत्तेरत्रार्थाधिकारानुरोधाद्दादिधात्ववयव-
भिन्नस्येत्यर्थसंपादनेन चारितार्थ्यात्तादृशार्थकल्पने प्रमाणाभावः । न चैवं क्य-
जन्तानिष्पन्नदामलिङ्शब्दे ढत्वानापत्तिरिति वाच्यम् । इष्टापत्तेः । अत एव
भाष्ये "घोऽदादेरित्युच्यते, कथमधोगिति" इति शङ्कायां धातोरवयवो यो दादि-
रिति वैयधिकरण्येनैव समाधानमुक्तम् । दामलिङ्शब्दे घत्ववारणाय तदर्थमव-
श्यं लक्षणाश्रयणे तेनैवाधोगित्यत्र निर्वाहे "घोऽदादेरित्युच्यते" इति शङ्का-
यां वैयधिकरण्येन समाधानस्य चासङ्गतिः स्पष्टैव । तस्मात्तादृशार्थं ल-
क्षणाऽप्रामाणिकी । अत एव सूत्रे धातोरिति चरितार्थम् । अन्यथौपदेशिकदा-
दित्ववतो धातुभिन्नस्याप्रसिद्ध्या तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्याहुः ।

*धुगित्यादिसिद्धये गो नोक्तः । “औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्य ग्रहणम्” इति परिभाषा तु तत्र तत्रोपदेशग्रहणं कुर्वत्सूत्राविरोधेन “तरन्तमपौ घः” “अत्वसन्तस्य” इत्यादिसूत्रस्थभाष्यविरोधेन चाप्रामाणिकी । तत्र हि भाष्ये इदमुक्तम् “इह हि व्याकरणे सर्वेष्वेव सानुबन्धकग्रहणेषु रूपमाश्रीयते यत्रास्यैतद्रूपमिति, रूपनिर्ग्रहश्च शब्दस्य नान्तरेण लौकिकं प्रयोगं, तस्मिंश्च लौकिके प्रयोगे सानुबन्धकानां प्रयोगो नास्तीति कृत्वा द्वितीयः प्रयोग उपास्यते । कोऽसौ ? उपदेशो नामेति” । अनुबन्धप्रस्तावात्सानुबन्धकेष्वित्युक्तम् । न्यायस्यान्यत्रापि तुल्यत्वादिति बोध्यम् ।

एकाचो ॥ “झष् झषन्तस्य” इति वक्तुं युक्तम्* । भष्पदाशक्तिकल्पनेन लाघवात् । निवृत्तमिति । धुग्भ्यामित्यादौ पदान्तत्वादेव सिद्धिरिति भावः । सामर्थ्यादिति । स्ध्वोर्ग्रहणस्येतरव्यावृत्त्यर्थत्वे तु तदनुवृत्तौ फलाभाव इति भावः । धातोः किम् । *तद्वाडित्यादि* । ननु दुर्हेर्घत्वे धात्ववयवमेकाञ्जरूपं दु इति, उधिति च । तत्राद्यो झषन्तो, ऽन्त्ये न बश् । दुधिति तु नावयव इति कथं भग्भावः ? अत आह—व्यपदेशिवदिति* । विशिष्टोऽपदेशो मुख्यव्यवहारः सोऽ-

*गो नोक्तइति । गत्वे झषन्तत्वाभावाद्भष्भावानापत्तिरिति भावः ।

वक्तुं युक्तमिति । ननु सर्वे सर्वार्थवाचका इति सिद्धान्ताद्भषो भकारादिषान्तसमुदाये शक्तिः सिद्धेवेति चेन्न । तदर्थं वक्तुस्तात्पर्यकल्पने गौरवात् । लाघवाद्भषो भष् इति वक्तुं न युक्तम् । “झषस्तथोः” इत्यत्र तस्यावश्यकत्वात् । अत एवोद्भवातोः किञ्चि उगधिरिति सिद्धम् । *तद्वाडिति* । ननु भष्भावेऽपि पुनः जश्त्वेन न दोष इत्यत आह— *आदीति* । आदिना गद्वाडित्यस्य सङ्ग्रहः । गदु अहोतीति विग्रहः ।

व्यपदेशिवद्भावेनेति । सूत्रकारः स्वघटकावधिकपरत्वं—स्वघटकावधिकपूर्वत्वाभाववत्त्वमेतदुभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टत्वरूपान्तत्वं, स्वघटकावधिकपूर्वत्वं—स्वघटकावधिकपरत्वाभाववत्त्वमेतदुभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टत्वरूपादित्वं स्वीकृत्य आभ्यामित्यादौ अकारादौ स्वघटकावधिकपरत्वाभावेन अकारान्ताङ्गाद्यभावेन दीर्घादीनामप्राप्त्या दीर्घादिसिद्ध्यर्थम् “आद्यन्त” इति सूत्रं प्रणीतवान् । तत्र वार्तिककारः अन्तादिलक्षणयोः स्वघटकावधिकपूर्वत्वस्वघटकावधिकपरत्वरूपसम्बन्धयोः प्रयोजनाभावेन तयोस्तन्नानुपादानेन आभ्यामित्यत्राकारान्तत्वस्य सुवचत्वेन सूत्रं निष्फलमित्याह ।

स्यास्तीति व्यपदेशी *तेन तुल्यमित्यर्थः । इदमाद्यन्तवत्सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । एकाचः किम् । दामलिद् । वशः किम् । क्रोत्स्यति । ऋषन्तस्य किम् दास्यति । धुगिति । 'अत्वसन्तस्य' इति सूत्रे ऽधातोरिति निषेधेन *कारकं प्रत्यप्रधानभूतक्रियावाचकस्यापि धातुत्वादिति भावः । *न च "धातोरुच्यमानङ्कार्यन्तत्प्रत्यये भवति" इति परिभाषया कथमत्र घत्वादि ?, तत्प्रत्ययो धातुसंशब्दनेन विहितः प्रत्ययः, इति वाच्यम् । अस्य पदान्तनिमित्तत्वेन प्रत्ययनिमित्तत्वाभावात् । अत एव 'अप्रशान्' इति चरितार्थम् । अन्यथा 'मो नो धातोः' इत्यत्रापि तत्प्रवृत्तौ नत्वा नापरया तदसङ्गतिः स्पष्टैव ।

वा द्रुह ॥ द्रुहेः प्राप्तेरन्येषामप्राप्तेरुभयत्र विभाषेयम् ।

इग्गणः ॥ यणः स्थाने इति । नन्वेवमदुहितरामित्यादौ लस्योत्तमैकवचने इटि तस्य सम्प्रसारणत्वाद्धल इति दीर्घापत्तिः ।

भाष्यकारस्तु विषयितासंबन्धेन स्वाधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितानवच्छेदकत्वं-विषयितासंबन्धेन स्वाभाववहूतितावच्छेदकत्वमेतदुभयसम्बन्धेन समुदायविशिष्टधर्मवत्त्वं घटकत्वं, विषयितासंबन्धेन स्वाभाववहूतितानवच्छेदकत्वं-विषयितासंबन्धेन स्वाधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकत्वमेतदुभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टधर्मवत्त्वं घटितत्वं च स्वीकृत्य तयोश्चाद्यन्तलक्षणयोर्निवेशं केवले अकारे मुख्यस्याकारादित्वस्य व्यवहारो मा भूदित्येतदर्थं स्वीकृत्य आभ्यामित्यत्राकारे ऽङ्गे अकाराधिकरणवृत्त्यभावप्रतियोगितावच्छेदकधर्मवत्त्वाभावेन घटित्वाभावाद् दीर्घार्थं "व्यपदेशिवदेकस्मिन्" इति प्रणीतवान् । तथा चैकस्मिन्नेकसम्बन्धविशिष्टे व्यपदेशिवत् सम्बन्धद्वयविशिष्टवत्कार्यं कर्तव्यमिति फलितोऽर्थः । एतन्मूलकमेवानया घटितत्वघटकत्वे एवातिदिश्येते इति साम्प्रदायिकानां वाद इत्यन्यत्र विस्तरः ।

*तेन तुल्यमिति । उपमानोपमेययोः समानविभक्तिकत्वानियमात्सम्यन्ताद्वतिरुचितः । तथा च यथा व्यपदेशिनि सम्बन्धद्वयविशिष्टे कार्यं भवति तथैकसम्बन्धविशिष्टे ऽपि कर्तव्यमित्यर्थ इत्युपपादितमेव पूर्वमिति दिक् । *कारकं प्रतीति* । इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानाश्रयरूपमुख्यपदार्थघटकेतरपदार्थं प्रत्ययेतरत्वेन संकोचादिति भावः । *न चेति* । क्षिपः प्रत्ययलक्षणेन धातुशब्दोच्चारणेन विहितप्रत्ययाव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्य पदान्ते विद्यमानत्वेन तत्प्रवृत्तेः सुवचत्वाच्छङ्कासमाधाने अत्र निर्दले । ज्ञापकसाज्ञात्याद्धातुत्वेतरधातुत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यताककार्यं तस्याः प्रवृत्तिस्वीकारेण तस्या अत्रापवृत्तेश्चेति दिक् ॥

न च यथासंख्यसम्बन्धाददोषः । ऋलृक्मूत्रे 'लृकारोपदेशः किमर्थ' इत्यादिभाष्यविरोधात्; इति चेन्न । विधिप्रदेशेषु 'यण इक्' इत्येवं सिद्धे सञ्ज्ञाविधानसामर्थ्येन *तद्भाविनपक्षाश्रयणान्न दोषः । 'वाक्यस्य स-
ञ्ज्ञा' इति पक्षे भाष्ये "सम्प्रसारणस्येत्यादौ संप्रसारणजातस्य संप्रसारण-
ग्रहणेन ग्रहणम्" इत्युक्ततया तदेकवाक्यतया ऽत्र पक्षे तद्भाविनस्य सं-
ज्ञेति भाष्ये सूचितम् । *तेन धुभ्यामित्यादावपि न दीर्घप्राप्तिः ।
अत एव अक्षद्युश्चासावरुणश्च अक्षद्युरुण इत्यादौ पूर्वरूपं न ।
समानाङ्गग्रहणं तु भाष्ये प्रत्याख्यातम् । तथा च भाष्यं—'शकद्वर्थमित्यादौ
पूर्वरूपाभावाय समानाङ्गग्रहणं कार्यम् । न कार्यम् । असंप्रसारणत्वात् ।
अन्योऽयं संप्रसारणासंप्रसारणयोः स्थाने एक आदिश्यते । यदि नेदं

तद्भाविनपक्षाश्रयणादिनि । तेन भाविनस्तद्भाविनः । प्रयोज्यत्वं तृती-
यार्थः । न च यदा तेन संज्ञा तदा तद्भावितत्वं, यदा च तद्भावितत्वं तदा तेन
संज्ञेत्यन्योन्याश्रय इति वाच्यम् । सम्प्रसारणपदप्रयोज्यत्वस्योपलक्षणत्वेनादो-
पात् । खण्डशः शक्तिस्वीकारेण विधेयस्थले सम्प्रसारणपदप्रयोज्यत्वस्य मोषे-
णादोषाच्चेत्युपपादितं 'प्रत्ययस्य लुक्' इत्यत्रैवेति तत् एवावधारणीयम् । *तेन
धुभ्यामिति* । नन्वतद्भाविनसंज्ञापक्षेऽपि निरुतं दुरुतमित्याद्यर्थं "हलः" इत्य-
स्य सम्प्रसारणप्रयोजकप्रत्ययनिमित्तकाङ्गसंज्ञावदवयवहलः परस्येत्यर्थश्रय-
णेन 'अदुहितराम्' इत्यादौ न दोष इति चेन्न । निरुतमिति भाष्यप्रामाण्येन सम्प्र-
सारणघटिताङ्गघटकहलः परस्येत्यर्थस्वीकारेण तत्र दोषाभावेऽप्यत्र दोषस्य
तादवस्थयात् । न च तत्परकरणसामर्थ्यान्न दीर्घ इति वाच्यम् । दिव्शब्दप्रकृ-
तिकक्यजन्तात्किवपा निष्पन्नं ध्रुशब्दे चारितार्थात्—इति "भाव्यमानोऽप्युकारः"
इत्यत्र परिभाषेन्दुटिप्पण्यां । वस्तरेणोपपादितम् । ननु निरुतमित्यादिभाष्य-
प्रामाण्यात् पूर्वोक्त एवार्थ इति अदुहितरामित्यत्र न दोष इति चेत्—तत्रा-
ह—*अत एवेति* । ननु 'समानाङ्गग्रहणं कर्तव्यम्' इत्यस्य प्रत्याख्यानन्तु
तद्भाविनपक्षाभिप्रायेणैव, अतद्भाविनपक्षे तु न तस्य प्रत्याख्यानमित्यत आह—
आदाविति । आदिना धुपुत्र इत्यस्य संग्रहः । तत्र हि 'सम्प्रसारणस्य' इति
दीर्घापत्तिर्वोध्या । अज्विशिष्टस्य 'यणः संप्रसारणसंज्ञां विधाय 'सम्प्र-
सारणाच्च' इति सूत्रं त्यक्तुं शक्यमिति चेन्न । विद्वांसमाचष्टे विदावयती-
त्यत्र नित्यत्वात् टिलोपे अचोऽभावेन संप्रसारणानापत्तेः । इदानीं संप्र-
सारणे नित्यत्वस्य वक्तुमशक्यतया पूर्वं संप्रसारणे टिलोपे च विदयती-
त्येव रूपमित्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् । विदयतीति तु अङ्गवृत्तपरिभाषायाः
सिद्धान्तसम्मतत्वाभावेनायुक्तमेव । विश्वौह इत्यादौ विनिगमनाविरहात्
पूर्वाऽज्विशिष्टस्यापि संप्रसारणेऽनिष्ठापत्तेरिति दिक् ॥

संप्रसारणम् । 'हलः' इति दीर्घत्वं न प्राप्नोति । वचनप्रामाण्याद्भविष्य-
ति'इति । 'न संप्रसारणे'इति निषेधोऽपि वचनप्रामाण्यात्पूर्वरूपोत्तरम् । न
च यु-उ-अन्-अस् इति स्थिते ऽन्तरङ्गत्वादीर्घे पूर्वरूपं न स्था-
दिति वाच्यम् । अन्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वेनेहाप्रवृत्तेः । न चैवं
तत्र सवर्णदीर्घोत्तरं "न संप्रसारण"इति निषेधो न स्यादिति वा-
च्यम् । 'अचः परस्मिन्'इति स्थानिवत्त्वादिति दिक् ।

बाह् ऊढ् ॥ 'भस्य'इत्यधिकारः । 'वसोः संप्रसारणम्'इत्यतः सं-
प्रसारणमित्यनुवर्तते, तच्चोठो विशेषणम् । तेन 'अलोऽन्त्यस्य'इति न । तदा-
ह-भस्येत्यादि । ह्रस्व ऊढ् न कृतः । वृद्ध्यनापत्तेः । वृद्धिविधात्रापि
ह्रस्वग्रहणे जनौरित्याद्यसिद्धिः । 'च्छोः शूद्'इत्यत्रापि ह्रस्वकरणे
ऽक्षद्यूरित्याद्यसिद्धिः । अतद्भाषितत्वेन तस्यासंप्रसारणत्वाद् 'हल'इति
दीर्घाप्राप्तेः ।

संप्रसा ॥ "अमि पूर्वः"इत्यतः पूर्व इति, "इको यण्"इत्यतः
अचीति, "एकः पूर्वपरयोः"इति चानुवर्तते । तदाह-संप्रसारणादची-
त्यादि । ऊठष्ठिचम् 'एत्येधति'इत्यत्र विशेषणार्थम् ।

छन्दस्येवेति । छन्दसीत्यनुवर्तमाने "वहश्च"इत्यनेनेति भावः ।
णिजन्ताद्विजिति । अनेन लोके विश्ववाद्शब्दस्य साधुत्वमात्रमुच्य-
ते । न त्वस्योढ् । णिलोपस्य स्थानिवत्त्वात्* । *अङ्गभसंज्ञाक्षिप्तप्रत्ययेन

परे त्वतद्भाषितपक्षस्याश्रयणेऽपि न कश्चिद्दोषः । अथ
द्युपुत्र इत्यत्र "सम्प्रसारणस्य" इति दीर्घापत्तिः । न च 'उत' इतितपर-
करणसामर्थ्येन न दीर्घ इति वाच्यम् । दिव्शब्दात्कयचि ततः किपि सम्प्र-
सारणे "हलः"इति दीर्घे भ्यामि'द्यू-भ्याम्'इतिस्थिते ह्रस्वार्थे तस्यावश्यकत्वात्
इति चेन्न । उत्तरपदार्थस्य सम्प्रसारणपदार्थे विशेषणत्वेनोत्तरपदनिमित्त-
कसम्प्रसारणस्यैव तेन दीर्घविधानात् । अतद्भाषितपक्षे 'समानाङ्गग्रहणं क-
र्तव्यम्'इति वार्तिकस्य सत्त्वात् "द्युश्चः" इत्यादौ पूर्वरूपमित्याहुः ॥

नन्वेवं ह्रस्वे उठि न कश्चिद्दोष इति चेत्, अनेकत्र क्लिष्टकल्पनायां
लाघवाभाव एवेति गृहाणेति दिक् ॥

णिलोपस्य स्थानिवत्त्वादिति । नन्वेवं 'वहेर्वाहेर्वा णिवविचावनभि-
धानान्न स्त एव'इतिपरिभाषेन्दुशेखरस्थग्रन्थाविरोध इति चेन्न । तत्र बाह्वा-
नुप्रकृतिकयोस्तयोरनभिधानबोधनेनादोषात् । *अङ्गभसंज्ञाक्षिप्तेति* । ननु

वाहो विशेषणात् । विजग्रहणं क्विपोऽप्युपलक्षणम् । 'वच्यादिभ्यो वि-
हिते किति' इति व्याख्यानस्याचः परस्मिन्नित्यत्र काम्यचसूत्रे च भा-
ष्ये उक्तत्वेन ण्यन्तात्कौ संप्रसारणाप्राप्तेः । प्रतिपदोक्ततया किशब्द-
मुच्चार्य विहितविधेरेव "कौ विधिं प्रति न स्थानिवत्" इत्यत्र ग्र-
हणेन णिलोपस्य स्थानिवत्त्वाच्च । तेन काम्यचसूत्रोक्तविहितविशे-
षणपक्षतदितरपक्षयोर्न फलभेदः । वस्तुतो "विभाषा पूर्वाह्णापराह्णा-
भ्याम्" इति सूत्रे 'प्रष्ठौह आगतं प्रष्ठवाङ् रूप्यम्' इति भाष्ये लौकिकविग्रह-
वाक्ये प्रष्ठौह इति प्रयोगादन्यत्रापि णिवः । तदुक्तम्—इति पक्षे इति ।

चतुरनङ् । 'इतोऽस्तसर्वनामस्थाने' इत्यतः सर्वनामस्थाने इति वर्त्तते ।

*सावन । "आच्छीनद्योः" इत्यबो नुमनुवर्त्तते, आदिति च । तदाह-
आदित्यधोति । विशेषविहितेनेति । यासुटा सीयुडिवेत्यर्थः ।
न बाङ्ग्यते इति । उपजीव्यत्वादिति भावः । अस्मा चेति । "अ-
मसंबुद्धौ" इति विशेषविहितेनामेत्यर्थः । नुम उपजीवकत्वेन विरोधा-
भावात् । ततः प्राक् तस्याप्राप्तेः इति भावः । क्व चित्तु 'आमा च नुम
बाङ्ग्यते' इति पाठः । तत्रायमर्थः । बह्वनङ्वांहीत्यादौ "नपुंसकस्य" इति
नुम् परत्वादामा बाङ्ग्येत । पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् न बाङ्ग्यत इति ।
दत्वं नेति । अनङ्वांस्तत्रेत्यत्र कृत्वं भवत्येव । तत्रोपदेशवैयर्थ्या-
भावात् । संयोगान्तलोपस्येति । हस्थानिकस्येत्यर्थः । एवञ्च न-
स्य प्रातिपदिकान्तत्वाभाव इति भावः । अनङ्वानिति । अनः
शकटं वहतीत्यर्थे वहेः क्विनसि, अनसो डश्च । यजादित्वात्संप्रसारणम् ।

'न लुमताऽङ्गस्य' इत्यत्रत्योक्तविशा प्रत्ययाक्षेपो न स्यादिति दमयुक्तमिति चेन्न ।
प्राचीनमतमवलम्ब्यैतद्ग्रन्थस्य सत्त्वात् । भसंज्ञायां कर्तव्यायां स्थानिवत्त्व-
स्य जागरूकत्वेन ऊठोऽप्राप्त्या तदप्रवृत्तावेव तात्पर्याच्च ।

सावनङ्गुहः । अथ "वसुसंभुध्वंस्वनङ्गुहां दुः" इति न्यासं कृत्वा
उगित्वसामर्थ्यात् असिद्धत्वं बाधित्वा उगिदचामिति नुमा सिद्धेः इदं सूत्रं
न कार्यम् । नच, अनङ्गुदीतरेत्यत्र उगितश्चेति समाश्रयह्रस्वविकल्पापत्तिरिति
वाच्यम् । तत्र पेषुमतिरित्यत्र ह्रस्वविकल्पवारणाय विहि-
तविशेषणाश्रयणेन दोषाभावात्—इति चेन्न । स्वनङ्गात् स्त्रीत्यत्र उगि-
तश्चेति जीवापत्तेः । न च पदत्वमुपजीव्य प्रवृत्तं दुत्वं पदत्वविघातक-
जीपो निमित्तं न स्यादिति वाच्यम् । जीपः साक्षात्पदत्वविघातकत्वाभा-
वात् । परम्परया विघातकस्य विघातकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकसंज्ञाऽति-

ननु हेऽनङ्गन् इत्यत्र सम्बुद्धिलोपे ऽवशं प्राप्ते अम आरम्भादमोऽपवादत्वेन तद्विषये सम्बुद्धिलोपानापत्तिः । विषयभेदेऽप्यचिरादेशस्य नुडपवादत्वमाशङ्कितं सप्तमे भाष्ये; इति चेन्न । प्रत्ययलोपविधायकैः प्रत्ययानुत्पत्तेरेवान्वाख्यानेनापवाद-वस्यैवासम्भवात् । ध्वनित-शब्दं प्रत्ययलक्षणसूत्रे भाष्यकैयटयोः । एवमेव 'अतृणेत्' अनङ्गान्' इत्यादेस्तत्सूत्रोदाहरणत्वमुपपद्यते इति दिक्* ।

सहेः सा ॥ "अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः" इत्यधिक्रियते । लोके त्विति । एतेन "तुराषाण्मेघवःहनः" इति व्याख्यातम् । "नहिटति" इत्यनेन क्विन्तसहावेव दीर्घविधानादाह-"अन्येषामपि" इति ।

दिक् औत् । ननु विधेयविषये उच्चारणार्थानामपीत्संज्ञोचिता । अन्यथा तान्तस्य विधानमित्यस्याप्यापत्तेः । ध्वनितशब्दमङ्गसूत्रे भाष्ये । तत्र हि द्वित्राभावे ऽदादेशे पूर्वसवर्णदीर्घमाशङ्क्यानुनासिकोपधत्वादिति समाहितं, *न तूच्चारणार्थत्वादिति । किं च द्वितीयवर्णोच्चारणे सहायसंपादनेन चरितार्थेषु तत्र तत्र विशेषणार्थेष्विव हलन्त्यसूत्राप्रवृत्तौ मानाभावः । अत एव "तस्य लोपः" इति सूत्रे-ऽनुबन्धानामेकान्तत्वपक्षे "दिक् औत्" इत्यादीनां सर्वादेशत्वापादनं भाष्ये

रिक्तशास्त्रस्य तु नानया व्यावृत्तिः । अतएव ऊखतुरित्यादौ अभ्याससंज्ञासवर्णदीर्घादीनां प्रवृत्तिर्भवत्येवेति दिक् ॥ आन् इत्यसिद्धापत्तेश्चेतिकश्चित् ।

उपपद्यते इति दिगिति । दिगर्थस्तु इदमयुक्तम् । तथा सति 'सः' इत्यत्रापि प्रथमतो हल्ङ्यादिलोपे प्रत्ययलक्षणेन त्यदाद्यत्वेऽपि विसर्गश्रवणं न स्यात् । किञ्च प्रत्ययस्थानिककार्ये कर्तव्ये प्रत्ययलक्षणाभावेन 'भवतात्' इत्यत्र 'अतो हेः' इत्यनेन लुकि 'भव' इत्येकस्थैव रूपस्यापत्तेः । तस्मात् स्वविषये नाप्राप्तप्रत्ययानुत्पत्तिरपि बाध्यते । ततश्च प्रकृतदोषस्तदवस्थ एव । तस्माद् हल्ङ्यादिलोपविषये तक्रन्यायस्यानित्यत्वमेवाश्रयणीयम् । तदनित्यत्वे प्रमाणं तु 'इदमो मः' इति सूत्रमेवेत्यन्यत्र विस्तरः । यद्वा सावपि पदं भवति इति सिद्धान्तादत्र 'भवेत्' इत्यत्रेव तल्लक्ष्यत्वाभावेन पुनः संयोगान्तलोपेनेष्टसिद्धिरिति विचारणीयं सुधीभिः ।

न तूच्चारणार्थत्वादिति । ननु सम्बुद्धिलोपविषये 'सन्निपातपरिभाषाया अनित्यत्वादनुनासिकाकारपक्षे सम्बुद्धिलोपप्राप्त्या तस्यैकदेश्युक्तित्वमावश्यकम् । अत एव तत्पक्षे 'साधीयोऽत्र सम्बुद्धिलोपः प्राप्नोति' इति भाष्ये उक्तमिति चेन्न । ग्राम-

कृतम् । “तित्स्वरितम्” इति सूत्रे च भाष्ये ‘तिति प्रत्ययग्रहणं कर्त्तव्यम्’ इति वार्तिकस्य धुभ्यामित्यादौ तदभावः फलमित्युक्तम् । दिच्च्माश्रित्य च प्रत्याख्यातं तदित्यन्यत् । किं चाऽऽदेशेषु सर्वत्र तकाराणामुच्चारणार्थत्वेनेत्संज्ञकत्वाभावात्तिति प्रत्ययग्रहणं व्यर्थमेव स्यात् । तथा विधेयविषये उच्चारणार्थानामप्यनुनासिकत्वेनेत्संज्ञा । अत एव “वेर-पृक्तस्य” इत्यत्रापृक्तग्रहणाभावे दर्विरित्यत्र लोपमाशङ्क्यानुनासिकपरस्य वेर्ग्रहणमिति भाष्ये उक्तम् । अत एव “इदितो नुम्” इति सूत्रे भाष्ये धातोरित्यस्याभावे सिच इदिच्चादभैत्सीदित्यादौ नुममाशङ्क्य सजादेशकरणेन समाहितं, न तु सिच इकारस्योच्चारणार्थत्वादिच्चाभावेन । ल्युडादावुकारस्यानाकाभ्यामेव निवृत्तिरिति न तस्येत्संज्ञा । अनुनासिकत्वाभावात् । अत एव नन्द्यादिभ्यो ल्युप्रत्यये ‘नन्दना’ इति टावन्तप्रयोगो “गाङ् लिटि” इति सूत्रे भाष्ये । ‘ल्युः कर्त्तरि पुंसि’ इति त्वमरस्य प्रमादः ।

अनुवादविषये तु हलन्त्यसूत्रभाष्योक्तरीत्या तेषां व्यवसितान्त्यत्वाभावेन फलाभावेन चेत्संज्ञाशास्त्राप्रवृत्तेरुच्चारणार्थवर्णसहितसमुदायस्य तद्रहिते लक्षणा । विधौ तु नोचिता सा । ‘न विधौ परः शब्दार्थः’ इति न्यायात् । “णौ गमिः” इत्यादीनां नुम् तु न । स्थानिवद्भावेन भाव्यातिदेशिकधातुत्वं गृहीत्वेकः सत्त्वात् । ‘गमेरिड्’ इति वच्च नोपधालोपः । अत एव सुबुत्पत्तिः । अन्यथा ‘हनो वध लिङि’ इति वत् सा न स्यात् । “अस्तेभूः” इत्यत्रापि निर्विसर्ग एव पाठ इति केचित् । एवञ्चात्र “तित् स्वरितम्” इति स्वरितापत्तिरिति चेन्न । दिव

णि कुलमित्याद्यर्थं सङ्कुचितसंकोचस्यावश्यकत्वेन “ह्रस्वस्य गुणः” “अम्बार्थन-द्योर्ह्रस्वः” इत्येतद्वाक्यार्थं “एङ् ह्रस्वात्” इत्येतदतिरिक्तत्वेन सङ्कोचेऽपि अत्र तदतिरिक्तत्वेन सङ्कोचे प्रमाणाभावात् । साधीय इति भाष्यमेकदेशिन इति उपपादितमजन्तनपुंसकान्ते इति तत एवावधार्यम् ।

परे तु उच्चारणार्थानां विनैवेत्संज्ञां निवृत्तिस्वीकारे न बाधकम् । उच्चारणार्थमित्यस्योच्चारणमेवार्थः प्रयोजनं यस्येत्यर्थस्य स्वयमेवोक्तत्वेनात्राकारस्योच्चारणे पूर्वसवर्णदीर्घसम्पादनेन चारितार्थ्यादत्रोच्चारणार्थत्वासंभवेन विना इत्संज्ञां तस्य निवृत्तेरसंभवेनानुनासिकोपधः स स्वीकृत इति कोऽवृद्धसूत्रस्थभाष्येण विरोधः । “दिव औत्” इत्यत्र तकारस्यापि सर्वादेशत्वसं-पादनेन चारितार्थ्यादुच्चारणार्थत्वासम्भवात् ‘नानुबन्ध’ इति परिभाषया फला-

इकारस्योदात्तत्वेन संसनधर्मिणो हलः स्थाने जायमानौकारस्यानुदात्तत्वे-
नेकारस्य यणि “उदात्तस्वरितयोर्धनः” इतिस्वरितसिद्ध्या फलाभावान् ।
तिति प्रत्ययग्रहणं कर्तव्यमिति वार्तिकेन तदप्राप्तेश्च । अन्तोदात्तं द्यौ-
रिति तु द्यौशब्दस्य बोद्धव्यम् ।

अल्विधित्वेनेति । “अनल्विधौ” इत्यत्र पञ्चमीसमासस्याप्याश्र-
यणादिति भावः । पदान्त इति । एङः पदान्तादित्यनुवृत्तस्य विभ-
क्तिविपरिणाम इति भावः । अयमुकारो ऽन्तोदात्तो निपात्यते । तेन ‘द्यु-
भिरक्तुभिः’ इत्यादौ पठ्यमानमन्तोदात्तत्वं सिद्धम् । अत्र यथा “हलः” इति
दीर्घो न तथोक्तम्* । उतस्तपरत्वन्तु “भाव्यमानोऽप्युकारः सर्वग्राहकः”
इत्यर्थः* ज्ञापनार्थमिति “तित्स्वरितम्” इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् । द्युभ्यामित्यत्र

भावोपपादकं तज्ज्ञाप्यमिति कस्तेनापि सह विरोधः । एवं “तिति प्रत्ययग्रहणं
कर्तव्यम्” इतिवार्तिकाभावे तकारस्य तित्वसंपादनेन चारितार्थ्यादुच्चारणार्थत्वा-
सम्भवाद्भिन्नैवेत्संज्ञां निवृत्त्यभावेन तित्वमुक्तमिति कस्तेनापि सह विरोधः ।
तकारस्योच्चारणार्थत्वसंपादनेन वार्तिकस्य साफल्यञ्च वार्तिकवैयर्थ्य-
मपि । दर्विरित्यत्र लोपवारणायानुनासिकत्वं स्वीकृत्यानुनासिकान्त्यस्येति
व्याख्यानमिति न तेनापि सह विरोधः । सिच इदित्वस्य ‘अमंस्त’ इत्यत्र
‘अनिदिताम्’ इत्यस्य न विद्यते इद्यस्मिंस्तेषामित्यर्थेन नलोपाभावार्थमावश्यक-
त्वेनेदित्वानुमः शङ्कापि युक्तैव । “हनः सिच्” इत्येतज्ज्ञापकादनिदितां धा-
तूनामेव ग्रहणेनामंस्त इत्यस्य सिद्धिं मनसि निधाय सजादेशकरणेन समाहित-
म् । न च तज्ज्ञापकेन तत्र लोपाभावे फलाभावेन तस्योच्चारणार्थत्वात्
पुनः सिजेव कुतो नोक्त इति वाच्यम् । अमैत्सीदित्यत्र नुमभावसम्पादनेन
तस्य चारितार्थात् तस्योच्चारणार्थत्वासम्भवात् इति न तेनापि सह विरोधः ।

यदपि ‘अनुवादविषये’ इत्यादि । तदपि न । सनः सशब्दे लक्षणा,
उत शक्तिः ? । आद्ये तवापि न । विधौ परशब्दार्थत्वस्य बाधात् । अन्त्ये प्रा-
चीनानामपि लक्षणां ध्वनैव निर्वाहात् । यदपि “गमेरिड्” इति दृष्टान्तेनोप-
धालोपवारणम् । तदपि रभसादेव । दृष्टान्ते प्राचीनानामुच्चारणार्थेकारसत्त्वेन
तन्मते तदप्राप्तौ दोषाभावात् । जुम् तु नाशङ्कनीयः । गम् इति पृथक्करणेन
तस्य धात्ववयवत्वाभावेन नुमप्राप्तेः । सुबुत्पत्तिस्तु क्षिय इत्यत्रेव प्रकृतिवद-
नुकरणं न भवतीत्यनेन सिद्धा । “अस्तेर्भुः” इत्यत्र निर्विसर्गपाठ इति प्रमा-
द एवेत्याहुः ॥

*तथोक्तमिति । तज्ज्ञापितपक्षाश्रयणादिति भावः । अतज्ज्ञा-
पितपक्षेऽपि यथा न दोषस्तथोपपादितम् । *ज्ञापनार्थमिति* । स्वांशे चा-
रितार्थ्यश्च दिवशब्दात् कयचि ततः किपि ऊठि बोध्यम् । अनुवृत्तेरि-

ऊद् न । क्ङितीत्यनुवृत्तेः* । यत्तु अस्मात्तपरत्वात्, कुरुत इत्यादावुदिति तपरत्वाद् गुणाभावो यथा स्थानिवत्सूत्रे भाष्ये उक्तः, तथा प्रकृते दीर्घाभाव इति कैयटः, तद् एतेन परास्तम्* । दीर्घस्य बहिरङ्गतया तेन व्यावृत्तेरशक्यत्वाच्च । अत एव “कृत इत्” इति तपरत्वेन चिकीर्षतीत्यादौ “हलि च” इति दीर्घस्य न व्यावृत्तिः । अत एव द्यूच इत्यादौ “चौ” इति दीर्घसिद्धिः ।

षट्चतु ॥ रेफान्तस्य षट्संज्ञैव तु न कृता । चत्वार इत्यत्र लुगापत्तेः । तत्र ‘रो न’ इत्युक्तौ तु पदलाघवाभावः* । के चित्तु षडित्यादि षडाद्यर्थपरम् । अर्थात्परत्वश्चामः शब्दद्वारकम् । स चार्थः प्रधान एवेति न गौणे ऽतिप्रसङ्ग इति । तन्न । शब्दद्वारकमित्यस्य शब्दनिष्ठपरत्वाद्यवधित्वस्य परत्वस्य वा अर्थे आरोप इत्यर्थः । एवञ्च गौणत्वात्तत्र सम्बन्धे तन्निरूपितसम्बन्धे च न विभक्तिः । परम्परासम्बन्धेनान्वय इत्यपि न । प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः साक्षात्सम्बन्धेन क्लृप्तस्यान्वयस्य भङ्गापत्तेः । अत एव गङ्गायां घोष इत्यादौ गौणाधारादावधिकरणत्वादिनिमित्ता विभक्तिः स्वरितत्वप्रतिज्ञादिना भाष्ये साधिता । अत एवेदं स्थले षष्ठ्यपि न । अत एव “स्त्रियाः पुंवत्” इति सूत्रे स्त्रिया इत्यर्थग्रहणमिति पक्षे भाष्यकृतोक्तं ‘भाषितपुंस्कानुपपत्तिश्च, न ह्यर्थेन पौर्वापर्यमस्ति’ इति । दिक्शब्दयोगे इत्यस्य दिक्शब्दार्थान्वयभूतेऽवधित्वादौ सम्बन्धे पञ्चमीत्यर्थः । स च सम्बन्धो मुख्य एव साक्षात्सम्बन्ध एव च ग्रहीतुमुचित इति दिक् ।

णत्वं द्वित्वमिति । ननु “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इति णत्वात्पूर्वमेव द्वित्वं युक्तम् । वाक् वाक्क् इति भाष्योदाहरणसिद्धये वर्णद्वित्वे ऽपि तत्प्रवृत्तेरावश्यकत्वात् । अन्यथा चत्वंस्यासिद्धत्वात् गस्यैव द्वित्वे*

ति* । अननुवृत्तौ तु किंसाहचर्याद्धातुविहितप्रत्ययग्रहणेनादोषो बोध्यः । *परास्तामिति* । उक्तोदाहरणे तस्य चारितार्थ्याद्वैयर्थ्याभावेन ज्ञापनासम्भवादिति भावः ॥

पदलाघवाभाव इति । विहितविशेषणाभावेन ‘अतिचतुर्णाम्’ इत्यत्रामः षट्संज्ञकात्परत्वेन नुदसिद्धिरिति भावः ॥

गस्यैव द्वित्वे इति । ननु आवसानिकचत्वंस्य पदान्तजश्त्वापवादत्वात्कस्य द्वित्वे इति वक्तुं युक्तमिति चेन्न । माठरपरिवेषणन्यायेन झलपदार्थे चरतिरिक्तत्वेन संकोचाज्जश्त्वात्पूर्वं तदप्राप्तेः । उपपादितं चेदं “बाधित्वेति शेषः”

ऽन्त्यस्य चत्वे पूर्वत्र गश्रवणापत्तिः । अवसाने चत्वंस्यासिद्धत्वात्
 खर्परत्वाभावेन तस्य चत्वंसंभावनाऽपि न । *न च कस्य द्वित्वे ऽपि
 अवसाने चत्वंस्यासिद्धत्वाद्वाक्ये अशि परे पूर्वस्य जश्त्वे उक्तरीत्यैव
 चत्वाभावे गश्रवणं दुर्वारमिति वाच्यम् । “न मु ने” इतिवत् पूर्वत्रासि-
 द्धीयमित्यस्य द्वित्वे कृते ऽपि प्रत्यासत्त्या द्वित्वाश्रयस्य कार्ये कर्त्त-
 व्ये ऽसिद्धत्वं नेत्यर्थ इति न दोषः । एतेन ‘द्वित्वे परसवर्णत्वं सि-
 द्धं वक्तव्यं संयन्तेत्यत्र त्रियकारकत्वार्थम्’ इतिवचनसामर्थ्येन व-
 र्णद्वित्वे तदप्रवृत्तिरित्यपास्तम् । एतदवयुत्यानुवादरूपत्वादिति चेन्न ।
 पूर्वत्रासिद्धीयमित्यस्य द्वित्वे कर्त्तव्ये ऽन्यदसिद्धं नेत्येवार्थो न तु द्वित्व-
 स्याप्यसिद्धत्वं नेति तदर्थ इति णत्वोत्तरमेव द्वित्वमिति भावः ।

इत्यत्र टिप्पण्याम् । *न च कस्य द्वित्वेऽपीति* । न च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे”
 इत्यनेन चस्य द्वित्वे इति वक्तुं युक्तमिति वाच्यम् । तेन हि
 असिद्धत्वाभावे बाधिते ऽन्तरङ्गपरिभाषाप्रवृत्तौ बाधकाभावेनान्तरङ्गत्वाद्
 द्वित्वात्पूर्वं कुत्वे कस्येत्येवमेव वक्तुं युक्तत्वात् । अथ वर्णग्रहणे ऽपि
 तत्प्रवृत्तौ स्रगिति भाष्यप्रयोगे द्वित्वानापत्तिः । द्वित्वदृष्ट्या “अ अ” इत्यस्य
 सिद्धत्वेन संवृतस्य प्रयत्नभेदेन सावर्ण्याभावादच्त्वाभावेनाचः परत्वाभावात् ।
 एवं मध्वरिरित्यत्र ।

किं च द्वित्वाश्रयस्य नासिद्धत्वमित्यर्थस्वीकारे वाक्क् इत्यत्र
 “रुकोः संयोगाद्योः” इत्येतद्दृष्ट्या कुत्वस्य सिद्धत्वेन संयोगादिलोपा-
 पत्तिः । मम तु वागितिभाष्यप्रयोगादवसाने चत्वंस्य खरि चेत्येतद्-
 दृष्ट्या ऽसिद्धत्वाभावबोधनेन “द्वित्वाश्रयस्व कार्ये कर्त्तव्ये” इत्यादिः प्रत्यास-
 त्त्या अर्थो न कल्पनीय इति न कश्चिद्विरोधो, नापि दोष इति चेन्न ।
 “पूर्वत्रासिद्धीयमद्वित्वे” इत्यनेन द्वित्वदृष्ट्या ऽसिद्धत्वाभावबोधनेऽपि आदिर-
 न्त्येनेत्येतद्दृष्ट्या तस्यासिद्धत्वेन संवृतस्यापि विवृतत्वबुद्ध्या तेषां चत्वंबोध-
 नेन स्रगित्यादिभाष्यविरोधाभावात् । वाक्क् इत्यत्र संयोगसंज्ञादृष्ट्या द्वित्व-
 स्यासिद्धत्वेन संयोगसंज्ञाया अभावेन लोपाप्राप्तेश्च ।

किं च वर्णग्रहणे ऽप्रवृत्तिं वदता भवताऽपि द्वित्वाश्रयस्येत्यवश्य-
 मुररीकर्तव्यम् । अन्यथोढिमाख्यदौडिढदित्यत्र ढत्वादीनामसिद्धत्वात् “कुहो-
 ष्चुः” इत्यनेन चुत्वापत्तेः । वर्णग्रहणे ऽप्रवृत्तिं स्वीकुर्वता भवतापि “खरि
 च” इत्येतद्दृष्ट्या ऽवसाने चत्वंस्य नासिद्धत्वमिति न वक्तुं शक्यते ।
 अद्धातोः किपि पश्चाद् दाशब्देन समासे ततो णिचि टिलोपे ततः
 किपि चत्वं ‘अवृत्’ इत्यत्र ‘खरि च’ इति दश्चत्वापत्तेरित्यलं पल्लवितेनेति दिक् ॥

रोः सुपि* । अत्र खरीत्यनुवर्तते । तेन सप्तमीबहुवचन-
मेवात्र सुप् । एवञ्च “खरवसानयोः” इति सिद्धे इतरानिवृत्तिफलक एवैष
विधिरित्याह-रोरेवेति । विपरीतनियमस्तु न । “हलो ऽनन्तराः सं-
योगः” इति निर्देशात् । द्वित्वे इति । “अचो रद्वाभ्याम्” इत्यनेन ।

अचो रहेत्यतो द्वे इति, नादिनीत्यतो नेति च वर्तते । तदाह-न-
ञ्जे स्त इति । “झरो झरि” इति लोपस्तु वैकल्पिकः ।

प्रियचत्वार इति । आङ्गत्वात्तदन्तस्यापि “चतुरनडुहोः”
इति आम् । गौणत्वे त्विति । *अत्र यद्वक्तव्यं तत् “नामि” इत्यत्रो-
क्तम् । यत्तु “ष्णान्ता” इत्यत्र संख्यापदानुवृत्तेः, तस्य च संख्या-
बोधकशब्दपरत्वात्प्रधानन्यायेन संख्यारूपार्थस्यानुपसर्जनस्यैव ग्रहणे-
नोपसर्जने षट्त्वमेव न । संख्यापदेन च संख्येयमुच्यते । अतः संख्येयपर-
पश्चादौ तस्य प्राधान्यात् संज्ञा सिद्धा । यद्वा षडित्यन्वर्था संज्ञेति
न गौणे सा, इति । तच्च । प्रियपश्चा द्रौपदीसूत्र “न षड्” इति डा-
बुनिषेधानापत्तेः* । आकडारसूत्रे भाष्ये ऽस्या डुसञ्ज्ञया व्यवहाराच्च ।
सर्वनामसंज्ञावदत्रोपसर्जनप्रतिषेधानारम्भाच्च । सर्वनामसंज्ञासूत्रस्थेन “ष-
ड्भ्य” इति सूत्रविषयभाष्येण विरोधापत्तेश्चेत्यलम् ।

कमालिति । ‘तदाचष्टे’ इति णिचीष्टवद्भावाट्टिलोपे कर्तरि क्पि “णेर-
निटि” इति णिलोपः । वस्तुतो लणसूत्रे “न हि पदान्ताः परे ऽणः सन्ति ।
ननु चायमस्ति कर्तृ हर्तृ” इति भाष्यात् ‘भोभगो’ इति सूत्रे ‘वृक्षव् करोति’
इति भाष्यस्यैकदेश्युक्तित्वात् कमल् वृक्षव् इत्यादेरनभिधान*मेवोचितम् ।
यान्तास्तु नैव सन्ति । क्पि “लोपो व्योः” इति यलोपात् । णिलोपस्य

रोः सुपि । “रोः सौ” इति वक्तुं युक्तम् । निरनुनासिकोकारान्त-
त्वेन न प्रथमैकवचनस्य, प्रत्ययाप्रत्ययग्रहणपरिभाषया च न सुशब्दस्य ग्रहण-
मिति विभावनीयम् ॥

अत्र यद्वक्तव्यमिति । अस्माभिरपि तत्रैवोपपादितम् । *डा-
बुनिषेधानापत्तेरिति* । स्त्रियां यत्प्राप्नोति तच्चेति व्याख्यानसामर्थ्येन डा-
बुनिषेधे सिद्धे चिन्त्यमेतत् । वस्तुतः षड्वि ब्राह्मणः षट् इत्यत्र षष उपसर्ज-
नत्वेन षडेवेत्यन्वर्थसंज्ञयाऽपि गौणे तत्प्रवृत्तेर्दुर्निवारणत्वादिति वक्तुं यु-
क्तम् । *अनभिधानमेवेति* । वस्तुतो ऽनभिधाने दृढतरप्रमाणाभावेना-
स्याभिधानमेवोचितमित्युपपादितमन्यत्र ॥

स्थानिवत्त्वं तु न । यलोपे तन्निषेधात् ।

प्रशानिति । शाम्यतेः क्प् । “अनुनासिकस्य” इति दीर्घः ।
अयं शान्तिसाम्यान्यतरवद्वाचकः सत्त्ववाचीति स्वरादिपाठेऽप्यस्य नाव्य-
यत्वम् । साम्यवाचिन्यसत्त्वार्थके तु स पाठः सार्थक इति दिक् ।

विभक्ताविति । “अष्टन आ” इत्यतो ऽनुवृत्तेरिति भावः ।
अकञ्सहितस्यापीति । तन्मध्यपतितन्यायेन तस्यापि किञ्शब्दत्वात् ।
अङ्गानपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वादादेशात्पूर्वमकच् । *यद्यपि निर्दिश्यमानपरिभा-
षया न प्राप्नोति । अत एव “भिन्धाकि इत्यत्राकचि धित्वं न प्राप्नोति”
इति भाष्ये पूर्वपक्षं कृत्वा ‘अन्तरङ्गत्वाद्धित्वे ऽकच्’ इत्याद्युक्तम् । तथापि
आवृत्त्याश्रयणेन साकचकस्यादेश इति कैयटः ।

इदमो भः ॥ “तदोः सः सौ” इत्यतो ऽनुवृत्तेराह-साविति ।
इदोऽय् । “यः सौ” इत्यतः साविति वर्त्तते ।

दश्च ॥ इह ‘अष्टन’ इत्यतो विभक्तावित्यनुवर्त्तते । साविदमो
दस्यासम्भवात् । तदाह—विभक्ताविति ।

हलादाविति । आपीति वर्त्तते । ‘हल्यश्’ इति वक्तुं
युक्तम् । *अक इति पर्युदासादिदं गौणे न प्रवर्त्तते इत्याहुः । नन्विदो-

यद्यपि निर्दिश्यमानपरिभाषयेति । ननु कर्किशब्दे
ऽकचः किञ्शब्दनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयत्वेन तन्मध्यपतितन्या-
येन निर्दिश्यमानत्वादादेशः प्राप्नोत्येव । भिन्धकीत्यत्र तु अ-
कचः तिङन्तनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयताश्रयत्वेन तिङन्तवृत्तिहान्त-
त्वादेरारोपेऽपि हित्वस्यारोपे प्रमाणाभावेन हेरभावेन ‘अकचि
कृते धित्वं न प्राप्नोति’ इति भाष्योक्तमपि सङ्गच्छते । निर्दि-
श्यमानपरिभाषयेति तु भाष्ये नोक्तम् ; इति चेन्न । परमर्किशब्दात्कुत्सावि-
वक्षायामकचि परमर्ककिञ्शब्दे निरुक्तदिशा किञ्शब्दान्तत्वेऽपि निर्दिश्यमा-
नर्किशब्दस्याभावेनादेशानापत्तिरित्याशयेनैतद्ग्रन्थस्य सत्त्वात् । निर्दि-
श्यमानपरिभाषया ऽऽदेशो न प्राप्नोतीत्यस्य तादृशपरमर्ककिञ्शब्दे आदेशो न
प्राप्नोतीत्यर्थ इति दिक् ॥

अक इति पर्युदासादिति । न च ‘अक’ इति बहुव्रीहिर्न
तत्पुरुषः । तथा च पर्युदासादित्यसंगतमिति चेदत्र कश्चित् । ‘पर्युदा-
सादित्यस्य निषेधकत्वात् ‘संसर्गवाद्धिप्रयोगस्य’ इति न्यायेन ‘अवत्सा’ इतिव-
त्तस्यैव ग्रहणमित्याशयात् ॥

ऽन्त्यस्य लोपः स्यादत आह—नानर्थके इति । इयमुपधासंज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टा । फलानामन्यथोपपादनेन भाष्ये प्रत्याख्याता च । प्रत्याख्याने 'अनापि' इत्यतो ऽन् इत्यनुवर्त्य हलीति सप्तम्याः पठ्ठीं प्रकल्प्यान एव 'अलोऽन्त्यस्य' इति लोपे पररूपे चेष्टसिद्धिर्बोद्ध्या ।

ननु दीर्घापेक्षया लोपस्य नित्यत्वापूर्वं लोपे अ भ्यामिति स्थिते ऽङ्गस्याऽकाररूपत्वेनादन्तत्वाभावादीर्घो न स्यादित्यत आह—आद्यन्तवदिति । “आदिरन्त्येन” इति सूत्रोक्तरीत्या ऽऽद्यन्तशब्दयोर्विशिष्टशक्त्या तत्प्रयुक्तकार्याण्यसहाये न स्युरित्ययमारम्भः । एकस्मिन्निति । असहाये* इत्यर्थः । तदादितदन्तयोः क्रियमाणं कार्यं तदादौ तदन्त इवासहाये ऽपि स्यादित्यन्वयः । उपमेये सप्तमीदर्शनात्सप्तम्यन्तादिवार्थे वतिस्तदाह—आदात्रिवेति । एकस्मिन्नित्युक्तेर्दिरिद्रातेरिवर्णान्तलक्षणोऽङ्गन । आदिवत्त्वफलमौपगवे ऽण आयुदात्तत्वम् । कार्यस्य प्राधान्यादयमपि कार्यातिदेश एव । तदाह—कार्यमिति ।

ननु इद ए इति स्थिते स्मैभावात्परत्वादनादेशे 'सकृद्गतौ' इति न्यायेन स्मै न स्यादत आह—नित्यत्वादिति* । स्मै—आदेशे तु न अनादेशो हलिलोपेन बाधात् । लक्ष्यानुरोधेन बाधकाबाधितकृताकृतप्रसङ्गस्यैवात्र ग्रहणात् ।

परे तु अशआद्यजन्तकशब्देन नञ्त्तत्पुरुषे पर्युदासादित्यपि सुसंगतमित्याहुः । अक इति पर्युदासादित्यादि तु सिद्धान्तेऽपि, न त्वश्करणे एव । एतेनाश्लोपयोः कः फलभेदो, येनाक इत्याद्युक्तमित्यपास्तम् । अथाश्करणे उदात्तानुदात्तयोः स्थाने जायमानो ऽश् स्वरित एव स्यादिति फलभेद इति चेत्—अत्र कश्चित् । स्थान्वनुरूपे स्वरित एवोच्चारणीये उदात्तोच्चारणं विवक्षार्थम् । तेन न स इत्याह । तत्र । इदंशब्देन नञ्त्तत्पुरुषे तस्माद् भ्यामि अनाभ्यामित्यत्र स्वरितश्रवणापत्तेः । सिद्धान्ते तु 'तत्पुरुषे' इत्यनेन 'पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वाच्छिष्यमाणाकारस्यानुदात्तत्वमिति ।

परे त्विद इत्यनुवर्त्य तत्स्थाने ऽश्विधानेन न दोष इत्याहुः । न च “हलि लोपः” इत्यत्र “हलि लोप” इत्येव सूत्रं कर्तव्यमिति वाच्यम् । वेदे आपः स्थाने यादेशे तत्र लोपानापत्तेरित्यलम् ॥

असहाये इति । असहायत्वपरिष्कारस्तु मनोरमादिप्पण्यां द्रष्टव्यः ।

नित्यत्वादिति । परे तु उपसङ्गनिष्पन्नाण्येनानादेशस्य प्राप्तिरेव नेति नित्यलक्षणे बाधकाबाधितत्वनिवेशो मन्दप्रयोजन इत्याहुः ।

अकोऽकोरित्यनयोः फलमाह-ककारयोगे त्विति । 'अव्ययस-
र्वनाम्नाम्' इत्यकचीति भावः । अस्यानवयवत्वेऽपि तन्मध्यपतितन्यायात्-
द्विशिष्टे प्राप्तिरिति बोध्यम् ।

इदमोऽन्वा ॥ अनुदात्तत्वमाभ्यामित्यादौ 'ऊडिदम्' इति 'सा-
वेकाच' इति वा विभक्त्युदात्तत्वाभावात् । उभयत्राप्यनुवृत्त्यपकर्षाभ्यामन्तो-
दात्तादित्यस्य सम्बन्धात् । एवञ्चाभ्यामित्यादि सर्वानुदात्तम् । "ऐभिरभे-
प्रेणा तदेषाम्" इत्यादौ तथा श्रवणात् । नन्वेवमप्यत्वे हलिलोपेनाऽऽभ्या-
मित्यादेः सिद्धावनुदात्तत्वेनैव सिद्धावग्विधानं व्यर्थमत आह-साकच्चा-
र्थमिति । शिच्चात्सर्वादेश इति भावः । *संज्ञोपसर्जनयोस्तु नेदम् ।
'एतदस्त्रतसोः' इत्युत्तरसूत्रसाहचर्यात्* । न च त्यदाद्यत्वेन सिद्धे ऽका-
रविधानमेव साकचि सर्वादेशार्थं भविष्यति, किं शिच्चेनेति वाच्यम् ।
अन्यार्थतापत्तेः* ।

द्वितीयादौ ॥ पूर्वसूत्रादिदम् इति, 'एतदस्त्रतसोः' इत्यत ए-
तद इति चानुवर्त्तते, अनुदात्त इति च । विधातुमिति । विधा-
नमत्राज्ञातज्ञापनमेव, न तु प्रवर्त्तनाविषयत्वम् । तच्चेदमेवेति नाग्रहः ।
स्पष्टश्चेदं *भाष्ये ॥

सुगणद्विष्विति । 'ङ्गणोः' इति दुक् । तस्यासिद्धत्वान्न जश्त्व-
म् । नलोप इति । नकारलोप इत्यर्थः । न चात्र प्रत्ययान्तत्वाद्
'अप्रत्यय' इति निषेधेन प्रातिपदिकत्वाभावात्कथं नलोप इति वाच्यम् ।

ननु संज्ञोपसर्जनयोस्त्यदाद्यत्वाप्राप्त्या तत्र विधानार्थमश्वि-
धानं चरितार्थमित्यत आह-*संज्ञोपसर्जनयोरिति* । *साहचर्यादिति* ।
ननूत्तरसूत्रसाहचर्यस्याप्रयोजकत्वं स्वयमेव शब्दरत्ने उक्तमिति अत्र कथं
तेन निर्वाह इति चेन्न । साहचर्यादित्यस्यार्थाधिकारानुरोधादित्यर्थस्वीका-
रेणादोषात् ।

अन्यार्थतापत्तेरिति । तद्विधानसामर्थ्याद् 'अतो गुणे' इत्यस्यैव
सुपिचेति दीर्घस्यैव वा बाधापत्तेः । न च साक्षाद्विधिबाधकल्पनापेक्षया
लाघवाद्लोऽन्त्यपरिभाषाबाध एवोचित इति वाच्यम् । विनिगमनावि-
रहात्कदाचित् 'तस्मिन्' इत्यस्या परिभाषाया अपि बाधापत्तेः ॥

*"अन्वादेशश्च कथितानुकथनमात्रं, न तु इदमा कथितमिदमेव
यद्यनुकथ्यते" इति ग्रन्थेन ।

पर्युदासे यथोद्देशेन सिद्धेः । न च कार्यकालपक्षे दोषः । व्यवस्थितपक्षद्वयमध्ये एकतरपक्षेण लक्ष्यसिद्ध्या पक्षान्तरेण दोषदानस्य काप्यदृष्टत्वात् । ध्वनितश्चेदं प्रगृह्यसंज्ञाप्रकरणे भाष्ये । न च प्रसज्यप्रतिषेधे दोषः, तत्पक्षे लोपेनेव जातनिवृत्तेरपि तेन वक्तुं शक्यत्वाद्; इति वाच्यम् । “न ङिसम्बुद्ध्योः” इति निषेधेन प्रत्ययलक्षणेन प्रत्ययान्तत्वमादाय निषेधाप्रवृत्त्या दोषाभावात् । स्पष्टश्चेदमर्थवत्सूत्रे भाष्ये ।

न ङि ॥ ङौ तु छन्दसीति । राजनीत्यादौ भत्वान्नलोपाप्राप्तेः । राजनीवाचरतीत्यर्थे ‘अधिकरणाच्च’ इति क्यच् तु लोके नास्त्येव । अनभिधानात् । अत एव ‘परमे व्योमन्’ इत्यादावयस्मयादित्वाद्भत्वेन सूत्रस्थङ्ग्रहणप्रत्याख्यानं भाष्योक्तं सङ्गच्छते इति भावः । सामर्थ्यादिति । “न लुमता” इति निषेधानित्यत्वप्रतिपादनद्वारेत्यर्थः । एतदनित्यत्वबललब्धमेव ‘वा नपुंसकानाम्’ इति बोध्यम् । न च परमे व्योमन्नित्यत्र घोषत्वाल्पप्राणत्वादिसादृश्येन पूर्वमवर्णे दकारे “स्वादि-बु” इति पूर्वस्य पदत्वात्प्राप्तनलोपनिषेधेनेदं चरितार्थमिति वाच्यम् । ‘अन्तरङ्गानपि’ इति न्यायेन, संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वेन च पूर्वमवर्णे ऽपि लुक एव प्राप्या प्रक्रियालाघवाय लुक एवौचित्यमित्याशयात् । स्पष्टश्चेदं भाष्ये । ङावुत्तरपदे इति । एतद्वललब्धमेव ‘ङौ तु छन्दस्युदाहरणम्’ इत्युक्तम् ।

न चेति । पञ्चमीसमासेन प्राप्तिः । षाष्ठीमिति । ‘वाह ऊर्द्व’ इत्यत्र ज्ञापितत्वेन तद्देशस्थत्वादिति भावः । कार्यकालपक्षे ऽपि त्रिपाद्यां तदप्रवृत्तिः प्रागुक्ता । जञोर्ज्ञ इति । जञयोगे लोकवेदसिद्धतादृशध्वनेर्लिपिविशेषस्य चानुवादकमभियुक्तवचनं, न त्विदं वर्णान्तरम्* । शिक्षादावपरिगणितत्वेन तत्सत्त्वे मानाभावात् । अत एव तज्ज्ञानमित्यादौ श्रुत्वसिद्धिः ।

सुविधाविति । सर्वविभक्त्यन्तावयवकः समास इति भाष्ये स्पष्टम् । विधिशब्दो भावसाधनः, कर्मसाधनश्च । तत्र स्वरादिविषये

*अतएव जिज्ञासेत्यादौ अभ्यासे जश्रवणं सिध्यति । ‘ज्ज’ इत्येवमुच्चारणे बीजं तु यमानामादेशत्वपक्षे तेषाम् कुँकुँधुँ इत्येवंरूपत्व-

भावसाधनः । सुविवक्षये कर्मसाधनः । कृतीत्येतत्सामर्थ्यात्तु क एव विशेष-
णमित्याह-कृति तुगिति । “पूर्वत्रासिद्धम्” इत्येव सिद्धे ऽन्यत्र निवृत्तिफ-
लकोऽयम् । तदाह-नान्यत्रेति । अन्यनिवृत्तिफलक-सिद्धविषयकविधित्व-
मेव नियमत्वम् । * अत एव पस्पशायां भाष्ये ‘पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः’ इत्यत्र
“भक्ष्यनियमे ऽभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते” इत्युक्तम् । तदाह-इत्यसिद्धत्वा-

कथनम् । जकारस्य स्थाने गुंरूपयमादेशो हि गकारश्रवणं तदुच्चारणं च
सिध्यति । एतद्विधानं हि उच्चारणार्थमेव न तु कार्यार्थमिति जिज्ञासे-
त्यादिप्रयोगाणां च सिद्धिः । यमानामनभिव्यक्तरूपत्वपक्षमवलम्ब्य तु म-
हाराष्ट्राणां विलक्षणोच्चारणं तत्रेति दिक् ।

* अभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते इति । गमेर्ज्ञानसामान्यार्थकस्योपादानेन
प्रतिषेधस्यार्थिकत्वं लभ्यते । अन्यथा अभक्ष्यप्रतिषेध उच्यते इति वक्त-
व्यं स्यात् इति भावः । इमामगृभ्णन् रशनामृतस्येत्यश्वभिधानीमादत्ते इत्यत्र
लिङ्गस्य विलम्बितप्रवृत्तिकत्वात् प्रथमप्रवृत्तश्रुत्या अश्वरशनाऽऽदाने ऽप्राप्त-
मन्त्रविनियोगे बोधिते विनियोगाकाङ्क्षाया अभावेन लिङ्गस्याप्रवृत्तेर्गर्दभरश-
नाऽऽदाने मन्त्रविनियोगो नैव प्राप्नोतीति अन्यनिवृत्तिरार्थिक्येव । एवं
पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इत्यत्र शशकशल्लकगोधाखङ्गिर्कूर्मरूपपञ्चनखभक्षणस्य
तदितरवानरादिपञ्चनखभक्षणस्य च रागतो नित्यप्राप्तत्वेन अपूर्वविधिद्वार-
कान्यनिवृत्तिफलकस्य परिसंख्याविधेः इमामगृभ्णन् इत्यत्राश्रितस्यासम्भ-
वेऽपि सामर्थ्यात् अन्यनिवृत्तिफलको नियमद्वारकः परिसंख्याविधिः पञ्चपदस्य
अवधारणविषयबुद्धिस्थशशकादिवृत्तिपञ्चत्वसंख्याविशिष्टे लक्षणयाऽऽश्रयणीयः ।
अवधारणविषयबुद्धिस्थशशकादिवृत्तिपञ्चत्वसंख्यावन्तः प्रेरणाविषयभूतभक्षण-
विषया इति बोधः । अवधारणं च स्वविषयसंख्याऽतिरिक्तसंख्याऽधिकरणासंब-
न्धिसमभिव्याहृतपदार्थप्रकारकज्ञानरूपम् । ततश्च बुद्धिस्थशशकादिवृत्तिपञ्चत्व-
संख्यातिरिक्तसंख्याऽधिकरणवानराद्यवृत्तिभक्ष्यत्वरूपसमभिव्याहृतपदार्थप्रकार-
कं ‘वानराद्यवृत्तिभक्ष्यत्ववन्तः’ इति ज्ञानम्, तद्विषयसंख्याविशिष्टाः शशकादयः
भक्ष्या इति बोधस्य वानरादावभक्ष्यत्वं विनाऽनुपपत्त्या रागतः सामान्यतः
प्राप्तस्य भक्षणस्य शशकाद्यतिरिक्तवानरादिपञ्चनखाविषयत्वनिवृत्तिः क-
ल्प्यते । नचैतावता शब्दत्वं शङ्क्यम् । वस्तुतो वानराद्यसंसृष्ट-
स्य समभिव्याहृतपदार्थस्य मानसज्ञानविशेषणतया भानेऽपि शब्देन वानरा-
दौ भक्ष्यत्वाभावस्याप्रतिपादनात् । नच विधिना शब्देन शशकादौ भ-
क्ष्यत्वप्रतिपादने तस्यावश्यानुष्ठेयत्वापत्तिः, अश्वरशनाऽऽदाने मन्त्रोच्चारण-
स्येवेति वाच्यम् । नियमद्वारकपरिसंख्यायां तथाऽनङ्गीकारात् । यद्वा-प्रा-
पकप्रमाणस्य यत्र नियतत्वं तत्रावश्यानुष्ठेयत्वं यत्र तु तस्यानियतत्वं तत्र
नावश्यकत्वम् । अवघाते प्रापकं प्रमाणं पुरोडाशादिविधिरूपं, मन्त्रविनि-

दितीत्यन्यत्र विस्तरः । *सुब्विधिशब्देन सुप्तवतश्चाप्यधर्मावच्छिन्नो-
द्देश्यकविधेर्ग्रहणम् । एतेन दण्डिष्वित्यादौ षत्वरूपसुब्विधौ अप्रा-

योगे लिङ्गरूपं श्रुतिरूपं वा नियतमेवेति तदनुष्ठानमावश्यकम् । शशका-
दिभक्षणप्रापकं रागरूपं तु अनियतम् । दोषदर्शनादिना रागस्य निवृत्तेः ।
पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या इति शास्त्रं तु रागस्य नियमेन प्रवृत्तिप्रयोजकत्वात्
शीघ्रप्रवृत्तिकत्वाच्च पूर्वमेव नियमेन भक्षणप्राप्तौ प्रापकं न भवतीति अ-
न्यनिवृत्तिफलकम् अभ्यनुज्ञामात्रं करोतांति न प्रापकमिति तद्विषयस्य भ-
क्षणस्य नावश्यकत्वम् । अभ्यनुज्ञाविधिविषयस्य च सर्वथानिवृत्तिप्रयोज-
कबलवदनिष्टसाधनत्वाभावात्प्रतीतेः इष्टसाधनत्वस्य विधिनाऽप्रतीतेः रा-
गत एव तत्र प्रवृत्तिरिति न तस्य धर्मत्वमिति विरागिणां तत्राप्रवृत्तावपि
न तदननुष्ठानमूलकं पापं तेषामुद्भवति । अत एव विवाहाद्यननुष्ठानेऽपि
न तेषां प्रत्यवायः । रागनिवृत्त्या तत्राधिकारस्य तेषां निवृत्तत्वात् । अ-
ग्नीषोमीयवपायां हुतायां दीक्षितान्नमश्नीयात् इतिविहिताशनस्यापि अ-
भ्यनुज्ञाविषयत्वमेवेति न तस्य धर्मत्वम् । नापि तस्य अधर्मत्वम् । वे-
दबोधितानिष्टसाधनताकत्वाभावात् । व्याकरणशास्त्रेऽपि नियमद्वारिका परि-
संख्या निवृत्तिफलिकाऽधीयते, न तु शाब्दी निवृत्तिः । दोषत्रयापत्तेः ।
अतएव सर्वत्र एवगर्भ एव वाक्यार्थः प्रदर्श्यते कर्मण्येव षष्ठी स्यादि-
त्यादि । प्रापकप्रमाणस्य सामान्यशास्त्रस्य नियतत्वाच्च तत्तद्विधेयस्याव-
श्यकत्वमेवेति न पाक्षिकत्वापत्तिरपि । तस्मात् विधिमुखेन प्रवृत्तौ दोषाभावात्
दोषत्रयविशिष्टा निषेधमुखेन प्रवृत्तिर्नाङ्गीकार्येति मञ्जूपायां विस्तरः ॥

एतेन “सर्वविधमांसभक्षणस्य रागतः प्राप्तत्वादिच्छायाश्च सङ्को-
चासम्भवात् क्वचिन्निषेधमुखेनापि प्रवृत्तिरङ्गीकार्या । गमेर्ज्ञानार्थकत्वेन
शाब्दबोधविषय इत्यर्थेनाविरोधात् । किञ्च “पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या” इत्य-
स्य विधित्वे ‘अहरहः सन्ध्यामुपासीत’ इत्यनेन सन्ध्याकरणाभावस्या-
निष्टजनकत्वबोधनवदभक्षणस्याप्यनिष्टजनकत्वबोधापत्तिः ।

प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला ॥

इत्येतद्विरोधापत्तिश्च । किञ्च विधिमुखेन प्रवृत्तिस्वीकारे “तपस्त-
पःकर्मकस्यैव” इत्यत्र तप इति योगं विभज्य सकर्मकाणां चेत्तप एवे-
ति नियमेन “सकर्मकाणां प्रतिषेधो वक्तव्यः” इति वार्तिकं प्रत्याचक्षणेन भ-
गवतोक्ते योगविभागेऽन्यतरयोगस्य वैयर्थ्यापत्तिः” इत्यपास्तम् । सर्वदोषाणां
परिहृतत्वात् । तपस्तपः कर्मकस्यैवेत्यत्र तप इति योगस्य तपधात्वरिक्ते स-
कर्मकमात्रे कर्मवद्भावनिवृत्तिफलकत्वेन तपःकर्मकस्यैवेत्यस्य च सुवर्णा-
दिकर्मकतपधातौ कर्मवद्भावनिवृत्तिफलकत्वेन वैयर्थ्याभावाच्चेति दिक् ॥

सुब्विधिशब्देनेति । वस्तुतस्तु पूर्वत्रासिद्धमित्यतः पूर्वत्रेत्यनुवर्त्य
पूर्वसुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कर्तव्येषु नलोपोऽसिद्ध इत्यर्थकरणात् षत्वस्य पूर्व-

सासिद्धत्वविधानार्थमिदमित्यपास्तम्* । वैरूप्यापत्तेश्च । संज्ञाविधौ दण्डि-
दत्तौ, दत्तदण्डिनौ । अत्र नलोपे दण्डिशब्दस्य घित्वे पूर्वनिपातापत्तिः ।
इष्यते त्वनियमः । असिद्धत्वे तु घित्वाभावात्सिद्ध्यति । न च पूर्वनिपाते
नलोपो, नलोपे च घित्वे पूर्वनिपात इत्ययुक्तम् । *यस्य पूर्वपदत्वे घित्वं
भवति तत्पूर्वमेव प्रयोक्तव्यमिति सूत्रार्थान्न दोषः । न च घित्वे बहिर-
ङ्गतया नलोपो ऽसिद्ध इति वाच्यम् । संज्ञाकृतबहिरङ्गत्वस्यानाश्रय-
णात् । कृति तुग्विधौ-वृत्रहभिः । कृतीति किम् । वृत्रहच्छत्रम्* । अस्मा-
देव संज्ञाकृतं, बहिर्भूतनिमित्तकसंज्ञाकृतञ्च बहिरङ्गत्वं परिभाषायां ना-
श्रीयते । अन्यथा वृत्रहभिरित्यादौ बहिर्भूतभिस्निमित्तकपदत्वनिमित्तो
नलोपोऽसिद्धः स्यादिति तद्वैयर्थ्यं स्यात् । भाष्ये तु सन्निपातपरिभाषया
वृत्रहभिरित्यादौ तुकं व्यावर्त्येदं प्रत्याख्यातम् । पदत्वद्वारा लोपस्य

त्वाभावादस्याप्राप्त्या एतादृशार्थे प्रमाणाभावः । किञ्च त्वन्त्ये 'इकोऽचि' इत्य-
स्य सुविविधित्वाभावेन अज्ग्रहणाभावपक्षे नपुंसकदण्डिन्शब्दाद् भ्यामि नलोपे
नुमि लक्ष्यलक्षणन्यायेन पुनर्नलोपाप्राप्त्या नकारश्रवणेन, अज्ग्रहणे नुमोऽप्रा-
प्त्या तदश्रवणेन फलभेदात् 'इह किञ्चित्त्रपो' इति भाष्यविरोधापत्तिः । यद्यपि
सुप्त्वव्याप्यविषयताके इत्याद्यर्थस्वीकारेण न भाष्यविरोधस्तथापि 'अशुद्धं
कृत्वा कुचोद्यम्' इति न्यायेनात्र न तादृशार्थ उचित इति दिक् ।

*इत्यपास्तमिति । सपादसप्ताध्याय्यां "नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य"
इति सूत्रयित्वा नलोपः सुप्स्वरेत्यस्य लाघवाद्सिद्धत्वविधायकत्वमाश्रयणी-
यमिति तु नाशङ्कनीयम् । विनिगमनाविरहात् अनुषदात्तोपदेशोतिविहित-
नलोपस्याप्यसिद्धत्वापत्तौ आगत्येत्यादौ तुगनापत्तेरिति दिक् ॥

यस्य पूर्वपदत्वे घित्वं भवतीति । अत एव द्युकावित्यत्र
द्युशब्दस्य पूर्वनिपातः सिद्धः । ननु सूत्रे संज्ञाग्रहणं न कर्तव्यम् । द्वन्द्वे घि
इत्यस्य द्वन्द्वसंज्ञाकालिकघित्ववत् एव पूर्वप्रयोग इत्यर्थादनियमो दत्तदण्डिनावि-
त्यादौ सिद्ध एवेति चेन्मैवम् । ग्रामणिवृषभावित्यादौ ग्रामणीशब्दस्य पूर्वनिपा-
तानापत्तेः । तत्र समासे पूर्वपदत्वे "इको ह्रस्वः" इति ह्रस्वत्वे पूर्वनिपातचिकी-
र्षायां घित्वेऽपि द्वन्द्वसंज्ञाकालिकघित्ववत्त्वाभावात् । अतः यस्य पूर्वपदत्व इत्या-
द्यर्थस्यावश्यकतया संज्ञाग्रहणस्यावश्यकत्वमिति । द्युको इत्येतत्सिद्धिरपि
द्वन्द्वे घि इत्येतस्य तादृशार्थकरणे फलम् । अत एव द्युद्रुभ्यां म इत्यादिनिर्देशाः
सङ्गच्छन्ते इति दिक् ।

वृत्रहच्छत्रमिति । तुग्रहणं तु राजन्-शब्दात् क्यङन्तात्किपि
निष्पन्नाद् राजाशब्दादाचारकिबन्ताद् ण्वुलि राजायक इत्यत्र आतोयुगिति
युग्यथा स्यादिति ॥

भिस्तन्निपातनिमित्तकत्वात् । सन्निपातानिमित्तकनलोपविषयाणां 'वृत्रह-
धनम्' इत्यादीनामनभिधानमिति तदशक्यः । तदभावे कृतीत्यापि व्यर्थ-
मेव । न च-सन्निपातपरिभाषया तुङ्मात्रव्यावृत्तौ प्राप्तायां नियमार्थं
कृतीति, 'कृति तुगेव न, अन्यस्तु भवत्येवेति' इति वाच्यम् । वृत्रहच्छत्रमि-
त्यत्र नलोपस्य सन्निपातलक्षणत्वाभावादिति दिक् ।

राजनीति । 'विभाषा ङिभ्योः' इत्यल्लोपविकल्पः । प्रतिदिवे-
ति । कनिनन्तम् ।

हलि च ॥ "वोरूपधायाः" इति सूत्रं, "सिपि धातोः" इत्यतो
धातोरिति चानुवर्त्तते । वोरिति च धातोर्विशेषणम् । पदस्येति सम्बद्ध-
मानमपि इक एव व्यधिकरणं विशेषणम् । तद्ध्वनयन्नाह-प्रतिदीवन्
इति । अत्र वान्तस्य भत्वाभावात् "न भकुर्बुराम्" इति निषेधो न ।
धातोः किम् । अग्निः करोति ।

न संयोगा ॥ अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्* । संयोगस्य वमाभ्यां
विशेषणेन तदन्तलाभात् ।

"सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ" इत्येव सिद्धे नियमोऽयमित्याह-
शावेवेति । उपधाया इति । तेन 'अनुनासिकस्य' इत्यस्यापि नियम
इति भावः । अत्र सर्वनामस्थानग्रहणं न सम्बद्ध्यते । *तेन वृत्रहणी, वृ-
त्रहः, वृत्रहणीत्यादौ न 'अनुनासिकस्य' इति दीर्घः । इति निषेधे इति ।

*स्पष्टार्थमिति । ननु "न हलो वमाभ्याम्" इत्येव लाघवात्तुङ्गमस्तु ।
हलः परौ यौ वकारमकारौ ताभ्यां परस्यानो ऽकारस्य लोपो नेत्यर्थेन 'य-
ज्वनः, ब्रह्मणः, इत्यादीनां सिद्धेरिति चेन्न । राजन्शब्दे उपपदे भवधातोर्विचि-
निष्पन्नाद् राजन्शब्दात् शसि राजन् इत्यत्र मकारस्य हलः परत्वाभावेन
निषेधापत्तेः । सिद्धान्ते तु संयोगसंज्ञायां नलोपस्यासिद्धत्वेन मकारान्त-
संयोगात्परत्वमपि स्पष्टमेव । किञ्च पदुशब्दादाचक्ष्माण्यन्तान्मानिनि ततः
शसि एषमन् इत्यत्र ङिलोपस्य ङिलोपस्य वा स्थानिवत्त्वेन मकारस्य हलः पर-
त्वाभावेन निषेधाप्राप्त्या लोपापत्तेः । यथाश्रुतन्यासे तु संयोगसंज्ञाया उभ-
यसम्बन्धित्वेन पूर्वमात्रसम्बन्धित्वाभावात् स्थानिवत्त्वाप्रवृत्त्या निषेधप्रवृ-
त्तिः स्पष्टैवेति बोध्यम् ।

तेन वृत्रहणी इति । सर्वनामस्थानपदासम्बन्धेनेत्यर्थः । यद्यत्र
सर्वनामस्थानपदसम्बन्धः स्यात्तदा सर्वनामस्थाने यदि दीर्घस्तदा शावे-

एतत्फलभूते निषेधे इत्यर्थः । शिस्वोरिति वक्तव्ये “सौ च” इति योग-
विभाग उत्तरार्थः* ।

हो हन्तेः ॥ जिणन्नकारा *हस्यैव विशेषणम् । तत्र जिण-
द्विषये येननाव्यवधानन्यायेन द्वाभ्यां व्यवधेयं घातक इत्यादावेव, न
तु हननीयतेर्ष्वुत्पत्त्यनेकव्यवधाने । *इदं “घातोः कार्यमुच्यमानम्” इति
परिभाषया धातुसंशब्दनेन विहितप्रत्यय एव । तेन वृत्रहणमाचष्टे वृत्रहय-
तीत्यादौ न । ने तु परे वृत्रघ्न इत्यादावेव, स्थानिवत्त्वकृतव्यवधा-
नेऽपि श्रौताव्यवधानसत्त्वात्*, न तु हननमित्यादौ श्रौतव्यवधाने-
इति स्पष्टं भाष्ये ।

वृत्रघ्न इत्यादौ णत्ववारणाय “हन्तेरत्पूर्वस्य” इति विभज्य व्या-
चष्टे-हन्तेरिति । “उपसर्गादसमासेऽपि” इत्यत उपसर्गादिति वर्त्तते,
रषाभ्यामिति च । तात्स्थयात्ताच्छब्दचमित्याह—उपसर्गस्थादिति ।
प्रकृतोपयुक्तमाह—अत्पूर्वस्येति । अत इति सिद्धे पूर्वग्रहणं स्पष्टार्थम् ।
अत्र उपसर्गात् इत्यस्य निवृत्त्या* णत्वमात्रस्यायं नियम इत्याह—एकाजु-
स्सरेति । णत्वमपीति । अपिना “प्रातिपदिकान्त” इत्यस्य, “कुमति

वेति नियमसम्भवाद् वृत्रहणी इत्यादौ नपुंसके “अनुनासिकस्य” इति दीर्घः
स्यादेवेति भावः ।

उत्तरार्थ इति । “अत्वसन्तस्य” इत्येतदर्थ इत्यर्थः ।

हस्यैवेति । अङ्गस्य तु न, नकारपरकाङ्गासम्भवात् । ननु
जिणतोरङ्गे एवान्वयोऽस्तु, किमव्यवहितपदार्थे सङ्कोचेनेति चेन्न । तथा सत्येक-
धमार्वाच्छिन्ने ऽनन्वयाद् द्वन्द्वानापत्तेः । *इदमिति* । नच जिणत्वस्य धातावपि
सत्त्वेनास्य प्रत्ययनिमित्तकत्वाभावेन नात्र प्राप्तिरिति वाच्यम् । अङ्गाधिकारी-
यत्वेनाङ्गस्य च प्रत्ययांशे उत्थिताकाङ्क्षतया प्रत्ययनिमित्तकत्वात् । *श्रौता-
व्यवधानसत्त्वादिति* । नकारे परे कुत्वविधिसामर्थ्याच्छ्रौताव्यवधानस्य निमि-
त्तत्वमाश्रीयते इति भावः । श्रौतव्यवधाने तदप्रवृत्तिस्वीकारादेव सूत्रे
जिणदित्यस्य चारितार्थ्यम् । अन्यथा तत्राप्यनेनैव सिद्धौ तद्वैयर्थ्यं
स्पष्टमेव ।

अत्रोपसर्गादित्यस्य निवृत्त्येति । ननूपसर्गादित्यस्य निवृत्तौ
अनुपसर्गात्परस्य णत्वविधानेन चारितार्थ्यम् । न चास्य परिभाषात्वस्वी-
कारेण हनवयवनकारस्थानिकमूर्द्धन्यविधायकशास्त्रेऽत्पूर्वस्येत्युपतिष्ठत इत्य-
र्थान्न दोष इति वाच्यम् । “कुमति च” इत्यादावपि कदाचित्तदुपस्थित्या

च"इत्यस्य च सङ्ग्रहः । बाह्यसामान्यचिन्ताश्रयणात्सर्वबाधः । इदमत्पूर्व-
ग्रहणं हस्थानिककवर्गाभाववदन्तेरूपलक्षणम् । अतो बहुवृत्रहाणीत्यत्र,
प्राधानि प्रघनाघन इत्यत्र च न दोष इत्यन्यत्र विस्तरः । यत्तु कार्य-
कालक्षे बहिरङ्गदीर्घासिद्धत्वाद् बहुवृत्रहाणीत्यादौ न दोषः । प्राधानी-
त्यादौ यथोद्देश एव लक्षणानुरोधादिति । तन्न; तत्पक्षेऽपि त्रिपाद्यां
तत्परिभाषाया अप्रवृत्तेरुक्तत्वात् । प्रघनाघन इत्यत्र दोषाच्च । मा-
धवेनोक्तमिति । वृत्रघ्नो वृत्रघ्न इति रूपद्वयं तेनोक्तम् । तद्भा-
ष्येति । "कुव्यवाये हादेशेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः । वृत्रघ्नः, सुघ्नः, प्राधा-
नि । हन्तेरत्पूर्वस्येत्यत्पूर्वग्रहणं न कर्त्तव्यं भवति"इति भाष्येत्यर्थः ।
अत्पूर्वग्रहणस्य तादृशोपलक्षितार्थत्वे मानाभाव इति तदाशयः ।

अनिनिनि । एतच्च "येन विधिः"इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।
अन्यत्र तु "अलैवानर्थकेन तदन्तविधिर्न तत्समुदायेन"इति हनग्रहणे
पुंनिग्रहणं न ।

मघवा व ॥ षष्ठ्यर्थे प्रथमा, तृ इति च वर्त्तते । ऋइदिति ।
तेनानेकालत्वाभावाच्च सर्वादेशः ।

उगिदचाम् ॥ अचामित्यञ्चुधातोर्ग्रहणं व्याख्यानात्* । नलो-
पिन इति । अकारलोपाकरणपूर्वकं नलोपकरणस्य विवक्षार्थत्वादिति
भावः । अत्रोगित् झलन्त* एव व्याख्यानात् । तेन शमी शमि-
नावित्यादौ नातिप्रसङ्ग इति "युवोरनाकौ" इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम्* । उप-
धादीर्घ इति । सर्वनामस्थाने चेत्यनेन । असिद्धत्वाभावकल्पने मा-
नमाह—तथा चेति । निपातनादिति । "वनो र च"इति सूत्रे भाष्ये

हरिकामिणौ इत्यादौ णत्वानापत्तेः—इति चेन्न । हनवयवनकारस्य णत्वं भवति
चेत् अत्पूर्वस्यैवेनियमः, न तु उपसर्गात् परस्य हनोऽवयवस्य नस्य चेत्
अत्पूर्वस्यैवेति नियमवाक्ये उपसर्गादित्यस्य निवृत्त्येत्यर्थविवक्षणेनादोषात् ।

*व्याख्यानादिति । 'प्रत्ययः' इत्यादिनिर्देशरूपादित्यर्थः । प्रत्याहार-
ग्रहणे प्रत्ययग्रहणे वा तत्र नुमि निर्देशासंगतिः स्पष्टैवेति भावः *झलन्त-
पवेति । "नपुंसकस्य झलचः" इति सूत्रात् झलपदापकर्षणादञ्चुसा-
हचर्याद्वेति भावः । *भाष्ये स्पष्टमिति । तत्र हि "युवोरनाकाविति चे-
द्धातुप्रतिषेधः । युत्वा, युतवान्—इतिशङ्कायामनुनासिकपरयोर्युवोर्ग्रहण-
मिति समाहितम् । अनुनासिकः परोऽवयवो ययोरित्यर्थः । ततो ययनु-

तु 'मघवनशब्दो ऽव्युत्पन्नं प्रातिपदिकम्' इत्युक्तम् ।

मघशब्दादिति । धनार्थादित्यर्थः । आयायानमीनि । अपिना छन्दसि । मघवानमीमह इति मध्योदात्तं वनिपि बोध्यम् । आ-
कारे इति । "केशाद्व" इति सूत्रे कैयटे इत्यर्थः । एवञ्च मनुपि
"अद्वसन्तस्य" इति दीर्घसत्त्वेन, त्रादेशे तदभावे, फलभेदे यत्नात्स्यात्ता-
न्धव इति भावः । नन्वेवमप्यन्तोदात्तस्य त्रादेशे यकाराकारस्यो-
दात्तत्वं, मनुपि तु "ह्रस्वनुद्भ्याम्" इति प्राप्तस्य मनुबुदात्तत्वस्य "न जी-
वन्" इति प्रतिषेधेन पित्र्वादनुदात्तत्वे यकाराकारस्योदात्तत्वमिति फ-
लभेदो ऽस्त्वेवेति चेन्न । त्रादेशपक्षे दीर्घवत् बहुलग्रहणेन यकाराकारोदात्त-
त्वस्याप्यङ्गीकारात् । तत्रैव मानान्तरमाह—हविरिति । 'मघवानृजी-
षी' इत्यस्याप्युपलक्षणमिदम् ।

"अर्वणस्तु मघोनश्च न शिष्यं छान्दसं हि तत् ।

मनुव्वन्योर्विधानाच्च छन्दस्युभयदर्शनात्" ॥

इत्यत्रत्यवार्तिकरीत्या मघवनशब्दस्य लोके ऽसाधुत्वं लभ्यते ।
तथा च तृज्वत्सूत्रे भाष्यम्—"अविशेषविहिता अपि शब्दा नियतविषया
दृश्यन्ते इति" इत्यन्यत्र विस्तरः ।

छन्दस्येवेति । न च वनिवन्तस्य संप्रसारणे यस्येति लोपे
मघोन इत्यसिद्धिः । व्याश्रयत्वान्नाभीयासिद्धत्वं लोपे संप्रसारणस्य ।
नापि बहिरङ्गासिद्धत्वम्, तस्या बाह्रऊर्द्वसूत्रस्थतया ऽऽभीयत्वेनाभी-
यान्तरङ्गस्य तद्दृष्ट्या ऽसिद्धत्वेनात्र तस्या अप्रवृत्तेः । अन्तरङ्गशास्त्रा-
श्रय एव तदाश्रय इति समानाश्रयत्वमव्याहतम् इति वाच्यम् । नि-
पातितान्तोदात्तमघवनशब्दमादाय सिद्धेः । "एकादेश उदात्तेनोदात्तः" इत्य-
स्य प्रवृत्त्या तत्र स्वरे विशेषाभावात् । छन्दस्यापाद्यरूपाभावान्निष्ठा-
पादनम् । अन्तोदात्तं त्विति । कन्यन्तत्वादव्युत्पन्नत्वाद्वा तत्त्वम् ।

अज्ञन्तानामिति । "अल्लोपो ऽनः" इत्यपकृष्यते । तत्र नकारं प्र-
श्लिष्य नान्तानामित्यर्थः । तेन मघवत् इत्यादौ नाल्लोपसंप्रसारणे, धी-
वरीत्यादौ च नाल्लोपः । स्पष्टश्चेदम् ऋलृक्सूत्रे भाष्ये । परे तु नकारप्र-
श्लेषाभावे ऽपि न दोषः । "अलोऽन्त्यस्य" इत्यस्य सत्त्वेनानः स्थानि-
त्वाभावेन स्थानिवत्सूत्रेणान्तत्वालाभात् । "सर्वे सर्वपदादेशा" इत्य-

नेनापि मघवन्शब्दस्यैव स्थानित्वं नानः । अर्द्धविकारे प्रत्यभिज्ञा-
ऽभावान्नैकदेशविकृतन्यायावसरः । ध्वनितश्चंद्रं “श्वयुव” इत्यत्र भाष्ये
इत्याहुः । मघवतीति । पुंयोगेन स्त्रियां वृत्तौ “उगितश्च” इति ङीप् ।
विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणान्नुस्न ।

शुन इति । ननु संप्रसारणे वार्णादाङ्गस्य वलीयस्त्वेन पूर्वत्वं
वाधित्वा “अलोपोऽनः” इति लोपे शुनइति सर्वानुदात्तं स्यात्, उदात्त-
निवृत्तिस्वरेणान्तोदात्तं वा स्यात् । पूर्वरूपेणाद्युदात्तमिष्यते । तत्र हि
वकारस्थानिकोकारस्य संसनधर्महलस्थानिकत्वेनानुदात्ततया श्वन्शब्दस्या-
न्तोदात्ततया ऽकारस्योदात्तत्वेन तयोः स्थाने जातस्यैकादेशस्योदात्तत्वात् ।
किञ्च लोपे स्थानिवत्त्वेन यणप्रसङ्गः । “अतेः शुनः” इत्यादिनिर्देशैस्तद्वारणे
तु बहुश्वा बहुमघवा बहुयुवेत्यत्र “अन् उपधालोपिनः” इति ङीब्विक-
ल्पापत्तिः । मघोन इत्यादायन्तोदात्तप्रकृतिके उदात्तनिवृत्तिस्वरापत्ति-
श्च; इति चेन्न । वार्णपरिभाषाया अनित्यत्वेन क चिदप्रवृत्त्या ऽदोषात् ।
श्वन्शब्दे आभीयतया संप्रसारणासिद्धत्वेन “न सैयोगाद्” इति निषेधाच्च ।

न संप्रसारणेः । अतएव निषेध्यसमर्पके लब्धे पुनः
संप्रसारणग्रहणसामर्थ्यात्तन्मात्रमिष्येति दूरस्थस्यास्य, “व्यथो लिटि” इ-
त्यस्य च निषेधः । न च अविष्णुख्यादावस्य चारितार्थ्येन युन इ-

नासिकपरयोर्ग्रहणं तदा इत्यंशं प्राप्नोतीत्याशङ्क्य तत्र को दोषः ?, नुमा-
गमप्रसङ्गः । तत्प्रतिषेधो वक्तव्यः । अन्यथा नन्दनः कारकः इत्यत्र नुम्
प्राप्नोति इति शङ्कायां-नुस्विधौ कृतग्रहणम् । शलन्तस्योगित इष्यते” इत्युक्तम् ।

*न संप्रसारणे इति । अत्र केचित् । इदं सूत्रं माऽस्तु । ‘सम्प्र-
सारणाच्च’ इत्यत्र ‘संप्रसारणादसंप्रसारणे’ इति लाघवात्कर्तव्यम् । तेन ‘यून’
इत्यत्र वकारस्य संप्रसारणे पश्चाद् यकारस्य संप्रसारणेऽपि संप्रसारणपरत-
या पूर्वरूपभावाद् यणेष्टसिद्धिरिति । तत्र । प्रथमोपस्थितत्वेन कदाचित्
पूर्वं यकारस्य संप्रसारणे तदानीं संप्रसारणपरकत्वाभावात्पूर्वरूपप्रवृत्त्या
यून इत्यस्यासिद्धापत्तेः । न च असंप्रसारणग्रहणसामर्थ्यात् संप्रसार-
णयोग्यभिन्नेऽचीत्यर्थस्य विवक्षणेन-वकारस्य संप्रसारणे पूर्वरूपोत्तरं सवर्ण-
दीर्घं परादिवद्भावेन यकारोत्तरोकारे संप्रसारणत्वसम्भावनाया तस्मिन्निमित्तकपूर्व
रूपाप्रवृत्त्या न दोषः, उभयोः संप्रसारणस्य सकृत्प्रवृत्तेश्च; इति वाच्यम् । वा-
क्यसंस्कारपक्षे ‘एष युनः पश्यति’ इत्यत्र यकारस्याऽच्स्थानिकत्वेन स्थानि-
वद्भावेनाच्छवारोपे ‘एतत्तदोः’ इति सुलोपानापत्तेरिति दिक् ।

त्यादौ पूर्वं सवर्णदीर्घरूपैकादेशे तस्य “अचः परस्मिन्” इति स्थानिवत्त्वेन संप्रसारणत्वे ऽपि तेनैव स्थानिवत्त्वेनोकारव्यवधानात्कथं निषेध इति वाच्यम् । व्यथ इति सूत्रे यग्रहणेनैव सिद्ध्या संप्रसारणग्रहणस्यैतन्निषेधकतयैव चारितार्थस्य वक्तव्यत्वेन व्यवहिते ऽपि प्रवृत्तेः, “यूनस्तिः” इति निर्देशाच्च; इत्याशयेनाह—इति यकारस्येति । न च कार्यकालपक्षे “इग्यण” इत्युपस्थितस्य पदैकवाक्यतया ऽन्वये निमित्तस्य यणा ऽन्वयेन येननाव्यवधानन्यायेन पूर्वस्य संप्रसारणाप्राप्तेरिदं सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम् । तत्पक्षे ऽपि सज्ज्ञासूत्राणां वाक्यभेदेनैव संबन्धस्योक्ततया विधायकेषु यण इत्यस्याभावात् । अत्र चेदमपि ज्ञापकं बोद्धव्यम् ।

ननु सकृत्प्रवृत्त्यैवोभयोः संप्रसारणे जाते निषेधो व्यर्थो निमित्तत्वानुपपत्तिश्चेत्यत आह—अत एव ज्ञापकादिति । तदुक्तं भाष्ये “इहेङ्गितेन चेष्टितेन निमिषितेन महता वा सूत्रगवन्त्वेनाऽऽचार्याणामभिप्रायो गम्यते, एतदेव ज्ञापयति परस्य पूर्वं भविष्यति” इति । ‘लक्ष्ये लक्षणस्य’ इति न्यायस्य तु नायं विषयः । कार्याश्रयवर्णभेदेन लक्ष्यभेदात्* ।

अर्वणस्तु । न तु साविति । पर्युदास एव तूचितः । प्रत्ययत्वेन च सादृश्यम् । अनञ इति बहुव्रीहिः । ‘वाजमर्वत्सु’ इति प्रयोगात् । तत्पुरुषे ह्यनञः परस्यार्वण इत्यर्थे ऽत्र न स्यात् । सुरत्र प्रथमैकवचनम् । अनञः किमिति । अनञ इत्यस्य कः शब्दो व्यावर्त्य इति प्रश्नः । उत्तरम्—अनर्वेति । यज्वन्शब्दसदृशो ऽनर्वन्शब्दो व्यावर्त्य इत्यर्थः ।

नन्विह निरनुनासिकोच्चारणे ऽपि तपरसूत्रस्यानणीव विधीयमाने ऽपि विद्व्यर्थत्वान्नस्यान्तरतम्यादनुनासिकः स्यात्, तपरसूत्रे ऽप्रत्ययग्रहणानुवृत्तावणग्रहणानुवृत्तौ च मानाभावादत आह—आआदिति । विशेष्यविशेषणभावेनान्वयान्न सर्वादेश इति भावः । भाष्ये त्वनुनासिकविधाने प्रतिपत्तिलाघवाय तस्यैवोच्चारणे कार्ये तदनुच्चारणात् शुद्धस्यैव

* वस्तुतस्तु एवंलक्ष्यभेदाश्रयणे पथ इत्यत्र पुनः “भस्य टेलोपः” इति टिलोपापत्तिः । तस्मात् प्रथमप्राप्तिसमानकालिकप्राप्तिविषयघटिते लक्ष्ये पुनः शास्त्रप्रवृत्तेः एतज्ज्ञापकादेवाश्रयणेन भवेताम्, भूयात् इत्यादौ सलोपादिसिद्धिरित्यन्यत्र विस्तरः ।

विधानमित्युक्तम् ।

के चित्तु इदं सर्वं 'गुणा भेदकाः' इति पक्षे । वृद्धिरादैच्-
सूत्रभाष्यसंमते सिद्धान्तभूते "गुणा अभेदकाः" इति पक्षे, जातिपक्षे च
तत्प्राप्तस्यापि सवर्णग्रहणस्याप्रत्ययग्रहणेन निषेधेनादोषात् । अत एव
भाष्ये 'तपरस्तत्कालस्येति प्राप्नोति' इत्युक्तम् । अप्रत्यय इति च वाक्यभे-
देन सर्वप्रतिषेधकम्, अणग्रहणस्य च तत्रासम्बन्ध इति तदाशयः ।
अत एव भाष्ये "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणं न" इत्येव पठितं, न त्वणे-
ति । एतदेवाभिप्रेत्याणुदित्सूत्रे ऽनया परिभाषया ऽप्रत्ययग्रहणवैयर्थ्य-
माशङ्क्याप्रत्ययग्रहणस्य तत्परिभाषाज्ञापकत्वमुक्तम् । तेन च तस्याव्या-
पकत्वं सूचितम्, अप्रत्ययग्रहणस्य मनुक्तरीत्या व्याख्यानञ्च सू-
चितम् । तेन जातिग्रहणप्राप्तस्य गुणाभेदकत्वपक्षप्राप्तस्यचानया ऽणन-
णसाधारण्येन निषेध इति सूचितम् ।

वस्तुतो ऽणुदित्सूत्रस्थाप्रत्ययग्रहणज्ञापकत्वपरभाष्यस्य एकदेशानु-
मतिद्वारा परिभाषा बोध्यते इत्यर्थः । प्रतीयत इत्यस्य विधीयत
इत्यर्थाप्रसिद्ध्या कैयटोक्तव्याख्या चिन्त्या । परिभाषायां सव-
र्णपदेन समानजातीयो भिन्नवर्मा उच्यते । तेन जंशादिवि-
धौ जत्वादिजात्याश्रयसर्वजकारादिग्रहणसिद्धिरित्याहुः ।

एतेन पथीयतेः क्विपि पन्था इत्यादीत्यपास्तम् । अत्र शुद्धार्थं तद-
नुच्चारणस्यावश्यकत्वेन भाष्यासङ्गतेः । तस्मात्तदनभिधानमेवोचितम् । न
च अदित्येवास्तु, नकारेकारयोरत्वे सवर्णदीर्घेण रूपसिद्धेः, पररूपं तु
न, "पथिमथ्यृभुक्षां लोपः, भस्य टेः, इतोऽत्सर्वनामस्थाने" इति न्या-
सेन नकाराश्रवणमिद्धावकारविधानसामर्थ्याद्; इति वाच्यम् । ज्ञानगौ-
रवपरिहारेण स्पष्टार्थमाकारोच्चारणात् ।

इतोऽत् ॥ आदित्यनुवृत्त्यैव सिद्धे ऽद्भचनमृशुक्षणमित्यादौ "वा-
षपूर्वस्य" इति दीर्घविकल्पे पक्षे ह्रस्वश्रवणार्थम् । इत इति अदिति च त-
परत्वं मुखसुखार्थम् । एरदित्युक्तौ ततो लाघवाभावात् । अन्यथा
विधेयेऽपि तपरकरणात्कुरुत इत्यादौ गुणाभाववत् पन्थानावित्यादौ दीर्घा-
भावापत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः ।

थो न्यः ॥ थो नुडिति नोक्तम् । इत्संज्ञाया आद्यन्तावित्यस्य

चानुसन्धाने प्रक्रियागौरवात् ।

*भस्य टेः ॥ भस्य किम् । पथिभ्याम् । सम्बुद्धौ नपुंसका-
नामिति । इदं नलुमतेतिनिषेधानित्यत्वमूलकमित्युक्तम् । यद्यपि भाष्ये
वा नपुंसकानामित्येव पठितं, तथापि सूत्रे डिग्रहणस्य प्रत्याख्यात-
त्वेन, हे चर्मन्, हे चर्म, इति संबुद्धावेवोदाहृतत्वेन च तावन्मात्रविषयता-
ऽस्येति भावः ।

षणान्ता ॥ विशेष्यसाकाङ्क्षात् स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् प्रकृतं सं-
ख्येत्याकृष्यते । संख्याशब्देन च संख्याप्रकारकबोधजनकाः पञ्चादयो
गृह्यन्ते । संख्येतिशब्दे बहुगणडतिषु च तदन्तत्वासम्भवात् । तदाह-सं-
ख्येति । सन्निपातेति । बहिरङ्गासिद्धत्वं च । संज्ञायाः कार्यकालपक्ष-
त्वेन समत्वात् । स्पष्टञ्चेदं भाष्ये ।

नोपधा ॥ नलोपस्यासिद्धत्वाभावादिर्विप्राप्तेरयमारम्भः ।
नामीत्यस्याङ्गविशेषणतैव न्याय्या । नामः नलोपत्वात् । एवञ्च पञ्चानामि-
त्यादौ पकाराकारस्य दीर्घवारणायोपधाग्रहणम् । नेति किम् । च-
तुर्णाम् । नामि किम् । चर्मणाम् । नलोप इति । “ब्रुवः पञ्चानाम्” इति
लिङ्गान्न सन्निपातपरिभाषाविरोधः ।

अष्टन आ । अनणत्वान्नानुनासिक इति भाष्ये स्पष्टम् ।
जातिग्रहणेन गुणाभेदकत्वेन तु न सः । भाव्यमानत्वात् । शुद्धो-
च्चारणादिति तु नात्र वक्तुं शक्यम् । रायो हलीत्युत्तरार्थन्तस्य
चारितार्थात् । प्रश्लेषेणापि न निर्वाहः । वाच्यवृत्त्याऽनुनासिकव्या-

*अत्र “भाङ्गित्” इति सूत्रयित्वा प्रत्ययस्य डिङ्गङ्गावं कृत्वा टि-
लोपेन सर्वेष्टसिद्धिस्तु न कर्तुं शक्यते । सुपथिन्शब्दादिदमर्थेऽणि
टिलोपे आभीयासिद्धत्वेन पुनष्टिलोपानापत्तेः । सिद्धान्ते तु भस्य टेलोप
इत्यस्याभीयत्वाभावेन तेन पुनष्टिलोपः सिध्यति । न च सिद्धान्तेऽपि नि-
त्यत्वात् परत्वाच्च पूर्वं “भस्य टेलोप” इति लोपे नान्तत्वाभावेन नस्तद्धिते
इति टिलोपो नैव भवतीति सौपथमित्येव रूपं नतु सौपमिति, अत एव
पाथेयमित्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते इति वाच्यम् । एवमपि सुपथिन्शब्दात्
णिचि इष्टानि च “भस्यटेलोप” इति लोपे “इष्टेमेयःसु टेलोपः” इत्यर्थकेन टेरि-
त्यनेन पुनष्टिलोपे इष्टानां सुपयति सुपिष्ठ इत्यादीनामसिद्धिप्रसङ्गात् । डिङ्गङ्गा-
वेन टिलोपेऽपि आभीयासिद्धेन पुनष्टिलोपानापत्तेरिति दिक् ॥

वृत्तेश्वेनालाभात् । प्रत्युत तत्रापि गुणाभेदकत्वादेर्दुर्वारित्वेनाऽऽन्तर-
भ्यादनुनासिकस्यैव प्राप्तेः । प्रश्लेषस्य पर्यायेण सकलाकारविधानार्थत्वं
स्यात् । एवमन्यत्रापि बोध्यम् । “रायो हलि” इत्यतो हलीत्यपकृष्यते ।

अष्टाभ्य औष् ॥ उङिति तु नोक्तम् । सकारस्योकारे
‘अष्टा अ उ’ इति स्थिते “इण्डिशीनामाहुणः सवर्णदीर्घत्वात्” इति न्या-
येनान्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घे तत आहुणे ‘अष्टौ’ इत्यस्यासिद्ध्यापत्तेः* । हली-
सपकर्षे कृताकारादित्यनुपपन्नमत आह-कृतात्वेति । कृतात्वानुकर-
णमित्यर्थः । लक्षणवशसंपन्नत्वे हि तस्य वैकल्पिकतया लाघवादष्टभ्य
इत्येव वदेदिति भावः । ज्ञापयतीति । अयं भावः* । हलीत्यपकृ-
ष्यमाणं वाक्यभेदेन पुनर्विधानार्थम् । तेन ‘अष्टन’ इत्यस्य क चिदक्ष्वपि
प्रवृत्तिरिति । आत्वमिति । आत्वमात्रमित्यर्थः ।

सूत्रे इति । दीर्घान्तादष्टनः परा ऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्तेति तद-
र्थः । ज्ञापकादिति । तद्धि ‘अष्टभिः’ इति ह्रस्वे ऽन्तोदात्तव्यावृत्त्यर्थम् । एवञ्च
ह्रस्वव्यावृत्त्यर्थं क्रियमाणं दीर्घग्रहणमात्ववैकल्पिकत्वे ज्ञापकम् । न च अष्टा-
भिरित्यत्र सावकाशस्य “अष्टन” इति सूत्रस्याष्टभिरित्यत्र परत्वाद् “अल्यु-
पोत्तमम्” इत्यनेन बाधे मकृद्गतिन्यायेन पुनरप्रवृत्तौ व्यर्थमेव तत्, न ह्यष्टा-
भिरित्यत्र “अल्युपोत्तमम्” इति प्राप्नोति, कार्यकालपक्षे ऽनान्तत्वेन षट्त्वा-
भावात्, अल्विधित्वेन स्थानिवत्त्वाभावाच्च; इति वाक्यम् । पुनःप्रसङ्ग-
विज्ञानबोधनद्वारा, एतद्विषये यथोद्देशपक्षस्यैवाश्रयणबोधनद्वारा वा, तद्विकल्पे
ज्ञापकमित्याशयादित्यन्यत्र विस्तरः* ।

असिद्ध्यापत्तेरिति । यद्यपि उङ्विधानेऽपि जहशसोरकारस्य
सकारस्थानिकोकारस्य च स्थाने जायमानस्य गुणस्य प्रत्ययावयवमात्रस्थानि-
कत्वेन प्रकृतिप्रत्ययोभयावयवाकारस्थाने जायमानात्सवर्णदीर्घादिन्तरङ्गत्वेन
पूर्वं गुणे ततो वृद्धौ नायं दोषस्तथापि शसि गुणे कृते अष्टा ओ इति स्थि-
ते भसंज्ञायां “आतो. धातोरित्यत्र धातुग्रहणमावृत्त्यर्थमेव” इति शेख-
रकारसिद्धान्ते तेन अष्टा इत्याकारलोपे अष्टौ इत्यसिद्ध्यापत्तिरूपो दोषो दु-
रुद्धः एव । एतेन “अष्टाभ्य ओङ्” न्यासोऽपि परास्त इति बोध्यम् ।

अयं भाव इति । एतेन हलादिविभक्तौ कृतात्वानुकरणेन हला-
दावेव किञ्चिदपूर्वकल्पना स्यान्न त्वजादावात्वकल्पनमित्यपास्तम् ।

अन्यत्र विस्तर इति । यथोद्देशपक्षे भविष्यति किञ्चिदनेन प्रयोजन-
मित्यभिसान्धिमात्रेण सुबुत्पत्तिदशायामेव षट्संज्ञायां तत आत्वेऽपि नान्तसं-

अष्टानामिति । हलीत्युक्तेरादौ नुट्, तत् आत्वम् । यत्तु 'सन्निपातपरिभाषया ऽत्र नात्वं, किन्तु "नोपधायाः" इति दीर्घे नलोपः । अन्तोदात्तत्वं नु "षट्त्रि" इत्येव सिद्धम् । नलोपे तु न सन्निपातपरिभाषा, नलोपस्यासिद्धत्वात्' इति । तन्न । पूर्वत्र कर्तव्ये नलोपासिद्धत्वेऽपि तत्र कृते ऽसिद्धत्वे मानाभावात् । सन्निपातस्याशास्त्री-त्वेन तस्य नलोपासिद्धत्वेनालाभाच्च । आरोपितासिद्धत्वेऽपि वस्तुतो-नलोपे तद्विघातस्य जायमानत्वेन नलोपे ऽपि तस्या दुर्वारत्वाच्च । अत एव 'गव्यिता, नाव्यिता' इत्यादौ सन्निपातपरिभाषया यलोपो न । अन्यथा "यस्य हलः" इति यलोपस्य बहिर्भूततृज्जनिमित्तकत्वेन बहिरङ्गतयाऽन्तर-ङ्गावादेशं प्रत्यसिद्धतया निमित्तविघाताभावः स्पष्ट एव । तस्मान्नलो-पस्यापि परिभाषाऽनित्यत्वेनैव साध्यतया तस्यासिद्धत्वादात्वमेव युक्तं तदनित्यत्वेन । किञ्च पदसंज्ञासन्निपातेन जातस्य नुट् आत्वे नलोपे वा न तद्विघातकत्वम् । स्थानिवद्भावेन कृतात्वेऽपि षट्त्वसत्त्वात् । कार्यकालपक्षे तत्तद्विध्यैकवाक्यतापक्षषट्त्वस्य बहिरङ्गतयाऽऽत्वे कृते ऽनान्तत्वेन ष-ट्त्वाभावान्नुट् न स्यादिति हलीत्यपकर्षः । दीर्घग्रहणाज्ज्ञापकादाका-रान्तस्य पदसंज्ञाश्रयणे, अत्र यथोद्देशस्यैवाश्रयणेनान्तरङ्गत्वात् पूर्वं षट्त्वे नान्तसंख्यावाचकत्वसमानाधिकरणधर्मविशेषरूपस्य षट्त्वस्य स्थान्यलधर्मत्वाभावेन स्थानिवद्भावादाकारान्ते आश्रयणे वा प्रतिपत्ति-गौरवमिति बोध्यम् ।

वृत्त्याद्यनुसारेणाह-गौणत्वे त्वित्यादि । स्थानिवद्भावा-दिति । 'पूर्वत्रासिद्धे' इति तु 'तस्य दोषः' इत्यनेन निषिद्धमिति भावः । कार्यकालपक्षे इत्यादि तु प्राचामनुगोधेनेत्युक्तम् । प्राधान्य एवेति । बहुवचननिर्देशात् । एवञ्च गौणे आदेशाप्रवृत्तौ तज्ज्ञाप्याऽऽत्वमपि नेति भावः ।

परे तु "णान्ता" इति सूत्रे भाष्ये 'अष्टानाम्' इत्येतत्सि-द्धये हलीत्यपकर्षमुक्त्वा तत्र पक्षे "प्रियाष्टौ प्रियाष्टा इति न सिद्ध्यति, प्रियाष्टानौ प्रियाष्टान इति प्राप्नोति" इति शङ्किते यथालक्ष-

ख्यावाचकत्वसमानाधिकरणधर्मविशेषस्य षट्त्वस्यालधर्मत्वाभावेन स्थानिव-द्वत्त्वेनैकदेशविकृतन्यायेन वा सुलभत्वात् 'अष्टाभिः' इत्यत्रापि "झल्युपो-

णमप्रयुक्ते इति समाहितम् । तत्र यथालक्षणमिति प्रतीकमुपादाय “यस्य विशिष्टः प्रयोगो न स्मर्यते, नापि प्रयोगनिषेधस्मृतिः, तद् यथालक्षणमनु-
गन्तव्यं तदत्र मा भूदात्वमित्यर्थ” इत्येकमर्थमुक्त्वा “नैव वा लक्षणमप्रयु-
क्ते प्रवर्तते, प्रयुक्तानामेव लक्षणेनान्वारूपानात्” इति व्याख्यानान्तरमुक्तम् ।
तत्रान्यव्याख्यानमेव उच्यते । अप्रयुक्ते लक्षणाभावस्यैव योग्यता, न
तु लक्षणप्रवृत्तेरित्यर्थसङ्गतेः । अथव्याख्यायामप्रयुक्ते इति वाक्यशे-
षासङ्गतिः । प्रयुक्तेऽपि लक्षणानतिक्रमात् । प्रयुक्तानामिदमन्वारूपानमित्य-
न्यत्र भाष्योक्तेश्च । किं च भाष्यकारस्य लक्ष्यैकचक्षुष्कतया इयमेव
व्याख्योचिता । एकस्यैव प्रयोगस्य भाष्यफक्किकाव्याख्यानभेदेन साधु-
त्वासाधुत्वयोरनौचित्याच्च । “न वा” इति सूत्रे भाष्ये पक्षभेदेनैकस्यैव सा-
धुत्वासाधुत्वयोस्तिरस्काराच्च । अत एव हलङ्घ्यादिभूत्रादावस्याप्रयुक्ते लक्ष-
णाभाव इत्येव व्याख्याऽऽहता कैयटेन । “नाम्नेदितस्य” इति सूत्रेऽपि कैयटः-
“प्रयोगमूलत्वादस्य शास्त्रस्य प्रयोगाभावे न प्रवृत्तिः” इति । एवञ्चैषामनभि-
धानमेवोचितम् । अत एव “अष्टाभ्य औश्” इति सूत्रे भाष्ये “विभाषा आत्वं,
यदयमात्वंभूतस्य ग्रहणङ्करोति अष्टाभ्य इति । अन्यथा अष्टन इत्येव ब्रूया-
त्” इत्युक्तम् । कैयटरीत्या गौणे प्रवृत्त्यभावाय बहुवचननिर्देशस्यावश्यक-

त्तमम्” इत्यस्य प्राप्त्या ऽष्टन्स्वरस्य निरवकाशतया तदवचादत्वात् । न
चाष्टानामित्यत्र तस्य चारितार्थ्यमिति वाच्यम् । “झल्युपोत्तमम्” इत्यस्याप्रा-
प्तावपि “षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः” इत्यस्य प्रवृत्त्या निरवकाशत्वस्य तदवस्थत्वा-
त् । न चाऽऽकारान्ते उक्तरीत्या षट्त्वे ‘अष्टौ’ इत्यत्र जश्शसोर्लुगापत्तिरिति
वाच्यम् । औश्विधि सामर्थ्यात्तदप्रवृत्तेः । नन्वेवं तत्राष्टन्स्वरस्य चारितार्थ्यमिति
चेन्न । अष्टन्शब्दस्य घृतादिपाठेनान्तोदात्ततया “एकादेश उदात्तेनोदात्तः”
इत्येव तत्रान्तोदात्तत्वसिद्धेस्तदर्थमस्यानुपयोगात् ।

ननु प्रियाष्टाभिरित्यादौ तस्य चारितार्थ्यम् । “चतुरः शसि” इति
सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येन षट्स्वरविधायके विहितविशेषणाश्रयणेन तस्य
गौणे ऽप्रवृत्तेः स्वीकारात् । तत्र हि “स्त्रियां प्रतिषेधो वाच्यः” इति चा-
र्तिकं चतसर्थाशुदात्तनिपातनेन प्रत्याख्याय, चतसृणामित्यत्र विभक्ति-
स्वरबाधमाशङ्क्य “षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः” इति सूत्रस्य हलादिग्रहणस्य—षट्-
संज्ञायां बहुवचनविषयत्वाद् बहुवचनेषु चाजादिविभक्त्योर्जश्शसोर्लुगस्यतया,
त्रिचतुर्शब्दयोरपि बहुवचनविषयत्वादसर्वनामस्थानपदानुवृत्तेर्जस्यप्राप्तौ, श-
सि च त्रिशब्दे “एकादेश उदात्तेनोदात्त” इत्येव सिद्धेश्चतुर्शब्दे “चतुरः शसि”
इति स्वरेण बाधात् फलाभावेन निपातनस्वरस्य विभक्तिस्वराबाधकत्वे ज्ञा-

तया तदसङ्गतिः स्पष्टैव । एवञ्च तत्प्रयोगविचारः सर्वोऽपि निष्फल एवेत्याहुः* ।

निरूपपदादिति । नुमोऽसमास एव विधानेन, सोपपदे “चोः कुः” इति कुत्वेनैव सिद्धत्वेन किं नि किपि च विशेषाभावादिति भावः । कनाविति । इदमुपलक्षणमुच्चारणार्थकारस्यापि । ककारो गुणप्रतिषेधाद्यर्थः । नकारः “किन्प्रत्ययस्य” इत्यत्र विशेषणार्थ इति भाष्ये स्पष्टम् ।

सन्निहिते इति । तत्फलन्तु णिजादीनां संज्ञाऽभावः* । अतिङ् किम् । *रुदिवेत्यादौ “नेद् वशि कृति” इति निषेधो मा भूदिति । *ज्ञापकेन निर्वाहस्तु व्याख्यानाद्वरं करणमिति न्यायाननुगृहीत इति सूत्राशयः ।

युजेर ॥ “उगिदचाम्” इत्यतः सर्वनामस्थाने इति, “इदितो नुम्” इत्यतो नुमिति चानुवर्तते ।

पकत्वमुक्तम् । षट्स्वरस्य गौणेऽपि प्रवृत्तौ प्रियाष्टान इतिव्यावृत्तिफलसत्त्वेन हलादिग्रहणस्य ज्ञापकत्वपरभाष्यासङ्गतिः स्पष्टैव । न च ‘कदष्टौ’ इत्याद्याऽव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरसत्त्वेन “अष्टौ, परमाष्टौ” इतिवदेकादेशस्वरेणासिद्धेस्तद्व्यावृत्त्यर्थं हलादिग्रहणमावश्यकमिति वाच्यम् । एतद्भाष्यप्रामाण्येनैतदनभिधानात्, इति चेन्न । दीर्घग्रहणज्ञापकपरभाष्यप्रामाण्येनाष्टस्वरस्यापि गौणेऽप्रवृत्तेः स्वीकारादिति दिक् ।

*आहुरिति । वस्तुतस्तु अलक्षणपदस्थलक्षणशब्दस्य लक्षणप्रवृत्तिपर्यन्तं लक्षणायां मानाभावेनाऽऽद्यव्याख्याया एव समीचीनतया तत्प्रयोगविचार आवश्यक एवेति दिक् ।

*तेन स्तूयते इत्यादौ अकृदिति पर्युदासो नेति दिक् ॥

रुदिवेति । न चात्र ‘नेद् वशि कृति’ इतिप्राप्तस्यापि निषेधस्य कालिनियमेन बाधाद् रूपसिद्धिर्निर्वाधैवेति वाच्यम् । मध्ये ऽपवादन्वायेन कालिनियमस्य ‘एकाच’ इति ‘इयुक्’ इति सूत्राभ्यां प्राप्तस्यैवेण निषेधस्य नियामकत्वेन परस्य “नेद् वशि” इत्यस्य तेन बाधायोगात् । वस्तुतस्तु ‘बभूवित्र’ इति रूपस्य पुरःपूर्तिकत्वेन तत्प्रागे बीजाभावाद्, बाध्यसामान्यचिन्तयोक्तप्रकारेण प्रकृते दोषाभावाच्च ‘अरुदिव’ इति पाठः साधुः । तत्र हि ‘रुदिभ्यः सार्वधातुके’ इति प्राप्तस्येदो निषेधाभावाय सूत्रे ऽतिङ्ग्रहणस्यावश्यकत्वादिति बोध्यम् । *ज्ञापकेनेति* ‘अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः’ इति सूत्रस्थ सार्वधातुकग्रहणेन, ‘तिङश्च’ इति सूत्रेण चेत्यर्थः । तथा हि ‘अकृत्सार्व’ इति सूत्रे सार्वधातुकग्रहणं ‘चिनुयात्’ इत्यत्र दीर्घाभावाय । यदि तिङः कृत्संज्ञा स्यात्तदा कृत्पर्युदासेनैव दीर्घाभावसिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । एवं पचति-

किन्प्रत्यय ॥ प्रत्ययग्रहणसामर्थ्यादतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः ।
न च तदभावे वस्य कृत्वापत्तिः । तथा सति 'किनो घः' इत्येव वदेत्,
'नशेर्वा' इत्यत्र घानुवृत्तावप्यदोषादिति बोध्यम् ।

चोः कुः ॥ "स्कोः" इत्यतोऽन्ते इति, "झलो झलि" इत्यतो झलीति चानु-
वर्त्तते, "पदस्य" इति चाधिकारः । कृत्वस्यासिद्धत्वादिति । अतद्गुण-
बहुव्रीह्याश्रयणात्प्राप्तिः । सुयुगिति । "सत्सु द्विष" इति क्प् धातुपाठेति ।
*व्याख्यानादिति भावः । युगिति । "क्प् च" इति क्प् । इहेति । "सृजिह-
शोः" इति सूत्रे 'रज्जुसृङ्भ्याम्' इति भाष्यप्रयोगात्काम्यच्सूत्रे भाष्ये 'उपयद्-
काम्यति' इति प्रयोगात् "किन् प्रत्ययस्य" इति कृत्वं नेत्यर्थः । परिमृडिति ।
धातोरुच्यमानं कार्यं तत्प्रसये" इति परिभाषया ऽत्र सुबिनिमित्तिका
सृजेष्ट्विद्धिर्न । किबिनिमित्तिका तु "कृडिति च" इति निषेधान्न । परौ
व्रजेः । "किब्वाचि" इत्युणादिपठितमिति मते* ततः किब्दीर्घानुवर्त्तते,
*व्याख्यानाच्च ताभ्यां पदान्त इत्यस्यासम्बन्धः, किन्तु षेणवेत्याह-
किबित्यादि ।

विश्वस्य ॥ "द्वलोपे" इत्यतो दीर्घ इत्यनुवर्त्तते । ननु षत्वा-
दीनामसिद्धत्वेन राट्शब्दपरत्वाभावः, अत आह—पदान्तेति । तेन वि-
श्वराजावित्यादौ न, विश्वाराड्भ्यामित्यत्र च भवति । 'आदित्यविश्वव-
सवः' इत्यत्र तु न दीर्घः । "नरे संज्ञायाम्" इत्यतः संज्ञापदापकर्षणात्* ।

तमाभित्यादौ तिङन्तस्य कृदन्तत्वेन प्रतिपदिकतया 'अतिशायने' इत्यनेनैव
तमबादिसिद्धेस्तिङ्श्चेत्यस्य वैयर्थ्यं स्पष्टमेव; इति सार्वधातुकग्रहणतिङ्श्चे-
तिसूत्रयोरुक्तार्थे ज्ञापकत्वं बोध्यम् । तिङः कृतसंज्ञाव्यावृत्तेः फलान्तरं तु प-
चति, चिकीर्षतीत्यादौ तु ग्यावृत्तिरिति ॥

व्याख्यानादितीति । योगार्थस्य प्राचुर्येण प्रसिद्धेः 'अभिव्यक्तपदा-
र्था' इतिन्यायमूलकाद्याख्यानादित्यर्थः । अत एव प्रतिपदोक्तस्यापि कुर शब्दे
इत्यस्य "न भकुर्बुराम्" इत्यत्र न ग्रहणमित्याहुः ॥

इति मते इति । यदा त्वन्येभ्योऽपि दृश्यते इति दृशिग्रहणात्
किब्वचीति सिद्धमिति, तदाऽनेन षत्वमात्रं विधीयते इति बोध्यम् ।

व्याख्यानाच्चेति परिव्राजाविति लक्ष्यदर्शनमूलकादित्यर्थः ।

संज्ञापदापकर्षणादिति । एवञ्च यत्र पूर्वोत्तरपदघटिता संज्ञा तत्रैव
दीर्घः । कोशघटकपदानि तु प्रत्येकं संज्ञास्वरूपबोधकानि, न तूमयपदघ-
टिता संज्ञा तत्रोपाचेति भावः ।

स्कोः सं ॥ 'झलो लोपः संयोगान्तलोपः' इति भाष्योक्तेरत्र झल इत्यस्यासम्बन्धः । तेन झलः परयोः स्कोर्लोप इति नार्थ इत्यन्यत्र प्रपञ्चितम् । झलीत्यनुवर्त्तमानं झलादिप्रत्ययपरम् । 'झलो झलि' इत्यत्र 'उदः स्था' इत्यारम्भेण तदर्थकतयाऽर्थाधिकारात् । तेन पृथक्स्थाता, पयःस्थितिः रित्यादौ न दोषः । *सङ्गीति वार्तिकाच्च । सनस्कारमारभ्याऽऽसप-
हिङ्गो ङकारात्सङ्गिति प्रत्याहारः । भूयास्तामित्यादौ 'व्यञ्जनपरस्य' इति न्यायेन लोपाभावेऽपि न क्षतिः ।

के चिन्वप्रत्यये संयोगादिलोपप्राप्तिर्योगोदाहरणानामनभिधानमे-
वोचितम् । 'सङ्गीति वक्तव्यं काष्ठशक्स्थाता' इति वार्तिकस्य प्रत्याख्यानप-
रेण "काष्ठशगेव नास्ति, कुतः काष्ठशक्स्थाता" इति भाष्येण तथैव
बोधनादित्याहुः ।

प्रत्याख्यानमेकदेश्युक्तिः* । सङ्गीति वक्तव्यमेवेति परे ।

"चोः कुः" इत्येतत् षत्वेनापवादत्वाद् बाध्यते, किन्प्रत्ययस्ये-
त्यस्य तु किन्विधानसामर्थ्यादेव न बाध इत्याह- किन्नन्तत्वादिति ।
ऋत्विक्शब्दो यज्ञसम्बन्धिपुरुषविशेषे रूढः ।

त्यदादीनामित्यनुवृत्तेराह-त्यदादीनामिति । तेन 'आतपः'
इत्यादौ न । तदोः किम् । यः । तोरिति तु नोक्तम् । अनेषेत्यादौ न-
स्याप्यापत्तेः । न च नुटो बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वम् । बहिर्भूतमुनिमित्तकत्वे-
नास्यैव बहिरङ्गत्वात् । इदञ्च "तस्मान्नुडचि" इति सूत्रे भाष्ये ध्वनितम्* ।
सौ किम् । तौ । अत्वसत्वे नेति । गणकार्यत्वादिति भावः ।

सङ्गीति वार्तिकाच्चेति । "परेश्च घाङ्गयोः" इति सूत्रस्थ 'सङ्गि-
लत्वसलोपसंयोगादिलोपकुत्वदीर्घत्वादीनि वक्तव्यानि' इति वार्तिकैकदेशभूता-
दित्यर्थः । *एकदेश्युक्तिरिति* पृथक्स्थाता, पयःस्थितिः रित्यादीनां लोक-
सिद्धतया तदनभिधाने मानाभाव इति तदाशयः ।

ध्वनितमिति । तत्र हि तस्मादित्यस्याभावे नञ एव नुटः प्राप्ति-
माशङ्क्य "एवं तर्हि पूर्वान्तः करिष्यते । तत्रायमप्यर्थस्तदोः सः सावनन्त्ययो-
रितीति तदोर्ग्रहणं न कर्तव्यं भवति । तत्र हि तवर्गानिर्देशे एतत्प्रयोजनम्
अनेषः करोतीति" । नचात्र परादित्वेऽपि निर्दिश्यमानपरिभाषया नुटो न भ-
विष्यतीति तवर्गनिर्देशे न दोष इति वाच्यम् । निर्दिश्यमानत्वस्य विभ-
क्त्यव्यग्रहितपूर्वत्वस्य च नुडरहिते सत्त्वेन तदवयवत्वस्य च आद्यन्तपरिभा-
षया नुटि सत्त्वेन तवर्गनिर्देशे दोषस्य तदवस्थत्वमित्याशयात् । अत एव

डे प्रथ ॥ “युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्” इत्यतो युष्मदस्मद्भ्यामिति वर्तते । डे इति पृथक्पदम् । अत एव “प्रथमयोरित्युच्यते । कयोः प्रथमयोः ? । विभक्तयोः । वचनयोस्तु न ग्रहणं “शसो न” इति लिङ्गात्” इति भाष्यं सङ्गच्छते ।

त्वाहौ ॥ यद्यपि युष्मदस्त्वादेशः “त्वमावेकवचने” इति सिद्धः, तथापि युष्मानतिक्रान्तो ऽतित्वमित्यर्थमत्र विधानम् । न चैवं तत्रास्य चारिताध्यात्केवले परत्वात्त्वमाभ्यां भाव्यमिति वाच्यम् । ‘त्वमावपि प्रवाधन्ते पूर्वविप्रतिषेधतः’ इत्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । “युष्मदस्मदोरनादेश” इत्यतो युष्मदस्मदोरिति वर्तते ।

शेषे । आत्वयत्वयोः प्रागुक्तत्वेन तद्विषयातिरिक्तविभक्तिरिह शेषशब्दार्थस्तदाह—आत्वयत्वेत्यादि । स्पष्टश्चेदं “युष्मदस्मद्भ्यां ङसः” इत्यत्र, प्रकृतसूत्रे च भाष्ये । अत एव “साम आकम्” इति ससुट्कनिर्देशः सङ्गच्छते । एवञ्च शेषग्रहणं स्पष्टार्थं, विशेषविहिताभ्यामात्वयत्वाभ्यां स्वविषये बाधसम्भवात् । अन्त्यस्येति । अलोऽन्त्यपरिभाषयेति भावः । त्वाहादयो ऽकारान्ता इति वृत्त्याद्यनुसारेणाह—अतो गुग इति । “त्यदादीनामः” इति सूत्रभाष्यकैयटाभ्यां *हलन्ता एवादेशा इति लभ्यते, तदा पररूपस्य प्राप्तिरेव न । यद्यप्युच्चारणार्थानामपीत्संज्ञालोपाभ्यां निवृत्तिः कार्या, तथापि ‘अतो गुणे’ इत्यस्याप्रवर्तनेन प्रक्रियालाघवमत्र पक्षे । इत्संज्ञालोपयोस्तु सूत्र एव प्रवृत्तिरिति न प्रयोगसाधुत्वज्ञाने गौ-

‘इनसोरलोपः’ इति सूत्रस्थं तत्परकरणं चरितार्थम् । तद्धि आयन् आसन् इत्यादौ आटो लोपाभावाय । अत एव चलीकल्प्यते इत्यादौ रीगादेर्लत्वम् । यावता पूर्वान्तः । एष दोषो न भवति । ततः पूर्वान्तत्वे अनुष्ण इत्यत्र नलोपमाशङ्क्य नुग्विधिसामर्थ्येन तं वारयित्वा ङमुटः प्राप्तिमुद्भाव्य परादित्वपक्षस्थापनेनेत्यर्थः । नचाजादिपदसन्निपातेन जातस्य नुको ऽजादित्वविघातकङ्मुटं प्रत्यनिमित्तत्वेन ङमुटप्राप्तौ तदसङ्गतिरिति वाच्यम् । नञो ऽकचि चित्त्वादन्तोदात्तत्वे च कृते अर्मशब्देन नकशब्दस्य समासे ऽकनर्ममित्यत्र “अर्मे चावर्ण्यच्च ज्यच्च” इति पूर्वपदस्यानवर्णान्तत्वेनाद्युदात्तत्वाभावापत्तेरिति भाष्याशयात् ।

हलन्ता इति । तत्रहि ‘शेषे लोप’ इत्यस्य ज्ञापकत्वमुक्त्वा द्विपर्यन्तानां ग्रहणं प्रत्याख्याय ‘टिलोपश्चावभावार्थ’ इत्यादिना शेषग्रहणस्य टिलोपार्थक्यमुक्त्वा तत् खण्डितम् । एवमपि त्वाद्यादेशानामदन्तत्वे वार्णादाङ्गस्य बलीयस्त्वात् पररूपं बाधित्वा शेषेलोपे टापः प्रसङ्गतादवस्थं मनसिकृत्य तत्र

रवम् । “त्वाहौ सौ” इति गुरुनिर्देशस्तु ‘श्वेतवहोक्थशम्’ इति वन्नार्थसाधकः ।
 *णिजन्तात्किपि युष्म् अस्म् इति प्रातिपदिकयोरादेशा एव नेति तदाशयः ।
 ‘मपर्यन्तस्य’ इति भाष्यसंमतश्चायमर्थ इत्यनुपदं स्फुटीभविव्यति । अन्त-
 रङ्गत्वादिति । परनिमित्तानपेक्षत्वेन तत्त्वमिति भावः ।

अलिङ्गे इति । एवञ्च स्त्रियामनयोरवृत्तेर्न टांबिति भावः । इदं
 “साम आकम्” इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । यद्वेति । इदं “त्यदादीनामः” इति
 सूत्रे भाष्ये स्पष्टम्, “साम आकम्” इत्यत्र च । मपर्यन्ताच्छेषस्येति ।
 इदमुपलक्षणम् । तेन त्वमित्यादौ लोपप्रवृत्तिवैलायां मपर्यन्ताच्छेषत्वाभा-
 वेऽपि न क्षतिः । ननु अदन्तत्वे आदेशानां “वार्णादाङ्गम्” इति परिभा-
 षया पररूपात्पूर्वमेव टिलोपे टावभाव उपपादयितुमशक्यः । अकारस्य
 कार्यद्वयेऽपि स्थानित्वेन समानस्थानिकत्वमस्तीति चेन्न । हलन्ता
 एवादेशा इति कैपटेनात्रैवोक्तत्वेनादोषात् । शेष इत्यत्र सामर्थ्यात्त-
 न्न्यायाप्रवृत्तिरत्रेत्यन्ये । तन्न । युष्मभ्यम्, युष्मत्, युष्माकमित्यादौ टा-
 बिनवृत्त्या चारिताध्यात् । तस्मादनित्यत्वात्तत्प्रवृत्तिरित्येके । तदाह-अ-
 तां गुणे कृते इति ।

अत्र वदन्ति । तत्तद्भाष्यप्रामाण्याच्छेषग्रहणसमुद्गकनिर्देशाभ्या-
 आस्य सूत्रस्याऽऽवृत्त्याऽर्थद्वये तात्पर्यम् । तच्च लक्ष्यानुरोधाद् व्यव-
 स्थितम् । तेन भ्यमि टिलोपे युष्म्भ्यमिति न । अत एव “भ्यसो
 भ्यम्” इति सूत्रे “यदि भ्यमादेशः, शेषेलोपोऽन्त्यलोप इति एत्वं प्राप्नो-
 तीति । अथाभ्यमादेशः, शेषेलोपष्टिलोप इत्यन्तस्योदात्तनिवृत्तिस्वरः प्राप्नो-
 तीति, यथेच्छसि तथाऽस्तु” इत्येवोक्तं, न तु भ्यमादेशे टिलोपमादाय
 फलभेद उक्तः ।

वस्तुतस्तु टिलोपो व्यर्थः । अत एव ‘लिङ्गाभावाट्टिलोपवचना-
 नर्थक्यम्’ इति ‘साम आकम्’ इत्यत्र भाष्ये उक्तम् । अत्र लिङ्गाभावादित्यु-
 पलक्षणम् । ‘शिशीलुङ्नुम्भिधिभ्यो युष्मदस्मदोर्विभक्त्यादेशा विप्रतिषेधे-

मम चादेशेष्वकार उच्चारणार्थो, हलन्ता एव त्वादेशा इति न कचिद्वाग्यसङ्ग
 इत्युक्तम् ।

ननु हलन्ता आदेशा इति पक्षे णिजन्तात्किपि मान्तयोर्हलन्तेषु त्वाहाद्या-
 देशेषु कृतेषु शेषेलोपे वकारहकारयोर्निवृत्त्यापत्तिरित्याशङ्क्याह* णिजन्तादिति# ।

न'इति "नेतराच्छन्दसि"इति सूत्रस्थभाष्यवार्तिकबलेन लिङ्गवत्त्वेऽपि सन्निपातपरिभाषया टावभावस्योपपादयितुं शक्यत्वम् । अत एव सन्निपातपरिभाषया "दुद्धौ"इत्यत्र टावभावः कृन्मेजन्तसूत्रे भाष्ये उक्तः । शेषग्रहणं तु भाष्ये प्रत्याख्यातमेव । "त्यदादोनामः"इति सूत्रस्थं "टिलोपष्टावभावार्थः" इति तु वार्तिकैकदेशिवचनमिति न दोषः । एतच्च भाष्यप्रदीपोद्घोते निरूपितम् । अभ्यम्-सूत्रे "यथेच्छसि, तथा ऽस्तु"इति प्रौढोक्त्वा भ्यमितिच्छेदस्य प्रौढवादत्वं भगवतैव सूचितम् । त्वं यथेच्छसि, तथाऽस्तु । तत्र दोषाद्धारो मया सुकर इति तत्तात्पर्यात् । अभ्यमित्येव तु च्छेदो न्याय्यः । अत एव "युष्मदस्मदोरनादेशे"इति सूत्रे "न चाऽऽदेशो हलादिरस्ति"इति भाष्योक्तिः सङ्गच्छते इति । परमत्वमिति । आङ्गत्वात्तदन्तविधिरिति भावः । गौणेऽप्रवृत्तौ बीजाभावादाह-अतित्वमिति ।

युवावौ ॥ द्विवचनशब्दोऽत्र यौगिको, व्याख्यानात्* । द्वयोर्वचनं बोधनं, तत्र समर्थयोर्युष्मदस्मदोरित्यर्थो, भाष्यप्रामाण्याच्च तद् युष्माणयुष्मदस्मदोरेव विशेषणं, न तदन्तस्य । अङ्गाधिकाराद्धि तदन्तग्रहणम्; इत्याशयेनाह—द्वयोरुक्ताविति । एतत्फलं गौणोदाहरणेषु मूल एव स्फुटम् ।

मपर्यन्तस्य किमिति । *अधिकारसूत्रं किमर्थमित्यर्थः ।

ननु समुदायाऽऽदेशत्वेऽपि "ओकारसकारभकारादौ सुपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागक्, अन्यत्र तु सुवन्तस्य टः प्राक्"इति व्यवस्थाया युष्मदस्मद्विषये 'त्वयका'इत्यादिसिद्धये वक्ष्यमाणत्वादन्तरङ्गत्वाद् 'युवाम्'इत्येतत्सिद्ध्युत्तरमकजिति युवकामित्यत्र न दोषः, अत आह--त्वयेति । नन्वत्रापि 'अच्ये' इति न्यासेनैकादेशे ऽयादेशे च सिद्धेराह-युवकाभ्यामिति । हलन्ता आदेशा इति पक्षे तु त्वयेत्यादेरसिद्धिरेव, मादेशस्य* सर्वादेशत्वञ्च न स्यादिति बोध्यम् ।

नन्वेवमपि मान्तस्येत्येवोच्यतां किं परिग्रहणेनेति चेन्न । युष्मयत्यादेः किपि सुप्यादेशाभावार्थं तत्सत्त्वात् । पर्यन्तशब्देन मान्तापेक्षया शेषस्य लाभात् । 'कटिपर्यन्तं वासः' इत्युक्ते 'अग्रे किञ्चिदस्ति' *व्याख्यानादिति* । त्रिचतुर्युष्मदस्मद्ग्रहणेष्वर्थग्रहणं शब्दविशेषणमित्यादिप्रत्ययोत्तरपदयोश्चेति सूत्रस्थभाष्योक्तादिति भावः । विधौ तद्वर्थमेवेत्याह—*अधिकारसूत्रमिति* ।

मादेशस्येति* । त्वाद्यादेशानामनेकास्त्वेन तत्सिद्धावपि मादेशस्य त-

इति नियमेन प्रतीतेः । एवञ्च मान्ताद्यत्राग्रे किञ्चिदवशिष्टं तत्रैव युष्मदस्मदोरादेशाः । अत एव भाष्ये “अवधिद्योतनार्थं परिग्रहणं कर्तव्यम् । मान्तस्येत्युच्यमाने यत्रैव मान्ते युष्मदस्मदी तत्रैवादेशाः स्युः । क्व च मान्ते ? युष्मयतेरस्मयतेश्चाप्रत्यये” इत्युक्तम् । अवधिद्यो-
तनार्थमित्यस्यान्तशब्दस्यावधिवाचकताद्योतनार्थमित्यर्थः । पर्यन्तशब्द-
स्य लोके तथैव प्रयोगात् । अग्रे किञ्चित्सर्वे देशकालयोरवधित्वव्यवहा-
रस्य लोके दर्शनाच्च । तत्रैवेत्यस्—‘अनिष्टे एव’ इत्यर्थः । परिग्रहणाभावे
तु “यतः पूर्वोऽस्ति, परश्च नास्ति सोऽन्त्यः” इति भाष्योक्तेर्मान्तपदस्य
मुख्यार्थत्वलाभायात्रैव स्यात् । कौ लुप्तमित्यस्य प्रवृत्तिश्च स्यात् । “अ-
भिव्यक्तपदार्थाः” इति न्यायश्च पदकार्यविषय इति तदाशयः । अत
एव भाष्ये प्रयोगदर्शनं न कृतम् ।

यत्तु—परिग्रहणाभावे मान्ते यत्र ते तत्रैव स्यात् । सामा-
नाधिकरण्येनान्वयस्यौचित्यात् । सति तु तस्मिन् सामर्थ्याद्यु-
ष्मदस्मदोयौ मपर्यन्ताविति व्याख्यानाद् दान्ते, व्यपदेशिवद्भावे-
न युष्मयशादेः किपि च सिद्ध्यति । “व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेन”
इति तु प्रत्ययविधिविषयमिति, तन्न । परिग्रहणस्य वैयधिकरण्येनान्वये
मणिमन्त्रादिन्यायेन नियामकत्वकल्पनापेक्षयोक्तस्यैव न्याय्यत्वात् । तत्र
हि सामानाधिकरण्यासम्भवाद्वैयधिकरण्यान्वय इत्यन्यत् । किं चात्र
व्याख्याने ‘अवधिद्योतनार्थम्’ इति भाष्याक्षरास्वारस्वरूपम्* । मपर्यन्तस्येति
च तद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिरिति दिक् ।

अङ्गकार्ये हानि । अङ्गधिकारस्थे इत्यर्थः । मकारान्तर-
मिति । “शसो न” इत्यनेन संहितया पाठे इति शेषः । परे तु शेषवि-
भक्तिभूताऽमादि-युष्मदादिसन्निपातेन जातस्य लोपस्य तद्विधातकस्या-

त्पक्षेऽलोऽन्त्यपरिभाषया ऽन्त्यादेशत्वापत्तिः । अधिकारसूत्रसत्त्वे तु मपर्यन्तस्य
विधानात् मकारादेशस्तस्यैव भवतीति भावः ।

अक्षरास्वारस्यमिति । वस्तुतस्तु पर्यन्तपदस्य यतो ऽग्रे कि-
ञ्चिदवशिष्यते तत्र शक्तिरिति केनाप्यबोधनात् तद्यापि परिपदस्य
तादृशार्थे मणिमन्त्रादिन्यायेनान्तपदशक्तेर्नियामकत्वमावश्यकम् । किञ्च
तादृशार्थे नियामकत्वेऽपि वैयधिकरण्येनान्वयस्यावश्यकत्वमिति लाघ-
वात्तत्सामर्थ्येन मदुक्तार्थ एव कल्पनीयः । ननु ममावधिद्योतनार्थमिति

दिनिमित्तत्वं नेति सन्निपातपरिभाषयैव श्याद्यभावः । सुटस्त्वाकमव-
यवत्वान्न तेन सन्निपातविधात इति सकारनिर्देशः “साम आकम्” इत्यत्र ।
अत एव कृन्मेजन्तसूत्रे “ह्रस्वत्वं तुग्विधेर्ग्रामणि कुलम्” इतिसन्निपातपरि-
भाषाप्रयोजनव्याख्यावसरे “यदा ह्रस्वमात्रस्य तुगागमो, न तदन्तस्य
*तदेदं प्रयोजनम्” इति व्याख्यातं कैयटेन । मूलोक्तं तु न युक्तम् ।
भाष्यानुक्तेः । अत एव “नेतराच्छन्दसि” इति सूत्रे “नपुंसकादेशेभ्यो युष्म-
दस्मदोर्विभक्त्यादेशा विप्रतिषेधेन” इति वार्त्तिकं व्याख्याय “तेषु कृतेषु पुनः
प्रसङ्गात् शिशीलुग्विधयः कस्मान्न भवन्ति?, सकृद्वातिन्यायात्” इत्युक्तम् । त्वद्री
त्या पुनः प्रसङ्गस्यैवाभोवन तदसङ्गतिः स्पष्टैव । अत एव च तत्र युष्मदादेर्विभ-
क्त्यादेशस्य ‘यूयं ब्राह्मणाः’ इत्याद्यत्रकाशप्रदर्शनं कृतम् । अन्यथा तत्रापि
जसःशीप्राप्त्या तदसङ्गतिः । यूयमित्यादिप्रयोगकरणेन तत्र श्यादिशङ्कास-
माधानाकरणेन च भाष्यकृताऽत्र सन्निपातपरिभाषाविषयत्वं सूचितम् ।
अङ्गवृत्तपरिभाषया वारणमपि चिन्त्यम् । तस्या अङ्गसम्बन्धिकार्यवि-
षयत्वात्* । सूत्रभाष्यस्वरसोऽप्येवमेव । वस्तुतो नैषा लक्ष्यसंस्कारिका ।
“द्वयोः” इत्यादिनिर्देशासङ्गतेः । अत एव भाष्ये “किमेतस्या ज्ञापने
प्रयोजनम्” इति प्रश्ने “पित्रेगुणप्रतिषेधो न वक्तव्यः” इत्येव प्रयोजनमु-
क्तं, न तु प्रयोगसिद्धिः प्रयोजनमुक्तमित्याहुः* ।

त्यक्षरास्वारस्यमिति चेत् । सत्यम्, परं तु तत्रापि तत्रैवेत्यक्षरास्वार-
स्यम् । तत्रैवेत्यस्यानिष्टे एवेत्यर्थवन्मयाऽपि अवधियोतनार्थमित्यस्य वैयधि-
करण्यान्वयोतनार्थमित्यर्थस्य कर्तुं शक्यत्वात् । अत एव कैयटे “कौ लुप्तम्”
इत्यस्य प्रवृत्तिफलत्वेन युष्मयतेः किपि निष्पन्नस्य युष्मच्छन्दस्य त्वामत्या-
दीनि रूपाण्युक्तानि । तस्मादनभिधाने न दृढं मानम् । न च तथा ऽपि पास्ग्रहणं
न कार्यम् । मान्तस्येत्येवोच्यताम् । अन्तग्रहणसामर्थ्याद्वैयधिकरण्येनान्वयो
भविष्यतीति वाच्यम् । अन्तग्रहणाभावे मकारस्यैव निर्दिश्यमानत्वेन मकारस्यैव
त्वाद्यादेशापत्तेरित्यलं क्षोदक्षेमेणेति द्विक् ।

तदेदं प्रयोजनमिति । अवयवावयवव्यायेन तत्त्वेऽपि अवयवाव-
यवव्यायप्रवृत्तिप्राक्क्षणे तद्विधातस्य सत्त्वात्तत्प्रवृत्तिः स्पष्टैव । “आद्यन्तौ”-
इतिसूत्रसहकारेणावयवत्वविशिष्टतत्तत्कार्यस्य विधानेन कस्मिंश्चिदपि क्षणे न
सन्निपाताविधात इति भावः । *कार्यविषयत्वादिति* । जसः शीत्यादीनां च
प्रत्ययसम्बन्धिकार्यतया तस्या अत्र प्रवृत्तेरयोगादिति भावः ।

आहुरिति । परे तु प्राचीनमतमेव ज्यायः । यत्तु “नेतरा-

त्वमाविति । अत्रापि विभक्ताविति सम्बद्ध्यते । अन्यथा "प्र-
त्ययोत्तरपदयोश्च" इति व्यर्थं स्यात् । तत्फलन्तु त्वं सुन्दरः पुत्रो यस्य
युष्मत्सुन्दरपुत्र इति त्रिपदबहुव्रीहौ नादेश इति । अत्रैकवचनशब्दो
यौगिको व्याख्यानात् । तदाह—एकस्येति ।

अविभक्तिकमिति । व्याख्यानात्* ।

यो ऽचि । अनादेश इति किम् । *त्वद्, मद् । "पञ्चम्या अत्" इत्य-
नादेशः । आत्वविधायके च भ्यम् वावर्त्यः । वस्तुन उत्तरार्थमेव तत् ।
'अभ्यम्' इत्येव च्छेदादिति भाष्ये स्पष्टम् ।

हलादाविति । *परिशेषलब्धम् । हलीत्यनुवृत्तौ तु यो ऽची-
त्यज्ग्रहणं माऽस्तु ।

च्छन्दसि" इति सूत्रे "नपुंसकादेशेभ्यो युष्मदस्मदोर्विभक्त्यादेशा विप्रतिषेधे-
न" इति वार्त्तिकं व्याख्याय "तेषु कृतेषु पुनः प्रसङ्गाच्छिशीलुग्विधयः कस्मान्न भव-
न्ति, सकृद्वृत्तिन्यायात्" इत्युक्तम्, तत्तु मकारप्रश्लेषमबुद्ध्वा ऽङ्गवृत्तपरिभाषायाः
प्रत्याख्यानाच्च सकृद्वृत्तिन्यायेन समाहितमिति नास्माकं प्रतिकूलम् । त-
वापि सन्निपातपरिभाषामबुद्ध्वेदं भाष्यं प्रवृत्तमित्यवश्यं वक्तव्यम् । अन्यथा स-
न्निपातपरिभाषयैव निर्वाहे सकृद्वृत्त्याश्रयणमसङ्गतमेव स्यात् । न च लो-
कप्रसिद्धपरिभाषयैव निर्वाहे मकारप्रश्लेषे गौरवमिति वाच्यम् । "ने प्रा-
ग्धातोः" इत्यादिनिर्देशैः "जसः शी" इति सूत्रविधेये सन्निपातपरिभाषाप्रयुक्त-
संकोच एव नेति ज्ञापनेन तस्या अत्राप्राप्तेः । न च न मया विधेये सं-
कोचः स्वीक्रियते, अपि तु अनुज्ञावाक्ये एव । तथा च ते इति निर्देशेन "त्य-
दादीनामः" इत्यस्यानुज्ञावाक्ये जसः इत्येव दतिरिक्तत्वेन संकोचेऽपि अत्र
संकोचे मानाभाव इति वाच्यम् । "उपजीव्यविरोधो न न्याय्यः" इत्यक्षर-
स्वारस्यभङ्गापत्तेः । न हि तेन न्यायेनोपजीव्यविरोधकर्तुरनुज्ञादानं पाप-
जनकमिति बोध्यते । अपि तु उपजीव्यविरोधस्य पापजनकत्वमुच्यते । अत एव
लोकेऽपि उपजीव्यविरोधकर्तृत्वं निन्दितो भवति, न तु तन्मन्त्रयिता । प्रत्युत
तन्मन्त्रयितुः प्रतिष्ठा जायते इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्तकल्पनयेत्याहुः ।

व्याख्यानादिति । हे प्रथमयोरित्यत्र भाष्ये प्रथममयोर्विभक्त्यो-
र्ग्रहणमित्यत्र शसोनेत्यस्य "यदयं शसोनेति प्रतिषेधं शास्ति" इति ज्ञाप-
कत्वमुपन्यस्य स्त्रियां नपुंसके च युष्मानित्यादिसिद्ध्यर्थं नत्वमनेन विधीयते
इति भाष्योक्तादित्यर्थः ।

त्वद् मदिति । त्वमित्यपि बोध्यम् ।

परिशेषलब्धमिति । नन्वनादेशग्रहणस्यात्र फलाभाव इत्य-
नुपदमेवोक्तत्वेन त्वमित्यत्र यत्वाप्राप्या हलीत्यननुवृत्तौ तत्राप्यात्वं प्रस-
ज्येत इति चेन्न । तथा सति "द्वितीयायां च" इत्यस्य वैयर्थ्येन अनादेशो भवति

भ्यसोभ्य । अत्र यद्वक्तव्यं तदुक्तम् । पक्षद्वयेऽर्पाति । तत्रान्त्यलोपे द्वयोरकारयोः पररूपे “एकादेश उदात्तेन” इत्यभ्यम आद्याकार उदात्तः । टिलोपेऽपि यत्रानुदात्ते वर्णे परे उदात्तो लुप्यते स वर्ण उदात्त इत्यर्थकेन “अनुदात्तस्य च यत्र” इत्यनेन स उदात्त एवेति न विशेष इति भावः ।

नन्वाकमः पूर्वं लोपाभावेनादन्तत्वाभावात्सुडागमाप्रसक्तेः गसुदकनिर्देशो व्यर्थः, सूत्रासङ्गतिश्चेत्यत आह—भाविन इति । आकमि शेषे लोपे कृते प्राप्तस्येत्यर्थः । अयं भावः । सामः प्रसङ्गे आकमित्यनेन सुडामोरत्र विषयेऽत्यन्तमप्रयोगो बोध्यते । स्थान्यादेशभावविषये सर्वत्रैवमेव । यथाऽऽर्द्धधातुकविषये ऽस्तेरप्रयोगो, भूप्रयोगश्च “अस्तेर्भूः” इत्यनेन प्रतिपाद्यते, न तु सतो निवृत्तिः । शब्दानिसत्वप्रसङ्गात् । किं तु प्रसक्तबुद्धेरेव निवृत्तिः । सकारबुद्धिप्रसक्तेश्च प्रकृते सांप्रतिकया असम्भवाद्भाविन्या ग्रहणं, सकारोच्चारणसामर्थ्यादिति प्रथमप्रवृत्त्यैव सुटो निवृत्तिर्न तु प्रवृत्त्यन्तरकल्पनयेति भाष्ये स्पष्टम् । तन्निवृत्तिश्चाऽऽमोऽभावात् । अत्र सामः स्थानित्वोक्त्या स्थानिवत्त्वेन साम्त्वमेव, न त्वाम्त्वम् । उक्तीत्या च न स्थानिवद्भावप्रसक्तिः सैवाप्रसक्तिः ससुदकनिर्देशेन बोध्यते इति बोध्यम् । अत एव ‘अतित्वाकम्’ इत्यादौ

चेद् द्वितीयायामेवेतिनियमात्तत्र तदप्राप्त्या ऽनादेशाज्जादौ यत्त्वेन बाध्यात् परिशेषलब्धमित्यस्य सुवचत्वात् ।

नन्वाकम इति । ननूपसंजनिष्यमाणन्यायेनाकृतव्युत्परिभाषया वा पूर्वं यत्त्वाप्रवृत्त्या ऽऽकमः पूर्वमन्त्यलोपे ऽदन्तत्वात्सुटि तद्विशिष्टस्याऽऽकम्-विधानार्थं ससुदकनिर्देश आवश्यकः सूत्रसङ्गतिश्चेति चेन्न । अनादेशे इति निषेधसम्भावनायाः यत्त्वप्रवृत्त्यभावसम्भावनाद्वारा अन्त्यलोपसुद-प्रवृत्तिप्रयोजिकायाः आकमादेशप्रवृत्तिसम्भावनाप्रयोज्यत्वेन, आकमादेश-प्रवृत्तिसम्भावनायाश्च अन्त्यलोपसुदप्रवृत्तिप्रयोजिका या यत्त्वप्रवृत्त्यभावसंभावना तत्प्रयोजकानादेशेतिनिषेधसम्भावनाप्रयोज्यत्वेन अन्योन्याश्रयप्रस्ततया ऽन्त्यलोपस्यापि पूर्वमप्रवृत्त्या ससुदकनिर्देशासङ्गतेस्तदवस्थत्वात् ।

नन्वास्त्वमिति । ननु आमि साम्त्वस्यारोपेऽपि स्वतःसिद्धा-म्त्वानतिदेशो दुर्वच इति चेन्न । ससुदकनिर्देशसामर्थ्यादाम्त्वैतरधर्मस्यैवातिदेशबोधनात् । “भ्रस्जो रोप” इत्यत्रेवात्रोभयपर्याप्तस्थानितानिरूपितादेश-ताऽऽकमि । तथा चास्त्वस्य स्थान्येकदेशवृत्तित्वेन न तस्यातिदेशः । पदत्वा-

“प्रत्ययोत्तरपदयोः” इति भाष्योदाहृते आकम्नुडभावौ सिद्धौ । आम्पेव साम्त्वस्याहार्यारोपेणाऽऽदेशः । आदेशस्याम्त्वाभावाच्चात्र न नुद् । *न च यत्र साम् भावी तत्रैवायम् । सामो भावित्वस्य सर्वथा *दुरूपपादत्वात्,

दिकं तु आनुमानिकस्थान्यादेशभावेन सिद्धम् । आकमि सुप्त्वातिदेशस्य तु नोपयोग इति । आम्त्वावच्छेदेन साम्त्वारोपे आम्त्वस्यावृत्तत्वाच्चातिदेशो नाकमि तद्वुद्धिः । स्थानिवृत्तित्वेनावभासमानधर्माणामेवादेशोऽतिदेशादिति तु तत्त्वम् ।

परे तु साश्च म च साम् । आक् च अम् चेत्याकम् । सौत्रत्वाच्च जश्त्वम् । यथासंख्येन साशब्दस्य स्थाने आक् आदेशो, मकारस्य च स्थाने अमादेशः । तथा चाम्त्वस्य स्थान्यवृत्तित्वेन न तस्यातिदेशः । अत्रैव तात्पर्य-
ग्राहकः ससुट्कनिर्देश इत्याहुः ।

ससुट्कनिर्देशादाकमि द्वित्वमारोप्य दिलोपे तेन सुटो नुदश्चाप्राप्तिरित्यन्ये ।

केचित्तु ससुट्कनिर्देशात् युष्मदस्मदोरन्त्यस्य सकारं विधाय युष्मदस्मच्छब्दान्ताङ्गाद्विहितविभक्त्यन्ततदादेरवयवस्य सामः स्थाने आकम्-विधानेनाम्त्वस्य स्थान्येकदेशवृत्तित्वेन न तस्यातिदेश इत्याहुः ।

कश्चित्तु साम आकमित्यत्र नलोपेन सकारात्पूर्वं नकारं प्रश्लिष्य, आकारात्पूर्वं सवर्णदीर्घेण निषेधार्थकाकारं च प्रश्लिष्य सुड्नुटौ न भवतः, आमः स्थाने आकम् च भवतीत्यर्थकल्पने न कश्चिद्दोष इत्याहेत्यलं विस्तरेणेति दिक् ॥

गौणमुख्यसाधारण्येन आकमादेशप्रवृत्तिप्रयोजकं भाष्यसंमतं साम्त्वस्याहार्यारोपमनङ्गीकृत्य “यत्र सुड् भावी तत्रैवाकम् न गौणं” इति वादिनो मतं निरसितुमुन्यस्यति *नच यत्र साम् भावीति* । खण्डयति *सामो भावित्वस्य सर्वथा दुरूपपादत्वादिति* । आकमादेशात् पूर्व बाधकयत्वप्रवृत्तिसम्भावनाया अन्त्यलोपाप्रवृत्त्या सुटोऽप्रसङ्गेन साम्—रूपासम्भवात् । आकम्प्रवृत्तिसंभावनया अन्त्यलोपे सुटि च सत्यपि साकम् इत्येव रूपं स्यान्नतु सामिति सर्वथा तद् दुरूपपादमिति भावः । ननु आकमादेशो आम्त्वारोपे सुटि च सकारोत्तरत्वविशिष्टास्त्वे साम्त्वं सुलभमिति चेत्—एवम्पि तत्सम्भावनया पूर्वमामः स्थाने आकमि अन्त्यलोपे सुडापत्तिर्दुर्वारा । सकारनिर्देशसामर्थ्याच्च सुडिति चेन्न । गौणेऽप्रवृत्त्यर्थं तन्निर्देशस्य सार्थकत्वात् । किञ्च आकमादेशो आम्त्वारोपे अतिदिष्टानतिदिष्टधर्मसमुदायरूपस्य सकारोत्तरत्वविशिष्टास्त्वस्य अशास्त्रीयत्वेनातिदेशालभ्यत्वाच्चातिदेशो न आमि तल्लभसम्भव इत्याह—

साम्बन्धस्याशास्त्रीयत्वेना* तिदेशालभ्यत्वादिति *भाष्यविरुद्धकल्पना
व्यर्थेति दिक् । हस्वादिरकम् तु* न कृतः । अन्त्यलोपे ऽप्यकारस्यैत्व-
निवृत्त्या चारितार्थ्येन पररूपापत्तौ युष्माकमिसिद्ध्यापत्तेः ।

द्विवचनैकवचनशब्दयोरर्थपरतया व्याख्याने फलं दर्शयति—
द्व्येकत्वेति । द्वित्वैकत्व*विशिष्टवाचिनी इत्यर्थः । समासार्थो—मुख्यवि-
शेषम् । अन्यसंख्यः—युष्मदाद्यर्थगतसंख्येतरसंख्या *युक्तश्चेदित्यर्थः ।
स्त इति । अर्थपरत्वाश्रयणादिति भावः । एते इति कर्तृपदम् । युवा-
वाचिति कर्मपदम् । एवं त्वमावित्यपि । पूर्वाविप्रतिषेधत इति ।
विप्रतिषेधे पूर्व इति, सुप्सुपेति समासः । अत एव “प्रत्ययोत्तरपदयोश्च”
इति सूत्रभाष्ये त्वमाविति सूत्रे शेष इत्यनुनर्त्य सुजम्बुङ्मूव्यतिरि-
क्तविभक्तावेताविति व्याख्यातम् ॥ त्वमौ न चेति । अर्थपरत्वाश्रय-
णादेवेति भावः । इति विग्रहे इति । एवं विग्रहे यादृग्रूपाणि तानि व-
क्ष्यन्ते इति शेषः । अनित्वाकमिति । अत्र यथाऽऽकम्नुडभावौ, तथोक्तम् ।

पदस्य । “अपदान्तस्य मूर्द्धन्यः” इत्यतः प्रागयमधिकारः । तत्फ-
लन्तु राजानावित्यादौ नलोपाभावः । इयं क चित्स्थानषष्ठी, क चिदवय-
वषष्ठी । “हो ढः” इत्यादावाद्या । “मादुपथापा” इत्यादावन्त्या । तेन वृक्ष-

अशास्त्रीयत्वेनेति । “ननु सामः “स्वं रूपम्” इति शास्त्रग्राहितसंके-
तकत्वेन शास्त्रीयत्वादशास्त्रीयत्वं दुर्वचमिति चेन्न । शास्त्रग्राहितसङ्केत-
कत्वे सति शास्त्रग्राहितसाधुत्वकवृत्तिविषयताप्रयोजकशास्त्रघटकपदप्र-
तिपाद्यत्वरूपशास्त्रीयत्वग्रहणेनात्र सामः शास्त्रग्राहितसङ्केतकत्व-शास्त्रघट-
कपदप्रतिपाद्यत्वयोः सत्त्वेऽपि शास्त्रग्राहितसाधुत्वकवृत्तिविषयताप्रयोजक-
पदप्रतिपाद्यत्वाभावेनाशास्त्रीयत्वस्य सुवचत्वात् । शास्त्रीयत्वमभ्युपेत्याप्याह
भाष्यविरुद्धेति* । साम्बन्धातिदेशेऽपि भाष्योदाहृते “अतित्वाकम्” इत्यत्र
सुडप्राप्त्या तत्राकमनापत्तिः, नुडापत्तिश्चेति भावः” इत्येवमपि कश्चिद्व्याचक्षे ।

अकम् तु न कृत इति । परे तु युष्मदस्मदर्थगतसंख्यायाः क्तिरो ऽनभिधाने
प्रमाणाभावस्य पूर्वमुक्तत्वेन तत्र दीर्घोच्चारणस्य चारितार्थ्यमित्याहुः । एतेन
“युष्मदस्मदोः” । हलीति वर्तते । ततो “योऽच्यनादेशे” इति पाठनात्वेन
सिद्धावाकम्याकारोच्चारणत्र कर्तव्यम्” इत्यपि अपास्तम् ।

विशिष्ट इति । समासे युष्मदस्मदर्थगतसंख्यायाः अभानादि-
ति भावः । *युक्तश्चेदिति* । युक्तश्चेदपीत्यर्थः । तेन द्वित्वैकत्ववाचिन्यन्य-
पदार्थेऽपि त्वमौ युवावौ च भवन्त्येवेति दिक् ।

वन्तावित्पादौ वत्वसिद्धिः । अन्यथा मत्वन्तपदाभावान्न स्यात् ।
अन एव “नलोपः” इति सूत्रे ऽन्तग्रहणं चरितार्थमिति स्पष्टं भाष्ये ।
“त्रः संख्यायाः” इत्यत्र नलोपाभावस्तु ‘झलाञ्जश् झशि’ इत्यत्र जश्त्वा-
भाववद् बोध्यः ।

पदान् ॥ “कुत्सने च सुपि” इत्यतः प्रागयमधिकारः । “अनुदात्तं
सर्वम्” इत्यादिपदत्रयमापादसमाप्तः । सर्वग्रहणन्तु “तिङ्ङुतिङ्ङुः” इत्यादौ
सर्वानुदात्तत्वस्य विनिगमनाविरहाल्लाभेऽपि स्पष्टतया तल्लाभार्थमित्याकरे
स्पष्टम् । “आदेः परस्य” “अलोऽन्त्यस्य” इत्यनयोस्तु न प्राप्तिः । पदस्ये-
त्यस्य ‘अनुदात्तं’ ‘तिङ्ङु’ इत्यादिश्रुतप्रथमान्तानुरोधेन प्रथमया विपरिणामेन
स्थानषष्ठ्यभावात् । तत्र पादशब्देन ऋत्यादः, श्लोकपादश्चाविशेषाद्
गृह्यते । अपादादिशब्देन पादान्तपादमध्यस्थवद् छन्दोहीनवाक्यस्थस्यापि
ग्रहणम् । ‘ग्राप्ते कस्वलो मे स्वम्’ इति भाष्यात् ।

षष्ठ्यादीनि । सर्वस्य पदस्येत्युभयाधिकारसामर्थ्यादिदं ल-
भ्यते इत्यन्यत्र विस्तरः । तौ चानुदात्ताविति । अनुदात्तत्वगुणविशि-
ष्टयोर्विधानादिति भावः ।

उक्तविधयोरिति । पदात्परयोरपादादौ स्थितयोरित्यर्थः ।
द्वितीयायां त्वामयोरपवादत्वादाह—षष्ठीचतुर्थ्येकेति ।

विभक्तिक्रमलब्धद्वितीयादिक्रमेणोदाहरति—अंशि इति ।
दत्तादिशनेन चतुर्थ्यन्तत्वं स्फुटीकृतम् । संवेद्योऽस्मानिति । नन्वत्र
सन्ध्यभावे नवाक्षरत्वेनानुष्टुप्पादत्वानापत्तिः । सन्धौ तु ‘उभयत आ-
श्रयणे ऽन्तादिवत्त्वाभावेन कथमादेशप्राप्तिरिति चेन्न । संवेद्यो इत्येकादेश-
विशिष्टस्य पूर्वान्तवत्त्वेन पदत्वात्, स्मानित्यस्य चैकदेशविकृतन्यायेन
द्वितीयान्तास्मच्छब्दत्वेन* तत्प्राप्तिरित्याशयात् । सन्धिश्रान्तरङ्गत्वादादेशा-

अस्मच्छब्दत्वेनेति । नन्वस्मच्छब्दत्वस्य परिच्छिन्नधर्मसम-
नियतधर्मत्वेनाक्तपरिमाणत्वात्कथं तत्प्रवृत्तिः । न चैवम् “उदके केवलं” इति-
सूत्रस्थभाष्यविरोधः, तत्र दकशब्दे उदकशब्दत्वस्यैकदेशविकृतन्यायेनोक्त-
त्वादिति वाच्यम् । उदकशब्दान्तसमासघटकोत्तरपदाव्यवहितपूर्वपदस्यान्त
उदात्तो भवतीत्यर्थेन ओदकशब्दे परादिवद्भावेन उदकशब्दत्वात्तदन्तसमास-
घटकोत्तरपदमेकदेशविकृतन्यायेन दकेति तदव्यवहितपूर्वपदत्वस्य पूर्वान्तव-
द्भावेन गुडोशब्दे सत्त्वाद् तदव्यवहितं पूर्वपदं गुडो इति, तस्यान्तोदात्तत्वस्य

त्पूर्वमेव । *आदेशे सति 'नः कृष्णः सर्वदा ज्वतु' इति पादादित्वापरयो-
*पजीव्यविरोधान्नाऽऽदेश इत्यन्ये । उभयत आश्रयणेऽपि तस्य स्वीकार
इति इण्धातौ निरूपयिष्याम इति परे* ।

ननूक्तरीत्या षष्ठ्याद्यन्तानामेवाऽऽदेशा भविष्यन्ति, किं स्थग्रहणे-
न ? अत आह—स्थेति । अहानौ स्थशब्द इति भावः । युष्म-
त्पुत्र इति । युवयोर्युष्माकं वा पुत्र इत्यर्थः । यद्यपि वृत्तौ संख्या-
विशेषानवगम इति भाष्ये स्पष्टं, तथापि संबोद्ध्यत्वेनैवानेकव्यक्त्यवगतिर्न
तु द्वित्वादेर्भानं, नाप्येकत्वस्येति त्वमौ न कृतौ । विग्रहे तु संख्या-
विशेषभानाद् द्विवचनादि भवत्येव । तस्य लुक्पि प्रत्ययलक्षणेन द्विवच-
नाद्यन्तत्वम् । अत एव 'बध्वोरगारं बध्वगारम्' इति प्रगृह्यसञ्ज्ञासूत्रे भा-
ष्ये प्रयुक्तम् । वचनद्वयविषयसूत्रप्रत्युदाहरणलाभाय 'इति त्वत्पुत्रः' इति
न प्रत्युदाहृतम् ।

समानवाक्ये इति । निमित्तनिमित्तिनोरेकवाक्यस्थत्वे इ-
त्यर्थकं 'समानवाक्ये' इति प्रकृत्य विधेया इत्यर्थः । निघातो नामानु-
दात्तः । एकतिङ्ङिति बहुव्रीहिः, एकतिङन्तघटितमित्यर्थः । तेन
'पचति' इत्येतन्मात्रस्य* न वाक्यत्वम् । इदं स्वशास्त्रकार्योपयोगि एकवाक्य-
त्वलक्षणम् । तेन 'पश्य मृगो धावति' इत्यादौ लौकिकैकवाक्यत्ववत्यपि
नाव्याप्तिः । समर्थसूत्रे भाष्ये स्पष्टमेतत् । अत एव "तिङ्ङितिङ्ङः" इ-
त्यत्रैतदाश्रित्य 'अतिङ्' इति प्रसारायातं भाष्ये । लौकिकवाक्यत्वञ्च —

अन्यथैव सिद्धत्वात्, तस्यैकदेश्युक्तिवाच्यत्वरुचेराह—*आदेशे सतीत्यादि* ।

उपजीव्यविरोधादिति । तथा विधेये स्वप्रवृत्तिनिमित्तवि-
घातकारिक्तत्वेन सङ्कोचादिति भावः । विधेये एवानया सङ्कोचो, न
तु पूर्वसूत्रानुज्ञावाक्ये इति पूर्वमुपपादितमेव । अत एव "न चाऽऽदिरेव नकार
उदात्तगुणविशिष्टान्तरतमाज् रूपो ऽस्त्विति वाच्यम् । तथा सति निमित्तभू-
तद्व्यञ्जकत्वस्य विनाशादुपजीव्यविरोधेनाऽऽद्युदात्ताप्राप्तेः" इत्यादिपरिभाषेन्दु-
शेखरोऽत्रत्यं भाष्यं च सङ्गच्छते । अन्यथा "चान्तो यि प्रत्यये" इत्यस्योदात्तस्य
निमित्तविघातकत्वाभावे तेनानुज्ञादाने बाधकाभावेनैतदसङ्गतमेव स्यादिति
विभावनीयम् । *परे इति* । अव्यवहितपूर्वत्वाव्यवहितपरत्वयोर्व्यपवर्गधर्म-
त्वेन तस्यातिदेशस्तेन दुर्लभ इतीदं चिन्त्यमित्याहुः ।

एतन्मात्रस्येति । मात्रशब्दो ऽत्रावधारणे । पचतीत्यस्यैव न
वाक्यत्वमपि तु व्यपदेशिवद्भावेन तस्य, तद्वदितसमुदायस्य च । पचतीत्ये-

सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता ।

इत्यमरेणोक्तम् । वाशब्दश्चेदर्थे । कारकान्वितक्रिया चेद्, बोद्ध्येति शेषः । तेन निरर्थकशब्दसमुदायव्यावृत्तिः । सुप् च तिङन्तश्च सुप्तिङन्ते, सुब्विशिष्टं तिङन्तं सुप्तिङन्तं, तेषामेक-शेषः । तेन कारकान्वितक्रियाबोधकसुब्वन्तचय-तिङन्तचय-सुप्तिङन्त-चयानां त्रयाणामपि वाक्यत्वलाभः । तत्र सुब्वन्तचयो-देवदत्तेन श-यितव्यम् । द्वितीयं-पचति भवतीत्यादि । तृतीयं-चैत्रः पचतीत्यादि ।

(१)(एतत्समानार्थकमेव “तिङ्ङतिङः” इति सूत्रे ‘अतिङ्’ इति वदत्सूत्रकाराभिप्रेतं वाक्यलक्षणम् ‘आख्यातं सविशेषणं वाक्यम्’ इति समर्थसूत्रभाष्ये उक्तम् । तत्राऽऽख्यातपदेन क्रियाप्रधानं लक्ष्यते । तेन ‘त्वया शयितव्यम्’ इत्यादेः संग्रहः । सविशेषणमित्यस्य सा-क्षात् परस्परया वा यद्विशेषणं, तत्सहितेत्यर्थः । तेन ‘नद्यास्तिष्ठ-ति कूले’ इत्यादौ नद्यादेः समानवाक्यस्थत्वसिद्धिः । सविशेषणत्वेन विभागे साकाङ्क्षत्वं लब्धम् । एतदेवैकोद्देश्यकैकविधेयकत्वैरूपकार्थत्वग-र्भमेकवाक्यत्वलक्षणं बोध्यम् । “अर्थैक्यादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्” इति जैमिन्युक्तेः । अनेन च “ब्रूहि ब्रूहि” इत्यस्य सङ्ग्रहो, विशे-षणानुपादानेन सविशेषणत्वाभावात् । वाक्यत्वफलं त्वत्र प्रश्नोत्तरे “अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः” इत्यनेन वाक्यस्य टेः प्लुतसिद्धिः । अतः स्वशास्त्रपरिभाषितं लक्षणम् ‘एकतिङ् वाक्यम्’ इत्युक्तम् । अत

तन्मात्रस्य तत्त्वफलं तु “अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः” इति प्लुतसिद्धिः ।

नन्वेकतिङन्तघटितत्वरूपैकवाक्यत्वस्वीकारे “त्वया शयितव्यम्” इत्य-स्यैकवाक्यत्वानापत्तिः, “त्वया शयितव्यमिति रामो वदति” इत्यत्रैकवाक्यत्वाप-त्तिश्च, इति चेत्, न । मुख्यविशेष्यतायोग्यक्रियाप्रतिपादकत्वप्रकारकतात्पर्य-विषय-पदाघटक-पदद्वयाघटितत्वरूपतत्त्वस्वीकारेण त्वया शयितव्यमित्यादौ मुख्यविशेष्यतायोग्या या शयनक्रिया तादृशशयनक्रियाप्रतिपादकत्वेन तात्प-र्यविषयभूतं शयितव्यमित्येकमेव पदं, न तु पदद्वयमिति; तादृशपदद्वयाघटि-तत्वं ‘त्वया शयितव्यम्’ इति वाक्यस्येति लक्षणसमन्वयः । त्वया शयितव्यमिति रामो वदतीत्यत्र तु मुख्यविशेष्यत्वयोग्यक्रिया वदनक्रिया शयनक्रिया च, शयनक्रियायाः कर्मत्वसंबन्धेन वदनक्रियायामन्वयेन मुख्यविशेष्यत्वाभा-वेऽपि तदसमभिव्याहारे विशेष्यत्वसत्त्वेन तद्योग्यत्वस्य सुस्थत्वात्-

(१) एतत्समानार्थमेवेत्यादिः इत्यलमित्यन्तो ग्रन्थः कचित्पुस्तके ।

एव एतदुदाहरणं 'ब्रूहि ब्रूहि' इत्येव भाष्ये दत्तम् । यत्तु अत्रोदाहरणे देवदत्तेति विशेषणं पूरणीयमिति, तन्न । पूर्वलक्षणेनैव सिद्धेः । द्विः प्रयोगस्य भाष्ये व्यर्थत्वापत्तेश्च । यद्यपि पदद्वित्वेऽवान्तरपदत्वमप्यस्ति, तथापि 'एकतिङ्' इत्यस्य एकानुपूर्वीकैकतिङन्तवादित्यर्थ इति न प्रकृते दोष इत्यलम् ।)

ओदनं पचेत्यादि । *समर्थपरिभाषा त्वत्र न प्रवर्त्तते । एकार्थीभावविषये एव *तत्प्रवृत्तेरिति भावः । एते वांनावादय इति । इदञ्च "सपूर्वाया" इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् ।

न च वा ॥ चादयः समुच्चयविकल्पाद्भुतखेदावधारणार्थाः, तेषामन्यतमेन यांगे इत्यर्थः । ननु तृतीयानिर्देशेनैव सिद्धे युक्तग्रहणं व्यर्थमत आह—युक्तग्रहणादिति । साक्षादिति । युष्मदस्मदर्थगतसमुच्चयादिद्योतकत्वे इत्यर्थः । परम्परेति । स्वार्थाश्रयान्वयन्वयित्वादिरूपेत्यर्थः ।

चेतसेति । "अनालोचनार्थैः" इत्येव पर्युदासेन सिद्धे "पश्यार्थैः" इत्येतद् *इन्द्रियजन्यसकलज्ञानसङ्गदार्थमिति भावः ।

तत्प्रतिपादकत्वप्रकारकतात्पर्यविषयभूतं पदद्वयं वदति, शयितव्यमिति च, तद्वदितत्वमेव 'त्वया शयितव्यमिति रामो वदति' इति वाक्यस्येति नातिव्याप्तिः । ब्रूहिब्रूहि राम इत्यत्राव्याप्तिवारणार्थं पदाघटकेति निवेशः । न चैवमपि 'ग्रामं गच्छ, तव' इत्यस्य निरुक्तदिशा तत्त्वापत्तिरिति वाच्यम् । परस्परनिरूप्यनिरूपकभावानापन्नविषयताप्रयोजकपदाघटितत्वमिति विशेषणदानेनादोषात् । यद्वा स्ववृत्त्यानुपूर्वीमत्त्वं—स्वप्रयोज्यविषयताप्रयोजकत्वमेतदुभयसम्बन्धेन मुख्यविशेष्यतायोग्यक्रियाप्रतिपादकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यपदविशिष्टेतरद् यत् मुख्यविशेष्यतायोग्यक्रियाप्रतिपादकत्वप्रकारकतात्पर्यविशेष्यं पदं तादृशपदद्वयाघटितत्वे सति परस्परनिरूप्यनिरूपकभावानापन्नविषयताप्रयोजकपदाघटितत्वं तत्त्वमिति । लक्षणसमन्वयस्तु स्वयमुज्ज्वल इत्यलं विस्तरेण ।

समर्थपरिभाषा त्वत्रेति । वार्त्तिकारम्भसामर्थ्यादिति भावः । ननु समर्थपरिभाषाया अत्र प्रवृत्तिरेवास्तु, वार्त्तिकं च माऽस्त्वित्याशङ्काह—*तत्प्रवृत्तेरिति* । युष्मदस्मदादेशानां प्रवृत्त्यापत्तेरित्यर्थः । यद्वा यतो हि तत्प्रवृत्तेरर्थीभाव एव विषयो विधेयम्, अतोऽत्र न प्रवर्त्तते, लक्ष्यानुरोधादिति भावः ।

इन्द्रियजन्यसकलेति । ननु ज्ञानमात्रे आत्ममनःसंयोगस्य

परम्परेति । स्वान्वितान्वयित्वादिरूपेत्यर्थः । तदुक्तं भाष्ये “पश्या-
थैश्च प्रतिषेधः समानवाक्ये इति प्रकृत्य वक्तव्यः, । इतरथा हि यत्रैव
पश्यार्थानां युष्मदस्मदी साधनं, तत्र प्रतिषेधः स्यात् । ग्रामस्त्वां
संप्रेक्ष्य गत इति । इह न स्यात्—ग्रामस्तत्र स्वं संप्रेक्ष्य गतः” इति ।
समानवाक्ये इति करणेन समानवाक्ये पश्यार्थैर्युक्ते युक्तयुक्ते च यु-
ष्मदाद्यर्थे आदेशप्रतिषेध इति कैयटः । एवञ्च “न चवा” इति सूत्रे युक्त-
ग्रहणं स्पष्टार्थमेव । तदभावेऽपि प्रकृतमूत्रस्येव तस्यापि साक्षात्सम्ब-
न्धे एव प्रवृत्तिः स्यात् । समानवाक्ये इत्येतत्सम्बन्धात्तु अस्य यु-
क्तयुक्तेऽपि प्रवृत्तिरित्यन्यत् । अत एव ‘देवदत्तस्य पुत्राद् यज्ञदत्तः
पृथक्’ इत्यादौ देवदत्तशब्दान्न पञ्चमीत्याहुः । भक्तस्तवेति । इह
तवेत्यस्य रूपेण सम्बन्धो, न तु साक्षाद्भ्यायतिनेति भावः ।

सपूर्वा ॥ सहशब्दो विद्यमानवाची । अवधेरपि सम्बन्धित्वेन
विवक्षायां *षष्ठ्यर्थेऽन्यपदार्थे “अनेकम्” इति समासो, “बोपसर्जनस्य” इति
सः; तदाह—विद्यमानपूर्वादिति । प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणमित्याह—
प्रथमान्तादिति । ननु “एते वांनावादयः” इत्यनेनैव विकल्पसिद्धेः
किमेतेनेत्यत आह—अन्वादेशोऽपीति । अत्र नेति निवृत्तं, तदाह—
आदेशा वेति । तेनेति । भक्तत्वेनेत्यर्थः । प्रक्रान्तार्थत्वाच्च यच्छ-
ब्दोपादानापेक्षेति भावः । स्पष्टश्चेदं सप्तमोल्लासे काव्यप्रकाशादौ । अत्र
‘हरिस्त्वाम्’ इत्येकमुदाहरणम् । ‘स माम्’ इत्यपरम् । त्रायते इत्यस्य च
मध्यमणिन्यायेन तन्त्रेणोभयत्रान्वयः । तेन स इत्यस्यापि समानवाक्य-
स्थत्वेन विद्यमानपूर्वत्वं बोद्धव्यम् ।

साऽऽमन्त्रितम् ॥ “सम्बोधने च” इत्यतः सम्बोधने इति वर्त्त-
ते । ‘सा’ इत्यनेन प्रथमा परामृश्यते । आमन्त्रणमामन्त्रितमिति महासञ्ज्ञा-

कारणत्वेन सर्वमपि ज्ञानमिन्द्रियजन्यमेवेति पुनरपि तद्वैयर्थ्यमिति चेत्, न ।
इन्द्रियजन्यमित्यस्य इन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपितजन्यतावदित्यर्थस्य
विवक्षणेन सर्वज्ञानस्येन्द्रियजन्यत्वेऽपि तत्तदिन्द्रियत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपि-
तजन्यतावत्त्वस्याभावेनादोषात् ।

षष्ठ्यर्थे इति । “मत्वर्थे बहुव्रीहिः कर्मकर्तृवचनेनाप्रथायाः” इति
वार्तिकेन षष्ठीसप्तमीविभक्त्यन्तातिरिक्तार्थे कर्मकर्तृवचनसुबन्तातिरिक्तानाम्
अनेकमिति समासाभावस्य बोधनादिति भावः ।

*बलात्तदन्तविधिरित्याह—तदन्तमिति । अत एव है हे भो इत्यादीनामपि संज्ञासिद्धिः । अन्यथा “अन्तरङ्गानपि” इति न्यायेन पूर्वं विभक्ति-
लुकि प्रथमाया अभावेन ‘नखनिर्भिन्नः’ इत्यत्रैसभाववदत्र संज्ञा न स्यात् ।
यद्यप्येषां सम्बोधने शक्तेः प्रातिपदिकार्थसूत्रेणैव प्रथमा, तथापि सम्बोध-
नविषयप्रथमासत्त्वान्न दोषः । एतदर्थमेव ‘प्रथमा’ इत्यनुवर्तमाने सेति पदम् ।

अन्ये तु “सम्बोधने च” इत्यस्य तत्र वर्तमानादित्यर्थे
अन्यत्रेवात्रापि “सम्बोधने च” इत्येव प्रथमा । प्रातिपदिकोक्तत्वस्या-
व्यावर्तकत्वेन विभक्त्यप्रतिबन्धकत्वात् । “तिङ्कुचद्धितसमासैः” इति परि-
गणनाच्च । सेति तु विधेयसमर्पिकाया अनुवाद्यत्वाय स्पष्टार्थमित्याहुः ।

अविद्यमानवदिति । “गोतो णित्” इति वत्सिद्धेः * वत्करणमति-
दिश्यमानविरुद्धस्वाश्रयस्यापि लाभार्थम् । तेन ‘आम्भो देवदत्त’ इत्यादौ-
“आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके” इति एकान्तरत्वप्रयुक्तामन्त्रितनिघात-
निषेधसिद्धिरिति स्पष्टं भाष्ये । न चात्र “नामन्त्रिते समानाधिकरणे” इत्य-
नेन निषेधादविद्यमानवत्त्वमेव नेति वाच्यम् । अस्य सम्बोधनमात्रद्यो-
तकत्वेन विशेष्यवचनत्वाभावात् । देवदत्तस्यैव विशेष्यत्वाच्च ।

इहेति । ‘अग्रे तव’ ‘देवास्मान्’ इत्यत्रादेशाः, ‘अग्रे नय’ इत्यत्र “ति-
ङ्कुचतिङ्कः” इति निघातः, ‘अग्न इन्द्र’ इत्यत्र “आमन्त्रितस्य च” इति निघात इति
विवेकः । अत्र पूर्वमित्यनेन परस्याऽऽक्षेपात् पूर्वं परस्य कार्ये ऽविद्यमान-
वदित्यर्थः । तेन ‘देवास्मान्’ इत्यत्र देवेत्यस्याऽऽमन्त्रिताद्युदात्तत्वं भवत्येव ।
पूर्वं किम् । पाहि देव । अत्राऽऽमन्त्रितनिघातो भवत्येव ।

प्राचीनमिति । एवमेव ‘लक्ष्मीपते ते ऽङ्घ्रियुगं स्मरामि’
इत्यादिसिद्धिः । * ‘नृसिंहाश्रम ते ख्यातिः’ इत्यादौ—‘गेये केन
विनीतौ वाम्’ इत्यादाविव विभक्त्यन्तप्रतिरूपकनिपाताङ्गीकारेणा-

*बलात्तदन्तविधिरिति । “संज्ञाविधौ” इति परिभाषा नास्त्येवेति पक्षे
तु न सामर्थ्यवर्णनमित्यद्योचाम ।

सिद्धे इति । ननु तदभावे अस्य त्रिपाद्यां प्रवृत्तिर्न स्यात् ।
राज्यान्ते ऽस्य घतिघटितत्वेन घतिघटितशास्त्राणां त्रिपाद्यां प्रवृत्तेः पूर्व-
मुपपादितत्वादिति चेन्न । वत्यर्थघटितानामपि त्रिपाद्यां प्रवृत्तिबोधनात् ।
अत एव प्रत्ययलक्षणसूत्रस्य त्रिपाद्यां प्रवृत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः ।

नृसिंहाश्रम इति । न च “नृसिंहाश्रम” इत्यस्याविद्यमा-

दोषः । अयं समाधिः प्रकृतेऽपि । 'नः' इत्यस्य विभक्तिप्रतिरूप-
कत्वात् । अन्यार्थन्तु मूलोक्तकल्पनावश्यकत्वम्, तदाह-एवमिति ।
सर्वेषां निघात इति । अस्य प्राप्त इति शेषः । तत्र यमुने सरस्व-
तीत्यनयोर्बाधकाभावाद्भवति । शुतुद्रीत्यस्य तु न, पादादिस्थत्वात् ।

एतेन 'आदिभ्यः' 'सर्वेषाम्' इति बहुवचनमसङ्गतमित्यपास्तम् ।

अग्रे तेजस्विन्निति । अनुदात्तं सर्वमित्यनयोः सम्बन्धा-
नर्हत्वेन निवृत्त्या तत्साहचर्येणापादादावित्यस्याप्यविद्यमानवत्सूत्रे निवृ-
त्तिरिति भावः । आमन्त्रिते किम् । देव करोषि * । सामान्यवचनं
किम् । 'अह्न्ये देवि सरस्वति इडे काव्ये' इत्यादौ पर्यायेषु परेषु निषेधो
मा भूत् । सामानाधिकरण्यञ्चैकार्थविशेष्यकबोधजनकत्वमेव, न तु प्रवृ-
त्तिनिमित्तभेदगर्भमिति दिक् ।

सुपादिति । शोभनौ पादावस्येति बहुव्रीहिः । "संख्यासु-
पूर्वस्य" इत्यकारलोपः समासान्तः ।

अञ्चेः सुपीति । निपातनैः साहचर्यादिति भावः ।

नवद्भावेऽपि नृ इत्यस्य विद्यमानत्वेन ततः परस्य युष्मच्छब्दस्य ते इत्या-
देशः स्यादेवेति निपाताश्रयणं विफलमिति वाच्यम् । अवयवे अविद्यमानत्वा-
नारोपे समुदायाविद्यमानत्वस्याऽतिदेशसहस्रेणाप्यतिदेष्टुमशक्यत्वात् । अत
एव 'इमं मे गङ्गे' इत्यत्र गङ्गे इत्यादीनां निघातसिद्धिः । अन्यथा गङ्गे इत्यस्या-
विद्यमानवद्भावेऽपि गकारस्य विद्यमानत्वेन तेन व्यवधानात् पदात्पराम-
न्त्रिताभावेन निघाताप्राप्त्यापत्तेरित्यलं क्षुद्रोपद्रवाणां विद्रावणेन । एतेन प-
रमहरे तिष्ठेत्यत्र परमहरे इत्यस्य अविद्यमानवद्भावेऽपि हरे इत्यस्य पदत्वमा-
श्रित्य तिष्ठेत्यस्य निघातः स्यात् । अतः उत्तरपदत्वे चेति वार्तिके कार्यित्वनि-
वेशनं कार्यम् इत्यपास्तम् ॥

* देव करोषीति * । ननु सम्बोधनविभक्त्यन्तदेवपदस्य सिद्धार्था-
श्रयान्वयिसंबोध्यार्थकत्वं पदसामानाधिकरण्येऽपि तस्य कृधात्वर्थनिष्ठविशेष्य-
तानिरूपितसम्बोधनविषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वेन, नवीनमते
ऽध्याहृतविधेयक्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपितस्वोद्देश्यकप्रवर्तनाविषयत्वसम्बन्धा-
वच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वेन वा विशेष्यताप्रयोजकत्वरूपसामान्यवचनत्वा-
भावाच्च निषेधप्राप्तिरिति चेत्, न । प्रातीतिकस्य विशेष्यविशेषणभावस्य तस्मि-
न्नितिसूत्रस्थभाष्योक्तरीत्या द्रव्यक्रियादिषु प्रतीतिभेदेन विपरिवर्तमानत्वेऽपि
प्रतीतिं विनाऽपि वस्तुनिष्ठस्य सामान्यविशेषभावस्य वर्णोर्वर्णेनेतिसूत्रस्थ-
भाष्यसंमतया कर्मधारयसमासप्रकरणे शेखरे वक्ष्यमाणया रीत्या वस्तु-

अनिदिताम् ॥ *इत्संज्ञेकारवद्भिन्नाना*मित्यर्थः । अङ्गस्येत्याधिकारः ।

अञ्चतेर्भस्येति । “अल्लोपोऽनः” इतिवद् अस्यापि प्रत्यञ्चम-
ञ्चति तेन प्रत्यक्चेत्यादौ* पूर्वाकारे न प्रवृत्तिः । अच इत्यञ्चतेर्लु-
प्तनस्य ग्रहणम् । व्याख्यानात्* । भस्य किम् । प्रत्यञ्चौ । लुप्तनस्येति
किम् । पूजायां प्रत्यञ्चा ।

चौ ॥ नेदं वर्गग्रहणं व्याख्यानात्, तदाह—लुप्तेत्यादि ।
अण इति । कर्तृच इत्यादीनामनभिधानमिति भावः । एवञ्चाण्य-
हणमुत्तरत्र “सम्प्रसारणस्य” इत्यत्र “तृतीयः” इत्येतद्व्यावृत्त्यर्थमावश्यकमि-
हापि संबद्ध्यते, न त्वन्नास्य व्यावर्त्यमस्ति इत्याकरे स्पष्टम् ।

नियतत्वेन द्रव्यस्य सामान्यरूपत्वेन क्रियायाश्च विशेषरूपत्वेन एतादृशस्यैव
विशेषणविशेष्यभावस्योक्तसूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येन “विशेषणं विशेष्येण बहुल-
म्” इत्यादिसूत्रेषु आश्रितत्वेन अत्रापि तदाश्रयणात् द्रव्यवचनस्य देवपदस्य
सामान्यवाचकत्वस्य सूपादत्वात् । “स्वोत्तरस्वसमानाधिकरणपदप्रयोज्य-
विषयतानिरूपितविषयताप्रयोजकत्वे सति नामपदप्रयोज्यविषयतानिरूपितामे-
दसंसर्गावच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्वाभाववत्त्वमेव सामान्यवचनत्वम् । तथा च
‘हरे दयालो नः पाहि’ इत्यत्र हरिपदोत्तरसमानाधिकरणदयालुपदप्रयोज्यवि-
षयतानिरूपिता या हरित्वावच्छिन्नविषयता तत्प्रयोजकत्वं हरे इत्यस्य, नाम-
पदप्रयोज्यविषयतानिरूपितामेदसंसर्गावच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्वाभाववत्त्वमपि
तस्मिन्निति लक्षणसमन्वयः । देव करोषीत्यत्र च देवपदस्य त्वंपदसामाना-
धिकरण्येन कथंचिदमेदसंसर्गावच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्वेऽपि तद्विषयताया
नामपदप्रयोज्यविषयतानिरूपतत्वाभावेन सामान्यवचनत्वं सुवचम्” इत्यपि
कश्चित् । अत्र भैरवव्याख्यायामन्यथा समाहितं, तत्तत एवावधार्यम् ।

इत्संज्ञेकारवदिति । बहुव्रीहिरिति भावः । *वद्भिन्नानामिति* ।
वद्धटितभिन्नानामित्यर्थः । तेनामंस्तेत्यत्र न दोषः । इदं च “इर इत्संज्ञा वाच्या”
इतिवार्तिकारम्भपक्षे । तत्प्रत्याख्यानपक्षे तु उबुन्दिर् इत्यादिघातुभ्यो लुङि
इरितो वेत्यङि अबुदत् इत्यादौ आरम्भपक्षे इव इष्टस्य नलोपस्य सिद्ध्यर्थं कर्म-
धारयाश्रयणेन इत्संज्ञेकारान्तभिन्नानामित्यर्थं आवश्यकः । अत एव उबुन्दिर्-
घातौ शेखरे तत्पक्षे अस्य सूत्रस्य इत्थमेवार्थो वर्णितः । तदा अमंस्तेत्यादौ
नलोपवारणं सजादेशपक्षे इव “हनःसिच्” इतिज्ञापकाद्विकरणाघटितस्यैवाङ्गस्य
ग्रहणाद्बोध्यम् । अन्यथा उपधालोपेन सिद्धौ अनुदात्तोपदेशेतिलोपार्थं कित्त्व-
विधेर्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति दिक् ।

प्रत्यक्चेत्यादाविति । उत्तराच्शब्देन, तद्धटकाकारलोपे ऽवशिष्टेन
चकारेण वा व्यवधानादिति भावः । *व्याख्यानादिति* । अकारलोपाकरणपूर्व-
कनलोपकरणेन नलोपस्य विवक्षितत्वादिति भावः ।

अकृतेति । तत्परिभाषाभावे तु “चौ प्रत्यङ्गस्य* प्रतिषेधो वक्तव्यः” इति वचनमेव भाष्योक्तं शरणम् ।

विष्वग्दे ॥ चात् “आ सर्वनाम्नः” इत्यतः सर्वनाम्न इत्याकृष्यते । *सामर्थ्यादुपसर्जने प्रवृत्तिः । अप्रत्यये इति पाठे ऽविद्यमानः प्रत्ययः, क्वादिरित्यर्थः । वप्रत्यये इति पाठे ऽप्यकारस्याविवक्षितत्वात्स एवार्थः* । अद्रादेशसभ्रयादेशावन्तोदात्तौ निपातनादिति स्पष्टं भाष्ये ।

अदसो ॥ ‘असेः’ इतीकार उच्चारणार्थः । अदस इत्यवयवषष्ठी । सग्रहणं तत्स्थानिकौकाररेफयोरप्युपलक्षणम् । तेन ‘अदस्यति, अदोऽत्र, अदः इत्यादौ न दोषः । दादिति किम् । अमुयोरित्यत्रान्त्यस्य भा भूदि-
ति । समाहारद्वन्द्व इति । इदमर्वाचामनुरोधेन । *वस्तुतो ऽयुक्त-
मेतत् । उम् ऊम् इति द्वन्द्वे सुलोपे ध्यन्तत्वाद्भ्रस्वस्य पूर्वनिपाते नपुंसक-
ह्रस्वसवर्णदीर्घयोः प्राप्तयोर्दीर्घस्य शब्दान्तरप्राप्त्या ऽनित्यत्वेन नित्य-
त्वाद्, अपरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च ह्रस्वत्वे ततः सवर्णदीर्घे उ इतिरूपा-

प्रत्यङ्गस्येति । अन्तरङ्गस्येत्यर्थः ।

सामर्थ्यादिति पदान्तरप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयो-
जकत्वरूपोपसर्जनत्वस्य सर्वत्रैव सत्त्वादिति भावः । परे तु स्वान्तपर्या-
प्तशक्तिरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकत्वाभावात्तस्योपसर्ज-
नत्वाभावेन सामर्थ्यवर्णनमसङ्गतम् । अत एवातिसर्ववृत्तित्यत्राऽऽत्वं ने-
त्याहुः । *स एवार्थ इति* । क्वादिरित्यर्थः ।

वस्तुत इति । परे त्वत्र प्राचीनमतमेव ज्यायः । परनिमि-
त्तापेक्षस्य बहिरङ्गत्वाश्रयणे प्रमाणाभावः, फलाभावश्च । ऊकाल इति नि-
र्देशस्तु इतरेतरद्वन्द्वेनाप्युपपादयितुं शक्यः । “अतोऽम्” इत्यत्र तपरकरणं
तु मुखसुखार्थम् । अश्नाऽऽश्नानयोः समाहारे अमित्येव रूपम् । अत एव
“अदसो ऽसेर्दादु” इति निर्देशः सङ्गच्छते । अन्यथा तत्रापि पूर्वं ह्रस्वे ततो
दीर्घे दीर्घश्चवणापत्तिः । “भाव्यमानोऽप्युकार” इति परिभाषा तु नास्त्येव ।
फलाभावात् । अत एव “नामि” इति सूत्रस्थं भाष्यं सङ्गच्छते इत्युपपादितमन्त-
रङ्गपरिभाषाटिप्पण्याम् । अत एव “अचस्तास्वत्” इति सूत्रस्थं भाष्यं सङ्गच्छत
इति स्पष्टं विषम्याम् । न च परिभाषेन्दुटिप्पणोक्तविशा पूर्वनिमित्तकत्वरूपबहिरङ्ग-
त्वस्वीकारेणोभयोः समत्वान्न दूषणत्रयमपि सम्यगिति वाच्यम् । फलाभावात् ।
अत एव च “दोषो णौ” इत्यादौ दीर्घविधानं सङ्गच्छते । अन्यथा ऽऽन्तरतम्यादीर्घ-
स्यैव विधानं भविष्यतीति तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । अत एव च उ ऊ इति प्रश्नेषेण
गोह इति दीर्घनिर्देशः प्रत्याख्यातः । अत एव दुधूषति सुसूर्षतीत्यादीनि

सिद्धेः । अत एव “ऊकालः” इत्यत्र उकाल इति न कृतम् । तस्माद् “दिव उत्” “ऋत उत्” इति च तपरत्वेन भाव्यमानोकारस्य सवर्णग्राहकत्वात्सिद्धमिति बोध्यम् ।

“व्यङ्गः सम्प्रसारणम्” इति सूत्रे भाष्ये “अनन्त्याविकारे ऽन्त्यसदेशस्य” इति परिभाषा पठिता । अनन्त्यसदेशानन्त्यसदेशयोरेकप्रयोगे युगपत्प्राप्तावन्त्यसदेशस्यैवेति तदर्थः । अनन्त्यविकार इति च लिङ्गम् । तामर्थतः पठति—अन्त्यबाधे इति । अन्त्यस्य बाधे—कार्याप्राप्तौ, अर्थादनेकानन्त्यस्य प्राप्तावित्यर्थः । अन्यथा “णो नः” इत्यादि ‘नेता’ इत्यादावेव स्यात्, न तु ‘नमति’ इत्यादाविति भाष्ये स्पष्टम् । ‘अल्लोपोऽनः’ ‘अचः’ ‘सान्त’-इत्यादावनेकक्लिष्टकल्पनापेक्षयेयं न्याय्या ।

किं च भसंज्ञायां कार्यकालपक्षाश्रयणमशक्यम् । परत्वेन पदसंज्ञाबाधकत्वानुपपत्तेः* । ‘राज्ञः’ इत्यादौ नलोपस्यासिद्धत्वात्पूर्वम् “अल्लोपोऽनः” इति लोपे पश्चात्प्राप्तनलोपैकवाक्यतापक्षपदत्वस्यैतदेकवाक्यतापक्षभत्वेन बाधायोगान्नलोपापत्तेश्च* । तस्मादाकडारस्थसंज्ञासु यथोद्देशाश्रयणमेवावश्यकमिति ‘यजादिस्वादिपरो योऽन’ इत्यर्थस्य न तत्र लाभः । “व्यङ्गः सम्प्रसारणम्” इति सूत्रस्थं—“कार्यकालं संज्ञापरिभाषं, भस्येत्युपस्थितमिदं भवति यच्च भमिति । तत्र यजादिपरतया ऽन्कारं

सिद्ध्यन्ति । अन्यूनानतिरिक्तसमुदायस्य ययोर्निमित्तत्वं तत्रैवापरानिमित्तकशास्त्रस्यान्तरङ्गत्वमित्याद्यनेकक्लिष्टकल्पनाश्रयणाद्वरं प्राचीनमतानुसरणमिति विचारयन्तु धीरा इत्याहुः ।

अनन्त्यसदेशयोरिति । कचिदिति शेषः । तेन अम् इत्यत्रोभयोः प्राप्त्यभावेऽपि न क्षतिः । *अन्त्यसदेशस्यैवेति* । उपतिष्ठते इति शेषः । *इति च लिङ्गमिति* । चेनावयवत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकशास्त्रत्वस्य सङ्ग्रहः । अन्त्यविकाराभाव इत्यस्य यत्समुदायनिरूपितावयवत्वावच्छिन्नोद्देश्यता तत्समुदायघटकान्त्यस्य विकाराभाव इत्यर्थः । अन्यथा राज्ञ इत्यत्र राजेतिसमुदायघटकान्त्यस्यैव लोपस्य कर्तव्यत्वेन तत्राप्यस्याप्रवृत्त्यापत्तेः । वस्तुतः “अल्लोपोऽनः” इत्यत्र नास्याः प्रवृत्तिरिति पूर्वमेवावोचाम । *अनुपपत्तेरिति* । यदा तु संज्ञाशास्त्राणामप्यष्टाध्यायीपाठकृतपरत्वस्याश्रयणे न दोषः । “अयादिभ्यः परैव प्रगृह्यसंज्ञा” इति भाष्यं तु ‘परैव उत्कृष्टैव’ इत्यर्थकरणेन न विरुण्णीत्युच्यते, तदा ऽयं दोषः प्राचामकिञ्चित्करः । *नलोपापत्तेश्चेति* । यदा त्वेवंरीत्या सर्वत्र लोपप्राप्त्या ऽल्लोपस्यापवादत्वात्तदेकवाक्यतापक्षभसंज्ञाया अप्यपवादत्वमुच्यते, तदाऽयं

विशेषयिष्यामः । अनाऽकारम्"इति भाष्यन्त्वेकदेश्युक्तिः* । यजादिप्रत्य-
यस्याङ्गांशे* उत्थिताकाङ्क्षतया तेनानो विशेषणायोगाच्च । अत एव सर्वफ-
लानामन्यथासिद्धिं प्रदर्शयामि "तस्माद् यान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोज-
नानि तदर्थमेषा कर्तव्या"इति उपसंहृतं भाष्ये इति भावः ।

अन्त्यसदेशस्येति । अन्त्येन समानो देशो यस्येत्यर्थः ।
तत्त्वञ्चान्त्यवर्णतद्गुणयोरितराव्यवधाने* भवति । "चलीकलृप्यते"इ-
त्यादौ ऋकारान्तर्गतरेफस्योत्तराजभागेन व्यवधानान्नान्त्यसदेशत्वसम्भव
इति न तत्रैतत्परिभाषाप्रवृत्तिः । अत एव "न सम्प्रसारणे"इत्युदाहर-
णीभूतस्य विद्ध इत्यादेर्नानया सिद्धिः । अत एव "न सम्प्रसारण"इति
सूत्रं सार्थकम् । "नैतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि"इति तत्सूत्रस्य भा-
ष्यस्य त्वयमर्थः—एतत्सूत्रसाध्यानि विद्ध इत्यादीन्युदाहरणानि नैत-
स्याः परिभाषाया भवन्तीति । अन्त्यसदेशत्वाभावादिति च तद्भावः ॥

परस्यैवेति । द्रशब्दस्यैवेत्यर्थः । अः सेरिति । अत्र अका-
रेण आकारस्यापि ग्रहणं, तेनामूढगित्यादिसिद्धिः । तत्र हि "आ सर्वना-
म्नः" इति पूर्वपदान्तस्यात्वम् । त्यदाद्यत्वेति । त्यदादीनामत्वविषय-
इत्यर्थः । पक्षे इति । अत्र तन्त्रेणार्थद्वयेऽपि सूत्रतात्पर्यम् । तत्र लक्ष्यानु-

ग्रन्थश्चिन्त्यः । तत्सामर्थ्यादाकडारीयसंज्ञासु यथोद्देशपक्षस्यैव ज्ञापनमुचित-
मित्याशयाद्वा योजनीयः । *एकदेश्युक्तिरिति* । संज्ञाशास्त्राणां पदैकवाक्य-
तायाः कथमप्युपपादयितुमशक्यत्वादिति भावः ।

अङ्गांशे उत्थिताकाङ्क्षतयेति । अव्यवहितपूर्वत्वा-ऽव्यवहितपरत्वै-
तदन्यतरावच्छिन्नविधेयताश्रयत्वे सति स्व-स्वप्रकृत्यन्यतरार्थप्रत्यायकत्वरूप-
प्रत्ययत्वस्वीकारात्प्रत्ययत्वस्याऽङ्गांशे उत्थिताकाङ्क्षत्वादिति भावः ।

परे त्वेतादृशप्रत्ययत्वस्वीकारे मानाभावः । तादृशतत्त्वस्वीकारेऽपि
पुत्रत्वस्य जन्यत्वघटितस्योत्थिताकाङ्क्षत्वाज् जिज्ञास्यमानदेवदत्तपदार्थस्या-
जिज्ञासितार्थपुत्रत्वे ऽन्यवदन्नाऽपि अङ्गस्य प्रत्ययेऽन्वयेऽपि प्रत्ययस्याङ्गांशे
विशेषणत्वे प्रमाणाभावः । तस्मादेतत् सर्वमविचारमूलमित्याहुः ।
अन्येतु निरुक्तप्रत्ययत्वस्य महासंज्ञासिद्धत्वात् अङ्गत्वस्यापि प्रत्ययांशे सा-
काङ्क्षत्वात् साकाङ्क्षयोरेव विशेष्यविशेषणभावस्य न्याय्यत्वाद् "अनो विशेष-
णत्वे मानाभावः" इति नागेशोक्तिर्युक्तैवेत्याहुः ।

इतराव्यवधाने इति । अत्रत्यं तत्त्वं पूर्वमुपपादितं विस्तरेण तत्
एवावधार्यमिति दिक् ।

रोधाद्व्यवस्था । अत्र प्रमाणमुपन्यस्यति—उक्तञ्चेति । लत्ववादिति । चलीकल्प्यते इत्यत्र यथा लत्वं रीगृकारयोर्भवति तथेत्यर्थः । अत्र 'अद-मुयङ्' इतिरूपवादिमतं *न्याययुगम् । लत्वे उक्तरीत्यैतन्न्यायाप्रवृत्तावपि अत्रैतदप्रवृत्तौ मानाभावात् । अत एव भाष्ये "अदसो ऽनोसेः" इतिवार्त्तिक-प्रत्याख्यानानां 'अथवा अः सेः' इति पक्षमुक्त्वा "यद्येवम्, 'अमुमुयङ्' इति न सिद्ध्यति, 'अदद्यङ्' इति प्राप्नोति, 'अदमुयङ्' इति भवितव्यम् अनन्त्य-विकारे इति" इत्युक्तम् । अत्र 'इति प्राप्नोति' इत्युक्त्या तत्रासंमतिरुक्ता । 'इति भवितव्यम्' इत्यनेन पृथक् सुत्वमिति पक्षे संमत्यभावो दर्शितः । 'इति भवितव्यम्' इत्युक्त्या च तत्र शब्दे ऽप्रयुक्तत्वं सूचितमित्याहुः ।

विष्वग्देवयोः किमिति । चस्याप्युपलक्षणमिदम् । ननु-त्तरपदाधिकारादञ्चुरूपे उत्तरपदे इत्यर्थाद् 'विष्वगञ्चनम्' इत्यादेर्व्यावृत्तौ व्यर्थमप्रत्ययग्रहणमत आह—अप्रत्ययेति । तेनेति । अन्यथा "अतः कृ" इत्यत्र "नित्यं समासे" इत्यतोऽनुवृत्तसमासग्रहणेनोत्तरपदाक्षेपेऽपि कृधातुरूपे उत्तरपदे इत्यर्थापत्तौ 'अयस्कृद्' इत्यादावेव स्यादिति भावः ।

उद ईत् ॥ अत्र "अचः" इत्यनुवर्त्तते ।

समः स ॥ "समो मिङ्" इति "सम इक्" इति वा न कृतम् । परिभाषाज्ञानकृतगौरवापत्तेः* ।

न्याययुतमिति । परे तु सहेतुकवाक्यस्यैव प्रामाणिकत्वेन 'नेत्येके' इत्यस्य सहेतुकत्वाद् 'अदद्यङ्' इत्येव रूपं भाष्यकृदभिप्रेतम् । अत एव सर्वत्र केचिदित्युक्त्वा ऽत्र एके इत्युक्तम् । अमुमुयङिति न सिद्ध्यतीत्यादि भाष्यं तु अस्मिन्पक्षे ऽमुमुयङिति न सिद्ध्यति, अदद्यङिति प्राप्नोति, अनन्त्यविकारपरि-भाषया ऽदमुयङिति भवितव्यमिति वस्तुस्थितिप्रतिपादकमिति न तेन सह विरोध इत्याहुः ।

गौरवापत्तेरिति । ननु समोऽव्ययत्वादकचि सकम् । तदञ्चतीति समीच इत्यत्र छित्त्वादन्यादेशे फलभेदसत्त्वेन गौरवपर्यन्तमनुधावनं विफल-मिति चेन्न । साकच्चापहारकादेशविषये तन्मध्यपतितन्यायाप्रवृत्तेः परिभाषेन्दु-शेखरटिप्पण्यामुक्तत्वेनात्र तदप्राप्त्या निर्दिश्यमानाभावेन सिद्धान्ते एतस्या-प्रवृत्तेः । न च राज्ञान्ते तस्याप्रवृत्तावपीदानीं तस्य साकच्चापहारकत्वेन तदप्रवृत्त्या निर्दिश्यमानत्वेनादेशः स्यादिति फलभेदो दुर्वार एवेति वाच्यम् । 'अकचि कृते धित्वं न प्राप्नोति' इति भाष्याद् "अनेकाल्" इतिसूत्रे सर्वपदेनाकजग्रहितस्यैव ग्रहणेन "उत्सर्गसमानदेशा अपवादाः" इति न्यायेन

*तिरसस्ति ॥ 'अलोपे' इत्यत्र शकन्ध्वादित्वात्पररूपेणाकारः प्रक्षिप्यते। अस्य अलोपो-लोपाभावो यस्मिन्नश्रुतावित्यर्थस्तदाह-अलु-साकारेति । तिरश्चेति । श्रुत्वे ऽलोपस्य स्थानिवत्त्वं तु न । पूर्वत्रा-सिद्धीये तन्निषेधात् ।

पूजार्थस्येति । पूजारूपार्थस्य गम्यत्वे इत्यर्थः । अत एवाव्या-कुलं गच्छतीत्यर्थके 'अञ्चितं गच्छति' इत्यादौ नलोपो न । अव्याकु-लगमनेन च पूजा गम्यते, न त्वश्रुतेरेव सोऽर्थ इति स्पष्टम् "अञ्चो-ऽनपादाने" इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः । प्राच इत्यादि चिरन्तनादिरू-ढस्येति बोध्यम् । एतेन "अश्रुतेर्गतौ" इति नियमेनैव सिद्धौ "नाञ्चो-पूजायाम्" इति व्यर्थमित्यपास्तम् ।

नलोपाभाव इति । *जोपधत्वबोधनद्वारेत्यर्थः । स्पष्टश्चेदं "परेश्च घ" इति सूत्रे भाष्ये । अपिना चसमवधाने "चोः कुः" इति कुत्वा-भावो, निरूपपदात् क्विन् इति च निपात्यते इति बोध्यम् । "सङ्घि" इति व-

"ङिञ्च" इत्यत्राप्यकजघटितनिर्दिश्यमानान्त्यस्य ग्रहणेनादोषात् । 'इच एकाच' इत्यतो मण्डकप्लुत्या एकाच्पदानुवृत्त्या ऽदोषाच्चेत्यलम् ।

तिरस इति । अकारादावश्रुतौ परे इत्यर्थकं "तिरसस्तिर्ये" इति न सूत्रितम् । ओ-शब्दे उपपदे अञ्चनेः किमि निरस्-शब्देन समासे तिर्योङ् इत्यत्र अकारादित्वाभावात् तिर्यादेशानापत्तेः । नन्वेवमपि अचीत्येवास्तु । अकारादित्वाभावेऽपि अजादित्वस्य विद्यमानत्वात् उक्तरूपं सुसाधमिति अलोपे इति व्यर्थमेवेति चेन्न । अञ्चनेः किमि निष्पन्नस्य अक् इत्यस्य पदद्वित्वे तिरस्-शब्देन समासे शसि उत्तरखण्डे अकारलोपेऽपि अकारादि-त्वस्य अजादित्वस्य च सत्त्वेन तिर्यादेशे तिर्यगक्च इत्यापत्तेः । सिद्धान्ते तु विशिष्टस्य लुप्ताकारत्वात् पूर्वखण्डमात्रस्योत्तरपदत्वाभावाच्च तदप्रवृ-त्तौ तिरोऽक्च इति सिध्यतीत्यलम् ॥ यत्तु एवं न्यासे तिराययतीत्यत्र तिर्यादेशानापत्तिः । शङ्कान्ते त्वत्र टिलोपस्याकारपर्याप्तस्थानिताकत्वाभावे-नालोप इति पर्युदासस्याप्राप्त्या स सिध्यतीति । तन्न । "अञ्चेल्लोपेनापहारे-ऽपि बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात्तिरसस्तिरिः" इति कौमुद्यामेव समाहितत्वात् ।

*जोपधत्वेति । नन्वस्य जोपधत्वे अस्मिन् सूत्रे पाठो व्यर्थः । न च जोपधत्वेऽपि कुत्वशङ्कापरभाष्यविरोध इति वाच्यम् । तादृशभाष्येणानुस्वारस्य कुत्वदृष्ट्या सिद्धत्वबोधनेनादोषादिति चेन्न । तवाप्यनुस्वारस्यासिद्धत्वाभावेन "चोः कुः" इत्यनेनैव कुत्वे सिद्धे अत्र एतत्पाठवैयर्थ्यस्य तादवस्थयात् ।

चनाद्वा कृत्वाभावः । षत्वम्, स्कोरितीति । सलोपे षत्वस्यासिद्धत्वात्स-
लोपे कृते षत्वम् । । व्रथेः किपि “ग्रहिज्या”इति संप्रसारणे पूर्वत्वे
श्चुत्वस्यासिद्धत्वात्सलोपः । सुवृद्धत्वाति । चत्वस्यासिद्धत्वाद् ‘डः
सि’इति वा धुद् । निपात्यन्ते इति । अतिप्रत्ययान्ता इति शेषः । तत्र
पृषद्बृहतोर्गुणाभावश्च, गमेर्जगादेशश्च, महेः कर्मणि प्रत्ययश्च, निपातनात् ।
शतृवदिति । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया शतृप्रत्ययान्तवदित्यर्थः । “शतुर-
नुमः” इति सूत्रे “बृद्धन्महतोरुपसंख्यानम्”इति तु पृषदादिव्यावृत्तये
नियमार्थमिति बोध्यम् ।

अत्वसन्त ॥ चस्त्वर्थे । अतु इति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदम् । अ-
धातोरिति असन्तस्यैव विशेषणं *तुशब्दात् । तदाह—धातुभिन्नेति । अत
एव “उगिदचाम्”इति सूत्रे गोमत्यतेरप्रत्यये गोमानिति प्रयोगो भाष्ये
सङ्गच्छते । अङ्गविशेषणतयाऽर्थसिद्धतदन्तविधेरेवानुवादकमन्तग्रहणम् ।
परमिति । वचनसामर्थ्यादुपधापदासम्बन्धेन चारितार्थ्यादित्यभिमा-
नः । अयमभ्युच्चय इत्याह—नित्यमिति । कृताकृतप्रसङ्गित्वमात्रेणे-
त्यर्थः । सामर्थ्यादिति । वाक्यार्थबोधकाले विरोधाभावेनोपधासम्बन्धे
कृते सामर्थ्यात्पूर्वं दीर्घप्रवृत्तिरेव कल्प्यते इति भावः । धीमानिति ।
न चैकानुबन्धकपरिभाषया* मतुपो ऽन्नाग्रहणम्, सूत्रं तु सर्वादिपठिते ऽनु-
नासिकोकारविशिष्टे भवतुशब्दे चरितार्थमिति वाच्यम् । पकारादेः स-
मुदायानुबन्धत्वे ऽप्यतोर्ब्रानुबन्धकत्वाभावात् । अवयवानां नान्त-
रीयकतया समुदायोपदेशे एव ऋषितात्पर्यमित्यर्थस्य “आदेच उपदेशे”
इतिसूत्रस्थभाष्यसंमतत्वेन यदुपदेशप्रयुक्ता यस्येत्संज्ञा तस्य तदनुबन्धताया
एव स्वीकारात् । न चोकारलोपे ऽत्वन्तत्वस्याप्यभावः । उकारस्या-
श्रयणेन तदंशे भूतपूर्वगतिस्वीकारात् । एतेन तदाश्रयणे अतुवन्तमेतत्
नात्वन्तामित्यपास्तम् । तदाश्रयणाभावात् । तस्मादनुनासिकोकारविशिष्टो
य उपदेशे ऽत् तदन्तस्य प्रयोगस्थस्य दीर्घ इति सूत्रार्थ इति न दोषः ।

नियमार्थमिति । धातोश्चेदुगित्कार्यं तर्हि नलोपिनो-
ऽश्चतेरेवेति नियम इति भावः । तेन ‘उखास्तु ब्राह्मणी’इत्यादौ नुम्ङीपौ

तुशब्दादिति । त्वर्थक-चशब्दादित्यर्थः ।

एकानुबन्धकपरिभाषयेति । तदनुबन्धकपरिभाषयेत्यर्थः ।

न । न्यायप्राप्तालोपाकरणपूर्वकं नलोपकरणस्य विवक्षार्थत्वमित्याशयः । यद्यपि अश्रुतेश्चेलोपिन एकेति नियमेऽप्यश्रुतिग्रहणं चरितार्थं, तथापि भाष्यप्रामाण्येन सामान्यापेक्ष उक्तनियमो युक्त इति बोध्यम् ।

नन्वत्र धातुत्वात्कथं नुम्, अत आह । अधातोरिति । न चौपदेशिकधातुविषयक एव नियमोऽस्तु, किमनेनेति वाच्यम् । औपदेशिकत्वानन्तर्भावेण सामान्यापेक्षानियमज्ञापनार्थत्वात् । तत्फलं पर्णध्वदित्यादाविव गोमानिखादिनामधातौ “उगितश्च” इति ङीवभाव इति दिक् । क्यच्पक्षे ऽलोपो न स्थानिवत् । कौ लुप्तत्वात् । अत्राऽऽचारकिव् अर्वाचीनमतेन । *वस्तुतो हलन्तेभ्यस्तदभाव इति “ह्रस्वनद्यापः” इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् ।

उभे अभ्य ॥ लक्ष्यानुसारेण *गर्गदण्डनन्यायादत्र समुदाये वाक्यसमाप्तिरित्याह— उभे समुदिते इति । द्वे इत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे उभेग्रहणं स्पष्टार्थम् । यत्तु उभेग्रहणं सामर्थ्यात्सहभावोपसर्जनद्वित्वविशिष्टार्थकं; तेन समुदिते इत्यर्थलाभ इति, तन्न । अशब्दार्थत्वात् । शब्दाधिक्यादर्थधिक्यस्य बहुशो भाष्यकृतोपहसितत्वाच्च । ध्वनितश्चेदं “तदसति प्रयोजने उभेग्रहणं सहार्थं विज्ञास्यते” इति ग्रन्थेन भाष्ये । अत एव सूत्रशेषे भाष्ये गर्गदण्डनन्यायेनैतदर्थसिद्धिमाश्रित्य ‘सहग्रहणं कर्त्तव्यम्’ इति वार्त्तिकं प्रत्याख्यातम् । तुल्यन्यायात्तदर्थकत्वेन पराभिमतमुभेग्रहणञ्च प्रत्याख्यातमेवेति सुधियो विभावयन्तु । तत्र आदिशब्दानामेकापाये* ऽप्रवृत्तेः “ऐर्त्सन” इत्यादावभ्यासलोपे कार्यकालपक्षे न संज्ञेति न जुम् । एकादेशात्पूर्वमायन्नादिषूपदेशिवद्बचनेनान्तरङ्गत्वादन्तादेशेऽपि “सर्वे सर्वपदादेशाः” इति न्यायेन स्थानि-

हलन्तेभ्यस्तदभाव इति । तत्र हि मिदमिदोर्न विशेष इत्युक्तम् । अन्यथा मिर्त्वादन्यादच्चः परत्वेन हलन्तेषु विशेषसत्त्वान्मिदमिदोर्न विशेष इत्यस्यासङ्गत्यापत्तेः । विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ।

गर्गदण्डनन्यायादिति । उद्देश्यतापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्म एव यत्र विधेयतापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकस्तत्रास्य प्रवृत्तिः, अन्यत्र ब्राह्मणभोजनन्यायस्य प्रवृत्तिरिति विवेकः । प्रकृते तु उद्देश्यतापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदको धर्मो द्वित्वं स एव विधेयतापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदक इति अस्यात्र प्रवृत्तिरिति भावः । *एकापाये इति* । तद्व्यक्तित्वस्य द्वित्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकत्वा-

वद्भावात् श्रित्वेन जुसापत्तिः । किं चैकादेशे जुसोऽपवादविषयस्य जा-
यमानत्वेन “प्रकल्प्य चापवादविषयम्” इति न्यायेन पूर्वमन्तिभावाप्रवृत्तौ
एकादेशे जुसापत्तिः । यथोद्देशे पूर्वं समुदाये प्रवृत्तसञ्ज्ञायाः स्थानि-
वद्भावेनाभ्यासलोपे सत्त्वेऽपि पञ्चमीसमासेनैकादेशस्य स्थानिवत्त्वाच्च तत्प्र-
वृत्तिः । अत एव ‘प्रत्यैषिषन्’ इत्यादौ न दोष इत्यलम् ।

नाभ्यस्ता ॥ बहुयोगव्यवच्छिन्नोऽपि नुम् इहानुवर्त्तते सामर्थ्या-
त् । तदाह-नुम्नेति । दाजः शतरि शपः श्लौ “श्लौ” इति द्वित्वे ऽभ्यास-
ह्रस्वत्वे “श्नाभ्यस्तयोः” इत्यालोपे ‘ददत्’ इति ।

त्यदादिषु ॥ आलोचनमिह ज्ञानमात्रम् ।

आ स ॥ “दृष्टवतुषु” इति सूत्रमनुवर्त्तते । षत्वापवादत्वादिति ।
“कुः किन्त्यतः” इति न्यासेन दृष्ट इत्यद्व्याहारेण च बहुव्रीहिफले सिद्धे
प्रत्ययग्रहणेनान्यपदार्थांशे वीप्सागर्भवहुव्रीहिणा लब्धं तादृशादिकिन्नन्त-
विषयं लक्षणमचरितार्थमिति भावः । खकार इति । अघोषमहाप्राणश-
कारतुल्यत्वादिति भावः । कैयटेति । “किन्प्रत्ययस्य” इति सूत्रस्थेत्यादिः ।
असिद्धत्वादिति । यद्यपि जश्त्वापवादोऽपि कुत्वं, तथापि शस्थानिक-
जश्त्वस्यैव, *न तु खस्थानिकस्यापीति भावः । वस्तुत इदं चिन्त्यम्,
प्रत्ययग्रहणस्य बहुव्रीहिमात्रफलकताया एव भाष्यकृतोक्तेः । तस्माद्दृष्ट्-
अञ्चु-युजि-कुङ्क्षु अस्य चारितार्थ्येन जश्त्वषत्वापवादता न युक्तेति ।
तदेतद् ‘मते’ इति वदता सूचितमिति दिक् ।

न गिति । षडङ्काः प्राग्वत् । नङ्भ्यामिति । “मस्जिनशोः”
इति नुम् तु न । धातुप्रत्यये तद्विधानात् ।

स्पृशोऽनु ॥ अनुदके किम् ।

भावादिति भावः । कुत्वस्यासिद्धत्वे शबुद्धौ जश्त्वप्रवृत्तिर्दुर्वारेति शङ्कां निवार-
यति- *न तु खस्थानिकेति* । ननु यं प्रतीत्यनेन कुत्वैकवाक्यतापन्नपूर्वत्रासिद्ध-
मित्यत्र पूर्वपदार्थे जश्त्वातिरिक्तत्वेन संकोचात्कथं जश्त्वदृष्ट्याऽसिद्धत्वमिति
चेन्न । अपवादसूत्रारम्भसामर्थ्येनापवादप्रवृत्तिप्राक्क्षणे ऽपवादशालस्यासिद्ध-
त्वाभावबोधनेन तस्य चारितार्थ्यात् सर्वथाऽसिद्धत्वबाधे मानाभावेनात्र
कुत्वप्रवृत्तिप्राक्काले तस्यासिद्धत्वाभावेऽपि तत्प्रवृत्त्युत्तरं कुत्वस्यासिद्धत्वेन
तद्दृष्ट्या तस्य तत्रापि प्रवृत्तिसत्त्वेन तदप्रवृत्तेरित्याशयात् ।

*उदकस्पर्शः । अन्नोदात्तत्वमिति । निच्वादाद्युदात्तत्वं प्राप्तम् । कुत्वस्य जश्त्वं प्रत्यसिद्धत्वादाह—कुत्वात्पूर्वमिति ।

वार्ह ॥ “सिपि धातोः” इत्यतो धातोरिति वर्त्तते, तच्च वार्भ्यां विशेष्यते* । पिपठिषतेः क्पिपि अतो लोपे प्रातिपदिकत्वात्सौ हल्ङ्यादिलोपे प्रत्ययलक्षणेन पदान्तत्वादुः । रुत्वे ऽल्लोपो न स्थानिवत् । पूर्वत्रासिद्धे तन्निषेधात्* ।

नुम्बि ॥ “इण्कोः” इति वर्त्तते । व्यवधाने ऽप्राप्तेरिदम् । अयमप्यधिकारः । अत एव “निस्स्व” इत्यत्र धातोः सस्य नानेन षत्वम् । व्यत्रायशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धो व्याख्यानात् । तदाह—प्रत्येकमिति । अपिना ऽव्यवधानेऽपि । नुम्स्थानिकेति । प्रकृतसूत्रस्थं हयवरदसूत्रस्थञ्च भाष्यमत्र मानम् ॥ ब्रश्चेति ष इति । सपादसप्ताध्यायीस्थकार्यप्रवृत्तियोग्यतायान्त्रिपादीस्थस्याप्रवृत्तेर्हल्ङ्यादिलोपोत्तरं विविशम् इत्यवस्थायां षत्वस्यासिद्धत्वात्संयोगान्तलोपे ष इत्यर्थः । कलोप इति । पदान्तसंयोगादिलोपस्य संयोगान्तलोपापवादत्वादिति भावः ।

तडिति । तक्ष्णोतेः क्पिप् । ण्यन्ताभ्यामिति । णिलोपस्य स्थानिवत्त्वात् ‘तक्स्थाता’ इत्यादौ संयोगादिलोपाप्राप्तेः “काष्ठशगेव नास्ति, कुतः काष्ठशक्स्थाता” इति “परेश्च घाङ्कयोः” इति सूत्रस्थभाष्येण न विरोधः । तत्र झल्परसंयोगादिलोपमाशङ्क्य तथोक्तम् । तस्य दोष इति । “कौ लुप्तम्” इति तु न सार्वत्रिकमिति भाव इत्यन्यत्र विस्तरः ।

कुत्वस्यासिद्धत्वादिति । पिपच् स् इत्यवस्थायाङ्कुत्वस्यासिद्धत्वात् तदभावे “स्कोः” इत्यस्याप्राप्तेः संयोगान्तलोप इति भावः । दिधगिति । “दादेः” इति घः । “एकाचः” इति भष्भावः ।

विद्वानिति । विदेः शतुर्वसावदादित्वाच्छपो लुकि शतुर्ङि-त्वाद् गुणाभावे उगित्वान्नुमि “सान्त” इति दीर्घे संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वान्नलोपो न ।

उदकस्पर्श इति । ननु तदत्वेऽपि वाऽसरूपन्यायेनाणि अस्य सिद्धत्वादिदं प्रत्युदाहरणं चिन्त्यमिति चेन्न । उदकस्पृडित्यस्योपलक्षणत्वेनादोषात् । *विशेष्यते इति । तेन प्रियग्रामणिरित्यादौ न दीर्घ इति भावः । *तन्निषेधादिति* । अत्रत्यं तत्त्वं न पदान्तसूत्रे निरूपितम् ।

वसोः ॥ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं, भस्येत्यधिकारः, तदाह-
वस्वन्तस्येत्यादि । न च विदेः शतुर्वसोरेकानुबन्धकत्वात्तस्यैव ग्रहणं
स्यात् न लिङादेशकसोरिति वाच्यम् । वसुसादेशेन तस्यापि अनुबन्ध-
कत्वादिति भाष्ये स्पष्टम् । विदुष इति । सम्प्रसारणपूर्वत्वस्य “वत्व-
तुकोः” इत्यासिद्धत्वं तु न । पदान्तपदाद्योरेकादेशस्यैव तेनासिद्धत्वात्* ।

सेदिचानिति । पदलुधातोः “भाषायां सद” इति लिटः कसौ
द्वित्वे “अत एक” इत्येत्वाभ्यासलोपयोः “वस्वेकाजाद्” इतीद् ।
अकृतेति । परे तु पदावधिके ऽन्वाख्याने सेद् वस् अस् इति
स्थिते इदम्प्रसारणयोः प्राप्तौ प्रतिपदविधित्वेन शीघ्रोपस्थितिकत्वात्
पूर्वं सम्प्रसारणे वलादित्वाभावादितः प्राप्तिरेव नेति सेदुष इत्यादिसि-
द्धिरित्यकृतव्यूहपरिभाषा निष्फला । लक्ष्यानुरोधादत्र पदावधिकमेवा-
न्वाख्यानमित्याहुः ।

साहचर्यादिति । न च महत्येतः किपि महतोऽपि धातुत्वस-
म्भव इति वाच्यम् । औपदेशिकधातुत्वासम्भवेन तत्साहचर्येणौपदेशि-
कधातुभिन्नसान्तसंयोगस्य ग्रहणमित्याशयात् । स्तुहिनिति । नान्तलक्षण-
दीर्घस्तु संयोगान्तलोपस्यामिद्धत्वान्न । हिंसीत्यस्येदिच्वात् “अनिदिताम्”
इति नलोपो न । ध्वादिति । ध्वंसु अवसंसने, किप् । अनिदिच्वा-
न्नलोपः । “वसु” इति दत्वम् ।

विवक्षिते इति । भाष्ये “अमुङ्युपदेशिवद्वचनं स्वरसिद्ध्यर्थं बहि-
रङ्गलक्षणत्वात्” इत्युक्तेरिति भावः । वस्तुतो वचनमेव ज्यायः । विवक्षित-
सप्तम्यामपि विभक्तिबुद्धिनिमित्तकत्वेन बहिरङ्गत्वात्ततः पूर्वं परमपुमा-
नित्यादौ स्वरप्रवृत्तौ दोषात् । बहुपुंसीति । विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणा-
न्नामुङ् । विभक्तिविवक्षाया लिङ्गकार्योत्तरमेव सत्त्वेन न ङीपः प्रागमुङिति
भावः । पूज इति । पातेरिति पाठान्तरम् । “स्त्रियाम्” इति सूत्रे भाष्ये तु
“सूतेः सस्य पः, ह्रस्वः, म्मुन्प्रत्ययः” इत्युक्तम् । वस्तुत उच्चारणार्थानाम-
पीत्सञ्ज्ञावश्यकत्वादियमुक्तिर्निष्फला । पुमानिति । “सान्त” इति दीर्घः ।

तेनासिद्धत्वादिति । अत एव वृक्षेच्छत्रमित्यादौ ह्रस्वत्वप्रयुक्त-
श्लेचेति नित्यस्तुम्, किं तु दीर्घत्वप्रयुक्तो दीर्घात् पदान्ताच्चेति वैकल्पिक
पञ्चेति दिक् ।

उशनेति । वशेः कनसिः, “ग्रहिज्या” इति संप्रसारणम् । अस्य संबुद्धाविति । एतच्च वृत्तौ वाचनिकं पठितम् । वशधातौ माधवस्तु—

“सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्”

इति श्लोकवार्तिकमित्याह । भाष्यानुक्तत्वादिदमप्रमाणमेवेति प्रामा-
णिकाः । उशना-शुक्रः । अनेहा—कालः । ‘नञि हन एह च’ इत्यमुन्,
हन एहादेशश्च । सुव इति । अधातोरित्यस्य धात्ववयवभिन्नासन्तस्येत्यर्थ
इति भावः । अन्यथा समुदायस्य धातुभिन्नत्वादीर्घः स्यादेवेति बोध्यम् ।

अदस औ । अदस इति षष्ठी । “तदोः सः” इत्यतः साविति
वर्त्तते । औत्वं त्यदाद्यत्वापवादः । ननु “सोडौ” इत्येवास्तु इति चेन्न ।
असावित्यत्र टिलोपे कृते नित्यत्वात्सत्त्वं बाधित्वा त्यदाद्यत्वे ‘असौ’
इत्यसिद्धेः* । असुक इति । अमुक इत्यादौ त्वव्युत्पन्नो ऽदःशब्दपर्यायो
ऽमुकशब्द इत्याहुः ।

एत ईत् ॥ बहुवचनशब्दो यौगिक इत्याह—बहूर्थेति । तेन
अमी इति सिद्धम्* । पश्चादुत्वेति । उत्वेत्युपलक्षणमीत्वस्यापि ।

ननु मुत्वस्यासिद्धत्वात्कथं नाभाव इत्यत आह—न* मु ने इति ।

इत्यसिद्धेरिति । शब्दान्तरप्राप्त्याऽनित्यत्वमाश्रित्य परत्वात्,
सत्यपि सम्भवे बाधनं भवति इत्याश्रित्यापवादत्वाद्वा शनन्त्ययोरित्येतत्प्रत्या-
ख्याने टिलोपे तदोरिति सत्त्वेन असौ इत्यस्य सिद्धावपि असकौ इत्यत्र टिलोपे
दकारस्य सत्त्वे च ककारस्य त्यदाद्यत्वेन ककारश्रवणानापत्तिः । सत्त्वात्वयोः
समावेशस्तु स इत्यादौ भवत्येवेति भावः । ननु अदस इत्यस्य पञ्चम्यन्त-
त्वमाश्रित्य सोरौकारविधानमेवास्तु किं सुलोपविधानेनेति चेन्न । तथा स-
ति असकौ स्त्रीत्यत्र त्यदाद्यत्वे टापि प्रत्ययस्थादिर्तीत्वप्रसङ्गात् । नच
आपीत्यत्राकारप्रत्ययेणाकाररूपे आपि इत्यर्थात् नित्यत्वादेकादेशे आकार-
रूपापोऽभावाच्चेत्वापत्तिरिति वाच्यम् । एवमपि विभक्त्यनिमित्तत्वेनान्तरङ्ग
त्वादेकादेशं बाधित्वा इत्वस्य दुर्वारतया ऽऽपत्तेस्तदवस्थत्वात् । अन्यथा
द्विवचने कारिके इत्यादौ इत्वं दुरूपपादमिति दिक् ।

सिद्धमिति । परिभाषितस्य बहुवचनस्य ग्रहणे तु अमीभिरित्या-
दाद्येव स्यात्, तत्परकत्वात् । न तु अमी इत्यत्र, एकादेशे व्यपवर्गाभावादिति
भावः ।

*नमुने इतीति । अत्र मु इत्यस्याभावे मनस इः मनइः तेन मनइना
इत्यत्र नाभावे कर्तव्ये कृतेच कस्याप्यसिद्धत्वं नेत्यर्थे लोपः शाकल्यस्येति
लोपस्याप्यसिद्धत्वाभावे आदूगुणे उक्तरूपासिद्धिः । एवं किम्-शब्दस्य उजो-

कर्त्तव्ये कृते चेति । एवञ्च ने इति विषयसप्तमीति भावः । भाष्ये तु ने यत्कार्यं तत्रासिद्धत्वं नेत्यर्थेनैव नाभावोऽप्याक्षिप्त इति व्याख्यातम् । मु इति समाहारद्वन्द्वः । कृते चेत्पुक्तेर्मुखे “सुपि च” इति दीर्घो न* । अमीभिरिति । “नेदमदसोः” इत्यैस् न ॥

इति हलन्ताः पुंलिङ्गाः ॥

नहो घः ॥ “झलो झलि” इत्यतो झलीति, पदस्येति, “स्कोः” इत्यतोऽन्त इति चानुवर्त्तते । झलि परे *पदान्ते विद्यमानस्येत्यर्थः । “अलोऽन्त्यस्य” इत्येतल्लब्धं हस्येति । उपपूर्वात् णह बन्धने इत्यतः क्तिप् । “नहिट्वति” इति पूर्वपदस्य दीर्घः । सोईल्लब्धादिलोपे धत्वजश्चत्वादि ।

*दलोपषत्वे इति । पूर्वपदान्तस्य लोपो, धातोः सस्य षत्वम् । “आदेशप्रत्यययोः” इति तु न षत्वम् । पदाद् आदिरिति पक्षे “सात्पदाद्योः” इति निषेधात् । ह्रस्व घ इति । कैयटादिमते षत्वस्येव ढत्वस्यापि कुत्वेन बाधादिति भावः । ‘उष्णिगञ्चु’ इति निर्देशात्कुत्वस्य जश्चे नासिद्धत्वम् । स्वरीत्या तु ढङ्गका इति बोद्धव्यम् ।

द्यौरिति । “दिव औत्” इत्यौत्वं, यण् । चतस्र इति । परत्वा-

ऽनुकरणेन उशब्देन समासे ततस्तृतीयाविभक्तौ प्रकृतिवदनुकरणमित्युज्ज्वलतिदेशे मय उजो वो वेत्यस्याप्यसिद्धत्वाभावे वत्त्रापत्तौ किम्वा इत्यापद्येत । इष्यते च किमुनेति । एवं पयोरुरणेत्यत्र रोरीत्यस्याप्यस्यासिद्धत्वाभावे परत्वात् हश्चिच्युत्वं बाधित्वा रोरीति लोपे च पयोरुणेत्यापद्येत । नाभावे उत्त्वमसिद्धं नेत्यर्थके नो ने इति न्यासे तु एचोऽप्रगृह्यस्येति सिद्धस्य सम्बोधनविभक्त्यन्तस्य छान्दसस्य पटा३उ इत्यस्यानुकरणे तृतीयाविभक्तौ उत्त्वस्यासिद्धत्वाभावे घित्वाभावे पटा३उना इत्यापद्येतेति द्विक् ।

*दीर्घो नेति । सन्निपातपरिभाषया तु न दीर्घव्यावृत्तिः । सुपि चेति दीर्घे कर्तव्ये सन्निपातपरिभाषाया अप्रवृत्तेः अतोऽम् इति सूत्रे उपपादितत्वादिति भावः ।

॥ इति हलन्ताः पुंलिङ्गाः ॥

*पदान्ते विद्यमानस्येति । विद्यमानस्य चेत्यर्थः । *दलोपषत्वे इतीति । तलोपषत्वे इति मूले टीकायां च क्वचित् पुस्तके पाठो लेखकप्रमादाद्बोध्यः । उदःस्था, उद ईत्, उदोऽनूर्ध्वकर्मणीत्यादौ सर्वत्र दान्तपाठेन उदो दान्तत्वस्यैव लाभात् ।

॥ इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

दामं बाधित्वा चतस्रादेशे सकृद्वहतिन्यायात्पुनराम् नेति स्थानिवत्सूत्रे भाष्ये । चतसृणामिति । “न तिसृ” इति दीर्घनिषेधः । सर्वावर्दिता । सर्वाशब्दवदित्यर्थः । अत एव ‘सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे’ इति न पुंवत्वम् । शब्दपरस्य कदाऽपि सर्वनामत्वाभावादिति भावः ।

यः सौ ॥ पुंस्यया बाधात्, क्लीबे सोर्लुका लोपात्, स्त्रियामिदम् । वागिति । वचेः ‘क्विब् वचि’ इत्यादिना क्विप्, दीर्घोऽमम्पसारणञ्च ।

अपो भि । “अच उपसर्गात्तः” इत्यतस्त इत्यनुवर्तते । अविति न प्रत्ययो व्याख्यानात् । दिगिति । दिश अतिसर्जने, क्विप् । षडङ्काः प्राग्वत् । त्विष गतौ, अस्मात् क्विप्, जश्त्वचत्वे । जुषी प्रीतीत्यतः क्विप् । सहस्य सभावे सजूः । अम्भुभिरिति । अदन्तत्वाभावादेत्याभावेन ‘एत ईत्’ इत्यस्याभावे सूत्वमेव ॥

इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

दत्वमिति । “वमुस्त्रसु” इत्यस्य पदाधिकारस्थत्वात्तदन्तेऽपि दत्वम् । एवमाङ्गत्वादामपि । पूर्वपदस्येवेति । प्रत्ययलक्षणेनेति भावः । अत एव राजपुरुषादौ नलोपादिसिद्धिः । उत्तरपदत्वे चोति । उत्तरशब्देनोत्तरपदं लक्ष्यते । उत्तरपदशब्दश्च समासचरमावयवे रूढः । तेन तस्य पदत्वे तत्प्रयुक्तकार्ये कर्त्तव्ये लुपता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न । पदादिविधौ त्वयं निषेधो नेत्यर्थः । तेन परमवाचेत्यादौ न कुत्वं, दधिसेचावित्यादौ “सात्पदाद्योः” इति षत्वनिषेधश्च । निरुपपदादेव विचि पष्ठीसमासो ऽत्र । सोपपदाद्विचो ऽनभिधानगिति कैयटः । सेचयतेः क्विबित्यन्ये । पदादिविधिश्च प्रतिपदोक्तत्वात् “सात्पदाद्योः” इत्येव । तेन परमबुधावित्यादौ भङ्गभावो न । “उत्तरपदादिः, कर्णो वर्णलक्षणात्” इत्यादौ उत्तरपदशब्दस्य समासचरमावयवमात्रे रूढेर्न दोषः । अयञ्च निषेध उत्तरपदस्य कार्यित्व एवेति ङमुद्सूत्रे उक्तम् । बहुचूर्णके ‘बहुवाचौ’ ‘बहुसेचौ’ इत्यादावपि न दोषः । “बहुचूर्णस्य च पदादिविधावेव प्रत्ययलक्षणम्” इति वचनान्तरात् । पूर्ववार्त्तिकमपि ‘उत्तरपदत्वे च पदादिविधौ’ इत्येवमेव पठितम् । एतत्प्रत्याख्यानप्रकारस्तु गुरुतर इति न युक्त इति भाष्ये ध्वनितं प्रत्याख्यानोत्तरं पुनर्नवयदितैतद्वचनपाठेनेति न स

लिखितः । उत्तरपदशब्देन मध्यमपदत्वानाक्रान्तोत्तरपदस्य ग्रहणं व्याख्या-
नात् । तेन 'पूर्वदाण्डप्रियः' इत्यादाववान्तरतत्पुरुषोत्तरपदेऽपि नलोपादि-
सिद्धिः । कादेशो नेति । इदंशब्दे "यः सौ" इति च नेत्यपि बोध्यम् ।

वक्तव्य इति । 'द्वितीयादौस्सु' इति अत्र सम्बद्ध्यते । अयञ्च
सामर्थ्याल्लुका लुप्तेऽपि भवति । एनादेशोऽपि एनमित्यादिसिद्ध्यर्थं वक्त-
व्यः । येननाप्राप्तिन्यायेनैनतस्त्यदाद्यत्वापवादत्वेन तत्र कृते त्यदाद्यत्वा-
प्राप्तेः* । अत एव भाष्ये "नपुंसकैकवचने एनद्वक्तव्यः, कुण्डमानय प्रक्षाल-
यैनत्" इत्युक्तम् । अत्र नपुंसकैकवचने इत्युक्त्या ऽन्यत्रैनो वक्तव्य इति
स्पष्टमेवोक्तं वार्त्तिककृता सिद्धान्तिना । अपवादत्वमजानत एकदेशिनो
यद्येनदित्यादिरुक्तिः । यदिगर्भवाक्ये पूर्वपक्षयुक्तित्वस्यैवौचित्यात् । भाष्य-
कृता तु फल्युत्वाच्चात्रोत्तरमुक्तम् ।

सिद्धान्ती तु 'किमुच्यते नपुंसकैकवचने इति, सर्वत्र एनदेव वक्तव्यः'
इत्येवंशब्दैः प्रत्याख्यानं कुर्यात् । *अनयोरप्यादेशयोः "एतदस्त्रतसोः"
इत्येतत्साहचर्येणोपसर्जने न प्रवृत्तिः, त्यदाद्यत्वेन सिद्धमिति भाष्यासङ्ग-
तेश्च । एनतमादायैनादेशप्रत्याख्यानपरं "यद्येनत्क्रियते" इत्यादि भाष्यं
त्वेकदेशयुक्तिरिति भाष्यप्रदीपोद्घोते निरूपितम् । अन्वादेशविषये इदमेतदोः
समासस्यानभिधानमेव* । "यद्येनत्क्रियते, एनो न वक्तव्यः । कथमेन-
मित्यादि ?, त्यदाद्यत्वेन सिद्धम् । यद्येवमेतच्छ्रुतको न सिद्ध्यति, एन-
च्छ्रुतक इति प्राप्नोति; यथालक्षणमप्रयुक्ते" इति भाष्यात् ।

*त्यदाद्यत्वाप्राप्तेरिति । वस्तुतस्तु त्यदाद्यत्वविषये तक्रन्यायस्याप्रवृत्त्या,
विषयसप्तम्याश्रयणाद्वा एनदादेशेऽपि त्यदाद्यत्वेन सिद्धेः एनादेशो न वक्तव्यः ।
अतएव स इत्यादौ सत्वे त्यदाद्यत्वसिद्धिः । यदिगर्भवाक्ये पूर्वपक्षयुक्तित्वमेवो-
चितमिति तु कल्पनामात्रम् । तत्रोत्तरादानेन भाष्यान्तराविरोधेन च सिद्धा-
न्त्युक्तित्वस्यैव न्याय्यत्वात् ।

*ननु अनुपसर्जने एनदादेशस्य चारितार्थ्यात् कथं त्यदाद्यत्वापवाद-
त्तमत आह *अनयोरप्यादेशयोरिति ।

*समासस्यानभिधानमेवेति । वस्तुतस्तु अनभिधाने न मानम् ।
यथालक्षणमप्रयुक्ते इत्यस्य अप्रयुक्ते लक्षणानुसारेण साधुत्वं प्रत्येतव्यम् इत्यर्थ-
स्य प्रियाष्टन्—शब्दे व्यवस्थापितत्वात् तकारोच्चारणसामर्थ्येन अन्तरङ्गनपुंस-
कलुकि प्रवृत्तावपि बहिरङ्गसामासिकलुकि प्रवृत्तौ मानाभावेन एतच्छ्रुतक
इत्यस्यैव न्याय्यत्वात्तदेव साध्वित्यन्यत्र विस्तरः ।

ब्रह्मणी इति । “न संयोगात्” इति निषेधादलोपो न । रोऽसु-
पि अहर्भातीति । “अहन्” इति रुत्वे ‘अहो भाति’ इति स्यादिति भावः ।
नलोपे प्राप्त इति । न च नलोपे ऽकारस्य रौ रे वा विशेषाभावेनान्यत-
रेणैवोपपत्तावुभयविधानसामर्थ्यादेव लोपो नेति वाच्यम् । संबुद्धौ-
नलोपनिषेधेन ‘अहर्गच्छ’ इत्यादावुत्वाभावेन, ‘दीर्घाहो निदाघ’ इत्यादावु-
त्वसम्पादनेन च चारिताध्यात् । न च नकारोच्चारणसामर्थ्यलब्धेन नका-
रान्तानुकरणेन नान्तस्याहन्शब्दस्येति व्याख्यानाल्लोपो नेति वाच्यम् ।
दीर्घाहो निदाघेत्यादौ सम्बुद्धौ प्रवृत्त्या भ्यामादौ व्यावृत्त्या च नकार-
स्य चारिताध्यात्तेन नलोपबाधे मानाभावादिति भावः ।

आवर्त्येति ॥ आवृत्तौ मानं च “रूपरात्रि” इति वार्तिकमेव । अन्य-
था नलोपेऽकारस्य रेफादेशेनैव सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । * भाष्यप्रामाण्याच्च
तस्य संबुद्धावप्रवृत्तिः । तज्ज्ञापकसिद्धवचनकल्पनापेक्षया आवृत्तिर्लघी-
यसीति भावः । आवृत्तस्य पदान्ते अहन् इति निपात्यते इत्यर्थः । इदमसंभव
एवापवादत्वमिति वार्तिकमते “अहन्” इत्यस्य नलोपोत्तरश्चारिताध्याभि-
मानेन । वस्तुतः सत्यपि संभवे बाधनं भवतीति भाष्यासिद्धान्ताद् रुत्वरत्वे
नलोपापवादभूते एव । निषेधविषयेऽपि प्राप्तिमात्रेण येननाप्राप्तिन्याय-
विषयसत्त्वात् । निषेधेनापि तस्य बाध इत्यन्यत् । एतेन संबुद्धौ चारिताध्या-
मित्यपास्तम् । ध्वनितश्चेदम् ‘अपवादो रुन्लोपं बाधिष्यते’ इत्यर्थक-
भाष्येण । एतदग्रे नलोपे कृतेऽकारे सावकाशत्वशङ्कातत्समाधानादि
वार्तिकानुसारिणोरित्यलम् ।

तदन्तस्थापीति । पदाधिकारस्थत्वात् । “ग्रहणवता” इति निषे-
धस्तु प्रत्ययविधिविषय इति “असमासे निष्कादिभ्यः” इति सूत्रे भाष्यकै-

* भाष्यप्रामाण्यादिति । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्येति सूत्रे “अहो
नलोपप्रतिषेधो वक्तव्यः अहोभ्यामिति । न वक्तव्यः, रुत्र बाधको भविष्यति ।
सावकाशो रुः, कोऽवकाशः, अनन्त्यः अकारः । नान्तनिर्देशसामर्थ्यात् न नलोप
इत्यपि न । संबुद्ध्यर्थं हि वचनम्, हेदीर्घाहो निदाघेति । यत्तर्हि रूपरात्रिरथन्तरेषु
पसङ्ख्यानं तज्ज्ञापकं नानन्त्यस्य रुर्भवतीति । नह्यस्ति विशेषो रूपरात्रिरथन्तरेषु
रौ रे वा” इति वार्तिकं ज्ञापकमुपन्यस्तम् । एतज्ज्ञापकपरभाष्यप्रामाण्यात् संबुद्धौ
नैतद्वार्तिकप्रवृत्तिः । अन्यथा संबुद्धौ नान्ते वार्तिकस्य सार्थक्यात् ज्ञापको-
पन्यासोऽसङ्गतः स्यादिति बोध्यः ।

यटयोः स्पष्टमिति भावः । तस्यासिद्धत्वादिति । अकृतव्यूहपरिभाषया दीर्घाप्रवृत्तिः स्यादित्यभिमानेनेदम् । दीर्घस्तु परत्वाद्वल्ङ्ग्यादिलोपात्पूर्वमेव बोद्धव्यः । सम्बुद्धौ त्विति । सुपोऽत्र हल्ङ्ग्यादिलोपात् 'असम्बुद्धौ' इत्युक्तेर्दीर्घाभावे रत्वे "इति च" इत्युक्ते आद्गुणः । स्रग्वीणीति । इन्ग्रहणेऽनर्थकस्यापि ग्रहणादीर्घ इति भावः । बहुवृत्रहाणीति । अत्र यद्वक्तव्यं तदुक्तम् ।

पदान्ते कुत्वमिति । "किन्प्रत्ययस्य" इत्यस्यासिद्धत्वाद् "त्रथ" इति षत्वे कुत्वमित्यर्थः । षत्वन्तु स्पष्टमित्यादौ सावकाशमिति भावः । भाष्यप्रयोगादिति । अनेन भाष्यप्रयोगेणानव्ययपूर्वपदे कुत्वाभावो बोध्यते । तेनासृगित्यत्र न दोषः । कुत्वापवाद इति । सृजियज्योः पूर्वोत्तरसाहचर्येण पदान्तेऽपि विशिष्य षत्वबोधनेन तत्सामर्थ्यात्कुत्वबाध इति भावः । अत एवोपयदकाम्यतीति काम्यचूम्नस्थो भाष्यप्रयोगः सङ्गच्छते । निपातनादेवेति । निपातनेन ह्यनयोरपवादाप्रवृत्तिमात्रबोधनं, कुत्वन्तु स्वशास्त्रेणैव । एतेन निपातनादपदान्तेऽपि कुत्वापत्तिरिति निरस्तम् ।

असृक्शब्दस्त्विति । इदमेव न्याय्यम् । ऊर्गिति । अयं पुंलिङ्गोऽपि । "नपुंसकस्य" इति सूत्रे बहव ऊर्ज इति कैयटात् । नरजानामिति । "बहूर्जिं नुम्प्रतिषेधः" इति वार्त्तिकरीत्येदम् । अचः परो यो झल् तदन्तस्य नुमिति तत्प्रत्यारूपाद्भाष्यमते तु नुपोऽत्र प्राप्तिरेव नेति बोध्यम् । नचैवं कुण्डानीत्यसिद्धिः । "इकोऽचि" इति सूत्रे ऽचः सर्वनामस्थाने इत्यनुवर्त्य अनुवृत्तिसामर्थ्यादिक इत्येतत्साहचर्याच्च सर्वनामस्थाने इति सप्तम्या षष्ठीं प्रकल्प्य वाक्यभेदेनाजन्तस्य क्लीबस्य तत्र नुम्बिधानाददोष इति भाष्ये स्पष्टम् । काष्ठतङ्क्षीत्यादौ "दिव औत्" इति सूत्रभाष्योदाहृतेऽचः परञ्जलत्वजातेराश्रयणाच्च दोषः । अन्त्यादिति । इदं वाचनिकमेव बहूर्जिशब्दमात्रविषयकम् । बहूर्जिति । श्चुन्वस्यासिद्धत्वादनुस्वारे परसवर्णो बोध्यः । स्थानिवत्त्वादिति । "कौ लुप्तं न" इति त्वसार्वत्रिकमिति भावः । स्पष्टञ्चेदं "दीधीवेवीटाम्" इति सूत्रे कैयटे ।

जायन्ते नव सौ तथाऽमि च नव भ्याम्भिसम्भ्यसां सङ्गमे

षट्संख्यानि नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि ॥

चत्वार्यन्यवचःसु कस्य विबुधाः शब्दस्य रूपाणि तद्

जानन्तु प्रतिभाऽस्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधिः ॥

इति प्राचीनस्य शुष्कप्रक्रियातार्किकस्य प्रश्ने तदनुसारेणैव श्लोक-
द्वयेनोत्तरमाह—गत्राक्शब्दस्येति । शब्दपरत्वेनापूजार्थकत्वाच्चस्य लोपः ।
भेदत इति । आद्यादित्वात्तासिः । भेदेनेत्यर्थः । नवेति । द्वन्द्वान्ते श्रूयमाण-
त्वात्प्रत्येकं नवेत्यर्थः । अग्रेऽपि प्रत्येकमेव संख्याऽन्वयः । गत्रागिति ।
सौलुका लुप्तत्वान्नुम् न । षण्णामिति । कुक्पक्षे त्रयाणां, गतौ त्रयाणा-
मित्यर्थः । चत्र्वस्येति । तेन गतौ त्रयाणामाधिक्यं नेत्यर्थः । कुक्पक्षे
इति । पूजायामित्यर्थः । अद्वाक्षीति । सप्तविंशत्यधिका पञ्चशतीत्यर्थः ।

यः शतेति । शतप्रत्यय इत्यर्थः ।

आच्छीन ॥ वेति वर्त्तते उत्तरसूत्रे नित्यग्रहणात् । “नाभ्यस्तात्”
इत्यतो नेति तु नानुवर्त्तते । निषेधस्य प्राप्तिपूर्वकत्वात् । अत्र च प्राप्त्य-
भावात् । नुम्ग्रहणन्तु स्पष्टार्थम् । शतुरचयव इति । परो यः श-
तेति तु नोक्तम् । तुदन्तीत्यादावेकादेशे उभयत आश्रयणेऽन्तादिवद्भावाभा-
वेन व्यपवर्गाभावेन च नुमभावापत्तेः । अवर्णश्च शतृभिन्नावयव* एव
गृह्यते शत्रकारेणाव्यभिचारात् ।

शपूयनोः ॥ आदिति भातीत्यादौ नित्यनुमभावाय ।
अन्यथा प्रत्ययलक्षणेन स्यात् । आदित्युक्तौ तु वर्णप्राधान्याच्च प्रत्ययलक्षण-
म् । नलुपतेति निषेधस्तु प्रत्यासत्त्या लुप्तप्रत्ययनिमित्ताङ्गस्य कार्ये एवेति
भावः । पचन्तीत्यादिवहुवचने “नपुंसकस्य झलचः” इति नुम् । निरव-
काशत्वमिति ॥ इदं “छदिरुपधिवलेर्दञ्” इति सूत्रे* “शेषाद्विभाषा” इति
सूत्रे* च भाष्ये स्पष्टम् । परे तु निरवकाशत्वरूपप्रतिपदोक्तत्वस्य बाधकता-

*शतृभिन्नावयव इति । तेन कुर्वतीत्यादौ न नुमिति भावः ।

*इति सूत्रे इति । छदिरुपधीतिसूत्रविषये उगवादिभ्यो यत् (५।१।२)
इति सूत्रे छदिषे हितं चर्मैत्यर्थं छदिरुपधीति ढञः, चर्मणोऽञ् इत्यञश्च प्राप्तौ
छदिरुपधिवलेर्दञ् इत्यस्य पूर्वविप्रतिषेधेन बाधकत्वमुक्तम् । सावकाशस्यापि
प्रतिपदविधेर्बाधकत्वे तु छादिषेयं तृणमित्यादौ सावकाशेन छदिरुपधीति ढञा
प्रतिपदविधित्वादेव चर्मणोऽञ् इत्यञो बाधे सिद्धे पूर्वविप्रतिषेधाश्रयणं व्यर्थं
स्यात् । तस्मात् प्रतिपदविधेर्निरवशत्वे सत्येव बाधकत्वं लभ्यते इति भावः ।

*शेषाद्विभाषेति सूत्रे चेति । अत्रापि “शेषग्रहणं किमर्थं, ये प्रतिपद-
विधीयन्ते ते बाधका भविष्यन्ति, अनवकाशा हि विधयो बाधका भवन्ति,

प्रयोजकत्वम् । प्रकृते तदभावेनावधकत्वेऽपि प्रतिपदविधित्वेन शीघ्रोप-
स्थितिकतया पूर्वं प्रवृत्तौ नियामकत्वे बाधकाभावेन पूर्वं दीर्घं ततो
नुमि स्वाम्पीत्येवेत्याहुः* ।

धनुरिति । “वोः” इति दीर्घस्तु न । रेफान्तस्याधातुत्वात् । “श्रेयां-
सि” इत्यादौ युगपद् द्वयोरन्त्यादचः परत्वायोगाद्विरोधेन परत्वाज्जलन्तल-
क्षणे नुमि कृते उगिल्लक्षणो न । सकृद्वृत्तिन्यायात् । किं च अन्त्यादचः परो
मित्ययोक्तव्य इति “मिदचः” इत्यस्यार्थेन द्वयोर्मितोरन्त्यादचः परप्रयो-
गासम्भवेन नात्र नुमद्वयप्रसक्तिः पुनः प्रसङ्गविज्ञानेऽपि । किं च सत्यपि
नुमद्वये परस्यानुस्वारे तस्य झलग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वस्यानुस्वारे द्वयोरनु-
स्वारयोः श्रुतौ न विशेष इति “नपुंसकस्य” इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥

इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥

स्वरादि । स्वरादीनामपि निपातसंज्ञैव तु न कृता । स्वरादौ
“निपाता आद्युदात्ताः” इत्यापत्तेः । एतेन चादीनामप्यव्ययसंज्ञैव कार्येत्य-
पास्तमित्यन्यत्र विस्तरः । स्वरित्यादि । अनुकरणान्येतानि । तत्रेत एव
निर्देशान्न स्वाद्युत्पत्तिः, तेन विसर्गादिकं न । स्वरादीनामनेकशक्तिप्रधान-
ता । स्वरागतः, स्वः स्थितः, स्वः पश्येत्यादिदर्शनात् । गणे च तन्त्रेण

समासान्ताश्च कबभावे सावकाशाः” इति स्पष्टमभिधानात् निरवकाशत्वे सत्येव
प्रतिपदविधेर्बाधकत्वं लभ्यते इति भावः ।

*स्वाम्पीत्येवेत्याहुरिति । प्रतिपदविधेरनित्यस्य पूर्वं प्रवृत्तिस्तु
क्वाचित्की, नित्यस्य तु सेदुष इत्यादौ सर्वत्रैव । तेन इयायेत्यादौ अचो जिण-
तीति वृद्धौ कृतायाम् “एरनेकाच” इत्यत एरित्यपकर्षविशिष्टस्य “इणो यण्”
इत्यस्याप्राप्त्याऽनित्यत्वान्न पूर्वं प्रवृत्तिः । तत्र एरित्यपकर्षस्तु आयन्नित्यादौ
लाघस्यायामडिति सिद्धान्तपक्षे अन्तरङ्गत्वाद् अटश्चेति वृद्धौ कृतायां प्राप्तस्य
यणो व्यावृत्तये असिद्धवत्सूत्रे भाष्ये उक्तः । एवं जुहवानीत्यादौ गुणे कृते प्रा-
प्तस्य “ओः सुपि” इत्यत ओरित्यनुवृत्तिविशिष्टस्य हुश्नुवोरिति यणः, अति-
स्त्रये इत्यादौ घेर्जितीति गुणे कृते प्राप्तस्य “अचि इनु” इत्यतो खोरित्यनु-
वृत्तिविशिष्टस्य स्त्रिया इति इयङश्च न पूर्वं प्रवृत्तिः । न चैवं प्रतिपदविधित्वस्य
पूर्वप्रवृत्तिप्रयोजकत्वकथनं व्यर्थं, नित्यत्वादेव सिद्धेरिति वाच्यम् । से-
दुष इत्यादौ अन्तरङ्गादपि इटः प्राक् संप्रसारणप्रवृत्त्यर्थं तस्य तत्त्वस्वीका-
रात् । स्वाम्पीत्यादौ क्वचित् अनित्यस्यापि दीर्घस्य नुमः प्राक् प्रवृत्त्यर्थं
तत्स्वीकाराच्चेति दिक् ॥ इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ॥

सर्वेषामुच्चारणम् । उच्चैरित्यादीन्यधिकरणशक्तिप्रधानानि शब्दशक्तिस्व-
भावात् । हिरुगादीनि क्रियाप्रधानानि । क्रियाप्राधान्यञ्चैषां क्रियायामेव
विशेषणत्वेन । स्पष्टञ्चेदं “तद्धितश्च” इति सूत्रे कैयटे । सायं, चिरं मान्ते
अव्यये । “सायश्चिरम्” इति सूत्रस्थ *भाष्यप्रामाण्याच्चिरमित्यव्ययप्रामा-
णिकमिति परे ।

वदिति । “तेन तुल्यम्” “तत्र तस्येव” “तदर्हम्” इति विहितः ।
“उपसर्गाच्छन्दसि” इति विहितस्य च्छान्दसत्वादेव *न संज्ञा । वस्तुतः “त-
द्धितश्च” इत्येव सिद्धेर्वद्ग्रहणं व्यर्थम् । अन्तराऽन्तरेणेति । “अन्तरान्तरेण
युक्ते” इति सूत्रे भाष्ये ऽनयोर्निपातत्वोक्तेः स्वरादिष्वनयोः पाठः प्रक्षिप्तः ।

अस्तीति । धनवानित्यर्थके अस्तिमानित्यादौ धनवाचिनः स-
त्त्ववचनस्य विभक्तिप्रतिरूपकत्वेन न सिद्धिरित्यस्य पाठः । विनिगम-
नाविरहेण विभक्तिप्रतिरूपकस्य शब्दतोऽर्थतश्च ग्रहणात् । तेनैव सि-
द्धिरिति तु मतुसूत्रे भाष्यकैयटयोः । सत्ताकर्तृत्वेनैव धनबोधादस्ति
कथञ्चिदर्थतः साम्यमिति तद्भावः । एवञ्चास्त्यस्याप्रामाणिकः पाठ
इति तत्त्वम् । नमासिति । “महसां नमसाम्” इति प्रयोगस्तु सत्त्ववाचकत्वे
बोद्धव्यः । प्रताम् प्रशामिति । प्रतानिति नान्ताव्ययस्य पृथक् पाठसाम-
र्थ्यादपदान्तत्वाच्चास्य नत्वाभावः । प्रशानिति नान्तपाठो ऽसांप्रदायिकः ।
मान्तालुकरणे नत्वाप्राप्तेः, स्वरादौ रुन्वादिवत् । *कृन्मेजन्तसूत्रस्थभाष्य-
स्वरसोऽप्येवमेव । नञः स्वरादिष्वप्रामाणिकः पाठः । “अव्यये नञ्कुनि-
पातानाम्” इत्यत्र पृथक् नञ्ग्रहणं तु अकरणिरित्यादौ परस्यापि कृत्स्वरस्य

*भाष्यप्रामाण्यादिति । तत्र हि सूत्रे सायश्चिरयोर्मान्तत्व प्रत्ययसंति-
योगेन निपात्यते इत्युक्त्वा नैतदस्ति, मान्तः सायम्-शब्दोऽव्ययं, तथा चाव्यय-
त्वादेव सिद्धे सायम्-शब्दग्रहणं न कार्यमिति प्रत्याख्यानं सायंशब्दविषयक-
मेव कृतं, न तु चिरंशब्दविषयम्; इति तद्ग्रहणं तत्र मान्तत्वं च कर्तव्यमेवेति
सिद्धम् । तथा चैतस्यानव्ययत्वं स्पष्टमेव सूचितम् ।

*न संज्ञेति । अत एव “यदुद्धतो निवत” इत्यादौ विभक्तिश्रवण-
मिति भावः ॥

*कृन्मेजन्तसूत्रस्थेति । तत्र हि कृदन्तं यन्मान्तमिति पक्षे प्रतामौ
इत्यादौ अव्ययत्वापत्तिमाशङ्क्य स्वरादिषु प्रशाम्-शब्दपाठसामर्थ्यात् प्रत्यय-
लक्षणेन कृदन्तस्याव्ययसंज्ञा नेति ज्ञाप्यते इति समाहितम् । तेन च मान्तपाठ
इति स्पष्टमेव लभ्यत इति भावः ।

बाधनार्थमित्याकरः । एवं पाङ्गोऽपि स्वरादौ प्रक्षिप्तः पाठः । यावत्तावच्छब्दावव्युत्पन्नौ ।

उपसर्गविभक्ति । अत्र प्रतिरूपकत्वं विनिगमनाविरहादर्थतः शब्दतश्च गृह्यते । “गेये केन विनीतौ वाम्” इत्यत्रापि वामित्यस्य युष्मत्प्रकृतिकविभक्त्यन्तममानार्थत्वमस्त्येव । स्वरांशे तु नाऽर्थतोऽसम्भवात् । एतेन युगं पततीत्यादिव्युत्पत्त्याश्रयणेन युगपदित्यादीनां विभक्तिप्रतिरूपकत्वादेव सिद्धे नेषां गणे पाठो व्यर्थ इत्यपास्तम् । एवन्तदित्यपि लुप्त-षष्ठीकं विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । अत एव “अविद्या तच्चित्तोर्योगः” “तत्तदर्थविभाग” इत्यादौ “त्यदादीनि” इति नैकशेषः* । अवदत्समिति । अत्र क्रियायोगेऽपि—

अवदत्तं विदत्तञ्च प्रदत्तञ्चादिकर्मणि ।

सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्ट्यते ॥

इति भाष्यवचनेनोपसर्गत्वाभावबोधनद्वारा तादेशाभावो बोद्धव्यत-इत्याशयः ।

आकृतीति । ‘अहः’ इत्यहनीत्यर्थे । ओमिति च स्वरादिषु । तच्च—अथ उश्च म् चेति व्युत्पत्त्या शिवादिवाचकम्, “अवतेष्टिलोपश्च” इति सिद्धम् ब्रह्मण्यङ्गीकारे च । उभयोरपि स्वरादित्वं व्याख्यानात् । अन्त्ये “कृन्मेजन्तः” इति तु न सिद्ध्यति । “चिवरव्ययम्” इत्युणादिपठितेन नियमादप्राप्तेः । उणादिव्युत्पन्नानाञ्चेच्चादिस्वराद्यपठितानां भवति, तर्हि च्यन्तानामेवेति तदर्थः । अन्यथा च्यन्तानां (ऊर्गादिचिवडाचश्चेत्यनेन) निपातत्वादेव सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । “स्वरादिनिपातम्” इत्यत्र निपातपदे गौणमुख्यन्यायाप्रवृत्तिः, अनित्यत्वात् । अन्यथा “ओत्” इति प्रगृह्यत्वमिवेदमपि न स्यात् । एवमतिशयेन साधुरित्यर्थे *साधीय इत्यपि ।

सर्वशब्दोऽत्र सर्वः पटो दग्ध इतिवद् *अवयवकात्स्न्ये इत्याशयेनाह—यस्मात्सर्वेति । वचनत्रयात्मिकेत्यर्थः । नेति । किन्त्वेकवचनमेवेत्यर्थः ।

*नैकशेष इति । त्यदादिषु साहचर्येणानव्ययस्यैव ग्रहणादिति भावः ।

*साधीय इति । अत एव तत्र तत्र कश्च साधीय इति भाष्यप्रयोगः सङ्गच्छते । ईयसुब्रन्तत्वे हि कश्च साधीयानिति स्यादिति भावः ।

*अवयवकात्स्न्ये इति । सर्वप्रकारान्नभोजित्यर्थके सर्वाङ्गीनो मिथुः

ननु — “संख्याकारकबोधकैरेकवाक्यतया सुपां विधानम्” इति पक्षे ऽव्य-
यार्थे संख्याकारकयोरभावात्कथं विभक्तिः । “अव्ययादाप्सुपः” इति ज्ञा-
पकाश्रयणे च सर्वाऽपि ।

किं च विहितानां नियमपक्षे ऽपि नास्योपपत्तिः, तत्पक्षे सर्वेष्वर्थेषु
विधेयतया प्रधानप्रत्ययानुरोधेन गुणभूतप्रकृतिभेदकल्पनेन सर्वविभक्त्युत्पत्तौ
लोपेनेव जातस्य निवृत्तिः । तन्निवृत्तौ च कल्पितगुणस्वरूपं स्वत एव
निवर्तते । नियमश्च द्विविधः—अर्थनियमः, प्रत्ययनियमो वा । अन्त्योऽपि
द्विविधः—प्रकृतार्थापेक्षः, सामान्यापेक्षो वा । तत्र कर्माद्यर्थयोग्यप्रातिपदिका-
च्चेत्कर्मणि विभक्तिस्तदा द्वितीयैव । कर्मादिरहिते तद्योग्यप्रातिपदिकार्थे
प्रातिपदिकात्प्रथमैवेत्यादिरर्थनियमः* । अत्र पक्षे *सर्वाः सप्तापि वि-
भक्तयो ऽव्ययेभ्यो, विभक्तीनामनियतत्वात् ।

कर्माद्यर्थयोग्यप्रातिपदिकाच्चेद् द्वितीया तदा कर्मण्येव, न करणादौ;
कर्मादियोग्ये तद्रहितप्रातिपदिकार्थे एव प्रथमा, न कर्मादौ; संख्यावदर्थयो-
ग्यप्रातिपदिकादेकत्वादावैकवचनादि, न द्वित्वादावित्यादिः प्रकृतार्थापेक्ष-
प्रत्ययनियमः । *अत्रापि पक्षे सर्वाः सप्तापि विभक्तयो ऽव्ययेभ्यो लभ्यन्ते ।

अथ प्रातिपदिकाच्चेद् द्वितीया तदा कर्मण्येव, नान्यत्र; प्रातिपदिका-

इत्यादाविव प्रकारकात्स्न्यवाचिनः सर्वशब्दस्य ग्रहणे हि “अव्ययेभ्यः सर्वासां
विभक्तीनामेकवचनानि उत्पद्यन्ते” इति पक्षे सूत्रस्यासंभवदुक्तिकत्वं स्यात्,
तेभ्यः सर्वप्रकारविभक्त्युत्पादात् । सर्वे घटा रूपवन्त इत्यादाविव व्यक्ति-
कात्स्न्ये वर्तमानस्य ग्रहणे तु तिङामपि विभक्तित्वात्तासां च घटादिप्राति-
पदिकेभ्योऽप्यनुत्पादात् तेषामप्यव्ययत्वापत्तिः । सप्त विभक्तय इति प्राचां व्य-
वहारात् सुविविभक्तीनामेव ग्रहणे तु मासीयसर्वदिनेषु अधीते इत्यादाविव
एकवचनरूपैकदेशोत्पादेऽपि अवयवद्वारा सर्वविभक्तिसम्बन्धात् दोषस्तद-
वस्थ एवेति अवयवकात्स्न्ये वर्तमानस्यैव सर्वशब्दस्य ग्रहणमिति भावः ।

*अर्थनियम इति । कर्मणि द्वितीयैव, प्रातिपदिकार्थे प्रथमैव इति
नियमो हि “अर्थे नियम” इति व्युत्पत्त्या अर्थनियम इत्युच्यते । कर्माद्यर्थे
द्वितीयादिविभक्तीनां नियमनात् । अत एव “यत एवकारस्ततोऽन्यत्र निय-
मः” इति प्रवाद इति भावः । एवं प्रत्ययनियम इत्यत्रापि बोध्यम् ।

*सर्वा इति । वचनत्रयात्मिका इत्यर्थः ।

*अत्रापीति । कर्माद्यर्थयोग्यत्वस्य व्यावर्त्यतावच्छेदकत्वेन तस्य चा-
व्ययेचभावेन सामान्यशास्त्रेण सर्वविभक्तीनामस्मिन्नपि पक्षे प्राप्तिरिति भावः ।

चेत्प्रथमा तदा मात्रग्रहणात्पर्युदासन्यायेन कर्मादियोग्यतद्रहितप्रातिपदिकार्थे
एवेत्यादिः सामान्यापेक्षः प्रत्ययनियमः । तदाऽव्ययेभ्यो विभक्तिप्राप्तिरेव
नेति पूर्वोक्तज्ञापकादेव सा, इति सर्वाऽपि । यद्यपि सुपां तिङां संख्याकर्मो-
भयार्थकत्वेन कर्मण्येव नान्यत्रेति वक्तुमशक्यं, तथापि 'कर्मण्येव, न तु
तदभावे' इत्याकारो वक्तुं शक्यः । स्पष्टश्चेदं सर्वं "बहुषु" इत्यादि सूत्रेषु
भाष्ये । तत्र हि अर्थनियमे प्रकृतार्थापेक्षप्रत्ययनियमे च सप्तापि विभक्तयः
संपूर्णा उक्ताः । सामान्यापेक्षप्रत्ययनियमे च सुपो ऽप्राप्तिरेवोक्ता ।
"अव्ययादाप्सुपः" इति सूत्रे भाष्ये ऽपि स्फुटमिदम्, इति चेत् —

अत्र "तद्धितश्च" इति सूत्रे भाष्यकृतः — "एकवचनम्"
इत्येव सूत्रं कार्यम् । एकग्रहणश्च न कार्यम् । विभक्तिविभावुद्देश्यता-
वच्छेदकावच्छिन्नादेकवचनमित्युत्सर्गः । तस्य द्वित्वबहुत्वयोरितरे *बाधके
भविष्यतः । एवञ्चैकत्ववत्यपि भविष्यति, *अलिङ्गासंख्येभ्यो ऽव्य-
येभ्यश्चैकवचनम् । द्विवचनादिविधायकयोर्द्विवहुग्रहणसामर्थ्यान्महासंज्ञा-
बोद्धव्यैकत्वाभावेऽपि तत्प्रवृत्तेः । द्वित्वबहुत्वयोर्द्विवचनबहुवचनोक्तार्थात्
*एकवचनस्य "एकवचनम्" इत्येतद्वचनं विनाऽपि द्वित्वाद्यभावे कर्मादौ
सिद्धत्वेन सामर्थ्यादप्राप्तप्रापणार्थमेतदिति कर्माद्यभावेऽप्येतत्प्रवर्तते इति
विनिगमनाविरहात्सर्वविभक्त्येकवचनमनेन । अत एव "अव्ययादाप्सुपः"
इति प्रत्याहारग्रहणं चरितार्थं, "तृतीयासप्तम्योः" इति च । प्रथमाऽपि

*बाधके इति । एवं रीत्या "शेषे प्रथमः" इति सूत्रे शेषग्रहणमपि
सुत्यजम् । युष्मद्योगे "युष्मद्येव मध्यमः" इति नियमशास्त्रेण, अस्मद्योगे "अस्मद्येव
उत्तमः" इति नियमशास्त्रेण च प्रथमस्य बाधसिद्धेः । युष्मदस्मज्यामन्यत्रोपपदे
तस्य चारिताध्यात् । यत्तु युष्मदि मध्यम एवेत्याद्युपपदनियमपक्षे अहं च
देवदत्तश्चेति द्वाभ्यां योगे द्वयोः प्राप्तौ शेषे प्रथम एवेति परत्वादुत्तमबाधनार्थं,
त्वं च देवदत्तश्चेत्यत्र मध्यमबाधनार्थं च शेषग्रहणम् । तथा च त्वं च देवदत्तश्च
पचतः, अहं च देवदत्तश्च पचत इति प्रयोगसिद्धिरिति, तन्न । शेषग्रहणे
कृतेऽपि पूर्वविप्रतिषेधेन तत्र मध्यमोत्तमयोरवेष्टत्वात् । अत एव कौमुद्याम्
"मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात्" इति शेषे प्रथमः इति सूत्रं व्याख्यातम् ।
शेषग्रहणं तु भाष्ये प्रत्याख्यातमेवेति दिक् ।

*अपिसमुच्चयेमेवाह अलिङ्गेति । तेभ्यः एकत्वाभावेऽपि भवतीत्यर्थः ।

*एकवचनस्येति । अस्य सिद्धत्वेनेत्यत्रान्वयः । सिद्धिश्च स्वौजसे-
ति सामान्यसूत्रेणेत्यर्थः ॥

मात्रग्रहणाद् यत्पातिपदिकार्थस्य कर्मत्वाद्याधिक्यसंभावना तत्रैवेति तस्या अप्यप्राप्तिरव्ययेभ्यः ।

पचतिकल्पमित्यादौ तु नानेन सर्वैकवचनम् । सर्वथा ऽप्राप्तावेव तस्य विध्यर्थत्वात् । अत्र च न तथा, कर्तृत्वकर्मत्वसत्त्वेन क्रियायां स्वत एकत्वसत्त्वेन सर्वथा तदप्राप्त्यभावादिति बोध्यम् ।

यत्तु—कैयटेन प्रथमातिक्रमे कारणाभावाद्नेकनियमबाधे गौरवाच्च प्रथमैकवचनस्यैवानेनोत्सर्गत्वं बोध्यते इति तद्धितश्चेति सूत्रे रूपसूत्रे चोक्तम्, तन्न । स्वादिसूत्रे प्रथमायाः प्राथम्येऽपि नियमशास्त्रपर्यालोचनया द्वितीयाया अपि तत्त्वेन तस्याविनिगमकत्वात् । “निजां त्रयाणाम्” इत्यत्र त्रयाणाङ्ग्रहणेन “आद्युदात्तश्च” इति सूत्रे आदिग्रहणेन च पाणिनिना स्वशास्त्रे एतन्न्यायानाश्रयणज्ञापनाच्च ।

अत्र प्रथमा संपूर्णा ऽव्ययेभ्यः, प्रथमाया एवैकवचनम् इत्यादिपक्षान्तराणि अर्वाचीनग्रन्थे दृश्यन्ते, तान्यसङ्गतानि । उक्तरीत्या तेषामुक्तिसम्भवाभावात् । घट इत्युक्ते एकत्वनिश्चयस्तु द्विवचनाद्यभावेन द्वित्वाद्यप्रतीतौ संख्यावदर्थत्वेन सत्त्वभूतत्वात्, प्रकरणाच्च । “बहुषु” इत्यादिसूत्रभाष्योक्तपक्षास्त्वेकदेशिनो, न सिद्धान्तिन इति तत्त्वम् ।

असर्वविभक्तिरिति बहुव्रीहिलभ्यो विशेष्य इत्याह—तद्धिता-न्त इति । केवलस्य तद्धितस्य प्रयोगाभावेन फलाभावात्संज्ञाविधावपि तदन्तविधिरिति भावः ।

नन्वेवमपि पचतिकल्पमित्यादावतिव्याप्तिः, उक्तरीत्या तेषामसर्वविभक्तित्वात्, उभयशब्दे चातिव्याप्तिः, ततो द्विवचनानुत्पादाद्; अत आह—परिगणनमिति । एवञ्च सूत्रं न कार्यमिति भावः ।

तसिलादय इति । “पञ्चम्यास्तसिल्” इत्यारभ्य “द्विज्योश्च धमुज्” इत्यन्ता इत्यर्थः । शस्प्रभृतय इति । ‘बह्वलपार्थच्छिस्’ इत्यारभ्य ‘अव्यक्तानुकरणाद्’ इति ङाजन्ताः । यस्तु—“इवे प्रतिकृतौ” इत्यधिकारे “प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल्छन्दसि” इति थाल्, तस्य स्वरादौ ‘आस्थालौ’ इति पाठेनाव्ययत्वम् । तत्र “इण आसिः” इत्युणादिसूत्रविहित आसिः । अया इत्युदाहरणम् । आसिविधायके छन्दसीति नानुवर्तते । एवञ्च लोके विभक्तिरहितप्रयोगायाव्ययत्वमावश्यकम् । अत्र च स्वरादावासिपाठ एव

लिङ्गम् । “अयासावयसा” इति तु च्छान्दसम् ।

अम् आमिति । “अमु च च्छन्दसि” “किमेत्तिङ्” इति विहितौ । कृत्वोर्था इति । कृत्वसुच्सुञ्धाः । तसिबती इति । “तेनैकदिक् तसिश्च” “तेन तुल्यम्” इत्यादिविहितौ । एवञ्च स्वरादिषु वदिति पाठे फलं चिन्त्यम् । नानाआविति । “विनञ्भ्यां नानाजौ न सह” इति विहितौ ।

कृन्मेजन्तः ॥ कृद् यो मान्त इति । “कारयाम्” इत्यामन्ते “आमः” इति लुकेष्टसिद्धिरिति भाव इत्याकरे विस्तरः । कृदन्तस्य तु नैतद् विशेषणं गणे प्रशाम्शब्दपाठात् । अन्यथा श्रुत्या मान्तत्वेन प्रत्ययलक्षणात्कृदन्तत्वे चानेनैव सिद्धे तत्पाठवैयर्थ्यं स्पष्टमेव । तेन प्रतामौ, लवमा-चक्षाणो लौः इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । न च-आधये, हे आधे, कुम्भकारेभ्य इत्यादौ गुणे एत्वे च कृते एजन्तत्वेन सञ्ज्ञापत्तिः । न च बहिरङ्गत्वं गुणादेः, सञ्ज्ञायाः कार्यार्थत्वात्सञ्ज्ञाकार्यस्य तत्त्वेन सञ्ज्ञाया अपि तच्चात्; लिङ्गसंख्याद्यन्वयित्वेऽप्यव्ययीभावादाविवात्राप्यापत्तेः-इति वाच्यम् । सन्निपातपरिभाषया बाधात् । न च तया सन्निपातविघातक-लुको बाधेऽपि सञ्ज्ञाबाधे मानाभाव इति वाच्यम् । एज्विषयसन्निपात-निमित्तकाऽऽस्वीयसन्निपातविघातकस्य “क्ङिति च” इति निषेधस्य तया निवृत्तावपि उपादास्तेत्यत्र किञ्चापत्तेः । किञ्चफलन्तु तत्सन्नियोगशिष्टेत्व-सिद्धिः । एवञ्चोपादिस्तेति स्यात् । तत्र हि किदिति व्यपदेशातिदेश एव । इत्वप्रवृत्तिकाले कित्कार्यस्यातिदेश्यस्याभावात् । तस्मादनया सन्निपातवि-घातकशास्त्रस्येव तच्छास्त्रप्रवृत्तिनिमित्तातिदेशसञ्ज्ञानामपि निवृत्तिरवश्यं वाच्या । साक्षात्परम्परया वा स्वसन्निपातविघातकस्य स्वयमनिमित्त-मिति परिभाषाऽर्थः । एतेनात्राकजादि स्यादित्यपास्तम् । अकजाद्येक-वाक्यतापन्नाव्ययसञ्ज्ञायां गुणादेरसिद्धत्वाच्च । लुगेकवाक्यतापन्ना तु न गुणादितो ऽन्तरङ्गा । उभयोरपि शब्दतः सुबाश्रयत्वात् ।

अव्यय्यादा । “ण्यक्षत्रिय” इत्यतो लुगनुवर्त्तते । विहितेति । अङ्गसञ्ज्ञायां विहितत्वांशप्रवेशेन विहितप्रत्ययनिरूपिताङ्गविशेषणादित्यर्थः । आप्मुग्ध्यामाक्षिप्ताङ्गस्याव्ययरूपस्यैव प्रत्यासत्त्या ग्रहणमिति भावः । तेन कुम्भकारेभ्य इत्यादौ सन्निपातपरिभाषया ऽव्ययसञ्ज्ञानिवृत्तिद्वारा लुङ्निवृत्तिपरभाष्येण न विरोधः ।

अत्युच्चैसाविति । अत्राधिकरणशक्तिप्रधानस्यापि उच्चैःशब्दस्य वृत्तिविषये शक्तिप्रधानत्वाद् द्वितीयान्ततया “अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे” इति समासे अवयवभूतोच्चैःशब्दादव्ययात्परत्वेन लुक् स्यात् । समुदायस्य तु नाव्ययत्वं लिङ्गाद्यन्वयित्वादित्याभिमानः । समुदायस्यापि तत्त्वमाशङ्क्य समाधत्ते—यद्यपीति । तदन्तेति । शब्दस्य विशेष्यत्वात् । “प्रयोजनं सर्वनामाव्ययसंज्ञायाम्” इति वाचनिकस्तदन्तविधिरिति भावः ।

न गौणे इति । अयं भावः । सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन लिङ्गाद्यनन्वय्यर्थबोधकत्वविशिष्टाव्ययपदवत्त्वेन हि अव्ययपदं बोधकमिति तादृशमहासंज्ञाकरणात्तादृशार्थानां गणे ऽनुकरणावश्यकत्वे इतरेषामनुकरणे मानाभावेन समुदायस्य नाव्ययत्वमिति । वस्तुतो ऽत्रार्थस्य प्रधानाप्रधानन्यायेन सर्वनामसंज्ञासाहचर्येण च प्रसिद्धान्तरङ्गपदान्तरानपेक्षानुपसर्जनीभूतस्यैव लिङ्गाद्यनन्वयिनो ग्रहणेन—न समुदायस्य, *नाप्यवयवस्य संज्ञा । अत एव भाष्ये सर्वनामसंज्ञासूत्रस्थोपसर्जनप्रतिषेधानुवृत्त्या ‘अत्युच्चैसौ’ इत्यादावव्ययत्वाभावमुक्त्वा तत्प्रत्याख्यानरीत्यैवात्राप्येतत्प्रत्याख्यानमुक्तम् । एवञ्च विहितविशेषणमङ्गाक्षेपो वा व्यर्थ एव । अव्ययात्परत्वस्याप्यभावात् । उच्चैरौ उच्चैराभ्यामित्यादेरभिधाने तु न मानम् । अत एव भाष्ये एतन्नोक्तम् ।

अलिङ्गत्वादिति । नन्विदं “सदृशं त्रिषु” इति विरुद्धमत आह—लिङ्गेत्यादि । अयं भावः—यथोपक्रमोपसंहाराभ्यां ब्रह्मपराया अप्यस्याः श्रुतेर्भाष्यप्रामाण्यादत्रोपसंहारः, तथा तत्प्रामाण्यादेव लिङ्गाद्यभावपरताऽपीति । विभक्तिवचनशब्दौ कारकसंख्यापरौ । प्रत्य-

*नाप्यवयवस्येति । नन्वेवं सर्वनामसंज्ञाया अपि अवयवेऽनाप्यौ अतिभवकान्, त्वकत्पितृको, मकत्पितृक इत्यादौ अकजनापत्तिरिति चेन्न । तत्र वृत्तेः प्राक् अनुपसर्जनसर्वार्थवाचकत्वेन सर्वनामत्वे ऽकचि च कृते वृत्तौ कृतायाम् अनुपसर्जनार्थबोधकत्वाभावेन सर्वनामत्वाभावेऽपि पूर्वजा-तस्याकचोऽनिवृत्तेः । अकृतव्यूहपरिभाषा तु नास्त्येवेति भावः । अत्र तु लुक्प्रवृत्तिकाले अनुपसर्जनार्थबोधकत्वाभावेनाव्ययत्वाभावान्नलुग्नं प्रवर्तते । यथोद्देशपक्षस्तु लक्ष्यानुरोधान्नात्राश्रीयते । अत्युच्चैसौ इत्यादौ अकच् तु अतिभवकानित्यादाविव इष्यते एवेति विहितविशेषणं व्यर्थम् । मासपूर्वायेत्यादावनुपसर्जने स्माद्यादिवारणार्थं सर्वनाम्नः स्मै इत्यादौ विहितविशेषणमिति दिक् ।

यपरत्वेऽन्यतरवैयर्थ्यापत्तेः । लिङ्गेषु इत्यादि विषयसप्तमी । तत्तद्विषये सा-
दृश्यञ्च लिङ्गाद्यभावाश्रयत्वेन । लिङ्गाभावेन सादृश्यमव्ययीभावातिरि-
क्तविषये । तस्य लिङ्गयोगसत्त्वात् । संख्याऽभावस्तु सर्वसाधारणः । तदभा-
वासिद्ध्यादेव, यद् विविधं रूपं तन्न प्राप्नोतीत्यर्थः ।

प्रसङ्गादाह—वष्टीति । वशेच्छान्दसत्त्वेनेह प्रयोगश्चिन्त्यः ।
भागुरिः—आचार्यः । अपिसाहचर्यादवेऽप्यादेरकारस्यैव लोपः । इदं भाष्ये
न दृश्यते । निश्दिशोरिगुपधलक्षणे के ऽदन्तत्वादेव टाप् । किनि दिगि-
त्यपि । अत एव “ङ्याप्पातिपदिकात्” इति सूत्रे “आब्रह्मणं न कार्यम्,
अकारान्ताट्टाप् तत्रान्तवद्भावात्पातिपदिकत्वेनैव सिद्धम् ; यस्तर्ह्यनकारा-
न्तात् कुश्चा उष्णिहा देवविशा इति, अत्राप्यकारान्तादेव; कुश्चानालभेत,
उष्णिहककुभौ, देवविशमिति, *अन्त्ये “कप्रत्यय एवंविषयः” इत्युक्त्वा
बहुराजेति डावन्तार्थमाब्रह्मणम्” इति भाष्ये उक्तं सङ्गच्छते । तस्माद्वाचेत्य-
साध्वेवेति शिवम् ।

इति अव्ययानि ॥

ननु देवविशमिति हलन्तत्वेऽप्युपपद्यते, द्वितीयैकवचने हलन्ता-
दन्तयो रूपे विशेषाभावात्, तत् कथं तस्य प्रयोगस्य अदन्तदेवविशशब्द-
साधुत्वनिर्णायकत्वम्—अत आह *अन्त्ये इति । अन्त्ये देवविशमित्यत्र
रूपे विशेषाभावेऽपि स्वरे विशेषः । अदन्तत्वे हि देवविशशब्दस्य कप्रत्ययान्त-
त्वात् थाथादिस्वरेणान्तोदात्तत्वे अम्बिभक्तेरनुदात्तत्वेऽपि “एकादेश उदात्ते-
नोदात्तः” इत्यनेनैकादेशस्योदात्तत्वात् देवविशमित्यन्तोदात्तं श्रूयते । हल-
न्तत्वे तु किनन्तत्वात् “गतिकारकोपपदात् कृत्” इति कृदुत्तरपदप्रकृतिस्व-
रेणान्तोदान्तत्वे विभक्तेरनुदात्तत्वे “उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः” इति स्वरित-
त्वे च देवविशमिति स्वरितान्तं प्रसज्येत—इत्येवं विशेषमुपपाद्य “तस्मात्
क एष एवंविषयः” इत्युपसंहृतं भाष्ये । “तस्मात्—स्वरविशेषश्रवणात् एवंविष-
यः—स्वरविशेषविषयः एषः—देवविशमित्यत्र श्रूयमाणोऽकारः कः—कप्रत्ययः”
इति भाष्यफक्किकार्थः । तस्मात् देवविशशब्दस्यादन्तत्वलाभात् अदन्तादेव दे-
वविशेत्यत्र टाप् । ततश्च आब्रह्मणं व्यर्थमिति शङ्कायां बहुराजेति डावन्ता-
र्थं तदिति समाहितम् । निशेत्यादौ हलन्तेभ्यष्टाप्स्वीकारे तु तदर्थमेवा-
ब्रह्मणस्यावश्यकत्वात् डाप्पर्यन्तानुधावनं व्यर्थं स्यादिति भावः ।

इत्यव्ययानि ॥

स्त्रियाम् ॥ अचेतनखट्वावृक्षादिसाधारणं लिङ्गन्तु *सत्त्वा-
दीनां गुणानामुपचयापचयस्थितिरूपं क्रमेण पुंस्त्रीनपुंसकाख्यम् 'एकार्ये
शब्दान्यत्वाद् दृष्टं लिङ्गान्यत्वम्' इति भाष्योक्तेरर्थनिष्ठं केवलान्वयि । इयं व्य-
क्तिः, इदं वस्तु, अयं पदार्थ इति त्रिविधव्यवहारस्य पदार्थमात्रे सत्त्वात् । केन
चिच्छब्देन किञ्चिद्वस्तु एकैकविशिष्टमेव, केन चित्पर्यायेण लिङ्गद्वयविशिष्टं,
केन चिल्लिङ्गत्रयविशिष्टमिति लिङ्गानुशासनादितो निर्णयम् । तत्र

“स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः”

इत्यादिलौकिकलिङ्गासम्भवे शास्त्रीयं कार्यं शास्त्रीये उक्ते एव । तत्संभवे
तु शास्त्रीयविशिष्टे लौकिके । शास्त्रीयमपि शब्दतो बुद्ध्यते, तथा ऽनुभवात् ।
उपचयापचययोः स्थितेरपि सत्त्वेन तन्मात्रविवक्षायां “सामान्ये नपुंसकम्”
इति प्रवाद इत्यन्यत्र विस्तरः । अत इति । वर्णग्रहणात्तदन्तविधिस्तदाह-

ननु स्तनकेशवती स्त्री इत्यत्र केशशब्दस्य भगवाचकत्वाद्भगवत्वं
स्त्रीत्वं, लोमशः पुरुषः इत्यत्र लोमन्—शब्दस्य शिश्नवाचित्वाच्छिश्नवत्वं
पुंस्त्वं, तत्तदाकारमात्रधारकत्वं नपुंसकत्वम्—इति परिभाषितानि स्त्रीत्वादी-
नि अप्राणिषु खट्वादिषु नोपलभ्यन्ते इति कथं तद्वाचकशब्देभ्यश्चावादिता-
र्थम्—अत आह *सत्त्वादीनामिति । सत्त्वरजस्तमसामुपचयः पुंस्त्वम्, ते-
षामपचयः स्त्रीत्वम्, तेषां स्थितिः नपुंसकत्वमित्यर्थः । उपचयापचयावेव
भाष्यकारेण प्रसवसंस्त्यानशब्दाभ्यामुक्तौ । प्रसव आविर्भावः, संस्त्यानं
तिरोभाव इति च कैयटेन व्याख्यातम् । उपचयापचययोरपि अन्ततः सा-
ङ्ग्यादिमते तद्रूपत्वात् । चितिशक्तिं विना सर्वेषां पदार्थानां परिणामित्वा-
दाविर्भावतिरोभावधर्मकत्वं, मध्ये स्थितेरण्यवश्यम्भावात् स्थितिधर्मकत्वं
चेति उपचयापचयस्थितयः पदार्थमात्रधर्मा इति अप्राणिखट्वावृक्षादिसाधारणं
गुणोपचयादिरूपं लिङ्गम् । यद्यप्यवस्थात्रयं प्राकृतपदार्थमात्रवृत्तिं तथापि
कस्यचिच्छब्दस्य उपचयावस्थावैशिष्ट्येन बोधकत्वं, कस्य चिच्चापचयावस्थावै-
शिष्ट्येन, कस्यचित् स्थित्यवस्थावैशिष्ट्येन, कस्यचिदवस्थाद्वयवैशिष्ट्ये-
न, कस्यचित् अवस्थात्रयवैशिष्ट्येनेति लिङ्गानुशासनतो वृद्धव्यवहारतश्च
निर्णयते । दृश्यते च घटादिशब्देभ्यो गुणोपचयवैशिष्ट्येन प्रतीतिः, घट्यादि-
शब्देभ्यश्च तदपचयवैशिष्ट्येन । एतेन अचेतनखट्वादौ स्त्रीत्वादिरूपलिङ्गा-
भावात् खट्वादिशब्दानां स्त्रीलिङ्गादिसंज्ञा एवेति केषां चिदुक्तिः परास्ता ।
ननु गुणोपचयादिरूपाणां पुंस्त्वादीनां निरवस्थे पुरुषेऽभावात् पुरुषः, चितिः,
चैतन्यम् इति प्रतीत्यनुपपत्तिरिति चेन्न । तस्य निर्धर्मकत्वेन पदवाच्यत्वास-
म्भवेन शब्दप्रतीतिविषयत्वस्याप्यनङ्गीकारात् । अत एव किञ्चिद्वर्णिनिष्ठात्यन्ता-

अकारान्तस्य चेति । वाच्यं यत् स्त्रीत्वमिति । *तद्वाच्यार्थगतं यत्तद्वाच्यं स्त्रीत्वमित्यर्थः । एवं व्याख्यानं फलमग्रे स्फुटम् । तत्र

भावप्रतियोगित्वरूपकेवलान्वयित्वाचोक्तिः स्त्रीत्वादीनां सङ्गच्छते । किञ्चिद्धर्म-
रोपेण वाच्यत्वमुपपाद्य शब्दप्रतीतिविषयत्वोपपादने तु पुंस्त्वादेरप्यारोपेण
पुरुष इत्यादिप्रतीतिरुपपद्यते इति दिक् ।

*तद्वाच्यार्थगतमिति । अजाद्यत इत्यस्य पञ्चम्यन्तत्वे अमहत्पूर्व-
ग्रहणेन स्त्रीप्रत्यये तदन्तविधिज्ञापनात् वनोरचेत्यादाविवात्रापि तदन्तविधौ
स्त्रियां वर्तमानात् अजशब्दान्तात् प्रातिपदिकात् इत्यर्थे पञ्चाजीत्यत्रापि टाप्-
सज्यत । अतः अजादोति लुप्तषष्ठोकं पृथक्पदमाश्रित्य अजादेः स्त्रीत्वे इत्येवं
योजनेन अजादिपदस्यार्थप्रधानार्थकत्वेन अजादिपदार्थगतस्त्रीत्वे वर्तमानात्
(अर्थात् स्त्रीत्ववाचकात्) प्रातिपदिकात् टाबित्यर्थ आश्रितः । अजादीनां वाच्यं
यत्स्त्रीत्वमिति तु फलितार्थकथनम् । तथाच पञ्चाजीत्यत्र समुदायवाच्यस्त्री-
त्वस्य अजशब्दवाच्यार्थगतत्वाभावात् टाप् । ननु तदन्तविधिनिरासाय षष्ठ्य-
न्तत्वमाश्रीयताम्, अर्थप्रधानार्थकत्वं किमिति अजादीतिपदस्याश्रीयते । तावता-
ऽपि तस्य स्त्रीत्वेऽन्वयात् पर्याप्तेरौत्सर्गिकत्वात् अजादिमात्रवाच्यस्त्रीत्वइत्यर्थला-
भात् पञ्चाजीत्यत्र स्त्रीत्वस्याजपदमात्रवाच्यत्वाभावेन टाब्वारणसम्भवात् इति
चेन्न । तथा सति अजः अः यस्याः सा इत्यर्थे निष्पन्नादजाशब्दाद्यापि स्वाद्युत्पत्तौ
हल्ङ्यादिलोपाद्यापत्तेः । पूर्वान्तवद्भावेन एकादेशविशिष्टे अजशब्दत्वस्या-
रोपेण तन्मात्रवाच्यत्वस्य स्त्रीत्वे सत्त्वात् । अर्थप्रधानार्थकत्वे तु उपस्थिता-
जत्वादिविशिष्टार्थगतस्त्रीत्वे इत्यर्थलाभात् प्रकृतेच अजत्वविशिष्टार्थगतस्त्री-
त्वाभावात् दोषः । तदर्थगतस्त्रीत्वे इत्यर्थेऽपि वाच्यत्वानिवेशे स्त्रीत्वोपलक्षि-
तार्थवाचकात् धनादिशब्दादपि अजैव धनामत्यादौ टाबापत्तिः, अतः स्त्रीत्व-
वाचकात् इति वक्तव्यम् । स्त्रीत्वे तद्वाच्यत्वविशेषणं तु फलितमेवेति
पूर्वमुक्तम् । अर्थप्रधाननिर्देशे साक्षात्तद्वाच्यत्वान्वयस्य तत्रालाभात् । एवं च
अजादिपदावच्छिन्नाजत्वाद्यवच्छिन्नधर्मितानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताकबोध-
तात्पर्येणोच्चरितात् प्रातिपदिकात् टाबित्यर्थः *पर्यवस्यति । अजादि-
पदावच्छिन्नेति विशेषणेन बर्करादिशब्देभ्यो न टाप् । अजाद्यर्थगतस्त्रीत्वे
इतियथाश्रुतार्थे तु ततश्चाद् दुर्वारः । अत एव अजसदृशस्य स्त्रीत्यर्थे अजेति
टाप् सिध्यति । यथाश्रुतार्थे तु अजत्वविशिष्टार्थगतस्त्रीत्वाभावात् स्यात् ।
अत एव च स्त्रीत्वाविवक्षया स्त्रीप्रत्ययाभावमुपपाद्य “कुक्कुट्यादीनामण्डा-
दिषु” इति वार्त्तिकं प्रत्याख्यातं भाष्ये । अजत्वाद्यवच्छिन्नत्वं च धर्मितायां
साक्षादेव ग्राह्यम् । तेन पञ्चाजीत्यत्र समाहारनिष्ठधर्मितायाः अजत्वावच्छिन्न-
त्वेष्वपि न टाप् । एवमेव “शूद्रा चामहत्पूर्वा जातिः” इत्यादावपि अनुसंधेय-
मित्यलम् ।

द्योत्ये इति । प्रत्ययार्थत्वे हि तस्य विशेष्यतापत्तिः* । द्योत्यस्य तु *विशेषणत्वमेवेति स्पष्टमाकरे । *वागादिषु विनाऽपि* टावादिकं तस्य बोधाच्च । अत एव 'व्यावक्रोशी' इत्यादौ "कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्" इति णचि "णचः स्त्रियाम्" इत्यणि च ङीप्सिद्धिः* । 'व्यतिलुनीते' इत्यादौ 'द्विर्वद्धं सुबद्धं भवति' इति न्यायेन समुच्चयस्य* दृष्टत्वात् । टाप्स्यादिति । स चाधिकारात्प्रातिपदिकादेव, तच्च सन्निधानादजादिरूपमेव ।

नन्व*जादिष्वकारान्तपाठो व्यर्थोऽत इत्येव सिद्धेरत आह-अ-

विशेष्यतापत्तिरिति । "प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थे धृतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्रधानम्" इति व्युत्पत्तेरित्यर्थः । तथा च 'औपगत्रः' इत्यत्रापत्य-रूपोऽर्थो विशेष्यः । *विशेषणत्वमिति* । तथा च राम इत्यादावेकत्व-विशिष्टो राम इति बोधः । क्वचित् (आख्याते) प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थेऽन्वयदर्शना-दाह-*वागादिष्विति* । अयं भावः-स्त्रीत्वस्य प्रकृतेः प्रत्ययस्य चोभ-यस्य वाच्यत्वे बोधावृत्तिप्रसङ्गः । विशिष्टवाच्यत्वे शक्ततावच्छेदक-गौरवम् । तस्मात्प्रत्ययप्रकृत्यन्यतरवाच्यत्वं वक्तव्यम् । तत्र प्रकृतिवा-च्यत्वस्यान्यत्र क्लृप्ततया ऽत्रापि प्रकृतिवाच्यत्वमेवेति स्त्रीत्वस्य प्रत्ययद्यो-त्यत्वे मानमाह-*विनापीति । *ङीप्सिद्धिरिति* । अन्यथा 'उक्तार्थानामप्रयो-गः' इत्यनेन ङीपोऽनापत्तिः स्यात् । ननु द्योत्यत्वेऽपि सैवापत्तिरत आह-
समुच्चयस्येति द्योतकसमुच्चयस्येत्यर्थः । एतेन द्योतकविषये नायं न्याय इति ध्वनितम् ।

अजाद्युक्तिरिति कर्मणि किन् । तेन कर्मण उक्तत्वात् षष्ठ्य-प्राप्तौ सप्तमीतत्पुरुषः । तदाह-*अजादिष्विति* अजादिष्वकारान्तानां पाठो व्यर्थ इत्याशयः । अत्र केचित् अजादिषु हलन्तानां पाठस्य ऊचाप्सूत्रस्य भाष्यप्रामाण्येन अव्ययप्रकरणे शेखरे खण्डितत्वादजादिपाठस्यैव वैयर्थ्यात् स-प्तमीतत्पुरुषं कल्पयित्वा व्याख्यानं प्राचामनुरोधेन । नच टाथामादेशः क्त्वा-यामिद् इति प्रयोगदर्शनात् अनदन्तानां टादिशब्दानां पाठ आवश्यक इति वाच्यम् । तत्र टाप्स्वारोपेणैव याडादिकार्याणामुपपादनीयत्वात् । अन्यथा ऊचाप्सूत्रस्य भाष्यविरोधात् । तत्रहि आब्रह्मणस्य टाब्विषये ऽन्तादिवद्भावेना-न्यथासिद्धिं प्रदर्श्य डावर्थत्वमुक्तम् । टाशब्दादिभ्यष्टापि तु तत्र परतः आतो-ऽनाप इत्यनैनैकवाक्यतया धातुग्रहणस्य आत्माननिवृत्त्यर्थतया आतो-धातोः इत्यनेन लोपे पूर्वान्तवद्भावाप्रवृत्तौ तत्र आब्रह्मणस्य चारिता-र्थ्यात् तदंशे अन्यथासिद्धिकथनमसङ्गते स्यात् इत्याहुः ॥

परेतु आतोधातोरिति सूत्रे आद्ग्रहणस्य स्त्रीत्वबोधकघटक-भिन्नाकारार्थकत्वस्य "न मु ने" इति सौत्रनिर्देशसिद्ध्यर्थम् आतोधा-तोरिति सूत्रे व्यवस्थापितत्वात् टाप्प्रकृतिभूतटाशब्दस्य स्त्रीत्वबोधकत्वात्

जाद्युक्तिरिति । *येननाप्राप्तिन्यायादिति भावः । एतेन ङीपि कृतेऽपि लिङ्गविशिष्टपरिभाषया टाप् चरितार्थ इत्यपास्तम् । ननु प्रत्ययविधौ पञ्चम्या युक्तत्वेनाजादिभ्यष्टाप् स्त्रीत्वे द्योत्ये इत्यर्थ एव युक्तः । स्त्रीत्वञ्च प्रत्यासत्त्या प्रकृत्यर्थनिष्ठमेवेत्यत आह—अजादिभिरिति । *व्याख्यानादेतत् षष्ठ्यन्तमिति भावः । अन्यत्र तु स्त्रियामिति तदन्तस्यापि *विशेषणं व्याख्यानादेव* । एवञ्च पञ्च सुत्वानो यस्यां सा *पञ्चसुत्वरीत्येव ।

पञ्चाजीति । पञ्चानामजानां समाहार इति द्विगौ “अकारान्तोत्तरपद” इति स्त्रीत्वे “द्विगोः” इति ङीप् । अजादिभ्य इति व्याख्याने ऽमहत्पूर्वग्रहणेनानुपसर्जनाधिकारेण च “वनो र् च” इत्यत्रेवात्रापि तदन्तविधिसम्भव इति भावः । न च तदन्तविधावपि श्रुतत्वात्स्त्रियामित्यजादीनामेव विशेषणमिति वाच्यम् । अनुपसर्जनाधिकारेण तदन्तग्रहणस्येव स्त्रियामित्यस्य तदन्तविशेषणत्वमित्यर्थस्यापि बोधनात् । अत्र हीति । समासे ऽजशब्दसत्त्वेऽपि समाहारनिष्ठं स्त्रीत्वं समुदायवाच्यं नाजशब्दमात्रवाच्यम् । सामर्थ्येनाजादिमात्रवाच्यस्त्रीत्वस्यैव ग्रहणादिति भावः । चटकेति । क्षिपकादित्वादित्वं न । ह्रस्व इति । असंज्ञायान्तु भस्त्राफलेत्येव । ‘संभस्त्रा’ इति, ‘सदच्’ इति, ‘मूलान्नजः’ इति च

तद्वाचकाकारे लोपाप्रवृत्त्या अन्तादिवद्भावस्य सूपादात्वेन अन्यथासिद्धिकथनं भाष्यकृतो नासङ्गतम् इति हलन्तानां पाठाभावेऽपि आकारान्तपाठोऽस्त्येवेति न सर्वथा अजाद्युक्तिवैयर्थ्यशङ्का, किन्तु अदन्तपाठवैयर्थ्यशङ्केवेति सप्तमीसमासेन व्याख्यानं स्वमतेनैव । अत एव उत्तरत्र शेखरे “अजादिराकृतिगणः तेन “न मु ने” इति सूत्रे “टायामादेश” इति भाष्यप्रयोगः सिद्धः” इति स्पष्टमेवोक्तमित्याहुः ।

एतेन अदन्तव्यतिरिक्तेषु अप्राप्तटावविधानार्थत्वेनाजादिपाठस्यावश्यकतयेदं चिन्त्यमित्यपास्तम् । (*येननेति* । तक्रन्यायस्य तु नात्र प्राप्तिः । अपवादोत्तरमुत्सर्गप्राप्तावेव तत्प्रवृत्त्या ऽत्र टावुत्तरं ङीषो ङीपो वा ऽदन्तत्वाभावादप्राप्तेः) । *व्याख्यानादेति* । “अजादिभिः स्त्रियं विशेषयिष्यामः, अजादीनां या स्त्री” इति भाष्योक्तादित्यर्थः । *तदन्तस्यापीति* । तदन्तस्यैवेत्यर्थः । *व्याख्यानादेवेति* । अनुपसर्जनाधिकारसामर्थ्यादित्यर्थः । अन्यथा तेन तदन्तविधिज्ञापनेऽपि तद्वैयर्थ्यस्य तादवस्थ्यात् । स्फुटीभविष्यति चेदमनुपदमेव । *पञ्चसुत्वरीति । चिन्त्यमेतत् । “अनो बहुव्रीहेः” इति निषेधात् ङीपोऽप्राप्तेः । अतिसुत्वरी, अतिर्धावरी इति तु युक्तम् ।

“पाककर्ण” इति प्राप्तस्य ङीषो बाधनार्थम् । एवञ्च ज्वेतफला त्रिफलेत्य-
प्यत्र बोध्यम् ।

शूद्रा चेति । जातिलक्षणङीषोऽपवादः । जातिश्चेद्वाच्येत्यर्थः ।
पञ्चशूद्रीति समाहारे जातिवाचकत्वाभावात् शूद्रशब्दार्थगतस्त्रीत्वाभावाच्च न
दोषः । जातिश्चेदित्यस्य कृत्यमाह-पुंयोगे त्विति । न चात्र गौणत्वम् ।
सदृशलाक्षणिकस्यैव* गौणत्वात् । गौणमुख्यन्यायस्य *पदकार्यविषयत्वा-
च्चेति भावः । अमहत्पूर्वेत्यत्रापि जातिश्चेदिति सम्बद्ध्यते । महत्पूर्वो न टापं
लभते जातिश्चेद्वाच्येति तदर्थः । तत्फलन्तु जात्यन्तरनिवृत्तिपरत्वे पूर्वज्ञाति
मात्रविवक्षया महच्छब्दस्य शूद्रशब्देन *मृगक्षीरकुक्कुटाण्डवत्समासे ततः

*सदृशलाक्षणिकस्यैवेति । यथा पुरुषकृतधर्माधर्माभ्यां पुण्यपापयोः
स्त्रीषु संक्रमः, एवं तद्वृत्तिधर्मान्तरस्यापीत्यग्रे वक्ष्यते । एवं च पत्नीत्वेनारोपो
न सदृशत्वेनेति बोध्यम् । *पदकार्यविषयत्वादिति* । स्त्रीत्वानिमित्तकत्वे
सति विभक्त्यनिमित्तकत्वं तत्त्वम् ।

तत्र स्त्रीत्वानिमित्तकत्वे सतीत्यस्य अजसदृशस्य स्त्रीत्यर्थे अजेति सिद्धिः
फलमिति बोध्यम् । यत्तु इदमेव जातिग्रहणं गौणमुख्यन्यायस्य पदकार्य-
विषयत्वे ज्ञापकमिति, तन्न । अप्रसिद्धसदृशलाक्षणिकानामेव गौणमुख्यन्याये
गौणपदेन ग्रहणात् पुंयोगलक्षणगौणे टावभावाय तस्य सार्थक्यात् ।

मृगक्षीरकुक्कुटाण्डवदिति । तत्र भाष्ये “कुक्कुट्यादीनाम्” इति-
वार्तिकप्रत्याख्यानाय पूर्वं स्त्रीत्वाविवक्षया सिद्धानां कुक्कुटस्येत्यादीनाम्
अण्डादिशब्दैः समासे समीहितरूपासिद्धिरित्युक्तं, तथा प्रकृतेऽपीति भावः ।
नचैवमनुपसर्जनधिकारस्य तदन्तविधिज्ञापकत्वं न सङ्गच्छेत, पूर्वं स्त्री-
त्वाविवक्षायां बहुशब्दस्य कुरुचरशब्देन समासे पश्चात्ताद्विवक्षायां प्राप्तङी-
ष्वारणार्थं तस्य चारितार्थसंभवादिति वाच्यम् । कुरुचरशब्दस्य बहु-
शब्देन समासे कुरुचरपदार्थमात्रे “वृत्तस्य विशेषणयोगो न” इत्यनेन स्त्री-
त्वान्वयासम्भवेन कुरुचरमात्रान्ङीषोऽप्राप्त्या चारितार्थानवकाशात् । अत्र तु
महच्छब्देन समासे विशिष्टे स्त्रीत्वान्वयेऽपि तदन्तविधेः सत्त्वेन जाति-
वाचकशूद्रशब्दान्तात्प्रातिपदिकाद्वाचित्यर्थात् टाप् सिध्यति । अमहत्पूर्वेत्यत्र
जातिरित्यस्याभावे तेन निषेधाद्वाप् न स्यात् । अतस्तत्र जातिरित्यस्य
सम्बन्ध आवश्यकः । केचित्तु प्रत्याख्यानपरभाष्यप्रामाण्येन मृगक्षीरादौ तथा
कल्पनेऽपि सर्वत्र तथा कल्पने मानाभावः । अत एव च कृतपूर्वी कटमि-
त्यत्र “एवं रीत्या साधुत्वे ऽत्रत्यं भाष्यमेव मानम्” इति स्वोक्तिः सङ्गच्छते ।
अमहत्पूर्वेत्यत्र जातिरित्यस्य सम्बन्धफलं तु महाशूद्रेत्यत्र महच्छब्दस्य

*स्त्रीत्वविवक्षायां महतीशूद्रेत्यर्थे महाशूद्रेति टावेव । अमहत्पूर्वेत्यत्र जातिरित्यस्यासम्बन्धेऽनुपसर्जनाधिकारेण प्रधानेन तदन्तविधिसत्त्वात् “जातेः” इति ङीष् स्यात् । शूद्रशब्दे जातिवाचकत्वस्य, स्त्रीत्वे *शूद्रशब्दार्थसमवेतत्वस्यापि सत्त्वेनात्र टाप् निर्वाध इति भाष्यप्रदीपोद्घोते निरूपितम् । महाशूद्रीति । “आभीरी तु महाशूद्री” इत्यमरः । ब्राह्मणादुग्रकन्यायामाभीरः । नृपाच्छूद्रायामुत्पन्नोऽग्रजातिकन्या । अत्रानुलोमसङ्कराणां *मातृ-

शूद्रशब्देन समासात् प्रागेव शूद्रा चेति प्राप्तटापः “यद्यत्र टाप् स्यात् तर्हि-महच्छब्देन समासेऽमहत्पूर्वेति निषेधः स्यात्” इति सम्भावनायाः सत्त्वादुपसङ्गनिष्यमाणन्यायेन अमहत्पूर्वेति निषेधाभाव एव । तदसम्बन्धे तु तेन न्यायेन तत्र निषेधप्रवृत्तिर्दुर्वारैवे वेत्याहुः । अन्येतु उपसङ्गनिष्यमाणन्यायेन भविष्यदपवादविषयातिरिक्तत्वेन सङ्कोचेऽपि तद्घटकातिरिक्तत्वेन संकोचे मानाभावेन तत्र अमहत्पूर्वेति निषेधप्रवृत्तौ मानाभावेन टापः सिद्ध्या न तत्र जातिरित्यस्य सम्बन्धस्य फलं निषेधाभावः, किन्तु पूर्वोक्तं कुक्कुटाण्डवत् समासे निषेधाभाव एव । अत्रापि अमहत्पूर्वेत्यत्र जातिरित्येतस्य सम्बन्धप्रतिपदिकभाष्यस्यैव पूर्वं स्त्रीत्वाविवक्षया समाससाधुत्वे प्रमाणत्वात् । अत एव गतिकारकोपपदानामित्यस्य व्याघ्री अश्वक्रीती इति फलमुक्तं भाष्ये । अत एवचायजं इन्द्रमित्यादौ गुणसिद्धिः इति प्राहुः ॥

स्त्रीत्वविवक्षायामिति । ननु शूद्रशब्दे लिङ्गाविवक्षायां नपुंसकत्वेन “परवल्लिङ्गम्” इति नपुंसकत्वापत्तिरिति चेन्न । अवयवात्समुदायाच्च स्त्रीत्वविवक्षायामवयवस्य स्त्रीलिङ्गत्वेन तस्यैवातिदेशात् । न च महत्पूर्वकशूद्रशब्दान्तप्रातिपदिकात् टाव् नेत्यर्थे महाशूद्रशब्दस्य महत्पूर्वत्वेऽपि शूद्रशब्दस्य तत्त्वाभावात् टाप् सुस्थ इति वाच्यम् । तथा सत्यमहत्पूर्वग्रहणवैयर्थ्येन महच्छब्दपूर्वकशूद्रशब्दान्तप्रातिपदिकावयवाद्वा नेत्यर्थस्वीकारेणादोषात् । स्त्रीत्वबोधकप्रत्ययस्यावयवात् समुदायाच्च प्राप्तौ वृक्षप्रचलनन्यायेन समुदायादेव प्राप्तेः सत्त्वाच्च । ननु विशिष्टाल्लिङ्गाविवक्षायां नपुंसकत्वापत्तिः । विशिष्टात् लिङ्गसामान्याविवक्षायामस्य लिङ्गद्वयकार्यभाक्त्वस्य भङ्गापत्त्या विशिष्टात्तद्विवक्षैवेति स्वीकारत् । अन्यथा ऽस्य लिङ्गत्रयप्रयुक्तकार्यभाक्त्वेन नियतलिङ्गकत्वभङ्गापत्तिः ।

*शूद्रशब्दार्थेति । स्त्रीत्वे शूद्रत्वावच्छिन्नधर्मितानिरूपितप्रकारत्वस्य सत्त्वेनेत्यर्थः । तन्मात्रावच्छिन्नत्वनिवेशे मानाभावादिति भावः ।

*मातृजातिवृत्तित्वादिति । स्मृतिषु मातृजातिकर्मोपजीवित्वस्योक्तत्वात् आभीरेषु शूद्रत्वजातिमारोप्य शूद्रशब्दप्रयोगेण शूद्रत्वावच्छिन्नधर्मितानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकतापर्याप्त्यधिकरणत्वं जातिवाचकशूद्रशब्दान्तत्वं च महाशूद्रशब्देऽस्तीति टाप् स्यात् । तन्मा मूदिति अमहत्पूर्व-

जातिवृत्तित्वात्तत्र तां जातिमारोप्य शूद्रशब्दप्रयोग इत्ययं शूद्रशब्दो-
 र्थवानेवेति शूद्रशब्दार्थसमवेतस्त्रीत्वमप्यत्रास्ति । तदर्थसमवेतस्त्री-
 त्वेऽपि शूद्रशब्दादेव टाप् स्यान्न तदन्तात्, “ग्रहणवता” इति निषेधादिति
 तदन्तविधिज्ञापकता नासङ्गता । अत एव शङ्खस्मृतौ “ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यैः
 क्षत्रियावैश्याशूद्रासूतपन्नाः क्षत्रियवैश्यशूद्रा एव भवन्ति” इत्युक्तमिति भावः ।

यत्तु शूद्राभीरमित्यादौ *सामान्यविशेषवाचित्वाद् द्वन्द्वाभावमाशङ्क्य
 ‘आभीरा जात्यन्तराणि’ इति “त्यदादीनि” इति सूत्रे भाष्ये उक्तं, तत्तु अना-
 रोपाभिप्रायेणेति न तद्विरोधः । अजादिराकृतिगणः । तेन “न मु ने”
 इति सूत्रे ‘टायामादेशः’ इति भाष्यप्रयोगः सिद्धः । प्रथमाध्यायचतुर्थपादे
 “चमसवदविशेषात्” इति सूत्रे शाङ्करभाष्यवाचस्पत्ययोरजायां ‘छागा’ इति
 टावन्तप्रयोगो दृश्यते ऽतश्छागशब्दोऽप्यजादिष्विति *के चित् ।

उगितश्च । उगिच्छब्देन प्रातिपदिकस्य विशेषणात्त-
 दन्तविधिः । प्रत्ययविधाविति निषेधस्तु न । “उगि-
 र्द्वर्णग्रहणवर्जम्” इत्युक्तेः* तदाह—उगिदन्तादिति । भवतीति ।
 “व्यपदेशिवद्भावो ऽप्रातिपदिकेन” इति निषेधस्तु सूत्रोपात्तान्तादिशब्द-
 विषय* एवेति भावः । भवतु इति उगितः प्रातिपदिकस्यापि सत्त्वात्

ग्रहणम् । तदन्तविध्यसत्त्वे महत्त्वविशिष्टशूद्रत्वावच्छिन्ने एव स्त्रीत्वान्व-
 यात् शूद्रत्वावच्छिन्नधर्मिष्ठानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वपर्याप्तिर्महा-
 शूद्रशब्दे एव न शूद्रशब्दे इति न ततष्ठाप्प्रसक्तिरिति अमहत्पूर्वग्रहणस्य तद-
 न्तविधिज्ञापकत्वं सङ्गच्छते । सति तु तदन्तविधौ उक्तीत्या टापः प्राप्तौ अम-
 हत्पूर्वेति निषेधश्चरितार्थ इति प्रघट्टकार्थः ॥

सामान्यविशेषवाचित्वाद् द्वन्द्वाभावमिति । साहित्याभावादि-
 त्यर्थः । केचिदिति* । भाष्यतत्त्वविदः । यत्तु केचिदिति प्रती-
 कमुपादाय अत्रारुचिर्वाजं तु बहुशः ‘छागी’ इति प्रयोगदर्शनात् तत्पाठस्य
 भाष्यानुक्तत्वाच्च सोऽसाधुरिति वदन्ति, तत्तु नागेशशयमबुद्ध्वा भ्रान्तानामना-
 दरणीयमेव । तदाशयस्तूभयप्रयोगदर्शनादजादिगणे अन्यगणसूत्रवत् ‘छागाद्वा’
 इति पठनीयमिति । छागा इति प्रयोगं वदन् बोधायनसूत्रकारोऽप्यत्रैवानुकूलः ।

इत्युक्तेरिति । अनुपसर्जनाधिकारेणामहत्पूर्वग्रहणेन च स्त्रीप्रत्यये
 तदन्तविधेर्ज्ञापितत्वाच्चेत्यपि बोध्यम् । *सूत्रोपात्तान्तादिशब्दविषय एवेति ।
 एवं च रौण इति सिद्धौ स्वस्येत्यनुवृत्त्यर्थं चकारो न कार्य इति
 भावः । वस्तुतस्तु एतत्सर्वं कैयटमतेन । नागेशमते तु नायं नियमः । अत एव त-

प्रत्ययमात्रग्रहणाभावेन “प्रत्ययग्रहणे” इति परिभाषाया अप्रवृत्त्या *निर्य-
वमतीत्यादौ न दोषः । अश्रुतेस्त्विति* । नलोपिनोऽश्रुतेरित्यर्थः ।
नियमोऽपि नलोप्यश्रुतिविषय एवेति निरूपितम् ।

व्यपदेशिवद्भावबलमर्थं स्पष्टप्रतिपत्तये आह—वन्नन्तादिति ।
नन्वेवं प्रत्ययग्रहणपरिभाषया बहुव्रीहरी न सिद्ध्येदत आह—तदन्ता-
च्चति । तत्परिभाषालब्धवन्नन्तेन *प्रातिपदिकस्य विशेषणादिति भावः ।
सामान्येति । सूत्रे ऽनुबन्धानुच्चारणात्तदनुबन्धकपरिभाषाया विषयो
नेति भावः । इदं “मतुवसोः” “जाग्रो वि” इति सूत्रेषु भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् ।
इदं सूत्रं न ङीब्विधायकं, किं तु “ऋन्नेभ्यः” इति प्राप्तङीबनुवादेन तत्सं-
नियोगाशिष्टरभावमात्रविधायकम् । उभयविधौ गौरवात् । शर्वरीति ।
शृधातोः “अन्येभ्योऽपि दृश्यते” इति वनिप् । एतत्सिद्ध्यर्थमाह—*हश-
न्ताद्विहित इति । अर्थवतो ग्रहणाच्चेह—मघोनी । कनिप्रत्ययान्तनि-
पातितस्येदम् ।

बहुव्रीहौ वा ॥ “अनो बहुव्रीहेः” इति प्रतिषेधे प्राप्ते इदम् । एतच्च
वार्तिकम् अन उयधा’ इतिसिद्धङीबनुवादेन रादेशविधायकम् । अत एवेद-
मनुपधालोपिनि सुपर्वत्यादौ नेति विकल्पोऽर्थसिद्धः । “वनो र च” इत्येत-
त्तु ऋन्नेभ्य इत्येतन्ङीब्विषयमेवेत्युक्तम् । पक्षे डाबिति । तेन द्विवचने
रूपत्रयम् ।

कृतसमासान्त इति । उत्तरसूत्रे ऋन्पभिधेयायां तस्यैव स-
म्भवेनार्थाधिकारानुरोधादिति भावः । तेन पादयतेः क्विबन्तस्य ग्रहणं

त्परिभाषाऽवतरणे एकगोपूर्वादित्यस्योपादानं सङ्गच्छते । तन्मते समाधिस्तु
प्रातिपदिकग्रहणे एव तत्परिभाषाप्रवृत्तिस्वाकार इति । तत्त्वं च उगिद्ग्रहणभि-
न्नत्वे सति वर्णग्रहणभिन्नत्वे सति प्रत्ययग्रहणभिन्नत्वम् । एतत्सर्वम् “इयं
प्रातिपदिकग्रहणे एव” इति व्याख्याने तत्रैव परिभाषन्दुशेखरटिप्पण्यां स्पष्टम् ।
निर्यवमतीति । यवमतो निष्कान्ता इति विग्रहः । एतेन वृत्तेः पूर्वं ङीबित्य-
पास्तम् । *नलोपिनोऽश्रुतेरिति । अत एव पूजायां प्राञ्ची इत्यसाध्वेवेति भावः ।

प्रातिपदिकस्य विशेषणादिति । विशेष्यान्तरसत्त्वेऽप्यत्र तदन्तवि-
धिरनुत्तरपदस्थग्रहणादिति भावः ।

*हशन्तादिति । शर्वरीतिसिद्ध्यर्थमेव विहितविशेषणं हशग्रहण-
मिति भाष्योक्तेः ।

न । द्विपदीति । द्वौ पादावस्या इति बहुव्रीहौ “संख्यासुपूर्वस्य” इति पाद-
शब्दान्तलोपस्ततो ङीपि पादः पत् ।

टाबृचि ॥ पूर्वसूत्रप्राप्तङीपोऽपवाद इति प्राञ्चः, तच्चिन्त्यम् ।
“शेषाद्विभाषा” इति सूत्रस्थभाष्यविरोधात् । तत्र हि प्रतिपदविहितसमा-
सान्तानां कपो वैकल्पिकत्वेन कवभावे सावकाशत्वमुक्तं, तद्वीत्या-
ऽस्यापि पूर्वसूत्रस्य वैकल्पिकत्वेन तदभावे सावकाशत्वात् । “बहुव्रीहे-
रुधसः” इत्यत्रापि भाष्ये स्पष्टमेतत् । *अत एव “ङ्याप्प्रातिपदिकात्” इति
सूत्रे पादशब्दसमानार्थमकारान्तं पदशब्दमङ्गीकृत्यैतत्प्रत्याख्यातम्, “श्रूयते
च छन्दसि तस्याः सप्ताक्षरमेकं पदम्, एकः पाद इत्यर्थः” इति च
भाष्योक्तं सङ्गच्छते । *तदा हि ऋच्यपि एकपदी एकपात् इतीष्यत एव ।
एवञ्च एकपाद् ऋक् इत्यस्य सूत्रमते सिद्धये “टाबृचि” इत्यत्राप्यन्यतरस्या-
ङ्गणमनुवर्त्यम् । *पादन्तस्य ऋच्यनभिधानमिति तु न भाष्याशयः ।
*ङीबन्तप्रयोगस्य सूत्ररीत्येष्टस्यासिद्ध्यापत्तेरिति बोध्यम् । केवलपाच्छ-
ब्दस्य स्त्रियाम् ऋचि वा ऽसम्भवेनात्र तदन्तविधिः ।

अत एव ङ्याप्प्रातिपदिकादितीति । भाष्यकृता पाच्छब्दसमाना-
र्थकपदशब्दान्ताद् द्विपदेति संसाध्य सूत्रं प्रत्याख्यातम् । तदा पाच्छब्दान्तात्
ङीपि द्विपदीति इष्यते एव । अपवादत्ववादिनां नये तु द्विपदीत्यस्याभावा-
त्प्रत्याख्यानमसङ्गतमेव स्यात् ।

ननु प्रत्याख्यानपक्षे ङीपो वैकल्पिकत्वात् ऋचि वाच्यायामेकपदा एकप-
दी एकपादिति रूपत्रयम् । आरम्भपक्षे तु एकपदी एकपदा इति रूपद्वयमिति
तत्रापि फलभेदोऽस्त्येवेत्यत आह—*तदा हीति* । उभयविकल्पे रूपत्रयं
फलितमिति भावः । न च त्वयापि अपवादत्वमस्वीकृत्यैका कल्पना करणी-
या । मयाप्यारम्भप्रत्याख्यानयोः फलैक्याय ऋचि वाच्यायां पादन्तस्यान-
भिधानमिति कल्प्यते । ततश्च न भाष्यविरोधो ऽत आह—*पादन्तस्येति ।
*ङीबन्तप्रयोगस्य सूत्ररीत्येष्टस्येति । ननु ऋचि वाच्यायां पादन्तस्यानभिधाने
एकपदेति टावन्तप्रयोगस्यैवेष्टत्वात् ङीबन्तप्रयोगस्येष्टत्वकथनमसङ्गतम् ।
न च प्रत्याख्यानपरभाष्यमते पाच्छब्दान्तस्य अनभिधानमिति, एकपदेत्येव,
सूत्रकारमते टाबृचीतिसूत्रकरणादेव नानभिधानमिति अपवादत्वाभावपक्षे
एकपदी एकपदा इति रूपद्वयमिति फलभेदः स्पष्ट एवेति अनभिधानं न
कल्पनीयं, किं तु तत्पक्षे रूपत्रयस्येष्टत्वादारम्भपक्षेऽपि अन्यतरस्याङ्गणानु-
वृत्त्या रूपत्रयस्येष्टत्वमिति ङीबन्तप्रयोगस्येष्टत्वकथनं नासङ्गतमिति वाच्यम् ।
सूत्रकारमतेऽपि टाबुद्देश्यत्वेनापरिकल्पितऋवाचकपाच्छब्दान्तस्यानभिधान-

असिद्धत्वादिति । *आपः परिगणितेष्वभावान्न
तत्र नलोपासिद्धत्वम् । इदञ्च कार्यकालपक्षे* । अयं
निषेधः प्रियपञ्चा द्रौपदी इत्यादौ *तदन्ते ऽपि । 'स्त्रियां यत्प्राप्नोति तन्न'
इत्यर्थात् "अन उपधा" इति ङीवपि नेति बोध्यम् । *ध्वनितश्चेदं भाष्ये ।
*परे त्वत्र बहिरङ्गासिद्धत्वाप्राप्तिः । नलोपस्य तत्त्वाभावात् । संज्ञाकृत-

कल्पने अपवादत्वाभाववादिनामपि फलभेदाभावेन एतादृशकपोलकल्पनाया
अनुचितत्वात् । ततश्च ङीवन्तप्रयोगस्येष्टत्वकथनमयुक्तमेवेति चेत्—अत्र
केचित्—“शेषाद्विभाषा” इति सूत्रस्थभाष्याविरोधायापवादत्वाभावस्य पूर्वमेव
सुसाधितत्वेनेष्टप्रयोगासिद्धिरिति वदन्ति, ते तु अतएवेत्यादितोऽपवादत्वाभाव-
ज्ञापनाय प्रवृत्तग्रन्थात्पूर्वमेवापवादत्वाभावसिद्धिभिमानिनः समुपेक्ष्या एव । “न
षट्स्वस्त्रादिभ्यः” इत्यनेन टावृङी गुरुभयोर्निषेधार्थम् “ऋन्नेभ्यः” इत्यतो ङीबनु-
वृत्तिरावश्यकौ । तस्यां मण्डूकप्लुतौ मानाभावेन “टावृचि” इत्यत्रापि तदनुवृत्ति-
निरावाधैव । एवं च सूत्ररीत्येष्टस्येत्यादिग्रन्थः सुललित इति परे । अन्ये तु
ङीप्पदे मण्डूकानुवृत्तिप्रयोजकस्वरितत्वस्यैव कल्पनेन टावृचीत्यत्र ङीबनुवृत्त्य-
भावेन सूत्रमते एकपदीत्यस्यानिष्टत्वेन अनभिधानेऽपि न फलभेद इत्याहुः ।

आपः परिगणितेष्वभावादिति । “नलोपः सुप्” इति सूत्रे इत्यर्थः ।
सुबिति आपः पकारेण प्रत्याहाराश्रयणेन आबिध्वावपि असिद्धत्वं तु न शङ्क्यम् ।
बहुचर्मिकेत्यादौ आबुनिमित्तकेत्वाविधावपि नलोपस्यासिद्धत्वादित्वानापत्तेरिति
स्पष्टं भाष्ये । *कार्यकालेति* । यथोद्देशे तु स्थानिवत्त्वेनैव षट्त्वं सुलभम् ।
तस्य संकेतसंबन्धेन षट्पदवत्त्वरूपत्वेन अलधर्मत्वाभावादिति भावः ।

*तदन्तेऽपीति । स्त्रीप्रत्यये तदन्तविधिसत्त्वात् अर्थप्राधान्याश्रयणे
मानाभावाच्चेति भावः ।

*ध्वनितमिति । तत्रहि अनन्तरस्य ङीपो निषेधे पञ्चेत्यत्र टापो नि-
षेधो न स्यादित्याशङ्क्य उभौ न भवत इति व्याख्याय “अथवा उभाविति
न वक्तव्यम्, स्त्रियां यत्प्राप्नोति तस्य प्रतिषेधः” इत्युक्तम् । तेन अनन्तरस्येत्या-
दिन्यायानाश्रयणात् ङीप इव विप्रकृष्टटापः, उत्तरस्य ङीपो, डापश्च निषेध इति
ध्वन्यते इति भावः ।

*नलोपः सुप् इति सूत्रे भाष्ये संज्ञाविधौ नलोपासिद्धत्वस्य न
फलम् । षट्संज्ञां विना विभक्तिलुकोऽभावेन नलोपाप्राप्त्या कृतायां षट्संज्ञायां
लुकि नलोपे च प्राप्तस्य टापः जातषट्त्वाश्रयणेनैव निषेधसिद्धेः इत्युक्तम् ।
दण्डिदत्तौ दत्तदण्डिनाविति घिसंज्ञायां प्रयोजनमुक्तम् । तत्र षट्त्वस्य अलधर्म-
त्वाभिषेधानुपपत्तिमाशङ्क्य बहिरङ्गपरिभाषया नलोपासिद्धत्वं कैपटेनोक्तम्-
तत्खण्डयति *परेत्विति । अत्रायं ग्रन्थः प्रक्षिप्तः, मूलसंदर्भविरोधादिति वदन्ति ।

बहिरङ्गत्वानाश्रयणात् । पञ्चेत्यत्र तु स्त्रियां यत्प्राप्नोति तन्नेत्यर्थाश्रयण*
बलाद् भूतपूर्वषट्त्वाश्रयो निषेधः । अत एव षट्संज्ञायां नलोपासिद्धत्वस्य
न फलमिति “नलोपः सुप्” इत्यत्र भाष्ये उक्तमित्याहुः ।

मनः ॥ न ङीबिति । अयम्, “अन” इति च उक्तीत्या टाब्ङी-
पोरुभयोरपि निषेधः । एतेन सीमभ्यां बहुयज्वभ्यां बहुधीवभ्यामित्यत्र
डाब्ङीपोरभावे नलोपे टाब् दुर्वार इत्यपास्तम् ।

डाबुभा ॥ उभाभ्यांग्रहणाभावे संनिहितस्यान एवानुवृत्तिः
सम्भाव्येत । वचनसामर्थ्याद् डाब्निषेधयोः पर्याये सिद्धे अन्यतरस्यामिति
स्पष्टार्थम् । भाष्ये त्वन्यतरस्याङ्ग्रहणं वाक्यभेदेन “अनो बहुव्रीहेः” इत्यनुवर्त्य
ततः पक्षे “ऋन्नेभ्यः” इति ङीबर्थम् । एवञ्च “अन उपधा” इति सूत्रं नियमार्थमिति
बहुधीवरीत्यत्र “ऋन्नेभ्यः” इति ङीबिति तत्सन्नियोगेन रेफादेशः सिद्ध्यती-
ति बहुव्रीहौ वेति वचनं प्रत्याख्यातम् । “*अन उपधा” इति “ऋन्नेभ्यः”
इत्यस्यैवानुवाद इति नियमस्य विधिमुखेन प्रवृत्तावपि न दोषः ।

अन उ । “बहुव्रीहेरुभस” इत्यतो बहुव्रीहेरिति “संख्या-
ऽव्ययादेः” इत्यतो ङीबिति चानुवर्तते । अनुपसर्जनादित्यनुवृत्तमप्यत्र न
सम्बद्ध्यते । तस्य गृह्यमाणविशेषणतया गृह्यमाणस्य चान्तबहुव्रीहाव-

आश्रयणेति । अनुपदोक्ते प्रियपञ्चा द्रौपदीत्यत्र डाबभावार्थं व्याख्या-
नस्य चारितार्थ्यादेतच्चिन्त्यमिति केचित् । अन्ये तु पूर्वोक्तलक्ष्यसिद्ध्यर्थमुक्तार्थ-
करणे टाबनुवृत्तेर्व्यर्थत्वाद् अर्थाश्रयणबलादित्यस्य अर्थाश्रयणप्रयोजकीभूतटाब-
नुवृत्तिसामर्थ्यादिति कथं चिद्योज्यमित्याहुः । वस्तुतस्तु षान्तनान्तसंख्या-
घाचकत्वसमानाधिकरणत्वोपलक्षितस्य संकेतसम्बन्धेन षट्पदवत्त्वरूपषट्त्व-
स्य अल्घर्मत्वाभावेन स्थानिवद्भावेनैवारोपाज्ञासिद्धत्वोपयोगः । एवं च
अर्थाश्रयणबलादित्यस्य अर्थस्वभावेनेत्यर्थः । भूतपूर्वेत्यादेशश्च पूर्वं भूतं-
स्थानिनि स्थितं षट्त्वमादायेत्यर्थः । स्थानिवत्त्वेनेति शेषः । यद्वा कार्यकालपक्ष-
यदा कार्यं तदा संज्ञाया आवश्यकत्वात् तस्याश्च नलोपोत्तरं नान्तत्वाभावेना-
प्राप्त्या भूतपूर्वगत्याश्रयणम् । अत एव च अर्थाश्रयणबलादिति हेतूपन्यासः ।
एवं च न कश्चिद्विरोध इत्यलम् ।

ननु नियमशास्त्राणां लाघवाद्बिधिमुखेनैव प्रवृत्त्या वक्षन्तबहुव्रीहौ
अनउपधेति ङीपि “ऋन्नेभ्यः” इतिङीबनुवादेन विधीयमानो रादेशो न स्यादत-
आह—*अन उपधेतीति* ।

नुपसर्जनस्यासम्भवात्* । *ध्वनितश्चेदं “वनो र च” इति सूत्रे भाष्ये ।
*तत्र हि “अनो बहुव्रीहेः” इत्यनन्तरम् “उपधालोपिनो वा” इति न्यासो
दर्शितः । विद्वर्थमिदम् । अन्यतरस्याङ्ग्रहणं तु अनुपधालोपिसुपूर्वेत्यादौ
सावकाशयोर्दोषप्रतिषेधयोरुपधालोपिन्यनवकाशेन ङीपा बाधो मा भूदिति ।
अन्यथा विधानसामर्थ्येन त्रयाणां पर्यायसिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ।

ककारादिति । *अनेन वर्णमात्रं विवक्षितम्, अकार उच्चारणार्थं
इति सूचयति । न च कारिकेत्यत्राकारेण व्यवधानादाप्परककाराभावेने-
त्वानापत्तिः, एकादेशेऽपि “अचः परस्मिन्” इति स्थानिवत्त्वाद् व्यवधानमेव ।
आपि परतो ऽकारस्य कात्पूर्वस्येत्यर्थेऽपि निर्दिष्टपरिभाषोपस्थितेर्व्यव-
हिते *न प्राप्नोतीति वाच्यम् । आनन्तर्यांशोपस्थितावपि ‘येन नाव्य-
वधानम्’ इति न्यायेनाकारव्यवधानेऽपि प्रवृत्तेः । रथकट्यादौ च नातिप्र-
सङ्गः । क इति सङ्घातग्रहणे तु एतिका इत्याद्यासिद्धिः । अकच्यकारस्यो-
च्चारणार्थतया कश्चदाभावात् । “न यासयोः” इति ज्ञापकेन वर्णग्रहणमि-
त्येव ज्ञाप्यते । अकज्विधायकस्थमकारवैशिष्ट्यमादायेत्वप्रवृत्तिज्ञापकत्वा-
श्रयणे तु गौरवम् । तावताऽपि प्रत्ययस्थत्वांशानुपपत्तेश्च* ।

अनुपसर्जनस्यासम्भवादिति । नन्वनो गृह्यमाणस्य बहुव्रीहावनुप-
सर्जनत्वाभावेऽपि अतिबहुदामा अतिबहुराजा ब्राह्मणीत्यादौ बहुव्रीहेरुपसर्जन-
त्वेन तत्र ङीव्वारणाय बहुव्रीहिविशेषणस्य “अनुपसर्जनात्” इत्यस्यावश्यकत्व-
मित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—*ध्वनितमिति* । तदेवाह—*तत्र हीति* । “अनो
बहुव्रीहेः” “डाबुमाभ्यामन्यतरस्याम्” “अनुपसर्जनात्” इति सूत्रपाठे भाष्यकृता
अनो बहुव्रीहेरित्यनन्तरम् “उपधालोपिनो वा” इति न्यासप्रदर्शनेन तत्रासम्बन्धो
ध्वनितः । अन्यथा सिद्धान्ते तत्सम्बन्ध इदानीमेति व्यत्यास आपद्येतेति
भावः । वस्तुतस्तु इत्यस्यानन्तरमिति प्रतीकमुपादाय शब्दरत्नकृता “अनो
बहुव्रीहेः, डाबुमाभ्याम्, अनुपसर्जनात्, उपलोपिनो वा इति पाठ्यमिति
भावः । यथाश्रुते अनुपसर्जनात् इत्यस्य सम्बन्धो दुर्घटः । अत एव बहुदामानि
पुराण्यतिक्रान्ता नगरीत्यत्र ङीब् न” इति भाष्यतात्पर्यस्य, तत्सम्बन्धे फलस्य च
प्रदर्शनेन तद्विरोधाभावात्, विभाषासपूर्वस्येत्यत्र गृह्यमाणान्ते गृह्यमाणे सपूर्व-
पदार्थे अनुपसर्जनादिति सम्बन्धस्य तत्फलस्य च अग्रे शेखरकारेणाप्युक्तत्वाच्च
बहुव्रीहिविशेषणार्थम् अनुपसर्जनादित्यस्य सम्बन्ध एवोचित इति दिक् ।

प्रत्ययस्थात् । *अनेनेति* । कारप्रत्ययान्तनिर्देशरूपव्याख्यानेनेत्यर्थः ।
अन्यथा वर्णबोधकत्वाभावेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव । *न प्राप्नोतीति* । तस्मिन्नि-
तिपरिभाषाबाधकल्पने तु रथकट्यादावतिप्रसङ्गः स्यात् । *अनुपपत्तेश्चेति* ।

न च वर्णग्रहणपक्षे एतिका इत्यादावकारद्वयव्यवधानादित्वाप्राप्तिः ।
द्वयोरकारयोरेकादेशे टापा सहैकादेशस्य स्थानिवद्भावादेकैवाकारेण
व्यवधानात् । पुनः स्थानिवत्त्वन्तु न । *लक्ष्ये लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तेः ।
टापा सहैकादेशस्य स्थानिवत्त्वं विना पूर्वैकादेशस्य स्थानिवत्त्वन्तु वक्तुम-
शक्यम् । तस्य टावेकादेशेनापहारेणादर्शनात् । अत एव “न यासयोः”
इतिनिषेधसार्थक्यम् ।

स्थग्रहणन्तु स्पष्टार्थम् । केवलककारस्य प्रत्ययस्याभावात् । असुप
इति बहुव्रीहिणा नाङ्गविशेषणम् । बहुचर्मिका इत्यादावित्वानापत्तेः ।
प्रत्ययलक्षणेनाङ्गस्य सुवत्त्वात् । “न लुपता” इति तु नात्र । लुपता लुप्ते
प्रत्यये यदङ्गं तस्य कार्ये तन्निषेधप्रवृत्तेः । इदन्तु टाप्यङ्गमिति दिक् ।

सर्विकेति । “अव्ययसर्वनाम्नाम्” इत्यकच् । कारिकेति ।
करोतेर्णुल् । नौशब्दात्स्वार्थे कः । सुपः परो नेति प्रसज्यप्रतिषेधेन
व्याख्याने फलमाह—बहुपरिव्राजकेति । पर्युदासे हि समुदायस्य
सुबिभन्नत्वेन सुवन्तभिन्नत्वेन च ततः परत्वादित्वं दुर्वारमिति भावः ।
परिपूर्वाद् ब्रजेर्णुलि बहुव्रीहौ सुपो लुक्पि प्रत्ययलक्षणेनापः सुव-
न्तात्परत्वं बोध्यम् । कटुकेति । आपा सह सवर्णदीर्घात्पूर्वं वार्णादाङ्गस्य

सौत्रस्य प्रत्ययघटकत्वाभावादिति भावः । *लक्ष्ये लक्षणस्येति* । नन्वस्य
संस्कारकविधिष्वेव प्रवृत्तेः “एकः पूर्वपरयोः” इति भाष्ये स्पष्टत्वादिदमयुक्त-
मिति चेन्न । कार्यातिदेशस्य मुख्यतया अस्यापि संस्कारकविधित्वमित्य-
भिमानात् । वस्तुतस्तु इदं सर्वमयुक्तम् । स्थानिवत्त्वस्यातिदेशत्वेन लक्ष्ये-
क्षणन्यायाप्रवृत्तेः । पुनःपुनः स्थानिवत्त्वन्तु भवत्येव । अत एव सुनयिका
सुपाकिकेत्यादौ “धात्वन्तयकोः” इतीत्वं सिध्यति । अन्यथा ने इत्यस्मिन्
फलाभावेन धातुत्वानातिदेशे ऽयादेशोत्तरं नय् इत्यस्मिन् तदसिद्ध्या इत्वानाप-
त्तिः स्यात् । एवं सुपाकिकेत्यत्रापि पच्वृत्तिधातुत्वस्य पाच् इत्यत्रारोपे
फलाभावेन पाक् इत्यवस्थायां तदलाभे इत्वानापत्तिर्बोध्या । तद्वार्तिकं तु
अयधातोः अयिकेत्यत्र चरितार्थम् । अत एव तण्डुलानित्यत्र प्रत्ययान्तत्वम् ।
अत एव च इयायेत्यत्र वृद्धेरायादेशोत्तरमपि स्थानिवत्त्वेन सवर्णाच्त्वबुद्ध्या
असवर्णे इति निषेधे “अभ्यासस्यासवर्णे” इतिसूत्रं व्यर्थं सत् “अभ्यासकार्ये
तदुत्तरखण्डाजादेशस्य तत्कार्यप्रतिबन्धकीभूतं स्थानिवत्त्वं न” इति निषेधे ज्ञाप-
कमिति ग्रन्थकृतोक्तं सङ्गच्छते । वस्तुतस्तु “न यासयोः” इति ज्ञापकेन
तादृग्व्यवधानं सहाय इति, स्थानिवत्त्वं न भवतीति, श्रौतवर्णकर्तृकव्यवधाना-
भावो ऽव्यवहितपदेन गृह्यते इति वा कल्पनं युक्ततरमिति ।

बलीयस्त्वादपवादत्वाच्चान्त्यककारादुत्तरस्याकारस्येत्वं स्यादिति भावः* ।
मामकेति । कस्य प्रत्ययस्थत्वाभावादप्राप्ते वचनम् । ममेयमिति विग्रहे
“युष्मदस्मदोरन्यतरस्याम्” इत्याणि “तवकममकावेकवचने” इति ममकादेशे
आदिट्टद्धिः । नरानिति । कै शब्दे इत्यस्य “आदेच उपदेशे” इत्यात्वे
‘आतोऽनुपसर्गे’ इति के “आतो लोप इटि च” इत्यालोपः ।

न यासयोः ॥ प्रत्ययस्थादिति प्राप्ते निषेधोऽयम् । यकेति ।
यत्तदोरकच्, त्यदाद्यत्वे टाप् । सन्निपातपरिभाषा ऽस्मादेव निषेधा-
न्निर्देशाच्चानित्येति तद्विरोधात्कथं टाविति न शङ्क्यम् । त्यकनश्चेति ।
“मृदस्तिकन्” इति इत्वभृतनिर्देशेन ज्ञापकेनास्येत्वं वारयितुं शक्यमिति
भाष्यकृतः । पञ्चभिर्मृत्तिकाभिः क्रीत इत्यर्थे पञ्चमृत्तिक इत्यस्यानभिधान-
मिति तदाशयः । अत्र त्यिकानि कर्तव्ये ऽकारोच्चारणादित्वं नेति न व-

इति भाव इति । प्रत्ययस्थादिति सूत्रे पूर्वस्य-ग्रहणाभावे कादिति
दिग्योगलक्षणपञ्चमीश्रुत्या “तस्मादित्युत्तरस्य” इति परिभाषाया अव्यवहित-
त्वोत्तरत्वविधेयान्वयिषष्ठ्यर्थेत्यंशत्रयाणामुपस्थितौ प्रत्ययस्थात् ककारादव्यव-
हितोत्तरस्य ह्रस्वाकारस्येत्वं भवत्यापि परे इत्यर्थेन कटुकशब्दाद्वापि कृते कटुक
आ इति स्थिते सवर्णदीर्घमाङ्गत्वेनापवादत्वाच्च प्रवाध्य इत्वं स्यात् । न चैवं
सर्विकेत्यत्रैव सर्वक आ इति दशायामुक्तप्रकारेणत्वापत्तिसत्त्वेन कटुकापर्यन्त-
मनुधावनस्य वैयर्थ्यमिति वाच्यम् । सूतकापुत्रिकेति वार्तिके प्रश्नेषेणाकारविधा-
नसामर्थ्येन प्रत्ययस्थादिति सूत्रे तस्मादिति परिभाषाया अप्रवृत्तिज्ञापनाद् दिग्यो-
गलक्षणपञ्चम्याऽऽकाङ्क्षितदिग्वाचकपदाध्याये प्रसक्ते परस्येत्यस्यैव स इतिनिय-
माभावेन परस्येति पदस्याध्याहारे सवर्णदीर्घबाधकल्पनं पूर्वस्येतिपदाध्याहारे तु
नेति सूत्रबाधपरिहारलाघवेन सर्विकेत्यादिलक्ष्यसंस्काराय पूर्वस्येत्यस्यैवाध्या-
हारेण तत्र दोषाभावात् । यत्रोदाहरणे पूर्वोऽकारो न सम्भवति तत्रागत्या परस्ये-
त्यस्याध्याहार इति कटुका इत्यत्र पूर्वाकारासम्भवात्तत्रेत्वप्रवृत्त्यर्थं परस्ये-
त्यध्याहारे दोषः स्पष्ट एवेति तत्पर्यन्तानुधावनस्य सार्थक्यात् ।

प्रत्ययस्थादिति सूत्रे तस्मादितिपरिभाषाप्राप्तौ तु सूतका पुत्रिका
वृन्दारका इत्यत्र ककारात्परस्याकारस्यैव सत्त्वेन तस्य विकल्पेन इत्वविधाने-
ऽपि रूपद्वयसिद्धौ प्रश्नेषेणाकारविधानस्य वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । इदानीं तु सूतका
वृन्दारका इत्यत्र ककारात्पूर्वस्याकारस्य सत्त्वेऽपि पुत्रिका इत्यत्र ककारात्पूर्व-
स्येकारस्याकारविधाने पुत्रिका तदभावपक्षे पुत्रिका इति रूपद्वयसिद्धिरिति
तत्सार्थक्यम् ।

यत्तु अकारान्तादेव टाविविधानेन ककारोत्तरस्य आप्परकस्याकार-

क्तुं शक्यम् । पञ्चोपत्यको ग्राग इत्यादावकारश्रवणानापत्तेः । टापो लुकि प्रत्ययलक्षणं स्थानिवत्त्वञ्च न । उभयोरपि “न लुपता” इत्यनेन निषेधात् । अत एव कतीत्यादौ वार्त्तिकमतेऽपि न गुण इत्यन्यत्र विस्तरः ।

आशिषि वु । आशिषि विहितस्य वुनोऽस्येत्वं नेत्यर्थः । जीवतादित्यर्थे “आशिषि च” इति वुन् । देवदत्तशब्दादनुकम्पायां कनि “अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः” इति दत्तशब्दस्य लोपः । देवदत्तिकेत्युपन्यासस्तु दत्तलोपमभिव्यङ्क्तुम् । ध्रुवकोति । ध्रु स्थैर्ये पचाद्यचि कुटादित्वाद् गुणाभावे उवङ्, ततष्टाप्यज्ञाताद्यर्थे कः, “केऽणः” इति ह्रस्वः, पुनष्टाप् । चटे संज्ञायां वुन् । वार्त्तिकोक्ता गणा आकृतिगणाः । तेन कन्यकाध्रुवकाऽलकेष्टकादयः साधवः । उदीचान्तिवति । अत्रापि शकुनाविति संवद्ध्यते । तेनान्यत्र नित्यमेवेत्वम् ।

सूतका पुत्रि । पुत्रकेत्यकारसहितः पाठोऽपपाठः, कैयटाद्यसंमतेः । सूतशब्दात् स्वार्थे कन् । वृन्दशब्दात् “शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्” इति मत्वर्थाय आरकन् । वृन्दारकशब्दो मुख्यवाची त्रिलिङ्ग इति भावः । डीन इति । शार्ङ्गरवादित्वाज्जातस्येति भावः । अन्यत्र—सूतकादौ ।

उदीचाम् । यकपूर्वत्वञ्चाव्यवहितमेव । एवं “प्रत्ययस्थात्” इति सूत्रे कात्पूर्वत्वमपि । “उदात्तस्वरितयोः” इत्यादाविवानुवादेऽपि निर्दिष्टपरिभाषाप्रवृत्तेः । तेन कृशराशब्दात्के ह्रस्वे इत्वविकल्पो न । नेत्यनुवृत्तावपि निषेधविकल्पे विधिविकल्पस्य फलितत्वादाह—इद्वेति । आतः

स्यैव सम्भवेन प्रत्ययस्थादितिसूत्रे अङ्गहणस्य तपरकरणस्य वा वैयर्थ्येन तत्सामर्थ्याद् अत्र तस्मादिति परिभाषाया अप्रवृत्तिज्ञापनेन सर्विकेत्यत्रोक्तरीत्या दोषाभावेन कटुकेति प्रत्युदाहरणमिति, तन्न । भवतु इति तिङन्तात् “तिङ्श्च” इत्यकचि अशब्दादाचारकिबन्तात् लोटि सिपि हौ हेर्लुकि द्वयोः (भवतकु अ इति यस्यां क्रियायामिति) समासे ततष्टापि भवतका इत्यादावुकारस्येत्वापत्तेः । भविता इत्यस्मादकचि टावन्तेनाशब्देन समासे भवितका इत्याकारस्य अशब्दाज्जातेन टापो जातस्य सवर्णदीर्घस्य परादिवद्भावेनाप्लादित्वापत्तेश्चोभयोश्चारितार्थात् । सवर्णदीर्घस्य स्थानिवत्त्वं तु न । आकारस्य पदान्तत्वेन नपदान्तेति तन्निषेधात् । न च भवतकु अ आ इति स्थिते सवर्णदीर्घात्पूर्वं प्रत्ययस्थादित्यस्याकारेण व्यवधानादप्राप्त्या सवर्णदीर्घात्पूर्वमन्तरङ्गत्वादुकारस्य यणि ततष्टापा सवर्णदीर्घोत्तरमुकाराभावेन नोक्तापत्तिरिति वाच्यम् । वकारस्यैवेत्वापत्तेः, भवितका इत्यत्रेत्वाधारणाय तपरकरणस्यावश्यकतया तदर्थमपि तङ्गहणस्यावश्यकत्वाच्चेति दिक् ।

किमिति । 'उदीचां यकपूर्वायाः' इत्येवास्तु । य-क-पूर्वस्त्रीबोधकाकार-
स्येत्यर्थः । सांकाश्यके च नातिप्रसङ्गः । प्रत्ययावयवत्वेनाकारस्य
स्त्रीबोधकत्वाभावादिति प्रश्नः । 'बहुलक्ष्यसंस्कारानुरोधादवयवषष्ठ्येव
स्यात् । न च प्रतिपदोक्तस्त्रीप्रत्ययस्यैवात्र ग्रहणम् । विशिष्य तदनुपादाना-
त्' इत्युत्तरम् । स्त्रीप्रत्ययस्य किमिति । यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः
किमर्थ इति प्रश्नः । धात्वन्तेति । धात्वन्तयकारककारपूर्वयो-
रकारयोरित्यर्थः । इन्वमिति शेषः ।

भस्त्रैषा । अयमपि निषेधविकल्प इत्याह-अत इति । अत्राप्यातः
स्थान इत्यनुवर्त्तते । तदन्तेति । "येन विधिः" इति सूत्रे 'त्यदादिविधिभ-
स्त्रादिग्रहणश्च प्रयोजनम्' इति भाष्यात् । अपिना नञ्भिन्नपूर्वाणामपूर्वाणाञ्च
सङ्ग्रहः । अत्र नञ्पूर्वाणामपीति स्पष्टार्थम् । "पदाङ्गाधिकारे तस्य च" इति
सिद्धेः । उपसर्जनार्थमिति । एवञ्चानुपसर्जने "आदाचार्याणाम्" इत्या-
त्वं भवत्येव, उपसर्जने ऽस्य चारितार्थ्येन बाधे मानाभावात् । अन्यस्य-
अनुपसर्जनस्य । उत्तरसूत्रम्- 'अभाषितपुंस्काच्च' इति ।

अन्तर्वर्त्तिनीमिति । न एतद् सु इति स्थिते अकचि कृते अकृते वा
नञा तत्पुरुषे 'अन्तरङ्गानपि' इति न्यायेन त्यदाद्यत्वात्प्राक् सुपो लुकि ततो
ऽकचि वा पुनर्विशिष्टात्सुपि सदाद्यत्वे टापि समासात्पूर्वोत्पन्नसुपः पर एव
टाविति भावः । बहुव्रीहौ तु प्रियैतत्का प्रियैतकत्का वा, कवभावे प्रियैतक-
दित्येव । सर्वथा नेत्वप्राप्तिः । अनेषकेति । अज्ञाता एषा एषका, न एषकेति
विग्रहः । पूर्वं नञ्समासे अज्ञाता अनेषा इति । असम्भवादिति । 'एषाद्वा'
इति निर्देशात्संज्ञोपसर्जनयोरप्राप्तेरिति भावः । अकजर्ह इति । एवञ्च
तदकारस्याऽऽतःस्थानिकत्वाभाव इति भावः । अर्थान्तरे त्वाति ।
आत्मज्ञातिधनेष्वित्यर्थः ।

स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वो ऽस्त्रियां धने ।
इति कोशादिति भावः । कप्रत्ययान्तत्वादिति । तत्र च नान्त-
र्वर्त्तिविभक्त्या सुपः परत्वं, केन व्यवधानादिति भावः । "संज्ञापूरण्यो-
श्च" इति निषेधेन संज्ञाया अपि भाषितपुंस्कत्वबोधनेन संज्ञाभूते न "अभा-

*संज्ञोपसर्जनयोरप्राप्तेरिति । अनुपसर्जनयोस्तु सर्वनामत्वेनाकचप्रत्य-
यविशिष्टतया तदवयवाकारस्य कात्पूर्वस्य आतःस्थानिकत्वासम्भव इति भावः ।

षितपुंस्काच्च"इत्यनेन सिद्धिः । आत्मीयत्वपुरस्कारेणैव संज्ञाकरणादिति बोध्यम् । नित्यमेवेति । तत्र ह्यकचि कृते आतःस्थानिकत्वाभाव इति भावः । एवमत्यन्तस्वार्थिककान्ते ऽपि नित्यमेवेत्वम् । अकचो ऽत्यन्तस्वार्थिकापवादत्वाभावात् । निःस्वकेति । स्वस्या निष्क्रान्तेति विग्रहः । उपसर्जनह्रस्वः, टाप्, अज्ञातादौ कः ।

अभाषित । "स्त्रीविषयाच्च"इति नोक्तम् । स्त्रीनपुंसकदामशब्दाद् डापि अज्ञाता दामा दामिका दामाका दामकेत्यसिद्ध्यापत्तेः । विहितस्येति व्याख्याने फलमाह-बहुव्रीहेरिति । अविद्यमाना खट्वा यस्या इति विग्रहे पाक्षिककवभावे "गोस्त्रियोः"इत्युपसर्जनह्रस्वे ऽखट्वाशब्दादापि सुप्य-ज्ञातादौ के सुब्लुकि "केऽणः"इति ह्रस्वे पुनष्टाप्यभाषितपुंस्काद्विहिताकार-स्थानिकाकाराभावेनैतद्विकल्पाप्राप्तावुत्सर्गेण नित्यमेवेत्वं, परविशेषणत्वे तु तादृशखट्वाशब्दात्परत्वेन दोषः स्यादेवेति भावः ।

शौषिके कपीति । न खट्वा सु इत्यवस्थायां कपि सुब्लुकि प्रत्ययलक्षणेन भागद्वयस्य सुबन्तत्वात्समाससंज्ञायां "समासान्ताः" इतिशास्त्रबलात्कवन्तस्यैव समासत्वेनोपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तान्तसमासरूपप्रा-तिपदिकाभावाद् "गोस्त्रियोः"इति ह्रस्वाभावे "केऽणः"इति ह्रस्वे "न कपि"इति निषिद्धे "आपोऽन्यतरस्याम्"इति ह्रस्वे कपः प्राग्वर्त्तिनः ख-ट्वाशब्दात्परस्यापो ऽभाषितपुंस्काद्विहितत्वेन तत्स्थानिकाकारस्यायं विक-ल्पः, ह्रस्वाभावे तु 'अखट्वाका'इति इति भावः ।

अयमेवेति । *आचारकिबन्तप्रकृतिककर्तृकिबन्तानामनाभि-धानमेव स्त्रियाम्, एतद्भाष्यप्रामाण्यात् । पञ्च स्त्रीगोव्यक्तयो धनं यस्य स

*अनुपसर्जनात् । *आचारकिबन्तप्रकृतिकेति* । अनुपसर्जनाधिका-राभावे गौर इवाचरति गौरायते, गौरायते इति गौरा इत्यत्र "षिद्वार"इति ङीष् स्यात्; तद्यावृत्त्यर्थमनभिधानाश्रयणम् । न च तत्र सूत्रे ऽत इत्यनुवर्त्य अदन्तेभ्यो गौरादिभ्यो ङीषित्यर्थेन प्रकृते ऽदन्तत्वाभावादेवाप्राप्तिरिति वाच्यम् । बहुशब्दादाचारकिबन्तात् कर्तरि किपि "बह्वादिभ्यश्च"इत्यस्या-प्रवृत्त्यर्थम् अनभिधानस्यावश्यकत्वात् । एवमनहुश्शब्दस्य अशब्देन समासे तस्मादाचारकिबन्तात्कर्तरि किपि अतो लोपेऽनहु इत्यस्मादपि ङीषभावो ऽनभिधानफलं बोध्यम् । न चानहुश्शब्दादाचारकिबन्तात् कर्तरि किप्येव दोषसत्त्वेन अशब्देन समासपर्यन्तमनुधावनं विफलमिति वाच्यम् । "ह्रस्व-

पञ्चगवधन इत्यत्रार्थवत्सूत्रोक्तार्थवत्त्वाभावाद्भजन्तस्य प्रातिपदिकत्वाभावेन न ङीप् । आपिशलिना प्रोक्तमधीते आपिशला ब्राह्मणीत्यत्र तु

नद्यापो नुद्"इति सूत्रे "प्रत्ययान्तादयं विधीयते तत्र नास्ति विशेषः "मिदचोऽन्त्यात् परः"इति वा परत्वे, "प्रत्ययः परश्च"इति वा परत्वे"इत्यादि-भाष्याद्धलन्तेभ्य आचारकिपोऽनभिधानस्य क्लृप्तत्वेन तत्प्रकृतिककर्तृत्वविपो दुर्लभत्वेन समासपर्यन्तानुधावनादृते गत्यन्तराभावात् । तुल्यन्यायात् "प्राति-पदिकात्"इतिविहितणिजन्तप्रकृतिकत्वबन्तानामप्यनभिधानं स्त्रियां बोध्यम् । एतेन तत्र चारितार्थ्यं संभवति ज्ञापकत्वोपवर्णनमसंभवदुक्तिकमिति वदन्तः परास्ताः ।

अथ सर्वादिसूत्रे "संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधो वक्तव्यः"इति वार्तिकस्वीकारे-ऽपि "त्यदादीनामः" "अद्ङ् इतरादिभ्यः पञ्चभ्यः"इत्यनयोरुपसर्जने प्रवृत्तिः क-स्मान्नेत्याशङ्क्य "अनुपसर्जनात्"इत्यधिकारसूत्रे अनुपसर्जनं अ अत् इति प्रश्लिष्य "अकारात्कारौ शिष्यमाणावनुपसर्जनस्य द्रष्टव्यौ"इति भाष्ये उक्तम् । तेन चानुप-सर्जनत्वं तत्रत्यमन्नत्वं चैकमेवेति व्यज्यते । "किं च तद्"इति जिज्ञासायाम् उपसर्ज-नभिन्नत्वं तत्त्वम् । उपसर्जनत्वं च यदि स्वान्तपर्याप्तशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशेष्य-तानिरूपितप्रकारताप्रयोजकत्वम्, अतिसर्वेत्यत्र च स्वं सर्वशब्दः तदन्तमतिसर्व इति तत्पर्याप्ता शक्तिः सर्वकर्मकातिक्रमणकर्तृत्वावच्छिन्ननिरूपिता, तन्निरूपकोऽर्थोऽतिक्रमणकर्तृत्वावच्छिन्नस्तदर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितानेकार्थसमुदाय-त्वावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वं सर्वशब्दे इति, एवं बहुकुरुचरेत्यत्र स्वं टच् तदन्तं बहुकुरुचरेति तत्पर्याप्ता शक्तिर्बहुभिन्नकुरुचराधिकरणत्वावच्छिन्ननिरूपिता त-न्निरूपकोऽर्थोऽन्यपदार्थः तन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकटच् इति ल-क्षणसमन्वय इत्युच्यते-तर्हि सर्वशब्देऽपि सर्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितसर्वत्व-निष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वमस्त्येवेत्युपसर्जनत्वं स्यात् । यदिच यस्योपसर्जन-त्वं वक्तव्यं तदितरपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकत्वरूपं तद् । तथा च सर्वशब्दे इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकत्वा-भावेन न दोषः इत्युच्यते, तदा आचारकित्वबन्तस्थले इतरपदार्थनिष्ठविशे-ष्यताया अभावादनुपसर्जनाधिकारसत्त्वेऽपि ङीपो दुर्वारत्वेन फलभेदाभावात् अनभिधानाश्रयणमयुक्तम् । न चाचारकित्वस्थले इतरपदं किप् तत्प्रयोज्य-विशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकत्वस्य सत्त्वेनोपसर्जनतया सिद्धान्ते ङीपोऽप्राप्त्या इदानीमपि तदभावार्थमनभिधानमावश्यकमिति वाच्यम् । किपमादा-योपसर्जनत्वे "द्वीयतेरप्रत्यये द्व इति प्राप्नोति, स्व इति चेष्यते"इति भाष्ये सत्त्वाप्राप्त्या 'स्व इति चेष्यते'इत्यनेन विरोधापत्त्या तदेकवाक्यत्वाय इतरपदस्य श्रूयमाणस्यैव ग्रहणेन प्रकृते किपोऽश्रूयमाणत्वेनैवेष्टिसिद्ध्या सामञ्जस्येऽन-भिधाने दृढप्रमाणाभावात् ।

नन्वेवमपि परमसर्वघटकसर्वशब्दे उपसर्जनत्वं दुर्वारम् । स्वं सर्व इति

न ङीप् । प्रोक्ताणः स्त्रियामवर्त्तनात् । अध्येत्रण्टु लुप्तः । अण् योऽकार इति व्याख्यानानेन वर्णाश्रये प्रत्ययलक्षणाभावात् । अद्व्येत्रर्थगतस्त्रीत्वमादाय *तदग्निमित्तकस्य न प्राप्तिः । स्त्रियामित्यस्य गृह्यमाणविशेषणत्वात्तदण एतस्त्रीत्वे ऽवर्त्तनात् । *अत एव काशकृत्स्त्रिणा प्रोक्तां मीमांसामधीते काशकृत्स्त्रा ब्राह्मणीत्यत्रापि न ङीप् । प्रोक्तार्थगतस्त्रीत्वमादाय तु पुनर्न ङीप् । लक्ष्येलक्षणस्येति न्यायात् । तस्माद् बहुकुरुचरा इत्येव तद्व्यावर्त्यम् । तत्र च तदन्तविधिं विना प्राप्तिरेव न । ज्ञापिते तु तदन्तविधौ *प्राधान्यादेतदारम्भाच्च* स्त्रियामिति ङीप्प्रकृतिविशेषणमेव । *अत एव

तदितरच्छ्रूयमाणं पदं परमेति तदर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपिताप्रकारता सर्वत्वनिष्ठा तत्प्रयोजकत्वं सर्वशब्दे इति । एवमापिशलिना प्रोक्तमधीते या स्त्रीत्यत्राणोऽध्वयमाणत्वेनोपसर्जनत्वाभावात् अनुपसर्जनाधिकारफलप्रतिपादनपरभाष्यविरोधश्चेति चेन्न । स्वविशिष्टप्रकारताप्रयोजकत्वमुपसर्जनत्वम् इति स्वीकारेणादोषात् । वैशिष्ट्यं च स्वान्तपर्याप्तशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वस्वपर्याप्तशक्तिज्ञानाधीनोपस्थितीयविशेष्यतासामानाधिकरण्यैतदुभयसम्बन्धेन । स्वान्तत्वं च व्यपदेशिवद्भावातिदिष्टं ग्राह्यम् । एवं चापिशलेत्यत्र स्वं प्रोक्तार्थं जायमानोऽण् तदन्तमापिशल इति तत्पर्याप्ता शक्तिरापिशलिप्रोक्तग्रन्थकर्मकाध्ययनकर्तृत्वावच्छिन्ननिरूपिता तन्निरूपकोऽर्थो निरुक्तस्तन्निष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वमण्प्रत्ययवाच्यप्रोक्तरूपार्थनिष्ठप्रकारतायाम्, एवं स्वं प्रोक्तार्थोऽण् तत्पर्याप्ता शक्तिः प्रोक्तत्वावच्छिन्ननिरूपिता तज्ज्ञानजन्या योपस्थितीया विशेष्यता प्रोक्तत्वावच्छिन्ननिष्ठा तत्सामानाधिकरण्यमपीति संपन्नमुपसर्जनत्वम् । परमसर्वघटकसर्वशब्दे सर्वत्वनिष्ठप्रकारतायां पूर्वसम्बन्धसत्त्वेऽपि निरुक्तोपस्थितीयविशेष्यतासामानाधिकरण्याभावान्न दोषः । द्वीयतेरप्रत्ययेऽप्यन्तिदिष्टस्वान्तत्वाभावान्नानभिधानं कल्प्यम् । एवञ्चानहुहशब्देऽपि स्वान्तत्वाभावादुपसर्जनत्वाभावेनानभिधानाश्रयणमयुक्तमेवेति विचारणीयं सूरिभिः ।

नन्वेवं स्वीकृते अर्थवत्सूत्रे शेखरकृता 'पञ्चनावेत्यस्यानेन न प्रातिपदिकत्वं, नाप्युत्तरसूत्रेण । प्रातिपदिकत्वे तु टावापत्तिः' इत्युक्तं कथं सङ्गच्छेत । पञ्चनावेत्यस्य निरुक्तोपसर्जनत्वाभावेन ङीपा टापो बाधादिति चेन्न । तत्र "ङीवापत्तिः" इत्यस्यैव पाठस्य युक्तत्वात् । यद्वा एतादृशोपसर्जनत्वस्य नागोशासमतत्वेन तथोक्तिः । अतएव तेन द्वीयतेरप्रत्यये इत्यादिभाष्यस्यैकदेशयुक्तित्वम् आचारकिवन्तप्रकृतिककर्तृकिवन्तानां स्त्रियामनभिधानं चोक्तमिति न निरुक्तोपसर्जनत्वे तद्विरोध उद्भावनीयः । अनेकभाष्यसमतत्वादिति दिक् । *तदग्निमित्तकस्य—प्रोक्तार्थकाग्निमित्तकस्य । *अत एवेति । प्रोक्ताणोऽध्येत्रर्थगतस्त्रीत्वे ऽवर्त्तनादेवेत्यर्थः । *प्राधान्यादिति* । "प्रधानाप्रधानयोः प्रधा-

धीवानमतिक्रान्ता 'अतिधीवरी' इति सिद्धम् । एवञ्चापिशलेत्याद्यप्यस्यैव व्यावर्त्यम् । अनुपसर्जनादिति च *सामर्थ्याद् गृह्यमाणविशेषणमेवेति भावः ।

तदन्तविधिमिति । अणन्तादेः प्रातिपदिकविशेषणत्वेनाणन्तान्त इत्येवंरूपमित्यर्थः । अन्यथा प्रत्ययविधौ प्रतिषेधात्स दुर्लभः स्यात् । प्रत्ययग्रहणपरिभाषालभ्यस्य तु नायं निषेधः । *प्रातिपदिकादित्यनेन सहानन्वयापत्तेः । *तत्फलं कौम्भकारेयसिद्धिः । अन्यथा कुम्भकारेय इत्यापद्येत । कुम्भेन समासे ङीपि कुम्भविशिष्टस्यापत्येन योगे कार्यर्थे तदयोगस्य वक्तुमशक्यत्वात् कदाचित्ततोऽपि ढकि कुम्भशब्दो-
कारे वृद्धयभावस्याप्यापत्तेः । निष्कृण्यैकार्थीभाव एव वृत्तिनिमित्त-
मिति तु वक्तुमशक्यम् । "तद्धितार्थ" इत्युत्तरपदे समासविधानात्समुदाये-
नैकार्थीभावे ऽवयवेनापि तस्यैव सत्त्वात् । कृद्ग्रहणपरिभाषायाः *कृन्मात्र-
ग्रहणे प्रवृत्त्या न तथा विशिष्टादेव ङीबुत्पत्तिं प्रत्याशा ।

ने कार्यसम्प्रत्ययः" इति न्यायेन प्रातिपदिकविशेषणत्वस्यैव न्याय्यत्वादिति भावः । ननु ज्ञापितेऽपि तदन्तविधौ श्रुतानुमितपरिभाषया स्त्रियामित्यस्य टिदादीनां विशेषणत्वे बहुकुरुचरेत्यत्र टितः स्त्रियां विद्यमानत्वाभावा-
देव ङीपोऽप्राप्तौ पुनरपि अनुपसर्जनाधिकारवैयर्थ्यमित्यत आह- *एतदारम्भा-
च्चेति । अनुपसर्जनाधिकारेण तदन्तविधौ ज्ञापितेऽपि स्वांशे चारि-
तार्थ्याभावेन प्रातिपदिकविशेषणत्वमेव स्त्रियामित्यस्योचितमिति भावः ।
अत एवेति* । गृह्यमाणप्रातिपदिकेनापि तदन्तविधिस्वीकारादेवेत्यर्थः ।
अन्यथा 'ग्रहणवता' इत्यनेन द्वितीयतदन्तविधिनिषेधाद् "वनो र च" इत्यस्य
वन्नन्ततदादित्वविशिष्टप्रातिपदिकादित्यर्थेनातिधीवान्नित्यस्य वन्नन्ततदादित्वा-
भावात्तद्रूपासङ्गतिः स्पष्टैव । *सामर्थ्याद् गृह्यमाणविशेषणमेवेति* । तदन्तप्रा-
तिपदिकस्य सर्वत्रानुपसर्जनस्यैव सत्त्वेन तद्विशेषणत्वे तद् व्यर्थं स्यादिति
भावः । *प्रातिपदिकादित्यनेनेति । यद्यप्यणरूपप्रातिपदिकस्य अशब्दात् तस्ये-
दमित्यर्थे शैषिकेऽण्यकारलोपे कृते ऽस्ति सम्भवः, तथापि ढादीनां ताड-
शानामसम्भवो दुर्वार एव । *तत्फलमिति* । अनुपसर्जनाधिकारज्ञापित-
द्वितीयतदन्तविधिफलमित्यर्थः ।

कृन्मात्रग्रहणे इति । कृत्वव्याप्यधर्मपुरस्कारेणोपादाने एवेत्यर्थः ।
"टिड्ढाणञ्" इत्यत्राणत्वस्य कृदकृत्साधारणत्वेन कृत्वव्याप्यत्वभावादप्रवृत्तिः ।
"अत्र प्रमाणं समासग्रहणस्य नियमार्थत्वपरं भाष्यम् । कृदकृत्साधारणे तस्याः
प्रवृत्तौ हि अर्थवत्सूत्रेऽपि तत्प्रवृत्त्या कुम्भकारेत्यस्य प्रत्ययान्ततदादित्वेन
तद्विन्नत्वाभावादप्राप्त्या समासग्रहणस्य विध्यर्थत्वं दुर्वारं स्यात् । सिद्धान्ते तु

न च तदन्तग्रहणे ऽपि कारशब्दस्य व्यपदेशिवद्भावेनाणन्तान्तत्वात्ततो ऽपि कदाचिन्डीपि कुम्भकारेयो दुर्वारः । किं च समुदायान्डीप्यपि स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमाभावेन केवलादपि कदाचिद् ढकि स दुर्वार इति वाच्यम् । एतदधिकारादेव ज्ञापकादसहाय एव व्यपदेशिवद्भावप्रवृत्तेः । अर्थवत्सूत्रोक्तार्थवत्त्वाभावेनाणन्तस्याप्रातिपदिकत्वाच्च । तदादिनियमाभावेनाधिकस्य कार्यं बोध्यते, न तु न्यूनस्येत्यदोषाच्च । अन्यथा तदन्तग्रहणे फलाभावेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । एतदेवाभिप्रेत्यात्र भाष्ये उक्तं “समासे च कृते ऽवयवादुत्पत्तावयवस्य वृद्धिः स्यात्”इति । “येन विधिः”इति सूत्रे च प्रत्ययग्रहणे

प्रत्ययत्वस्य कृदकृत्साधारणत्वेनास्या अप्रवृत्तौ पूर्वसूत्रेण सिद्धे समासग्रहणं नियमार्थमित्युपपद्यते” इति केचित् । वस्तुतस्तु अनया परिभाषया संघातादुत्पत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य “कृद्ग्रहणे इत्युच्यते, न चैतत्कृद्ग्रहणम्, कृदकृद्ग्रहणमेतत्, कृदप्ययमण् तद्धितोऽपि” इति प्रकृतसूत्रस्थं भाष्यमेवात्र मानम् । समासग्रहणस्य नियमार्थत्वपरं भाष्यं तु कुम्भकोरत्यादेः पूर्वसूत्रेणाप्राप्तावपि उत्तरसूत्रेण कृदन्तत्वात्प्राप्त्या ऽपि योजयितुं शक्यते इत्याहुः ।

अत एव पुष्पसुहारिणीत्यादौ “इनः स्त्रियाम्”इति कब् न । अन्यथा विशिष्टे तदादित्वारोपात्तदापत्तिर्दुर्वारा । एवं इतिहरिरित्यत्र निस्वरो न । निस्वस्य ठनादितद्धितसाधारणत्वेन कृत्वव्याप्यत्वाभावात् ।

नन्वस्तु कारशब्दादेव डीप्, ढक् तु कुम्भकारीत्यस्मादेव स्यात् । “स्त्रीभ्यो ढक्”इत्यत्र स्त्रीवाचकाद् ढगित्यर्थस्य पैतृष्वसेय इत्याद्यर्थमावश्यकत्वात् । अन्यथा तत्र स्त्रीप्रत्ययान्ततदादित्वाभावाद् ढग् न स्यात् । अत एव “ढकि लोपः” इति सूत्रं चरितार्थम् । तस्मिन्नर्थे सति कुम्भकारीति प्रातिपदिकस्य कुम्भकर्मककृतिकर्तृत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वात् । न च कृतिकर्तृत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठप्रकारताप्रयोजकत्वं तु कारीत्यत्रापि वर्तते इति तस्मादपि कदाचिद् ढक् स्यादिति वाच्यम् । वृक्षप्रचलनन्यायेन समुदायादेव प्रवृत्तेरिति चेन्न । स्त्रीवाचकाद् ढगित्यर्थे दरच्छब्दाद् “द्यञ्मगध”इत्यणि तस्य स्त्रीत्वे वाच्ये “अतश्च”इति लुकि निष्पन्नाद्दरच्छब्दादपत्यार्थे ढकि दारद इत्यस्यासिद्धेः । न च तस्य शिवादिगणे पाठकरणेनेष्टसिद्धिरिति वाच्यम् । तादृशानामिडबिड्-उशिज्-पृथ्-इत्येषां पाठकल्पने गौरवात् । पैतृष्वसेय इत्यत्र तु “ढकि लोपः”इति ज्ञापकादेव ढक् । वैमात्रेय इत्यत्र धिमातृशब्दस्य शुभ्रादिगणे पाठादेव ढक् । अव एव स्त्रीभ्यो ढगिति सूत्रे भाष्ये स्त्रीप्रत्ययान्ताद् ढगित्येवार्थः सिद्धान्तत्वेनोक्तः । ऋष्यन्धकेतिसूत्रे जम्बूशब्दाद् ढगापादनं तु एकदेशिमताभिप्रायेणेति न तद्विरोधः ।

तदादितदन्तविधेः प्रयोजनं गार्ग्यायणः परमगार्ग्यायणः इति उक्तं भाष्ये । तत्रैकदेशात्प्रत्ययाभावे परमश्चासौ गार्ग्यायण इति तदर्थो वाच्यः । तथा सति नैव परमगार्ग्यात्प्रसक्तिरिति तत्प्रयोजनत्वोक्तिरसङ्गता स्यात् । मम तु परमगार्ग्यस्यापत्यमित्यर्थे ऽप्युक्तन्यायाद् गार्ग्यशब्दादेव प्रत्ययो न तु परमगार्ग्यात्, तथा सति 'पारमगार्ग्यायण इति स्यात्' इति तत्प्रयोजनत्वोक्तिसङ्गतिः । कैयटो ऽपि 'तदादिनियमावश्यकत्वप्रदर्शनाय परमगार्ग्यायण इत्युपन्यासः' इत्युक्तवान् । यत्तु सर्वादिमूत्रे भाष्ये "अनुपसर्जनादित्येष योगः प्रत्याख्यायते" इत्युक्तं, तत्तत्र वार्तिककृता तस्य प्रत्याख्यानात्तदभिप्रायकमिति भाष्यप्रदीपोद्घोते विस्तरः ।

टिड्ढा ॥ ठेत्येव सिद्धे ठकूठजोरूपादानं ठन्विठयोर्व्यावृ-
त्त्यर्थम् । अदन्तमिति । प्रत्यासत्त्या टिडाद्यवयवाकारान्तमित्यर्थः ।
तेन पश्चाद्वेत्यादौ ठमिमित्तोऽपि न ङीप् । कुरुचरीति । कुरुषु च-
रतीत्यधिकरणे उपपदे चरेष्टः । टितो ऽप्रत्ययस्यापि सत्त्वात्प्रत्ययग्रहण-
परिभाषाया अपठस्याऽत्र टिदन्तत्वं कुरुचरशब्दस्येति बोद्धव्यम् ।

वक्ष्यमाणेति । वचेल्टः शानच् । टिच्वादिनि । स्थानिवत्त्वेनेत्यादिः ।
"न ह्यपि" इति लिङ्गाटिच्वादेरशास्त्रीयस्याप्यतिदेशः, अनुबन्धकार्ये "अन-
ल्विधौ" इति निषेधाप्रवृत्तिश्चेति भावः । डित्वेनेति । लिङादेशानां स्थानि-
वत्त्वेनैव सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । तद्धि अवयवे ऽचरितार्थतया समुदायो-
पकारकम् । न चेदं डित्वं 'स्तुयात्' इत्यादावनिगलक्षणवृद्धिनिषेधार्थमिति

न च कुम्भकारीशब्दाद् ढक् दुर्लभः । तस्य शिल्पिवाचकत्वेन "सेनान्त-
लक्षणकारिभ्यश्च" इति ण्यप्रत्ययेन बाधादिति वाच्यम् । हिंसार्थकात्कृधातोराणि
घटस्फोटकवाचकस्य, यौगिकस्यान्वार्थकस्यापि कुम्भकारशब्दस्य सत्त्वात् ।

ननु प्रत्ययार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजकतापर्याप्त्यधिकरणी-
भूतप्रातिपदिकात् प्रत्ययो भवति । अत एव राजपुरुषस्यापत्यमित्यर्थे
राजपौरुषिरित्यनिष्ठरूपापत्तिर्न । अत एव च सूत्रनडस्यापत्यमित्यर्थे सौ-
त्रनाडिरित्येव । तथेहापि अपत्यार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारताप्रयोजक
तापर्याप्त्यधिकरणीभूतप्रातिपदिकं कुम्भकारीति न तु कारिति, तत्कथं
तस्माद् ढगापादनं भाष्यादाविति चेन्नैवम् । तस्य नियमस्य प्रत्ययनिष्ठो-
द्देश्यतावच्छेदकताकप्रत्ययनिष्ठविधेयताकार्यातिरिक्ते एव प्रवृत्तः । "स्त्रीभ्यो
ढक्" इत्यत्र स्त्रीप्रत्ययनिष्ठोद्देश्यतावच्छेदकता ढक्प्रत्ययनिष्ठा विधेयता
च वर्तते इति तन्निरूपककार्यत्वस्यैव सत्त्वान्न तन्नियमप्रवृत्तिः । अत एव

वाच्यम् । विनिगमनाविरहात् । उत औदिति वक्तव्ये वृद्धिग्रहणेन स्थानिनिर्देशोऽपीकपरिभाषोपस्थित्या तस्या अपि इग्लक्षणत्वाच्च ।

नन्वेवं 'ब्रूतात्' इत्यत्र ब्रुव ईद् प्राप्नोति । लाश्रयानुबन्धकार्यस्य तदादेशेष्वभावे ऽपि तिपः पिच्वस्य तदादेशे तातङ्यभावकल्पने मानाभावादत आह-इन इति । कचिदिति । लक्ष्यानुरोधेन च व्यवस्था ।

परे तु यासुटो ङित्वं न ज्ञापकम् । "पिदर्थं ङित्वम्" इति भाष्यात् । "सर्वधातुकम्" इति सूत्रे ऽपिदित्यावर्त्य प्रसज्यप्रतिषेधसिद्धेन "ङित्वं पिन्न, पिच ङित्वं" इत्यनेन "हलः इनः" इति सूत्रभाष्योक्तेन पित्सु ङित्वाप्रसक्तेः । शानचः शित्वमपि तत्सूत्रे एव भाष्ये प्रत्याख्यातम् । हेर-पिच्वस्य तातङो ङित्वस्य वैयर्थ्यापत्तिश्च ज्ञापकत्वे दूषणमप्युक्तं भाष्ये । तस्माद्वक्ष्यमाणेत्यादौ सत्यभिधाने ऽजादिपाठाट्ठाप् ।

यत्तु "ङिति च" इति सूत्रभाष्ये यासुटो ङित्वचनस्य न ङिदादेशानां

परमगार्ग्यस्यापत्यमिति विग्रहे परमगार्ग्यायण इत्यस्य सिद्धिः । अन्यथा गार्ग्येतियञन्ततदादेः तादृशप्रकारताप्रयोजकतापर्याप्त्यभावेन स न स्यादित्यर्थः । अत एव च शिवभागवत इत्यस्य अयःशूलेतिसूत्रभाष्ये प्रयुक्तस्य सिद्धिः । तदर्थं "भक्तिः" इति सूत्रे मत्वन्तभगवत इत्यस्य पाठकल्पनात् ।

लिङ्गविशिष्टपरिभाषया च देवीभागवत इत्यस्य सिद्धिः । ग्रन्थेऽपि प्रतिपादकत्वेन सेवकत्वोपचारात् तत्प्रयोगः साधुः । एतेन ग्रन्थे "देवीभागवत" इति प्रयोगमशुद्धं वदन्तः परास्ताः ।

ननु कारीतिङीपोऽनुपसर्जनस्त्रीप्रत्ययत्वात् "स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन" इति परिभाषया तदादिनियमनिषेधाद् वृक्षप्रचलनन्यायेन कुम्भकारीत्यस्मादेव ढकि कौम्भकारेत्यसिद्ध्या द्वितीयतदन्तविधिस्वीकरणं व्यर्थम् । नच विशिष्टे तदादित्वारोपेऽपि ङीपः विशिष्टप्रकृतिकत्वाभावेन विशिष्टवृत्तिप्रातिपदिकत्वादेः तदन्तेऽनारोपान्न ततो ढकः सिद्धिरिति वाच्यम् । परमगार्ग्यायण इत्यादाविवार्थवत्सूत्रेण प्रातिपदिकत्वे ढकः सिद्धेरिति चेन्न ।

कुम्भकारीव मनुष्यः कुम्भकारीत्यत्र इवार्थे कनि तस्य "कुम्भ-नुष्ये" इति लुपि स्त्रीप्रत्ययस्यान्यपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतानिरूपितस्त्रीत्वनिष्ठावच्छेदकताप्रयोजकत्वरूपोपसर्जनत्वस्य सत्त्वेनोपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादिनियमनिषेधाभावेन कारीत्यस्माद् ढकि कुम्भकारेत्य इति स्यात् तद्या-वृत्त्यर्थं द्वितीयतदन्तविधेरावश्यकत्वात् । न च द्वितीयतदन्तविधिलामे कुम्भकारेत्यस्मान्ङीप्यपि "स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन" इति परिभाषया अतदादावपि कारीत्यत्र तदादित्वस्यारोपात्कुम्भकारेत्य इति स्यादेवेति वाच्यम् । अनुपसर्जनाधिकारसामर्थ्यात्तदादिघटिते एव तदादित्वस्यारोपो न तु तद्वटके इति-

ङिन्वमित्यर्थे ज्ञापकतोक्ता, तत्तु वार्तिकमतम् । ङिञ्च पिन्नेत्यादेस्तेनानु-
क्तेः । यदपि “गाङ् लिटि” इति सूत्रे गाङो ङिञ्चं सानुबन्धकादेशे ऽनुबन्धा-
स्थानिवत्त्वस्य ज्ञापकमुक्तं वार्तिककृता, तदपि ‘प्रयोजनाभावात्’ इत्या-
दिना भाष्ये दूषितमित्याहुः ।

निरनुबन्धकस्य स्त्रियां वृत्तेरसम्भवात्सानुबन्धकस्य ढको ग्रहण-
मित्याह—सौपर्येयीति । सुपर्णोशब्दादपत्ये “स्त्रीभ्यो ढक्” इति ढक् ।
स्पष्टश्चेदं भाष्ये* । ऐन्द्रीति । साऽस्य देवता” इत्यण् । ऊरुदघनीत्या-
दि* । प्रमाणे द्वयसङ्घटनज्मात्रेण । संख्याया अवयवे तयप् । मात्रजिति
मात्रशब्दारभ्यायचश्चकारेण प्रत्याहार इति* ‘उभयी’ इति सिद्धिः ।

कल्पनेन वृक्षप्रचलनन्यायेन वा विशिष्टादेवोत्पत्तेः । केचित्तु वृक्ष-
प्रचलनन्यायस्य प्रकृते न विषयः । समुदायस्य कार्यसम्बन्धे यत्रावयवस्य
कार्यसम्बन्धो नान्तरीयको भवति, अवयवस्य कार्यसम्बन्धे च समुदायस्य कार्य-
सम्बन्धो नान्तरीयको न भवति तत्रैव तन्न्यायविषयत्वात् । प्रकृते च ढग्रूप-
कार्यस्य अवयवेन कारीशब्देन अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धे समुदायेन कुम्भकारी-
शब्देनापि तत्सम्बन्धस्य जायमानत्वात्, ढक्प्रयोज्यादिवृद्धादिरूपकार्यस्य च
समुदायेन कुम्भकारीशब्देन सम्बन्धे अवयवेन कारीशब्देन सम्बन्धस्याजाय-
मानत्वात् इत्याहुः—इति प्रघटकार्थः ।

भाष्ये इति । तत्र हि “ढग्रहणे सानुबन्धकस्योपसंख्यानं कर्त-
व्यम्, अननुबन्धकग्रहणे हि न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्” इत्याशङ्क्य “न कर्त-
व्यम्—अननुबन्धको हि ढः स्त्रियां नास्तीति कृत्वा सानुबन्धकस्य ग्रहणं
विज्ञास्यते” इति समाधाय “ननु चायमस्ति शिलाया ढ इति । नैष
स्त्रियां वर्तते । अयं तर्हि सभाया यः ढश्छन्दसीति । एषोऽपि न स्त्रियां वर्तते ।
तत्र साधुरिति वर्तते । कथं च स्त्री नाम सभायां साध्वी स्यात्” इत्युक्तम् । अत्र
कैयटः—शिलेव शिलेयम् इति नपुंसकलिङ्ग एव शिलेशब्दः स्वभावात् । यज्ञ-
सभायां विदुषामेव पुरुषाणां साधुत्वाधिकारात् । ननु सभायां साधुरियं
ब्राह्मणपङ्क्तिः परिषद्वेति सम्भवति स्त्रियाः सभायां साधुत्वम् । एवं तर्हि
छन्दसि सभेयशब्दस्यैवंविधायां स्त्रियां प्रयोगाभाव इत्याह । एतेन सभेय-
शब्दस्य स्वभावतः पुंस्त्वं प्रदर्शितमिति ।

ऊरुदघनीत्यादीति । ऊरुद्वयसीत्यादीति पाठः साधुः ।

*प्रत्याहार इतीति । नन्वेवं ङितिप्रत्ययस्यापि प्रत्याहारे ग्रहणेन
कर्तात्यत्र ङीवापत्तिरिति चेन्न । अत इत्यनुवृत्तेः सत्त्वेन ङत्यन्तस्यानदन्ततया
तदप्राप्तेरदोषात् । नचैवं चकारेण मात्रशब्दस्याविशेषितत्वाद् “हुयामाशु-
भसिभ्यस्त्रन्” इतिवन्नन्तमात्रशब्दादपि तदापत्तिरिति वाच्यम् । प्रमाणे

तत्र ह्यच् प्रत्ययान्तरम् । अत एवोभयशब्दस्य जसि सर्वनामत्वविकल्पो नेति “नवेति” इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । आक्षिप्यतीति । “तेन दीव्यति” इति ठक् । “तदस्य पण्यम्” इत्यधिकारे लवणाद्वञ् । यादृश्यां “त्यदादिषु दृशः” इति कञ् । इत्वरीति । “इण्णशजि” इति करप् । अनुबन्धद्वयोपादानं स्पष्टार्थम् । वरज्ज्यावृत्तेरन्यतरेणापि सिद्धेः । *चौरीति । चुरा शीलमस्या इत्यर्थः ।

नञ्स्त्वं । तरुणतलुनयोः “वयस्यचरम्” इति ङीपि सिद्धेऽपि गौरादिपाठात्परत्वात्प्राप्तेन ङीषा बाधाभावाय पुनरत्र ग्रहणम्* । तयोश्च स्वरे विशेषः । एतौ हि “त्रो रश्च लो वा” इत्युननन्तन्वादाद्युदात्तौ । स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्त्वंञौ । “प्रहरणम्” इत्यधिकारे शक्तियष्टचौरीकम् । “आढ्य-सुभग” इति ल्युन् ।

यञश्च ॥ “प्राचां ष्फ” इत्यत्र यञ एवानुवृत्तये योगविभागः ॥

हलस्त ॥ हल इति पञ्चमी, यस्येति सूत्राद् ‘ईति’ इत्यनुवर्त्तते, “सूर्य-तिष्य” इत्यतो ‘य उपधाया’ इति च । यलोपे ऽल्लोपस्याभीयासिद्धत्वाद्यस्य ईकारपरत्वाभावाद्बचनसार्थकयायोपधाग्रहणानुवृत्तिः । अनपत्त्याधिकार-

वर्तमानाद्विहितस्य प्रमेयार्थकस्यैव मात्रशब्दस्य प्रत्याहारघटकत्वेन समानानुपूर्वीकत्वमात्रेणार्थान्तरवाचकस्य ग्रहणे मानाभावेनादोषात् ।

ननु ‘उभयी’ इत्यत्र स्थानिवत्त्वेन तयवन्ततया तयब्रूग्रहणेनैव सिद्धेः प्रत्याहाराश्रयणं विफलमित्यत आह—*तत्र ह्ययजिति* ।

लवणाद्वञिति । ठक्ठञोभेदेनोपादानं ठञ्निवृत्त्यर्थम् । तेनेह न । दण्डोऽस्त्यस्या इति दण्डिका । ‘अत इनिठनौ’ इति ठन् । अत एव जिठान्तेऽपि न । काशिषु भवा काशिका । काश्यादिभ्यष्टञ्जिठौ । *चौरीतीति* । “शीलं छत्रादिभ्यो णः” इति विहितो यो णस्तस्मिन् अण्कार्यं भवति इत्येतदर्थक-‘ताच्छीलिके णेऽपि’ इति परिभाषया अणन्तत्वारोपे ङीबिति बोध्यम् । अत्र च ‘कार्मे-स्ताच्छील्ये’ इति ज्ञापकम् । तत्र हि ‘अन्’ इति सूत्रेणाणि परे विहितं कृतिभावं बाधितुं टिलोपो निपात्यते । यदि तु णप्रत्यये अण्कार्यं न स्यात्तर्हि किं तेन । ताच्छीलिकस्यैव णप्रत्ययस्याण्कार्यज्ञापनात् ‘तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां ण’ इति विहितस्य णस्य नाण्कार्यं, दाण्डेति । न चैवं लाघवात् छत्रादिभ्यो ऽणेव विधीयतां किं णप्रत्ययविधानेन, तस्याण्कार्यज्ञापनेन चेति वाच्यम् । ज्ञापकसिद्धस्यासार्वत्रिकतया छत्रा इत्येतत्सिद्ध्यर्थत्वात् ।

पुनरत्र ग्रहणमिति । उभयत्र पाठसामर्थ्यादुभयसिद्धिरिति भावः । न च बह्वादिगणमात्रे तस्य पाठेन ‘बह्वादिभ्यश्च’ इति ङीषो वैकल्पिकतया पक्षे

स्थादिति । अपत्याधिकारस्थभिन्नादित्यर्थः । यञ्शब्देन *व्याख्यानाद-
पत्याधिकारस्थस्यैव ग्रहणमिति भावः ।

*प्राचां ष्फ ॥ यञ इति वर्तते, अत इति च । यजो यो ऽकार
इति चार्थः । तेन वतण्डीत्यत्रोदीचां मते सावकाशं शार्ङ्गरवादिङीनं वा-
धित्वा आवक्ष्यायनीत्यादाविव सर्वत्रग्रहणात्प्राचां मते प्राप्तोऽपि ष्फो
न । अत्र हि “वतण्डाच्च” इति यजो ‘लुक् स्त्रियाम्’ इति लुक्, वर्णाश्रयत्वा-
च्च न प्रत्ययलक्षणम् ।

षः प्र ॥ “आदिर्बिदुडवः” इति सूत्राद् आदिरित्यनुवर्तते ।
प्रत्ययस्येति किम् । षोडश । “षष उत्त्वम्” इत्यत्र षषशब्दस्य निपातना-
दुपदेशस्थोऽयं षकारः । वस्तुत उपदेशे इत्यस्य स्वरितत्वमेव नेति पूर्वं
निरूपितम् । आदिरिति तूत्तरत्रावश्यकमुपरञ्जकतयाऽत्रापि सम्बन्धितम् ।

आयने ॥ आयनो नस्य नेत्वं फिनो नित्करणात् । तत्सा-
हचर्यादीनो ऽपि नस्य नेत्त्वम् । आदिग्रहणं किम् । ऊरुदघ्नम् ।
प्रत्ययेति किम् । फकति, खनति । खच्घञादौ ‘घिण्यतोः’ ‘खित्यनव्यय-
स्य’ इत्यादिलिङ्गादित्संज्ञैव नादेशाः । उणादीनां बहुलवचनान्नादेशाः ।

‘वयस्यचरमे’ इति ङीपा तत्सिद्धिरिति वाच्यम् । तरुणस्य स्त्री तरुणी इत्यत्र,
तरुणी सुरेत्यत्र च वयोवाचकत्वाभावेन ङीवप्राप्तेरिति दिक् ।

*व्याख्यानादिति । “आपत्यग्रहणं ङीपाद्यञः प्रतिषेधार्थम्” इतिवार्ति-
कमूलादित्यर्थः । वार्तिकेच आपत्यपदमपत्याधिकारस्थपरम् । कञ्करपः अयञ-
श्चेतिप्रसङ्गेण तस्य प्रत्याख्याने देवाद्यञ्जाविति प्राग्दीव्यतीयस्यापि अग्रह-
णात् । तदेकवाक्यतयाऽत्र पक्षेऽपि तथैवौचित्यात् ।

*प्राचां ष्फ तद्धितः । अत्र तद्धितग्रहणं वित्करणसामर्थ्यादेवात्र ईकारो
भविष्यतीत्याश्रित्य भाष्ये प्रत्याख्यातम् । कौरव्यमाण्डूकाभ्यांचेति सूत्रे आसुरे-
रुपसंख्यानम् आसुरायणी इत्युक्तम् । तेनच तद्धितग्रहणस्य यस्येतिलोपसिद्धिः
प्रयोजनमिति लभ्यते । तावन्मात्रप्रयोजनत्वे प्राचां ष्फइ इति डिदेव कार्ये इति
प्रत्याख्यानभाष्याशयः । वस्तुतस्तु वित्करणसामर्थ्यात् ङीषः सिद्धावपि ङीषः
प्रातिपदिकप्रकृतिकत्वाभावेन लिङ्गविशिष्टपरिभाषया प्रातिपदिकत्वान्तरोपात्त-
तः सुबाद्यसिद्धिः । स्वाप्रकृतिकलिङ्गबोधकप्रत्ययान्ते स्ववृत्तिधर्मारोपे तु परम-
कुम्भी-कुम्भपुत्राशब्दादावपि परतः सत्त्वापत्तिः । वित्करणसामर्थ्यादेवात्र
ईकारो भविष्यतीतिभाष्योक्त्या च स्त्रीप्रत्यये कर्तव्ये लिङ्गविशिष्टपरिभाषयाः
प्रवृत्त्यभावो व्यज्यते । तेन भवतीमतिक्रान्ताऽतिभवतिरित्यत्रोक्तश्चेति ङीप्,
धीवरीमतिक्रान्ताऽतिधीवरिरित्यत्र वनोर चेति रादेशसन्नियोगशिष्टो ङीप्

*घञश्चिन्वसामर्थ्यादेते प्रत्ययसम्बन्धादेशा उपदेशसन्नियोगशिष्टकार्या-
दपि पूर्वमेव । तेनान्तोदात्तत्वाय चिन्वं सफलम् । अन्यथाऽऽशुदात्तत्वेनैव
सिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । ननु स्त्रियामेव ष्वविधानाद् 'उक्तार्थानाम-
प्रयोगः' इति ङीष् न स्यादत आह—चिन्वसामर्थ्यादिति ।

वृक्तेणोक्तेऽपीति । द्योतितेऽपीत्यर्थः । 'द्विर्वद्धं सुवद्धं भवति'
इति न्यायेन कचित्समुच्चयस्य दृष्टत्वात् । चिन्वमपि तदाश्रयणे ज्ञापकम् ।
सर्वत्र ॥ सर्वेषां मते इत्यर्थस्तदाह—नित्यमिति । प्राचामि-
त्यस्य निवृत्त्या नित्यत्वे सिद्धेऽपि "प्राचां ष्व" इत्यस्य सर्वत्रग्रहणापकर्षेण
बाधकविषयेऽपि प्रवृत्त्यर्थः *तत् । तेन 'आवध्यायनी' इत्यत्र "आवध्याच्च"
इति चापं बाधित्वा प्राचां मते ष्व एव । अत्रो गर्गादिः । चापु उदीचां
मते प्राप्तङीष्बाधनेन चरितार्थः । सर्वत्रग्रहणात्तद्बाधकत्वमेव चापो न तु
अनन्तरष्वबाधकत्वम् । चापि कृते तु न ष्वप्राप्तिरत इत्यधिकारात् ।
लोहितादिर्गर्गाद्यन्तर्गणः । यद्यपि तत्र कतशकलकण्वेति पाठात् श-
कलस्य लोहितादिकण्वादिवहिर्भूतत्वात् ष्फागौ न ततः प्राप्नुतस्तथापि
कतन्तेभ्यः कण्वादिभ्य इत्युभयत्रापि षष्ठीतत्पुरुषबहुव्रीहोरेकशेषेण न
दोषः । कतन्तशब्दे शकन्ध्वादित्वात्पररूपम् । तेन शाकल्यायनी शाक-
ल्यस्य छात्राः शाकला इति च सिद्धम् । टाप्ङीषोरिति । कौरव्यशब्दे
योपधप्रतिषेधाद्वा, माण्डूकशब्दे जातित्वान् ङीषिति भावः । टाब्-
ङीषोरपवाद इति पाठस्तु प्रामादिकः ।

वयसि ॥ प्राणिनां कालकृतावस्थाविशेषो वयः । वयसीत्यस्य-
वयोरूपे प्रवृत्तिनिमित्ते इत्यर्थस्तदाह—प्रथमवयोवाचिन इति ।
तेनोत्तानशयेत्यादौ न । प्रकरणादिना वयःप्रतीतावपि नायं तद्वाचकः ।
याऽपि व्याध्यादिवशादुत्ताना शेते तस्या अपि प्रतीतेः । द्विवर्षेत्या-
दिरपि न वयोवाची । शालादावपि प्रयोगात् । कौमारयौवनवृद्धत्वभे-

च नेति । एतेन लिङ्गविशिष्टपरिभाषया ष्वान्तस्य प्रातिपदिकत्वात् तत्प्र-
कृतिकङीष्न्तेऽपि प्रातिपदिकत्वारोपात्त सुवादिसिद्धिरित्यपास्तम् । अतएव
भाष्ये तद्धितग्रहणं न कर्तव्यमिति नोपसंहृतम् इत्याहुः ।

*घञ इति । क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्य इतिनिपातनानुमितघञ-
इत्यर्थः । *तत्—सर्वत्रग्रहणम् ।

दात् त्रीणि वयांसि, आयुषश्चतुर्भिर्भागैश्चत्वारि वा । व्यनीका । समाहारे
“तद्धितार्थ” इति द्विगुः । अकारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रीत्वम् ।

*अपरिमाण॥ अत्र परिमाणशब्देन “परिमाणन्तु सर्वतः” इति
पारिभाषिकमेव गृह्यते । “सुवर्णविस्तौ हेम्नोऽक्षे कम्बल्यमूर्णापलशतम्” इति
कोशबलेनोन्मानभूतविस्तकम्बल्यग्रहणन्तु उन्मानस्य चेद्विस्तकम्बल्ययो-
रेवेति नियमार्थम् । तेन द्विनिष्की सिद्धा । द्वेवर्षे भूता, द्वाभ्यां शताभ्यां
क्रीतेत्यर्थे द्विवर्षा, द्विशता, तिर्यङ्माने द्विहस्ता भित्तिरित्यादौ च निषेधः
सिद्धः । “काण्डान्तात्” इति तु क्षेत्रे एवेति नियमार्थम् । तेन द्विकाण्डी
रञ्जुरित्यत्र न । द्वौ विस्तौ पचतीति । पचेर्द्रवीभावानुकूलो व्यापारो-
ऽप्यर्थः । अत्रोन्मानत्वाद्बुको लुक् । “आचितः शाकटो भारः” इत्युक्तेराचितः
परिमाणमित्येके । “आचितो दश भाराः स्युः” इत्युक्तेरुन्मानमेतदिति
एतदपि नियमार्थमित्यन्ये ।

अपरिमाण । अत्र परिमाणशब्देनाऽऽरोहतः परिणाहतश्च येन
काष्ठादिनिर्मितेन मीयते तत् प्रस्थादि गृह्यते । “परिमाणन्तु सर्वतः” इति आर्हा-
दितिसूत्रभाष्ये परिभाषणात् । न चैवमुन्माने द्विनिष्कीति न सिद्ध्येदिति वाच्यम् ।
‘सुवर्णविस्तौ हेम्नोऽक्षे, कम्बल्यमूर्णापलशतम्’ इतिकोशबलेनोन्मानभूतविस्त-
कम्बल्यग्रहणस्य उन्मानस्य चेन्निषेधो विस्तकम्बल्ययोरेवेतिनियमार्थत्वात् ।
अत एव “वयसि प्रथमे” इतिसूत्रभाष्ये प्रयुक्ते द्वे वर्षे भूता द्विवर्षेत्यादौ, द्वाभ्यां
शताभ्यां क्रीतेत्यर्थे आर्हादितिसूत्रभाष्ये प्रयुक्ते द्विशता इत्यादौ, तिर्यङ्माने
द्विहस्ता भित्तिरित्यादौ च निषेधः सिद्धः । द्विकाण्डी रञ्जुरित्यत्र तु
“काण्डान्तात्क्षेत्रे” इत्यस्य क्षेत्रे एवेति नियमार्थत्वान्न निषेध इति नागेशभट्टे-
रुक्तम् । तत्र भाष्यविरोधत्रिकमापाद्यते । एकः प्रकृतसूत्रस्थः । द्वितीयः “कम्ब-
लाच्च संज्ञायाम्” इतिसूत्रस्थः । तृतीयः “संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च” इतिसूत्र-
स्थः । तत्राद्ये “इमौ द्वौ प्रतिषेधावुच्येते । तत्रैकः शक्योऽवक्तुम् । कथम् ?
एवं वक्ष्यामि परिमाणान्तात्तद्धितलुकि ङीब् भवतीति । “द्विगोः” इत्येव सिद्धे
तन्नियमार्थं भविष्यति । परिमाणान्तादेव तद्धितलुकि नान्यत इति । विप-
रीतनियमस्तु न, लक्ष्यानुसारित्वाच्छास्त्रस्य । ततो विस्ताचितकम्बल्येभ्यो न ।
तद्धितलुकीत्येव” इत्युक्तम् । यद्यत्र परिमाणपदेन “परिमाणन्तु सर्वतः” इति
पारिभाषिकस्य ग्रहणं स्यात् तदा विस्तादीनां परिमाणत्वाभावेन परिमाणान्ता-
देवेति नियमादेव ङीपो व्यावृत्तेः सिद्धौ विस्ताचितेति द्वितीयो योगो विफल
एव स्यात् ।

द्वितीये “अयं योगः शक्योऽवक्तुम् । कथं कम्बल्यमिति ? । निपातना-

देतस्तिद्धम् । किं निपातनम् ? । अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलु-
कि इति । इदन्तर्हि प्रयोजनं, संज्ञायामिति वक्ष्यामि, इह माभूत् कम्बलीया ऊर्णा
इति । एतदपि नास्ति प्रयोजनं, परिमाणपर्युदासेन पर्युदासे प्राप्ते कम्बल्यग्रहणं
तत्र क्रियते परिमाणार्थं, परिमाणञ्च संज्ञैव" इत्युक्तम् । यदि चात्र परिमाण-
पदेन पारिभाषिकस्यैव ग्रहणम्, तदा कम्बल्ये परिमाणत्वाभावेन परिमाणपर्युदा-
सस्य प्राप्त्यभावात्परिमाणपर्युदासेन पर्युदासे प्राप्ते इत्युक्तिरसङ्गतैव स्यात् ।

तृतीये "परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोरिति सिद्धे संवत्सर-
ग्रहणमनर्थकम् । एवन्तर्हि ज्ञापयत्याचार्योऽन्यत्र कालपरिमाणानां परि-
माणग्रहणेन ग्रहणं नेति । किं प्रयोजनम् ? । अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो
न तद्धितलुकि । द्विवर्षा त्रिवर्षा । परिमाणपर्युदासेन पर्युदासो न भवति"
इत्युक्तम् । पारिभाषिकपरिमाणस्यैव परिमाणपदेन ग्रहणं तु उक्तोदाहरणे
प्राप्त्यभावात्संवत्सरग्रहणानर्थक्यशङ्कायाः, कालपरिमाणानां परिमाणग्रहणेन
ग्रहणं नेति ज्ञापनफलस्यचासङ्गतिः स्पष्टैवेति ।

अत्र केचित् । अत्र सूत्रकृद्भाष्यकृतोर्मतभेदः । सूत्रकृता पारिभाषिक-
परिमाणमित्युपगम्यैको योगः, नञ्द्वयं, कम्बलाच्चेति सूत्राणि प्रणीतानि । तदेव
नगेशभट्टः सूत्रकृन्मतं प्रतिपादितम् । भाष्यकृता च परिमाणमात्रग्रहणं स्वीकृत्य
नञ्द्वयखण्डनं, योगविभागः, कम्बलाच्चेत्यस्य प्रत्याख्यानं च कृतम् । "संख्या-
या" इति सूत्रस्थं भाष्यञ्च भाष्यकृता स्वमतेनोक्तमिति न भाष्यविरोधत्रि-
कम् इत्याहुः ।

परन्तु एवं स्वीकारे द्विहस्ता भित्तिरित्यत्र सूत्रकारभाष्यकृतोः फलभेद
आपद्येत । तथा हि—सूत्रकारमते उक्तरीत्या द्विहस्ता भित्तिरिति, भाष्यकृन्मते
तु ङीप् स्यात् । तस्मान्नायं पक्षो युक्तः । यद्यप्यत्र भाष्यप्रामाण्यादनभिधानं
वक्तुं शक्यं, तथापि सत्यन्यस्मिन्नुपाये तदाश्रयणमयुक्तमित्यन्यो विरोधपरि-
हारोपायोऽत्र प्रदर्श्यते ।

प्रकृतसूत्रे भाष्यकृन्मतेऽपि पारिभाषिकपरिमाणस्यैव ग्रहणं, ततश्च द्वि-
तीयो योगो व्यर्थः सन् "उन्मानातिरिक्तान्ताच्चेत् परिमाणान्तादेव" इति पूर्वयोग-
स्य नियमाकारं कल्पयति । ततश्च बिस्ताद्यन्ते उन्मानातिरिक्तान्तत्वाभावान्निय-
मेन व्यावृत्तेरासिद्धौ ङीव्वारणार्थो द्वितीयो योगः । विशेषनियमाकारकल्पन-
फलं तु द्विनिष्कीत्यादौ ङीपोऽव्यावृत्तिः । एवं च न प्रकृतसूत्रस्थभाष्यविरोधः ।

द्वितीये परिमाणपर्युदासेन पर्युदासे प्राप्ते इत्यस्य "तेन पर्युदासेन
द्विनिष्कीत्यादावपि निषेधरूपे विधेयङीब्रूपकार्यस्य पर्युदासे प्राप्ते "उन्मानस्य-
चेद् बिस्तकम्बल्ययोरेव" इति परिमाणविशेषे नियमाय बिस्तकम्बल्यग्रहणम् ।
कम्बल्यपदस्य कम्बलहितोर्णादिसामान्यार्थकत्वे तु अपरिमाणान्तत्वादेव नि-
षेधसिद्धेः, उक्तनियमस्य चासंभवात्कम्बल्यग्रहणमनर्थकं स्यात्" इत्यर्थ इति
न तद्भाष्यविरोधः ।

तृतीयभाष्यविरोधपरिहारश्चैवम्—तत्र तावत् परिमाणान्तस्यासंज्ञा-

शाणयोः इति सूत्रे “भाषैश्चतुर्भिः शाणः स्यात्” इति परिभाषितोन्मान-
भूतशाणपर्युदासात् न सर्वतोमानरूपार्थस्य ग्रहणं, किंतु परिच्छेदक-
मात्रस्येति संवत्सरस्यापि परिच्छेदकत्वात् परिमाणग्रहणेन ग्रहणं स्या-
दिति तदानर्थक्यशङ्कोपपद्यते । संख्यायाश्च आर्हादिति सूत्रे संख्याग्रहणात् परि-
माणग्रहणेन अग्रहणबोधनात् न संख्याग्रहणानर्थक्यशङ्केति न न्यूनत्वं शङ्कनी-
यम् । अग्रेच तेन कालपरिमाणानां वृद्धिर्नैति ज्ञापयित्वा द्वैसमिकः त्रैसमिकः
इति फलमभिहितम् । शाणपर्युदासात् परिमाणग्रहणेन उन्मान-प्रमाण-परिमाणानां
ग्रहणेऽपि संख्याया इव कालपरिमाणस्यापि ग्रहणं न भवतीति तद्भावः । अप-
र आहेत्यादिना च न केवलं परिमाणान्तस्येति वृद्धिविधायके एव कालपरि-
माणस्य परिमाणग्रहणेन ग्रहणं न भवति, किन्तु सर्वत्रैवास्मिन् शास्त्रे काल-
परिमाणस्य परिमाणग्रहणेन ग्रहणं न भवतीति । तेन द्विवर्षा त्रिवर्षा इत्या-
दौ अपरिमाणेति परिमाणपर्युदासो न भवति इत्युक्तम् । तस्य च परिच्छेद-
कविशेषग्रहणज्ञापनद्वारेत्यर्थः । तेन च आर्हादितिसूत्रस्थेन सर्वतोमानार्थग्र-
हणप्रतिपादकभाष्येण न विरोधः । परिमाणान्तस्येति सूत्रे तु परिच्छेदक-
विशेषग्रहणज्ञापनेन कालपरिमाणग्रहणेऽपि परिमाणप्रमाणोन्मानानां त्रया-
णामपि ग्रहणम्, शाणपर्युदासात् । एवं च न कश्चिद्विरोध इति । तदस्य
परिमाणमित्यधिकारे “संख्यायाः संज्ञा” इति सूत्रे तु संख्यासामानाधिकरण्या-
नुपपत्त्या परिच्छेदकमात्रग्रहणम्, क्रीतवत्परिमाणादित्यत्र च संख्याया अपि
ग्रहणं कर्तव्यं शतस्य विकारे इत्याद्यर्थे शत्य इत्यादीनां सिद्ध्यर्थमिति आर्हा-
दिति सूत्रे भाष्ये एव स्पष्टम् ।

परेतु आर्हादितिसूत्रभाष्ये संख्यायाः परिमाणबहिर्भावकथ-
नात् न संख्यायाः परिमाणग्रहणेन ग्रहणम् । तेन द्विशतेत्यादौ अपरिमाणा-
न्तत्वान्निषेधसिद्धिरिति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । कालपरिमाणस्य च परिमाण-
ग्रहणेन ग्रहणं न, तेन द्विवर्षा त्रिवर्षेत्यादौ अपरिमाणान्तत्वान्निषेधसिद्धि-
रिति “संख्यायाः संवत्सर” इति सूत्रभाष्ये स्पष्टम् । आर्हादितिसूत्रभाष्ये प्रस-
ङ्गात् उन्मानादीनां त्रयाणां वैलक्षण्योपपादनेऽपि परिमाणग्रहणेन प्रमाणो-
न्मानयोरग्रहणमित्यनुक्तेः, संख्यायास्तद्ग्रहणेनाग्रहणमुक्त्वा तस्यैव द्विश-
तेत्यादौ अपरिमाणेतिनिषेधप्रवृत्तिरूपफलोक्तेश्च परिमाणपदेन उन्मान-प्रमाण-
परिमाणानां त्रयाणामपि ग्रहणम् । अत एव “असमासे निष्कादिभ्यः” इति
सूत्रस्थम् असमासग्रहणस्य तदन्तविधिज्ञापकतापरं भाष्यं सङ्गच्छते । सर्व-
तोमानमात्रस्य आर्हादिति सूत्रे परिमाणपदेन ग्रहणे तु उन्मानभूतनिष्कस्य
अपरिमाणत्वात् नैष्किकं, परमनैष्किकमित्युभयत्रापि “आर्हादगोपुच्छसं-
ख्यापरिमाणाऽठक्” इत्यनेन ठक् प्राप्नो निष्काच्चेत् असमासे एवेतिनियमा-
र्थतया असमासग्रहणस्य चारितार्थ्यं तदन्तविधिज्ञापकत्वासङ्गतिः । कैयटो-
ऽपि तत्र “निष्कशब्दस्य परिमाणवाचित्वात् पूर्वणाप्राप्तोऽनेन ऽगिवधीयते”

प्रमाणे इति । षोडशहस्तप्रमाणदण्डवाचककाण्डशब्दस्याऽऽयाम-
मात्रपरिच्छेदकत्वेन प्रमाणत्वमिति भावः ।

पुरुषान्प्रमाणे ॥ पुरुषस्योर्ध्वाधरदिगवस्थितवस्तुमात्रपरिच्छेदकत्वे-
नान्मानत्वाद् उन्मानस्य चेद् विस्तादेरेवेति नियमान्निषेधाप्राप्त्या नित्यं-
ङीपि प्राप्ते विकल्पार्थमिदम् । अत्र प्रमाणशब्दः परिच्छेदकमात्रपरो न
त्वायामपरिच्छेदकवाची । अत एव तस्य पुरुषविशेषणता नासङ्गता ।
जातिवचनस्यापि पुरुषशब्दस्य “पञ्चारत्निः पुरुषः” इति शुल्वसूत्रादत्र
प्रमाणे इति विशेषणालोकव्यवहाराच्च परिच्छेदकवाचित्वमपि । द्विपुरु-
षीति । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्या इत्यर्थे “तदस्य परिमाणम्” इति प्रत्ययस्य
‘अङ्यर्द्ध’ इति लुकि उदाहरणम् । तत्र हि परिमाणशब्देन *उत्तरसूत्रानुरो-
धात्परिच्छेदकमात्रस्य ग्रहणमिति सिद्धान्तः ।

ऊधसो ॥ समासान्तोऽयम् । तत्र स्त्रियामित्युपसंख्यानादाह—स्त्रि-
यामिति । “बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः” इत्यतो बहुव्रीहायित्यनुवर्तते । द्वित्रि-
चास्याऽऽदेशत्वम् । डाब्डीब्निषेधेष्वाति । समासान्तानामलौकिके वाक्ये
एव प्रवृत्त्या पूर्वमनङ्येषां प्राप्तिः । “अन उपधालोपिन” इत्यत्रास्यानुवृ-
त्त्या ङीपो ऽपि बाधः । एतेन मध्येऽपवादन्यायाडाब्निषेधयोरिदं बाधक-
मित्यपास्तमिति भावः । ङीषिति । ङीपि तु कुण्डोधन्शब्दे पूर्वपदप्र-
कृतिस्वरेण धकाराकारस्यानुदात्तत्वादुदात्तनिवृत्तिस्वराप्राप्त्याऽन्तोदात्त-
त्वन्न सिद्ध्येत् । कुण्डमिवोद्यो यस्या इति विग्रहः । बहुव्रीहेः
किम् । ऊधः प्राप्ता प्राप्तोधाः “प्राप्तापन्ने च” इति समासः । अव्ययग्रह-
णाननुवृत्तेरिति । अस्वरितत्वादिति भावः । निषेधावपीति ।
अपिना “अन उपधा” इति ङीप् । अन्ग्रहणे ऽनर्थकस्यापि ग्रहणात् ।
द्विहायनी बालेति । “द्विहायनी द्विवर्षा गौः” इति प्रायोवाद इत्येके ।

इत्याह । तत्र परिमाणोन्मानयोरेव ग्रहणमिति तु न युक्तम् । विनि-
गमनाविरहात् । अत एव च विस्तकम्बल्यग्रहणं चरितार्थम् । तस्य,
काण्डान्तात्क्षेत्रे इत्यस्य च नियामकत्वकल्पनं तु “विधिनियमसम्भवे विधिरेव
ज्यायान्” इतिपरिभाषाऽननुगृहीतं गौरवग्रस्तं च । तस्मात् तिर्यङ्माने द्वि-
हस्ती भित्तिरित्येव । द्विहस्तेति तु उत्तरपदलोपिसमासे अर्शआद्यच्चा कथं
चित्साधनीयम् इत्याहुः । *उत्तरसूत्रेति । “संख्यायाः संज्ञा” इति सूत्रस्थसं-
ख्यासामानाधिकरण्यानुरोधादित्यर्थः ॥

बालेत्यस्य गौरित्यर्थ इत्यन्ये ।

नित्यं सञ्ज्ञा । ननु सञ्ज्ञाशब्दा नियतानुपूर्वीका अनादयः, छन्दसि च दृष्टस्यैव विधानमिति जीवभावविशिष्टस्य तत्र प्रयोगासम्भवाद् “अन उपधा” इत्येव सिद्धे इदं व्यर्थमिति चेदुत्तरार्थत्वात् । योगविभागस्तु व्यर्थ एव । तद् ध्वनयन् लक्षणान्तरसिद्धमुदाहरति—वेदे पञ्चदाम्नीति । क चित्तु शतमूर्धनीति पाठः ।

केवलमामक ॥ अस्मच्छब्दादाणि “तवकममकावेकवचने” इति-ममकादेशः । भागशब्दात्पुंलिङ्गात्स्वार्थे ऽभिधेये स्वार्थिकेषु लिङ्गातिवृत्तेरपि सत्त्वात्स्त्रीत्वम् । पापशब्दो ऽर्शआद्यचा तद्वति वर्तमानः स्त्रियाम् । अपरः पवर्गमध्यो घृतादित्वादन्तोदात्तः । ‘उतापरं यक्षिदेवान्’ इत्यादौ ‘उतापरीभ्यो मघना’ इत्यादौ चान्तोदात्तपाठात् । पूर्वमनयन्नापरमित्यादौ पठ्यमानमाद्युदात्तत्वमपि वृषादित्वात् । अपराः पूर्वामभ्येतीत्यादावजादिपाठाद्वापि । आर्षेण कृतेति प्राक् सुबुत्पत्तेः समासे ऽदन्तत्वम् । भेषजशब्दो ऽव्युत्पन्न औषधे रूढः । भिषज इदमित्यणि भैषजशब्दो ऽपि तत्र । सुमङ्गलीरियं बधूरिति तु मत्वर्थीये ईप्रत्यये बोध्यम् ।

प्रकृतिभागाविति । नुक्स्न्नियोगेनेति भावः* । मतुबिति । वत्वन्तु “मादुपधाया” इति सिद्धम् ।

यज्ञेन संबन्ध इति । स्त्रिया इत्यर्थः । संयोगपदं संबन्धोपलक्षणम् । संबन्धश्च यज्ञफलप्रतियोगिकैश्वर्यवत्त्वं, तदाह—तत्कर्तृकेति ।

विभाषा ॥ सहशब्दो विद्यमानवाची, पूर्वशब्दो ऽवयववाची, व्याख्यानात् । तत्र केवलपतिशब्दस्य विद्यमानपूर्वावयवत्वासम्भवादव्यभिचाराच्च पतिशब्देन तदन्तं गृह्यते इत्याह—पतिशब्दान्तस्येत्यादि । न पत्युरिति । सपूर्वस्येत्यनेन पत्यन्तस्य गृह्यमाणत्वादिति भावः । बहवो वृषलपतयो यस्या इति कर्मधारयोत्तरपदबहुव्रीहौ वारणायेहार्योऽप्यनुपसर्जनपदसम्बन्ध* इत्यन्ये । बहुव्रीहावित्युपसर्जनोपलक्षणम् । तेन पतिमतिक्रान्ता ऽतिपत्नीत्यपि । व्यस्ते इति । “विभाषा सपूर्वस्य” इत्यत्र य-

*नुक्स्न्नियोगेनेति । “अन्तर्वत्पतिवत् गर्भभर्तृसंयोगे” इति वार्त्तिकात् गर्भिण्यां, जीवद्भर्तृकायामिति च लभ्यते इति बोध्यम् ।

* इत्यन्ये इति । केचित्तु “सिद्धं तु पत्युः प्रातिपदिकविशेषणत्वात्”

ज्ञसंयोग इति न सम्बद्ध्यते, भाष्ये “कथं तुषजकस्य पत्नी” इति व्यस्ते एव प्रश्नात् । वृषलत्वेन यज्ञसंयोगाभावात्पूर्वेणाप्राप्तेः, सपूर्वत्वाभावाच्चैतदप्राप्तेरिति भावः । उपचारादिति । पाणिग्रहणाश्रयणादिति भावः । यद्वेति । इदं प्रौढ्या । तत्प्रकृतिककर्तृकिपि दृढमानाभावात् । पूर्वसूत्रे यज्ञसंयोग इति तु “वृषलस्य पतिः स्त्री” इतिप्रयोगमाधनार्थम् । सपूर्वस्य किमिति । अवयववाची पूर्वशब्दः किमर्थ इति प्रश्नः । गवां पतिरिति । स्वामिनीत्यर्थः ।

निपात्यते इति । तेन चोदात्तसादेशस्यैव प्रवृत्त्या सपत्नीशब्दस्याद्युदात्तत्वमपि सिद्धम् । किं च समानस्वामिकस्त्रीविशेषस्यैव रुढ्या बोधनार्थं ङीष्कारविशिष्टोच्चारणम् । अत एव समानस्वामिकदासीभूम्यादौ सपतिरित्येव । समानत्वं चैकस्यैव तत्तत्पत्नीसम्बन्धेन भेदमारोप्य बोद्धव्यम् । मुख्यसादृश्यवत्पतिकासु तु न तथा प्रयोग इष्यते ।

त्रिसूत्रीति । व्याख्यानादिति भावः ।

सन्नियोगशिष्ट इति । तेन तदभावे ङीवपि नेति भावः ।

नितान्तानामित्यत्राकार उच्चारणार्थः । नितन्तानामिति पाठे जश्त्राभावः सौत्रः । त्रीण्येतानीति । अत्रैतशब्दस्योपसर्जनत्वे ऽपि तदन्तमनुपसर्जनमेव । अनुपसर्जनादिति चात्र तदन्तविशेषणम् । अत एव गृह्यवृत्तिकृता नारायणेनात्र बहुव्रीहिं कृत्वा ऽनेन ङीवित्युक्तं, तदनुसारेण चेदम् ।

परे तु “उपमानानि” इतिसूत्रस्थभाष्यस्वरसात् “टिड्ढाणञ्” इत्यादौ गृह्यमाणविशेषणत्वस्य क्लृप्तत्वाच्चात्रापि तथैवोचितम् । तत्र हि शस्त्रीश्यामेत्यादौ श्यामाशब्दः शस्त्र्यामेव, उपमेयन्तु समासवाच्यमिति पक्षे “शस्त्रीश्यामो देवदत्त इत्यत्र ह्रस्वत्वन्न सिद्ध्यति । यद्युपसर्जनस्येति *ह्रस्वत्वं, तदा

इति वार्तिकस्य “सपूर्वात् प्रातिपदिकात् पत्यन्तादनुपसर्जनात्” इति भाष्ये व्याख्यानात् स्त्रियां वर्तमाने प्रातिपदिके एव सपूर्वत्वानुपसर्जनत्वयोर्लाभात् निरुक्तकर्मधारयोत्तरपदे बहुव्रीहावपि ङीप्प्रवृत्तेर्दुवारतया नेहाथोऽनुपसर्जनपदसंबन्धः । अत एव अनउपधेति सूत्रे “बहुव्रीहेरनुपसर्जनत्वाव्यभिचारात्” इति शेखरकारेणोक्तम् । अन्यथा बहुव्रीहिघटकबहुव्रीहौ उपसर्जनत्वसंभवेन अनुपसर्जनत्वाव्यभिचारोक्तिरसंगतैव स्यादित्याहुः ।

ह्रस्वत्वमिति । समासवाच्यत्वेनोपमेयस्य प्राधान्यमिति श्या-

*कुम्भकपाललोहिनीत्यत्रानुपसर्जनलक्षण ईकारो न प्राप्नोति"इत्युक्तम् ।
ज्येष्ठेत्यस्य *त्रिषु स्थानेषु अन्येत्यर्थो बोध्य इत्याहुः । *आर्षमत्र णत्वम् ।
वर्णात्किम्, प्रकृता । "गतिरनन्तरः" इत्याद्युदात्तः । अन्तोदात्त इति ।
"श्वेतो वाजी जायते"इत्यादौ तथा पाठादिति भावः । "छन्दसि क्रम्"इति
नादेशापवादः । तेन 'उत्सर्गसमानदेशा अपवादा'इति न्यायात्तस्थानि-
कत्वं* ङीप्संनियोगशिष्टत्वञ्चास्य बोध्यम् । विशुद्धिवाचीति पाठे तत्प्र-
वृत्तिनिमित्तक इत्यर्थः ।

अन्यतो ॥ सन्निधानाद् *व्याख्यानाच्च तोपधस्यैव प्रतियोगित्वे-
नान्वय इत्याह-तोपधभिन्नादिति । वर्णात्किम् । खट्वा । आद्युदात्तः ।

नर्त्तकीति । शिल्पिनि ष्वुन् । गौरशब्दो वर्णवाच्यप्यन्तोदात्त इतीह
पाठः । अनङ्वाहीति । "आमनङुहः स्त्रियां वा"इति वचनात्पक्षे आम् ।

सूर्येति । स चेद्य इति । सूर्यादीनामङ्गानामुपधाया इति व्या-
ख्याने तु सौरी बलाकेति न सिद्ध्येत् । सूर्येणैकदिगत्यणन्तान् ङीपि
अणन्तमङ्गं न सूर्यशब्द इति तदासिद्धिः । वचनन्तु सूरी कुन्तीत्यत्र चरि-

माशब्दार्थस्य वृत्तिघटकपदार्थत्वेनाप्राधान्यादुपसर्जनत्वमित्यभिमानेन "गो-
स्त्रियोरुपसर्जनस्य" इत्यस्य प्राप्तिरिति भावः । वस्तुतस्तु तत्र 'प्रथमानिर्दिष्टम्'
इति 'एकविभक्ति' इति च कृत्रिमस्यैवोपसर्जनस्य ग्रहणमिति सामान्यवच-
नैरितितृतीयनिर्दिष्टत्वाद्, अनियतविभक्तिकत्वाच्च इयमाशब्दस्य कृत्रिमो-
पसर्जनत्वाभावेन पूर्वोक्तदोषो दुरुद्धर एव । लौकिकोपसर्जनग्रहणमभ्युपे-
त्य दोषान्तरमाह—*कुम्भकपालेति* । उपमेयं समासवाच्यामिति पक्षे
कुम्भकपालं लोहितमिवेति विग्रहः । तथा चोपमानस्य नपुंसकलिङ्गत्वात्
समासात् प्राक् स्त्रीप्रत्ययो न, समासोत्तरमुपसर्जनत्वेन "वर्णादनुदात्तां-
त्तोपधात्तो न"इत्यस्य न प्राप्तिरिति भावः । *त्रिषु स्थानेष्विति* । "सुप्सुपा"
इति समासः । *आर्षमत्र णत्वमिति* । समानपदत्वाभावाद् "अङ्कुष्वाङ्"
इत्यस्य, संज्ञात्वाभावात् "पूर्वपदात्संज्ञायामगः"इत्यस्य चाप्राप्तेरिति भावः ।
तस्थानिकत्वमिति । न त्वनेकालत्वात्सर्वादेश इति शेषः । यद्वा । वर्णा-
दनुदात्तादित्यतः त इत्यस्यानुवृत्त्या तकारस्थानिकत्वं क्लादेशस्य । तेन "विषय-
भेदेऽपि बाध्यबाधकभाव" इति भाष्यमते उत्सर्गसमानदेशा इतिन्यायाभावेऽपि-
न दोष इति बोध्यम् ।

*व्याख्यानादिति । तित्तिरिकल्माषी इत्युपमानानीति सूत्रस्थभाष्यप्रयोगदर्-
शनमूलकादित्यर्थः । अन्यथा पूर्वसूत्रे विशेष्यभूतवर्णवाचकस्यैव प्रतियोगितया
ऽन्वये उक्तप्रयोगानुपपत्तिः स्पष्टैव, कल्माषशब्दस्य वर्णवाचित्वादिति बोध्यम् ।

तार्थम् । अणो लोपेऽप्याभीयत्वेन सो ऽसिद्धः, अण्निमित्तकाल्लोपस्तु व्या-
श्रयत्वान्नासिद्ध इति यस्योपधात्वम्, उपधाग्रहणादेव*भाधिकारमभिव्याप्या-
भीयासिद्धत्वमिति बोद्धव्यम् । यग्रहणन्तूत्तरार्थम् । ऊचामिति निर्देशात्सप्त-
म्येकवचनस्याग्रहणम् । नक्षत्राणीति । नक्षत्रवाचकाद् यो ऽण् तत्रेत्यर्थः ।
तेन तिष्येण युक्तं तैषमहः, तिष्ये भवस्तैष इत्यादि सिद्धम् । मानरि-
षिचेति । पितामहीसिद्ध्यर्थमिदम् । दंष्ट्राति । दंशेः “दाम्नीशस” इति करणे
ष्टन् । अयमजादिषु पठ्यते । गौरादिषु मातामहीशब्दपाठो ऽनार्थ इत्यन्ये ।

जानपदीति । जनपदे भवेत्यर्थः । उत्सादित्वादब् । ङीप्पाद्युदा-
त्तत्वे प्राप्ते ऽन्तोदात्तार्थं वचनम् । वृत्तिः—अनुच्छेद्या जीविका । अप्रत्यय
इति । तथा च क्रियाशब्दोऽयमिति भावः । अमत्रे—कमण्डलुरूपे(१) ।

कुण्डी कमण्डलौ, जारात् पतिवन्नीसुते पुमान् ।

इति मेदिनीकोशात्स तत्र नित्यस्त्रीलिङ्ग इति भावः । यदि तु ‘पिठरे
तु न ना कुण्डम्’ इति विश्वकोशे तस्य नपुंसकत्वमप्युक्तं, पिठरामत्रशब्दौ च
पर्यायौ, ‘पिठरं स्थाल्युखा कुण्डम्’ इत्यमरे नपुंसकत्वमात्रोक्तिस्त्ववयुत्या-
ऽनुवाद इत्युच्यते, तदाऽनेकविधसंस्थानेषु अमत्रेषु कुण्डव्यवहारेण कुण्डत्वे
जातित्वाभावादप्राप्तो ङीषिति बोद्धव्यम् । स्त्रीविषयत्वादित्युपलक्षणमिति
वहवः । कमण्डलुसंस्थानस्यानुगतत्वात्तद्रूपामत्रवाचिनो जातित्वमप्यस्ति ।
सूत्रन्तु नियमार्थमेव । अमृते जारजायां कुण्डेत्येवेत्यपरे । आवपने च नि-
त्यस्त्रीत्वादप्राप्तस्य ङीषो विधिः । आवपनमिति सामान्ये नपुंसकम् ।

गुणयोगादिति । गौणत्वेऽप्यपदकार्यत्वात्प्रवृत्तिरिति भावः ।
*विधित्वानुरोधाद् गौण एवास्य प्रवृत्तिः । घर्णश्चेदिति । तद्विशिष्ट-
श्चेदित्यर्थः । अन्यथा ‘गुणे शुक्लादयः पुंसि’ इत्युक्त्या ऽसंगतं स्या-

*भाधिकारमभिव्याप्येति । तेन शुन इत्यादौ संप्रसारणस्यासिद्धत्वा-
त् “न संयोगात्” इति निषेधेन “अल्लोपोऽन” इति लोपो न । अल्लोपे हि स्थानि-
वत्त्वेन यणापत्तिः, बहुश्वेत्यादौ अनउपधेति ङीवापत्तिश्च । एवं भूयानित्यादौ
“वहोर्लोप” इत्यस्यासिद्धत्वात् ओर्गुणो न । एवं तिर्यञ्चमाचष्टे तिराययतीत्यादौ
अचाष्टिलोपेनोपहारे तस्यासिद्धत्वात् पुनष्टिलोपो नेति बोध्यम् ।

विधित्वानुरोधादिति । विधिनियमसम्भवे विधेर्ज्यायस्त्वात् ।

दिति बोध्यम् । सूत्रे वर्णशब्दो ऽर्शआद्यजन्तः । कालाऽन्येति ।
क्रौर्यगुणयुक्तेत्यर्थः ।

नील्या अनिति । वृत्त्यनुसारेणेदम् । प्रतिपदोक्तत्वाद्
अन्प्रकृतिङीषन्तप्रविष्टनीलशब्दस्यैवात्र ग्रहणं, न त्वस्य । लाक्षणिकत्वात् ।
अनाच्छादने इति नीलवर्णवती शाटीत्यर्थे नीलीति वारणाय चरितार्थम् । नील्या रक्ता गौरित्यर्थे *नीलेत्येवोचितमिति परे । मैथुनेच्छाशब्दो
ऽर्शआद्यजन्तस्तद्वतीत्यर्थः । अन्येति । मैथुनादन्यद् या इच्छति ।
कमेः “लषपत”इत्युक्ज् । शोणशब्दो वर्णवाची “वर्णानां तण”इत्याद्यु-
दात्तः । अन्यत इति सिद्धे विकल्पार्थमिदम् ।

वोतो ॥ अत्र *गुणवचनशब्देन समस्त-कृदन्त-तद्धितान्त-सर्वना-
म-जाति-संख्या-संज्ञाशब्दातिरिक्तशब्दो गृह्यते । *आकडारसूत्रभाष्य-
पर्यालोचनया तादृशानामेव तत्संज्ञालाभात् । तत्र हि प्रातिपदिकमात्रस्य

तथा च वृत्तिः—“नागशब्दो गुणवचनः स्थौल्ये ङीषमुत्पादयति, अन्यत्र गुणे
एव टापम् । अगुणवचनात्तु जातिशब्दान् ङीषेव भवति” इति ।

नीलेत्येवोचितमिति । अस्य लाक्षणिकत्वेन सूत्रे नीलशब्देना-
ग्रहणादिति भावः ।

वोतो गुणवचनात् । अत्र गुणो नादेर्लृरूपः । उत इति विशेषणात् ।
नापि विशेषणम् । आखुर्द्रव्यमित्यादावतिप्रसङ्गात् । नापि नैयायिकाभिमतो
गुणः । मृद्धी बुद्धिरित्यादेरसिद्ध्यापत्तेः । अत आह—*अत्र गुणवचन-
शब्देनेति ।

आकडारसूत्रेति । तत्र सूत्रे भाष्ये “अर्थवत् प्रातिपदिकम्”
इति अर्थवतः प्रातिपदिकसंज्ञामुक्त्वा तस्यैव “गुणवचनं च”इति गुणवचन-
संज्ञा विहिता । ततश्च “समास-कृत्-तद्धिता-ऽव्यय-सर्वनामा-ऽसर्वलि-
ङ्गा जातिः, संख्या, डु च, एकद्रव्योपनिवेशिनी संज्ञा”इति समासादिसं-
ज्ञास्तद्वाधकत्वेनोक्ताः । डुशब्देन च षट्—संज्ञा । अत्र कैयटः—“गुणवच-
नं चेति । एकविषयत्वाच्चकारकरणाच्च गुणवचनप्रातिपदिकसंज्ञयोः समावे-
शो भवति । उत्तरासु च संज्ञासु प्रातिपदिकमित्यनुवर्तनात् ताभिः प्राति-
पदिकसंज्ञा समाविशति, गुणवचनसंज्ञा तु ताभिर्बाध्यते” इति । एवञ्च स-
मासादिसंज्ञातिरिक्तप्रातिपदिकमात्रं गुणवचनपदेन ग्राह्यमिति स्पष्टमेव ल-
भ्यते । अत्र समासादिसंज्ञाभिर्गुणवचनसंज्ञाबाधात् “चित्रगुत्वं, कारकत्वम्,
औपगवत्वम्, उच्चैस्त्वं, सर्वत्वं, घटत्वं, बहुत्वं, पञ्चत्वं, दित्यत्वम्” इत्यादौ न
पश्यन् । नचैवम् ‘पेक्यम्’ ‘राजपौरुष्यम्’ इत्याद्यसिद्ध्यापत्तिः, संख्यासमाससं-

गुणवचनसंज्ञासुक्त्वाऽग्रे तद्बाधकत्वेनैताः क्रमेण पठिताः । गुणवचनेत्य-
 *न्वर्थसंज्ञया गुणोपसर्जनगुणिवाचकानामेव तादृशानां सा सञ्ज्ञेति न
 रूपादीनां ग्रहणम् । जातिपदेनाऽऽकृतिग्रहणद्रव्यवृत्तिजातिवाचकानामेव
 तत्र ग्रहणात् । कटादिशाखातदध्येतृणाञ्च तद्धितान्तत्वादेव व्यावृत्तिः ।
 एतत्सूत्रभाष्योक्तं—

*सत्त्वे निविशते ऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते ।

आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥

इति गुणलक्षणं त्वेकदेश्युक्तिर्वहुविशेषणानां वैयर्थ्यात्* । भाष्यकृता
 व्याख्यानाच्च । तस्मादाकटारसूत्रोक्तमेव भाष्यसंमतमिति भाष्यप्रदीपोद्-
 द्योते निरूपितम् । शुचिरिति । शुचेरौणादिकः किन् । उत इत्य-
 स्याभावे ऽपि “स्वरुसंयोगोपधान्न”इत्येतत्सामर्थ्येनात इत्यस्यात्रासम्बन्धः ।

ज्ञाभ्यां गुणवचनसंज्ञाबाधादिति वाच्यम् । तयोर्ब्राह्मणादिगणे पाठेन ब्राह्मणा-
 दित्वात्तत्सिद्धेः । ब्राह्मणादिग्रहणं तु समासादिविषयार्थं, प्राणभृज्जातिलक्षणा-
 ज्वाधनार्थं, युवाद्यणा समावेशार्थं चेति कैयटः ।

अन्वर्थसंज्ञयेति । गुणसंज्ञायामेव लाघवात्कर्तव्यायां गुणवचनेति-
 महासंज्ञाकरणसामर्थ्यादिति भावः ।

सत्त्वे निविशते इति । सत्त्वे द्रव्ये निविशते सम्बध्यते, अपैति त-
 तो निवर्तते, पृथग् भिन्नासु जातिषु जात्याधारेषु अर्थात् भिन्नजातीयेषु द्र-
 व्येषु दृश्यते च यः स गुणः, यथा शुक्लादिः । स हि घटादौ यस्मिन् सम्बध्य-
 ते, तत एव च पाकादिना निवर्तते, भिन्नजातीयेषु पयःशङ्खादिषु दृश्यते च ।
 अनेन जातेर्गुणत्वनिरासः । घटत्वादिजातिर्हि यस्मिन् घटादौ सम्बध्यते न
 तं कदाचिज्जहाति, नच भिन्नजातीयेषु पटादिषु दृश्यते । एवं सति क्रियायां
 गुणत्वं प्रसज्यते । तस्या अपि घटादौ कदाचिदुपलम्भात्, कदाचित्ततो नि-
 वृत्तेः, भिन्नजातीयेषु घटपटादिषु दर्शनाच्च—अतो विशेषणान्तरमाह । आधेय
 इति । उत्पाद्य इत्यर्थः । अक्रियाजः अनुत्पाद्य इत्यर्थः । तथाच नित्यानित्य-
 वृत्तिपदार्थविभाजकोपाधिमस्त्वमित्यर्थः । गुणत्वस्य पाकजरूपादिषु अनित्येषु,
 आकाशमहत्त्वादिषु नित्येषु च सत्त्वात्तद्वत्सु शुक्लादिषु लक्षणसमन्वयः । क्रि-
 यात्वस्य च नित्यावृत्तिस्त्वात्तद्वत्यां क्रियायां नातिप्रसङ्गः । एवमपि अवयवि-
 द्रव्ये अतिव्याप्तिः । तस्यावयवेषु सम्बध्यमानत्वात्, असमवायिकारणसंयोगानि-
 वृत्तौ ततो निवर्तमानत्वात्, भिन्नजातीयेषु हस्तपादादिषु दृश्यमानत्वात्,
 नित्यानित्यवृत्तिद्रव्यत्वरूपोपाधिमत्त्वाच्च—अत आह । असत्त्वप्रकृतिरिति ।
 अद्रव्यस्वभाव इत्यर्थः । द्रव्यभिन्नत्वमिति यावत् । तेन तत्र नातिप्रसङ्गः ।

उणादीनामव्युत्पन्नत्वात्कृदिकारादित्यस्यात्रापवृत्तिरित्यभिमानः । *शुक्लेति तु प्रत्युदाहरणमुचितम् । तपरः किम् । वधूः, कामूः । “वधूः स्नुषा नवोढा स्त्री”, “कामूर्विकलवाचि स्याद्” इतिकोशबलेन *नवोढात्वस्य, *विकलवाक्त्वस्य च प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन खरुशब्दवद् गुणवचनत्वात् ।

बहुविशेषणानां वैयर्थ्यादिति । सत्त्वे निविशते इति, पृथग् जातिषु इति वा जातेर्वारणसम्भवे तदन्यतरस्य वैयर्थ्यात् । जातेरनित्यत्वाभावात् नित्यानित्यवृत्तिधर्मवत्त्वमिति क्रियावारकणैव तस्या वारणसम्भवात् तद्वारकयोरुभयोरपि वैयर्थ्यापत्तेः । गुणत्व—जातिमत्त्वमित्येव सिद्धे इतरवैयर्थ्यापत्तेश्चेति भावः । अन्ये तु सर्वेषामपि सफलत्वाच्चिन्त्यमिदम् । तथा हि—सत्त्वे—द्रव्ये निविशते—उत्पद्यते, अपैति—नश्यति । एवञ्च द्रव्याधिकरणकोत्पादविनाशशालित्वमिति प्रथमविशेषणं फलितम् । जातिषु इति पञ्चम्यर्थे सप्तमी । जातिभ्यः पृथगित्यर्थः । तथा च जातिभिन्नत्वमिति द्वितीयं फलितम् । आधेयश्चाक्रियाजश्च—पूर्ववत् नित्यानित्यवृत्तिधर्मवत्त्वमिति तृतीयम् । असत्त्वप्रकृतिः—द्रव्यभिन्न इत्यर्थः । तेन द्रव्यभिन्नत्वं चतुर्थम् । तत्र द्रव्याधिकरणकोत्पादविनाशशालित्वमित्याद्यविशेषणानुकावभावे गुणत्वापत्तिः । द्रव्याधिकरणकोत्पादविनाशशालित्वमिति प्रथमविशेषणे उत्पादमात्रोक्तौ ध्वंसे ऽतिव्याप्तिः, नाशमात्रोक्तौ प्रागभावेऽतिव्याप्तिः । द्वितीयविशेषणानुक्तौ उत्पादविनाशशालिन्या विशिष्टाधिकारप्रयोजकत्वेन लाघवात् क्लृप्ताया ब्राह्मणत्वादि सामान्यव्याप्याया विशिष्टा ब्राह्मणत्वादिजातेरपि गुणत्वापत्तिः । उत्पादविनाशौ चास्याः संस्कारपातित्यादिना तत्तद्व्यवृत्तित्वविशिष्टब्राह्मणत्वादिजातेरुत्पादविनाशयोः सकलानुभवसिद्धत्वेन बोध्यौ । तृतीयानुक्तौ क्रियायां गुणत्वापत्तिः । चतुर्थानुक्तौ अवयविद्रव्ये गुणत्वापत्तिः । गुणत्वजातिमत्त्वमितिलक्षणान्तरसंभवेऽपि अस्य लक्षणत्वे बाधकाभावः । तद्ब्राह्मणत्वाच्चास्य न वैयर्थ्यम् । एवं च सर्वविशेषणानां सार्थक्यान्नैकदेशयुक्तिरियम् । आकङ्कारसूत्रस्थभाष्यं तु यत्रार्थनिर्णायकं नोपलभ्यते तत्रैव व्यवस्थापकम्, यथा गुणवचनब्राह्मणादिभ्य इत्यादौ । अत्र तु भाष्यकारेण गुणलक्षणाभिधानात् न तद् व्यवस्थापकम् । बह्वादिग्रहणसार्थक्यप्रयोजकसंख्यानिष्ठगुणत्वाभावायैकमात्रवृत्तित्वमपि विशेषणं देयम् । न चैकत्वे ऽतिव्याप्तिः । अनेकनिरूपितवृत्तितावच्छेदकसंख्यात्वादिधर्मानवच्छिन्नत्वस्यैवैकमात्रवृत्तित्वरूपत्वादित्याहुः ।

*शुक्लेतीति । ‘संयोगोपधाञ्’ इति निषेधस्तु खरुसाहचर्यादुकारान्त एवेति भावः । पीतेत्यस्योपलक्षणं वा । अदन्ताच्चेत् शोणशब्दादेवेति रीत्या “शोणात् प्राचाम्” इत्यस्य नियामकत्वे तु प्रत्युदाहरणं चिन्त्यम् । *नवोढात्वस्येति । नवोढात्वस्य लज्जाभयपराधीनरातिकत्वस्वरूपतया रतेश्च सुखविशेषरूपत्वेन गुणत्वम् । *विकलवाक्त्वस्येति । तस्य विकलवचनस्वरूप-

पतिवरेति । *पतिलाभोत्कण्ठावतीत्यर्थः ।

बह्नादि ॥ बहुशब्दस्योक्तरीत्या गुणवचनत्वाभावेन ग्रहणम् । 'कृ-
दिकाराद्'इति 'सर्वत'इति च गणमूत्रे । अकृतोऽपीत्यर्थः । "व्यवस्थितविभा-
षाश्रयणात्कचिन्न । सुगन्धिः, *प्रियकतिर्वैश्येत्यादि"इति वृत्तिः । *पुरा-
णशब्दोऽत्र पठ्यते । स यद्यपि 'अयं पन्था अनुवित्तः पुराण'इत्यादावन्तो-
दात्तदर्शनेन घृतादिपाठादन्तोदात्त इत्युदात्तनिवृत्तिस्वरेण ततो ङीष्-
ङीषोः स्वरे विशेषाभावस्तथाप्यत्र पाठसामर्थ्यात्पक्षे टावेवेति बोध्यम् ।
अजननिरिति । "आक्रोशे नञ्यनिः"इति जनेरनिः । अहन्शब्दोऽत्र
पठ्यते । सामर्थ्यादनुपसर्जनाधिकारबाधः । दीर्घाह्नी प्राट्ठिति ङीष्पन्तो-
दात्तम् । बह्नादिराकृतिगण इति गणरत्नकृत् ॥

*पुंयोगादा ॥ हेतौ पञ्चमी । आख्यायामिति *पञ्चम्यर्थे
सप्तमी । आख्याशब्दो बोधकपरः । आख्या चोपस्थितत्वात्पुंस एव न
स्त्रियाः । स्त्रियां वर्तमानस्य स्त्र्याख्यत्वाव्यभिचारादाख्यापदवैयर्थ्या-
पत्तेः । *पुंस्येव यः प्रसिद्धः शब्द इत्यर्थः । *पुंयोगाद्धेतोः प्रवृत्तिनि-
मित्तारोपेण स्त्रियां वर्तमानात्पुंवोधकाच्छब्दान्ङीषित्यर्थः । योगः स-
म्बन्धः । पुंयोगात्किम्, देवदत्ता । आख्यायां किम्, प्रमृता । तदः-

तया शब्दत्वेन गुणत्वम् । *पतिलाभोत्कण्ठेति* । उत्कण्ठायाश्च स्मृतिरूपत्वाद्
गुणत्वम् । कोमलत्वकठोरत्वादीनां संयोगविशेषतया गुणत्वमिति बोध्यम् ।

*प्रियकतिर्वैश्येति । तथा च परिशिष्टम् "इतोऽक्त्यर्थादनादेशादकतेः"
इति । *पुराणशब्द इति* । स च द्युलन्तः । "पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु"इति
निर्दिशात् तुडागमाभावः ।

पुंयोगात् । पञ्चम्यर्थे सप्तमीति । यन्तु इयं सप्तमी अधिकरण एव ।
तस्याश्च प्रातिपदिकपदार्थेनान्वयः । आख्या च बोधः । तथा च तद्वृत्तिप्रातिपदि-
कादित्यर्थः । वृत्तित्वं च जनकतासम्बन्धेनेति । तन्न । जनकताया वृत्त्यनियामक-
त्वात् । *पुंस्येव यः प्रसिद्ध इति* । इदं चिन्त्यम् । तथा सति चैत्रस्य स्त्री चैत्री
इत्यादौ सूत्रस्य चारितार्थ्येऽपि गोपस्य स्त्री गोपी शूद्रस्य स्त्री शूद्री इत्यादेर-
सिद्धापत्तेः । तत्र गोपशूद्रादेः स्त्रियामपि प्रसिद्धत्वात् । *पुंयोगाद्धेतोः
प्रवृत्तिनिमित्तारोपेणेति* । यथा चैत्रस्य स्त्री चैत्रीत्यादौ चैत्ररूपपुंप्रतियोगि-
कस्वत्वरूपसम्बन्धप्रयोज्यो यश्चैत्रत्वारोपस्तादृशारोपप्रकारीभूततादृशचैत्रत्वपु-
रस्कारेण चैत्रस्त्रीबोधकाच्चैत्रपदादनेन ङीष् । नन्वेवं गोपीत्यादौ ङीष् दुर्ल-
भस्तत्र गोपत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तस्य स्त्रियामपि स्वत एव सत्त्वेनारोपास-
म्भवादिति चेन्न । अगोप्यामेव गोपस्त्रियामनेन ङीष्विधानात् । गोप्यां तु

भावे हि स्त्रियां वर्तमानं यत्प्रातिपदिकं पुंयोगहेतुकप्रवृत्तिनिमित्तकमित्यर्थो ऽपि सम्भाव्येत । अस्ति हि तत्प्रवृत्तिनिमित्ते प्रसवे पुंयोगहेतुकत्वम् । उक्तपुमाख्या तु नैषेति भावः । पुंयोगो ऽत्र दास्पत्यरूप एवेति भाष्यस्वरसः । “यथेयं भर्तृपापकृतान् बन्धादीन् लभते, एवं तच्छब्दमपि” इति भाष्योक्तेः । देवकीत्यादि तु गौरादिषु बोद्धव्यमिति *केचित् ।

गोपालिकेति । गाः पालयतीति गोपालः स एव गोपालकस्तस्य स्त्रीत्यर्थः । ण्वुलन्तस्य तु कारकषष्ठ्या समासनिषेधाच्छेषषष्ठ्या समासे आपः सुपः परत्वादित्वं दुर्लभम् । वस्तुतः शेषषष्ठ्या अप्यत्र कारकत्वात्सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव तत्रापि समासः । यथाकथंचित्कारकग्रहणे ऽपि कथंचित्कारकत्वमादाय ‘गतिकारकोपपदानाम्’इत्यस्य प्रवृत्तेरत्रत्यः-

जातिलक्षण एव ङीष् । या तु गोपत्वजात्यभाववतो, स्वयमपि गोरक्षिणी, गोरक्षकस्त्री च तत्र गोरक्षकस्य स्त्री गोरक्षिकेत्येव ।

नन्वेवं शूद्रजातात्पर्येण शूद्रस्य स्त्रीति व्युत्पत्त्याऽपि शूद्रीति न स्यात् । जातौ टापा बाधात् । पुंयोगे शूद्रत्वस्य स्त्रीसाधारणत्वेनारोपासम्भवादिति चेत्-अत्रोच्यते । अत्राप्यशूद्रजातीयायामेव शूद्रस्त्रियां शूद्री इति प्रयोग इष्यते, शूद्रजातीयायां तु पुंयोगे टाबवेति ध्येयम् । केचित्तु पुंवृत्तित्वविशिष्टशूद्रत्वस्यारोपेण शूद्रजातीयायामपि तथा प्रयोग इष्यते । शूद्रादिपदात् शूद्रजातीयस्त्रीबोधोऽपि आरोपितपुंव्यक्तिवृत्तित्वविशिष्टशूद्रत्वपुरस्कारेणैवेत्याहुः । यद्वा यत्र शूद्रजातीयस्त्रियां शूद्रत्वम् अज्ञातं तत्र पुंव्यक्तिवृत्तित्वविशिष्टशूद्रत्वारोपेणास्तु शूद्रादिपदात् शूद्रत्वादिपुरस्कारेण बोधः । तद्धर्मावच्छिन्नविशेष्यताकबोधे तद्धर्मपर्याप्तप्रकारताकविशेष्यताकज्ञानत्वेन न कारणत्वम्, अपि तु तद्धर्मनिष्ठप्रकारताकविशेष्यताकज्ञानत्वेनैव । अत एव नीलघट इति नीलघटत्वपर्याप्तप्रकारताकविशेष्यताकज्ञानात् सुन्दरो घट इति बोधः । न चैवं विशिष्टधर्मारोपो व्यर्थः, शुद्धारोपस्यापि शूद्रजातीयस्त्रियां शूद्रत्वाज्ञानदशायां सम्भवादिति वाच्यम् । आरोपत्वस्य भ्रमत्वव्याप्यत्वेन भवद्भिरारोपत्वेनाभिमतस्य तादृशस्य ज्ञानस्य तद्वति तत्प्रकारकत्वेन भ्रमत्वस्यैवाभावेनारोपत्वस्य तादृशज्ञाने वक्तुमशक्यत्वात् । अस्तु वा घटे रक्ततादशायां रक्तत्वाभावभ्रमात्मकनिश्चये रक्तत्वारोपः, प्रकृते शूद्रस्त्रियां शूद्रत्वाभावभ्रमनिश्चये शुद्धशूद्रत्वस्यैव चारोपः तथापि सिद्धमेव नः समीहितमिति दिक् ।

कोचिदिति । गौरादिषु पाठे मानाभावो ऽत्रारुचिः । एवञ्च तेषामसाधुत्वमेवेति प्रामाणिकाः ।

अत्रत्यभाष्यादिति* । गोपालिकादीनां प्रतिषेध इति ह्यत्र वार्त्तिकम् ।

भाष्यात् “उपपदमतिङ्” इति सूत्रभाष्याच्च* लाभात् । यद्वा तन्निषेधस्या-
नित्यत्वादप्रवृत्तौ कारकषष्ठ्या सुबुत्पत्तेः पूर्वं समासेन तत्रापीत्वं सुल-
भम् । सूर्येति । सत्तेः क्यप्पाद्युदात्तसूर्यशब्दाच्चाप्यन्तोदात्तमिदम् ।
एतेन ङीष्निषेधेन टापैव सिद्धिरित्यपास्तम् । सूर्येति । सूर्यस्य स्त्री
या कुन्ती इयं मानुषी, न देवतेत्यर्थः ।

महर्षे इति । तद्योगे एवैषां स्त्रीत्वमिति भावः । यवनाल्लि-
प्यामिति । लिप्यर्थको ऽत्र ङीष् “तस्येदम्” इत्यन्वाधक इति बहवः ।
लिपिः—अक्षरविन्यासः ।

मातुलेति । मातुलान्नित्ये प्राप्ते उपाध्यायादप्राप्ते विभा-
षेयम् । या तु स्वयमेवेति । “अपादाने स्त्रियां घञ उपसंख्यानं,
तदन्ताच्च वा ङीष्” इति तृतीये “इङ्श्च” इति सूत्रे वार्त्तिकादिति
भावः । उपेत्याधीयते यस्या इति विग्रहः । अर्येति ह्रस्वादि-
स्तदाह—स्वामिनीति । “अर्यः स्वामिवैश्ययोः” इत्युक्तेः । आर्येति पा-
ठस्तु कैयटाद्यसंमतः । स्वार्थ इति । अत एव भाष्ये “अर्याणी, अर्या” इत्ये-
वोक्तम् । पुंयोग एव प्रवृत्तौ तु उपाध्यायीतिवद् अर्याति पक्षे ङीष्मेवो-
दाहरेत् । कर्मण्यणहति । *सूत्रं तु इन्द्री इत्यादिव्यावृत्त्यर्थमिति भावः ।

क्रीतात् । करणादिति वक्तव्ये पूर्वग्रहणादनुवृत्तपातिपादिकरूपा-
न्यपदार्थे ऽवयववाचिपूर्वशब्देन बहुव्रीहिः । तेन वस्त्रेण क्रीतेति वाक्ये
न । अत इति चानुवर्त्तते । करणे किम्, सुक्रीता । धनक्रीतेति । “कर्त्तृ-
करणे” इत्यत्र बहुलग्रहणेन ‘गतिकारकोपपदानाम्’ इत्यस्यानित्यत्वादत्र
सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव समास इति भावः । इदम् “उपपदमतिङ्” इति सूत्रे कै-
यटे स्पष्टम् । अयमजादिष्वित्यन्ये । एवञ्च गतीत्यादेरनित्यत्वे न मानमिति

अस्य “सिद्धये” इति शेषः । अत्रह्यविशेषेण इकारघटितनिर्देशात् ण्वुलन्तेऽपि
इत्वं भवतीति ध्वन्यते । पूर्वं समासाभावे तु तद् दुर्लभमिति भावः । *उपपद-
मतिङ् इति सूत्रेति । तत्र हि “षष्ठीसमासादुपपदसमासो विप्रतिषेधेन” इति
वार्त्तिकमुपन्यस्तम् । षष्ठीसमासस्य सुबुत्पत्त्यनन्तरं प्रवृत्तौ तु उपपदसमास-
स्यान्तरङ्गत्वात्पूर्वं प्रवृत्तौ विप्रतिषेधासङ्गतिरिति भावः ।

*ननु इन्द्रमानयति जीवयतीत्यर्थेन इन्द्राणीत्यादीनामपि सिद्धिः
स्यादत आह *सूत्रं त्विति । इन्द्रस्य स्त्रीत्यर्थविवक्षायाम् इन्द्री इत्यादिर्मा-
भूत् इत्यर्थमित्यर्थः ।

तदाशयः । अत एवैतत् “कर्तृकरणे” इति सूत्रे बहुलग्रहणफलत्वेन भाष्ये नोक्तम् । “अम्बाम्ब” इति सूत्रे गवादिग्रहणन्तु नियमार्थम् । तेन ‘हृदिस्थः’ इत्यादौ षत्वं नेति दिक् ।

अब्भ्रालिप्तीति । “कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि” इति विशिष्टस्य क्तान्तत्वम् । अल्पाख्यायामिति समुदायोपाधिः । अल्पत्वं करणगतं, क्रियागतं वा । क्तान्तादिति । क्तान्तान्तादित्यर्थः । प्रत्ययग्रहणपरिभाषालब्धक्तान्तेन प्रातिपदिकस्य विशेषणात् । ऊरुभिन्निति । “जातिकालमुखादिभ्यः परा निष्ठा” इति भिन्नशब्दस्य परनिपातः । पाणिगृहीतीति । अग्निसाक्षिकतया गृहीतपाणिकेत्यर्थः । भाष्ये तु “पाणिगृहीत्यादीनां विशेषे” इत्युक्तम्* ॥

अस्वाङ्गपूर्व ॥ न स्वाङ्गम् अस्वाङ्गं, पूर्वञ्च तत्पदं पूर्वपदं, पुनः कर्मधारयः । अस्वाङ्गभूतात्पूर्वपदात्परं यत् क्तान्तं तदन्तबहुव्रीहेरित्यर्थः । उत्तरसूत्रे भाष्ये कल्याणपाणिपादेत्यादौ तत्प्रवृत्तिवारणाय तत्रैतदनुवर्त्य कर्मधारयस्याश्रयणेनात्रापि तथैवौचित्यात्* । तत्र “यदुपसर्जनं पाणिपादमिति समुदायो, न स स्वाङ्गम् । स्वाङ्गसमुदायश्च न स्वाङ्गशब्देन गृह्यते । यच्च स्वाङ्गं पादेति, न तदस्वाङ्गरूपपूर्वपदात्परम्” इत्युक्तम् । एवञ्च ‘करमुखी’ इत्याद्यसाध्वेव । जातिपूर्वादितिहापि संबद्ध्यते । अन्यथा बहुनञादीनामस्वाङ्गत्वेन विकल्पस्य तत्पूर्वके दुर्वारत्वात्, तदाह—नित्ये प्राप्ते इति । वस्त्रच्छन्नेति । बहुव्रीहित्वात् पूर्वपदप्रकृतिस्वरे शेषनिघाते चानुदात्तान्तोऽयम् । पुत्रादिनित्यादौ “सुप्पजातौ” इति णिनिदर्शनेनाऽऽकृतिग्रहणत्वाद्यभावेन च पुत्रशब्दस्य जातिवचनत्वाभावेऽपि पुत्रहतीत्यादौ गौरादिङीषिति बोद्धव्यम् । अस्वाङ्गादित्येव सिद्धे पूर्वपदग्रहणं स्पष्टार्थम् । किञ्च तदभावे ऽस्वाङ्गादिति प्राधान्याद् बहुव्रीहिविशेषणं स्यादिति ।

*इत्युक्तमिति । विशेषश्च “पाणिगृहीती भार्या चेत् । यस्या हि यथाकथंचित्पाणिगृह्यते पाणिगृहीता सा भवति” इत्येवं भाष्ये उक्तः । “यस्या अग्निसाक्षिपूर्वकं पाणिग्रहणं कृतं साऽभिधीयते” इति हि तत्र कैयटः ।

*औचित्यादिति । अतएव सुन्दरौ ऊरुं भिन्नौ यस्या इत्यर्थे सुन्दरो-रुभिन्नेत्यादौ नानेन ङीष् । जातिपूर्वत्वाभावाच्च ।

स्वाङ्गाच्चो । तदन्तादित्युपसर्जनग्रहणलब्धम् । बहुव्रीहेरित्यनुवर्त्तमाने उपसर्जनग्रहणफलमाह-अतिकेशीति । “एकविभक्ति” इति केशानामुपसर्जनत्वमप्रधानत्वञ्च । शिखेति । इदमेव प्रत्युदाहरणम् । शोभनेत्यादि सुशिखान्तं प्रक्षिप्तम्* । विशिष्टेऽदन्तत्वाभावेनाप्राप्तेः । यद्यपि भाष्ये अशिखेति प्रत्युदाहृतं तस्याप्येकदेश एव तात्पर्यम् । नञ्पूर्वे “सहनञ्” इति निषेधेन प्राप्त्यभावात् । एतेन क्रोडादिषु शिखाशब्दपाठ इत्यपास्तम् ।

*स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् । *प्रक्षिप्तमिति* । केचिन्तु इदमेव युक्तम् । कल्याणपाणिपादेत्यादौ ङीष्वावृत्त्यर्थमस्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवर्त्यास्वाङ्गपूर्वपदात् परं यत् स्वाङ्गं तदन्तात् प्रातिपदिकादिति भाष्योक्तार्थस्य स्वेनैव पूर्वसूत्रे उक्ततया शिखेत्यादावस्वाङ्गपूर्वपदात्परत्वाभावेन ङीषोऽप्राप्तेः । अत एव भाष्ये अशिखा इत्येव प्रत्युदाहृतम् । सहनञ् लक्षणनिषेधस्त्वत्र न शङ्क्यः । अस्य शिखा अशिखेति समासे नञोऽभावात् । न च तत्र समासात् प्रागेव टाप्यदन्तत्वाभावान् न दोष इति वाच्यम् । उपसङ्गनिष्पद्यमानन्यायेन, स्त्रीत्वाविवक्षया वा पूर्वं टापोऽप्रवृत्तेः । शिखाशब्दस्य “शीङो ह्रस्वश्च” इत्युणादिनिष्पन्नत्वेन सुबुत्पत्तेः प्रागेव समासेनास्यैव प्रवृत्तेश्चेत्याहुः ।

अन्येतूपसङ्गनिष्पद्यमानन्यायेन भविष्यदपवादविषयातिरिक्तत्वेनैव सङ्कोचो, न तु भविष्यदपवादविषयघटकातिरिक्तत्वेन । अत एव व्याघ्री इत्यादेर्गतिकारकेतिपरिभाषाफलत्वं भाष्योक्तं सङ्गच्छते । अन्यथा तत्राप्युपसङ्गनिष्पद्यमानन्यायेन भविष्यदपवादविषयघटकातिरिक्तत्वेन सङ्कोचे टापोऽप्राप्तौ तदसङ्गतिः स्पष्टैव । अनएव चायजे इन्द्रमित्यादौ पूर्वं गुणः, खट्वाक्रीतीत्यादौ टाप् च सिध्यति । पूर्वं स्त्रीत्वाविवक्षाऽपि प्रमाणाभावान्नोपपद्यते । उणादयस्त्वव्युत्पन्ना एवेति न गतिकारकेति परिभाषया सुबुत्पत्तेः पूर्वं समासः । ततश्च न अशिखा सुशिखेत्यादि प्रत्युदाहरणम् । तत्रान्तरङ्गत्वाद्यापि अदन्तत्वाभावादेव ङीषोऽप्राप्तेः । किन्तु शिखेत्येव प्रत्युदाहरणम् । ननु अस्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवृत्तिपरभाष्येण विरोधः कथम् परिहरणीय इति चेत्—

उच्यते । बहुव्रीहिपदानुवृत्त्यैव शिखेत्यादौ ङीष्वावृत्तौ सिद्धायामुपसर्जनग्रहणं “यस्मात् प्रातिपदिकान् ङीष् चिकीर्षितस्तन्निरूपितोपसर्जनत्वविशिष्टस्वाङ्गावचकान्तप्रातिपदिकात्” इत्यर्थसम्पानद्वारा स्वाङ्गसमुदायवाच्युत्तरपदके कल्याणपाणिपादेत्यादौ ङीष्वावृत्त्यर्थमिति अभिधाय पुनः अस्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवृत्त्या वैयर्थ्यमाशङ्क्य “उपसर्जनग्रहणम् उपसर्जनमात्राद्यथा स्यात् निष्केशी यूका अतिकेशी मालेति” इति तत्प्रयोजनमभिहितं भाष्ये । अथ तदर्थमात्रत्वे बहुव्रीहिपदे स्वरितत्वनिवृत्त्यैव अननुवृत्तौ सिद्धायामुपसर्जनग्रहणं किमर्थमिति शङ्कायामिदमुत्तरम्—शिखेत्यादौ ङीषापत्तिरिति । तथाच बहुव्रीहिपदानुवृत्तिमभिप्रेत्योपसर्जनग्रहणफलनिराकरणे प्रवृत्तभाष्य-

ननु स्वमङ्गं स्वाङ्गञ्चेत् सुमुखा शालेत्यत्रापि स्यात्, मुखस्य शालाङ्गत्वात् । सुकेशी रथेत्यत्र च न स्यात्, केशानां तदङ्गत्वाभावात्,

स्यैवास्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवृत्त्यभिलापकत्वेन स्वाङ्गाच्चोपसर्जनमिति यथाश्रु-
तन्यासे यस्मात् प्रातिपदिकादित्याद्युक्तार्थस्य सत्त्वेन कल्याणपाणिपादेत्यादौ
दोषाभावेनास्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवृत्त्यभावस्यैव सत्त्वेनोपसर्जनग्रहणाभावे शि-
खेत्यादिदूषणं सुष्ठुतरम् । न चैवमपि कल्याणपाणिपादेत्याद्येवोक्तार्थसम्पादन-
द्वारोपसर्जनग्रहणव्यावर्त्य दातुमुचितं, भाष्योक्तत्वादिति वाच्यम् । भाष्ये
शिखेत्यस्यैव प्रथमं प्रत्युदाहरणत्वेनोक्ततया प्रथमत्यागे मानाभावात् ।

यत्तु उक्तरीत्याऽर्थकरणे कल्याणं घटपादं यस्याः सेति बहुव्रीहौ क-
ल्याणघटपादेत्यादौ ङीष्ऽनापत्तिः, स्वाङ्गाच्चकत्वपर्याप्त्यधिकरणे पाद-
शब्दं स्त्रीप्रत्ययप्रकृतिभूतप्रातिपदिकनिरूपितोपसर्जनत्वपर्याप्तेरभावादिति सि-
द्धान्तभूते बहुव्रीहिपदानुवृत्तिकल्पे उक्तप्रत्यासत्तिमनाश्रित्यास्वाङ्गपूर्व-
पदादित्यनुवृत्त्यैव कल्याणपाणिपादेत्यादौ ङीष् व्यावर्तनीय इति शि-
खेति प्रत्युदाहरणं चिन्त्यमेवेति, तदेव चिन्त्यम् । बहुव्रीहिपदानुवृत्तिकल्पे
“अस्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवृत्त्यैव उपसर्जनग्रहणव्यावर्त्यकल्याणपाणिपादेत्यादि-
सिद्धानुपसर्जनग्रहणं बहुव्रीह्याधिकारनिवृत्त्यर्थम्” इति भाष्यविरोधापत्तेस्तद-
नभिधानात् । सत्युपसर्जनग्रहणे उक्तरीत्या प्रत्यासत्तिमाश्रित्यार्थकरणे क-
ल्याणघटपादेत्यादौ ङीष् न प्राप्नोति, अस्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवृत्तौ तु स्यादि-
ति फलभेदस्य स्पष्टत्वात् । न च तत्पक्षे तादृशफलभेदाभावाय तादृशोक्तप्र-
त्यासत्तिर्नाश्रीयते इति तदनभिधाने मानाभावेन तदेकवाक्यतया तदननुवृत्तिक
ल्पेऽपि तादृशप्रत्यासत्तिर्नाश्रयणीया, अपि तु कल्याणपाणिपादेत्यादौ ङीष् व्या-
वृत्त्यै अस्वाङ्गपूर्वपदात् इत्यनुवर्तनीयमिति शिखेति प्रत्युदाहरणमयुक्तमे-
वेति वाच्यम् ।

उक्तरीत्या प्रत्यासत्यनङ्गीकारे स्वाङ्गाच्चकपादशब्दे द्वन्द्वसमास-
निरूपतोपसर्जनत्वस्य सत्त्वेन उपसर्जनग्रहणस्य कथमपि तदन्ते कल्याणपाणि-
पादेत्यादौ ङीष् व्यावर्तकत्वं न सम्भवतीति बहुव्रीहिपदानुवृत्तिकल्पे “स्वा-
ङ्गसमुदायप्रतिषेधार्थं तर्ह्युपसर्जनग्रहणं कर्तव्यं, स्वाङ्गाद्यथा स्यात् स्वाङ्ग-
समुदायान्मा भूत् । कल्याणपादा” इति भाष्यविरोधापत्तेः । तस्मात् कल्या-
णघटपादेत्यादावपि ङीष् नैवेष्ट्यते । बहुव्रीहिपदानुवृत्तिकल्पे उपसर्जनग्रहण-
फलखण्डनाय अस्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवृत्त्या कल्याणपाणिपादेत्यादौ ङीष्वा-
रणं कल्याणघटपादेत्यादेरसङ्गहात् पूर्वपक्षिणो राद्धान्त्याशयानवबोधमूल-
कमेवेति न तदबलात् उक्तप्रत्यासत्तेः उक्तभाष्यसिद्धाया अनाश्रयणं यु-
क्तम् । एवं च अस्वरितत्वादेव बहुव्रीहिपदानुवृत्त्या निष्केशी यूका, अ-
तिकेशी मालेत्यादिसिद्धावपि कल्याणघटपादेत्यादौ ङीष्वारणायावश्यकतेन

अत आह—अद्रवमिति । *स्पर्शवद्द्रव्यपरिमाणं मूर्तिः । रथयेति । इदानीं प्राणिस्थत्वाभावात्पूर्वलक्षणेनासिद्धिः । एवञ्चेदं “पूर्वलक्षणे प्राणिस्थत्वमुपलक्षणम्” इत्यत्र तात्पर्यग्राहकमिति भावः । प्रतिमादिगतस्तनस्य प्राणिनि कदाप्यदृष्टत्वादाह—तेन चेदिति । अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गं (यदि) तेन तज्जातीयेन वस्तुना प्राणी यथा सम्बद्धस्तथाऽप्राणी सम्बद्धश्चेदित्यर्थः । अत एव ‘तस्य चेत्तथा युतम्’ इत्यस्य “अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गम्” इति शेषो* भाष्ये दर्शितः । पुरस्नादिति । स ह्यनन्तरस्यैव बाधकः । मज्ज्ये इति । स हि पूर्वस्यैव बाधकः । प्रामाणिका इति । एवञ्च सुगात्रीत्यादयो ऽप्यप्रयोगा एवेति भावः । उरः क्रोडेति । टाबन्तो ऽयं स्वभावतो विशेषविषयः । शूर्पणखेति । “पूर्वपदात्संज्ञायाम्” इति णत्वम् । केवलपौगिकत्वे तु शूर्पणखीत्येव । न ङीचिति । अस्वरितत्वादिति भावः । इतिशब्द इति । एवञ्च भाषायामिति व्यर्थम् । छन्दसीत्यस्य “दिक्पूर्वपदात्” इत्यत्रासम्बन्धेनास्वरितत्वादसम्बन्धसिद्धेः । परे तु दिगिति सूत्रे, वाह इत्यत्र च

उपसर्जनग्रहणेनैव कल्याणपाणिपादेत्यादावपि तद्वारणसम्भवात् अस्वाङ्गपूर्वपदादित्यनुवृत्तौ फलाभावेन तन्निवृत्त्या शिखेत्यत्रापि तेनैव वारणमिति भाष्ये प्रथमोपात्तं शिखेति प्रत्युदाहरणमेव युक्तम् ।

न च कृते उपसर्जनग्रहणे उक्तरीत्या प्रत्यासत्याश्रयणेऽपि च कल्याणपाणिपादेत्यादौ ङीष् दुर्वारः, स्वाङ्गसमुदायेऽपि स्वाङ्गत्वस्य स्पष्टमनुभवसिद्धतया पाणिपादात्मकद्वन्द्वस्य तादृशपाणिपादोभयात्मकस्वाङ्गवाचकतायाः स्पष्टत्वादिति वाच्यम् । स्वाङ्गत्वव्याप्यकरत्वपादत्वादिधर्मपर्यासावच्छेदकताक्रवाच्यतानिरूपितवाचकतापर्यप्त्यधिकरणस्यैव स्वाङ्गवाचकव्यवहारविषयतया समुदायत्वविशेषपुरस्कारेण वाचकपाणिपादात्मकसमुदायस्य तत्त्वाभावादित्याहुः ।

*स्पर्शवदिति । स्पर्शवन्ति द्रव्याणि पृथिव्यप्तेजोवायवः, तत्परिमाणमित्यर्थः । *शेष इति । “तस्य चेत् तत् तथा युतम्” इति लक्षणस्य अप्राणिसंबद्धविषयकत्वं स्पष्टयितुम् “अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गम्” इति शेषो दर्शित इत्यर्थः । तत्र तस्येति करणस्यैव शेषत्वविवक्षया षष्ठी । तदिति अप्राणिबोधकम् । तथेति संबन्धप्रकारबोधकम् । तथाच “प्राणी यथा प्राण्यङ्गेन संबद्धो भवति तथा अप्राणी प्राण्यङ्गजातीयेन वस्तुना संबद्धश्चेत् अप्राणिनोऽपि अवयवः स्वाङ्गं स्वाङ्गपदग्राह्यो भवतीत्यर्थः । मूले यदि-शब्दघटितोऽपपाठः । अग्रे चेच्छब्दोपादानात् ।

*छन्दसीति वर्त्तते । लोके त्वन्तोदात्तमवे प्राङ्मुखीति । एवञ्च तन्निवृत्तिबोधनाय भाषाग्रहणम् । इतिश्चार्थे, तेन छन्दस्यपि । अत एव “ङेराम्” इति सूत्रे कैयटे-‘सख्यशिश्वी च भाषायाम्’इति पाठो दृश्यते इत्याहुः ।

क्वचिदिति । सर्वविधानां छन्दसि वैकल्पिकत्वेन ‘सखा सप्तपदी भव’इति सिद्धम् । न विद्यते शिशुरस्या इत्यशिश्वी । क्वचिदस्याद्युदात्तत्वन्तु छान्दसत्वात् ।

जातिशब्देन अर्थे कार्यासम्भवात्तद्वाचकग्रहणमित्याह-जाति-वाचीति । अनन्यभावे विषयशब्द इत्याह—न च स्त्रियां नियतमिति । *भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययनिमित्तं जातिः, *नित्य-

*छन्दसीतीति । “दीर्घजिह्वी च छन्दसि”इति सूत्रादिति शेषः ।

जातेरस्त्री । भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययनिमित्तमिति* । अभिधीयते ऽनेनेत्यभिधानम् । प्रत्ययः-प्रतीतिः । अभिधानं च प्रत्ययश्चाभिधानप्रत्ययौ तयोर्निमित्तं हेतुः । एवं च भिन्नेषु पदार्थेषु अभिन्नाभिधाननिमित्तं जातिः । अभिधाने ऽभिन्नत्वं चैकरूपपुरस्कारेण बोधकत्वम् । यद्रूपपुरस्कारेणाभिधानस्यानेकधर्मिबोधकता तदिति यावत् । एवं भिन्नेष्वभिन्नप्रत्ययनिमित्तं जातिः । प्रत्यये ऽभिन्नत्वं चैकरूपनिष्ठप्रकारतानिरूपकत्वेन । यद्रूपपुरस्कारेण प्रत्ययस्यानेकावगाहित्वं तत्त्वमिति तत्त्वम् । घटादावभावादौ चातिप्रसङ्गवारणाय विशेषणान्तरमपि देयमित्यन्यत् । लक्षणा-न्तरमाह—*नित्यमेकप्रनेकानुगतमिति* । नित्यत्वे सत्येकत्वे, सति समवायेनानेकवृत्तित्वमित्यर्थः । नित्यत्वोक्त्या घटस्य समवायेनानेककपालवृत्तित्वेऽपि न जातित्वम् । एकत्वं सजातीयद्वितीयरहितत्वम् । तच्च स्वसामानाधिकरण्य-स्वाभावसामानाधिकरण्य-स्वसामानाधिकरणाभावप्रतियोगित्व-स्वावृत्तिजात्यभाववत्त्वैतच्चतुष्टयसम्बन्धेन स्वविशिष्टं यत् तत्सामानाधिकरण्याभावरूपम् । यत् जातित्वेन विवक्ष्यते तत् स्वपदेन ग्राह्यम् । अनेन विशेषणेन दिगाकाशसंयोगादेर्न जातित्वम् । स्वसामानाधिकरण्यादिपूर्वाक्तचतुष्टयसम्बन्धेन दिगाकाशसंयोगविशिष्टो यो दिक्कालसंयोगस्तत्सामानाधिकरण्यस्यैव दिगाकाशसंयोगे सत्त्वेन तदभावरूपसजातीयद्वितीयरहितत्वस्य तत्रासत्त्वात् । अत्र वैशिष्ट्यकुक्षौ प्रथमसम्बन्धानुपादाने पटादिगततद्व्यक्तित्वे घटत्वादिवैशिष्ट्यात् तत्सामानाधिकरण्यात् घटत्वादिजातावव्याप्तिः । द्वितीयसम्बन्धानुपादाने घटादिगततद्व्यक्तित्वे घटत्वादिवैशिष्ट्यात् पूर्ववत् व्याप्तिः । तृतीयसम्बन्धानुपादाने द्रव्यत्वादौ घटत्वादिवैशिष्ट्यात् तत्सामानाधिकरण्यात् घटत्वावव्याप्तिः । चतुर्थानुपादाने पृथिवीत्ववैशिष्ट्यस्य पार्थिवपरमाण्वाकाशसंयोगे सत्त्वात् तत्सामानाधिकरण्यात्

मेकमनेकानुगतं सामान्यमित्यस्य च *शुक्लादिगुणस्यैकत्वनित्यत्वपक्षे तत्रातिव्याप्तिः । “जननेन प्राप्यते सा* जातिः” इति च युवत्वादावव्याप्तमत आह — *आकृतीनि । ग्रहणमिति करणे लघुद् । सामान्ये नपुंसकम् । आकृतिरवयवसन्निवेशः । आकृतिर्ग्रहणं यस्या इति विग्रहस्तदाह—अनुगतेति । ईदृशाकारो गौरित्याकृत्युपदेशादिव्यङ्ग्या इत्यर्थः । न च बाल्याद्यवस्थाभेदभिन्नानेकदेहवृत्तिदेवदत्तत्वादेराकृतिव्यङ्ग्यत्वेन तत्रातिव्याप्तिमिदमिति वाच्यम् । *समानकालिकानेकव्यक्तिवृत्त्यनुगतसंस्थानव्यङ्ग्येत्यर्थाद्, *अवस्थाभेदेऽपि तद्भेदाप्रतीतेश्च, स एवायमिति प्रतीतेश्च, तज्जातीयोऽयमित्यप्रतीतेश्च । *अत एवेन्द्रत्वादिकं न जातिः ।

पृथिवीत्वेऽव्याप्तिः । संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वेन तृतीयसम्बन्धस्यापि सुवचत्वात् । पृथिवीत्वावृत्तिसंयोगत्वजातेस्तत्र सत्त्वेन चतुर्थसम्बन्धाभावान्न चतुष्टयसम्बन्धेन स्वविशिष्टधर्मसामानाधिकरण्यं पृथिवीत्वे इति लक्षणसमन्वयः ।

केचित्तु एतत्फलं जातिसमुदायस्य न जातित्वम् । अन्यथा तादृशसमुदायस्य तत्तदवयवजात्यात्मकतयाऽनेकवृत्तित्वेन तत्त्वं स्यादेव । यदि च समुदायस्यावयवात्मकतया जातिसमुदायेऽपि जातित्वमिष्यते एवेत्युच्यते, तदा विशेषसमुदायस्य जातित्वाभावस्तत्फलम् इत्याहुः ।

*शुक्लादीति । हिमपयःशङ्खादिषु सर्वत्र शुक्लः शुक्ल इति समानप्रतीत्या समानशब्दप्रयोगेण च तेषामपि घटत्वादिवत् नित्यत्वमकत्वं च सिध्यतीति भावः । उक्तलक्षणद्वयेऽतिव्याप्तिं प्रदर्श्य तृतीयलक्षणमाह—*जननेन प्राप्यते सा जातिरिति* । स्वतादात्म्य-स्वाधिकरणद्रव्योत्पादकसामग्रीतराप्रयोज्यानुयोगिताकसम्बन्धप्रतियोगित्वं जातित्वम् । घटोत्पादकसामान्येव घटत्वप्रतियोगिकसमवायीयघटानेष्टानुयोगित्वप्रयोजिकेत्याशयः । अत्राप्यव्याप्तिं प्रदर्श्य चतुर्थलक्षणमाह—*आकृतीत्यादि* । तार्किकादिसंमतस्य देवदत्तत्वादीनां जातित्वस्य न चेत्यादिनाऽऽशङ्क्य खण्डनमाह—*समानकालिकेति* । समानकालिका या अनेकव्यक्तयस्तद्वृत्ति यदनुगतसंस्थानं तज्ज्ञानजन्यज्ञानविषयीभूता जातिरिति । परिहारान्तरमाह—*अवस्थाभेदेऽपीत्यादि* । एवं च परस्परं विभिन्नतया प्रतीयमानानेकव्यक्तिवृत्तित्वाविशिष्टसंस्थानज्ञानजन्यज्ञानविषयीभूता जातिरिति लक्षणम् इत्यर्थः । यद्वा अवस्थाभेदेऽपि धर्मिणोऽभेदात् देवदत्तत्वादीनां न जातित्वम् । अनेकव्यक्तिवृत्तित्वाभावात् इत्यर्थः । ईदृशाकारो गौरित्युपदेशवाक्यस्य गोत्वबोधेच्छाप्रयोज्यतया “ईदृशाकारे गोत्वम्” इति समानाकारकतया गोत्वबोधे एव तात्पर्येण तादृशाकारविशिष्टधर्मिणः प्रत्यक्षादिनाऽवगमे तादृशाकारज्ञानाधीना गोत्वादिजात्यवगतिरेव । धर्मिणः संनिकर्षेणैव गृहीतत्वात् । एतेन जात्याश्रयव्यक्तेरपि आकृतिग्राह्यतया जातित्वापत्तिरित्यपास्तम् । *अत एवेति ।

पञ्चेन्द्रोपाख्यानादिभिरनेकेषां समकालिकत्वेऽपि सर्वेषां संस्थानस्यैकत्वे मानाभावात् । दुर्गाऽपर्णेत्यादौ स्त्रीविषयत्वादपि न ऊर्ध्वम् । तटीति । अनुगतसंस्थानव्यङ्ग्यमेतत् । जलसमीपदेशविशेषो हि तटम् ।

नन्वेवं वृषलत्वादीनां जातित्वं न स्यात् । अवयवसंस्थानस्य ब्राह्मणादिसाधारण्येन तस्या आकृतिग्रहणत्वाभावात्, किं तु साक्षादुपदेशगम्या सेत्यत आह—*लिङ्गानामिति । इयमपि जातिरित्यर्थः । लिङ्गानामिति कर्मणि षष्ठी । सर्वाणि लिङ्गानि न भजति इति सर्वशब्दस्य लिङ्गापेक्षत्वेऽपि भाष्यप्रामाण्याद् भजो णिः, समासश्च । आख्यातम्—आख्यानम्, उपदेशः । कथनात्—उपदेशात् । एकत्रेन्द्र इत्युपदिष्टे अन्यत्र तद्ग्रहे मानाभावात्तत्रेन्द्रत्वादि तथा । ब्राह्मणत्वन्तु एकत्रोपदिष्टे तत्तत्पित्रादिषु* सुग्रहम् । वृषलत्वं तदपत्यतत्स-

समानकालिकानेकव्यक्तिवृत्तित्वविशिष्टानुगतसंस्थानव्यङ्ग्याया एव जातित्वादित्यर्थः । इन्द्रत्वादिकं तु ऐश्वर्यविशेषरूपं भूतमविष्यद्यावदिन्द्रवृत्त्येकं, देवदत्तादिपदवत् तत्तद्व्यक्तित्वप्रवृत्तिनिमित्तकत्वे नानार्थकत्वापत्त्या श्रुत्यादिस्थेन्द्रादिपदस्यैकेन्द्रबोधकतापत्तौ तदितरेन्द्रपूजने यागादिसंपादनाभावापत्तेः । एतेनैतस्य देवदत्तत्वाद्यविशेषेण पुनरुक्तत्वमित्यपास्तम् ।

लक्षणान्तरमाचष्टे—*लिङ्गानामितीति* लिङ्गान्वयितावच्छेदकताकूटाभाववत्त्वे सति “अयं ब्राह्मण” इत्याद्याकारकवाक्यात्मकोपदेशविशिष्टज्ञानप्रकारत्वं जातित्वम् । उपदेशवैशिष्ट्यं च ज्ञाने—स्वजन्यज्ञानजन्यत्वं—स्वजन्यज्ञानविधेयीभूतधर्मविधेयकत्वं—स्वजन्यज्ञानीयधर्मिताव्यधिकरणधर्मिताकत्वमेतन्नितयसम्बन्धेन । यथाऽयं ब्राह्मण इत्युपदेशाद् एतद्व्यक्तिधर्मिकब्राह्मणत्वप्रकारकज्ञाने एतत्पिता ब्राह्मण इति ज्ञानं स्वविशिष्टं, तत्प्रकारत्वं नपुंसकत्वान्वयितानवच्छेदकत्वेन लिङ्गान्वयितावच्छेदकताकूटाभाववत्त्वं च ब्राह्मणत्वे इति तस्य जातित्वं सिद्धम् ।

यत्तु सकललिङ्गविशिष्ट-शूद्रत्वादिविशिष्टार्थकतदादिशब्दजन्यबोधे शूद्रत्वादीनामपि सकललिङ्गान्वयितावच्छेदकतया लिङ्गान्वयितावच्छेदकताकूटाभावाभावेन जातित्वानापरयेदं चिन्त्यमिति, तन्न । तत्तल्लिङ्गप्रतियोगिकसम्बन्धस्यापि पदार्थतया आकाङ्क्षाप्रयोज्यतावच्छेदकविलक्षणरूपावच्छिन्नसंसर्गताश्रयत्वरूपान्वयत्वस्याभावेन प्रकृते च तादृशान्वयितावच्छेदकत्वस्यैव विवक्षितत्वेनादोषात् । वस्तुतस्तु लिङ्गानां च न सर्वभागिति शब्दविशेषणम्, जातिरित्यस्य जातिवाचीत्यर्थ इति न कश्चिदोष इति दिक् ।

*तत्तत्पित्रादिष्विति । विज्ञायां ब्राह्मण्यां ब्राह्मणात् जातस्यैव स्मृत्या ब्राह्मणत्वबोधनात् पित्रादिषु तत्सुग्रहम्, नतु पुत्रादिषु । अन्यजाती-

होदरादौ* सुग्रहम् । अत्राकृतिग्रहणेति नित्यानित्यसाधारणमिति *युवत्वा-
दिकमपि जातिरेतन्मते । अपर आहत्यादिना *यावद्द्रव्यभावित्वमित्यनि-
त्यव्यावृत्तं लक्षणान्तरं भाष्ये दर्शितम् । एवञ्च भिन्नऋषिकर्तृकलक्षणद्व-
यप्रामाण्येन कुमारादिशब्दे जातिकार्यविकल्पः । अत एव युवजानिरित्यत्र
पुंवत्त्वं, युवतितरेत्यत्र तदभावश्च भाष्ये उदाहृतः ।

नन्वेताभ्यामप्यौपगवी कठीत्यादेरसङ्ग्रहोऽनुगतसंस्थानव्यङ्ग्यत्वा-
भावात्सर्वलिङ्गत्वाच्चेत्यत आह—*गोत्रञ्चेति । *शास्त्रीयमत्र गोत्रम् ।
अत एव “गोत्राद्यूनि प्रत्ययो भवति, *स्त्रियां लुक्” इति न्यासे “औपगवी
माणविकेत्यत्राण् योऽनुपसर्जनमित्यनुपसर्जनलक्षण *ईकारो न प्राप्नोति,
मा भूदेवम् *अण्णन्तादनुपसर्जनादित्येवं भविष्यति” इति प्रौढ्या
पूर्वपक्षिणोक्ते, तदङ्गीकृत्यैव “इह तर्ह्यौपगवीभार्यः जातिलक्षणः पुं

यस्त्रियामुत्पन्नस्य पुत्रादेस्तत्त्वाभावात् । आदिना मातुलपरिग्रहः । *तद-
पत्यतत्सहोदरादाविति । नतु पित्रादौ । ब्राह्मणादपि शूद्रायां शूद्रोत्पत्ति-
सम्भवात् । *युवत्वादिकमपीति । इदमपि “वोतो गुणवचनात्” इति सूत्रस्थ-
गुणलक्षणे जातिभिन्नत्वमिति द्वितीयविशेषणोपादानस्य फलं बोध्यम् ।

मृदुसंस्थानव्यङ्ग्या कुमारत्वजातिः । कठिनसंस्थानव्यङ्ग्या युव-
त्वजातिः, शिथिलसंस्थानव्यङ्ग्या च वृद्धत्वजातिरिति बोध्यम् । *यावद्द्रव्य-
भावित्वमिति* । स्वाधिकरणद्रव्यसत्ताव्यापकसत्ताकत्वं जातित्वमित्यर्थः ।
कुमारत्वादीनां स्वाधिकरणीभूताया युवावस्थापन्नाया व्यक्तेर्या सत्ता तद्या-
पकसत्ताकत्वाभावात् तत्त्वम् । चैत्रत्वादीनां जातित्वाभावाय समानकालिकाने-
कव्यक्तिवृत्तित्वादिविशेषणमत्रापि बोध्यम् ।

जातिवाचकताप्रयुक्तशास्त्रीयकार्यप्रवृत्तये आरोपितजातिमत्त्वं व्याचष्टे-
गोत्रं चेतीति । अपत्यमात्रं गोत्रमत्रेति प्राचीनमतं खण्डयितुमाह—*शास्त्रीय-
मिति* । *स्त्रियां लुगिति । “गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्” इत्यत्र अस्त्रियामितियोगविभा-
गेन स्त्रियामभिधेयायां युवप्रत्ययो न भवतीत्यर्थे युवस्त्रियामभिधेयायां युव-
प्रत्ययस्य निषेधात् गोत्रसंज्ञायाश्च युवसंज्ञया बाधेन गोत्रार्थप्रत्ययस्यानुत्पादात्
अपत्यप्रत्ययान्तेन युवस्त्रिया अभिधानं न प्राप्नोतीत्याशङ्कायां “स्त्रियां लुक्” इति
न्यासप्रवृत्तिः । सिद्धान्ते तु स्त्रियां युवसंज्ञानिषेधात् गोत्रार्थकप्रत्ययसिद्धिरिति
बोध्यम् । *ईकारो न प्राप्नोतीति* । औपगवस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थे “अत इञ्” इतीञ्,
तस्य लुकि कृतेऽनुपसर्जनाधिकाराद् गोत्राणश्चार्थद्विरिणोपसर्जनत्वात्तदर्थस्य
युवप्रत्ययार्थं प्रति विशेषणत्वादनूलक्षण ईकारो न प्राप्नोतीत्यर्थः । *अण्णन्ताद-
नुपसर्जनादित्येवं भविष्यतीति* । प्रत्यये लुप्ते प्रकृतिरेव प्रत्ययार्थमाहे-
त्यण्णन्तस्यानुपसर्जनत्वमिति भावः ।

चञ्चप्रतिषेधो न प्राप्नोति, मा भूदेवं वृद्धिनिमित्तस्येत्येवं भविष्यति ।
एवन्तर्हि ग्लुचुकायनीभार्ये दोषः”इति “एको गोत्रे”इति सूत्रस्थभाष्ये यु-
वापत्यस्य जातित्वाभावकथनं मङ्गच्छते । अन्यथा जातिलक्षणङीष-
एव परत्वाद्वक्तुं युक्तत्वं, पुंवञ्चप्रतिषेधो न प्राप्नोतीत्यसङ्गतिश्च । ग्लुचु-
कायनीभार्ये दोषस्तु ङीष्पुंवञ्चप्रतिषेधयोरसिद्धिरूपो बोद्धव्यः । “सर्व-
तोऽक्तिर्नार्थात्”इति ङीषि तु पुंवञ्चप्रतिषेधासिद्धिरेव दोषः । अत एव
“ब्राह्मोऽजातौ”इति सूत्रे ऽपत्ये जातौ नेत्यर्थः सङ्गच्छते । तत्र त्वपत्यस्य
जातित्वाव्यभिचारात्तदसङ्गतिः, ब्राह्मो नारद इत्यसिद्धिः । अतः साम-
र्थ्येनात्र शास्त्रीयगोत्रस्यैव ग्रहीतुमौचित्यम् । अनन्तरापत्यप्रत्ययान्ते *अव-
न्ती’ इत्यत्र जातिप्रयुक्तो ङीषित्यनुपसर्जनादिति सूत्रभाष्यन्त्वनन्तरेऽवस्था-
मिन् द्रौणायनिब्रह्मेन्द्रत्वारोप इत्यभिप्रायेण । यूनि तु न शास्त्रीयगोत्रत्वारो-
पः, तत्र युवैव न गोत्रमिति नियमेन तत्संज्ञानिषेधात्—तदाह—अपत्यप्रत्य-
यान्त इति । “अपत्वं पौत्रप्रभृति”इति परिभाषित इति शेषः । शास्त्रा-
ध्येत्रिति षष्ठीतत्पुरुषः । शास्त्रायामस्त्रीविषयत्वाभावात् । जातिकार्यं
लभते इति । अनेनास्यातिदेशत्वं बोधयति । कठेन प्रोक्तमधीते इति
वैशम्पायनान्तेवासित्रात्प्रोक्तार्थणिनेः “कठचरकात्”इति लुक् । अध्येत्र-
णः प्रोक्ताल्लुक् । बह्व्य ऋचोऽध्येतव्या यस्या इति विग्रहे “ऋक्पूः”-
इत्यप् समासान्तः । स्त्रिया अध्ययनाभावे ऽपि तद्वैयत्वात्ताच्छब्दश्च,
यथाऽनधीयाने माणवके । ब्राह्मणीत्यत्रापत्ये ऽपि “ब्राह्मोऽजातौ”इत्युक्ते-
ष्टिलोपाभावः ।

न च सिद्धान्तेऽपि गोत्रापत्यत्वावच्छिन्नमुख्यविशेष्यताकबोधतात्पर्ये-
ण तथा प्रयोग इष्यते, तथा विवक्षायां त्वधुनापि स्यादेव । युवापत्यत्वाव-
च्छिन्नमुख्यविशेष्यताकबोधतात्पर्येणैव युवप्रत्ययोत्पत्तेरिति नैष दोष इति
वाच्यम् । इदानीं युवसंज्ञया गोत्रसंज्ञाबाधात् गोत्रापत्यत्वावच्छिन्नमुख्य-
विशेष्यताकबोधतात्पर्येण तथाप्रयोगानापत्तेः । युवापत्यत्वावच्छिन्नमुख्य-
विशेष्यताकबोधेच्छायाम् औपगवा इत्यस्यापत्तेश्च ।

अवन्तीति । अवन्तेरपत्यं स्त्रीत्यर्थे “वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ज्यङ्”इति
ज्यङ्, तस्य “स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च”इति लुक्, ततोऽनेन ङीषिति बोध्यम् ।
परेतु “गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्चफञ्”इति गोत्राधिकारान्ते “अपत्यं पौत्रप्रभृति
गोत्रम्”इति गोत्रसंज्ञाप्रणयनस्वारस्यात्, “अपत्याधिकारात् परं लौकिकं गोत्रम्”
इति “यूनि लुक्”इति सूत्रस्थभाष्यस्वारस्यात्, “अनुपसर्जनात्”इति सूत्रस्थभाष्य-

*परे तु आकृतिग्रहणेत्येव लक्षणम् । आकृतिपदमुपदेशोपलक्षणम् ।
आकृतिद्वारा साक्षादुपदेशेन ग्राह्या जातिरित्यर्थः । तत्रेदृशाकारो गौरिवाकृ-
त्युपदेशग्राह्या गोत्वादिजातिः । अयं ब्राह्मण इतिसाक्षादुपदेशग्राह्या ब्राह्म-
णत्वादिजातिः । *यद्वा आकृतिग्रहणं *जातिग्राहकोपदेशस्याप्युपलक्षणम् ।

स्वारस्याच्चात्र लौकिकमेव गोत्रम् । “एको गोत्रं” इति सूत्रस्थभाष्यं तु असिद्धान्त-
भूतन्यासोपक्रमे प्रवृत्तत्वात् एकदेश्युक्तिः । अस्तु वा तद्भाष्यप्रामाण्यात् अत्र युवा-
पत्यस्याग्रहणम् । अनन्तरापत्यस्य तु ग्रहणं भवत्येव । ननु अपत्यमात्रग्रहणे
अपत्यस्य जातित्वाव्यभिचारात् “ब्राह्मोऽजातौ” इत्यत्रापत्ये जातौ ब्रह्मणाष्टिलोपो
नेत्यर्थोऽसङ्गतिः, “ब्राह्मो नारद” इति प्रयोगासिद्धिश्चेति चक्ष । तत्र जातावित्यस्य
समुदायोपाधितयाऽपत्यप्रत्ययान्तेन ब्राह्मणत्वरूपजाताववगम्यायामित्यर्थस्य
तत्वाप्यवश्यं वक्तव्यस्य सत्त्वेनादोषात् । अन्यथा तव मतेऽपि शुद्धरूपे ब्रह्मणो गो-
त्रापत्ये जातित्वेन ब्राह्मण इत्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् । तत्राजाताविति निषेधेन टिलो-
पाप्राप्तेः । मम तु शूद्रे वाच्ये ब्राह्मणत्वं समुदायेन नैवावगम्यते इति निषेधाभावेन
तत्रापि टिलोपे ब्राह्म इत्येव भवतीति दिक् इत्याहुः ।

“आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या”
इति समष्ट्या एकमेव लक्षणं, न तु लक्षणद्वयमित्याह- *परे त्विति* । नन्वेवं
शुक्लादिगुणानां जातित्वं दुर्वारम्, अयं शुक्ल इत्युपदेशग्राह्यत्वादत आह- *यद्वे-
ति । जातिग्राहकोपदेशस्येति* । स चेदृशाकारो गौः, अयं ब्राह्मण इति च । अयं
शुक्ल इत्यादिश्च गुणग्राहकोपदेशः । अपिर्निश्चये । न चैवमात्माश्रयत्वापत्तिर्जाति-
लक्षणे जातेः प्रवेशादिति वाच्यम् । स्वप्रयोजकेच्छीयज्ञाननिष्ठोद्देश्यतानिरूपि-
तावच्छेदकतासमानाधिकरणा या विशेष्यत्वासमानाधिकरणप्रकारता तादृश
प्रकारताकज्ञानजनकत्व-स्वतादात्म्योभयसम्बन्धेनोपदेशविशिष्टस्यैवात्र जाति-
ग्राहकोपदेशपदेन ग्रहणात् । अयं ब्राह्मणः, ईदृशाकारो गौरित्याद्याकारको य उप-
देशस्तत्प्रयोजिका या अस्य गोत्वज्ञानं भवत्वित्याद्याकारिका इच्छा तदुद्देश्यता
गोत्वज्ञाने तन्निरूपितावच्छेदकता विषयित्वसम्बन्धावच्छिन्ना गोत्वे तत्समाना-
धिकरणा तादृशोपदेशजन्यायंगौरित्याद्याकारकज्ञानीयप्रकारता गोत्वनिष्ठा, सा
च विशेष्यत्वासमानाधिकरणाऽपीति तन्निरूपकज्ञानजनकस्यांकोपदेशस्य ग्रह-
णम् । अयं शुक्ल इत्याद्याकारकोपदेशजन्यज्ञानीया शुक्लादिनिष्ठा तादृशोपदेश-
प्रयोजकेच्छीयाद्देश्यतावच्छेदकतासमानाधिकरणा प्रकारता न विशेष्यत्वासमा-
नाधिकरणाऽपि तु गुणत्वव्याप्यशुक्लत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतासमाना-
धिकरणैवेति नात्र तादृशोपदेशस्य जातिग्राहकोपदेशपदेन ग्रहणमिति । न च
‘अयमभावः’ इत्याकारकोपदेशजन्यज्ञानीयाभावत्वनिष्ठप्रकारतायास्तादृशत्वात्त-
न्निरूपकज्ञानजनकस्यायमभाव इत्याकारकोपदेशस्यापि ग्रहणापात्तिरिति
वाच्यम् । अभावत्वस्यानुयोगिताविशेषरूपत्वेन तन्निष्ठप्रकारताया विशेष्यत्वा-
समानाधिकरणत्वाभावात् इति दिक् ।

“लिङ्गानाञ्च न सर्वभाक्” इति तत्स्वरूपानुवादकम्* । तेन शुक्लादिगुणानामेकत्वेऽपि जातित्वाभावो बोधितः । *अत एव “विशेषणानाञ्च” इति सूत्रे जातेराविष्टलिङ्गत्वं भाष्ये उक्तम् । आविष्टलिङ्गत्वं नियतलिङ्गत्वमिति कै-
यटः । *तच्च प्रायिकमिति केचित् । “*भाष्यप्रामाण्याज्जातेरेकशब्दवाच्याया न त्रिलिङ्गता । “तटं त्रिषु” इत्यादिकोशकृतां प्रमाद” इत्यन्ये । “सकृदाख्यात-
निर्ग्राह्या” इत्यनेनैकत्वमनेकानुगतत्वञ्च बोधितम् । सकृदेकवारं कचिद्वक्तौ साक्षादाकृतिद्वारा बोपदिष्टा व्यक्त्यन्तरे ग्रहीतुं शक्येति तदर्थः । गोत्रञ्चेत्यादि प्राग्वदेव । *अत एव

प्रादुर्भावविनाशाभ्यां सत्त्वस्य युगपद्गुणैः ।

असर्वलिङ्गां बह्वर्था तां जातिं कवयो विदुः ॥

इति *लक्षणान्तरं भाष्ये उक्तम् । सत्त्वस्य—द्रव्यस्य प्रा-
दुर्भावविनाशाभ्यां या तौ प्राप्नोति सा जातिरिति लक्षणम् । *यावद्-
द्रव्यभाविनीति तदर्थः । *अनेन गोत्वब्राह्मणत्वाद्योरुभयोरपि सङ्गः ।
*गुणैर्युगपद् द्रव्येण सम्बध्यते । *यथा निर्गुणस्य द्रव्यस्य नोपलम्भस्तथा-
जातिरहितस्यापीत्यर्थ इति कैयटः । इदं स्वरूपकथनमेव । अत्र लक्षणे
असर्वलिङ्गामित्येतत् मदुक्तार्थकमेव, न तु लक्षणान्तरम् । अनुपयोगात् ।
बह्वर्था—सर्वव्यक्तिव्यापिर्नामित्यर्थः । एतदेकवाक्यतया *पूर्वलक्षणेऽपि
मदुक्तव्याख्यैवोचिता ।

*अत एव “कः पुनरेतयोर्जातिलक्षणयोर्विशेषः । यथा पूर्वलक्षणं
तथा कुमारीभार्य इति भवितव्यं, यथोत्तरं तथा कुमारभार्यः” इति भाष्ये

स्वरूपानुवादकमिति । तादृशोपदेशग्राह्यस्य सकललिङ्गनिष्ठापदार्थसं-
सर्गावच्छिन्नप्रकारनानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकत्वाभावादिति भावः । “तटं
त्रिषु” इत्यादिकोशस्य प्रमाद एवेत्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् । *अत एवेति* ।
असर्वलिङ्गत्वादेवेत्यर्थः । *नञ्च प्रायिकमिति । “तटं त्रिषु ” इत्यादिकोशब-
लादिति भावः । स्वमतसिद्धान्तमाह—*भाष्येति । *अत एवेति । गोत्वब्राह्मण-
त्वयोरेकलक्षणेन सङ्गहादेवेत्यर्थः । *लक्षणान्तरमिति* । गोत्वब्राह्मणत्वो-
भयसङ्गहकमित्यर्थः । *यावद्द्रव्यभाविनीति* । अस्यार्थः प्रागेवोक्तः । उत्तर-
लक्षणवत्पूर्वस्याप्युभयसङ्गहकता युक्तेति भावः ।

अनेन—एकलक्षणेन । *गुणैरिति प्रकृत्यादित्वात्तृतीया । द्रव्येणेति
सहार्थयोगे तृतीया । तत्तात्पर्यमाह—*यथेति* । *पूर्वलक्षणे—‘सकृदाख्यात’ इति
लक्षणे । *अत एवेति । पूर्वोक्तलक्षणद्वयस्यैकलक्षणत्वप्रतिपादनादेवेत्यर्थः ।

लक्षणमित्येकवचनमेव प्रयुक्तम् । अत एवाकडारमूत्रशेषे “आकृतिग्रहणा जातिः” इत्येवोक्तं भाष्ये इत्याहुः ।

बलाकेति । अयञ्च विसकण्ठिकापदवाच्यजातिविशेषवाची । स च वक्तव्यव्याप्योऽन्यो वेत्यन्यदेतत् । *अस्त्रीविषयादित्यस्य प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये लिङ्गान्तररहितभिन्नादित्यर्थः । *एतेन बलां कायतीति यौगिकस्य सर्वलिङ्गत्वाद्

बलाका वकपङ्क्तिः स्याद् बलाका विसकण्ठिका ।

बलाका कामुकी प्रोक्ता बलाकश्च वको मतः ॥

इति कोशे पुँलिङ्गस्याप्यभिधानाच्च नेदं युक्तमित्यपास्तम् । *अत एव “पाककर्ण” इति सूत्रं चरितार्थम् । तद्धि स्त्रीविषयार्थम् । *अन्यथा तेषामपि यौगिकेऽर्थे लिङ्गान्तरसम्भवेन पूर्वेण सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ।

पाककर्ण ॥ जातिवाचिनः किम् । बहुपुष्पा शाखा । स्त्रीविषयादपीति । अजात्यर्थन्तु न । प्राक्पुष्पादिषु जातिवचनेषु नित्यस्त्रीलिङ्गेषु ‘सदच्चाण्ड’ इत्यादिनिषेधात् । योपधादपीति । पुनर्जातिग्रहणादिति भावः । अस्त्रीविषयादिति तु पूर्वसूत्रेण विच्छिन्नम् । तित्तिरिति ।

*स्त्रीपुंसयोरपत्यान्ता *द्विचतुःषट्पदोरगाः ।

इत्यमरादयं स्त्रियामपीति भावः । इतः किम् । दत्तम् । “द्वयञ्मगध” इत्यणो “अतश्च” इति लुक् ॥

ऊङुतः ॥ ऊकारो “नोङ्धात्वोः” इति विशेषणार्थः । अन्यथा यवाग्नेत्यादावपि निषेधः स्यात् । दीर्घोच्चारणं प्रश्लेषणोकारद्वयविधानद्वारा

नन्वेवमप्याद्ये अस्त्रीविषयत्वमस्त्येव, अत आह- *अस्त्रीविषयादित्यस्येति । *एनेनेति* । अस्त्रीविषयादित्यस्योक्तार्थकरणनेत्यर्थः । *अत एवेति । योगार्थाग्रहणेन रूढ्योक्तरीत्या स्त्रीविषयत्वादेवेत्यर्थः । *अन्यथा-उक्तरीत्या स्त्रीविषयत्वानङ्गीकारे ।

ननु “तित्तिरिः ककुभो लावः” इत्यमरे ककुभ-लावसाहचर्यादस्य पुंस्त्वेन कथं स्त्रीत्वसम्भव इत्यत आह- *स्त्रीपुंसयोरिति* । अपत्यान्ताः-अपत्यार्थकप्रत्ययान्ता इत्यर्थः । तेन औपगवः, औपगवी इति च सिद्धम् । *द्विचतुःषट्पदोरगा इति* । द्विपद-चतुष्पद-षट्पद-उरग-वाचिनो जातिविशेषाभिधायिनः स्त्रीलिङ्गाः पुंलिङ्गाश्च इत्यर्थः ।

*ब्रह्मबन्धुरित्यादिवहुव्रीहौ *परकबिनवृत्त्यर्थं, रूपाणां सवर्णदीर्घेण सिद्धे-
रिति भाष्ये स्पष्टम् । *श्वश्रूरिति तु 'श्वश्रुरः श्वश्रूवा' इति निर्देशात्सिद्धम् ।
कुरुरिति । एकादेशस्य पूर्वान्तवच्चात्स्वादयः । अध्वर्युरिति । अध्व-
र्युशास्वाध्यायिवंशोद्भवेत्यर्थः । रज्ज्वादीति । उ१ इति तु नेह सम्बध्यते ।
अलाबूरिति भाष्योदाहरणादिति भावः । कृकवाकुरित्यत्र मनुष्यजातित्वा-
भावात्पूर्वेणापि न ॥

पङ्गोश्च ॥ पङ्गुशब्दो गुणवाचीति पूर्वणाप्राप्तिः । श्वश्रुरस्येति ।
'श्वश्रू' इति निर्देशादन्त्याकारस्य लोपः । तन्निर्देशमिद्धमेवैतत् । भाष्ये
त्विदं न दृश्यते । * "ङ्याब्" इतिसूत्रस्थभाष्यस्वरसस्त्वयमनूङन्तो ऽव्यु-
त्पन्नं प्रातिपदिकमिति ॥

ऊरुत्त ॥ उपमीयतेऽनयेत्युपमा-उपमानं, तद्भावं औपम्यम्-
उपमानत्वम् । एवं च तद्बोधकोरुत्तरपदादित्यर्थः । उत्तरपदाक्षिप्तं पूर्व-
पदं प्रत्यासत्त्योपमानवाच्येव । अतः 'करभोपमोरुः' इत्यत्र न, तदाह—
उपमानवाचीति । करभेति । मणिवन्धादाकनिष्ठं करबहिर्भागः कर-
भस्तद्वदूरु यस्या इत्यर्थः । उपचारादिति । शफशब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्योरु-
पदार्थे आरोपनमित्यर्थः । एवञ्च समासस्योपमानोपमेयभावाबोधकत्वेन न
पूर्वसूत्रप्राप्तिः । तदारोपे च स निमित्तमित्यन्यदिति भावः ।

ननु सहशब्दग्रहणं व्यर्थं सर्वस्योरुमन्त्वेन सहशब्दप्रयोगस्य त-
त्समभिव्याहारे व्यर्थत्वेन 'सहोरुः' इति प्रयोगस्यैवाभावादत आह—

*ब्रह्मबन्धुरिति । ब्रह्मा बन्धुर्यस्येति बहुव्रीहिर्यं मनुष्यजातिविशेषे
रुढः । तत्रोडा सह सवर्णदीर्घे तस्य पूर्वान्तवच्चेन स्त्रीप्रत्ययान्तत्वं चार्नाय
"गोस्त्रियोः" इति ह्रस्वो न । उभयत आश्रयणे तन्निषेधादिति स्पष्टं भाष्ये ।
*परकविति । "शेषाद्विभाषा" इति प्राप्तकवित्यर्थो, न तु 'नष्टतश्च' इति । न-
द्यन्तानां यो बहुव्रीहिरित्यर्थेन तस्यात्राप्राप्तेः । 'दीर्घोच्चारणं श्वश्रूशब्दार्थ-
म्' इत्युक्तं कैश्चित्, तदसङ्गमिति ध्वनयन्नाह—*श्वश्रूरिति त्विति * ।

*ङ्याबितिसूत्रस्थभाष्येति । तत्र हि ङ्याबन्तादेव तद्धितोत्पत्तिर्यथा
स्यादिति नियमोत्तरं त्युङोश्चापि ग्रहणं कर्तव्यं युवतिका ब्रह्मबन्धुका इति । ऊङ्-
हणेन नार्थः । नास्त्यत्र विशेषः । उकारान्तादुत्पत्तावूङन्तादुत्पत्तौ वा । दीर्घा-
न्तादुत्पत्तावपि "केऽणः" इति ह्रस्वविधानादित्युक्तम् । श्वश्रूशब्दस्योङन्तस्य
सत्त्वे तु तत्र विशेषसत्त्वात् "नास्त्यत्र विशेषः" इत्यस्यासङ्गतिः स्पष्टैवेति भावः ।

इति स्त्रीप्रत्ययाः ॥

सहेते इति । रतिश्रममिति शेषः । सह विद्यमानावूरु यस्या इत्यर्थे इति कैयटः । अतिरमणीयावित्यर्थे इति तदाशयः । कमलानि कमलानीतिवत् । कदूरिति । नागमातुः संज्ञा । अच्छन्दोऽर्थमिति । छन्दसि 'कदुकमण्डल्वोश्छन्दसि' इत्येनैव सिद्धिरिति भावः ।

अजो य इति । शार्ङ्गरवादीति लुप्तपञ्चम्यन्तम्, अज इति च षष्ठी । अनुपसर्जनादिति विभक्तिविपरिणामेनास्य विशेषणम् । एवं "टिड्ढा" इत्यत्रापि सुवचम् । तद्वदत्र पञ्चम्यन्तत्वमपि सुवचम् । अज्यो-ऽकार इत्यपि पाठः कश्चित् । शार्ङ्गरवाणां जातिलक्षणे ङीषि प्राप्ते वचनम् । अणि आदिवृद्ध्यां गुणौ । पुत्रशब्दोऽत्र पठ्यते तस्य पाठ-सामर्थ्याज्जातित्वाभावेऽपि ङीन् ।

नृनरयोरिति । यद्यपि 'नारी' इति नृशब्देन सिद्धं, 'नरी' इति तु पुंयोगङीषा दुर्वारं, जातिग्रहणानुवृत्त्या तत्रास्याप्रवृत्तेरिति नरग्रहणं व्यर्थं, तथा ऽपि नरत्वजातिमात्रप्रतिपिपादयिषायां नरीति व्यावृत्त्यर्थं तद्व-हणम् । अत्राद्याकारस्यैव वृद्धिर्लक्ष्यानुसारिव्याख्यानात् । वस्तुत इदं गणसूत्रमनार्षम् । "नुरनरस्य च धर्म्या नारी" इति "ऋतोऽज्" इति सूत्रेण "नरस्य चेति वक्तव्यम्" इति वार्तिकेन चाद्युदात्तनार्याः सिद्धेः । रूढ्या योग्यतया तद्धर्म्या नरत्वजातिविशिष्टैव बुद्ध्यते । अत एव "वसेस्तव्यत् कर्त्तरि णिच्" इति वचनं-वास्तुनि भवो वास्तव्य इति दिगादित्वात्सं-साध्य प्रत्याख्यातं भाष्ये । नित्यानां शब्दानां यथाकथञ्चिदन्वाख्यानं कार्यमिति कैयटः । रूढ्या सर्वदोषपरिहार इति तदाशयः ।

यङश्चाप् ॥ पकारो "याडाप" इत्यत्र सामान्यग्रहणार्थः । चका-रस्य अनुबन्धकत्वसम्पादनद्वारा सामान्यग्रहणाविघातकत्वेन चारिता-र्थ्येऽपि 'आम्बष्ठ्या, आवट्या' इत्यादौ परत्वाच्चित्स्वरः पित्स्वरं बाधते इति बोध्यम् । षाद्यञ इति । एवञ्च गौकक्ष्यशब्दस्य गर्गादियजन्त-स्योर्दीचां मतेऽनेनैव चापः सिद्धेः स क्रौड्यादिषु न पाठ्यः । संप्रसारण-न्तु तस्य नेष्टमिति स्पष्टं भाष्ये ॥

यूनस्तिः । "ऋन्नेभ्य" इति ङीपोऽपवादः । उत्तरार्थ इति । इह करणं तदनिखत्वज्ञापनार्थमिति केचित् ।

इति स्त्रीप्रत्ययाः ।

*“स्वौजसमौद्” इति विहितस्वादीनामर्थविशेषव्यवस्थां दर्शयितुमाह—
प्रातिपदिकार्थेति । *इदमपि सूत्रं *क्रियायोग एव प्रवर्तते । *अन्ततो-

अथ कारकप्रकरणम् ।

आरोहणावरोहणक्रमयोर्मध्येऽवरोहणक्रमेण शब्दसाधुत्वाभिधायकग्र-
न्थरचने प्रवृत्तः श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितः पूर्वं वाक्यस्फोटस्यैवास्मत्सिद्धान्तसिद्ध-
तया वाक्यस्फोटाभिव्यञ्जकवाक्यसाधुत्वबोधकं पञ्चसन्धिप्रकरणमुक्त्वा ततो
वाक्यसाधुत्वबोधनाय वाक्यघटकसुवन्ततिङन्तपदसाधुत्वबोधनस्य आव-
श्यकतया सूचीकटाहन्त्यायेन पूर्वं सुवन्तस्यैव साधुत्वबोधकषड्लिङ्गाव्ययप्रकरणे
अभिधाय सुप्रकृतिभूतप्रातिपदिकसाधुत्वबोधकसमास-तद्धित-प्रकरणोपेक्षया
तदीयोद्देश्यतावच्छेदकसम्पादकतया सुप्साधुत्वबोधकारकप्रकरणस्य लेखना-
वश्यकत्वेऽपि सुप्प्रातिपदिकयोरन्तगतत्वेन, स्त्रीप्रत्ययोत्तरमपि “ङ्पाप्प्राति-
पदिकात्” इत्यनेन स्वादेर्विधानाच्च पूर्वं स्त्रीप्रत्ययप्रकरणमुल्लिख्य तदनन्तरमस्यै-
व अवश्यनिरूपणीयत्वादाह- *स्वौजसेति* ।

द्वितीयादिवत् प्रथमाऽपि कारकविभक्तिरित्याह- *इदमपीति ।
क्रियायोग इति । अत्र च “सहयुक्तेऽप्रधाने” इति सूत्रेऽप्रधानग्रहणा-
भावे ‘पुत्रेण सहागतः पिता’ इत्यत्र पितृपदादपि तृतीयाप्रसङ्गमाशङ्क्य ‘कारक-
विभक्तित्वात् प्रथमा बाधिका भविष्यति’ इत्येतदर्थकं समाधानपरं भाष्य-
मेव मानम् । अन्यथा क्रियान्वयित्वलक्षणकारकबोधकत्वाभावात्तदसङ्गतिः
स्पष्टैव । अत एव “तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा” इति वार्त्तिकं च सङ्गच्छते ।
तिङ्समानाधिकरण्यं च तिङ्बोध्यकारकबोधकत्वरूपं बोध्यम् ।

ननु चैत्र इत्यादौ न क्रियायोगोऽत आह-अन्तत इति* । न च ‘त्रयः
कालाः’ इत्यादौ कस्याश्चिदपि क्रियाया अध्याहारः कर्तुं न शक्यते, वर्तमान-
कालिकसत्ताया भूतकालिकसत्ताया भविष्यत्कालिकसत्ताया वा कालत्रये
बाधितत्वादिति वाच्यम् । ज्ञायन्ते इत्यध्याहारेण वर्तमानकालिकज्ञानवि-
षयताश्रयत्वस्य तत्र सत्त्वेनादोषादिति केचित् । अन्येतु सन्ती-
त्यध्याहारोऽपि कर्तुं शक्यः । स्वोच्चारणाधिकरणत्वम्—स्वबोध्य-
त्वेनतात्पर्यविषयीभूतक्रियाधिकरणत्वम्—स्वोच्चारणप्रतियोगिकप्रागभाव-ध्वं-
सान्यतराधिकरणकालाघटितत्वम्—इतिसम्बन्धत्रयेण धातुविशिष्टत्वरूप-
वर्तमानत्वस्वीकारेण कालत्रयगतैकमहाकालकर्तृकसत्तायामभ्याहृता-
सुधातुविशिष्टकालावच्छिन्नत्वस्याबाधात् । यत्र काले पश्यति तत्प-
र्यन्तमुच्चारणकालात्परमेकमखण्डं कालमादायातिप्रसङ्गवारणाय ध्वंसाधि-
करणकालाघटितत्वमिति विशेषणम् । उच्चारणकालात्प्राग् यत्र काले पाकः कृ-
तः तत्पर्यन्तमेकमखण्डं कालमादायातिव्याप्तिवारणाय प्रागभावाधिकर-
णकालाघटितत्वमिति विशेषणमितीत्याहुः ।

स्वप्रतिपाद्यक्रियानधिकरणकालाघटितत्वम्—स्वोच्चारणाधिकरणत्व-

ऽस्तिक्रियायाः सर्वत्र सत्त्वात् । आख्यातार्थकर्त्रादिनाऽभेदान्वयेन*
तद्द्वारकः क्रियायोगो बोद्धव्यः । प्रथमान्तार्थस्यापि क्रियाजनकत्वादस्याः
कारकविभक्तित्वेन भाष्ये व्यवहारः ।

म्—स्वप्रतिपाद्यक्रियाधिकरणत्वमेतद्वित्रितयसम्बन्धेन धातुविशिष्टत्वं वर्त-
मानत्वम् । क्रियाद्वयान्तर्गतो यः कश्चित्सूक्ष्मकाल उपलभ्यते तत्रापि
यत्नविशेषादिरूपक्रियाऽस्त्येवेति तादृशं कालमादाय नाव्याप्तिः । त्रयः का-
ला इत्यादावपि भूतभविष्यद्वर्तमानभेदेन भिन्नस्त्वित्वसंख्याविशिष्टो य एको
महाकालस्तत्कर्तृका सत्ता उक्तत्रयसम्बन्धेनाध्याहृतास्रधातुविशिष्टकालाव-
च्छिन्ना भवितुमर्हतीति न क्षतिरित्यपरे ।

परे तु प्रयोगावच्छिन्नक्रियाधिकरणकालः वर्तमानकालः, स-
एव च लडाद्यर्थः । कीदृशकालावच्छेदकत्वं प्रयोगे इति परिचयायैव प्रा-
गभावाद्यधिकरणाघटितत्वादिघटितलक्षणमुद्धाटितम् । प्रयोगावच्छिन्नक्रिया-
ऽधिकरणेत्यस्य प्रयोगावच्छिन्ना या क्रियाधिकरणता ताद्विशिष्टः काल इत्यर्थः ।
विशिष्टस्यैव च क्रियायामन्वय इति महाकालमादाय न क्षतिरित्याहुः ।

अभेदान्वयेनेति । ननु प्रकृत्यर्थस्य साक्षात्क्रियायोगेन प्रथमादि-
विभक्तीनां कारकविभक्तित्वं, परम्परया तद्योगेन वा ? । नाद्यः । प्रथमाप्रकृत्य-
र्थस्य आश्रयाभेदद्वारकवृत्तित्वसम्बन्धेन क्रियायामन्वयेन प्रथमायाः कारक-
विभक्तित्वान्नापत्तेः । नान्त्यः । 'माणवकस्य पितरं पन्थानं पृच्छति' इत्या-
दौ माणवकपदोत्तरषष्ठ्या अपि तत्त्वापत्तेः । न च क्रियानिष्ठविशेष्यतानिरू-
पितसंसर्गानवच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वमेव कारकविभक्तित्वमिति विवक्षणेन
अभेदस्य संसर्गत्वाभावात् प्रथमायाः संसर्गानवच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वेन,
षष्ठ्याश्च जन्यजनकभावसंसर्गावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वेनादोष इति वाच्यम् ।
सुन्दरस्य माणवकस्य पितरं पृच्छतीत्यादौ सुन्दरपदोत्तरषष्ठ्यास्तत्त्वापत्तेः, इति
चेन्न । क्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपितकर्मत्वादिषट्केतरसम्बन्धाघटितसम्बन्धान-
वच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वं तत्त्वमिति "कारके" इति सूत्रव्याख्याऽवसरं विस्तरेण
निरूपणीयत्वात् ।

अथ पञ्चकं प्रातिपदिकार्थ इति निष्कृष्टमते लिङ्गस्यापि तत्त्वात्
लिङ्गग्रहणं व्यर्थम् इत्याशङ्कयामाह मूले *नियतोपस्थितिक इति* । स्वार्थद्रव्य-
लिङ्गसंख्याकारकाणां पञ्चानां प्रातिपदिकशक्यत्वेऽपि लिङ्गग्रहणसामर्थ्यात्
अत्र सूत्रे प्रातिपदिकार्थपदेन नियतोपस्थितिकस्यैवार्थस्य ग्रहणम् । तेन कर्मा-
द्याधिक्ये प्रथमा न भवतीति भावः ।

अथ नियतोपस्थितिकपदार्थो निरूप्यते ।

नियता उपस्थितिर्यस्य स नियतोपस्थितिकः । निपूर्वक्यम्धातोर्व्यापकत्वम-
र्थः, आश्रयश्च कार्यः, षष्ठ्यर्थश्च विषयता । तथा च व्यापकताश्रयोपस्थिति-
विषयत्वं प्रातिपदिकार्थत्वमिति शब्दतो लभ्यते ।

ननु कृष्णादिशब्देषु लिङ्गस्यापि प्रातिपदिकार्थत्वाल्लिङ्गग्रहणम-
नर्थकमत आह—नियतेति । *यस्मिन्प्रातिपदिके उच्चारिते यस्या-

तत्र व्यापकत्वस्य यत्किञ्चिन्निष्ठव्याप्यतानिरूपितत्वेन 'किंनिष्ठव्याप्य-
तानिरूपिता उपस्थितिनिष्ठव्यापकता' इत्याकाङ्क्षायामाह—*यस्मिन्प्रातिपदिके
उच्चारिते इति* । प्रातिपदिकोच्चारणनिष्ठव्याप्यतानिरूपिता व्यापकता वाच्या,
तथाच प्रातिपदिकोच्चारणनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकतावदुपस्थितिष्यता-
श्रयत्वं तत्त्वमिति पर्यवसन्नम् । नन्वेवमपि उच्चारयितरि समवायेन उच्चारणस्य,
श्रोतरि च तज्जन्योपस्थितेः सत्त्वेन व्यधिकरणत्वात्कथं व्याप्यव्यापकभावा-
पन्नत्वं तयोः । समवायं परित्यज्य स्वजन्यश्रावणप्रत्यक्षसमवायित्वसंसर्गं
व्याप्यतावच्छेदकं, समवायं च व्यापकतावच्छेदकं स्वीकृत्योक्तदोषपरिहारेऽपि
अगृहीतशक्तिकघटादिपदश्रोतरि स्वजन्यश्रावणप्रत्यक्षसमवायित्वेनोच्चारणस्य
सत्त्वेऽपि घटघटत्वसमवायानामुपस्थितेरभावात्तदुपस्थितेर्व्यापकत्वं दुर्घट-
मेवेति चेन्न । स्वविषयपदनिष्ठशक्तिज्ञानसमवायित्वं—स्वजन्यश्रावणप्रत्यक्ष-
समवायित्वोभयसंबन्धस्य व्याप्यतावच्छेदकत्वोपगमेनादोषात् ।

एतेन नियतलिङ्गघटादिपदस्य बधिरनिकटे उच्चारणेऽपि उपस्थितेरभावात्
निरुक्तप्रातिपदिकार्थत्वं तादृशस्थले न स्यादित्यपास्तम् । स्वजन्यश्रावण-
प्रत्यक्षसमवायित्वसम्बन्धेन बधिरात्मनि प्रातिपदिकोच्चारणस्याभावेन तत्रो-
पस्थितेरभावेऽपि क्षतिविरहात् ।

वस्तुतस्तु प्रातिपदिकोच्चारणे व्याप्यतास्वीकारे स्वजन्यश्रावणप्रत्यक्षस-
मवायित्व—स्वविषयपदनिष्ठशक्तिज्ञानसमवायित्वोभयस्य व्याप्यतावच्छेदकस-
म्बन्धत्वस्वीकारे गौरवात् स्वविषयकश्रावणप्रत्यक्षसमवायित्वस्वनिष्ठशक्तिज्ञा-
नसमवायित्वोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रातिपदिकनिष्ठव्याप्यतानिरूपितसमवायस-
म्बन्धावच्छिन्नव्यापकतावदुपस्थितिष्यत्वं प्रातिपदिकार्थत्वमिति वक्तव्यम् ।

प्रातिपदिकनिष्ठव्याप्यता च न प्रातिपदिकत्वसामान्यरूपेण, असम्भ-
वात् । नापि तद्व्यक्तित्वेन, अव्यावर्तकत्वात् । किंतु तत्तदानुपूर्वप्रकारेणेति
बोध्यम् ।

व्यापकतावदुपस्थितिष्यत्वमित्यस्य च व्यापकतावच्छेदकोपस्थि-
तीयविषयताश्रयत्वमित्यर्थः । तेन घटपदजन्यघटत्वप्रकारकोपस्थितौ उद्बोध-
कान्तरवशात् कदाचित् पटादिभानेऽपि तद्विषयतायाः निरुक्तोभयसम्बन्धेन
घटादिप्रातिपदिकाधिकरणकालान्तरीणघटादिविषयकोपस्थित्यधिकरणात्मनि-
ष्ठाभावीयप्रतियोगितावच्छेदकत्वाच्चातिव्याप्तिः ।

ननु गृहीतशक्तिकस्यापि उपेक्षया अनुत्पन्नसंस्कारस्य, कालान्तरे
लुप्तसंस्कारस्य वा पुरुषस्य शक्तिज्ञानसत्त्वेऽपि तदुपस्थितेरभावेन प्रातिपदिक-
निष्ठव्याप्यतानिरूपिता व्यापकता उपस्थितौ न स्यादिति तु नाशङ्कनीयम् ।

तदर्थं स्वनिष्ठशक्तिविषयकोद्बुद्धसंस्कारसमवायित्वस्वविषयप्रत्यक्षसमवायित्वो-
भयस्य व्याप्यतावच्छेदकत्वोपगमात् ।

नन्वत्रोपस्थितिपदेन स्मृतिर्गृह्यते शाब्दबोधो वा ? । नाद्यः । तदशब्दा-
लिङ्गत्रयविषयकबोधस्य आकाङ्क्षाद्यभावेन युगपदनुदयेऽपि लिङ्गत्रयविषयको-
पस्थितेर्युगपत्संभवेन लिङ्गत्रयोपस्थितेर्व्यापकत्वाल्लिङ्गस्यापि उक्तप्रातिपदिकार्थ-
त्वेन लिङ्गग्रहणवैयर्थ्यात् । नान्त्यः । शाब्दबोधस्य यत्किञ्चिल्लिङ्गविषयकत्वेनो-
क्तदोषस्य वारणेऽपि घटादिपदशक्तिग्रहत्वोऽपि पुरुषस्य योग्यताकाङ्क्षादिकारण-
विरहिणः 'घटः कर्मत्वम् आनयनं कृतिः' इत्यतो बोधाभावाद् घटादिबोधेऽपि
व्यापकत्वस्य दुर्घटत्वात् इति चेद् न । स्वविशेष्यकशक्तिज्ञानाकाङ्क्षादिघटित-
शाब्दबोधसामग्रीसमवायित्वस्य व्याप्यतावच्छेदकसंबन्धस्य निवेशेनादोषात् ।

नन्वेवमपि सर्वं वाक्यं क्रियया परिसमाप्यते इति क्रियाविशेष्यकस्यैव
शाब्दबोधस्य वैयाकरणैः स्वीकारादुच्चार्यमाणप्रातिपदिकनिष्ठव्याप्यतानिरूपि-
तव्यापकतायाः क्रियाविषयकबोधे सत्त्वात् तादृशबोधीयविषयताश्रयत्वेन
क्रियाया अपि प्रातिपदिकार्थत्वापत्तिरिति चेद् न । प्रातिपदिकनिष्ठव्याप्यतानिरू-
पितव्यापकतावद्बोधीयविषयताश्रयत्वे सति प्रातिपदिकनिष्ठशक्तिनिरूपकत्वं
तत्त्वमिति विवक्षणेन क्रियायाः प्रातिपदिकनिष्ठशक्तिनिरूपकत्वाभावेन दोषा-
भावात् ।

ननु हरिपदविशेष्यकसूर्याद्यन्यतमयत्किञ्चिदर्थनिरूपितशक्तिज्ञानादि-
घटितशाब्दसामग्रीसमवायिनः पुंसः तदन्यविषयकशाब्दानुदयात् चालनीन्या-
येन तज्जन्यसर्वबोधस्यैव तद्व्यापकत्वात् कस्याप्यर्थस्य तत्प्रातिपदिकार्थत्वं न
स्यात् । तत्तदर्थविषयकशाब्दबोधसामग्रीसमवायित्वसंबन्धावच्छिन्नप्रातिपदि-
कनिष्ठव्याप्यतानिरूपितव्यापकतावद्बोधीयविषयताश्रयत्वं तत्त्वमित्युक्तौ तु लि-
ङ्गस्यापि तत्त्वेन लिङ्गग्रहणवैयर्थ्यं दुर्वारमेव । तटादिपदार्थपुंस्त्वविषयक-
शाब्दसामग्रीसमवायिनि पुंस्त्वविषयकशाब्दबोधस्यावश्यमुदयेन निरुक्तसं-
बन्धेन विशिष्टबोधे व्यापकत्वस्य स्फुटत्वेन प्रातिपदिकार्थत्वादेव सिद्धेः ।

नच स्वरूपतः प्रातिपदिकनिष्ठशक्तिविषयत्वाभाववद्भर्मानवच्छिन्न-
विषयताश्रयत्वं तत्त्वम् । एवञ्च तदपदं लिङ्गत्वव्याप्यत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नं,
तदत्वावच्छिन्नं च बोधयत्तित्याकारकशक्तेः स्वीकृततया येन रूपेण शक्तिविषयी-
भूतः पदार्थः तेनैव रूपेण शक्तिज्ञाने शाब्दबोधे च विषयो भवतीत्यनियमेन प्रकृते
लिङ्गत्वव्याप्यत्वेन रूपेण पुंस्त्वत्वादौ शक्तिविषयतायामपि स्वरूपतः पुंस्त्वत्व-
बोधे बाधकाभावात् स्वरूपतः पुंस्त्वत्वेन पुंस्त्वबोधे स्वरूपतस्तदपदनिष्ठशक्ति-
विषयत्वाभाववत्पुंस्त्वत्वादिधर्मानवच्छिन्नविषयताश्रयत्वं तदतदत्वयोरेव, न तु
पुंस्त्वादेरिति न कोऽपि दोष इति वाच्यम् । तच्छब्देऽपि बुद्धिस्थत्वोपलक्षित-
धर्मावच्छिन्नविषयिण्या एकस्या एव शक्तेः सत्त्वेन बुद्धिस्थत्वेनैव रूपेण घटत्वा-
दौ शक्तिविषयता, न तु स्वरूपतः इति स्वरूपतस्तदपदनिष्ठशक्तिविषयत्वाभाव-

घटघटत्वाद्यवच्छिन्नविषयताश्रयत्वेन घटादेस्तत्पदप्रातिपदिकार्थत्वानापत्तेः ।

न च प्रातिपदिकनिष्ठशक्तीयविशेष्यतानिरूपितप्रकारताविशिष्टत्वं तत्त्वम् । वैशिष्ट्यञ्च-स्वाश्रयत्व-स्वाश्रयावच्छिन्नविषयताश्रयत्वैतदन्यतरसम्बन्धेन । एवञ्च तत्पदस्थले स्वनिष्ठशक्तीयविशेष्यता घटादौ, तन्निरूपितप्रकारता बुद्धिस्थत्वोपलक्षितघटत्वादौ, एवं तदाश्रयो घटत्वादिस्तदवच्छिन्नविषयताश्रयत्वं घटादेरिति । घटादिपदस्थले च लिङ्गविशिष्टे एकस्या एव शक्तेः स्वीकारात् पुंस्त्वघटत्वोभयनिष्ठप्रकारतायाः शक्तीयविशेष्यतानिरूपितत्वेन तदाश्रयत्वात्तयोः, तदाश्रयावच्छिन्नविषयताश्रयत्वाच्च घटरूपार्थस्येति लक्षणसमन्वय इति वाच्यम् । तदपदस्थले दोषस्य तदवस्थत्वात् । लिङ्गत्वव्याप्यत्वोपलक्षितपुंस्त्वत्वादि-तद्वत्त्व-एतदुभयवृत्तिप्रकारतानिरूपितविशेष्यतायास्तटे पुंस्त्वादौ च सत्त्वात् इति चेन्न । उच्चारितप्रातिपदिकप्रयोज्यबोधीयमुख्यविशेष्यतासमानाधिकरण-शक्तीयविशेष्यतानिरूपितप्रकारताविशिष्टत्वं तत्त्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वाश्रयत्व-स्वाश्रयावच्छिन्नविषयताश्रयत्वान्यतरसम्बन्धेनेत्युक्तौ दोषाभावात् । तद्यथा-तदपदप्रयोज्यशाब्दबोधीयमुख्यविशेष्यतासमानाधिकरणा शक्तीयविशेष्यता तदनिष्ठैव, न तु पुंस्त्वादिनिष्ठा, तन्निरूपितप्रकारता तद्वत्त्वनिष्ठैव, तदाश्रयत्वं तस्य, तदाश्रयावच्छिन्नविषयताश्रयत्वं च तदस्येति ।

नन्वेवमप्येवशब्दस्थलेऽन्ययोगे, व्यवच्छेदे च खण्डशक्तेरेव स्वीकृततया शाब्दीयविशेष्यतासमानाधिकरणशक्तीयविशेष्यता व्यवच्छेदे, न त्वन्ययोगे, तन्निरूपितप्रकारता व्यवच्छेदत्वे, न त्वन्ययोगत्वे; तद्वैशिष्ट्यं व्यवच्छेदव्यवच्छेदत्वयोर्न तु अन्ययोगान्ययोगत्वयोरिति तयोस्तत्प्रातिपदिकार्थत्वं न स्यात् ।

एतदर्थं यदि स्वनिष्ठशक्तिप्रयोज्योपस्थितिप्रयोज्यशाब्दबोधीय-विषयतात्वावच्छिन्नव्यापकविषयताश्रयत्वं तत्त्वम् । व्याप्यव्यापकतावच्छेदकश्च सम्बन्धो निरूपकत्वमित्युच्यते, तावताऽपि न निर्वाहः । तच्छब्दे हरिशब्दे च दोषस्य तादवस्थत्वात् । तच्छब्दनिष्ठशक्तिप्रयोज्योपस्थितिप्रयोज्यो-बोधो घटत्वावच्छिन्नविषयकस्तदीयविषयताधिकरणं निरूपकत्वसम्बन्धेन स एव बोधः, तद्वृत्त्यभावो निरूपकत्वसम्बन्धेन पदत्वावच्छिन्न-विषयता नेत्याकारकस्तत्प्रतियोगित्वं पदविषयतायाम् । एवं तत्पद-निष्ठशक्तिप्रयोज्योपस्थितिप्रयोज्यो बोधः पदत्वावच्छिन्नविषयकस्तद्वृत्त्यभाव-प्रतियोगित्वमेव घटनिष्ठविषयतायामिति कृत्वा काऽपि विषयता न व्यापकतावतीति । एवं हरिपदस्थलेऽपि विघटनं ज्ञेयम् । तदर्थं यदि प्रातिपदिक-निष्ठशक्तिविशिष्टविषयताव्यापकविषयताश्रयत्वं तत्त्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वनि-रूपितत्वं-स्वप्रयोज्योपस्थितिप्रयोज्यशाब्दबोधीयत्वमिति सम्बन्धोभ्याम् इत्यु-च्यते, तावता हरिपदस्थले दोषवारणेऽपि तच्छब्दस्थले दोषस्य तादवस्थमे-व । तद्यथा-हरिपदनिष्ठशक्तिर्विष्णुत्वावच्छिन्नार्थनिरूपिता तन्निरूपितत्वं

विष्णुत्वावच्छिन्नविषयतायाम्, तत्प्रयोज्यशब्दबोधनीयत्वं चेति तद्व्यापकत्वस्य स्वस्मिन् विष्णुत्वविषयतायां च सत्त्वेनादोषः । तत्पदस्थले तु एकैव शक्तिरिति कापि विषयतोपदर्शितरीत्या व्यापिका नेति दोषो दुर्वार एवेति चेन्न ।

स्वजन्यबोधविषयत्वप्रकारकतात्पर्यविषयतापर्याप्त्याधिकरणत्व-स्वाभाववत्त्वैतदुभयसम्बन्धेन प्रातिपदिकविशिष्टत्वं प्रातिपदिकार्थत्वमिति परिष्कारेणादोषात् । अभावश्च स्वप्रयोज्यधर्मितानिरूपितप्रकारतावत्त्व-स्वनिष्ठशक्तिविशिष्टावच्छेदकतावद्विषयतावत्त्वैतदुभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको ग्राह्यः । शक्तिवैशिष्ट्यं च स्वविषयविषयतानिरूपितनिरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्नत्व-स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशब्दबोधनिष्ठभेदप्रतियोगितानिरूपितत्वैतदुभयसम्बन्धेन ।

प्रवृत्तिनिमित्ते तदाश्रये च स्वप्रयोज्यधर्मितानिरूपितप्रकारताश्रयत्वरूपसम्बन्धाभावादेकसत्त्वेऽपि द्वयं नास्तीति प्रतीत्या निरुक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावस्सुलभ इति सर्वत्र लक्षणसमन्वयः । सावच्छिन्नविशेष्यताया एव धर्मितापदेन ग्रहणात् । नियतलिङ्गस्थले पुंस्त्वादौ स्वप्रयोज्यप्रवृत्तिनिमित्तावच्छिन्नधर्मितानिरूपितप्रकारतावत्त्वस्य सत्त्वेऽपि स्वनिष्ठशक्तिविशिष्टावच्छेदकतावद्विषयतावत्त्वरूपसम्बन्धस्याभावात्तत्रापि निरुक्तदिशा उभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकोऽभावस्सुलभ इति तत्रापि लक्षणसमन्वयः । अनियतलिङ्गस्थले च तटीत्यादौ स्त्रीत्वादौ स्वप्रयोज्यधर्मितानिरूपितप्रकारतावत्त्वस्य, पुंस्त्वादिविषयकबोधे स्त्रीत्वत्वादिना स्त्रीत्वादिविषयको नेति चालनान्यायेन भेदमादाय स्वनिष्ठशक्तिविशिष्टावच्छेदकतावद्विषयतावत्त्वस्य च सत्त्वात्तत्र निरुक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्स्वाभावो नेति लिङ्गग्रहणं सार्थकम् । प्रकारतावत्त्वं च स्वाश्रयत्व-स्वनिरूपितावच्छेदकताश्रयत्वान्यतरसम्बन्धेन । तेनानियतलिङ्गस्थले स्त्रीत्वत्वादौ नातिव्याप्तिः ।

अत्र तात्पर्यघटितप्रथमसम्बन्धोपादानेन अश्वविषयकबोधतात्पर्येणोच्चरितहरिशब्दादिन्द्ररूपप्रातिपदिकार्थं प्रथमापत्तिः, क्रियायां प्रातिपदिकार्थत्वापत्तिश्च न भवति । अन्यथा अश्वारूढ इन्द्र इति प्रकृत्यर्थप्रत्ययार्थयोराराधाराधेयभावसम्बन्धेनान्वयबोधापत्तिः । स्वाभाववत्त्वरूपद्वितीयसम्बन्धदानात्सुत्रे लिङ्गग्रहणं सार्थकम् । अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकप्रथमसम्बन्धोपादानात्तदादिपदस्थले घटादिपदार्थस्य प्रातिपदिकार्थत्वं सिद्ध्यति । अभावीयप्रतियोगितावच्छेदकद्वितीयसम्बन्धोपादानात् नियतलिङ्गस्थले पुंस्त्वादेः प्रातिपदिकार्थत्वं सिद्ध्यति । शक्तिवैशिष्ट्ये प्रथमसम्बन्धोपादानात् प्रमेयत्वेन पुंस्त्वविषयताको नेति भेदमादाय पुंस्त्वादौ नाव्याप्तिः । प्रमेयत्वस्य घटादिपदनिष्ठशक्त्यविषयत्वेन तदवच्छिन्नपुंस्त्वविषयत्वनिष्ठभेदीयप्रतियोगितावच्छेदकतायाः घटादिपदनिष्ठशक्तिविषयविषयतानिरूपितनिरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावात् । शक्तिवैशिष्ट्ये द्वितीयसम्बन्धोपादानस्यापि नियतलिङ्गस्थले पुंस्त्वादेः प्रातिपदिकार्थत्वसिद्धिरेव फलम् । अन्यथा पदान्तरप्रयोज्यस्त्रीत्वा-

दिविषयकबोधे घटादिपदनिष्ठशक्तिविषयविषयतानिरूपितनिरूपकत्वसम्बन्धेन पुंस्त्वविषयतावाप्नोति भेदस्य सत्त्वेन तादृशभेदीयप्रतियोगितावच्छेदकतायाः शक्तिविषयविषयतानिरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्नत्वेन उक्तीत्या उक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभावस्य पुंस्त्वादौ असत्त्वेन दोषस्य दुर्वारत्वात् ।

यत्तु प्रातिपदिकविशिष्टत्वं प्रातिपदिकार्थत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वनिष्ठशक्तिज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशाब्दबोधनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकविषयतावत्त्वसम्बन्धेनेति, तन्न । हर्यादिनानार्थस्थले विष्णुत्वविष्णवादीनां प्रातिपदिकार्थत्वानापत्तेः ।

यदपि प्रातिपदिकनिष्ठशक्तिविशिष्टविषयतावत्त्वं प्रातिपदिकार्थत्वम् । शक्तिवैशिष्ट्यं च स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यत्व-स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशाब्दबोधनिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वोभयसम्बन्धेन । अत्र प्रथमसम्बन्धानात् साध्यत्वाविषयकबोधस्य कुत्राप्यजननात्तत्र द्वितीयसम्बन्धसत्त्वेऽपि नातिव्याप्तिः । द्वितीयसम्बन्धोपादानात् छिन्नस्य तटादिप्रातिपदिकार्थत्वं न । चालनीन्यायेन सर्वलिङ्गनिष्ठविषयतानां शक्तिप्रयोज्यबोधनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वात् । नानार्थस्थले तु शक्तेर्भेदात् न दोष इति, तदापि न । तत्पदस्थले शक्तेरैक्यात् घटादिपदार्थे तत्पदप्रातिपदिकार्थत्वानापत्तेः ।

एतेन प्रातिपदिकनिष्ठशक्तिविशिष्टविषयतावत्त्वं प्रातिपदिकार्थत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्वज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यशाब्दबोधविषयतात्वावच्छिन्ननिरूपितव्यापकतावत्त्वसम्बन्धेनेत्यप्यपास्तम् । तत्पदेन नियमेन कस्यापि बोधस्यानुदयान्निरुक्तविषयतात्वावच्छिन्नव्यापकत्वस्य दुर्लभत्वात् ।

न च भवत्परिष्कारेऽपि तत्पुरुष इत्यादौ तत्पदार्थस्य तत्पुरुषेत्यादिप्रातिपदिकार्थत्वानुपपत्तिः, लोमवह्नाङ्गूलवदादिपरतत्पदार्थत्वानुपपत्तिश्च लोमादीनाम्, स्वप्रयोज्यपुरुषत्वाद्यवच्छिन्नधर्मितानिरूपितप्रकारतावत्त्वस्य, चालनीन्यायेन पूर्वोक्तादिशा स्वनिष्ठशक्तिवैशिष्ट्यावच्छेदकतावद्विषयतावत्त्वस्य च सत्त्वेन स्वाभावस्य दुर्लभत्वात्, इति वाच्यम् । स्वप्रयोज्यधर्मितानिरूपितप्रकारतायाम् अपदार्थसम्बन्धावच्छिन्नेतिविशेषणदानेनादोषात् । अपदार्थसम्बन्धावच्छिन्नेत्यस्य शक्त्यभास्यसम्बन्धावच्छिन्नेत्यर्थः । आकाङ्क्षाभास्यसम्बन्धावच्छिन्नेति यावत् । तथा च तत्पुरुष इत्यादौ पुरुषत्वाद्यवच्छिन्नधर्मितानिरूपिततत्पदार्थादिनिष्ठप्रकारता विशिष्टशक्त्यङ्गकारेण शक्तिभास्यसम्बन्धावच्छिन्नैव, नत्वाकाङ्क्षाभास्यसम्बन्धावच्छिन्नेति न दोष इति ।

नन्वेवमपि चासुदेवपरकृष्णपदप्रातिपदिकार्थत्वं पुंस्त्वस्य न स्यात्, तस्य कृष्णपदेनिष्ठनीलरूपवन्निरूपितशक्तिज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यङ्गीकृतत्वप्रकारकबोधनिष्ठभेदप्रतियोगितानिरूपिता या तु निष्ठशक्तिविषयपुंस्त्वविषयतानिरूपितनिरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्ना ऽवच्छेदकता तद्वद्विषयताश्रयत्वस्य, कृष्णपदप्रयोज्यधर्मितानिरूपितप्रकारतावत्त्वस्य च सत्त्वेनोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्र-

तियोगिताकस्वाभावस्य दुरूपपादत्वादिति चेन्न । स्वाभाववत्त्वस्य स्थाने स्वनिष्ठशक्त्यभाववत्त्वस्य निवेशेनादोषात् । उभयार्थनिरूपितशक्ततावच्छेदकानुपूर्वैक्येऽपि शक्यतावच्छेदकभेदेन शक्तिभेदात् वासुदेवार्थनिरूपितशक्तिज्ञानाधीनोपस्थितिप्रयोज्यपुंस्त्वप्रकारकबोधनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्य वासुदेवार्थनिरूपितशक्तिविषयविषयतानिरूपितानिरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्नत्वस्य पुंस्त्वविषयतायामसत्त्वेन उभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वानिष्ठशक्त्यभाववत्त्वस्य सुलभत्वात् ।

यद्यपि शक्त्यभावनिवेशे नीलरूपवत्परकृष्णपदप्रातिपदिकार्थत्वापत्तिः पुंस्त्वस्य, तत्र उभयसम्बन्धेन वासुदेवनिरूपितशक्त्यभावस्य सत्त्वात्, तथापि तेन पूर्वोक्तोभयसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्वाभाववत्त्व—स्वप्रयोज्यबोधविषयत्वप्रकारकतात्पर्यविषयत्वोभयसम्बन्धेन स्वनिष्ठशक्तिविशिष्टत्वस्योपलक्षणान्न दोषः । नीलरूपवत्परकृष्णपदवाच्यपुंस्त्वे कृष्णपदनिरूपितवासुदेवनिरूपितशक्त्यभावस्य पूर्वोक्तोभयसम्बन्धेन सत्त्वेऽपि वासुदेवनिरूपितशक्तिप्रयोज्यबोधविषयत्वप्रकारकतात्पर्यविषयत्वाभावेन निरुक्तोभयसम्बन्धेन शक्तिविशिष्टत्वाभावात् । पुंस्त्वविशिष्टघटविषयकबोधे पुंस्त्वाविशिष्टघटसंयुक्तपटादिविषयकबोधभेदमादाय घटादिपदवाच्यपुंस्त्वादौ अव्याप्तिदोषस्तु नोद्भावनीयः । स्वनिष्ठशक्तिविषयतत्तदर्थविषयत्वपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकरूपावच्छिन्नानुयोगिताकपर्याप्तिकावच्छेदकताकप्रतियोगिताकभेदस्यैव ग्रहणात् इति दिक् ।

अन्ये तु शाब्दबोधजनकशक्तिज्ञानविशिष्टविषयतावत्त्वं प्रातिपदिकार्थत्वम् । शक्तिज्ञानवैशिष्ट्यं च स्वजन्यशाब्दबोधविषयतात्वावच्छिन्नव्यापकत्व—स्वप्रयोज्यत्वोभयसम्बन्धेन । तत्पदार्थस्थले च बुद्धिस्थप्रकारवान् तत्पदवाच्य इति शक्तिज्ञानं न शाब्दबोधजनकं, किं तु घटत्वावच्छिन्नस्तत्पदवाच्य इत्यादि विशिष्यशक्तिज्ञानमेव शाब्दबोधजनकमिति तज्जन्यशाब्दबोधविषयतात्वावच्छिन्नव्यापकत्वं तत्पदार्थे ऽव्याहतमिति तत्र न दोषः । तटपदं त्रिषु लिङ्गेषु शक्तमित्यादि शक्तिज्ञानमेव अनियतलिङ्गस्थले शाब्दबोधजनकमिति तत्र कस्यापि लिङ्गस्य नियमेनाभानात् स्वजन्यशाब्दबोधविषयतात्वावच्छिन्नव्यापकत्वं लिङ्गविषयतायां नास्तीति लिङ्गग्रहणं सार्थकम् । पूर्ववत्साध्यत्वेऽतिव्याप्तिवारणाय द्वितीयसम्बन्धोपादानमित्याहुः । तन्न । पुंस्वनिरूपितशक्तिमतत्तटपदम् इत्यादिशक्तिज्ञानस्यापि शाब्दबोधजनकत्वे बाधकाभावेन शाब्दबोधजनकतादृशज्ञानवैशिष्ट्यस्य पुंस्त्वादिविषयतायां सत्त्वेन तदाश्रयपुंस्त्वादौ तटपदप्रातिपदिकार्थत्वापत्तेर्दुर्वारत्वात् । वस्तुतस्तु पुंस्त्वत्वादिना विशेषरूपेणैव पुंस्त्वादेर्बोधस्य तटादिपदतोऽनुभवसिद्धत्वात् तस्य च विशिष्यपुंस्वनिरूपितशक्तिमतत्तटपदम् इत्यादिज्ञानं विनाऽसम्भवात् तटपदं त्रिषु लिङ्गेषु शक्तमिति ज्ञानं न शाब्दबोधजनकमिति तद्वैशिष्ट्याभावो न प्रातिपदिकार्थत्वा-

भावसाधक इति उक्तनिवेशो विफल एवेति बोध्यम् ।

अत्रेदं तत्त्वम् । यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते इति वाक्ये स्वार्थ-
बोधायेति शेषः । उपस्थितिपदार्थो विषयता । ज्ञानार्थकभासधातोः “शाब्द-
बोधे भासते” इत्यादौ विषयतार्थकताया दृष्टत्वात् । निपूर्वकयमधातोर्व्यापकत्व-
मर्थः । तच्च स्वार्थबोधनिरूपितं ब्राह्ममुपस्थितत्वात् । स्वार्थः—प्रवृत्तिनिमित्तम्,
बोधः—उपस्थितिः । तथा च प्रातिपदिकप्रवृत्तिनिमित्तविषयकोपस्थितिर्व्याप-
कविषयताश्रयत्वं प्रातिपदिकार्थत्वमिति लभ्यते । उपस्थितिर्व्यापकत्वं च
उपस्थितिनिष्ठभेदप्रतियोगितानिरूपितनिरूपकत्वसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वा-
भाववत्त्वम् । एवं च नियतलिङ्गघटादिपदप्रवृत्तिनिमित्तघटत्वादिविषयकोप-
स्थितौ ‘निरूपकत्वसम्बन्धेन पुंस्त्वादिविषयतावतीन’ इत्याकारकभेदस्यास-
त्त्वेन पुंस्त्वादिविषयतायास्तादृशभेदप्रतियोगिताऽनवच्छेदकत्वात्तदाश्रय-
त्वाल्लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थत्वं सिध्यति । अनियतालिङ्गनटादिपदप्रवृत्तिनिमि-
त्ततटत्वादिविषयकोपस्थितौ तु चालनीन्यायेन ‘पुंस्त्वाद्यवच्छिन्नविषयतावती
न’ इत्याकारकभेदस्य सत्त्वेन सर्वासां लिङ्गविषयतानां तादृशभेदप्रतियोगिता-
वच्छेदकत्वान्न लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थत्वम् । नहि ‘लिङ्गत्वव्याप्यत्वोपलक्षि-
तधर्मावच्छिन्नस्तटादिपदवाच्य’ इति सामान्यतो ज्ञानं स्वरूपतः पुंस्त्वत्वादिप्र-
कारकोपस्थितिं जनयितुमर्हति, येन तटादिपदान्निमित्तमेन सर्वलिङ्गविषयि-
णी उपस्थितिर्भवेत् । तथा सति ‘जानिमान् हस्तिपकसम्बन्धी’ इति ज्ञाना-
दपि स्वरूपतो हस्तित्वप्रकारकस्मरणापत्तेः । अत एव तत्पदात् स्वरूपतो
घटत्वादिप्रकारकबोधाद्युपपादनाय ‘घटस्तत्पदवाच्य’ इत्यादि शक्तिज्ञानमेवाङ्गी-
कृतं गदाधरभट्टाचार्यैः । यथा ‘बुद्धिविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नस्तत्पद-
वाच्य’ इति ज्ञानानन्तरम् ‘अत्र घटोऽस्ति’ इत्यादिवाक्यतो घटत्वादौ बुद्धिवि-
षयतावच्छेदकत्वे गृहीते मनसा ‘घटस्तत्पदवाच्य’ इति शक्तिज्ञानं जायते तथा
‘लिङ्गत्वव्याप्यत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नस्तटादिपदवाच्य’ इति ज्ञानानन्तरं पुंस्त्व-
त्वादौ लिङ्गत्वव्याप्यत्वे गृहीते ‘पुंस्त्वं तटादिपदवाच्यम्’ इत्यादि शक्तिज्ञानं
पृथक्पृथक् जायते । यदा च यद्विषयकः संस्कार उद्बुध्यते तदा तद्विषयकं
स्मरणं, न तु पदरूपसम्बन्धिज्ञानमात्रेण सर्वलिङ्गविषयकं स्मरणं नियमेन
भवति । नहि चैत्रादिसम्बन्धित्वेन पृथक्पृथग्गृहीतानां पदार्थानां चैत्रा-
दिज्ञानमात्रेण नियमेन सर्वमानमनुभवसिद्धम् । उद्वाधकविशेषस्य नियाम-
कत्वात् । तथा च विसर्गादिसमभिव्याहाररूपोद्बोधकवशात् लिङ्गविशेष-
स्यैव स्मरणात् न नियमेन सर्वलिङ्गस्मरणमिति न तस्य तटादिप्रातिपदिका-
र्थत्वमापद्यते ।

हर्यादिपदे तु प्रवृत्तिनिमित्तभेदात् तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तविषयकोप-
स्थितौ तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तविषयतायास्तत्तद्विषयतायाश्च निरूपकत्वसम्ब-
न्धेन सत्त्वान्न तत्राव्याप्तिः । एवं तत्पदेपि प्रवृत्तिनिमित्तभेदादेव लक्षणं सङ्गम-
नीयम् । प्रवृत्तिनिमित्ताश्रयेतु सर्वत्र प्रवृत्तिनिमित्तावच्छिन्नविषयताया दे-

क्यात् तस्याश्च प्रवृत्तिनिमित्तोपस्थितावव्यभिचरितत्वात्तदाश्रयत्वाल्लक्षण-
समन्वयः । सावच्छिन्नविषयताया अवच्छेदकभेदेनैव भेदाङ्गीकारात् । आ-
श्रयभेदेन भेदाङ्गीकारे तु स्वाश्रयत्व—स्वाश्रयावच्छिन्नविषयताश्रयत्वान्यत-
रसम्बन्धेन निरुक्तविषयतावैशिष्ट्यं निवेशनीयम् ।

पाकादिपदात् खण्डशक्तिस्वीकारेण कदाचित् केवलफलविषयकबो-
धस्य तदुपस्थितेश्चाङ्गीकारेपि व्यापारत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तोपस्थितौ तद्विषयताया
नियतत्वान्न तत्राव्याप्तिः । एवं सम्प्रसारणपदे खण्डशक्तिस्वीकारेण तत्तदंश-
बोधस्यानियतत्वेऽपि अव्याप्तिपरिहार उपपादनीयः ।

पूर्वोक्तस्वाभाववत्त्वनिवेशवादिनस्तु णिजादिसमभिव्याहारे धातुना
फलमात्रविषयकबोधजनने ऽपि पाकादिकृदन्तपदात् तन्मात्रविषयकबोधस्या-
जननात्, नवीनमते विशिष्टशक्तेरेवाङ्गीकारेण णिजादिसमभिव्याहारेपि धातुना
फलसमानाधिकरणव्यापारप्रतीतिः सत्त्वात्कुत्रापि व्यापाराविषयकबोधस्य अज-
ननात्, उद्देश्यताप्रयोजकसम्प्रसारणादिपदेन च सम्प्रसारणपदप्रयोज्यविधेयता-
श्रयेत्यंशस्य यण्स्थानिकेगंशविशेष्यतयैव भानान्न कुत्राप्यव्याप्तिरित्याहुः ।

साध्यत्वविषयतायाश्च वैयाकरणमते बोधनियतत्वेऽपि प्रवृत्तिनिमि-
त्तोपस्थितिनियतत्वाभावाभातिव्याप्तिरिति न तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रातिपदिकनिष्ठशक्ति-
निरूपकत्वविशेषणमुपादेयम् । उपस्थितिर्व्यापकत्वनिवेशे अनियतलिङ्गपदस्थले
लिङ्गस्य प्रातिपदिकार्थत्वापत्तिं मन्यमानैः विषयतायां प्रवृत्तिनिमित्तबाधव्या-
पकत्वनिवेशे तु तदुपादेयमेव । प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणं च लिङ्गव्यावृत्तमग्रे व-
क्ष्यते इति न प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन लिङ्गमुपादायानियतलिङ्गस्थले लिङ्गस्य प्रा-
पदिकार्थत्वापत्तिः । अन्यत्सर्वं पूर्ववदिति दिक् ॥

ननु प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमेत्यस्य प्रातिपदिकार्थविषयकबोधज-
नकत्वे सति प्रातिपदिकार्थेतराविषयकबोधाजनकादित्यर्थे प्रमेयपदात्प्रथमा न
स्यात् । प्रमेयरूपप्रातिपदिकार्थेतरस्याप्रसिद्धेः । यद्यपि प्रकृत्यर्थतावच्छेदकाव-
च्छिन्न-तदर्थतानवच्छेदकानवच्छिन्नविषयताकबोधजनकादित्यर्थे प्रकृते प्रकृ-
त्यर्थतावच्छेदकं प्रमेयत्वं तदवच्छिन्ना, तदनवच्छेदकं घटत्वं तदनवच्छिन्ना
च विषयता प्रमेयनिष्ठा तन्निरूपको बोधः प्रमेयविषयकस्तज्जनकत्वं
प्रमेयपदे इति प्रथमा सिद्ध्यति, घटादिपदस्थले च प्रकृत्यर्थतावच्छेदकं घटत्वं
तदवच्छिन्ना तदनवच्छेदकं पटत्वं तदनवच्छिन्ना च विषयता घटनिष्ठा
तन्निरूपकबोधजनकत्वं तस्थेति समन्वयोऽपि तथाऽपि प्रमेयवत्पदात् प्रथमा
दुर्लभा । तत्र प्रकृत्यर्थतावच्छेदकं प्रमेयवत्त्वं तच्च प्रमेयस्वरूपमिति तदतिरि-
क्तस्याप्रसिद्धेरिति चेन्न । प्रकृत्यर्थनिरूपितशक्तीयविशेष्यतावच्छेदकत्वाभाव-
वद्भर्मानवच्छिन्नविषयताकबोधजनकादित्यर्थेनादोषात् । प्रमेयवत्पदनिष्ठशक्ती-
यविशेष्यतावच्छेदकत्वाभाववद् घटत्वं, 'घटत्वे प्रमेयवत्पदनिष्ठशक्तीयविशे-
ष्यतावच्छेदकत्वं न' इत्याकारकाभावस्य सत्त्वात्, तदनवच्छिन्नप्रमेयवदर्थ-

र्थस्य नियमेनोपस्थितिः स तदर्थ इत्यर्थः । *अन्वयानुपपत्तिपूर्विका लक्षणा पदे एव । प्रत्ययोत्पत्तिः सर्वत्र शक्यार्थे एव । *शक्य-
तावच्छेदकारोप एव च लक्षणेति न लक्ष्यासङ्ग्रहो दोषः । तटादिशब्दानां तत्तत्प्रत्ययसम्भिव्याहारे सकललिङ्गबोधकतया न किमपि लिङ्गं ततो नियतोपस्थितिकमिति न तद्वोद्ध्यलिङ्गस्यात्र प्रातिपदिकार्थशब्देन ग्रहणमिति लिङ्गग्रहणमिति भावः ।

लिङ्गमात्रेति । *लिङ्गस्यैवाधिक्ये इति क्रमेणार्थः । यद्यपि विशेष-

विषयकबोधजनकत्वेन समन्वयादित्यलम् ।

ननु लक्ष्यार्थस्य माणवकादेर्नियतोपस्थितिकत्वाभावेन सिंहादिपदरूप-
प्रातिपदिकार्थत्वं न स्यादत आह- *अन्वयानुपपत्तिपूर्विका लक्षणां पदे एवे-
ति* । सिद्धे इत्यर्थः । लक्षणा तु प्रातिपदिकस्यैव । एतेन स्वन्ते शक्तिविर-
हात् तत्र लक्षणाया अयुक्तत्वादयं ग्रन्थश्चिन्त्य इत्यपास्तम् । पदस्य शक्यार्थे
संसाधितस्य तद्व्यक्तस्य प्रातिपदिकस्य लक्षणया लक्ष्यार्थबोधतात्पर्येणोच्चा-
रणे तस्य साधुत्वे च क्षतिविरहादिति भावः । अत एव गङ्गायां घोष इत्यादौ
तीरबोधेऽपि न नपुंसकद्वयत्वम्, प्रथमप्रवृत्तकार्यबाधायोगात् । यद्यपि अनुगत-
त्वात्तात्पर्यानुपपत्तेरेव लक्षणाबीजत्वमन्यत्र समर्थितं तथापि गङ्गायां घोषः,
सिंहो माणवक इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि अन्वयानुपपत्तिपूर्वकत्वाल्लक्षणाया-
मन्वयानुपपत्तिपूर्वकत्वमक्षतमेवेति भावः । मीमांसकमते तु अन्वयानुपपत्तिरेव
तद्बीजम् । तन्मते वेदस्यापौरुषेयत्वेन तत्र तत्तदर्थबोधेच्छयोच्चरितत्वरूप-
तात्पर्यानुपपत्तेर्दुर्वचतया “यजमानः प्रस्तरः” “आयुर्वै घृतम्” इत्यादौ
यजमानादिपदानां लाक्षणिकत्वानुपपत्तेः । यष्टीः प्रवेशयेत्यादौ तु सफला-
न्वयानुपपत्तिर्बोद्ध्या इत्यन्यत्र विस्तरः ।

ननु शक्यार्थबोधकाले विभक्त्युत्पत्तौ सत्यां विभक्त्यर्थान्वयः शक्यार्थे एव
स्यान्नतु लक्ष्यार्थे इत्यत आह । शक्यतावच्छेदकारोप एवेति* । एवं च शक्य-
तावच्छेदकरूपेण लक्ष्यस्य भानान्न तत्र विभक्त्यर्थान्वयानुपपत्तिः । स्वप्रकार-
कारोपविशेष्यत्वसम्बन्धेन तस्यैव प्रकृत्यर्थतावच्छेदकविशिष्टत्वात् । अत
एव “गङ्गायां घोषमीनौ” इतिप्रयोगोपपत्तिः । शक्यलक्ष्ययोर्विभिन्नरूपेणोपस्थि-
तौ तु एकरूपावच्छिन्ने मीनघोषयोरनन्वयात् द्वन्द्वो दुर्लभः स्यादिति बोध्यम् ।

परे तु उक्तप्रातिपदिकार्थलक्षणे शक्तेरेव प्रवेशेन लक्ष्यस्य प्रातिपदिका-
र्थत्वं न स्यादिति शङ्का, शक्तिस्थाने वृत्तिपदप्रवेशेन शकिलक्षणयोरुभयोरपि-
लक्षणघटकत्वेनादोष इत्युत्तरमिति रीत्येमं ग्रन्थं योजयन्ति ।

लिङ्गस्यैवाधिक्ये इति । न च तटादिपदेष्वयः पुंस्त्वाद्यतिरिक्तपुंस्त्व-
त्वादेस्तत्सम्बन्धस्य च भानात् कथं प्रथमेति वाच्यम् । लिङ्गग्रहणेन लिङ्गमा-

व्यविशेषणभावोऽप्यधिको भासते* तथापि तस्य वाक्यार्थत्वेन बहिरङ्गतया न स्वार्थमात्रनिमित्तकप्रथमप्रवृत्तसंस्कारबाधकत्वमिति बोद्धव्यम् । अभे-

ननियतपुंस्त्वत्वादि-तदनुयोगिकसम्बन्धयोरपि ग्रहणेन तन्मात्राधिक्यस्यैव सत्त्वेनादोषात् ।

विशेष्यविशेषणभावोऽप्यधिको भासते इति । ननु विशेषणत्व-विशेष्यत्वयोर्ज्ञानीयविषयताविशेषरूपत्वात् कथं भासधात्वर्थज्ञानविषयताश्र-यत्वमुच्यते, ज्ञाननिरूप्ययोस्तयोर्ज्ञानात्पूर्वमसत्त्वेन तन्निष्ठज्ञानीयान्यविषयता-प्रयोजकस्य तत्र दुरुपपादत्वादिति चेन्न । तदधीनस्थितिकत्वरूपविशेषण-त्वस्य, तत्स्थितिनियमाकत्वस्य विशेष्यत्वस्य च ज्ञानानपेक्षवस्तुधर्मत्वेन ज्ञा-नभानप्रयोजकस्य तत्र सूपादत्वात् । तत्र प्रत्यक्षे तद्ज्ञाननियामकः स्वरूप-विशेषः, शाब्दे तु घटघटत्वाद्योस्तद्ज्ञाननियामकः 'घटपदं घटत्वनिष्ठविशे-षणतानिरूपितविशेष्यत्वावच्छिन्ने शक्तम्' इत्याद्याकारकः शक्तिग्रह एव । नीलो घट इत्यादौ घटादिपदार्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविशेषणताभाननिया-मकस्तु वाक्यशक्तिग्रह एव । एतदर्थमेव वाक्यशक्तिरङ्गीकृता ।

ज्ञानानपेक्षपूर्वोक्तविशेष्यविशेषणभाव एव प्रत्यक्षे ऽभावभानप्रयो-जकत्वेन नैयायिकैरप्यभिहितः ।

सच 'गुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावानां द्रव्यं प्रति विशेषण-त्वमेव, द्रव्यस्य तु तान्प्रति विशेष्यत्वमेव' इत्येवं तेन सह तेषां व्यवस्थितः । गु-णादीनां परस्परमव्यवस्थितः । आश्रयद्वारैव तेषां तत्त्वात् । अभावस्य तु सर्वान्प्रति विशेषणत्वमेवेति तेनापि द्रव्यादीनां नियतः ।

द्रव्याणां तु यस्य यदधीनस्थितिकत्वं नास्ति यथा राजपुरुषयोः, त-योर्धर्मपर्यालोचनया विशेष्यविशेषणभावो भवति । राज्ञः स्वरूपेण पुरुषाधी-नस्थितिकत्वाभावेऽपि तन्निष्ठस्वामित्वस्य तदधीनस्थितिकत्वात्तेन सम्बन्धे-न पुरुषं प्रति विशेषणता 'राज्ञः पुरुष' इत्यत्र भासते । 'पुरुषनिष्ठस्वत्वस्य च राजाधीनस्थितिकत्वात्तेन सम्बन्धेन राजानं प्रति विशेषणता 'पुरुषाणां रा-जा' इत्यत्र प्रतीयते । यद्धर्मस्य अन्याधीनस्थितिकत्वं तदाश्रयनिष्ठतदपेक्षविशे-षणत्वे तदवच्छिन्नत्वस्यैवोचित्येन राजनिष्ठस्वामित्वापेक्षविशेषणत्वे स्वामित्व-सम्बन्धावच्छिन्नत्वस्यैवोचितत्वात् तस्यैव षष्ठ्यर्थत्वं प्राचीनाः स्वीकुर्वन्ति ।

पुरुषस्यापि स्वामितानिरूपकत्वं न स्वरूपेण किन्तु स्वत्वविशिष्ट-त्वेनेति स्वत्वापेक्षया विशेष्यत्वात् स्वत्वसम्बन्धावच्छिन्नं विशेष्यत्वमिति विशेष्यविशेषणभावनियामकः स्वत्वस्वामित्वसमूहः षष्ठ्यर्थ इति नवीनाः ।

सम्बन्धापेक्षविशेष्यविशेषणभावस्य द्विष्टत्वेन तन्नियामकसम्बन्ध-स्यापि द्विष्टवौचित्यात् ।

गुणगुण्याद्योरपि स्वरूपतो विशेष्यविशेषणभावस्य व्यवस्थितत्वे-ऽपि धर्मापेक्षया ऽव्यवस्थितत्वमेव । यथा द्रव्यस्य गुणाद्यनपेक्षत्वेऽपि त-

देन संसर्गेणेति । *इतरमम्बन्धानवच्छिन्नविशेषणविशेष्यभावसंसर्गेणेत्यर्थः । अभेदस्तु न संसर्ग इत्यन्यत्र प्रपञ्चितम् ।

त्रिष्ठाधारत्वस्य गुणाद्यपेक्षत्वात् आधारतासम्बन्धेन गुणादीन् प्रति विशेषणत्वं 'घटे रूपम्' इत्यादौ प्रतीयते । एतदभिप्रायेणैव "तस्मिन्निति निदिष्टे पूर्वस्य" इति सूत्रे गुणगुणिनोरपि विशेष्यविशेषणभावोऽनियतो व्युत्पादितः । स्वरूपतो नियतं विशेष्यविशेषणभावमादाय तु "वर्णो वर्णेन" इति सूत्रस्थभाष्यं प्रवृत्तम् इति च तयोः परस्परं विरोधः । स्पष्टं चेदं "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" इति सूत्रे लघुशब्देन्दुशेखरे । अत एव अनुव्यवसाये विशेषणत्वविशेष्यत्वयोर्भानम् । अन्यथा पूर्वज्ञानविषयीभूतपदार्थस्यैवानुव्यवसाये भानात् भासमानघटादौ स्वरूपसत्या अपि विषयताया भानं न स्यात् । पूर्वज्ञानाविषयस्य ज्ञानविषयवृत्तित्वमात्रेण अनुव्यवसाये भानाङ्गीकारेतु मधुरादीनां चाश्रुषज्ञानानुव्यवसाये भानप्रसङ्गः ।

विशेष्यविशेषणभावस्य ज्ञानीयविषयताविशेषरूपत्वाङ्गीकारेऽपि अनुव्यवसाये तज्ज्ञाननिर्वाहार्थम् ज्ञाने तज्ज्ञानमावश्यकम् । मीमांसकमते ज्ञानसामान्ये ज्ञानभानप्रयोजकत्वस्य ज्ञानसामान्यसामग्या इव विषयताभावेऽपि तस्याः, विशेषसामग्या वा प्रयोजकत्वस्याङ्गीकारात् ।

विषयतासम्बन्धेन संशयं प्रति विषयतासम्बन्धेन निश्चयस्य प्रतिबन्धकत्वात् किञ्चिज्ज्ञानानन्तरं 'जानामि न वा' इतिसंशयानुदयात् ज्ञाने ज्ञानविषयत्वाङ्गीकारवत् घटज्ञाने जाते 'घटे ज्ञानविषयताऽस्ति न वा' इतिसंशयानुत्थितेर्विषयतायां विषयतास्वीकारः आवश्यकः । न चैवं घटविषयतावृत्तिविषयताऽस्ति न वा, घटविषयतावृत्तिविषयतावृत्तिविषयताऽस्ति न वा इत्यादिरीत्याऽनवस्थाप्रसङ्ग इति वाच्यम् । अनवस्थापत्त्याऽगत्या क्वचिद् विभ्रान्तिस्वीकारेणाऽनवस्थाप्रयोजकसंशयानुत्थितेः । तस्मात् 'विशेष्यविशेषणभावो भासते' इत्युक्तिः साध्येवेति ।

यद्यपि निरूपकत्वस्य भासधात्वर्थत्वं, निरूप्यत्वस्य तदुत्तराख्यातार्थत्वमङ्गीकृत्यापि 'विशेष्यविशेषणभावो भासते' इत्युक्तियोजनं सम्भवति तथापि तस्य पदार्थत्वाभिप्रायेण प्रातिपदिकार्थमात्रबोधकत्वानुपपत्तिशङ्का, वाक्यार्थत्वाङ्गीकारेण विभक्त्युत्पत्तिवेलायां नियतोपस्थितिकार्यमात्रवृत्तित्वसमर्थनं च भाष्योक्तं नागेशानूदितं विशेष्यविशेषणभावस्य विषयतया भानानङ्गीकारेऽसङ्गतमेव स्यात् । तस्मान्निरूपकप्रकार एव साधुरिति दिक् ।

इतरसम्बन्धेति । सम्बन्धानवच्छिन्नविशेष्यविशेषणभावेनेत्यर्थः । इतरेत्यविवक्षितम् । अभेदस्य सम्बन्धत्वाभावेन व्यावर्त्यालाभात् ।

ननु एकः, द्वौ, बहव इत्यादौ "उक्तार्थानामप्रयोगः" इति न्यायेन क्रमेण एकवचनद्विवचनबहुवचनानि मा भूवन्, वैपरीत्येन कस्मान्न भवन्तीत्यतः

इहोक्तार्थत्वादिति । उक्तार्थानामप्रयोगात् प्रातिपदिकप्रतिपा-
दितसंख्याविशिष्टे *संख्यानन्तराभावाच्च तदप्राप्तिः । अनन्वितार्थकविभक्त्य-
पेक्षयाऽनुवादकविभक्तेरेव न्यायत्वान्न ह्यादिभ्यः सर्वविभक्त्यापत्तिरिति
भावः । *लिङ्गविशिष्टपरिभाषया 'इन्द्राणी' इत्यादौ प्रथमासिद्धिः । परि-
माणशब्दश्च परिच्छेदकपर इत्युन्मानादिष्वपि प्रथमासिद्धिरिति बोध्यम् ।

*परे त्वत्र सूत्रे प्रातिपदिकार्थशब्देन *प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयश्च । स

आह—*संख्यानन्तराभावाच्चेति* । ननु इन्द्रादिपदेन पुंयोगादेनिर्यमेनामानात्
स्त्रीप्रत्यान्तस्यचाप्रातिपदिकत्वात् तस्य प्रातिपदिकार्थत्वाभावेन इन्द्राणीत्यादौ
प्रथमा न स्यात्—अत आह । लिङ्गविशिष्टपरिभाषयेति* ।

स्वसिद्धान्तमाह—*परेत्विति* । *प्रवृत्तिनिमित्तं तदाश्रयश्चेति* ।
स्वावच्छिन्नविषयताश्रयत्वं—स्वतादात्म्यमेतदन्यतरसम्बन्धेन तत्तत्पदप्रवृत्ति-
निमित्तविशिष्टस्तत्तत्प्रातिपदिकार्थः । प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणं तु पक्षधरमिश्रकृत-
प्रकाशग्रन्थेऽभिहितं “वाच्यत्वे सति वाच्यवृत्तित्वे सति वाच्योपस्थितीय-
प्रकारताश्रयत्वम्” इति । वाच्यत्वनिवेशादाकाशपदाप्रवृत्तिनिमित्ते आकाश-
पदजन्योपस्थितीयप्रकारतावति शब्दाश्रयत्वे नातिव्याप्तिः । वाच्यवृत्तित्व-
निवेशाद् गवादिपदवाच्यावयवसंयोगविशेषरूपाकृतौ नातिव्याप्तिः । वृत्ति-
त्वस्य साक्षात्सम्बन्धेन विवक्षितत्वाच्च तस्याः स्वसमवाय्यवयवसमवेतत्वेऽपि
न क्षतिः । सोऽपि च सम्बन्धो वाच्य एव ग्राह्य इति कालिकादिना
साक्षात्सम्बन्धेन गवादिवृत्तित्वेऽप्याकृतेर्न तत्त्वम् । एवं च साक्षात्त्वं न
निवेद्यम् । तादृशपरम्परासम्बन्धस्य वाच्यत्वाभावेनैवातिव्याप्तेरनवकाशात् ।
वाच्योपस्थितीयप्रकारतावत्त्वनिवेशादाधाराधेयभावसम्बन्धेन हर्यादिपदवा-
च्याश्चवृत्तिहर्यादिपदवाच्येन्द्रादौ नातिव्याप्तिः ।

नन्वत्र लक्षणे पुंस्त्वत्वादावतिव्याप्तिः, वाच्यत्वादित्रयस्य तत्र सत्त्वात् ।
नवेष्टापत्तिः, प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन तस्य तदाश्रयत्वेन पुंस्त्वादिलिङ्गस्यापि प्राति-
पदिकार्थत्वापत्तौ लिङ्गग्रहणवैयर्थ्यापत्तेरिति चेन्न । प्रातिपदिकविशिष्टत्वं प्रवृत्ति-
निमित्तत्वम् । वैशिष्ट्यं च स्ववाच्यत्वं—स्ववाच्यवृत्तित्वं—स्वजन्यशाब्दबोधीय-
मुख्यविशेष्यतासमानाधिकरणोपस्थितीयविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वमेत-
न्नितयसम्बन्धेनेति परिष्कारणादोषात् । पुंस्त्वादिलिङ्गनिष्ठविशेष्यतायाः प्राति-
पदिकजन्यबोधीयमुख्यविशेष्यतासमानाधिकरणत्वाभावात् । अत्र विशेष्यता-
निरूपितत्वं प्रकारतायां साक्षात्परम्परासाधारणमिति पशुपदार्थप्रवृत्तिनिमित्त-
लोमत्वादौ नातिव्याप्तिः । न च निरूपितत्वं साक्षात्परम्परासाधारणं वक्तुं दुर्वच-
मित्ययं परिष्कारोऽसङ्गत इति वाच्यम् । प्रातिपदिकविशिष्टत्वं प्रवृत्तिनिमि-
त्तत्वमिति परिष्कारेणादोषात् । प्रातिपदिकवैशिष्ट्यं च स्वजन्यशाब्दबोधीयप्र-
कारताश्रयत्वं—स्वप्रयोज्यधर्मितानिरूपितप्रकारत्वाभाववत्त्वमेतदुभयसम्बन्धेन ।

अभावश्च आश्रयत्व—अवच्छेदकत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको
ग्राह्यः । पुंस्त्वादौ पुंस्त्वत्वादौ चाश्रयत्वावच्छेदकत्वैतदन्यतरसम्बन्धेन
स्वप्रयोज्यधर्मितानिरूपितप्रकारत्वमेवास्तीति न तत्रैतदन्यतरसम्बन्धावच्छि-
न्नप्रतियोगिताकाभाव इति न तत्रातिव्याप्तिः । अत्र स्वप्रयोज्यधर्मितानिरूपित-
प्रकारता अपदार्थसम्बन्धावच्छिन्ना विवक्षितेति लोमवल्लाङ्गूलावच्छिन्न-
वाचकपशुपदप्रवृत्तिनिमित्तलोमत्वादौ नाव्याप्तिः । घटत्वादौ पटादिपदप्रवृत्ति-
नित्तत्त्ववारणायाद्यसम्बन्धोपादानम् । न च एवपदार्थप्रवृत्तिनिमित्तभेदत्वा-
दावव्याप्तिः, एवपदप्रयोज्याभावत्वावच्छिन्नधर्मितानिरूपितापदार्थसम्बन्धाव-
च्छिन्नप्रकारताया अवच्छेदकत्वाश्रयत्वैतदन्यतरसम्बन्धेन तत्र सत्त्वेन तदभा-
वस्याभावादिति वाच्यम् । स्वनिष्ठशक्तिज्ञानार्थानोपस्थितिप्रयोज्यशाब्दबोधी-
यप्रकारताश्रयत्वं—स्वप्रयोज्यधर्मितानिरूपितापदार्थसम्बन्धावच्छिन्ना, पदार्था-
न्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वाभाववती च या प्रकारता तदभाववत्त्वमेत-
दुभयसम्बन्धेन प्रातिपदिकविशिष्टत्वं प्रवृत्तिनिमित्तत्वमितिपरिष्कारेणादोषात् ।
विशेष्यत्वाभावश्च स्वसामानाधिकरण्य—स्वावच्छेदकत्वसामानाधिकरण्यैतद-
न्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको ग्राह्यः । 'पार्थ एव धनुर्धरः' इत्यादौ पार्थ-
त्वावच्छिन्नप्रीतयोगिताकभेदवत्प्रतियोगिकतादात्म्यरूपसम्बन्धाभावस्य धनु-
र्धरे बोधनात् प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नपार्थत्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपित-
विशेष्यताया अभावत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितापदार्थसम्बन्धावच्छिन्नभेद-
निष्ठप्रकारतायां सामानाधिकरण्येन भेदत्वनिष्ठतादृशप्रकारतायाम् अवच्छेदक-
त्वसामानाधिकरण्येन च वर्तनात्तादृशविशेष्यत्वाभाववती इयं प्रकारता न
जातेति तत्र नाव्याप्तिः । पुंस्त्वादौ च कस्यापि पदार्थस्यानन्वयात् प्रातिप-
दिकप्रयोज्यधर्मितानिरूपितापदार्थसम्बन्धावच्छिन्नपुंस्त्वादिनिष्ठप्रकारता सा-
मानाधिकरण्य—अवच्छेदकत्वसामानाधिकरण्य—एतदन्यतरसम्बन्धावच्छिन्न-
प्रतियोगिताकपदार्थान्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वाभाववती जातेति ता-
दृशप्रकारता आश्रयत्वावच्छेदकत्वैतदन्यतरसम्बन्धेन पुंस्त्वादौ पुंस्त्वत्वादौ
च वर्तत एवेति न तादृशप्रकारत्वाभाव इति न तत्राव्याप्तिः । आद्यसम्बन्धो-
पादानस्य फलं तु अत्रापि पूर्ववद् बोध्यम् ।

यद्वा । स्वप्रयोज्योपस्थितियमुख्यविशेष्यतानिरूपितप्रकारताश्रयत्वं—
स्वप्रयोज्यधर्मितानिरूपितापदार्थसम्बन्धावच्छिन्ना, सामानाधिकरण्य—अव-
च्छेदकत्वसामानाधिकरण्यैतदन्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकपदार्थान्तर-
निष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वाभाववती च या प्रकारता तदवच्छेदकत्वाभाव-
वत्त्वमेतदुभयसम्बन्धेन प्रातिपदिकविशिष्टत्वं प्रातिपदिकप्रवृत्तिनिमित्तत्वम् ।

अत्र लक्षणे प्रकारत्वाभावोऽन्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताको न निवे-
शनीयः । आद्यसम्बन्धोपादानेनैव पुंस्त्वादिलिङ्गे अतिव्याप्तिवारणात् इत्याहुः ।

अत्रेदं बोध्यम् । पुंस्त्वादिनिष्ठप्रकारतानिरूपितप्रवृत्तिनिमित्तावच्छि-

च मुख्य इवाऽऽरोपिततदाश्रयोऽपि । अत एव 'गोपी' इत्यादौ स्वादिप्रकृते-
लक्षणिकत्वेऽपि न दोषः । *अत एव लिङ्गग्रहणं सार्थकम् । *अन्यथा

अविशेष्यताकावान्तरबोधे तत्तदुपस्थितेराकाङ्क्षादेश्च कारणत्वाकल्पनलाघवा-
नुरोधेन नियतलिङ्गपदानां लिङ्गविशिष्टे शक्तिकल्पने लिङ्गनिष्ठशब्दबोधीयप्र-
कारताया अपदार्थसम्बन्धावच्छिन्नत्वाभावात् तद्वटितानि सर्वाणि लक्षणा-
नि असङ्गतान्येव । इत्थं च प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणं पुंस्त्वत्वादिब्यावृत्तं दुर्वच-
मेव । तेषां पशुपदवाच्यलोमत्वाद्यविशिष्टत्वादिति चेत्-अत्र केचित् ।

पुंस्त्वादीनाम आश्रयत्वादेरिव वैयाकरणमते अखण्डोपाधित्वाङ्गीकारे-
ण अखण्डोपाधिरूपाणां तेषां शब्दाश्रयत्वादीनामिव स्वरूपत एव भानाङ्गीका-
रेण पुंस्त्वत्वादेः घटादिपदवाच्यत्वानङ्गीकारात् तेषां वाच्यत्वाभावेन, वाच्यो-
पस्थितीयप्रकारत्वाभावेन वा न तेषु प्रवृत्तिनिमित्तलक्षणातिव्याप्तिः । यद्यपि
विशिष्टशक्तिकल्पे पुंस्त्वादौ वाच्योपस्थितीयप्रकारत्वमस्ति तथापि वा-
च्यार्थनिष्ठोपस्थितीयविशेष्यताया निरवच्छिन्नाया विवक्षितत्वान्न दोषः ।
लिङ्गस्य प्रवृत्तिनिमित्तावच्छिन्ने एवान्वयेन तन्निष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्य-
तायाः सावच्छिन्नत्वनियमात् । पश्वादिपदवाच्यलोमादीनां लाङ्गूलत्वावच्छि-
न्ने अन्वयेन तत्त्वाभावेऽपि न क्षतिः । प्रवृत्तिनिमित्तलोमत्वाद्यश्रयत्वेनैव तेषां
प्रातिपदिकार्थत्वसिद्धेः । एवमेव एवपदार्थभेदेऽपि प्रातिपदिकार्थत्वमुपपा-
दनीयम् इत्याहुः ।

अन्येतु विशिष्टशक्तिकल्पे पुंस्त्वत्वादीनां वाच्यत्वमङ्गीकृत्यापि स-
मादधुः । तथाहि-स्व-स्वान्य-एतदन्यतरपदप्रयोज्यप्रकारतानिरूपितविशेष्य-
तावच्छेदकतापर्याप्त्यधिकरणपर्याप्तत्व-स्वप्रयोज्योपस्थितीयविशेष्यतानिरू-
पितत्वोभयसम्बन्धेन प्रातिपदिकविशिष्ट निरवच्छिन्नप्रकारताश्रयत्वं तत्त्वम् ।
पुंस्त्वत्वाद्यवच्छिन्ने कस्यापि पदार्थस्यानन्वयात् स्वस्वान्यपदार्थनिष्ठप्रकारतानि-
रूपितविशेष्यतावच्छेदकतापर्याप्तिः उपस्थितीयप्रकारतापर्याप्त्यधिकरणेऽभावा-
न्नाव्याप्तिः । पश्वादिपदवाच्यानां लोमादीनाम्, एवपदवाच्यानां भेदादीनां च
दीर्घलोमवानित्यादौ, पार्थ एवेत्यादौ च स्वस्वान्यान्यतरपदार्थान्वयित्वस्य सत्त्वात्
लोमत्वादिनिष्ठोपस्थितीयप्रकारतायाः पदार्थान्तरनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्य-
तावच्छेदकतापर्याप्तिमत्पर्याप्तत्वमस्त्येवेति न तत्राव्याप्तिरिति । यद्यपि घटस्य
पुंस्त्वमित्यादौ पुंस्त्वत्वाद्यवच्छिन्नेऽपि पदार्थान्तरान्वयः, तथापि पुंस्त्वादिशब्देन
पुंस्त्वादेः प्रातिपदिकार्थोद्भूतत्वेन भानात् पदार्थान्तरान्वयितावच्छेदकत्वस्य
उद्भूतत्वविशिष्टपुंस्त्वत्वादावेव पर्याप्तत्वात् घटादिपदप्रयोज्योपस्थितीयप्रका-
रतायाश्च पुंस्त्वत्वादिमात्रपर्याप्तत्वान्न दोषः । कर्मादिशब्दानां तिङादीनां च 'अनु-
द्भूतकर्मत्वादिशक्तिबोधकत्वस्येव घटादिशब्दानामनुद्भूतपुंस्त्वादिबोधकत्वात् ।

यथा विभक्तेः कर्मत्वादिशब्दानां च उद्भूतकर्मत्वादिशक्तिबोधकत्वं तथा
स्त्रीत्वादिशब्दानामुद्भूतस्त्रीत्वादिबोधकत्वम् । उद्भूतत्वं च भेदेनावभासमा-

“स्वमोर्नपुंसकात्” इत्यादिशास्त्रप्रामाण्येन लिङ्गस्यापि *प्रातिपदिकार्थतया तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । *अत एव “स्त्रियाम्” इति सूत्रे स्त्रीत्वे द्योत्ये इत्यर्थे इति भाष्ये सिद्धान्तितम् । * “तस्माच्छसः” इत्यत्र पुंसीत्यस्य पुंशब्दस्य प्रकृतित्वे इत्येवार्थः । * “अभिहिते प्रथमा” इति वार्तिकस्य तत्तत्प्रातिपदिकार्थगतकारकशक्तावन्येनाभिहितायां स्वार्थे प्रातिपदिकात्प्रथमेत्यर्थे इति न तद्विरोधः । एतेन *तन्त्रये कारकस्य प्रत्ययार्थत्वं, *तव तु तच्चेति विरोध इत्यपास्तम् ।

नत्वमेवेति मञ्जुषायां स्पष्टम् । भेदादीनां लोमादीनां च अन्रवाच्छन्नप्रकारत्वाभावेन प्रवृत्तिनिमित्तत्वाभावेऽपि तदाश्रयत्वात् प्रातिपदिकार्थत्वम् । जातिमानित्यादौ जातिमतः प्रवृत्तिनिमित्तजातित्वाश्रयत्वाभावेऽपि तदवच्छिन्नविषयताश्रयत्वमक्षतमेव । तन्निष्ठविषयतायास्तद्वदितजातिमत्त्वावच्छिन्नत्वेन तदवच्छिन्नत्वस्य सत्त्वात् । तन्मात्रावच्छिन्नत्वस्याप्रवेशात् इति सुधियो विभावयन्तु ।

उक्तार्थं मानमाह—*अत एव लिङ्गग्रहणमिति* । तयोरेव प्रातिपदिकार्थपदेन ग्रहणादेवेत्यर्थः । यदि अत्रत्यलिङ्गग्रहणेन अनियतलिङ्गस्य न प्रातिपदिकवाच्यत्वं तदा नियतानियतलिङ्गपदसाधारण्येन नपुंसकपदप्रयोगोऽसङ्गतः स्यात् । तद्वज्जलात् यदि लिङ्गमात्रस्य वाच्यत्वं तदा प्रातिपदिकार्थत्वेनैव सिद्धे लिङ्गग्रहणं व्यर्थं स्यात् । ममतु लिङ्गमात्रस्य वाच्यत्वेऽपि अत्र सूत्रे प्रातिपदिकार्थपदेन द्वयोरेव ग्रहणाल्लिङ्गग्रहणं परिमाणग्रहणं च सार्थकम् । नियतोपस्थितिकत्वनिवेशेतु गौरवात् परिमाणग्रहणवैयर्थ्यापरिहाराच्च न तन्निवेशो युक्त इति भावः । *अन्यथा—प्रातिपदिकनिष्ठशक्तिनिरूपकमात्रस्य प्रातिपदिकार्थत्वे । *प्रातिपदिकार्थतया—प्रातिपदिकवाच्यतया । *अत एवेति* । लिङ्गस्य प्रातिपदिकवाच्यत्वादेवेत्यर्थः । प्रत्ययवाच्यत्वे स्त्रीत्वे वाच्ये टावित्यर्थो वाच्यः स्यादिति भावः ।

ननु ‘पुंसि विद्यमानस्य शसः सकारस्य नत्वम्’ इत्यर्थकस्य “तस्माच्छसो नः पुंसि” इतिशास्त्रस्य प्रामाण्येन लिङ्गस्य विभक्तिवाच्यत्वमेवात आह—*तस्माच्छस इत्यत्रेति* । एवं च लिङ्गस्य विभक्तिवाच्यत्वे प्रमाणाभाव इति भावः । नन्वेवमपि ‘कृत्तद्धिताद्यभिहितकारकवाचिनी प्रथमा’ इत्यर्थकस्य “अभिहिते प्रथमा” इतिवार्तिकस्य बलेन प्रथमाया अन्याभिहितकारकार्थकत्वमपीति गम्यते, प्रातिपदिकार्थमात्रे वर्तमानात् प्रातिपदिकात् प्रथमा भवतीति भवदभिमतसूत्रार्थे तु प्रथमाया अन्याभिहितकारकार्थकत्वाभावो गम्यते इति वार्तिकोक्तिविरोध इत्यत आह—*अभिहिते प्रथमेति* । *तन्त्रये—वार्तिकमते । *तव—प्रातिपदिकार्थमात्रे वर्तमानात् प्रथमा इत्यर्थं बद्धतः । ननु पञ्चकं प्राति-

तटादिशब्दानामपि लिङ्गं वाच्यमेव । द्योतकास्तु विसर्गादयः । पूर्वं तत्तल्लिङ्गं बुद्धिस्थीकृत्यैव तस्य तस्य विसर्गादेः साधुत्वान्वाख्यानम् । नियमांशनिवेशे तु न मानम् । इदमेवाभिप्रेत्य वृत्तौ “प्रातिपदिकार्थः सत्ता” इत्युक्तम् । सचेति प्रवृत्तिनिमित्तोपलक्षणम् । आश्रयस्तु तदाक्षिप्तत्वात् पृथगुक्तः । एवञ्च प्रातिपदिकार्थ इत्यस्याऽलिङ्गा लिङ्गप्रवृत्तिनिमित्तकाश्चान्ययपुमादय उदाहरणम् । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया स्त्रीशब्दोऽप्यस्यैवोदाहरणम् । अन्ये सर्वे लिङ्गाधिक्ये इत्यस्य ।

द्रोणत्वादिप्रवृत्तिनिमित्तकानां द्रोणादिशब्दानां परिमाणत्वेन परिमाणमपि लिङ्गवद्विशेष्यान्वयर्थः । एवञ्च तस्य लिङ्गवत्प्रातिपदिकार्थत्वाभावात्परिमाणग्रहणम् । द्रोणः परिमाणमित्येष तु “द्वौ ब्राह्मणौ” इतिवत्प्रयोगः, द्रोणशब्दस्यानेकार्थत्वाद्वा । मूलोक्तं तु न युक्तम् । ‘द्रोणो ब्रीहिमानय’ इत्यस्यापत्तेः* । किञ्च “तिङ्स्मानाधिकरणे प्रथमा” इतिवार्तिकैकवाक्यतया भेदान्वये ‘द्रोणो ब्रीहिः’ इत्यनिष्टम् । न च—“यदा मेये द्रोणादीनां वृत्तिस्तदा तस्यानेकत्वेन परिमाणमात्रपरत्वे तदबोधेन च व्यभिचारान्मेयस्य नियतोपस्थितिकत्वाभावेनाप्रातिपदिकार्थत्वादसिद्धौ कर्मव्युत्पत्त्या प्रमेयार्थकं परिमाणग्रहणम्” इति कैयटोक्तं युक्तमिति वाच्यम् । “सिंहो माणवकः” इत्यस्यासिद्ध्यापत्तेः* । तद्वदस्यापि सिद्धेश्च ।

पदिकार्थ इति बुध्वा ‘अभिहिते प्रथमेति वार्तिकस्य’ इति ग्रन्थ आहोस्वित् जातिव्यक्तिलिङ्गत्रयं प्रातिपदिकार्थ इति बुध्वा ? । नाद्यः । तथा सति प्रवृत्तिनिमित्त-तदाश्रय-रूपप्रातिपदिकार्थेतरत्र कारकादौ वर्तमानत्वेन कृष्ण इत्यादौ क्वापि प्रथमा न स्यादित्यस्यैव वक्तव्यत्वात् । न द्वितीयः । लिङ्गान्तत्रितयस्यैव प्रातिपदिकार्थत्वे वार्तिकविरुद्धार्थाभिधायित्वाभावेन विरोधस्यैवाप्रसक्तेरिति चेन्न । “लोकयोः” इत्यादिशास्त्रबलेन प्रातिपदिकार्थेतरत्वेन संख्याया अग्रहणवत् “तिङ्स्मानाधिकरणे प्रथमा” इतिवार्तिकबलेन अभिहितकारकस्यापि मात्रपदेनाव्यवच्छेदात् पञ्चकपक्षे एतद्ग्रन्थस्य सुयोजत्वात् ।

इत्यस्यापत्तेरिति । अपिना प्रमेयो ब्रीहिरित्यादौ ‘प्रमेयाभिधायत्परिमाणं तत्परिच्छेद्यो ब्रीहिरिति बोधापत्तेर्ग्रहणम् । ‘प्रत्ययार्थपरिमाणस्य स्वबोधकविभक्तिसजातीयविभक्तिप्रकृत्यर्थे एवान्वयः, स्वेनाभेदान्वयश्च परिच्छेदकत्वव्याप्यद्रोणत्वादिविशिष्टस्यैव’ इतिव्युत्पत्तिस्वीकारेण निरुक्तदोषवारणं तु न सम्भवति । तादृशव्युत्पत्तिकल्पने प्रमाणाभावात् । अस्यैव शास्त्रस्याकाङ्क्षानियामकत्वेन तादृशव्युत्पत्तेः कल्पयितुमशक्यत्वाच्च । *असिद्ध्याप

नियमांशनिवेशे मानाभावाच्च ।

‘एकः’ ‘द्वौ’ इत्यादिसिद्धये तु वचनग्रहणम् । अन्यथैतत्सूत्रोपस्थित
“अनभिहिते” इत्यस्यात्र फळाभावादेतदेकवाक्यतापन्नसंख्यावाक्यान्वयि-
त्वेन तदप्राप्तेः । रामावित्यादौ संख्याधिक्ये प्रथमा तु “द्व्येकयोः” इत्या-

त्तरिति* । वस्तुतस्तु असंभवदोष एवात्र बोद्धव्यः । घट इत्यादावपि तत्त-
द्धटव्यक्तीनां भाने नियमाभावात् कदाचित्काचिद्व्यक्तिः कदाचित्सर्वा व्यक्त-
यो भासन्ते इत्यनुभवसिद्धत्वात् ।

एतत्कल्पेऽपि प्रमेयादिपदात् प्रथमाविभक्त्युत्पत्तिः ‘प्रातिपदिकार्थ-
मात्रवृत्तित्वं प्रातिपदिकार्थत्वसम्पादकविषयताभिन्नविषयताप्रयोजकत्वाभावं-
वत्त्वम्’ इति परिष्कारेण बोद्धव्या । वैयाकरणमते प्रतियोग्यप्रसिद्धेर्गुणत्वाच्च ।

एतत्सूत्रार्थस्तु नवीनमते “अभिहिते प्रथमा” इतिवार्तिकैकवाक्यतया,
“द्व्येकयोः” इत्याद्येकवाक्यतया, परिमाणग्रहणात् लिङ्गग्रहणाच्च । इतरयोगव्य-
वच्छेदरूपमात्रपदार्थैकदेशे इतरत्र लिङ्गातिरिक्तत्वेन, परिमाणातिरिक्तत्वेन, सं-
ख्यातिरिक्तत्वेन, अनुद्भूतकारकातिरिक्तत्वेन च सङ्कोचात् लिङ्गेतरः, परिमा-
णेतरः, संख्येतरः, अनुद्भूतकर्मत्वादिशक्तीतरश्च यः प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रयरूप-
प्रातिपदिकार्थेतरः अर्थात् उद्भूतकर्मत्वादिरूपः स्वस्वामिभावादिरूपश्च तद्वि-
षयकबाधतात्पर्येणानुष्ठीयतात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे प्रथमेति ।

प्राचीनमते तु लिङ्गग्रहणात् अनियतलिङ्गेतरो यो नियतोपस्थितिकरूपप्रा-
तिपदिकार्थेतरस्तत्रावर्तमानात् द्व्येकयोरित्याद्येकवाक्यतया संख्यायामनुद्भूत-
कारके च प्रथमेत्यर्थे परिमाणस्यापि नियतोपस्थितिकत्वात्प्रातिपदिकार्थग्रहणेनैव
प्रथमायाः सिद्धौ परिमाणग्रहणम् आवृत्त्या परिमाणत्वतद्वाप्यधर्मेतरधर्मानव-
च्छिन्नविषयताप्रयोजकात् परिमाणार्थे प्रथमेत्यर्थलाभार्थम् । तेन द्वौ द्वौ ब्रीहि-
रित्यादौ परिमाणार्थे प्रथमा सिध्यति । तथाच प्रथमार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थस्या-
भेदेनान्वयः । तस्य च ब्रीह्यादौ परिच्छेद्यत्वसम्बन्धेनान्वयः । प्रातिपदिका-
र्थमात्रे प्रथमाविधाने तु नामार्थयोः साक्षाद्भेदसम्बन्धेनान्वयस्याव्युत्पन्न-
त्वाद् द्वौ द्वौ ब्रीह्यादौ परिच्छेद्यत्वसम्बन्धेनान्वयो न स्यात् । परि-
माणस्य प्रथमार्थत्वे तु प्रत्ययार्थनामार्थयोर्भेदान्वयेऽपि न क्षतिरिति बोध्यम् ।
नन्वेवं द्वौ द्वौ ब्रीहिमानय इति स्यात् । अभेदेन प्रकृत्यर्थोन्वितप्रत्ययार्थस्य यत्र भेदेनापि प-
दार्थान्तरेऽन्वयस्तत्रापि तादृशव्युत्पत्तिस्वीकारात् । कृष्णादिप्रातिपदिकानां तु
परिमाणत्वतद्वाप्यधर्मेतरकृष्णत्वादिधर्मावच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्वाच्च तेभ्यः
परिमाणार्थे प्रथमेति न कृष्णो ब्रीहिरित्यादयः प्रयोगाः ।

ननु प्रथमार्थपरिमाणस्य भेदेनान्वयस्वीकारे सर्पिः कुडव इत्यादौ
“समानाधिकरणमसमर्थवत्” इत्यतिवेशाप्रवृत्त्या “इसुसोः सामर्थ्ये” इति षत्व-

द्येकवाक्यतयेति बोद्धव्यम् । *मात्रग्रहणाभावे तु यथा “कर्मणि द्वितीया” इति नियमेन कर्मत्वाज्ञानसमानकालिकार्थान्तरस्यैव व्यावृत्तिः, न तु तज्ज्ञान-समानकालिकार्थान्तरस्य । अत एव ‘गां दोग्धि पयः’ इत्यादावपादानत्वा-दिवोधेऽपि द्वितीया । एवञ्च ‘कर्मणि सत्येव द्वितीया, न तु तदसत्त्वे’ इति नियमाकारः । तथाऽनेनापि ‘प्रातिपदिकार्थसत्त्वे एव प्रथमा, न तु तदसत्त्वे’ इत्येव नियमः स्यात् । एवञ्चानर्थकनिपातेभ्यः प्रथमा नैव स्यात् । ए-वञ्च तत्समभिव्याहारे “सपूर्वायाः प्रथमा” इत्यादिशास्त्रप्रवृत्तिर्न स्यात् । तत्सत्त्वे कर्मादियोग्यार्थकप्रातिपदिकाच्चेत्तद्रहितस्वार्थे इत्यर्थान्न दोषः । इ-

विकल्पापत्तिरिति चेन्न । व्यवस्थितविभाषाश्रयणात् ।

वस्तुतस्तु सिंहो माणवक इत्यादेरिव द्रोणो व्रीहिरित्यादेरपि द्रोणा-दिपरिच्छिन्ने द्रोणत्वाद्युपचारादेव सिद्धेः परिमाणग्रहणसार्थक्यं नियतोपस्थि-तिकत्वनिवेशे दुरुपपादमेवेति प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रययोरेव प्रातिपदिकार्थपदेन ग्रहणं युक्तमिति न काऽप्येतन्मते क्लिष्टकल्पनेति दिक् ।

*मात्रग्रहणाभावे त्विति । शङ्कः पाण्डुर एवेत्यादौ एवकारो यथा अयोगस्य व्यवच्छेदरूपं विशेषणीभूतपाण्डुरत्वाभावस्थाभावं बोधयति तथा “कर्मणि द्वितीया” इत्यादिभिः ‘कर्मणि विवक्षिते एव द्वितीया’ इत्येवं सामर्थ्याद्बोधने एवकारेण कर्मणोऽविवक्षायामेव द्वितीयादेः साधुत्वाभावा बोध्यते न तु ‘कर्मण्येव विवक्षिते’ इत्येवं बोधनात् कर्मान्यस्मिन् विवक्षिते द्वितीयादेरसाधुत्वम् । तथा सति कर्मापादानोभयविवक्षायां कस्या अपि विभ-क्तेरप्राप्त्या “अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते” इति भाष्योक्तिरसङ्गता स्यात् । तथाच प्रथमाविधायकेऽपि मात्रग्रहणाभावे ‘प्रातिपदिकार्थे विव-क्षिते एव प्रथमा’ इत्येवं सामर्थ्यान्नियमे एवकारेण प्रातिपदिकार्थावि-वक्षायां प्रथमाया असाधुत्वबोधनादनर्थकनिपातेभ्यः प्रथमायाः साधुत्वं न स्यात् । स्याच्च कर्मादिविवक्षायामपि प्रातिपदिकार्थविवक्षाया अपि सत्त्वात् प्रथमायाः साधुत्वम् । केवलकर्मादिविवक्षायां द्वितीयादिविभक्तीनां चारिता-श्र्येन कर्मापादानोभयविवक्षायां प्रथमाया एव परत्वाद्वाचकत्वापत्तेः । तत्स-त्त्वे तु प्रातिपदिकार्थमात्रे एव विवक्षिते इत्येवंनियमस्वीकारान्न दोषः । प्राति-पदिकार्थान्यविवक्षायां प्रथमाया असाधुत्वात् । अन्यविवक्षायामसाधुत्वे-बोधितेऽपि तदविवक्षायामसाधुत्वस्याबोधनात् अनर्थकनिपातेभ्योऽपि सा सिध्यति । “कर्मणि द्वितीया” इत्यादिभिः कर्मादिमात्रे द्वितीयादय इत्येवं-नियमाकरणात् सर्वासां विभक्तीनामभेदार्थकत्वमपि सिध्यति । अभेदकर्मा-द्युभयविवक्षायां तासां साधुत्वस्य सूपपादत्वात् । एतन्मूलक एव ‘अभेद एव वा विशेषणविभक्तेरर्थः’ इति प्रवाद इति दिक् ।

दमेव मात्रग्रहणं “कर्मणि द्वितीया” इत्यादेर्मदुक्ताकारनियमत्वे मानम् । मात्रग्रहणाच्च सूत्रकारस्य प्रत्ययनियमपक्ष एवाभिमत इति गम्यते । तदकरणलाघवेन तु ‘कर्मणि द्वितीयैव’ इत्यर्थनियम उक्तो भाष्यादौ । स्पष्टश्चेदं सर्वं भाष्ये इति भाष्यप्रदीपोद्घोते निरूपितमित्याहुः ॥

*सम्बोधने च ॥ तत्र वर्तमानादित्यर्थः । सम्बोधनमभिमुखीकरणम् । तत्फलं प्रवृत्तिनिवृत्ती । सम्बोध्यतावच्छेदकरूपेण सम्बोध्यस्य सिद्धिं विना तत्त्वासम्भवादनुवाद्ये एवैषा विभक्तिः । अत एव विधेयभूतक्रियायामेवैतदर्थान्वय उद्देश्यतया । अत एव ‘राजा भव, युद्ध्यस्व’ ‘राजन युद्ध्यस्व’ इत्यनयोर्व्यवस्थयैव प्रयोगः । ‘राम मां पाहि’ इत्यादौ चाभिमुखीभवद्रामाद्युद्देश्यकप्रवर्तनाविषयो रक्षणमिति बोधः । ‘व्रजानि देवदत्त’ इत्यादावपि जानीहि इत्यादिः शेषो बोध्यः । तत्र व्रजनस्य कर्मत्वाद्देवदत्तस्योद्देश्यत्वादुभयोः समानवाक्यस्थत्वम् । “एकतिङ् वाक्यम्” इत्यस्य च श्रूयमाणैकतिङित्यर्थ इति न दोषः । उद्देश्यविधेयभावो वाक्यार्थः । अभिमुखीभवनानुकूलव्यापारश्च सम्बोधनविभक्त्यन्तशब्दप्रयोगरूपः । व्रजानीति प्राप्तकाले लोट् । अत एव गच्छेत्याद्यध्याहारे ‘धिक् मुखे’ इत्यादौ प्रथमा, अनध्याहारे तु द्वितीयैवेति दिक् ॥ इति प्रथमा ॥

सम्बोधने च । अत्र केचिन्नैयायिकाः । समीहितं बोधनं सम्बोधनमिति व्युत्पत्तिमनुसृत्य विषयत्वस्याकाङ्क्षालभ्यत्वात् समीहा बोधनं च खण्डशो विभक्तिशक्यम् । समीहा-इच्छा, बोधनं-ज्ञानम् । तत्र राम मां पाहि इत्यादौ विभक्त्यर्थज्ञाने प्रकृत्यर्थरामादेः समवायेन, तदर्थेच्छाया विषयतासम्बन्धेनान्वयः । इच्छा च प्रयोक्तुरेव, प्रत्यासन्नत्वात् । तादृशज्ञानस्य च प्रवर्तनाविषयमत्कर्मकरक्षणादिरूपवाक्यार्थेऽन्वयः । तथा च प्रयोक्तिप्रच्छाविषयरामसमवेतज्ञानविषय-मत्कर्मकप्रवर्तनाविषयरक्षण-जनककृतिमांस्त्वमिति तार्किकमते बोधः । त्वत्कर्तृकं मत्कर्मकत्वादिविशिष्टं रक्षणं प्रयोक्तिप्रच्छाविषयत्वादिविशिष्टज्ञानविषय इति शाब्दिकमते बोधः । प्रकृत्यर्थरामसमवेतज्ञानस्य प्रयोक्तिप्रच्छाविषयत्वे, वाक्यार्थरक्षणादेः विशिष्टज्ञानविषयत्वे च शब्दतोऽवगते प्रकृतवाक्यार्थरक्षणादिविषयकबोधसमवायित्वप्रकारकेच्छाविषयत्वरूपं सम्बोध्यत्वं प्रकृत्यर्थरामादेः फलति इति प्राहुः ।

गदाधरभट्टाचार्यास्तु बोधनस्य समीहा इति व्युत्पत्तिमवलम्ब्य प्रत्यासत्या श्रोतुसमवेतबोधेच्छाया लोभात् संबोधनपदाव्यवहितवाक्यजन्यबोधाश्रयत्वप्रकारकेच्छां विभक्त्यर्थमङ्गीकृत्य तस्याः प्रकृत्यर्थरामादौ विषयतासंब-

न्धेनान्वयमङ्गीकुर्वन्ति । “नामार्थस्य स्वप्रकृतिकप्रत्ययार्थान्वयद्वारैव क्रियान्व-
य” इतिनियमानुरोधादेव संख्यातिरिक्तसुबर्थकर्मत्वादेः प्रकृत्यर्थविशेष्यतया
भानात् सम्बोधनविभक्तिप्रकृत्यर्थस्य च अन्यत्र (धात्वर्थे) विशेषणतयाऽनन्व-
यात् संबोधनस्य प्रकृत्यर्थविशेष्यतया भानं निर्युक्तिकमिति च वदन्ति ।
तन्मते वाक्यार्थमत्कर्मकरक्षणादेः सम्बोधनविभक्त्यर्थैकदेशे बोधे विषयि-
त्वसम्बन्धेनान्वयः । तथा च मत्कर्मकरक्षणाविषयकबोधाश्रयत्वप्रकारकेच्छा-
विषयत्वरूपं सम्बोध्यत्वं शब्दत एव लभ्यते इति बोध्यम् ।

प्राचीनवैयाकरणास्तु प्रयोक्तृवचनार्थबोधाय अवधानादिवैशिष्ट्यो-
पलक्षितावस्थितिरूपस्याभिमुखीभावस्यापि सम्बोधनपदप्रयोगे प्रतीतेः बो-
धनाय संमुखीकरणं सम्बोधनमिति व्युत्पत्त्या प्रकृतवाक्यार्थविषयक-
बोधफलकश्रोत्राभिमुखीभावरूपव्यापारानुकूलव्यापारो विभक्त्यर्थः । सच
प्रयोजकनिष्ठ इच्छारूप एव । इच्छायां व्यापारानुकूलत्वं च व्यापार-
विषयकत्वमेव । विभक्त्यर्थैकदेशे श्रोतृनिष्ठाभिमुखीभावरूपव्यापारे वृत्ति-
त्वसंबन्धेन प्रकृत्यर्थरामादेरन्वयः । विशिष्टेच्छायाश्च विषयत्वसम्बन्धेन
धात्वर्थरक्षणादौ अन्वयः । “सम्बोधनपदं यच्च तत् क्रियाया विशेषणम्” इति
हर्षयुक्तेः । बोधजनकव्यापारस्येच्छाविषयत्वेऽवगते बोधस्य व्यापारजन्यत्वे-
नेच्छाविषयत्वं सिध्यति । तादृशेच्छाविषयस्य बोधस्य वाक्यार्थविषयकत्वात्
वाक्यार्थरक्षणादेर्व्यापारजन्यबोधविषयत्वेनेच्छाविषयत्वं बोध्यम् । रामादिवृत्त्य-
भिमुखीभावरूपव्यापारस्येच्छाविषयत्वात् प्रकृतवाक्यार्थविषयकबोधानुकूल-
व्यापाराश्रयत्वप्रकारकेच्छोद्देश्यत्वरूपं सम्बोध्यत्वं रामादौ लभ्यते । चैत्रो मैत्रं
सम्बोधयतीत्यादौ पयन्तबोधिधातुना प्रतीयमानस्य तादृशेच्छोद्देश्यत्वबोधानु-
कूलस्य सम्बोधनविभक्त्यन्तशब्दप्रयोगरूपव्यापारस्येतरनैरपेक्ष्येणैव संबोधन-
विभक्त्यन्तप्रयोगे प्रतीतेस्तस्य वाक्यार्थत्वाभावः “सम्बोधनं न वाक्यार्थः” इति
हरिणोक्तः । “सर्वं वाक्यं क्रियाया परिसमाप्यते” इति वैयाकरणानां सिद्धान्ता-
त्, “भावप्रधानमाख्यातम्” इति यास्कवचनाच्च, श्रुतत्वाच्च वाक्यार्थप्रधानभूत-
भूयमाणक्रियायामेव सम्बोधनविभक्त्यर्थान्वयः । विभक्त्यर्थसम्बन्धेन वा
प्रकृत्यर्थस्य तत्रान्वयः । अत एव व्रजानि देवदत्तेत्यादौ एकवाक्यत्वाद्दामन्त्रित-
निघातसिद्धिः । अध्याहृतक्रियायामन्वयेतु व्रजनक्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपि-
तत्वस्य, तादृशनिरूपितत्वविशिष्टप्रकारत्वावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितत्वस्य वा
देवदत्तप्रकारतायामभावेन तदन्यतरवत्प्रकारताप्रयोजकत्वरूपैकवाक्यत्वा-
भावात् स न स्यात् । एकतिङन्तघटितत्वाभावेन अध्याहृतक्रियाघटितस्य
वाक्यत्वाभावाच्चेत्याहुः ।

नवीनास्तु “सिद्धस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः । प्राप्ताभिमुख्यो
ह्यर्थात्मा क्रियासु विनियुज्यते” इति हर्षयुक्तेः, लाघवाच्च प्राचीनमतोक्तव्यापारो-
द्देश्यकेच्छारूपाभिमुखीकरणफलभूतो मुखपरावृत्त्याद्यभिव्यङ्ग्योऽभिमुखीभाव
पश्चात् सम्बोधनम् । बोधनाय (बोधाय) संमुखीभावः सम्बोधनमिति व्युत्पत्तेः ।

न च अभिमुखीकरणं सम्बोधनमिति तदुत्था अभिमुखीकरण-
स्य प्रयोजकव्यापारस्य विभक्त्यर्थत्वं तदभिमतमिति वाच्यम् । "राम मा
पाहीत्यादौ चाभिमुखीभवद्रामाद्युद्देश्यकप्रवर्तनाविषयः" इत्युत्तरत्र अभिमुखी-
भावमात्रस्यैव प्रकृत्यर्थरामादिविशेषणतयोल्लेखात् "उद्देश्यविधेयभावो वाक्या-
र्थः" इति तदुक्तेश्च तस्यैव विभक्त्यर्थत्वाङ्गीकारस्य बोधनात् । सम्बोधनमभि-
मुखीकरणमित्युक्तिस्तु न विभक्त्यर्थत्वाभिप्रायेण, किन्तु संपूर्वकबोधधात्वर्थत्वा-
भिप्रायेण । चैत्रो मैत्रं सम्बोधयतीत्यादौ बोधनाय संमुखीकरोतीत्यर्थस्य प्रती-
तेः । अत्र तु अभिमुखीभावानुकूलस्य सम्बोधनपदात्मकव्यापारस्य तत्प्रयोगेणैव
प्रतीतेः, बोधद्वारा तज्जनिकाया इच्छाया अपि इच्छाविशेष्यत्वरूपोद्देश्यत्वघटित-
सम्बन्धेन प्रवर्तनायामन्वयस्य वाक्यतो लाभेन लब्धत्वादेव न विभक्त्यर्थत्वम् ।

तस्य च संख्याया इव प्रकृत्यर्थे रामादौ आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः ।
तस्य च विभक्त्यर्थत्वं प्रकृत्यर्थत्वमेव वेत्यन्यदेतत् । प्रकृत्यर्थस्य च "क्रियासु
विनियुज्यते" इत्युक्त्या प्रवर्तनान्वयद्वारा विधेयरक्षणादिक्रियायामन्वयलाभात्
स्वोद्देश्यकत्वसम्बन्धेन साक्षात् विध्यर्थप्रवर्तनायामेवान्वयः । तथाऽन्वयस्वीका-
रादेव "नामार्थधात्वर्थयोरभेदान्वय एव" इतिव्युत्पत्तिविरोधोऽपि न । प्रवर्त-
नायाम् अभिमुख्याश्रयरामाद्युद्देश्यकत्वं च तदिच्छाप्रयोज्यत्वमेव । प्रवर्तना-
याश्च विषयत्वसम्बन्धेन रक्षणादिक्रियायामन्वयः । प्रवर्तनाविषयत्वं च
तत्साध्यत्वं तत्साध्यप्रवृत्तिविषयत्वं वा । तथा च राम मां पाहीत्यादौ अभिमुखी-
भवनाश्रयरामाद्युद्देश्यकप्रवर्तनाविषयो मत्कर्मकं त्वत्कर्तृकं रक्षणमिति बोधः ।
राम देवदत्तं मा पाहीत्यादौ तु तादृशरामाद्युद्देश्यकनिवर्तनाविषयो देवदत्तकर्म-
करक्षणाभाव इति बोधः । तद्विषयत्वं चाभावे तत्प्रयोज्यत्वम् । उभयानु-
गतं च प्रेरणात्वमेव । क्रियायां प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरफलकमभिमुखीभावः 'राजा
अभिमुखीभावाश्रयत्वेनेच्छोद्देश्यः' इत्येवं ज्ञानं विना न सम्भवति । न च त-
ज्ज्ञानं स्वस्य राजत्वप्रकारकं ज्ञानं विना सम्भवति । ततश्च येन रूपेण सम्बो-
ध्यत्वं तेन रूपेण ज्ञानस्य तन्निष्ठसम्बोध्यत्वज्ञानार्थं पूर्वमपेक्षणात् तज्ज्ञानाभावे
तेन रूपेण सम्बोध्यत्वज्ञानाभावात्, अभिमुखीभावासम्भवेन संबोधनपदे
अभिमुखीभावानुकूलत्वासम्भवात् न अज्ञातधर्मप्रकारकबोधजनकपदात्
सम्बोधनविभक्तिः प्रयुज्यते । अत एव राजत्वस्यासिद्धौ राजन् युध्य-
स्वेति न प्रयोगः । "विधेयक्रियायामेव सम्बोधनप्रकृत्यर्थान्वय" इतिनियम-
बलात् व्रजानि देवदत्तेत्यादौ जानीहीत्यादेः शेषो बोध्यः । तत्र ज्ञाने व्रजनस्य
विषयत्वसम्बन्धेन, देवदत्तस्य स्वोद्देश्यकत्वसम्बन्धेन प्रवर्तनायामन्वयद्वारा
ऽन्वयः । प्रवर्तनायाश्च विषयत्वसम्बन्धेन तत्रान्वयः । ज्ञानस्य तद्विषयत्वंतु
पश्य मृगो धावतित्यादाविव तत्प्रयोजकसामग्रीघटकव्यापारद्वारकं बोध्यम् ।
एकवाक्यत्वं तु साक्षात्परम्परासाधारणाख्यातार्थनिष्ठविषयतानिरूपितत्ववद्वि-
षयताप्रयोजकत्वम् । अस्ति च देवदत्तपदस्य व्रजानीत्याख्यातार्थव्रजननिष्ठ-
विषयतानिरूपितज्ञाननिष्ठविषयतानिरूपितप्रवर्तनानिष्ठविषयतानिरूपितदेवदत्त-

कारके ॥ कारकत्वं क्रियाजनकत्वम्* । भाष्ये “करोति-क्रियां निर्वर्तयति” इति व्युत्पत्तिप्रदर्शनात् । * “ब्राह्मणस्य पुत्रं पन्थानं पृच्छति” इत्यादौ ब्राह्मणस्य न कारकत्वम् । पुत्रेणाऽन्यथासिद्ध्या* तच्चाभावात् । अत एवैषां क्रियायामेवान्वयः । क्रियाजनकमिति ज्ञाते का सा क्रियेत्याकाङ्क्षोदयेन, क्रियाया जनकाकाङ्क्षया च तत्रैवान्वयस्यौचित्यात् । सर्वेषां च कारकाणां *स्वस्वावान्तरक्रियाद्वारा *प्रधानक्रियानिष्पादकत्वं बोध्यम् । *असन्निहितसंप्रदानस्यापि दातृबुद्धिस्थत्वावश्यकत्वेन *स्वज्ञानपूर्वकालकत्वेनैव जनकत्वम् । एवं “स्तोकं पचति” इत्यादौ फलस्यापि । *घटं करोति

निष्ठविषयताप्रयोजकत्वमिति आमन्त्रितनिघातसिद्धिः । एकतिङ्वाक्यमित्यस्य च श्रूयमाणेकतिङ्गन्तघटितमित्यर्थ इति न तद्विरोधः । श्रूयमाणदेवदत्तपदेनैव लक्षणया देवदत्तोद्देश्यकप्रवर्तनविषयज्ञानप्रतिपादनाद्धा । अध्याहारस्वीकारादेव अध्याहृतक्रियाकर्तृसम्बोध्यार्थक्युष्मत्पदसमानाधिकरणत्वात् सम्बोधनस्य वृद्धोक्तः कर्तृकारकत्वव्यवहारः सङ्गच्छते । अत एव च तिङ्समानाधिकरणे प्रथमेतिवार्तिकमते प्रथमा सिध्यति । अनध्याहारे तु व्रजानीत्युत्तमपुरुषसामानाधिकरण्याभावात् सम्बोध्यनार्थकदेवदत्तादिपदात् प्रथमा न स्यात् । सम्बोध्यन्ते चेति सूत्रस्य तन्मते प्रत्याख्यातत्वात् इत्याहुः इति प्रघट्टकार्थ इत्यलम् ॥

कारके । *क्रियाजनकत्वमिति* । क्रियानिरूपितत्वोपलक्षितं जनकत्वमित्यर्थः । अत एव ‘क्रियायामेवान्वयः’ इत्युत्तरग्रन्थसङ्कतिः । जनकत्वं चात्र कारणत्वरूपं विवक्षितम् । तत्फलमाह-#ब्राह्मणस्येति । *अन्यथासिद्धेति* । कुलालजनकस्येव चतुर्थ्याऽन्यथासिद्धेति भावः । नन्वेवमपि ‘ब्राह्मणस्य पितरं पन्थानं पृच्छति’ इत्यादौ ब्राह्मणस्य कारकत्वं दुर्वारम् । न च रासभादेरिषास्यापि पञ्चमान्यथासिद्धिरिति वाच्यम् । तथापि ‘ब्राह्मणपितुरेव पन्थाः प्रष्टव्य’ इतिप्रतिज्ञावत्पुरुषकर्तृकप्रश्नपरे ‘ब्राह्मणस्य पितरं पन्थानं पृच्छति’ इत्यादौ ब्राह्मणादेः कारकत्वापत्तेः । तत्र ब्राह्मणपितृत्वेनैव प्रश्नं प्रति कारणात्वादिति चेन्न । तथापि दण्डत्वादेरिषाऽऽद्यान्यथासिद्धेस्तत्रापि सत्त्वात् । *स्वस्वावान्तरक्रियाद्वारेति* । अत एव “वह्निना स्थाल्यां तण्डुलं पचति चैत्रः” इत्यादौ तत्कार्थं तत्तदितरेण नोत्पद्यते इत्यनुभवोऽप्यनुकूलः । *प्रधानक्रियेति* । प्राधान्यं चात्र अन्यानधीनत्वरूपम् । ननु संप्रदानासत्त्वेऽपि तज्ज्ञानमात्रेणैव तदुद्देशेन दानदर्शनात् संप्रदानस्य क्रियाजनकत्वाभावेन कारकत्वं न स्यादत आह-#असन्निहितेति* । *स्वज्ञानपूर्वकालत्वेनेति* । सम्प्रदानज्ञानवर्तिन्या दानजनकतायाः सम्प्रदाने आरोप इति भावः । नन्वेवमपि घटस्यानुत्पत्तिदशायामेव ‘घटं करोति’ इतीष्यते, स न स्यात् । तदानीं घटाभावेन तत्र जनकत्वासम्भवात् । एवं घटं स्मरतीत्यादावपि घटे स्मरणजनकत्वासम्भवात् कारकत्वानापत्तिरत आह-#घटं करोति स्मरतीत्यादाविति* । अत्राप्याद्ये मृदादिबुत्तिजनकत्वस्य,

स्मरति इत्यादौ बौद्धघटादेः पूर्वकालत्वेन स्मृत्यादिनिष्पादकत्वं बोध्यम् ।

कर्तुरीप्सित ॥ ईप्सितशब्दोऽत्र क्रियापरो,* नाभिप्रेतपरो*
रूढः । *स्पष्टञ्चेदं “वारणार्थानाम्” इत्यत्र भाष्यकैयटयोः । कर्तुरिति

अन्ते सम्बन्धिज्ञाननिष्ठजनकत्वस्यारोप इति भावः । वैयाकरणमते बौद्ध-
स्यैवार्थस्य पदशक्यत्वात् शाब्दबोधविषयत्वेन बौद्धार्थविषयकबोधतात्पर्येणैव
पदानामुच्चारणात् घटादिपदानां क्रियाजनककर्मादिरूपार्थविषयकबोधतात्पर्ये
णोद्धारितत्वरूप “कर्मणि द्वितीया” इत्यादिशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत्वेन
ततः परं द्वितीयादिविभक्तीनां साधुत्वं सूच्यते । प्रवृत्तिविषयता तु तत्त-
द्बौद्धार्थरूपिततत्तद्बाह्यार्थे एवेति नातिप्रसङ्गः । बौद्धार्थरूपिते बाह्यार्थे
जनकत्वव्यवहारस्तु कचिद् उक्तरीत्याऽऽरोपेणैवोपपादनीय इति तत्त्वम् । शेषं
कर्तुरीप्सितमिति सूत्रव्याख्याने निरूपयिष्यते । एतेन स्वेच्छयैव जनकत्वारोपेण
कारकत्वे सर्वेषामेव कारकत्वापत्तिरित्यपास्तम् ।

केचित्तु “करोति क्रियां निर्वर्तयति” इत्यस्य क्रियाविषयकनिराकाङ्क्ष-
बोधोत्पादक इत्यर्थः । ज्ञानमात्रं प्रति विषयस्य कारणत्वात् । क्रियाविषयकबोध-
स्य तत्तत्कारकावगाहित्वे हि किंकर्तृकेयमित्याद्याकाङ्क्षा शाम्यति । अत एव
मयाऽस्य लक्षणं कृतमितिव्यवहारोपपत्तिः । तत्रापि च लक्षणज्ञानमेव वाक्य-
विशेषविरचनद्वारा तेन क्रियते; न तु लक्षणम् । तस्य वस्तुधर्मत्वात् । एवं च
क्रियाविषयकनिराकाङ्क्षबोधानुकूलत्वं कारकपदस्य योगार्थतावच्छेदकम् ।
क्रियाया अपि क्रियाविषयनिराकाङ्क्षबोधजनकत्वात् तत्र अतिप्रसङ्गभङ्गाय
कारकपदवत्त्वस्य रूढ्यर्थतावच्छेदकत्वमपि स्वीकरणीयम् । इदं च द्रष्टुं याती-
त्यादौ यानादिक्रियाया दर्शनादिक्रियाजनकत्वात्तत्रातिव्याप्तिवारणाय पूर्वोक्त-
कल्पेऽप्यावश्यकमित्यादि सर्वमूह्यमित्याहुः ।

कर्तुरीप्सित । *क्रियापर इति* । सम्बन्धार्थकाऽऽधातुनिष्पन्न-
त्वेन सम्बन्धेच्छाविषयार्थक इत्यर्थः । *नाभिप्रेतपर इति* । अभिप्रेतः कर्तुः
इच्छोद्देश्यं सुख-दुःखनिवृत्त्यन्यतरत्, तत्साधनं वा । *स्पष्टं चेदमिति* । तत्र
हि “किमुदाहरणम् । माषेभ्यो गा वारयति । भवेद्यस्य माषाः, न गावः, तस्य
माषा ईप्सिताः स्युः । यस्य तु खलु गावो, न माषाः, कथं तस्य माषा
ईप्सिताः स्युः । तस्यापि माषा एवेप्सिताः । आतश्चेप्सिताः, यदेभ्यो गा वारयति”
इत्युक्तम् । माषा एवेप्सिता इत्यस्य ईप्सिता एवेत्यर्थः । तच्च माषाणां स्वकीयत्वा-
भावेन अनुपाधिकेच्छाविषयसुखदुःखनिवृत्त्यन्यतरसाधनत्वाभावेन तदिच्छा-
विषयत्वरूपेष्टत्वाभावेऽपि राजमयादिना ततो गवां वारणेन गोनिष्ठव्यापारप्रयो-
संयोगप्रागभावाश्रयत्वेन इच्छाविषया भवन्त्येवेति तत्र ईप्सितशब्दस्य
क्रियापरत्वाभिप्रायेण सङ्गच्छते । अग्रे च अग्नेर्माणवकं वारयति इत्यत्र
माणवके अपदानसंज्ञाया अतिप्रसङ्गमाशङ्क्य अग्न्यादौ ईप्सितमात्रे सावका-

“क्तस्य च वर्तमाने” इति *कर्तरि षष्ठी। आप्नोते; सन्नन्तात् “मतिबुद्धि” इति वर्तमाने कर्मणि क्तः। ‘मतिः-इच्छा’ इति तत्राऽऽकरः। एवञ्च कर्त्राऽऽप्तुमिष्यमाणं कर्मेत्यर्थः। आप्तिश्चात्र संबन्धः। स च कर्तृपदार्थविशेषणीभूतव्यापारद्वारक एव। उपस्थितपरित्यागेनानुपस्थितकल्पने मानाभावात्। *एवञ्च कर्त्रा स्वनिष्ठव्यापारप्रयोज्यफलेन संबन्धुमिष्यमाणमित्य-

शाया अपादानसंज्ञाया ईप्सिततमे माणवकादौ कर्मसंज्ञया परत्वाद्वाध इत्युक्तम्। कर्तुरीप्सिततममित्यत्र अभिप्रेतार्थकस्यैव ग्रहणे तु अनभिप्रेते अग्न्यादौ अपादानसंज्ञायाश्चारितार्थ्येन अनवकाशत्वाद्वाधशङ्काऽनुपपन्ना स्यात्। तस्मादुभयत्रापि ईप्सितशब्दः क्रियापर इति तज्ज्ञाप्याल्लभ्यत इति बोध्यम्।

कर्तरि षष्ठीति। कर्तृपदं चात्र सूत्रे प्रधानभूतव्यापाराश्रयत्वरूपस्वातन्त्र्यपुरस्कारेण बोधकम्। कर्तरि षष्ठी च कर्तृत्वशक्तिमत्त्वेन बोधिकेति तदर्थयोरभेदान्वय उपपद्यते। अत्रत्यकर्तृपदस्य स्वातन्त्र्यपुरस्कारेण बोधकत्वादेव चैत्रः सार्थास्तीयते इत्यादौ “अपादाने चाहीयस्वहोः” इति ज्ञापकेन कर्तृसंज्ञां बाधित्वाऽपादानसंज्ञायां सत्यामपि स्वातन्त्र्यस्याक्षतत्वेन कर्तुरित्यनेन चैत्रादेः कर्मसंज्ञायां चैत्रादिरूपे कर्मणि लकारः सिध्यति। अन्यथा सार्थादेः संकेतसम्बन्धेन कर्तृपदवत्त्वाभावेन तज्ज्ञाप्यकर्तृत्वशक्त्यभावात् चैत्रादेः कर्मसंज्ञाऽप्राप्त्या स दुर्लभः स्यात्। हीययोगे अपादानसंज्ञया कर्तृसंज्ञाया अथाधे तु हीयेतिकर्मलकारसिद्ध्यर्थं सार्थादेः कर्तृत्वस्यास्यकतया हीयेत्येतदर्थनिरूपितापादानत्वासम्भवेन तद्वन्निष्ठापादानवाचकत्तसिरिति पर्युदासाश्रयणमनर्थकं स्यात्। ननु षष्ठ्याः कर्तृत्वशक्तिमत्त्वेन बोधकत्वस्वीकारेऽपि सार्थादेः कर्तृपदवत्त्वाभावात्कर्तृत्वशक्त्यभावेनोक्तदोषस्तदवस्थ एवेति चेत्सत्यम्। तस्मात्तिबादेरिव षष्ठ्या आश्रयमात्रमर्थः। एवं च स्वतन्त्राभिज्ञाश्रयः सार्थादिरिति तद्वृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वरूपसम्बन्धप्रकारकेच्छोद्देश्यः चैत्रादिरिति तस्य कर्मसंज्ञा निर्बाधेवेति। अभेदान्वयश्च नीलघटो घट इत्यादाविवोपपद्यते इत्याहुः।

केचिन्तु वैयाकरणमते शब्दस्यापि तत्तत्पदजन्यशब्दबोधे भातेनात्राभेदान्वयः। नैयायिकैरपि घटपदस्य घटपदवाच्यघटे, कलशपदस्य च कलशपदवाच्यघटे लक्षणायामिष्यते एत्राभेदान्वयः। विरूपेणोपस्थितेः सत्त्वेन तथा स्वीकारे बाधकाभावात्। न चैवं सर्वत्रैवाभेदान्वयः स्यादिति वाच्यम्। घटो घट इत्यादावुक्तरीत्याऽप्यभेदान्वयासम्भवात् इत्याहुः।

एवं चेति। ‘कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वप्रकारकेच्छोद्देश्यं कर्म’ इत्यर्थ इति सारम्। इच्छार्थकधातुसमभिव्याहारे उद्देश्यताख्यविलक्षणविषयताया एव कर्मप्रत्ययार्थत्वनियमात्। फलाश्रयता च फलतावच्छेदकसम्बन्धेन बोध्या। अत एव कालिकविशेषणतासम्बन्धेन कालस्य फलाश्रयत्वप्रकारकेच्छोद्देश्यत्वेऽपि ‘कालं पचति’ इत्यादयो न प्रयोगाः। फलतावच्छेदकसम्ब-

न्यश्च न फलनिष्ठकार्यतावच्छेदकः सम्बन्धः । कालिकसम्बन्धेन फलोत्पत्तौ तादात्म्येन कालस्य कारणतया कालिकादेरपि तत्त्वात्पत्तेः । त्यजतिविभजत्योः फलतावच्छेदकसम्बन्धस्यैक्यापत्त्या ग्रामाद्विभजते इत्यादौ ग्रामादेरपि कर्मत्वापत्तेश्च । न हि तयोर्भेदेन कार्यकारणभावो विद्यते । त्यजतिविभजन्योरुभयोरपि विभागानुकूलव्यापारार्थकत्वेन विभागनिष्ठकार्यतावच्छेदकसमवायस्य फलतावच्छेदकत्वे उभयोरपि सकर्मकतापत्तिः अकर्मकतापत्तिर्वैति । फलतावच्छेदकसम्बन्धेन फलाधिकरणवृत्तिव्यापारार्थकस्यैवाकर्मकत्वात्, फलतावच्छेदकसम्बन्धेन फलव्यधिकरणव्यापारार्थकस्यैव सकर्मकत्वात् ।

किन्तु तत्तद्भातुनिष्ठशक्तौ व्यापारे फलनिरूपितं स्वरूपसम्बन्धविशेषरूपं स्वानुकूलत्वं, स्वेच्छाधीनेच्छाविषयत्वं च भासते । तथाच तण्डुलं पचतीत्यादौ 'समवायेन विह्वित्याश्रयस्तण्डुलो भवतु' इत्याकारकेच्छायाः कर्तृनिष्ठत्वेन तादृशेच्छीयफलनिष्ठविषयतावच्छेदकत्वस्य समवाये एव सत्त्वेन तत्सम्बन्धेन फलाश्रयैव कर्मत्वं, नतु कालिकादिना फलाश्रयस्य । तत्सम्बन्धस्य निरुक्तेच्छीयविषयतावच्छेदकत्वाभावात् । एवं ग्रामाद्विभजते इत्यादौ विभागसमानाधिकरणव्यापारार्थकविपूर्वकभजधातुयोगे ग्रामादेर्न कर्मत्वम् । तस्य प्रकृतधात्वर्थव्यापारप्रयोज्यविभागरूपफलाश्रयत्वेऽपि 'अनुयोगित्वेन विभागाश्रयोऽहं भवानि' इत्याकारकेच्छाया एव तत्र कर्तृनिष्ठतायाः प्रतीयमानत्वेन अनुयोगित्वस्यैवेच्छीयविषयतावच्छेदकत्वेन तेन सम्बन्धेन विभागरूपफलाश्रयत्वाभावात् । ग्रामं त्यजतीत्यादौ त्यजधातुयोगेतु ग्रामादेः कर्मत्वं भवत्येव । तत्र त्यजधातुना कर्तृव्यापरिव्यधिकरणस्य विभागस्यैव प्रतीत्या प्रतियोगित्वेन विभागविशिष्टो ग्रामो भवतु' इत्याकारकेच्छाया एव तत्समभिव्याहारे प्रतीत्या प्रतियोगित्वस्यैव फलतावच्छेदकत्वेन तेन सम्बन्धेन फलाश्रयत्वस्य तत्र सत्त्वात् ।

प्रतियोगितारूपफलतावच्छेदकसम्बन्धेन फलानधिकरणसमवेतव्यापारवाचकत्वेन त्यजेः सकर्मकत्वम्, अनुयोगितारूपफलतावच्छेदकसम्बन्धेन फलाधिकरणसमवेतव्यापारवाचकत्वेन विभजतेरकर्मकत्वं च सिद्धम् ।

नन्वेवं यत्रोभयव्यापारजन्य उभयनिष्ठप्रतियोगिताऽनुयोगिताक एको विभागो जन्यते तत्र चैत्रात् मैत्रो विभजते इत्यादावनुयोगितासम्बन्धेनापि चैत्रस्य विभागाश्रयत्वेन कर्मत्वापत्तिरिति चेन्न । चैत्रस्य अनुयोगित्वेन विभागाश्रयत्वेऽपि तेन रूपेण कर्तृवृत्तीच्छोद्देश्यत्वाभावात् । मैत्रस्य तु परया कर्तृसंज्ञया बाधान्न कर्मत्वम् ।

नचैवमपि तथायुक्तमित्यनेन तदापत्तिः, तत्र इच्छोद्देश्यत्वानिवेशादिति वाच्यम् । फलाश्रयत्वमित्यस्य फलनिष्ठविशेष्यतानिरूपितानुयोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नबोधीयप्रकारत्वेन तात्पर्यविषयत्वमित्यर्थेनादोषात् । चैत्रस्य वस्तुतस्तदनुयोगित्वेऽपि प्रतियोगित्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारत्वेनैव तात्प-

र्थः । यथा — 'तण्डुलं पचति' इत्यादौ । फलस्यापि *व्यपदेशिवद्भावेन फलसंबन्धित्वात्कर्मत्वम् । अत एव तत्समानाधिकरणे 'स्तोकं पचति' इत्या-

र्यविषयत्वात् । तथा विवक्षायां तु मैत्राच्चैत्रो विभजते इति भवति । परया कर्तृसंज्ञया बाधात् । विभजतेः व्यापारजन्यविभागार्थकत्वं वा स्वीकृत्य ग्रामाद्विभजते इत्यादौ कर्मत्वापत्तिर्वारणीया । धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारत्वविशिष्टधात्वर्थप्रयोज्यत्वरूपफलत्वस्य व्यापारविभागयोरुभयोऽपि अभावात् इति दिक् ।

व्यपदेशिवद्भावेनेति । ननु घटितत्वघटकत्वमात्रस्यैव तेनातिदेशात् फले फलाश्रयत्वं तेन नातिदेशदुं शक्यमिति चेन्न । स्वस्मिन् स्वघटितत्वे ऽतिदिष्टे घटितत्वसम्बन्धावच्छिन्नाधिकरणताया आर्थसमाजग्रस्तत्वात् । यदि च फलतावच्छेदकसम्बन्धेन फलाश्रयस्यैव कर्मत्वस्याङ्गीकारात् घटितत्वस्य फलतावच्छेदकत्वाभावादिदं न युज्यते इत्युच्यते, तदा तुल्यास्यसूत्रादिस्थभाष्यप्रामाण्येन आश्रयत्वस्यापि घटितत्वघटकत्वयोरिव तेनातिदेशस्वीकाराच्च दोषः इति बोध्यम् ।

केचित्तु पच्यादेर्विक्रित्युत्पत्त्यनुकूलव्यापारादिरर्थ इति उत्पत्तिरूपफलाश्रयत्वेन विक्रित्यादेर्विक्रित्यादिरूपफलाश्रयत्वेन तण्डुलादेश्च कर्मत्वसिद्धिः इत्याहुः ।

अन्ये तु विधेयतावच्छेदके अपूर्वबोध्यत्वाविशेषात् विधेयत्वस्वीकारवत् इच्छोद्देश्यतास्वरूपफलताऽवच्छेदकस्य विक्रितित्वादेरपि इच्छोद्देश्यत्वेन फलत्वस्वीकारात् तन्निष्ठेच्छीयोद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदकसमवायादेरपि फलतावच्छेदकत्वात् तेन सम्बन्धेन विक्रितित्वादिरूपफलाश्रयत्वाद् विक्रित्यादीनां कर्मत्वसिद्धिरित्याहुः ।

परंतु फलस्य कर्मत्वाभावेऽपि नीलघटमानयेत्यादौ कर्मवाचकघटादिपदसमानाधिकरणनीलादिपदानां कर्मत्वेतरकरणत्वादिसम्बन्धानवच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वात्तेभ्य इव फलवाचकपदादपि द्वितीया सेत्स्यति इत्याहुः ।

वस्तुतस्तु फलस्य साध्यत्वसम्बन्धेन व्यापारेऽन्वयस्वीकारात् साध्यत्वनिष्ठसांलग्नविषयतायाः धात्वर्थव्यापारनिष्ठविशेष्यतानिरूपितत्वात् धात्वर्थप्रयोज्यत्वे सति धात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविषयताश्रयत्वरूपफलत्वस्य साध्यत्वे सत्त्वात्तदाश्रयत्वाद् विक्रित्यादीनां कर्मत्वसिद्धिरित्याहुः ।

अत्रेदं बोध्यम् । शोभनं पचतीत्यादौ फले शोभनत्वाद्यन्वये फले शोभनत्वस्य व्यापारशोभनत्वापेक्षत्वात् व्यापारे शोभनत्वमाक्षिप्यते, न तु व्यापारे शोभनत्वाद्यन्वयः शाब्दः । तथाऽन्वयतात्पर्येण, द्वितीयाविभक्तौ साधुत्वस्यानुशासनतोऽलाभात् । क्रियाविशेषणानां कर्मत्वमित्यभियुक्तौ क्रियापदं फलपरम् । व्यापारे शाब्दान्वयतात्पर्येण तु शोभनः पाक इत्याद्येवेति दिक् ।

दौ कर्मत्वसिद्धिः । क्तप्रत्ययोपात्तवर्तमानत्वन्तु *न विवक्षितम् । तेन

वर्तमानत्वं तु न विवक्षितमिति । कर्मपदवाच्यत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितकर्मसंज्ञाविधायकशास्त्रजन्यबोधीयविशेष्यतावच्छेदकत्वेन पाणिनितात्पर्यविषयत्वेऽपि कर्मपदवाच्यतावच्छेदकत्वेन तत्तात्पर्यविषयत्वं वर्तमानत्वस्य नेत्यर्थः । एतेन अविवक्षितत्वे “वर्तमानार्थबोधतात्पर्येणोच्चारितक्तप्रत्यययोगे षष्ठी” इत्यर्थकस्य “क्तस्य च वर्तमाने” इत्यस्य प्रवृत्त्यनापत्तिरित्यपास्तम् ।

अत्रायं भावः । उद्देश्यविशेषणतयोपस्थितधर्मे कचिद् विधेयान्वयितावच्छेदकत्वं भासते । यथा ‘घटपदात् घटो बोद्धव्यः’ इत्यादौ उद्देश्यविशेषणे घटत्वादौ विधेयभूतबोधविषयत्वादेराश्रयतावच्छेदकत्वम् । अत एव शक्तिप्रमातो न घटादिपदात् द्रव्यत्वादिप्रकारको बोधः । यत्र धर्मान्तरस्यावच्छेदकत्वेनान्वयः, यथा ‘द्रव्यं द्रव्यपदात् गुणवत्त्वेन बोद्धव्यम्’ इत्याधुनिकसंकेते, तत्र न द्रव्यत्वे बोधविषयतावच्छेदकत्वं भासते । अतो न द्रव्यपदात् उक्ताधुनिकसङ्केतप्रमातो द्रव्यत्वप्रकारको बोधः, किन्तु गुणवत्त्वप्रकारक एव । तथा ‘दण्डो घटस्य कारणम्’ इत्यत्र दण्डत्वे कारणतावच्छेदकत्वं, ‘पटो न घट’ इत्यत्र भेदानुयोगितावच्छेदकत्वं, ‘पटे न घटत्वम्’ इत्यत्र अभावानुयोगितावच्छेदकत्वं च पटत्वे भासते । अतो न ‘द्रव्यं घटस्य कारणम्’ ‘द्रव्यं न घटः’ ‘द्रव्ये न घटत्वम्’ इत्यादयः प्रयोगाः । कचिन्तु विशेषणतयोपस्थितधर्मे न तदवच्छेदकत्वं भासते । ‘यथा बुद्धिविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नस्तत्पदाद् बोद्धव्यः’ इति संकेते बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वे बोधविषयतावच्छेदकत्वं न भासते । अतो घटत्वादेर्न बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वेन भानम् । यथावा ‘चन्द्रसूर्यौ पुष्पवन्तपदाद् बोद्धव्यौ’ ‘अन्ययोगव्यवच्छेदौ एवपदाद्बोद्धव्यौ’ ‘घातुना फलव्यापारौ बोद्धव्यौ’ इत्यादौ द्वित्वादेः साहित्यस्य च विशेषणतयोपस्थितस्यापि न बोधविषयतावच्छेदकत्वम् । अतस्तत्रतत्र न द्वित्वादिप्रकारेण बोधः । तद्धर्मप्रकारकबोधं प्रति तत्र सङ्केतीयतत्पदजन्यबोधविषयतावच्छेदकत्वभानस्य प्रयोजकत्वात् ।

एवं प्रकृतेऽपि ईप्सितपदार्थविशेषणतयोपस्थितवर्तमानत्वे न कर्मपदजन्यबोधविषयतावच्छेदकत्वं भासते । पाणिनेस्तथा तात्पर्याभावात् । अन्यथा “कर्मणि हनः” इत्यनेन कर्मणि उपपदे हनधातोः भूतार्थे णिनेर्विधानं तस्य नोपपद्येत । तत्तद्धर्मे तत्तद्विधेयान्वयितावच्छेदकत्वानवगाहनेऽपि तत्तन्निष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यतावच्छेदकत्वं तत्रतत्र भासते एव । अतो घटमिन्नं द्रव्यमानय, घटत्वाभाववद्द्रव्यमानय, घटकारणद्रव्यमत्रास्ति इत्यादयः प्रयोगा उपपद्यन्ते । उपपद्यते च बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वस्य अनुगमकत्वम् ।

न च वर्तमानत्वस्य कर्मपदजन्यबोधविषयतावच्छेदकत्वेनाविवक्षितत्वेन “कर्मणि द्वितीया” इत्यादौ कर्मपदात् तत्प्रकारकबोधाभावात् द्वितीया

कटं कृतवान् करिष्यतीत्यादिसिद्धिः* ।

कारकं कर्मसंज्ञं स्यादिति । “कारके” इति प्रथमार्थे सौत्रीसप्तमी । तेन कारकं सत् कर्मसंज्ञमित्यर्थः । संज्ञिनः *क्रियाजनकत्वं तु महासंज्ञयाऽऽक्षिप्तम् । यद्वा सप्तमी यथाश्रुतैव । कारकपदश्च क्रियापरम् ।

विभक्तितोऽपि तत्प्रकारकबोधाभावेऽपि ग्रहं समार्ष्टीत्यादौ उद्देश्यतावच्छेदग्रहत्वादेः समार्जनादिविधेयसम्बन्धप्रयोजकत्वस्य चमसादौ समार्जनव्यावृत्त्यर्थे स्वीकारवत् वर्तमानत्वस्यापि भूतकालिकेच्छाविषये कर्मसंज्ञाव्यावृत्त्यर्थं कर्मसंज्ञारूपविधेयसम्बन्धप्रयोजकत्वस्वीकारस्यावश्यकतया कटं कृतवानित्यादिप्रयोगानुपपत्तिस्तदवस्थैवेति वाच्यम् । विधेयसम्बन्धप्रयोजकत्वद्वाराऽन्यव्यावर्तकत्वेन विवक्षितत्वाभावस्यापि “कर्मणि हनः” इत्यनेन ज्ञापनात् । यथा ग्रहत्वस्य विवक्षितत्वेऽपि ग्रहविशेषणतया एकवचनोपस्थितमेकत्वं स्वभिक्षैकत्वाश्रये समार्जनव्यावर्तकत्वेन न विवक्षितम् उद्देश्यगतत्वात्, तथा च सर्वेषां ग्रहाणां समार्गः सिध्यति-तथा कप्रत्ययोपस्थितं वर्तमानत्वं स्वभिन्नवर्तमानत्वाश्रयकालिकेच्छाविषये कर्मसंज्ञाव्यावर्तकत्वेन न विवक्षितम् । उद्देश्यगतत्वात्, “कर्मणि हनः” इति शास्त्राच्च । अतो यत्किञ्चित्प्रयोगाधिकरणकालत्वरूपवर्तमानत्वभिन्नयत्किञ्चित्प्रयोगाधिकरणत्वाश्रयकालिकेच्छाविषयाणामपि कटादीनां कर्मत्वासिद्धिः । वर्तमानत्वस्य शाब्दबोधविषयत्वाङ्गीकाराच्च षष्ठ्याद्युपपत्तिः । पशुना यजेतेत्यादौ तु विधेयपशुविशेषणत्वेनोपस्थितमेकत्वं स्वाश्रयपशुसम्बन्धिनि यागे स्वभिन्नैकत्वाश्रयपशुसम्बन्धव्यावर्तकत्वेन विवक्षितम् । विधेयगतत्वात् । वर्तमानत्वं तु विधेयान्वयितावच्छेदकत्वेन, विधेयसम्बन्धव्यावर्तकत्वेन चाविवक्षितम् । तस्यापत्यमित्यादौ लिङ्संख्यावदिति पर्यवसितोऽर्थ इति दिक् ।

तेन कटं कृतवान् करिष्यतीत्यादिसिद्धिरिति । ईप्सितपदकर्मकपाणिनिकर्तृकोच्चारणाधिकरणीभूतकालात् प्राक् परो वा यो यः कालस्तद्वृत्तिक्रियाबोधतात्पर्येणेत्यर्थः । एवं च तादृशक्रियाबोधतात्पर्येण ‘कटं करोति’ इत्यपि सिद्धमित्यपि बोध्यम् । पाणिनिकर्तृकोच्चारणाधिकरणीभूतकालवृत्तिक्रियाबोधतात्पर्येण तत्कालात् प्राक् प्रयोगे ‘कटं करिष्यति’ इति, तत्कालात् परप्रयोगे ‘कटं कृतवान्’ इति, यथा तथा तत्समानकालप्रयोगे ‘कटं करोति’ इति च स्यादेवेति भावः ।

*क्रियाजनकत्वंत्विति । अत्र प्राचीनाः । करोति स्वसम्बन्धेन क्रियायां विशेषरूपतामापादयति इति व्युत्पत्तेः महासंज्ञया क्रियान्वयित्वमेव कारक-कर्मादिसंज्ञोद्देश्यतावच्छेदकम् । कारकशब्दस्य क्रियापरत्वपक्षे शीघ्रोपस्थितिकत्वेन अन्वयित्यध्याहारेण तदन्वयित्वस्यैव कर्मादिसंज्ञोद्देश्यतावच्छेदकत्वलाभात् । रूढ्यर्थतावच्छेदकं तु कारकपदवत्त्वं तज्ज्ञाप्यशक्तिमत्त्वं

करोति कर्तृकर्मादिव्यपदेशानिति *व्युत्पत्तेः । जनकमित्यध्याहारः । विषयत्वं सप्तम्यर्थः । कारकग्रहणे च स्वरितत्वप्रतिज्ञया तदधिकारोक्तकर्त्रादिषट्कमेव, तेन नटश्रवणमित्यादौ न कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरः । ग्रामेवासः इत्यादौ च *तत्स्वरसिद्धिरित्यन्यत्र विस्तरः ।

कर्तुः किमिति । तदभावेऽपि केनाऽऽप्तुमित्याकाङ्क्षायां *कारकाधिकाराद्यापारलाभ इति प्रश्नः । माषेष्टिवाति । माषेषु प्रसक्तमश्वं माषनाशो मा भूदित्यन्यत्र *बध्नातीत्यर्थः । तदाह—कर्मण इति । तम-

वा । तेन न 'कारकाणां क्रियान्वयइ'तिप्रयोगानुपपत्तिः । ब्राह्मणस्य पुत्रं पृच्छतीत्यादौ क्रियान्वयित्वाभावात् ब्राह्मणादेः कारकत्वम् । घटं करोतीत्यादौ घटादेः क्रियान्वयित्वस्य सत्त्वादाज्ञस्येनैव कारकत्वमुपपद्यते इति न आरोपापेक्षा । अधिकरणस्यापि कर्तृ-कर्मघटितपरम्परासम्बन्धेन साक्षादेव क्रियायामन्वय इति न कारकत्वानुपपत्तिः । अक्षशौण्ड इत्यादौ समासस्तु शौण्डादिपदस्य आसक्तशौण्डादौ लक्षणाश्रयणादुपपादनीय इत्याहुः ।

नवीनास्तु करोतीति कारकमिति व्युत्पत्त्या क्रियाजनकत्वस्यैव आज्ञस्येन लाभात् तदेव कारकत्वमिति अधिकरणस्य कर्तृकर्मद्वारा क्रियान्वयेऽपि कारकत्वस्योपपत्तेः अक्षशौण्ड इत्यादौ समासो लक्षणाश्रयणं विनैव सिध्यतीति न तत्र लक्षणा । अत एव अक्षविषयकशौण्डत्ववान् इति विवक्षितबोधस्तत उपपद्यते । अक्षशौण्डस्य धनमस्तीत्यादौ तु अगत्या लक्षणाश्रयणम् । तत्र शौण्डत्वस्य अविधेयत्वेन लक्षणाश्रयणे बाधकाभावात् इत्याहुः ।

तत्स्वरसिद्धिरिति । थाथादिस्वरसिद्धिरित्यर्थः । तस्य "गति-कारकोपपदात् कृत्" इत्यस्यापवादत्वात् ।

*कारकाधिकाराद्यापारलाभ इति । तथा च कारकवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वप्रकारकेच्छोद्देश्यं कर्मेत्यर्थः स्यादिति भावः ।

*बध्नातीत्यर्थ इति । अश्वो हि बध्नातेः कर्म, न तु कर्ता । न च कर्तृग्रहणेऽप्ययं दोषस्तदवस्थः, भक्षणकर्तृत्वस्याश्वे सत्त्वादिति वाच्यम् । कर्तृग्रहणसामर्थ्येनैव प्रकृतधात्वर्थकर्तृग्रहणेनादोषात् । यद्वातुवाच्यफलाश्रयत्वेनेष्टस्य कर्मत्वं चिकीर्षितं तद्वात्वर्थनिरूपित एव कर्ता गृह्यते इति भावः । न चैवमपि दुर्वादीनां व्यापारद्वयार्थत्वपक्षे 'गां दोग्धि पयः' इत्यादाबुभयोः कर्मत्वाय प्रत्येज्यत्वलाभसम्पादकतमग्रहणस्य सत्त्वेन यत्र पुष्ट्यर्थं माषक्षेत्रेऽश्वबन्धनं तत्र भक्षणस्यापि बन्धनप्रयोज्यत्वेन चैत्रकर्तृकबन्धनव्यापारप्रयोज्यभक्षधात्वर्थफलभयत्वेन माषाणां कर्मत्वं दुर्वारमिति वाच्यम् । कर्तृग्रहणेन व्यापारफलोभयस्यापि प्रकृतधातुवाच्यस्यैव ग्रहणेनादोषात् । प्रकृते च बन्धनप्रयोज्यभक्षधात्वर्थफलस्य प्रकृतबन्धधातुवाच्यत्वाभावात् ।

अग्रहणं किमिति । अवयवद्वारा समुदायस्य प्रश्नः । *कर्तुर्देश्यं कर्मे-
त्येवास्त्विति भावः । *पयसौदनमिति । यदा कृतभोजनोऽपि पयोला-
भेनौदनभोजने प्रवर्तते तदेदं प्रत्युदाहरणम् । तत्क्रियायाः पयउद्देश्यकत्वात् ।
ईप्सिततमशब्दस्य तु क्रियाशब्दत्वात्पयसस्तदा फलाश्रयत्वेनाविवक्षणात्

कर्तुर्देश्यं कर्मेत्येवास्त्विति । कर्तृवृत्तीच्छीयोद्देश्यताश्रयः कर्मे-
त्यर्थः । उद्दिशेरिच्छार्थकत्वात् । यत उद्देश्यताश्रयविषयताश्रयार्थकत्वात् ।
पयसौदनमिति । पयसेति करणे तृतीया । अयमाशयः । ईप्सितप्रहणा-
भावे यत्किञ्चित्प्रकारकेच्छोद्देश्यस्य कर्मत्वापत्तौ फलाश्रयत्वप्रकारकेच्छोद्देश्य-
त्वाभाववतोऽपि यत्किञ्चित्प्रकारकेच्छोद्देश्यस्य कर्मत्वं दुर्वारम् । तत्सत्त्वे तु
फलाश्रयत्वप्रकारकेच्छोद्देश्यस्यैव कर्मत्वेन यत्किञ्चित्प्रकारकेच्छोद्देश्यत्वेऽपि
फलाश्रयत्वप्रकारकेच्छोद्देश्यत्वाभावात् दोषः । फलाश्रयत्वेनेच्छायां तु 'पयो
भुङ्क्ते' इतीष्यते एव ।

केचित्तु अत्र यत्किञ्चित्पदेन साधकतमत्वग्रहणे करणसंज्ञैवापद्यते ।
भोजनकर्मत्वादीनां ग्रहणे त्विष्टापत्तिरेव । तस्माद्धेतावेषा तृतीया । एवं च
पयोलाभहेतुकभोजनस्थले इदं प्रत्युदाहरणमिति लभ्यत्वेनैवेच्छोद्देश्यस्य पयसः
कर्मत्वापत्तिः । लाभद्वारा क्रियाजनकत्वस्यापि सत्त्वेन क्रियाजनकत्वरूपकारक-
त्वस्याप्यबाधितत्वात् । ईप्सितप्रहणे तु भोजनव्यापारवाचकधातुवाच्यफला-
श्रयत्वेनेष्टत्वरूपस्य ईप्सितत्वस्य तत्र बाधाञ्च कर्मत्वमित्याहुः ।

कश्चित्तु ईप्सितप्रहणे सम्बन्धत्वेन बोधकेनाप्याब्धातुना साध्यत्वे-
नेच्छाविषयफलद्वारकः व्यापारवाचकधातुवाच्यफलाश्रयत्वरूप एव सम्बन्धो
बोध्यते न तु व्यापारसमानकालिकफलाश्रयत्वादिरूप इति येन प्रत्यासत्त्यादि-
रूपप्रमाणेनोच्यते तेनैव प्रमाणेन मयाऽपि तत्प्रकारिकैवेच्छा ग्रहीष्यते इति
कर्तुरिष्टं कर्मेत्येव सुवचम् । कर्तुर्देश्यं कर्मेति तु न युक्तम् । उदो देश्यशब्दस्य
च पदत्वेन पदगौरवापत्तेः । अग्नेर्माणवकं वारयति इत्याद्यर्थे प्रयोज्यत्व-
लाभसम्पादकं तमग्रहणं क्रियातां, न तत्राऽऽग्रहः । अनुपदमेव वक्ष्यमाणरीत्या
माऽस्तु वेति दिगिति गदति ।

वस्तुतस्तु ईप्सितपदसत्त्वे आब्धातूपस्थाप्यसम्बन्धः प्रकृते प्रत्या-
सत्त्या क्रियाघटित एव गृह्यते इत्येवंरूपेण तात्पर्यं निश्चेतुं शक्यते, तद-
भावे तु पदादनुपस्थितत्वेन किंप्रकारिकेच्छेत्याकाङ्क्षामुत्थाप्य प्रत्यासत्त्या
सम्बन्धविशेषप्रकारिकेति प्रत्यासत्तिमहिम्ना नैव लब्धुं शक्यते, इति ईप्सित-
ग्रहणमावश्यकमेव । एवं च तत्सत्त्वे पयसेति करणतृतीयान्तं प्रत्युदाहरन्तो-
ऽप्यपास्ता एव । उक्तरीत्या कर्तृपदार्थशिषेणवीभूतक्रियाद्वारकसम्बन्धप्रकारि-
केच्छा क्रियाप्रयोज्यफलाश्रयत्वप्रकारिका, क्रियावाचकधातुवाच्यफलाश्रयत्व-
प्रकारिका वा गृह्यते इति 'रामेण बाणेन हतो घाली' इत्यादौ बाणोद्देश्यक-

दोष इति भावः । *तमस्य फलं तु 'अग्नेमार्णवकं वारयति' इति । तदभावे हि

साधकतमत्वप्रकारकेच्छायां तथात्वाभावेनातिप्रसङ्गाभावात् इत्याहुः ।

*अत्र प्राचीनानुयायिनः । केवलसाधकतमत्वप्रकारकेच्छायां करण-
संज्ञायाः, फलाश्रयत्वमात्रेच्छायां कर्मसंज्ञायाश्च चारितार्थ्ये उभयेच्छायामुभयोः
प्राप्तौ गां दोग्धात्यादाविव परत्वात् कर्मसंज्ञा स्यात् । सा मा भूदित्येतदर्थम्
ईप्सितपदप्रवृत्तिनिमित्तभूतेच्छाप्रकर्षलाभार्थं तमग्रहणम् । अत एव कौमुद्यां
कर्तुरीप्सिततममिति सूत्रवृत्तौ आप्तुमिष्टतममिति इष्टपदोत्तरं तमबुल्लेखः । इ-
च्छायां प्रकर्षश्च अन्येच्छानधीनत्वलक्षणः । तथाच ओदनभोजनोपकारकत्वेन
पयआदेर्भोजनेच्छायाम् उपकारकत्वेच्छाधीनत्वेन अन्येच्छानधीनत्वलक्षणप्रक-
र्षाभावात् प्रकृतधात्वर्थफलश्रयत्वेनेच्छाविषयत्वेऽपि पयआदेर्न कर्मत्वम् ।
इदमेव तमग्रहणफलम् । आपधात्वर्थसम्बन्धघटकफले प्रधानभूतधात्वर्थ-
व्यापारप्रयोज्यत्वांशस्तु प्रत्यासत्त्या तत्र प्रकृतधात्वर्थत्वांशवत् प्रत्यासत्ति-
लभ्य एव । कर्त्रा केन सम्बन्धुमिष्यमाणमित्याकाङ्क्षायां तद्वृत्तिव्यापारेणे-
त्यर्थस्त्रैव शीघ्रोपस्थितिकत्वेन ग्रहीतुमुचितत्वात्—इत्याहुः ।

नवीनानुयायिनस्तु उपकारकत्वफलाश्रयत्वोभयविवक्षायां परत्वात्
कर्मसंज्ञा गां दोग्धात्यादौ ध्रुवत्वफलाश्रयत्वोभयविवक्षायामिव भवत्येव ।
कर्तुरीप्सिततममिति सूत्रभाष्ये “इह कश्चित् कश्चित् आमन्त्रयते—सिद्धं भुज्यता-
मिति । स आमन्त्र्यमाण आह—प्रभूतं भुक्तमस्माभिसिति । आमन्त्र्यमाण आह-
दधि खलु भविष्यति पयः खलु भविष्यति । आमन्त्र्यमाण आह—दध्ना खलु
भुज्जीय पयसा खलु भुज्जीयेति । अत्र कर्मसंज्ञा प्राप्नोति—तद्धि तस्येप्सितत-
मं भवति” इत्याशङ्क्य “तस्याप्योदन एवेप्सिततमः । नतु गुणेष्वस्यानुरो-
धः । तद्यथा—भुज्जीयाहमोदनं यदि मृदुविशदः स्यादिति, एवमिहापि दधि-
गुणमोदनं भुज्जीय, पयोगुणमोदनं भुज्जीयेति” इति समाहितम् । अत्र “तस्या-
प्योदन एवेप्सिततम” इत्यस्य ओदने एव फलाश्रयत्वविवक्षा, “नतु गुणेष्व-
स्यानुरोध” इत्यस्य च गुणमात्रे दध्यादौ अनुरोधः फलाश्रयत्वविवक्षा नतु—नैवे-
त्यर्थः । ततश्च ईप्सितशब्दस्य क्रियापरत्वमिप्रायेण तादृशस्थले फलाश्रयत्वा-
विवक्षयैव कर्मत्वाभावः, नतु फलाश्रयत्वविवक्षायामपि कर्मत्वाभावः भाष्याभि-
प्रेतः । तत्सूत्रे एव भाष्ये तमग्रहणस्य अग्नेमार्णवकं वारयति इत्यत्र अनवकाश-
त्वात्प्राप्ताया अपादानसंज्ञाया व्बावृत्त्यर्थत्वस्योक्तत्वेन धात्वर्थफले धात्व-
र्थप्रधानव्यापारप्रयोज्यत्वरूपप्रकर्षस्यैव लाभेन तद्द्वारैव इच्छायां प्रकर्षस्य ग्र-
हीतुमुचितत्वेन इच्छायां साक्षादुक्तप्रकर्षाश्रयणे प्रमाणाभावात् । आकङ्कार-
सूत्रे “करणमुत्तराणि” इत्यत्र कर्मसंज्ञाया अनुदाहरणन्तु अनभिधानात्, धनु-
र्विध्यतीत्यादिकर्तृसंज्ञोदाहरणस्य दिक्प्रदर्शनार्थत्वाद्वा । तस्मात् उभय-
विवक्षायां कर्मत्वाभावो न तमग्रहणस्य फलम् । स्पष्टं चेदं सर्वं कर्तुरिति
सूत्रे विवरणे इत्याहुः । तद् ध्वनयन्—

“वारणार्थानाम्” इति सूत्रमस्यापवादः स्यात्* । एवञ्च माणवकस्य कर्मत्वं न स्यात् । न चाग्नौ तच्चरितार्थम् । तस्यापि तदुपस्थाप्यसंयोगरूपफलाश्रयत्वात् । वारयतेश्च संयोगाद्यनुकूलव्यापाराभावानुकूलव्यापारोऽर्थः* । एष

तमग्रहणफलमाह- *तमस्य फलं त्वित्यादिना । *अस्यापवादः स्यादिति* । ननु यद्यपि निवारकस्यामात्यादेर्दुष्टत्वात् ‘माणवकोऽग्निं संयुनक्तु’ इत्यपीच्छा, परं तु स्वामिभयेन तं निवारयति, तत्र निवारणानुकूलप्रधानीभूतव्यापाराश्रयीभूतभृत्यवृत्तिनी तद्वृत्तिव्यापारवाचकवारिधातुवाच्यसंयोगरूपफलाश्रयत्वप्रकारकेच्छा अग्न्युद्देश्यिकेति तत्रोभयोः “कर्तुरीप्सिततमम्” इति सूत्रेण कर्मसंज्ञायाः प्राप्तिस्तथापि यत्र ‘माणवकोऽग्निं संयुनक्तु’ इति वारकस्य भृत्यस्येच्छा नास्ति, तत्र भृत्यवृत्तिव्यापारवाचकधातुवाच्यसंयोगरूपफलाश्रयत्वप्रकारकभृत्यसमवेतेच्छोद्देश्यत्वाभावेनाग्रेः “कर्तुरीप्सित” इति सूत्रेण कर्मसंज्ञाया अप्राप्तौ तत्रापादानसंज्ञायै “वारणार्थानाम्” इत्यस्य चारितार्थ्येनापवादत्वमयुक्तमिति चेन्न । तत्रापि “तथायुक्तं चानीप्सितम्” इत्यनेन परत्वात्कर्मसंज्ञाप्राप्तेः स्पष्टत्वात् । न च बाधितमिदम्—‘एकदैवेप्सितत्वेन “वारणार्थानाम्” इत्यनेनापादानसंज्ञाप्राप्तिः, अनीप्सितत्वेन च “तथायुक्तम्” इत्यनेन कर्मसंज्ञाप्राप्तिः’ इति वाच्यम् । “वारणार्थानाम्” इत्यत्र कर्तृपदासत्त्वेन कारकसामान्यवृत्तीप्साया ग्रहणेन “तथायुक्तम्” इत्यत्र च कर्तुरीप्सितसूत्रात् कर्तृग्रहणानुवृत्त्या कर्तृमात्रवृत्तीप्साया ग्रहणेन बाधानवकाशात् । तथा च अग्रेः माणवकात्मककर्मरूपकारकवृत्तीप्साविषयत्वस्य सत्त्वेनापादानसंज्ञाप्राप्तिः, वारकभृत्यरूपप्रधानीभूतव्यापाराश्रयकर्तृवृत्तीप्साविषयत्वाभाववत्त्वेन तथायुक्तमित्यनेन कर्मत्वप्राप्तिश्च सुलभा । फलत्वं च न प्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यत्वमेव, अपि तु धात्वर्थेऽनुकूलत्वसम्बन्धेन प्रकारताश्रयत्वे सति धात्वर्थत्वमेवेति संयोगादीनामपि वारिधातुफलत्वम् ।

ननु वाचकवाच्यत्वापेक्षया प्रयोज्यत्वस्य स्वरूपसम्बन्धरूपत्वेन लघुभूततया लाघवात् तत्सम्बन्धस्यैव लाभः स्यादिति तदर्थं तमग्रहणकरणमयुक्तमिति चेन्न । पुष्ट्यर्थं माषक्षेत्रेऽश्वबन्धने “माषेऽश्वं बध्नाति” इत्यादौ माषाणां कर्मत्वाभावाय प्रत्यासत्या कर्तृग्रहणसामर्थ्येन वाचकवाच्यत्वस्यावश्यं वाच्यतया प्रयोज्यत्वलाभाय तत्करणस्य युक्ततरत्वात् ।

संयोगाद्यनुकूलव्यापाराभावानुकूलव्यापारोऽर्थ इति । नन्वत्र संयोगानुकूलव्यापाराभावपदेन कोऽभावो गृह्यते ? । न तावदन्योन्याभावो धर्तुं शक्यते । यत्र निवारणेतरव्यापारं भृत्यादिः विधत्ते, न च निवारयति, तत्रापि ‘वारयति’ इतिप्रयोगापत्तेः । भेदस्य नित्यत्वेन प्रधानव्यापारे तदनुकूलत्वस्य बाधितत्वाच्च । नाप्यत्यन्ताभावः । तस्यापि नित्यत्वेन मुख्यव्यापारेऽत्यन्ताभावानुकूलत्वस्य बाधितत्वात् । नापि ध्वंसः । अननुभवात् । तथा हि—यत्राकृताग्निसंयो-

एव प्रवृत्तिविधातः । ईप्सितशब्द उभयत्रापि क्रियाशब्द एव । न च संयोगो न तत्कर्तृव्यापारजन्य इति तत्र कर्मत्वाप्राप्तिरिति वाच्यम् । कर्तृव्यापारवाचकधातूपात्तफलाश्रयत्वमित्यर्थस्यैव तेन लाभात् । तमग्रहणे त्वीप्सितमात्रे सावकाशस्य परत्वादीप्सिततमेऽनेन बाधः । *ईप्सिततमत्वञ्च प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वम् । तच्च नाग्न्यादौ । फलव्यापारयोः प्रकृतधात्वर्थत्वन्तु प्रत्यासत्ति-

गमग्निसंयोगाय चोद्यतं माणवकं निवर्तयति तत्रैव वारयतीति प्रयुज्यते । यत्र चार्त्ति संयुज्जन्तं माणवकं निवर्तयति, तत्र तु 'अग्नेर्माणवकं विभाजयति' इत्येव प्रयुज्यते इति । एवं चाग्निसंयोगात्प्रागग्निसंयोगरूपप्रतियोगिनोऽस्त्वेन ध्वंसस्य वक्तुमशक्यत्वम् । नापि प्रागभावः । तस्य प्रतियोगिसमवायिकारणवृत्तित्वशीलस्य स्वप्रतियोग्युत्पादकत्वनियमेन माणवकस्याग्निसंयोगापत्तेरिति चेत्—

अत्र केचित् । अत्यन्ताभाव एव चात्र संयोगानुकूलव्यापारस्याभावः । तदनुकूलता च प्रधानव्यापारे न तज्जनकतारूपा, अपि तु तदभावप्रयोजकाभावप्रतियोगितारूपा । तथा च संयोगानुकूलव्यापाररूपतदभावाभावप्रयोजकाभावप्रतियोगित्वं निवारकवृत्तिव्यापारेऽश्वत् । अभावयोः प्रयोज्यप्रयोजकभावश्च स्वरूपसम्बन्धविशेष एव । व्यापकाभावप्रयोज्यत्वस्य व्याप्याभावे व्यवहारात् । यथा बहुचभावप्रयोज्यो धूमाभाव इति ।

के चित्तु प्रागभाव एवात्र गृह्यते । अयं च प्रागभावो न प्रतियोग्युत्पात्तिकारणीभूतः, अपि तु स्वरूपयोग्यतारूपकारणताश्रयवृत्तिः कार्यानुत्पादको विलक्षण एव । स्पष्टं चैतत् कणादसूत्रव्याख्याने उपस्काराख्ये । तत्र हि—“को मुक्तिपदार्थः” इति जिज्ञासायां “दुःखाभावो मुक्तिपदार्थः” इत्युक्तौ “कोऽसावयमभावो दुःखस्य ? । न तावदन्योन्याभावोऽत्यन्ताभावो वा । तयोर्नित्यत्वेन ज्ञानानुत्पाद्यतया ज्ञानान्मुक्तिरित्यसङ्गत्यापत्तेः । नापि ध्वंसः । दुःखस्य स्वत एव तृतीयक्षणं विनाशित्वेन तदर्थं ज्ञानादेरनपेक्षाप्रसङ्गात् । नापि प्रागभावः, पुनर्दुःखापत्तेः” इत्युक्त्वा “प्रतियोग्यनुत्पादकोऽयं स्वरूपयोग्यतात्मककारणताश्रयवर्ती ज्ञानादिना परिरक्ष्यः प्रागभावविशेष एव दुःखाभावः” इत्युक्तम् । ज्ञाने तादृशाभावपरिरक्षकता च तत्प्रतियोगिदुःखोत्पादकव्यापारध्वंसकारणत्वाद्बोद्धव्येति दिक् ।

ईप्सिततमलक्षणमाह—*ईप्सिततमत्वं चेति । स्वप्रयोज्यत्वं—स्ववाचकधातुवाच्यत्वमेतदुभयसम्बन्धेन व्यापारविशिष्टफलवत्त्वरूपः सम्बन्धआन्धात्वर्थः । तत्र प्रयोज्यत्वं तमग्रहणलभ्यम् । वाचकवाच्यत्वं कर्तृग्रहणलभ्यम् । प्राधान्यांशस्तु व्यापारे कर्तृग्रहणमहिमलभ्यः ।

कश्चित् प्रयोज्यत्वलाभाय तमग्रहणकरणमयुक्तमेव । प्रयोज्यत्वा-

लभ्यम् । तेन यदा पुष्ट्यर्थं माषभक्षणाय माषसैत्रे एवाश्वबन्धनं तदा 'मा-
षेष्वश्वं बध्नाति' इत्यादौ माषाणां न कर्मत्वम् । बन्धनप्रयोज्यभक्षणफला-
श्रयत्वेऽपि भक्षणस्य बध्नात्यर्थत्वाभावात् । *प्रयोज्यत्वनिवेशाद् 'गां पयो
दोग्धि' इत्यादौ विभागानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारार्थकदुहियोगे पयसः
कर्मत्वसिद्धिरिति स्पष्टं भाष्ये ।

कर्मेत्यनुवृत्ताविति । "अभिशीङ्स्थासाम्" इति सूत्रात् ।
आधारेति । *कर्तृकर्मद्वारा क्रियाश्रयो हि सः । तदाह-गेहमित्यादि ।

लाभे परत्वादनेन बाधापत्त्या "वारणार्थानाम्" इत्यस्य वैयर्थ्यात्तत्सामर्थ्यादेव
प्रयोज्यत्वलाभस्य सुकरत्वात् । साक्षाच्छास्त्रबाधापेक्षयाऽस्यैवौचित्यादिति नि-
गदति, तन्न । रथकाराधिकरणन्यायेन बाध एव स्यादिति ।

ननु जन्यत्वनिवेशेनैवेष्टसिद्धौ किं प्रयोज्यत्वनिवेशेन-अत आह । *प्र-
योज्यत्वनिवेशादिति* । गोव्यापारं विना पयसि व्यापारपूर्वकविभागानुत्पत्तेः
गोपव्यापारजन्यो गोव्यापारो धातुवाच्यः । तज्जन्यस्तु पयोनिष्ठो व्यापार-
पूर्वको विभागः । तत्र पयोनिष्ठव्यापारस्य विभागनान्तरीयकत्वान्न धातुवा-
च्यतेति न तदुल्लेखः । एवं च पयोनिष्ठविभागरूपफलस्य गोपनिष्ठधात्वर्थ-
प्रधानव्यापारजन्यत्वाभावात्कर्मसंज्ञा न स्यादिति साक्षात्परम्परासाधारणं
प्रयोज्यत्वं निवेशनीयमिति भावः ।

अत्रेदं बोध्यम् । काशीम् अगच्छन् काशीं गत इत्यादिप्रयोगदर्श-
नात् "कतुरीप्सित" इति सूत्रविहितकर्मसंज्ञाविषये तज्जाप्यकर्मत्वशक्तिवर्धने-
षणतया तद्बोधकपदोत्तरद्वितीयया उद्देश्यत्वमपि बोध्यते, "तथायुक्तं चानी-
प्सितम्" इति विहितकर्मसंज्ञाविषये तु अनीप्सितपदोपादानात् तद्बोधकपदो-
त्तरद्वितीयया तन्न बोध्यते । ततश्च अगच्छन् इत्येतत्समभिव्याहृतया काशी-
मिति द्वितीयया उद्देश्यत्वस्योपस्थितेः, गत इत्येतत्समभिव्याहृतया काशी-
मिति द्वितीयया च तदनुपस्थितेः उक्तवाक्यात् काश्यभिन्नकर्मोद्देश्यकगमनकर्तृ-
त्वाभावाच्चान् काशिकर्मकगमनकर्ता चैत्रादिः इति बोधः । विशिष्टाभावश्च ता-
दृशोद्देश्यत्वरूपविशेषणाभावप्रयुक्तोऽत्र बोध्यः । एवं तण्डुलं पचतीत्यादवपि
तण्डुलकर्मोद्देश्यकपाकानुकूलो व्यापारश्चैत्राभिन्नाश्रयवृत्तिरिति बोधः । अत एव
संप्रदानसंज्ञासूत्रे कर्मणेत्यस्याभावे कर्मणोऽपि सम्प्रदानसंज्ञायां ततश्चतुर्थ्या-
पादनं भाष्यकैयटोक्तं सङ्गच्छते । चतुर्थ्यास्तु उद्देश्यत्वार्थकत्वं सर्वसमतमेवेति ।

कर्तृकर्मद्वारा क्रियाश्रयो हि स इति । फलतावच्छेदकसम्बन्धेन
फलाश्रयो यस्तदधिकरणं, व्यापारतावच्छेदकसम्बन्धेन व्यापाराश्रयो य-
स्तदधिकरणमेतदन्यतरस्मिन्नेवाधारपदस्य रूढत्वात् । पूर्वसूत्रे एतदर्थपर-
त्वस्यैव दृष्टत्वेनार्थाधिकारानुरोधादत्रापि तादृशार्थपर एव स्यात् । एतेन

तत्र तथाऽर्थकत्वस्य सूत्रारम्भसामर्थ्याल्लाभेऽपि प्रकृते क्रियाधारपरत्वमेव स्यादिति न दोषः स्यादित्यपास्तमिति भावः । एतेन "आधारोऽधिकरणम्" इति सूत्रस्थशेखरे यदुक्तं "साक्षात्क्रियाधारस्य कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यामेव बाधः स्यादिति अत्राधारपदं कर्मकर्त्राधारपरम्" इति तदप्यपास्तम् । कालिकादिसम्बन्धेन साक्षादेव क्रियाधारस्य लाभात् । न हि तत्र कर्तृकर्मसंज्ञा-प्राप्तिः । फलतावच्छेदक-व्यापारतावच्छेदकान्यतरसम्बन्धेन फलव्यापारानधिकरणत्वात् ।

कश्चित्तु आधारपदं फलतावच्छेदक-व्यापारतावच्छेदकान्यतरसम्बन्धेन फलव्यापारान्यतराधिकरणे एव रूढम् । तत्र च कर्तृकर्मसंज्ञाभ्यामेव बाधः स्यादिति कर्मकर्त्राधिकरणमेवाऽऽधारपदेन लक्ष्यते इति शेखरस्याशयं वर्णयति, तत्र । तादृशमुख्यार्थपरस्याऽऽधारपदस्यादर्शनात् । "तण्डुलो विक्लित्याधारः" इत्यादौ समवायस्य फलतानवच्छेदकत्वात् । प्रयोगभेदेन फलतावच्छेदकसम्बन्धभेदस्य व्यवस्थापितत्वेन समवायस्य प्रकृतवाक्यघटकधात्वर्थफलतावच्छेदकत्वाभावादिति ध्येयम् ।

यत्तु "धातोः कर्मणः समानकर्तृकाविच्छायां वा" इति सूत्रारम्भसामर्थ्यात् "कर्मणि हनः" इत्याद्यारम्भाच्चात्राधारपदाननुवृत्तिरिति, तत्र । क्रियाधारानिरूपिताधारतायाः कालिकादिसम्बन्धावच्छिन्नायाः सर्वत्र सत्त्वेन तयोः सार्थक्यात् ।

नन्वेवं 'गेहं प्रविशति' इत्यादावेव स्यात् इति ग्रन्थासङ्गतिः, एवं रीत्या 'तण्डुलं पचति' इत्यादावपि कर्मसंज्ञायाः सुवचत्वात्, इति चेत्सत्यम् । पूर्वसूत्रे आधारपदस्य कर्तृकर्माधारत्वेन विवक्षितार्थपरतया प्रकृतेऽपि कर्तृकर्माधारत्वेन विवक्षितार्थपरत्वमेव स्यादिति कर्तृकर्माधारत्वेन विवक्षायामसत्यां कर्मसंज्ञा न स्यादित्येवं ग्रन्थस्य सुयोजत्वात् इति दिक् ।

इत्थं च स्ववाचकवाच्यत्वं—स्वप्रयोज्यत्वमेतदुभयसम्बन्धेन स्ववृत्तिव्यापारविशिष्ट-फलनिरूपितफलतावच्छेदकसम्बन्धावच्छिन्नश्रयत्वप्रकारकत्वं—स्वसमवेतत्वमेतदुभयसम्बन्धेन कर्तृविशिष्टा या इच्छा तन्निरूपितोद्देश्य-तारुथविलक्षणविषयताश्रयः संकेतसम्बन्धेन कर्मपदवान् इति सूत्रार्थः सम्पन्नः । इच्छायां कर्तृसमवेतत्वविशेषणात् चैत्रस्य तथेच्छायां 'मैत्रः पचति' इति न प्रयोगः । अन्येषां फलं तूक्तमेव । न चैवं यत्रोभयव्यापारज एको विभागः संयोगो वा तत्र 'चैत्रः स्वं त्यजति' इति, 'गच्छति' इति वा प्रयोगापत्तिः, उक्तीत्या तदुक्त्यनुयोगितायाः फलतावच्छेदकत्वात् इति वाच्यम् । परत्वात् कर्तृसंज्ञया बाधेन व्यापारासमानाधिकरणस्यैव फलस्य ग्रहणात् । न च व्यापारासमानाधिकरणस्यैव फलस्य ग्रहणे 'स्वं जानाति' इत्यादावव्याप्तिः इति वाच्यम् । अन्तःकरणावच्छिन्नात्मनोऽत्र कर्तृत्वेन, शरीरावच्छिन्नजीवस्य च कर्मत्वेन व्यापारस्य फलव्यधिकरणत्वात् । एवं च शरीरविशेषावच्छिन्नः शरीरविशेषावच्छिन्नं गच्छतीति, त्यजतीति वा ता-

अनुक्ते कर्मणीति । *कर्मपदेनैतच्छास्त्रबोधितकर्मसंज्ञकं *कर्मत्वशक्तिमद्
गृह्यते । सर्वकर्मविहितद्वितीयादीनां कर्मत्वशक्तिमानर्थः । क्रियाकारक-
भावः सम्बन्धश्च तदर्थः । “राज्ञः पुरुष इत्यत्र राजपुरुषयोः सम्बन्धस्य
षष्ठी वाचिका, कष्टं श्रित इत्यत्र क्रियाकारकयोः सम्बन्धस्य द्वितीया वाचि-
का” इतिसमर्थसूत्रस्थभाष्यात् । एवञ्च ‘हरिं भजति’ इत्यादौ हरिकर्मकं
भजनमिति बोधः ।

अभिहिते त्विति । अनभिहिताधिकारादिनि भावः ।
*पञ्चकं प्रातिपदिकार्थ इति पक्षे “कर्मणि द्वितीया” इत्यादेः “द्वेकयोः” इ-

त्पर्येण “चैत्रः स्वं गच्छति” इत्यादीष्टमेव । इतरथाऽत्र कर्तृसंज्ञयैव बाधः
स्यादिति तथापत्यसम्भवः । एतेनाकर्मकधातुस्थले कर्तुः कर्मसंज्ञामापा-
दयन्तोऽपास्ता इत्यलम् ।

प्राचीनोक्तमाश्रयमात्रार्थकत्वं विभक्तीनां खण्डयति *कर्मपदेनेति । *कर्मत्व
शक्तिमदिति । कर्मत्वशक्तिश्च कर्मसंज्ञाज्ञाप्या । तथाच “अधिशीङ्स्थासां कर्म”
इत्यादिशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकानां भिन्नत्वेऽपि कर्मसंज्ञाज्ञाप्यकर्मत्वशक्तेः स-
र्वत्रैक्येन “कर्मणि द्वितीया” इत्यनेन अनुगतकर्मत्वशक्तिपुरस्कारेण द्वितीयावि-
भक्तिवाच्यत्वबोधनमुपपद्यते । एवं “गन्तव्यकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यो” इत्या-
दिनाऽपि । तथाच कर्मणीत्येवंविहितविभक्तीनां कर्मत्वशक्तिमानर्थः, कर्तरी-
त्येवं विहितविभक्तीनामपि तत्तच्छक्तिमानर्थः । क्रियाकारकभावः सम्बन्धश्च
सर्वकारकविभक्तीनामर्थः, अन्यासां विभक्तीनां तु स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धो-
ऽर्थः । “राजपुरुषयोः सम्बन्धस्य षष्ठी वाचिका, क्रियाकारकयोः सम्बन्धस्य
द्वितीया वाचिका” इति समर्थसूत्रभाष्यात् । विशेषणत्वज्ञाने एव सम्बन्धा-
काङ्क्षोदयेन विशेषणत्वं च सर्वविभक्तीनामर्थः । क्रियाकारकभावश्च साध्य-
साधनभावरूप एव । तथाच हरिं भजतीत्यादौ हर्यभिन्नकर्मनिष्ठसाध्यसाधन-
भावसम्बन्धवच्छिन्नविशेषणतानिरूपितविशेष्यतावद्भजनमिति बोधः । तत्र वि-
शेष्यत्वं वाक्यशक्तिगम्यम् । कर्मत्वस्य हरिनिष्ठत्वे बुद्धे तत्समानाधिकरणप्रीति-
फलस्यापि हरिनिष्ठत्वं बुध्यते । तन्मूलक एव हरिनिष्ठप्रीत्यनुकूलो व्यापार इति
बोधः । नतु धात्वर्थप्रीत्यात्मकफले प्रकृत्यर्थहरेरन्वयः शाब्दः । सर्वकारकाणां
भावनान्वयव्युत्पत्तेः । कारकाणां कर्तृनिष्ठधात्वर्थभावनासाधनत्वं च भावनाभा-
व्यफलनिष्पादकत्वमेव । इत्थमेव यागस्य भावनाकरणत्वमुपपादितं मीमांसकैः ।
प्राधान्याद्भावनायामेव कारकाणामन्वयो नतु फले इति स्पष्टं भूषणसारे धा-
त्वर्थनिर्णये । तस्मात् क्वचित् फलीभूतफलान्वयप्रदर्शनात् न कर्मकारकस्य
तत्र शाब्दान्वय इति भ्रमितव्यमिति दिक् ।

*पञ्चकं प्रातिपदिकार्थ इति । द्विकं त्रिकं वा प्रातिपदिकार्थ इति

स्यादेश नियमत्वम् । एतदभावेऽपि स्वादिसूत्रेण “अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे” इति कर्मादौ संख्यायाश्च स्वादीनां सिद्धेः । तत्र यदा कर्मणीत्यादे-
द्वयैकयोरित्यादेशैकवाक्यतायामेकास्मिन् कर्मणीत्यन्वयेन सूत्रजबोधे क-
र्मार्थस्य प्राधान्यं तदा नार्थोऽनेन* । सूत्रजबोधविषयप्रधानविषयेण
‘उक्तार्थानाम्’ इति न्यायेन सिद्धेः । यद्यपि “द्विर्बद्धं सुबद्धम्” इति न्यायेन
‘द्वौ ब्राह्मणौ’ ‘व्यतिलुनते’ इत्यादौ द्योतकवाचकयोर्द्योतकयोश्च समुच्चयो
दृष्टस्तथापि प्रकृते लक्ष्यानुसारादुक्तार्थानामिति न्यायानुसरणस्यैव वक्तुं
शक्यत्वात् । एवञ्च कर्मादीनां द्योत्यत्वमेव । यदा तु कर्मगते एक-
त्वे इत्यन्वयेन संख्यायास्तत्त्वं तदा सूत्रमारब्धव्यम् । भाष्ये एषु विभ-
क्त्यर्थत्वव्यवहारो द्योत्यत्वैव, न त्वेतावता तच्छक्यत्वमेषां भ्रमितव्यं;
नियमत्वानुपपत्तेरिति स्पष्टं “बहुषु” इति सूत्रे भाष्यादिषु । द्योतकविषये-

पक्षे हि कर्मादिकारकेषु, एकत्वादिसंख्यासु च विवक्षितेषु द्वितीयादिविभक्ती-
नाम् एकवचनादीनां च साधुत्वबोधनार्थं “कर्मणि द्वितीया” इत्यादीनां “द्वेक-
योः” इत्यादीनां च चारितार्थ्यात् भाष्योक्तनियमत्वानुपपत्तिः । अतः पञ्चकं
प्रातिपदिकांथ इत्याश्रीयते । तथा च प्रातिपदिकेनैव संख्याकारकयोरप्यभि-
धाने ‘कर्मणि वर्तमानात् प्रातिपदिकात् द्वितीया’ ‘एकत्वे वर्तमानात् एकव-
चनम्’ इत्येवं तत्तदर्थस्य वाच्यतया तत्र च स्वादिसूत्रेणैव विभक्तेः सिद्धतया
तेषां नियमत्वमुपपद्यते । नियमश्च प्रत्ययानाम्, अर्थानां वेत्यन्यदेतत् । अत एव
दधि इत्यादौ लोपादिकमजानतोऽपि कारकसंख्याबोधः सर्वानुभवसिद्धः । स-
र्वकारकेषु प्रातिपदिकमात्रस्य शक्तावपि अमादिसमभिव्याहारेण कर्मत्वादिशक्तिः
उद्भूतत्वेन स्वरूपतश्चावभासते इति तत्तत्समभिव्याहारे एव स्वरूपतः कर्म-
त्वादिशक्तिपुरस्कारेण बोधः इति नानवस्था । अत्र भावः । कारकत्वव्याप्यत्वो-
पलक्षितधर्मावच्छिन्नः, संख्यात्वव्याप्यत्वोपलक्षितधर्मावच्छिन्नश्च घटादिपद-
वाच्यः इत्येवं सामान्यतः शक्तिग्रहानन्तरम् अमादिसमभिव्याहारज्ञाने कर्मत्वादौ
कारकत्वव्याप्यत्वादौ च अवगते मनसा ‘कर्मत्वादिशक्तिमान् एकत्वादिमांश्च
घटादिपदवाच्यः’ इति विशिष्य शक्तिज्ञाने स्वरूपतस्तत्तद्विशेषपुस्कारेण बोधः ।
दध्यादिपदान्तु तृतीयाद्यसमभिव्याहारज्ञानेनैव तथा शक्तिं गृहीत्वा तथा बोधः ।
शब्दशक्तिस्वभावात् । एवम् अजर्घा अवेत् इत्यादौ तिङ्ममभिव्याहारं विनैव
कालकारकसंख्यानां बोधात् धातोरेव तेषु शक्तिः । तस्मात् सुभां तिङ्मां च
द्योतकत्वमेवेति सिद्धान्त इति दिक् ।

अनेनेति* । अनभिहिताधिकारेणेत्यर्थः । सूत्रजबोधविषयप्रधान-
विषयेणेति* । सूत्रजबोधे यत्किञ्चिद्विष्टप्रकारतानिरूपितविशेष्यतया भास-
मानो योऽर्थः स चेत्पदान्तरेणोक्तस्तदा तस्मिन्नर्थे पदान्तरं शास्त्रेण न

ऽप्युक्तार्थानामिति न्यायो “अधिपरी” इति सूत्रे भाष्ये दृश्यते । तत्र हि अ-
भ्यागच्छतीत्यादावागच्छतीत्यतोऽनधिकार्थयोरधिपर्योः प्रयोगस्योक्तार्था-
नामिति न्यायेनाभावमाशङ्क्य ‘अपूर्वौ द्वौ’ इत्यादावुक्तार्थानां प्रयोगदर्शनेन
समाधानं कृतम् । तत्र हि द्विशब्दापूपशब्दयोर्वाचकयोः, प्रकृतिप्रत्यययो-
र्वाचकद्योतकयोर्द्वाविस्त्र तयोर्वाचकानुवादकयोश्च समुच्चयः । अत एव
द्विदशा इत्यादौ समासेन सुजर्थस्योक्तत्वान्न सुजिति भाष्ये उक्तम् । तत्र हि
समासः सुचेत्युभयमपि द्योतकम् । सुजर्थश्च जन्मेति तत्रैव वक्ष्यते । तथा तद्धि-
तद्विर्वचनयोर्द्योतकयोस्तद्धितेनोक्तत्वाद्दीप्तायां न द्विर्वचनं मापश इत्यादा-
विति “सर्वस्य द्वे” इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् । एवं च धातोरपि क्रिया-
त्वक्रियाकालकारकसंख्यारूपं पञ्चकमर्थः । अत एव तद्विषयेऽपि द्वै-
कयोरित्यादेर्भावकर्मणोरित्यादेश्च नियमत्वं भाष्यसमतं सङ्गच्छते ।
अत एव दधि अजर्घा अवेत् इत्यादौ प्रातिपदिकधातुभ्यामेव सर्वबोधः ।
अत एव “भावकर्मणोः” इत्यस्य तद्वृत्ताद्धातोरित्यर्थः “स्तुक्रमोः” इति
सूत्रे भाष्ये दर्शितः । द्योत्यत्वादेवोभयत्रापि प्रत्ययार्थस्य विशेषण-
त्वमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ।

प्रथमैवेति । सा हि प्रातिपदिकार्थस्य तेनोक्तत्वेऽपि भवत्ये-
वेति भावः । अत एव “अभिहिते प्रथमा” इति वार्त्तिकं सङ्गच्छते । तिङ्-
कृदित्यादिपरिगणनादेव* ‘कटं भीष्मं कुरु’ इत्यादौ विशेष्यादुत्पन्नद्वितीयया
गतार्थत्वेऽपि विशेषणात् सा । यदा तु प्रक्रियादशायां कटोऽपि कर्म भीष्मा-
दयोऽपि इत्याश्रयणात् *कटत्वविशिष्टकटनिष्ठकर्मत्वोक्तावपि भीष्मत्वा-
दिगुणविशिष्टनिष्ठस्य तस्य बोधार्थं ततोऽपि सा । *बोधस्तु परस्परं

साधुत्वेन बोध्यते इति हि तस्यार्थः ।

‘तिङ्कृत्तद्धितसमासैः’ इत्युदाहरणमात्रं न तु परिगणनामिति
प्राचीनोक्तं खण्डयन्नाह- *परिगणनादेवेति* । कटत्वविशिष्टकटनिष्ठकर्मत्वो-
क्तावपीति* । कटपदोत्तरद्वितीययेति भावः । प्रक्रियादशायां तत्तत्पदोत्तर-
द्वितीयार्थकर्मत्वस्य स्वप्रकृत्यर्थमात्रान्वितस्यैव सत्त्वात् ।

परिनिष्ठितेन तर्हि बोधः किमाकारक इत्याह- *बोधस्त्वित्यादि ।
भीष्माभिन्नकटकर्मकं करणमित्याकारक इति भावः । ननु कटत्वविशिष्टकट-
निष्ठकर्मत्वस्योक्तावपि भीष्मत्वगुणविशिष्टनिष्ठं तदनुकमेवेति प्रक्रियादशायां
यथा, तथा परिनिष्ठितेऽपीति प्रक्रियादशायामित्युक्तिर्न युज्यते इति चेन्न ।
परिनिष्ठिते कटांशे भीष्मस्य विशेषणतया भीष्माभिन्नकटस्यैव कटपदोत्तर-

तयोर्विशेष्यविशेषणभावेनैव । कारकाणां भावनाऽन्वयव्युत्पत्तिः सा-
क्षात्स्वाश्रयद्वारा वाऽन्वयविषयेति, तदा परिगणनं भाष्ये प्रत्याख्यातम् ।
तिङ्कृतौ स्वप्रकृत्यर्थं प्रति यस्य कर्मता तस्य *सर्वस्यापि कर्मतामाहतु-
रिति कृतः कटः सुन्दर इत्यादौ न कापि द्वितीयेति दिक् ।

द्वितीयार्थकर्मत्वान्वयाङ्गीभूतत्वविशिष्टनिष्ठकर्मत्वस्य स्वातन्त्र्येणाभानात् ।
भीष्माभिन्नकटनिष्ठकर्मत्वस्य भानमित्येतावगैव भीष्मनिष्ठस्यापि तस्य भानं
तयोरभिन्नत्वादिति पर्यवसितोऽर्थः । यतः प्रकारत्वांशे साक्षात् परस्परया वा
विशेषणीभूता यावन्तो धर्मास्तावन्तः सर्वे तन्निष्ठप्रकारताया अवच्छेदकाः,
एवं विशेष्यांशे यावन्तः साक्षात् परस्परया वा विशेषणीभूतास्तावन्तः
सर्वे तन्निष्ठविशेष्यताया अवच्छेदका इति नियमः । अत एव 'चैत्रस्य
कम्बलमानय' इतिवाक्यजन्यबोधस्य चैत्रस्वामिकैककम्बलविषयकत्वे एव प्र-
मात्वं न तु अपरस्वामिकैककम्बलविषयकस्य, चैत्रीयस्वत्वविशिष्टकम्बलस्यैव
कर्मत्वेऽन्वयात् इति चैत्रीयस्वत्वविशिष्टकम्बलत्वावच्छिन्नस्यैवानयनमिति ।
तथा चैत्रीयैककम्बलसत्त्वे चैत्रभित्रीयैककम्बलसत्त्वे च 'चैत्रस्य कम्बलौ' इति
न प्रयोगः । चैत्रस्वत्वविशिष्टकम्बलत्वावच्छेदनं द्वित्वस्य बाधादिति ।

केचित्त्वत्रेत्थमाहुः—भीष्मत्वविशिष्टमपि कर्म, कटत्वविशिष्टमपि
कर्म । तत्र रङ्गं रजतं जानातीत्यादौ ज्ञाने रक्षादिविशेष्यकत्वावच्छिन्ने रजता-
दिप्रकारकत्वस्यैव कृत्रादिधात्वर्थे कटकर्मकत्वावच्छिन्ने भीष्मकर्मकत्वस्या-
न्वयः । विशिष्टवेशिष्टयावगाहिबोधमर्यादया च योग्यत्वाद् भीष्मकटाद्योरप्य-
भेदो भासते इति सर्वमनवद्यम् ।

*सर्वस्यापि कर्मतामाहतुरिति । नचैवम अजा ग्रामं नीयते इत्यादौ
ग्रामनिष्ठकर्मत्वस्याप्युक्तौ ततोऽपि द्वितीया न स्यादिति वाच्यम् । 'स्वप्रकृत्यर्थं
प्रति यस्य कर्मता' इत्युक्त्वा 'व्यापारप्रयोज्यैकफलाश्रयत्वप्रयुक्तां सर्वस्य कर्म-
तामाहतुः' इत्यर्थस्य लाभेन संयोगाद्यनुकूलव्यापारानुकूलव्यापारार्थकनीप्र-
भृतिधातुयोगे संयोगाद्यनुकूलव्यापाररूपफलाश्रयत्वप्रयुक्ताजादिनिष्ठकर्मत्व-
स्याभिधानेऽपि संयोगाश्रयत्वप्रयुक्तग्रामादिनिष्ठकर्मत्वस्यानभिधानेन तद्वाचक-
ग्रामादिपदात् द्वितीयायाः सुलभत्वात् । कोचितु समानाधिकरणमेव कर्म-
त्वमुच्यते न तु व्यधिकरणमिति न पूर्वोक्तस्थले दोष इति वदन्ति । तन्न । शिवः
केशवश्च भज्येते इत्यादौ शिवकेशवयोः कर्मत्वस्यानभिधानापत्तेः । तस्मात्
पूर्वोक्तमेव शोभनम् । नन्वेवमपि काष्ठं भस्म क्रियते इत्यादौ प्रकृतिभूतकाष्ठादेः
नाशरूपफलाश्रयत्वात्, विकृतिभूतभस्मादेश्च उत्पत्तिरूपफलाश्रयत्वात् एक-
फलाश्रयत्वप्रयुक्तकर्मत्वाभावेन उभयनिष्ठकर्मत्वानभिधाने अन्यतरत्र द्वितीयाप-
त्तिरिति चेन्न । प्रकृतिविकृतयोः भेदविशिष्टाभेदरूपतादात्म्यस्याङ्गीकारेण अ-
भिन्नफलाश्रयत्वस्यापि सत्त्वेनादोषात् इति दिक् ।

शत्य इति । *अत्र वदन्ति—कर्मादिपद इवात्रापि न विभक्ति-
वाच्यतावच्छेदकरूपेण कर्मादिर्भानम् । अत औपगवश्चित्रगुरिति युक्तं
प्रत्युदाहर्तुम् । तत्र च सम्बन्धस्य येन रूपेण षष्ठ्या भानं, तेनैव तद्धितान्ता-
दिभिस्समुदायशक्त्या । एतदधिकाराभावे च घट इत्यादौ षष्ठ्यवाच्यत्वेन
दृष्टानामेव प्रातिपदिकार्थपदेन ग्रहणं स्यात्, तद्भिन्नस्यैव च षष्ठीविधायके
शेषपदेन ग्रहणं स्यादित्यत्रत्यसम्बन्धस्य षष्ठीवाच्यत्वेन दृष्टतया प्राप्तां षष्ठीं
वारयितुं सः ।

*वस्तुतस्तु “कटं भीष्मम्” इति परिगणनफलमुक्त्वा तत्प्रत्याख्या-
नाय ‘अशेषत्वान्नात्र शेषलक्षणा षष्ठीः*, अन्यानभिहितकर्मादीनामभावाच्च
नान्या’ इत्याशङ्क्य “न केवला प्रकृतिः इति समयः कृतः न चान्यो-
त्पद्यमाना एतमभिसंबन्धमुत्सहते वक्तुमिति कृत्वा द्वितीया” इत्युक्तं भाष्ये ।

*‘अत्र वदन्ति’ इत्यादेः ‘वारयितुं सः’ इत्यन्तस्यायमाशयः—यथा विभे-
क्तिवाच्यतावच्छेदकोद्भूतशक्तिपुरस्कारेण कर्मादिभासकतासामर्थ्यं कर्मादिप-
दानां नास्ति, एवं तद्धितादेरपीति शत्यादिपदाद् उक्तविलक्षणरूपपुरस्कारेण
बोधकताशीलानां द्वितीयादीनामापत्तिर्न सम्भवति । अतश्चित्रगुशब्दादौपगव-
शब्दाच्च चित्रगुणीनिष्ठस्वत्वनिरूपकत्वस्य, उपगुनिरूपितापत्यत्वान्वयिनिरूपि-
तत्वस्य च बोधिका षष्ठी नेत्यनभिहिताधिकारफलम् । तथा हि—तत्र चित्र-
गव्युपगुनिरूपितः सम्बन्धः पदार्थोऽपि तत्पदजन्यबोधे संसर्गतयैव भासते ।
संसर्गतया स्वार्थबोधकषष्ठ्यर्थे तद्धितबहुव्रीह्योर्विधानात् । प्रातिपदिकार्थ-
सूत्रे च तत्पदजन्यबोधे प्रकारतया यो भासते स एव प्रातिपदिकार्थशब्देन
गृह्यते । प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रयान्यतरत्वात् । “षष्ठी शेषे” इत्यत्र च शेषपदेनोप-
युक्तान्यो गृह्यते । एवं च प्रथमादिप्रवृत्तावुपयुक्तो यः प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रया-
दिस्तदितरोऽत्र शेषपदार्थः । तत्त्वं च चित्रगव्युपगुसम्बन्धादेः स्पष्टमेवेति तदर्थं
षष्ठी दुर्वारैव । एतदधिकारे तु प्रकृत्यैव तदर्थस्योक्तत्वाच्च तत्रार्थे षष्ठीति ।

नन्वेवं कटादिपदादेव कटत्वप्रतियोगिकसमवायरूपेऽर्थे षष्ठी आपा-
द्यतां, तस्यापि प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रयव्यतिरिक्तत्वात्, किं दूरानुधावनेन ?, इति
चेन्न । समवायस्य षष्ठ्यर्थत्वाभावादेव तत्र षष्ठ्यप्राप्तेः । षष्ठीवाच्यः बोधीय-
संसर्गतयैव भासते इति षष्ठ्यवाच्यत्वेन दृष्टानामित्यनेन बोधीयसंसर्गतया
ऽभासमानानामिति सूचितम् । एतदपि प्रत्युदाहरणं खण्डयितुं कोऽप्यन्यः
प्रत्यवतिष्ठते—*वस्तुतस्त्वित्यादिना ।

अशेषत्वान्नात्र शेषलक्षणा षष्ठीति । कर्मत्वं हि द्वितीयायामुपयु-
ज्यते इति न तस्योपयुक्तान्यत्वमिति न षष्ठी । शेषत्वाभावात् । नापि द्वितीया ।
कर्मसत्त्वेऽपि तस्यानभिहितत्वाभावात् । नापि तृतीयादिः । कर्त्राद्यभावात् । अ-

तेनौपगवादावपि षष्ठी वारितैवेति तयोरप्यप्रत्युदाहरणत्वमेव । *तदुक्तम्
“अनेकम्” इत्यत्र भाष्येऽपि “चित्रगुरित्यत्र षष्ठ्यर्थस्य नियमेन भानात्
षष्ठी प्राप्नोति” इत्याशङ्क्य “अभिहितः सोऽर्थोऽन्तर्भूतः प्रातिपदिकार्थः
संपन्न इति प्रथमा” इत्युक्तम् । अनेनाशेषत्वरूपं षष्ठ्यप्रामितीजमुक्तम् ।
अन्तर्भूत इत्यनेन चित्रगवादौ सम्बन्धस्यैव प्रवृत्तिनिमित्तत्वेन प्राति-
पदिकार्थपदेन ग्रहणयोग्यतोक्तेति बोध्यम् ।

*परे तु शत्य इत्यादौ कारकान्वययोग्यतावच्छेदकसाध्यत्वेन
न क्रयादेर्भानम् । अत एव न तत्रेतरकारकाणामन्वयः । इदञ्च “कर्तृ-
कर्मणोः” इत्यत्र निरूपयिष्यते । एवं “प्राप्तानन्दः” इत्यादौ यत्कर्मकप्रा-
प्तिकर्त्ताऽऽनन्द इति विग्रहतो बोधे समासतश्चानन्दकर्तृकप्राप्तिकर्मेति बोधे
विशेष्यविशेषणभावव्यत्यासेनैकार्थ्यभावः कल्प्यः स्याद्, वृत्तिविग्रहयोः
समानार्थत्वमङ्गश्च* । किं च तथा सति बहुव्रीह्युपजीव्यस्यैकधर्मिवोधक-

न्यानभिहितकर्माद्यभावश्च कचिदन्यानभिहितत्वरूपविशेषणाभावप्रयुक्तः, कचि-
ञ्च विशेष्याभावप्रयुक्त इति । नापि प्रथमा । तिङ्गुसामानाधिकरण्यविरहात् ।
एवं च “अपदं न प्रयुज्यते” इति कस्यां चिद्विभक्तौ प्रयोक्तव्यायाम् अनन्वितार्थ-
कविभक्त्यपेक्षया अनुवादकविभक्तिरेव कटादिपदोत्तरामादिवोध्यसम्बन्ध-
बोधिका प्रयोक्तुं युक्तेति भाष्याशयः । अनेन च संसर्गतयाऽपि भासमानं कर्म-
त्वादि उपयुक्तत्वेनैव गृहीतमिति प्रथमायामपि संसर्गतया भासमानमपि
स्वामित्वादि उपयुज्यते एवेत्यत्रापि शेषाभावादेव न षष्ठी ।

ननु द्वितीयादौ संसर्गतया भासमानकर्मत्वाद्यप्युपयुज्यताम्, प्राति-
पदिकार्थसूत्रे तु प्रवृत्तिनिमित्ततदाश्रययोरेव प्रातिपदिकार्थत्वेन तत्र संसर्ग-
तया भासमानस्वामित्वादिपदार्थस्योपयुक्तत्वे मानाभाव इत्याशङ्क्य औपगव-
पदात् चित्रगुपदाच्च स सम्बन्धः प्रकारतयैव भासते इत्यर्थे प्रमाणमाह-
तदुक्तमित्यादिना । अत एव “कृत्तद्धितसमासेभ्यः सम्बन्धाभिधानं
भावप्रत्ययेन” इति सिद्धान्तव्याकोपो न । अन्यथा तस्य संसर्गतया भाने
प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारत्वस्यैवाभावेन तस्य भावार्थकप्रत्ययार्थत्वं दुर्लभमेव
स्यात् इति भावः ।

इदानीं चैवं रीत्या शत्य इत्यादौ द्वितीयामात्रस्य वारणेऽपि
शत्य इत्यादौ तद्धितार्थक्रयादौ काश्यामित्यादिकारकान्तरान्वयो दुर्वार
एव स्यादिति सर्वे संग्रहीतुं स्वमतानुसारेणाह—*परे त्वित्यादिना* ।

वृत्तिविग्रहयोः समानार्थत्वमङ्गश्चेति । वृत्त्यारम्भकाणि यानि पदानि
यादृशार्थानि तादृशार्थान्येव विग्रहे स्थितानि तानीत्यर्थः । विग्रहश्चात्र समा-

त्वरूपसामानाधिकरण्यस्य हानिः । किं चैवं प्राप्ता भार्या यं स प्राप्त-
भार्य इत्यादौ पुंवत्वानापत्तिः । पूर्वोत्तरपदयोरैकविशेष्यकप्रतीतिजन-
कत्वरूपवक्ष्यमाणसामानाधिकरण्याभावात् । तस्मान् “*कालाः परिमा-
णिना” इत्यादिसूत्रभाष्योक्तस्य वृत्तिविग्रहयोः समानार्थत्वस्य निर्वाहार्थं
वृत्तिविग्रहयोः *प्राप्तिकर्त्रानन्दकर्मत्वेव बोधः । विशेष्ये तन्निरूपकत्वबाधेन
तु विशेषणभूतप्राप्तौ तत्पर्यवसानं ‘स्वर्गा ध्वस्त’ इतिवत् । शाब्दबोधस्तु
विशिष्टे तदारोपेणोपपाद्यः ।

एवञ्चात्र शब्दात्कर्मादेः क्रियाजनकत्वेन विभक्तिवाच्यतावच्छे-
दकोद्भूतशक्तिमत्त्वेन च न भ्रान्त्यु, अतो न विभक्तिप्रसक्तिः । अत एव
“गतिकारकोपपदात्” इति सूत्रे ‘गतिकारकोपपदादिति किमर्थं परमं कारकं
परमकारकम्’ इति प्रतीकध्रुवादाय “यथा संपदानादयः शब्दा न कारकरूपतां
प्रतिपादयन्ति, तथा कारकशब्दोऽपीति । कृन्ता हि क्रियायोग्यताविष्ट-

सारम्भकपदानामसमासावस्थायां यादृशानि रूपाणि तादृशरूपकाणां तेषां प्रदर्श-
कं वाक्यम् । विग्रहार्थानुसारेणैव च वृत्त्यर्थः कल्प्यते । एवं च प्राप्तस्यानन्दस्याय-
मित्येवात्र लौकिको विग्रहः । प्राप्तानन्द इति च वृत्तिः । तत्र च यादृशार्थकं विग्रहे
पदं तादृशार्थकमेव वृत्तावपीति उभयोः समानार्थत्वम् । समुदायेनान्यपदार्थो-
ऽधिकोऽपि भासते-इत्यन्यत् । ‘पाचक इत्यस्य पचतीत्यर्थ’ इत्यत्रापि पचती-
त्यस्य वृत्त्यर्थबोधकत्वविवक्षायाम् आश्रयप्रधानार्थकत्वमेवेति न वृत्तिविग्रहयोः
समानार्थत्वहानिः । एवं च प्राचीनमते प्राप्तिकर्त्रभिन्नानन्द इति विग्रहार्थः,
आनन्दकर्तृकप्राप्तिश्च वृत्त्यर्थ इति समानार्थत्वमङ्गः स्पष्ट एव । नव्यमते तु प्राप्ति-
कर्त्रभिन्नानन्द इति विग्रहार्थः, वृत्त्यर्थश्चेति न तद्भङ्गः । विशिष्टशक्त्या कर्मस्वरूप-
स्याधिकस्य भानेऽपि न क्षतिरित्युभयोरपि तुल्यमेव । प्राप्तिकर्त्रभिन्नानन्दनिरूपि-
तकर्मत्वं यत्पदार्थं पुरुषे बाधितमिति “सविशेषणे हि विधिनिषेधौ सति विशे-
ष्ये बाधे विशेषणमुपसंक्रामतः” इति न्यायेनानन्दविशेषणप्राप्तिनिरूपितं तदत्र
विश्रान्त्यति, तदाह-“प्राप्तिकर्त्रानन्दकर्मत्यादिना । क्वचित्पुस्तकेऽत्र ‘प्राप्तिकर्ता-
ऽऽनन्दकर्म इत्येव बोधः’ इति पाठः, स चात्यशुद्धत्वादुपेक्ष्यः ।

अत्र प्रमाणमाह *कालाः परिमाणिनेति । तत्र हि “किंप्रधानोऽयं
समासः” इति प्रश्नस्य “उत्तरपदार्थप्रधानः” इत्युत्तरे ‘राज्ञः पुरुषः राजपुरुषः
इत्यादौ विग्रहे उत्तरपदादुत्तरं श्रूयमाणा विभक्तिः यथा समासादपि श्रूयते तथा
ऽत्रापि मासो जातस्येति विग्रहे जातपदादुत्तरं श्रूयमाणा षष्ठीविभक्तिः
मासजात इति समासादपि श्रूयेत’ इत्याशङ्क्य “अभिहितः सोऽर्थोऽन्तर्भूतः प्रा-
तिपदिकार्थः इति षष्ठी न भवति” इत्युक्तम् । अत्र भाष्ये किंप्रधानोऽयं स-

द्रव्यवाचिनो न तूद्भूतां कारकशक्तिं प्रतिपादयन्ति” इति कैयटेनोक्तम् ।
अत एव तस्य कर्मत्वस्य न क्रियान्वयनियमः । अन्यथा कारकशक्तेः
क्रियाविशेषणत्वनियमेन कर्मादिप्राधान्यानापत्तिः । एवं कर्मादिपदैरिव
पक्षादिपदैरपि न विभक्तिप्रयोजकरूपेण कर्मादीनां भानम् ।

“तिङ्कृत्तद्धितसमासैरभिधाने” इत्यस्यायमर्थः । यत्तैरभिधाने
तत्तच्छक्त्यावेशेन न भानमिति विभक्त्यप्रसक्तिः । अत्रैव “अनभिहिते” इति
तात्पर्यग्राहकम् । ध्वनितश्चेदं “सुप आत्मन” इति सूत्रे भाष्ये । तत्र हि इष्टः
पुत्र इष्यते पुत्र इत्यर्थे क्यचमाशङ्क्य “स्वशब्देनोक्तत्वान्न” इति समाहितम् ।
इष्टशब्दसामानाधिकरण्यात्पुत्रार्थे कर्मत्वावगतावपि पुत्र इति सुव्रन्तं
न कर्मवाचीति न ततः क्यजिति तद्भावः । स्वं कर्मत्वं तद्वाचकशब्देन
पुत्रगतं कर्मत्वमुक्तं, न तु पुत्रशब्दस्य तत्र वृत्तिरित्यक्षरार्थः । “सुप
आत्मन” इति सूत्रस्य कर्मत्वविशिष्टबोधकसुव्रन्तादित्यर्थ इति तदाशयः ।
वस्तुतः कर्मत्वविशिष्टो योऽर्थस्तद्बोधकादित्यर्थे ‘इह भवन्त’ इत्यादिना
समाध्यन्तरमुक्तम् । वाक्ये फलं विशेष्यं, वृत्तौ व्यापार इति समाना-
र्थत्वाभावात्तत्रार्थे वृत्तिर्नेतीत्याहुः ।

प्राचीनानुसारेणोक्तस्य प्रायेणेत्यस्य फलप्राह—कचिदिति ।
परे त्वत्र तुमुनः साधुत्वायेष्यते इत्यध्याहार आवश्यकः । अन्यथा क्रि-

मासः इत्यत्र समासपदं समासविग्रहोभयपरमिति प्रश्नोत्तरयोरुभयोरपि-
विग्रहसमासोभयपरत्वम् ।

समासमात्रपरत्वे विग्रहस्य पूर्वपदार्थप्रधानत्वेऽपि समासस्य उत्त-
रपदार्थप्रधानत्वेन विग्रहवाक्यीयविशेषणवाचकाच्छ्रूयमाणविभक्तेः राजपुरुष
इत्यादौ कचिदपि समासाददर्शनेन तत्र षष्ठ्यापादनमसङ्गतं स्यात् । वृत्ति-
विग्रहयोः समानार्थत्वनियमानुरोधेन उभयोरपि उत्तरपदार्थप्रधानत्वे तु मा-
सो जातस्येति विग्रहे, मासजात इति समासे च जातपदार्थस्यैव प्राधान्येन
विग्रहे विशेष्यवाचकजातपदोत्तरं तत्स्थितिबत् मासजात इति समासो-
त्तरमपि तच्छ्रवणसम्भवः । विग्रहे विशेष्यवाचकपदोत्तरं श्रूयमाणवि-
भक्त्या विशेषणसम्बन्धप्रतीतिवत् समासोत्तरविभक्त्याऽपि विशेषणसम्बन्ध-
प्रतीतिसंभवात् । न च विग्रहेऽपि जातस्य प्रधानत्वे तस्मात् षष्ठी नोत्पद्येत,
विशेषणादेव षष्ठीविधानादिति वाच्यम् । वाक्यस्य वृत्त्यर्थबोधकत्वविवक्षायां
जातस्य प्राधान्येऽपि परिच्छेद्यपरिच्छेदकसमभिव्याहारे परिच्छेद्यस्यैव वि-
शेषणत्वेन तस्मादेव षष्ठ्युत्पत्तेः । वृत्त्यर्थबोधकत्वविवक्षायां तद्व्यत्यासे-

यार्थक्रियोपपदत्वाभावाच्छकादियोगाभावाच्च स दुर्लभः स्यात् । अध्याहारे तु इच्छार्थेषु तुमुनिति सुलभः । विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य छेतुमिष्यते इति यत् तदसांप्रतम्-अन्याय्यमित्यर्थः । एवञ्चाख्याह-
ततिङाऽभिधानान्न द्वितीया । तादृशेच्छाया अन्याय्यत्वञ्च तद्विषयस्यान्या-
य्यत्वेन । एवम् 'अमुं नारद इत्यबोधि सः' इत्यादौ 'नारद इति'
इति श्रीकृष्णीयज्ञानाकारानुकरणम् । नारद इत्येतच्छब्दाभिलष्यमानाकारो
बोध इत्यर्थ इति प्रथमान्तस्याप्रातिपदिकत्वान्न तत्र द्वितीया* । अत एव
'अधिहरि' इत्यादौ समासः । तद्वचनसामर्थ्येन ह्यस्य परिगणनत्वकल्पनैव
युक्ता । अत एव अत्र आँ अप इत्यादौ सप्तमी । *किं च निपाते-

ऽपि पूर्वमन्तरङ्गत्वाज्जातकार्यस्य गङ्गायां घोषः इत्यादौ टावादिवदनिवृत्तेः ।
अत एव हास्तिक इत्यादिविवरणभूतस्य हस्तिना चरतीत्यादेः आश्रया-
र्थप्रधानत्वमेव । अत एव तस्माच्छक्तिग्रहोऽप्युपपद्यते । अन्यथा भिन्नार्थ-
त्वात्स न स्यात् । तस्मात् वृत्तिविग्रहयोः समानार्थत्वात्षष्ठी प्राप्नोतीत्या-
शङ्कोपपद्यते । समासेनैव माससम्बन्धस्य प्रत्यायनात् प्रातिपदिकार्थत्वेन
शेषत्वाभावात् षष्ठी नेति समाहितमित्यन्यत् । स्पष्टं चेदं "कालाः परिमाणिना"
इति सूत्रे शेखरे इत्यधिकं तत्रैव द्रष्टव्यम् ।

नन्वेवं 'वृत्तिविग्रहयोः समानार्थत्वम्' इत्यस्यार्थस्य कल्पने "इष्यते
पुत्र इत्यर्थे 'पुत्रीयति' इति न प्रयोगः समानार्थत्वाभावात्" इति भाष्यवि-
रोधः । पुत्रमात्ररूपविग्रहतस्तद्रूपवृत्त्यारम्भकपदस्य विभिन्नार्थकत्वाभावादिति
चेन्न । "धातोः कर्मणः" इत्यतोऽनुवर्तमानेच्छापदार्थस्य सुबन्तार्थनिरूपितवि-
शेष्यत्वे एव क्यच् इत्यस्य सिद्धान्तेऽपि भवद्भिरपि केनापि प्रमाणान्तरेणै-
व स्वीकरणीयतया तत्प्रमाणस्येदानीमपि जागरूकत्वात् । नोचेत् पुत्रमि-
च्छतीत्यर्थे एव क्यञ् भवति, इष्यते पुत्र इत्यर्थे न भवतीत्यस्य 'वृत्तिवि-
ग्रहयोः' इति बलेन दुर्वचत्वात् । इष्यते पुत्र इत्येव चेद्विग्रहः स्यात्तदा तद-
नुरोधेन पुत्रीयतीत्यस्यापि तादृशार्थ एव कल्प्यः स्यात्, तत्कथं नेति त्वमेव
प्रतिपादयेत्यास्तां तावत् ।

अप्रातिपदिकत्वान्न तत्र द्वितीयेति । केचित्तु-नारदोऽत्र
इतिपदार्थः, तस्य तदर्थत्वे एव च नारदपदं तात्पर्यग्राहकम् । इतिपदाच्च द्विती-
या जातैव । अव्ययत्वाच्च सा लुप्तेत्याहुः । *किञ्च निपातेनेत्यादि* । इदं च
दुर्वलम् । उद्भूततत्तच्छक्तिमत्त्वपुरस्कारेण तेषां समभिव्याहारे नास्ति भान-
म् । अत्रैवानभिहिताधिकारस्य तात्पर्यग्राहकताया उक्तत्वात् ।

'ग्रामं न गच्छति' इत्यादौ ग्रामस्योक्तेच्छोद्देश्यत्वाभावेन कथं
'कर्तुरीप्सित' इति सूत्रेण ग्रामस्य कर्मत्वमिति जिज्ञासायामुच्यते-पदा-

भाभिधानेऽपि प्रातिपदिकादुद्भूततत्तच्छक्तिमत्त्वेनैव भानमिति तत्र वि-
भक्तिः सुलभा । शब्दशक्तिस्वभावादस्यैवार्थस्य द्योतकोऽधिर्निपातः । अत
एव परिगणनप्रत्याख्यानेऽपि न दोष इत्याहुः ॥

तथायुक्तम् ॥ *तत्त्वञ्च समभिव्याहृतधात्वर्थप्रधानव्यापार-
प्रयोज्यतद्धात्वर्थफलाश्रयत्वरूपम्* । पराधीनतया विषं भुञ्जानेऽपि
भुजिक्रियाफलाश्रयत्वेनोद्देश्यत्वात्पूर्वसूत्रेणैव सिद्धम् । तदुक्तं भाष्ये

र्थो हि द्विविधः । बाह्यो बौद्धश्च । प्रकृते च ग्रामस्य बाह्यतादृशेच्छोद्देश्यत्वा-
भावेऽपि बौद्धव्यापारप्रयोज्यफलवत्त्वप्रकारकेच्छोद्देश्यत्वमस्त्येवेति तदादाय
कर्मसंज्ञा । बौद्ध एवात्र व्यापारादिरित्यत्रैव नञ् तात्पर्यं ग्राहयति इति कैश्चित् ।

केचित्तु 'मातुः स्मरति' इत्यादौ मात्रादीनां तादृशेच्छोद्देश्यत्वेऽपि कर्म-
त्वाभावदर्शनाद् 'विवक्षातः कारकाणि भवन्ति' इत्यस्यावश्यं वक्तव्यतया कर्तृ-
वृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वप्रकारकेच्छोद्देश्यत्वनिष्ठविशेष्यतानिरूपितनिष्ठ-
त्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताश्रयत्वेन वक्त्रा विवक्षितो यः स कर्म । उद्देश्यत्व-
निष्ठविशेष्यतानिरूपितनिष्ठत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता च विवक्षीया ग्राह्या ।
प्रकृते च व्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वप्रकारकेच्छीयग्रामनिष्ठोद्देश्यत्वाभावविशे-
ष्यकविवक्षानिरूपिताऽभावनिष्ठविशेष्यतानिरूपितप्रकारतासमानाधिकरणविशे-
ष्यता उद्देश्यत्वनिष्ठा, तन्निरूपिता तादृशी प्रकारताऽस्ति ग्रामे इत्यदोषः । एवं
'ग्रामं गच्छति' इत्यादावपि व्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वप्रकारकेच्छीयग्रामनि-
ष्ठोद्देश्यत्वविषयिका विवक्षाऽस्त्येवेत्यदोष इति ।

केचित्तु 'कर्मणि बुबोधयिषिते द्वितीया' इत्यादिः "कर्मणि द्वितीया" इत्या-
देरर्थः । कर्म च व्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वेनेच्छोद्देश्यरूपम् । प्रातिपदिकं चेदृश-
कर्मबोधकमेव यद्भवति तस्मादेव द्वितीयेति तु न नियमः । इत्थं च 'चैत्रो ग्रामं न
गच्छति' इत्यादौ ग्रामे विभक्त्यर्थभूतचैत्रवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वप्रकारके-
च्छोद्देश्यरूपकर्मणोऽभेदस्याऽप्रसिद्धत्वेऽपि तदप्रसिद्धिप्रयुक्तैव तादृशोद्देश्या-
भिन्नग्रामवृत्तिसंयोगजनकव्यापारस्याप्यप्रसिद्धिरिति तदभावः सुष्ठु प्रतीयते ।
अप्रसिद्धप्रतियोगिताकाभावस्य वैयाकरणैः स्वीकारात् । 'चैत्रो ग्रामं गच्छ-
ति' इत्यादौ चैत्रादिपदानु न द्वितीया । द्वितीयार्थस्य प्रकृतधात्वर्थप्रधानी-
भूतव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वेनेच्छोद्देश्यरूपकर्मणोऽभेदस्य चैत्रादौ बाधित-
त्वादित्यलमतिपल्लवितेनेति शम् ।

तथायुक्तं चानीप्सितम् । *तत्त्वं चेति । तथायुक्तत्वं चेत्यर्थः । *फला-
श्रयत्वरूपमिति* । कारकमात्रस्य विवक्षाधीनत्वात् तादृशफलाश्रयत्वेन वक्त्रा
विवक्षितत्वरूपमित्यर्थः । 'कर्तुरीप्सित' इत्यत्रेप्सिततमत्वं च तादृशफलाश्रयत्व-
प्रकारकेच्छोद्देश्यत्वेन विवक्षितत्वरूपमिति विवेकः । अनीप्सितेति नञ्
पूर्वसूत्रे सन्काभ्यां यदुच्यते इच्छोद्देश्यत्वं तदिह व्यवच्छिद्यते, अन्यत्सर्वं पूर्व-

“आतश्च विषमीप्सितं यत्तद्भक्षयति” इति । *तस्मात् ‘चोरान् पश्यति’ इति द्वेष्योदाहरणम् । विषयेन्द्रियसंबन्धाद् दृश्यमाना अपि ते न दर्शनोद्देश्याः, अपि तु अनिष्टदर्शना एवेति स्पष्टं भाष्यकैयटयोः । एवञ्च तत्र पूर्वेणाप्राप्तौ वचनम् । अनीप्सितम्-अनुद्देश्यम् । तच्च द्वेष्यम् उदासीनञ्च । तृणमिति । यथा स्पृश्यमानस्य गङ्गादेः स्पर्शादिजन्यसंयोगादिफलाधारत्वं तथैव तृणादेरपीति भावः । *अनीप्सितपदाभावे ईप्सितस्य *प्रकर्षहीनस्याप्यनेन

सूत्रवदत्रापि बोध्यम् । तथा च कर्तृवृत्तिप्रकृतधात्वर्थप्रधानव्यापारविशिष्टफलाश्रयत्वेन वक्त्रा विवक्षितोऽर्थः कर्मसंज्ञ इत्यर्थः । वैशिष्ट्यं च स्ववाचकवाच्यत्वं—स्वप्रयोज्यत्वमेतदुभयसम्बन्धेन । एतदुदाहरणं प्राचीनैः ‘अन्नं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते’ इत्यादौ विषाद्युक्तम् । तत्रान्नत्वेनैव विषेऽपीच्छोद्देश्यत्वमस्त्येवेति-पूर्वेणैव सिद्धम् । यत्रापि च भयादिवशेन विषं भुङ्क्ते तत्रापि विषभोजनाद्य-भावरूपादधिकसुखरूपेष्टसाधनत्वप्रकारकग्रहोऽस्त्येव विषभक्षणे इति विषस्य पूर्वेण सिद्धमिति उदाहरणान्तरं वक्तुमुत्सहते—*तस्मादिति । *द्वेष्यमिति* । तस्य चेच्छोद्देश्यीभूताभावप्रतियोगित्वम् । *उदासीनमिति* । तत्त्वं चेच्छोद्देश्यत्वाभाववत्त्वम् । तत्राद्यं ‘चोरान् पश्यति,’ अन्त्यं ‘ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति’ इति बोध्यम् ।

ननु तथायुक्तमित्यस्य सादृश्यार्थकथास्मादेतत्त्वेनेप्सिततमसादृश्ययुक्तमित्यर्थलाभः स्यादेव । ईप्सिततमस्यैव तथायुक्तपदेन ग्रहणे तु सूत्रमेव व्यर्थं स्यात्—इत्यनीप्सितग्रहणं किमर्थमिति शङ्कते—*अनीप्सितपदाभावे इति । *प्रकर्षहीनस्यापीति । अपिना कर्तृसमवेतेच्छानुद्देश्यस्यापीत्यर्थः । ततश्च प्रयोज्यत्वं फले, इच्छायां कर्तृवृत्तित्वं च त्यक्त्वा तथायुक्तपदेन अर्थो बोधितः स्यात् । तथा च कर्तृवृत्तिव्यापारवाचकधातुवाच्यफलाश्रयत्वेन वक्त्रा विवक्षितं कर्मैत्यर्थे ‘अग्नेर्माणवकं वारयति’ इत्यादावग्नेर्माणवकस्य चानेन परत्वात्कर्मसंज्ञाप्राप्तौ तदपवादः स्यात् । ततश्च माणवकादपि पञ्चमी स्यात् । एतेन प्रयोज्यत्वरूपप्रकर्षालाभेऽपि इच्छायां कर्तृवृत्तित्वं लभ्येतैवेति यत्र वारकस्य संयोगप्रकारकाग्न्युद्देश्यकेच्छा नास्ति तत्र सूत्रस्य सार्थक्यादिकं चिन्त्यमित्यपास्तम् । विनिगमनाविरहेणेच्छायां कर्तृवृत्तित्वपरित्यागस्यापि दुर्वारत्वात् ।

नन्वेवमस्यैव नाप्राप्तत्वाद् “वारणार्थानाम्” इत्यपवादः स्यात् । ततश्च “कर्तुरीप्सित” इति सूत्रेण ‘अग्नेर्माणवकं वारयति’ इत्यादौ माणवकस्य परत्वात् कर्मत्वस्य सुपपादतया न दोष इति चेन्न । यत्र वारकस्य माणवकोद्देश्यिका संयोगानुकूलव्यापाराभावप्रकारिकेच्छा नास्ति स्वामिभयेन तु वारयति तत्र “कर्तुरीप्सित” इतिसूत्राप्राप्त्याऽस्य च “वारणार्थानाम्” इत्यनेनानवकाशत्वाद्

स्यात् । *तथायुक्तमिति किम् । “विषेणौदनं भुङ्क्ते” इत्यादौ करणत्वमात्र-
विवक्षायां *विषस्य मा भूत् । * “प्रयागात्काशीं गच्छति” इत्यत्र प्रयागस्य
च मा भूत् । तत्सत्त्वे तु प्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वरूपतत्त्वाभावाच्च दोषः ।
अपादानादिविशेषैरिति । *तत्तद्रूपेणाभासमानमित्यर्थः ।

वाधे ‘अनेर्माणवकाद्वारयति’ इत्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् । ननु ‘न ईप्सितमनीप्सित-
म्’ इति अनीप्सितशब्दस्य नञ्समासनिष्पन्नत्वाद् नञिवयुक्तन्यायेन तद्धि-
ञस्य तत्सदृशस्य तथायुक्तस्येत्यर्थेन इष्टसिद्धौ तथायुक्तग्रहणं किमर्थमि-
त्याशङ्कते—*तथायुक्तमिति किमिति* । तथापि तदभावे कर्तृवृत्तिव्यापार-
प्रयोज्यफलाश्रयः कर्मण्येवार्थः स्यादिति ‘विषेणौदनं भुङ्क्ते’ इत्यादौ विषादेरपि
गलाधःसंयोगरूपतदृशफलाश्रयत्वात्कर्मत्वापत्तिरित्याह—*विषस्य मा भूदि-
ति* । एतेन एतद्ग्रहणाभावेऽपि “वारणार्थानाम्” इत्यस्य अनवकाशत्वम-
भिलषन्नपास्तः । अग्निनिष्ठसंयोगरूपफलस्य कर्तृवृत्तिप्रधानव्यापारप्रयोज्यत्वा-
भावेनाग्न्यादेः कर्मत्वाप्राप्तेः ।

ननु कर्मत्वादिकारकस्य विवक्षाधीनत्वात् कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफ-
लाश्रयत्वेन वक्त्रा विवक्षितस्यैव कर्मसंज्ञेति करणत्वेन विवक्षितस्य विषस्य न
कर्मसंज्ञाप्राप्तिरिति नायं दोष इत्यत आह—*प्रयागात् काशीं गच्छतीति । अत्र
गमनप्रयोज्यविभागरूपफलाश्रयत्वेन काश्याः कर्मत्वापत्तिः । तथायुक्तग्रहणे तु
व्यापारवाचकधातुवाच्यत्वस्यापि फले लाभाद्विभागस्य प्रकृतधात्ववाच्यत्वान्न
दोषः । यदि च “ध्रुवमपाये” इत्यत्र विभागस्यापि गत्यर्थकधात्वर्थताया वक्तव्य-
तया तदुक्तौ फले व्यापारवाचकवाच्यत्वलाभेऽपि च कथं न तत्र कर्मत्वमित्युच्यते
तदा फलतावच्छेदकसम्बन्धेन फलाश्रयत्वाभावाच्च प्रयागादीनां कर्मत्वमिति
बोध्यम् । तथायुक्तग्रहणेन तस्यापि लाभात् । तदभावे तु तत्र लभ्येतेति दोषो
दुरुद्धर एवेत्यास्तां तावत् ।

अकथितं च । “ननु दुहादीनां विभागानुकूलव्यापारानुकूलव्यापाराद्यर्थ-
कत्वेन विभागादिरूपफलाश्रयत्वात् पयआदीनां, तदनुकूलव्यापाररूपफलाश्रय-
त्वाच्च गवादीनां कर्मत्वं सिद्धम् । ‘गौणे कर्मणि दुह्यादेः’ इति त्ववाच्यमेव । ईदृश-
रीत्यां गवादौ प्रधानकर्मत्वस्यैव सत्त्वेन ‘गौर्दुह्यते पयः’ इत्यादेः सिद्धत्वात् ।
एवं चेदं सूत्रं व्यर्थमिति चेन्न । गवादिनिष्ठकर्मत्वस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षायां प्राप्त-
षष्ठीबाधनार्थत्वात् । तेनैतद्बोधितकर्मसंज्ञावदर्थबोधकपदोत्तराद्वितीयातः स-
म्बन्धत्वपुरस्कारेणैव कर्मत्वं बोध्यते” इति प्राचीनोक्तमाक्षिपन् वदति—*त-
त्तद्रूपेणाभासमानमित्यादि । अपादानत्वादिरूपेणेत्यर्थः । कारकाधिकारात् कार-
कत्वस्योद्देश्यतावच्छेदकतया तेन रूपेणाविवक्षितत्वस्य गहीतुमशक्यतया
पूर्वोक्तैरपादानत्वादिविशेषैरविवक्षितमित्यर्थो लभ्यते । “केनाकथितम् । अ-
पादानादिविशेषकथाभिः” इति भाष्योक्तप्रश्नोत्तराभ्याम् अकथितशब्दस्य अ-

अकथितशब्दोऽत्रासंकीर्तितपरो नामधानपर इति भावः । *एवञ्च पूर्वविधिविषयप्रसक्तिपूर्वकं तद्विवक्षायां, सर्वथा पूर्वविधेरप्रसक्तौ चैतत्प्रवृत्तिरिति बोध्यम् । अपादानत्वादिविवक्षायां पञ्चम्याद्येव । केन रूपेण विवक्षेति चेत्-कर्मत्वेनेति गृहाण । कारकत्वव्याप्यसंज्ञानां स्वबोद्ध्यर्थे कर्मत्वादिशक्तिमत्त्वबोधकत्वात् । बोधोऽपि तथैव ।

तत्तच्छास्त्राभावे सर्वत्र षष्ठीप्राप्त्या सर्वासां तदपवादत्वेन तदपवादत्वमात्रेण सम्बन्धार्थकत्वं न युक्तम् । अत एव “कर्मणि द्वितीया” इत्यस्य न

संकीर्तितरूपयोगार्थपरत्वलाभात् । अप्रधानरूपरुद्धर्थपरत्वे तु पाणिना कांस्यपात्र्यां पयो दोग्धीत्यादौ कांस्यपात्र्यादेः अधिकरणत्वादिविवक्षायामपि कर्मत्वमनेन परत्वादापद्येत । दुहादिव्यतिरिक्तधातुयोगे तत्तत्संज्ञानां चारितार्थ्यात् इति भावः । असंकीर्तितत्वं च क्वचिद् प्रसक्तस्य अपादानादेरप्यपादानत्वादिरूपेणाविवक्षितत्वरूपं, क्वचिच्च सर्वथाऽपादानत्वाप्राप्तिरूपमेव । आद्यं ‘गां दोग्धि पयः’ इत्यत्र । द्वितीयं ‘बलि याचते वसुधाम्’ इत्यत्र । अत्रापदानत्वाप्रसक्तेरनुपपदेव “न चात्रापदानत्वप्रसक्तिः” इत्यादिग्रन्थेन वक्ष्यमाणत्वात्, तदाह- *एवं चेति* । तस्माद् व्यापारद्वयार्थकत्वे “कर्तुरीप्सित” इति सूत्रेण सिद्धावपि विभागानुकूलव्यापारमात्रस्य धात्वर्थत्वे फलतावच्छेदकसमवायात्मकसम्बन्धेन विभागरूपफलाश्रयस्य पयसादेः कर्मसंज्ञायाः कर्तुरीप्सितसूत्रेण सिद्धावपि फलतानवच्छेदकावधितात्मकसम्बन्धेन तादृशविभागरूपफलाश्रयस्य गवादेः कर्मसंज्ञार्थमेतत् सूत्रम् । अत एव “अप्रधाने दुहादीनाम्” इत्याद्यपि सङ्गतम् । एवं च यद्यपादानत्वेन गवादेर्विवक्षा तदा पञ्चम्येव, यदा च कर्मत्वेन विवक्षा तदा द्वितीयैव, क्षीरान्वयिसम्बन्धप्रतियोगित्वेन यदि विवक्षा तदा षष्ठ्येव । “स्वान्वययोग्यनामार्थेऽन्वये सम्भवति षष्ठ्यर्थस्य क्रियायामन्वयोऽव्युत्पन्नः” इति क्रियायां सम्बन्धत्वेनान्वयविवक्षायां षष्ठ्यपि न । एवं च ‘एतत्सूत्रं यदि न स्यात् तदा षष्ठी स्यात्’ इति सम्भावनयाऽस्य षष्ठ्यपवादत्वमाश्रित्य सम्बन्धत्वेन कर्मादिबोधकताकल्पने कर्तुरीप्सितसूत्रविहितकर्मसंज्ञावद्वाधकपदोत्तरद्वितीयाया अपि सम्बन्धार्थकतापत्तेः, षष्ठीविधायकस्य कर्मसंज्ञाविधायकस्य च विरोधाभावेन बाध्यबाधकभावाप्रसक्तेश्च प्राचीनोक्तं चिन्त्यम् । कर्मत्वपुरस्कारेण कर्मवाचकताविधायकतया, सम्बन्धत्वपुरस्कारेण कर्मवाचकताविधायकतया च “कर्मणि द्वितीया” इत्यस्य वाक्यभेदापत्तेश्च । एकवाक्येन वैरूप्येण बोधस्याशक्यत्वात् । न चैतद्वैरूप्येण बोधकत्वं भवतोऽप्यावश्यकं, “दिवः कर्म च” “अधिशोऽस्थानां कर्म” “कर्तुरीप्सिततमं कर्म” इत्याद्यनेकसूत्रविहितकर्मसंज्ञकार्थकपदोत्तरद्वितीयाया एकरूपेणाबोधकत्वादिति वाच्यम् । करणाधारादिरूपकर्मणां भेदेऽपि तावत्सु कर्मत्वशक्तैरेक्येन कर्मत्वशक्तिमद्बोधिका द्वितीयेत्यर्थे

वैरूप्यम् । *अत एवैतत्सूत्रशेषे भाष्येऽनेनैव सिद्धे*आद्यसूत्रद्वय*वैयर्थ्य-
माशङ्क्येऽपि सतमात्रस्याप्यनेन संज्ञायां *‘वारणार्थानाम्’*इति सूत्रस्यानव-

वैरूप्याभावात् । प्राचीनानां तु एतद्विहितद्वितीयायास्तादृशशक्तिपुरस्कारेणा-
बोधकत्वाद्वैरूप्यं दुर्वारमेवेति दिक् ।

केचित्तु प्राचीनोक्तं समर्थयन्ति । तथा हि-यदुक्तं ‘यदीदं न स्यात्तदा
षष्ठी प्रवर्तेत’ इतिसम्भावनामात्रेणापवादतामाश्रित्य सम्बन्धार्थकत्वे सर्वत्र
तथापत्तिरिति, तन्न । तत्तत्सूत्रसत्त्वे कर्मत्वादिना विवक्षायां शेषत्वाभावेन षष्ठ्य-
प्राप्त्या तत्र संबन्धार्थकत्वासम्भवेऽपि प्रकृतसूत्रे सत्यपि षष्ठीप्राप्त्याऽपवादत्व-
स्य स्पष्टतया संबन्धार्थकत्वसम्भवात् । यदप्युक्तं संज्ञाशास्त्रेण विधेरबाध इति,
तदप्युक्तम् । कर्मप्रवचनीयसंज्ञावदर्थबोधकोत्तरं द्वितीयाविधानाय कल्प्यमान-
द्वितीयाविधेः षष्ठीबाधकत्वमित्यस्य स्येनैव वक्ष्यमाणतया तद्वीत्याऽत्रापि वक्तुं
शक्यत्वात् । वैरूप्यं तु अस्मिन् मते सङ्गमेव । उद्देश्यतावच्छेदकफलाश्रयत्वादि-
व्यतिरिक्तकर्मत्वादिशक्त्यानां प्रमाणतोऽसिद्धानां तैरनङ्गीकारात् । फलाश्रयत्वात्
कर्मत्वमित्यादेस्तु तत्त्वात् कर्मसंज्ञेत्येवार्थः । कर्मत्वाविवक्षायामप्यनेन कर्मत्व-
मित्यस्य तु फलाश्रयत्वस्य स्वरूपतः फलाश्रयतात्वेन वाऽविवक्षायामपि स-
म्बन्धत्वेन तद्विवक्षायामप्यनेन कर्मसंज्ञेत्यर्थ इति न वदतो व्याघातः । वास्तु-
नि भवो वास्तव्य इत्यर्थे यत्प्रत्ययेन वास्तव्य इत्येतत् संसाध्य “वसेस्तव्यत्
कर्तरि णिच्” इत्यस्य प्रत्याख्यानवत् अकथितञ्चेत्यनेन शाब्दबोधवैलक्षण्याना-
दरेण कर्तुरीप्सिततमम्, तथायुक्तमित्यनयोवैयर्थ्यशङ्कायाः सम्भवात् न वैयर्थ्य-
शङ्कापरभाष्यासंगतिः इत्यलम् ।

स्वमते प्रमाणमुपन्यस्यति- *अत एवैतत्सूत्रशेषे इति* । कर्मत्वेन वि-
वक्षायामेव “अकथितं च” इत्यस्य प्रवृत्तेरेवेत्यर्थः । *आद्यसूत्रद्वयेति* ।
कर्तुरीप्सितसूत्र-तथायुक्तसूत्रद्वयेत्यर्थः । *वैयर्थ्यमिति* । सूत्रद्वयविषये-
प्यनेनैव सिद्धेः ।

ननु कर्तुरीप्सितसूत्रबोधितसंज्ञावदर्थपरपदोत्तरद्वितीयाया इच्छोद्देश्य-
त्वमपि प्रत्याख्यते, तदभावे तु तन्न प्रत्याख्येत-इति चेत्, अस्तु तत् तदर्थं, तथा
ऽपि ‘तथायुक्तम्’ इत्येतद्वैयर्थ्यमस्त्येवेति । किञ्च बोधवैलक्षण्यमनादृत्यापि बहुत्र
खण्डने भाष्यकृतप्रवृत्त्याऽत्रापि तथात्वे क्षत्यभावः । न चात्र परिगणनमावश्य-
कम्, अन्यथा सर्वेषां द्विकर्मकतापत्तिरित्यपरिगणितधातुयोगे कर्मत्वायोक्तसूत्र-
द्वयं सावकाशमिति वाच्यम् । परिगणनमबुधैवैतद्ग्रन्थप्रवृत्तेः । एवञ्च “वा-
रणार्थानाम्” इत्यस्य वैयर्थ्योपपादनमपि युक्तम् । अन्यथाऽपरिगणितत्वाद्वारेस्त-
न्न युज्येत । *वारणार्थानामिति सूत्रस्यानवकाशत्वे इति* । नच यत्र कर्मत्वेन
विवक्षा तत्रैव कर्मसंज्ञा स्यादित्यपादानत्वेन विवक्षायां वारणार्थानामिति सूत्रं
चरितार्थमिति वाच्यम् । “अनेनैव सिद्धे” इत्यस्य “कारकमात्रं कर्मसंज्ञमित्यर्थका-
कथितञ्चेत्यनेन सिद्धे” इत्यर्थेनापादानत्वविवक्षायां च प्रवृत्त्या वैयर्थ्यस्य स्पष्ट-

काशत्वे माणवकादपि पञ्चमी स्यादिति ईप्सिततममित्याद्यारब्धव्यमित्युत्तरितम्* । एतेन दुहादीनां व्यापारद्वयार्थकत्वे कर्तुरिति कर्मत्वे तत्त्वेनाविवक्षायामप्यनेन कर्मत्वमिति परास्तम् । वदतो व्याघातात् । अत एव कर्तुरित्यनेन सिद्धिमाश्रित्यास्य वैयर्थ्यं भाष्ये नाशङ्क्यम्* ।

कारकमिति । क्रियाजनकमित्यर्थः । नन्वेवं “नटस्य शृणोति” इत्यादावतिप्रसङ्गः । सर्वथा तत्र तदप्राप्तेः । गीतद्वारा च तस्य क्रियाजनकत्वम् । न च तस्य कर्मयुक्त्वाभावः । तदंशस्यापि परिगणनलभ्यत्वात् । नटस्यापादानत्वविवक्षा तु न कदापि । “आख्यात” इति सूत्रे उपयोगग्रहणेनानुपयोगे आख्यातुरपादानत्वाविवक्षायामुच्यते; अतः परिगणनमाह—
दुह्याजिति । कर्मयुक्तत्वं धात्वर्थव्यापारात्प्राक् तदनन्तरं वा तत्सम्बद्धत्वम् । तत्र भुविशास्यतिरिक्ते धात्वर्थव्यापारात्प्रागेव तत्सम्बद्धत्वं, तद्विषये तु तदनन्तरं तत्संबद्धत्वं बोध्यम् । तत्र सति संभवे प्राक् तत्संबद्धत्वमेव ग्राह्यम् । एतेन स्थाल्यादेरपि तद्व्यापारादनन्तरं पयःसंबद्धत्वेन कर्मत्वं तेषां दुर्वारमित्यपास्तम् । तेन “गां पयो दोग्धि स्थाल्याम्” इत्यादौ स्थाल्यादेराधिकरणत्वाविवक्षायामपि नानेन कर्मत्वम् । एवञ्चापादानादीत्यादिशब्देनापादानसंप्रदानाधिकरणान्येव । करणन्तु न गृह्यते । हस्तादेः करणस्य पयआदिकर्मयुक्त्वाभावात् ।

यद्यपि—“गां दोग्धि” इत्यादौ गौः पयस्त्यजति, गवा पयस्त्याजयतीत्याद्यर्थप्रतीत्या “कर्तुरीप्सिततमम्” इत्येव सिद्धम् । प्रधानकर्मत्वञ्च गवा-

त्वात् । नन्वेवं कारकमात्रं व्यर्थं स्यादिति चेत् ? का क्षतिः । “वारणार्थानाम्” इति सूत्रवैयर्थ्यस्यापि सत्त्वात् । न चैवं ‘नटस्य शृणोति’ इत्यादावेव दूषणं देयं स्यादिति वाच्यम् । तस्य दूषणान्तरत्वेऽप्येतद्दूषणस्यापि सम्भवात् इति दिक् ॥

काश्चित्तु कर्मत्वेन विवक्षेत्यस्य फलाश्रयत्वेन विवक्षेत्येवार्थः । “वारणार्थानाम्” इत्यत्रापादानत्वेन विवक्षेत्यस्यापि स एवार्थ इत्यपादानत्वविवक्षायामपि कर्मसंज्ञा स्यादेवेति तत्सूत्रं व्यर्थं स्यादेवेति । ननु धात्वर्थविभागाश्रयैवापादानसंज्ञाया वक्ष्यमाणतया “भ्रुवमपाये” इत्यपि व्यर्थं स्यादिति चेत्, अस्तु—तथाऽप्येतद्वैयर्थ्यस्य स्पष्टत्वादित्याह ।

उत्तरितमिति । षष्ठ्यपवादत्वमात्रेण सम्बन्धत्वमात्रविवक्षायां यदीदं प्रवर्तते, तर्हि कर्मत्वविवक्षायां प्रवर्तमानाभ्यां पूर्वसूत्राभ्यामस्य सामानाधिकरण्याभावादेव वैयर्थ्यशङ्काऽनवकाशे समाधानानुधावनमयुक्तं स्यात् इति भावः ।

नाशङ्कितमिति । दुहादीनां व्यापारद्वयार्थकत्वे गवादीनामपि

दीनामिति तत्रैव लादिसिद्धिः । प्रधानकर्मत्वञ्च कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे कर्तृनिष्ठप्रधानव्यापारविशेषणफलाश्रयत्वम् । प्यन्तविषये ईदृशप्राधान्यस्यैव ग्रहात् । प्रकृते च पयोनिष्ठविभागानुकूलो यो गोनिष्ठव्यापारस्तदनुकूलव्यापारस्य *शब्दतः प्राधान्यात् । “गर्गाः शतं दण्ड्यन्ताम्” इत्यत्र गर्गाणामेव तत्त्वम् । उद्देश्यत्वरूपमार्थं प्राधान्यं तु शतस्येत्यनुद्देश्यत्वेनाप्रधानगर्गानुरोधान्न शतावृत्तिरिति न वृद्धिसूत्रस्य भाष्यविरोधः । एवमेव * “शकारमसि चोदित” इत्याद्युपपत्तिः । * अत एव

प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाप ।

अप्रधाने दुहादीनां प्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः ॥

इत्युक्तोत्तरार्द्धोपात्तात्तिरिक्ता द्विकर्मकाः के ?, इति प्रश्ने

नीवह्योर्द्विरतिश्चापि गत्यर्थानां तथैव च ।

द्विकर्मकेषु ग्रहणं द्रष्टव्यमिति निश्चयः ॥

इत्युक्तम् । तत्र न्यादिग्रहणं तव कृषिवन्मम व्यापारद्वयार्थकधातूपलक्षणम्* । एवञ्चेदं सूत्रं व्यर्थं, तथापि यदा पयोनिष्ठविभागानुकूलव्यापारादिरेव धात्वर्थस्तदाऽपादानत्वाद्यविवक्षायामन्येनासिद्धकर्मत्वार्थमिदमावश्यकम् । तदा च “अप्रधाने दुहादीनाम्” इत्युक्तेरप्रधाने गवांदावेव लादयः । अप्रधानकर्मत्वञ्चोक्तप्रधानकर्मभिन्नकर्मत्वम् । तच्चोक्तार्थे गवादीनामस्त्येव, फलानाश्रयत्वात्* ।

फलाश्रयत्वात् कर्तुरिति सूत्रेण सिद्धेऽस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्य कर्मत्वेनाविवक्षायां षष्ठीप्राप्त्या तद्वाधनार्थमिदमिति भाष्यकृता उक्तं स्यात्, तदनुत्तया च कर्मत्वेन विवक्षायामेवैतत्प्रवृत्तिरिति बोध्यते इति भावः ।

शब्दतः प्राधान्यादिति । शाब्दबोधीयविशेष्यत्वरूपप्राधान्यादित्यर्थः । *शकारमसि चोदित इति* । जिज्ञासाज्ञापनं हि चोदेरर्थः । शकारपदं च “हलः इनः शानज्झौ” इति सूत्रस्य शानच्प्रत्ययघटकशकारप्रयोजनपरम् । कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे च फलभूतज्ञानस्य व्यापारापेक्षया प्राधान्यम् । तथा च महृत्तिव्यापारजन्यं यत् शकारप्रयोजनविषयकजिज्ञासाविषयकज्ञानं तदाश्रयो युष्मच्छब्दप्रतिपाद्य इति बोध इति । अत्रापि युष्मदर्थे एव शाब्दप्राधान्यम् इति तत्रैव क्तः । नीवह्योरिति कारिकां स्वमतेन योजयति—*अत एव प्रधानकर्मणीति* । *उपलक्षणमिति* । अन्यथाऽन्येषामपि वाच्यत्वे न्यूनतापत्तेः । *फलानाश्रयत्वादिति* । फलतावच्छेदकसम्बन्धेनेति शेषः । एवं च फलताऽनवच्छेदकसम्बन्धेन फलाश्रयो गौणकर्म । फलतानव-

गां दोग्धीति । अन्तःस्थितद्रवद्रव्यनिष्ठविभागानुकूलव्यापारो दुहेरर्थः । तत्र गोरपादानत्वाविवक्षायामनेन कर्मत्वम् । तद्विवक्षायां पञ्चमी । गोः पयस्यन्वये षष्ठी । द्विकर्मकेषु गवादीनां कर्मत्वाविवक्षया क्रियाऽन्वये षष्ठी न, अनभिधानात् । षष्ठ्यन्तस्य स्वान्वययोग्यनामसमभिव्याहारे तत्रैवान्वयस्योत्सर्गतो व्युत्पत्तेश्च । अत एव “तण्डुलानामोदनं पचति” इत्यत्र “द्वयर्थश्चैव पचिर्विकारयोगे षष्ठी” इत्येव कर्तुरिति सूत्रे भाष्ये उक्तमिति दिक् ।

बलिं याचने इति । यदा परस्वत्वनिवृत्ति-स्वस्वत्वोत्पत्त्युभयानुकूलो व्यापारो याचेरर्थः, स्वत्वे बलेर्निरूपकतयाऽन्वयः, तदाऽनेन कर्मत्वम् । पूर्वविषयस्य कस्याप्यभावात् । न चात्रापादानत्वप्रसक्तिः । विभागस्य धात्वर्थत्वाभावात् । ‘न हि याचनादेवापायो भवति, याचितो यदि ददाति तदाऽपायेन युज्यते’ इति भाष्योक्तेः । “असंकीर्तितपर्यायाकाथितग्रहणे ‘गां दोग्धि’ ‘गोर्दोग्धि’ इति च, याचिपृच्छाभिक्षियोगे कर्मसञ्ज्ञैवेत्येषा व्यवस्था” इति च सिद्धान्ते कैयटोक्तेश्च । व्यापारद्वयार्थत्वे तु कर्तुरिति कर्मत्वं बोद्धव्यम् । वसुधायाः स्वामित्वसम्बन्धात् कर्मयुक्तत्वम् ।

अचिनीतमिति । याचेः स्वीकारानुकूलव्यापारोऽर्थः । स्वीकारश्च ‘इदमवश्यं करिष्यामि’ इति शब्दप्रयोगजनको ज्ञानविशेषः । विनयेन च तद्विषयज्ञानवत्त्वं सम्बन्धः ।

तण्डुलानिति । तण्डुलान् विकलेदयन्नोदनं निर्वर्त्तयतीत्यर्थस्य कर्तुरिति सूत्रस्थभाष्यकैयटसंमतत्वेन कर्तुरित्येव कर्मत्वासिद्धेरस्यैतदुदाहरणत्वं चिन्त्यम् । एवं स्वसंप्रदानकदानानुकूलव्यापारानुकूलशासनरूपव्यापारार्थदण्ड्यादियोगेऽपि तेनैव सिद्धम् । एवं व्यापारद्वयार्थत्वेन सति प्रयोगे बहूनां द्विकर्मकत्वं बोद्धव्यम् ।

व्रजमिति । निर्गमप्रतिबन्धपूर्वकयात्किंचिदधिकरणकाचिरस्थित्यनुकूलव्यापारो रुधेरर्थः । व्रजे गौस्तिष्ठति, तत्र तां निर्गमप्रतिबन्धपूर्वकं चिरं स्थापयतीति संप्रसयात् । अधिकरणत्वाविवक्षायामनेन

च्छेदकसम्बन्धश्च न यावान् ग्राह्यः, अपि तु संयोग-समवाय-विषय-विषयिभावाद्यन्यतम एव । अन्यथा कालिकादिसम्बन्धेन सर्वेषां फलाश्रयत्वात् स्थाल्यादेः कर्मतापत्तेः । याचत्यादावपि धनीयबौद्धत्यागसमवायो-

कर्मत्वम् । व्यापारद्वयार्थत्वे कर्तुरिति कर्मत्वम् ।

पन्थानामिति । जिज्ञासाविषयार्थज्ञानानुकूलः 'केन पथा ग-
न्तव्यम्' इत्यभिलाषादिरूपो व्यापारः पृच्छेरर्थः । ज्ञानविषयत्वेन पथः
कर्मत्वम् । माणवकेन च तज्ज्ञानाश्रयत्वं सम्बन्धः । अपादानत्वं तु नात्र ।
“न प्रज्ञादेवापायो भवति पृष्ठोऽसौ यद्याचष्टे तदाऽपायेन युज्यते” इति
भाष्योक्तेः । सम्प्रदानत्वमपि न । कर्मसम्बन्धवत्त्वेनेच्छाविषयत्वाभावात् ।
व्यापारद्वयार्थत्वे तु कर्तुरिति कर्मत्वम् ।

वृक्षमिति । विभागपूर्वकाऽऽदाने चिञ् । वृक्षात्फलान्यादत्ते इत्य-
र्थात् । अपादानत्वाविवक्षायामनेन कर्मत्वम् ।

धर्मं ब्रूते इत्यादि । ज्ञानानुकूलः शब्दप्रयोगरूपो व्यापारो
ब्रूयर्थः । प्रवृत्तिपर्यवसायी स शासेः । स च 'धर्मं कुरु' इत्यादिविधिवटितो-
पदेशरूपः । विषयता च फलतावच्छेदकः सम्बन्धः । वचनादिकर्मणा धर्मेण
माणवकस्याभिप्रेयमाणत्वात्तस्य सम्प्रदानत्वम् । तदविवक्षयाश्चानेन
कर्मत्वम् । अत्र कर्तृव्यापारानन्तरं तज्ज्ञानाश्रयत्वरूपो माणवकस्य ध-
र्मेण सम्बन्धः । नयतेः संयोगानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारोऽर्थः ।
स एव स्कन्धग्रहणादिपूर्वो वहेरर्थः । गत्यनुकूलव्यापारविशेषः कृषेः ।
बलाद्ग्रहणपूर्वकं देशान्तरप्रापणं हरतेः । एषु 'कर्तुः' इति कर्मत्वं बोद्धव्यम् ।
एवञ्च भाष्यानुक्तानामत्र ग्रहणं प्राचामनुरोधेनेति तत्त्वम् । भाष्योक्ता
हि 'दुहियाचिरुधिप्रच्छिभिक्षिचिञ्बुविशासयः' ।

अर्थनिबन्धनेयमिति । इदमपि कैयटानुरोधेन । वस्तुनस्तु
येषामेतदर्थानां द्विकर्मकत्वमिष्टं तेषां व्यापारद्वयार्थत्वेन कर्तुरित्येव सि-
द्धम् । *अन्यथा “आख्यातोपयोगे” इति सूत्रभाष्योक्तपरिगणनभङ्गापत्तिः ।
किं च भाष्ये भिक्षिग्रहणवैयर्थ्यापत्तिः । उभयार्थकयाचिग्रहणेनैव
सिद्धेरित्यन्ये ।

अकर्मकधातुभिरिति । तेषां स्वकरणकव्यापने वृत्त्या व्या-
प्तिरूपफलाश्रयत्वेन कर्तुरिति कर्मत्वम् । 'मासमास्ते' इत्यादेर्मासमासनेन
व्याप्नोतीत्यादिक्रमेणार्थ इति भावः । यच्चिदमेव कर्मसंज्ञाविधायकमिति,
तत्र । भाष्ये तादृशवचनानुपलम्भात् । “अकथितञ्च” इति सूत्रे अकर्मक-

ऽस्त्येवेति न दोषः । *अन्यथा—अस्या अर्थनिबन्धनत्वे । *उक्तरीत्या—धात्वर्थ-

प्रकृतिकण्यन्तानां कथं द्विकर्मकत्वमिति शङ्कायां 'कालभावाध्वगन्त-
व्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणां देशश्च'इति भाष्ये उक्तम् । तच्च न विधायकं,
हिशब्दघटितत्वात् । किं च "कालाध्वनोः"इति सूत्रे "कालाध्वानौ कर्मव-
दिति वक्तव्यम्"इतिवार्तिकप्रत्याख्याने "प्राकृतमेवैतत्कर्म, यथा कटं क-
रोति"इत्युक्तम् । अस्य वचनत्वे 'उक्तं वा, प्राकृतं वा'इति वदेत् । तस्मादु-
क्तरीत्या* कालादीनां तद्योगे कर्मतया द्विकर्मकत्वमित्येव तत्तात्पर्यम् ।
*अत एव "समां समां विजायते"इति सूत्रे 'समायां समायां विजायते'-
इति*विग्रहकथनपरं भाष्यं सङ्गच्छते । *अन्यथा अनेन द्वितीयाया एव
तत्र साधुत्वेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव । अत एवोक्तभाष्यार्थानुवादिका हरेः
कारिका—

कालभावाध्वदेशानामन्तर्भूतक्रियान्तरैः ।

सर्वैरकर्मकैर्योगे कर्मत्वमुपजायते ॥ इति ।

सकर्मकविषयेऽप्यनेन प्रकारेण कालादिकर्मणा सकर्मकत्वम् । तु-
ल्यन्यायात् । तेन 'मासमोदनं पचति'इति भवति । तत्र कालादिकर्म अप-
धानं, द्रव्यकर्म तु प्रधानम् । कालस्याधारत्वेन द्रव्यद्वारा क्रियासम्बन्धात् ।
किं च कठिनपाक्यस्य महापरिमाणस्य बहुसंख्यस्य च चिरेण पाको
ऽन्यस्याचिरेणेति द्रव्यधर्मं पर्यालोच्य क्रियासु कालयोग इति स
बहिरङ्गः । अपि च साधनसम्बन्धे जाते क्रियायाः परिच्छेदकत्वात्काला-
लाकाङ्क्षेति स बहिरङ्गः । अकर्मकव्यवहारस्तु धातूनां द्रव्यकर्माभावादि-
मित्त एव । अत्र बीजं वक्ष्यते । तदुक्तम्—

अतस्तैः कर्मभिर्युक्तो धातुर्द्रव्यैरकर्मकः ।

लस्य कर्मणि भावे च निमित्तत्वाय कल्पते ॥ इति ।

गतिबुद्धिप्र ॥ शब्दः कर्म कारकं येषामित्यर्थो *व्याख्या-
नात् । तेन व्हाययतिक्रन्दयत्योर्न । अणाविति । णिच्यनुत्पन्ने इत्यर्थः ।

करणकव्याप्तिरूपफलाश्रयत्वेनेत्यर्थः । *अत एव—धात्वर्थकरणकव्याप्तिरूप-
फलाश्रयत्वेन विवक्षायामेव कर्मत्वादेव । *विग्रहेति । सप्तम्यन्तेत्यर्थः ।
*अन्यथा "कालभावाध्वगन्तव्या" इत्यस्य विधायकत्वे ।

गतिबुद्धि । *व्याख्यानादिति* । भाष्ये तथैव सिद्धान्तितत्वादिति भावः ।

अत्र प्राञ्चः—आकडारसूत्रे भाष्ये "आकडारात् परं कार्यम्"इति
पाठे "गतिबुद्ध्यादीनां ण्यन्तानां कर्म कर्तृसंज्ञमपि प्राप्नोति—आरम्भ-

अत्र णिज् हेतुमणिजेव । स णावित्यत्रापि स एव । व्याख्यानात् ।
अत एव भक्षेर्निषेधश्चरितार्थः । स हि नित्यण्यन्तश्चुरादिरिति
बोध्यम् । *अन्यानधीनत्वलक्षणाऽऽर्थप्राधान्य* शाब्दप्राधान्ययोः प्रयो-
जकव्यापारे सत्त्वेन तदनुरोधिकर्मत्वस्यान्तरङ्गादपि कर्तृत्वाद् बलवत्त्वेन
कर्तुरित्येव सिद्धे णिजर्येनाप्यमानस्य चेद् गत्यर्थादीनामेवेति नियमार्थमिद-
म् । तेन पाचयत्यादियोगे नेति “हेतुमति च” इति सूत्रे भाष्यकृतः ।
‘प्रधानकार्यं सर्वतो बलवत्’ इति आकडारसूत्रे कैयटे स्पष्टम् । तेन गत्यादि-
योगे प्रयोज्यस्य कर्मत्वशक्तिमत्त्वं, पाचयत्यादियोगे कर्तृत्वशक्तिमत्त्वमे-
वेति बोध्यम् । गमयति देवदत्तेनेति । यज्ञदत्तकर्मकगमनानुकूल-
देवदत्तकर्तृकव्यापारानुकूलो विष्णुमित्रकर्तृको व्यापार इति बोधः ।

सामर्थ्याच्च कर्मसंज्ञा, परङ्कार्यत्वाच्च कर्तृसंज्ञा प्राप्नोति” इत्युक्तम् । तत्रारम्भ-
सामर्थ्यादित्युक्तिः गत्यादिसूत्रस्य विधायकत्वे एवोपपद्यते । नियामकत्वे तु
पाचयत्योदनं देवदत्तेनेत्यादौ देवदत्तादेः कर्तुरीप्सितेत्यनेन प्राप्तकर्मसंज्ञा-
व्यावृत्त्यर्थं गत्यादिसूत्रस्यावश्यकतया, कर्तुरीप्सितेत्यस्य च हरिं भजतीत्या-
दौ कर्मत्वार्थं चारितार्थ्येन कस्यापि वैयर्थ्याभावाद् आरम्भसामर्थ्यादित्यु-
क्तिरसङ्गता स्यात् । तस्मात् कर्मसंज्ञासूत्रस्थकर्तृपदस्य स्वतन्त्रोपलक्षकत्वेन
कर्तृसंज्ञायाः कर्मसंज्ञोपजीव्यत्वाभावेऽपि परत्वान्तरङ्गत्वयोः सुवचत्वेन प्र-
योज्यस्य परत्वादन्तरङ्गत्वाच्च प्राप्तकर्तृसंज्ञाबाधनार्थं गत्यादिसूत्रमिति ।

नवीनास्तु एवं सति “हेतुमति च” इति सूत्रभाष्ये प्रयोजकव्यापारस्य
णिज्वाच्यत्वे ‘प्रयोजकव्यापारेण प्रयोज्यस्येप्सितत्वेन कर्मसंज्ञा प्राप्नोति
पाचयत्योदनं देवदत्तेनेति’ इत्याशङ्क्य ‘गतिबुद्धीति सूत्रं नियमार्थं भविष्यति
एतेषामेव ण्यन्तानां यः कर्ता स णौ कर्मसंज्ञो भवति नान्येषामिति’ इत्युक्तं नि-
यामकत्वं न संगच्छेत । अतः कर्तृसंज्ञायाः परत्वान्तरङ्गत्वयोरपि कर्मसंज्ञायाः
प्रधानव्यापाराश्रितत्वात् प्रधानाश्रितायाश्च मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते इत्यादौ तृ-
तीयादीनामिव सर्वतो बलवत्त्वात् प्रयोज्ये सर्वत्र प्राप्तायां तस्यां गतिबु-
द्धीति सूत्रं नियामकं ‘णिजर्यव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयस्य कर्मसंज्ञा भवति
चेद् गत्यादीनामेव’ इति । तेन पाचयत्यादियोगे न । आकडासूत्रभाष्योक्तस्य
आरम्भसामर्थ्यादित्यस्य तु ण्यन्तधातुविषयस्य कर्तुरीप्सितसूत्रस्यारम्भसाम-
र्थ्यात् इति, अविरोधात् सर्वत्र संज्ञाद्वयप्रसङ्गे कर्तृसंज्ञाविशिष्टा कर्मसंज्ञा भवति
चेद् गत्यर्थादीनामेव’ इत्येतन्नियमारम्भसामर्थ्यादिति वाऽर्थः । परं कार्यमिति
पाठे अविरोधात् संज्ञाद्वयप्रसङ्गे विधायकत्वस्य सर्वथा बुरूपपादत्वात् इत्याहुः-

तदुपपादयति *अन्यानधीनत्वेति* । ननु उद्देश्यत्वलक्षणमार्थप्राधान्यं
प्रयोज्यव्यापारेऽप्यस्ति, अत आह- *शाब्दप्राधान्येति । तच्च शाब्दबोधीयविशे-

*अत्र देवदत्तस्य न कर्मत्वम् ।

निघञ्निघाति । नियन्तृकर्तृकण्यन्तप्रकृतिभूतस्येत्यर्थः ।
प्रापणार्थवहेर्गत्यर्थाभावेऽपि ग्रामं प्राप्त इत्यादौ तत्प्राप्तेर्गतिं विना ऽस-
म्भवादाक्षिप्तगत्याऽपि * गत्यर्थत्वमित्यभिमानेन वार्तिकारम्भः । सुखं प्राप्त
इत्यादौ न तदाक्षेपः, तत्र कर्तरि क्त आदिकर्मणिबोध्यः । एव अतः ग्रामं
प्रापयति देवदत्तेनेत्येवेति ध्वनितं “न गति” इति, “न वा” इति सूत्रे च
भाष्ये । नयतेस्तु ‘या प्रापणे’ इत्यादेरिव गत्युपसर्जनं प्रापणं वाच्यमिति तस्य

प्यताश्रयत्वरूपम् । इदं जनकत्वलक्षणार्थप्राधान्यस्वाप्युपलक्षणम् । तेन स्वमते
कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे फलस्य विशेष्यत्वेऽपि न क्षतिः ।

*अत्र देवदत्तस्य न कर्मत्वमिति । ननु अप्यन्तानामित्यस्याभावे
गमयति देवदत्तो यद्वदत्तमित्यत्रापि कर्तृसंज्ञां द्वाधित्वा देवदत्तस्य कर्मत्व-
मनेन दुर्वारमेवेति किमर्थं ण्यन्तप्रकृतिकणिच्पर्यन्तानुधावनमिति चेन्न । पूर्व-
सूत्रात् ‘ईप्सिततमम्’ इत्यस्यानुवृत्त्या कर्तृव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयस्यैव गत्यर्था-
दिकर्तुः कर्मसंज्ञाविधानेन द्वितीयणिच्ं विना कर्तृव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयत्वस्य
तत्र दुरुपपादत्वेन कर्मत्वाप्राप्तेस्तत्पर्यन्तानुधावनस्य सार्थक्यात् । नच ण्य-
न्तस्य संयोगानुकूलव्यापारानुकूलव्यापारार्थकत्वेन संयोगानुकूलव्यापारप्रधा-
वताकप्रतीतिजनकत्वरूपगत्यर्थत्वाभावात् उक्तप्रयोगे देवदत्तादेः कर्मत्वं नापाद-
यितुं शक्यते इति वाच्यम् । संयोगानुकूलव्यापाररूपगतेर्ण्यन्ते प्राधान्यविर-
हेऽपि अप्यन्तानामित्यनेन ‘विशेषणतया विशेष्यतया वा तादृशगति-
बोधकस्य गत्यर्थकपदेन ग्रहणम्’ इत्यर्थस्य ज्ञापनात् । अत एव “नीवह्योर्न”
इति वार्तिके नीग्रहणं चरितार्थम् । तेन गत्युपसर्जनन्यादिधातुभ्योऽधिक-
रणे कर्तरि च क्तप्रत्ययः सिध्यतीति दिक् ।

*आक्षिप्तगत्याऽपीति । सुखं प्राप्तः, धनं प्राप्त इत्यादौ समवाय-स्वस्वा-
मिभावादेरपि प्रतीत्या प्राप्तिः सम्बन्धमात्ररूपा, न केवलसंयोगरूपा । ततश्च गङ्गां
प्राप्त इत्यादौ संबन्धत्वेन प्रतीयमानायाः संयोगरूपप्राप्तेः तदनुकूलव्यापाररूपगतिं
विनाऽसम्भवात् तदाक्षेपादाक्षिप्तगत्या गत्यर्थत्वमङ्गीकृत्य गत्यर्थाकर्मकेत्यनेन
कर्तरि क्त उपपादनीयः । सुखं प्राप्त इत्यादौ तु समवायादिरूपप्राप्तेः गत्याक्षे-
पकत्वासम्भवेन आक्षिप्तगत्याऽपि गत्यर्थत्वासम्भवादगत्या आदिकर्मणि को
बोध्यः । अत एव तद्योगे द्वितीयाश्रितेत्यनेन समासविधानमुपपद्यते । एवं
च उक्तवार्तिके वह्निग्रहणं तस्य आक्षिप्तगत्या गत्यर्थत्वाभिमानेन ।
तदाह- *गत्यर्थत्वमित्यभिमानेनेति । वस्तुतस्तु “न वह्निर्गत्यर्थः” इति “न गतिर्हि-
सार्थेभ्यः” इत्यादिसूत्रस्थभाष्यस्य प्रामाण्येन गत्यर्थपदेन न तस्य ग्रहणमिति
ग्रामं प्रापयति देवदत्तेनेत्येव । अत एव “सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्वि-
सारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्” इति माघपद्ये सितिम्नेति प्रयोज्यकर्त-

गत्यर्थत्वमेवेति बोध्यम् । *अदिखाद्योरिति । प्रत्यवसानार्थत्वात्प्राप्तिः । प्रत्यवसानं भक्षणम् । भक्षयति बलीवर्दानिति । हिंसाङ्गे भक्षणे भक्षेष्टेति । परकीयसस्यभक्षणे परो हिंसितो भवतीति तत्स्वामिनोऽत्र हिंसा द्रष्टव्या ।

जल्पयतीति । पुत्रो धर्मं जल्पति-तद्बोधकवाक्यानि कथयति, देवदत्तो जल्पयति धर्मं पुत्रमित्यर्थः । शब्दाययतीति । शब्दं करोतीत्यर्थे “शब्दवैर” इत्यादिक्यङन्ताणिच् । परे तु शब्दक्रियाणामित्यर्थे हाययतिशब्दाययतिक्रन्दयतीनां प्रतिषेध उक्तो भाष्ये, न तु शब्दकर्मकाणामिति पक्षे । एवञ्च तत्र पक्षे भाष्ये शब्दाययतौ प्रतिषेधानुक्त्याऽकर्मकशब्दायतिसत्त्वे न मानम् । शब्दस्य धात्वर्थसंगृहीतत्वेऽपि बहिर्भूतपुत्रादिकर्मणोऽभावे मानाभावाद् ह्यताविवेति चिन्त्योऽयं निषेध इत्याहुः ।

येषामिति । अयं भावः । “गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्ता स णौ” इति सूत्रं *नियमस्य सजातीयापेक्षत्वात्सकर्मकाणाञ्चेदेषामेवेतिनियमपरम् । एवं सिद्धेऽकर्मकग्रहणं सामर्थ्यादेशकालादिभिन्नकर्माभाववतोऽकर्मकग्रहणेन ग्रहणार्थम् । तच्च सामान्यापेक्षं ज्ञापकम् । शास्त्रेऽकर्मकपदेन ईदृशानामेव ग्रहणमिति । तेन ‘मासमास्यते’ इत्यादौ भावे

रि तृतीयोपपद्यते इति दिक् । *अदिखाद्योरिति । आदिखाद्योरित्वपपाठः । अण्यन्तानामेव सर्वत्र निर्देशात् ।

*नियमस्य सजातीयापेक्षत्वादिति । यद्यपि कर्मणोऽविवक्षया गत्याद्यर्थका अप्यकर्मका लभ्यन्ते इति सकर्मकत्वेन साजात्यं वक्तुमशक्यं, तथापि शब्दकर्मणः सर्वशः सकर्मकस्य साहचर्येण गत्याद्यर्थानामप्यत्र सकर्मकाणामेव ग्रहणेनेदृशसाजात्यस्य सुवचत्वमेव । नन्वेवं फलभेदः—सत्यकर्मकग्रहणे कर्मणोऽविवक्षयाऽकर्मकाणां गत्याद्यर्थानामपि योगे णिसमभिव्याहारे कर्मसंज्ञेवेष्टे, तद्भावे तु न प्राप्नोति, भवद्गीत्या शब्दकर्मणः साहचर्येण गत्याद्यर्थानामपि सकर्मकाणामेव ग्रहणादिति चेत्—अत्रोच्यते—“शब्दकर्मणामणि कर्ता स णौ” इत्येको योगः कर्तव्यः । अयमेव च नियमार्थो योगः, सकर्मकाणां चेच्छब्दकर्मकाणामेवेति । एवञ्च गत्याद्यर्थयोगेऽप्यप्राप्तकर्मसंज्ञाविधानार्थं “गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थानाम्” इति योगः । अणि कर्ता स णाविति वर्तते । गत्याद्यर्थानामणि कर्ता णौ कर्म भवतीत्यर्थ इति कर्मणोऽविवक्षयाऽकर्मकस्य—गत्याद्यर्थकस्य, गत्याद्यर्थभिन्नस्य वा योगे पूर्वणैव कर्मसंज्ञा सिद्धा, सकर्मकत्वाभावेन नियमाप्रवृत्तेरिति अकर्मकग्रहणं व्यर्थं सदुक्तार्थं ज्ञापकं समञ्जसतया सिद्धमिति विदां कुर्वन्तु सुधियः ।

लो भवति । न त्विति । तद्विवक्षा हि द्वेधा—तदन्वययोग्यधात्वर्थत्यागात्, सत्येव तस्मिन्नर्थे तत्र सम्बन्धित्वेनान्वयविवक्षणाद्वेति भावः । इदं कैयटानुरोधेन ।

*परे त्वविवक्षितकर्मणामप्यकर्मकपदेन ग्रहणम् । क्तादीनामविवक्षितकर्मकेभ्यः “कृतपूर्वी कटम्” इत्यादौ भाष्यकृता कैयटेन चाङ्गीकारात् । लुनातेर्निवृत्तप्रेषणाणिचि “लावयति केदारं देवदत्तः” इत्यादौ केदारस्य कर्मद्वितीयान्तस्य “णेरणौ” इत्यत्र कैयटेन प्रयोगाच्च । न चात्रार्थान्तरे वृत्त्याऽकर्मकत्वं, न त्वविवक्षयेति वाच्यम् । तत्त्वप्रसभिज्ञयाऽर्थान्तरत्वाभावात् । तदुदाहरणं तु स्यन्दते इत्याद्यर्थकं ‘नदी वहति’ इत्याद्याकरे स्पष्टम् । “अधीगर्थ” इति सूत्रे कर्मणः शेषत्वविवक्षयाऽकर्मकत्वे “मातुः स्मर्यते” इत्यत्र भावे लस्य भाष्ये उदाहृतत्वाच्च ।

यत्तु प्रकृतसूत्रे भाष्ये “कालकर्मणामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम् । न कर्त्तव्यम् । न च केचित्कालभावाध्वभिरकर्मकाः, त एवं विज्ञास्यामः—कचिद्येऽकर्मका इति” इत्युक्तम् । कचिदित्यस्य कालादेः कर्मसंज्ञाप्रयोजक-

*गत्यादिसूत्रे भाष्ये ‘अकर्मग्रहणे कालकर्मणामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम् । मासमास्ते देवदत्तः, मासमासयति देवदत्तमित्यादौ कर्मत्वार्थम्’ इत्यभिधाय, अनन्तरम् ‘अकर्मकत्वातिदेशेन अकर्मकेभ्यो भावे विधीयमाना लादयोऽपि कालकर्मभ्यः सिध्येयुः’ इत्यभिप्रायेण “सिद्धं तु कालकर्मणामकर्मकवद्वचनात्” इत्युक्ता. “न वक्तव्यम् । अकर्मकाणामित्युच्यते । न च केचित् कालभावाध्वभिरकर्मकाः, त एवं विज्ञास्यामः—कचिद्येऽकर्मका इति” इत्युक्तम् ।

अत्र कैयटोपाध्यायाः—“न च केचित्” इति भाष्यप्रतीकमुपादाय “ननु क्रियामात्रविवक्षायां कालादीनामविवक्षितत्वात् तैरपि अकर्मकत्वं भवत्येव—यथा शेते देवदत्तो, न भुङ्क्ते इति” इत्याशङ्क्य “अत्यन्ताविद्यमानकर्माणो धातवोऽकर्मकग्रहणेन गृह्यन्ते, न त्वविवक्षितकर्माणः । अन्यथा पचादीनामपि कर्माविवक्षायामकर्मकनिवन्धनानि कार्याणि भवेयुः । अकर्मकशब्दस्य च धातवोऽन्यपदार्थत्वेनाश्रीयन्ते, न त्वर्थाः । धातुषु आश्रीयमाणेषु कचिदपि कर्मसम्बन्धदर्शनेन सारूप्यात् तएवैते इतितत्त्वप्रत्ययविषया नाकर्मकत्वेन व्यपदिश्यन्ते” इति समादधुः ।

अत्र भाष्ये कालादीनां कर्मत्वेन ग्रहणे अकर्मकत्वासम्भवप्रदर्शनेन ‘न विद्यते कर्म—कर्मान्वययोग्योऽर्थोऽप्येषाम्’ इति व्युत्पत्त्या कर्मान्वययोग्यार्थबोधकत्वाभाववत्त्वमकर्मकत्वमिति लभ्यते । ‘न विद्यते कर्म—कर्मान्वयी अर्थोऽप्येषाम्’ इति व्युत्पत्त्या कर्मत्वावच्छिन्नविषयतानिरूपिताविषयताकबोधतात्पर्ये-

व्याप्त्यादिरहितेऽर्थे इत्यर्थः । तस्यायं भावः । उक्तीत्याऽकर्मकपदसा-
मर्थ्यादत्र शास्त्रे ऽकर्मकपदस्यावस्थान्तरे कर्मरहिताः इत्यर्थ इति । तादृशत्वञ्च
सर्वथा द्रव्यकर्माभावात्तद्विवक्षणाद्वेत्युभयविधमपि कृतपूर्वीत्यादिभाष्याद्वा-
हं, विनिगमनाविरहाच्च । अत एवाकर्मकाधिकारे श्रुदृश्यादिभ्य आत्मने-

णानुच्चरितत्वरूपाकर्मकत्वस्वीकारे तु कालादीनां कर्मत्वेन ग्रहणेऽपि तदन्वया-
विवक्षायां निरुक्ताकर्मकत्वस्य सम्भवात् असम्भवप्रदर्शनपरं भाष्यमसङ्गतं
स्यात् । तस्मात् अविवक्षितकर्मणां न अकर्मकपदेन ग्रहणम्, अतो न पचादिभ्यो-
ऽविवक्षितकर्मभ्यो लादयः । नवा देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ कर्माविवक्षायां
गतिबुद्धीति कर्मत्वमिति कैयटानुयायिनः प्रार्चिनाः ।

नवीनास्तु एवं सति “कर्तृकर्मणोः कृति” इति सूत्रे भाष्ये कृतपूर्वी
कटमित्यादौ अविवक्षितकर्मतया भावे कप्रत्ययसाधनस्य उपलभ्यमानस्य,
‘लूयते केदारः स्वयमेव, लावयति केदारं देवदत्त’ इति निवृत्तप्रेषणाणि-
चि कर्मद्वितीयान्तस्य णेरणाविति सूत्रे कैयटे उपलभ्यमानस्य चासङ्गत्याप-
त्तिः । तस्मात् “नच केचित्कालभावाध्वभिरकर्मका” इति भाष्यमन्यथा यो-
जनीयम् । तथा हि—अकर्मका इत्यस्य न विद्यते कर्म-कर्मसंज्ञाप्रयोजको-
ऽर्थो येषां धातूनामित्यर्थः, न विद्यते कर्म-कर्मान्वितोऽर्थो येषां धातूना-
मित्यर्थो वा । तत्राद्ये सर्वेषां धातूनां कालादिनिष्ठकर्मसंज्ञाप्रयोजकार्थस-
ंज्ञावात् अकर्मकत्वासम्भवेन उदाहरणासम्भवं भाष्यकार आह नचके-
चिदिति । द्वितीये कर्माविवक्षया उदाहरणसंभवेऽपि गत्यादिनियमस्य तु-
ल्यजातीयापेक्षतया सकर्मकविषयत्वेन अकर्मकविषये कर्तुरित्यनेनैव कर्म-
त्वोपपत्तौ अकर्मकग्रहणं व्यर्थं स्यादिति तत्सामर्थ्यं मनसि निधाय भाष्यकार
आह “त एवं विज्ञास्यामः क्वचिद्येऽकर्मका” इति । क्वचिदित्यस्य द्रव्ये कर्मणी-
त्यर्थः । एतच्च सामान्यापेक्षं ज्ञापकं ‘शास्त्रेऽकर्मकपदेन कालाद्यतिरि-
क्तकर्माभाववन्तो गृह्यन्ते’ इति । तेच सर्वथा द्रव्यकर्माभाववन्तः शीडादयः,
अविवक्षितकर्माणश्चेत्युभयेऽपि । तेन मासं शाययति देवदत्तमित्यादौ कर्म-
त्वं, कृतपूर्वी कटमित्यादौ भावे कप्रत्ययः, लावयति केदारमित्यादौ कर्मत्वं
च सिध्यति । अत एव अकर्मकाधिकारे श्रुदृश्यादिभ्य आत्मनेपदविधानं
च सङ्गच्छते । पचादिषु तु कर्माविवक्षया न अकर्मकत्वप्रयुक्ता भावे
लादयः । अविवक्षायाः प्रयोगानुसारित्वात् । यद्वा क्वचिदित्यस्य काला-
दीनां कर्मसंज्ञाप्रयोजकव्याप्त्यादिरहिते इत्यर्थः । एवंच कालादिकर्मणो विवक्षा
अकर्मकत्वाभावप्रयोजिका न भवतीति भाष्यतात्पर्यम् । सकर्मकत्वप्रयोजिका
तु भवत्येव । अकर्मकपदघटककर्मपदेन कालादीनामग्रहणे गत्यादिसूत्रस्था-
कर्मकग्रहणवत् सकर्मकपदघटककर्मपदेन कालादीनामग्रहणे प्रमाणाभावात् ।
तेन आस्यते मास इत्यादौ कर्मणि लकारः सिध्यति । अकर्मकत्वाच्च भावे ऽपि

पदविधानं सङ्गच्छते । अकर्मकशब्दे च धातुरेवान्यपदार्थः । *अर्थभेदेन च शब्दभेदः । कर्मत्वेन कालाद्यतिरिक्तकर्मनन्वयार्थकत्वञ्च तत्त्वमिति बोध्यम् । “न च केचित्” इति भाष्येण धातुमात्रस्य कालकर्मकार्यवृत्तित्वमिति दर्शितम् । यद्वा “यत्कर्म भवति न च भवति तेनाकर्मकाणां, न चैतत्कर्म क्वचिदपि न भवति” इति भाष्योक्तपक्षान्तरेण तत्सामर्थ्याद् व्यभिचारिद्रव्य-

लकार इति मासमास्यते इत्यपीत्याहुः—तदाह* परे त्वित्यादिना ।

अन्येतु “नपुंसके भावे कः” इति कप्रत्ययस्य कृतपूर्वा कटमित्यादौ कर्मणोऽविवक्षया भावे विधानेऽपि तदन्येषां लादीनां तदविवक्षया अकर्मकत्वेन साधने प्रमाणाभावः । अत एव तण्डुलं पच्यते देवदत्तेनेत्यादयो न प्रयोगाः । भवताम् अनभिधानात् तदभावकल्पने अस्माकमपि अभिधानस्वाभाव्यात् कचित् तत्कल्पनम् । नतु अकर्मकपदेन अविवक्षितकर्मणां ग्रहणम् । नपुंसके भावे क इत्यत्र तदनुपादानात् । अनभिधानादेव अकर्मकेभ्यस्तदनुत्पत्तेः । अविवक्षितकर्मणो न गृह्यन्ते इत्यस्य च फल-तद्वाधिकरणव्यापारोभयबोधतात्पर्येणोच्चरिताः कर्मान्वयित्वेन स्वार्थबोधतात्पर्येणानुच्चरित्वमात्रेण अकर्मकपदेन न गृह्यन्ते इत्यर्थः । तेन कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां लावयति केदारं देवदत्त इत्यादौ लूपभृतिधातूनां फल-तद्वाधिकरणव्यापारोभयबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वाभावेन अकर्मकत्वात् केदारादेः गतिबुद्धीत्यनेन कर्मत्वं सिध्यति । मातुः स्मर्यते इत्यादावपि धातोः उभयावाचकत्वादेव भावे लकारः सिध्यति । कालादिभिन्नद्रव्यनिष्ठकर्मसंज्ञाप्रयोजकार्थबोधतात्पर्येणानुच्चरिता धातवोऽकर्मकपदेन गृह्यन्ते इति निष्कृष्टोऽर्थः । यद्वा । सर्वत्र फलस्य व्यापारे कर्मत्वेनान्वयात् तदुभयबोधका धातवः कर्मविशेषानन्वयमात्रेण अकर्मकपदेन न गृह्यन्ते इत्यर्थः । इत्थं च कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां फलस्य व्यापारे कर्मत्वेनान्वयात्, मातुः स्मर्यते इत्यादौ समभिव्याहृतपदार्थस्य धात्वर्थे सम्बन्धित्वेन अन्वयविवक्षायां च फलस्य कर्मत्वेनान्वयानङ्गीकारात् कर्मत्वेन कर्मान्वयार्थबोधकत्वाभाववत्त्वरूपाकर्मकत्वस्य सुवचत्वेन केदारादेः कर्मत्वं, स्मर्यते इत्यादौ भावे लकारश्च सिध्यतः । देवदत्तेन पाचयतीत्यादौ तु विक्रित्यादिरूपकर्मणः व्यापारे कर्मत्वेनान्वयात् नाकर्मकत्वमिति न तत्र कर्मत्वं प्रसज्यते । धात्वन्तराविशेषणाभूताकर्मकपदस्य एतादृशार्थकत्वेऽपि तद्विशेषणीभूताकर्मकपदस्य अविवक्षितकर्माधिकृत्यं भवत्येवेति न श्रुदृश्यादिभ्यो ऽकर्मकेभ्य आत्मनेपदविधानासङ्गतिरित्यलमित्याहुः ॥

नन्वानुपूर्वैक्येन शब्दैक्याद् व्यापारमात्रार्थपचाद्यपेक्षया फलव्यापारोभयार्थकपचादेरभिन्नतया “पाचयति देवदत्तं यज्ञदत्तः” इत्यादाविव “पाचयत्योदनं देवदत्तेन यज्ञदत्तः” इत्यादावपि कर्मसंज्ञापत्तिः, पचादिधातोरेवाकर्मकपदरूपबहुव्रीहावन्यपदार्थत्वादत आह—*अर्थभेदेन च शब्दभेद इति* ।

कर्मरहितेत्यर्थो बोधितः । एवञ्च मासादिप्रयोगेऽपि तदवस्थायामेवाकर्मकत्वं बोध्यम् । एतेनात्र सूत्रे “न च केचित्” इति प्रतीकमुपादाय ‘कालादेरविवक्षया तैरकर्मकत्वसम्भवोऽस्त्येव’ इत्याशङ्क्य ‘अत्यन्ताविद्यमानकर्मकाणामेवात्र शास्त्रेऽकर्मकपदेन ग्रहणम्, अन्यथा पचादीनामविवक्षितकर्मत्वे लादयः स्युः’ इति कैयटेनोक्तं तत्परास्तम् । अतिप्रसङ्गस्त्वनभिधानाद्वारणीय इति वदन्ति ।

हृक्रोरन्य ॥ तत्राभ्यवपूर्वस्य हरतेर्भक्षणार्थत्वाद्विकारार्थकरोत्वाकर्मकत्वात्प्राप्ते, अर्थान्तरे चाप्राप्ते उभयत्र विभाषेयम् ।

* (अभिन्नादिह) । हेतुमण्यन्तस्याभिवादेः * दृशिप्रकृतिकण्यन्तस्य चेत्यर्थः ॥

अधिशीङ् ॥ आधार इत्यनुवर्तते । तस्यैव कर्मत्वशक्तिमत्ताऽनेन बोध्यते ॥

अभिनिविश ॥ * व्याख्यानाद् ‘अभिनि’ इति द्वन्द्वे तत्पूर्वो विशिति समासः । अभिनिवेश आग्रहः । सन्मार्गविषयकाऽऽग्रहवानित्यर्थः । व्यवस्थितेति । “परिक्रयणे” इत्यतोऽन्यतरस्याग्रहणानुवृत्तेरस्य वैकल्पिकत्वम् * । * अतिप्रसङ्गस्त्वनभिधानाद्वारणीयः । एतच्च “एष्वर्थेष्वभिनिविष्टानाम्” इति प्रतीके समर्थसूत्रे कैयटे ।

परे त्वेतद्भाष्यप्रयोगाद् ‘अभिनिविश’ इत्यानुपूर्व्या अविच्छेताया यत्र श्रवणं तत्रैवैतत्सूत्रप्रवृत्तिः, अन्यतरस्याग्रहणानुवृत्तौ व्यवस्थितविभाषाश्रयणे च न मानमित्याहुः ॥

उपानु ॥ अलुग्विकरणत्वाद् भ्वादेरेव ग्रहणमित्याह—वसतेरिति । भाष्ये ‘अद्वयस्य न’ इत्युक्तम् । मशकार्थो धूम इतिवदशिनित्वव्यर्थस्येति तदर्थः, तत्फलितमाह—अभुक्त्यर्थस्य नेति । ‘उपोष्य रजनीमेकाम्’ इत्या-

अभिनि* । संघातग्रहणे प्रमाणमाह—* व्याख्यानादिति । व्याख्यानं च अल्पाचो नेः पूर्वनिपाते कर्तव्येऽभेः पूर्वनिपातकरणरूपम् मनोरमायामुक्तम् ।

* वैकल्पिकत्वमिति । व्यवस्थितविभाषाश्रयणं तु नैव शक्यम् । देवत्रात इत्यादावेव तदाश्रयणस्य सिद्धान्तितत्वात् । अस्य वैकल्पिकत्वे पक्षे सन्मार्गे इति सप्तमी स्यादित्यन्त आह—* अतिप्रसङ्गस्त्वनभिधानादिति * । * अभिनिवि-

* वार्तिकप्रतीकमिदमित्यवधेयम् । * दृशिप्रकृतिक इति । दृशिप्रकृति-को यो णिस्तदन्तस्येत्यर्थः ।

दौ “कालाध्वनोः” इति द्वितीया । “ग्रामे उपवसति” इत्यत्र ‘ग्रामे वसन् त्रिरात्रमुपवसति’ इत्यर्थ इतीदं न कार्यमिति भाष्ये स्पष्टम् ।

उपपदविभक्तिमाह-उभेति । उपपदविभक्तीनां सम्बन्धोऽर्थः । विशिष्यानुक्तेः, षष्ठ्यपवादत्वाच्च । उभसर्वयोस्तसाविति विग्रहः । उभा- शे उभयशब्दनिष्ठं प्रकृतित्वमुभयशब्दे आरोप्य तत्प्रकृतिकत्वं षष्ठ्यर्थः । उभयशब्दसर्वशब्दप्रकृतिकतसन्तयोगे इत्यर्थः । आम्नेडितान्तेष्विति । कृतद्विर्वचनेष्वित्यर्थः । धिक् कृष्णोति । *धिगर्थो निन्दा । कृष्णाभ- क्तसम्बन्धिनी निन्देत्यर्थः । उपर्यादीनां समीपोर्ध्वदेशादिवृत्तित्वमर्थः । अभितः परित इत्यत्र “पर्यभिभ्यां च” इति तसिल्ल । तत्राद्यस्योभयत इत्य- र्थोऽन्त्यस्य सर्वत इत्यर्थ इति “पर्यभिभ्याञ्च” इत्यत्र भाष्ये ॥

*अन्तराऽन्तरेण ॥ अन्तरेणेत्यटावन्तसाहचर्यादन्तरेत्यटावन्तम्, अन्तरेत्यतृतीयान्तसाहचर्यादन्तरेणेत्यतृतीयान्तम् । साहचर्यं सादृश्यम् ।

श’ इत्यानुपूर्व्या अविहताया इति । तेन ‘कचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनि- विशते’ इत्यपि सिद्धम् । अभरेकारस्य पूर्वरूपेण विकृतत्वादिति । “चैत्रोऽभि- निविशते सन्मार्गम्” इत्यादि तु नैवेप्यते । यद्वा “अपवादविषये” इति व्यधिकर- णबहुव्रीहिणा ऽपवादीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छिन्नघटितलक्ष्यपरम् । अध्याहृतं चापरम् अपवादविषयम् इति द्वितीयान्तम् अपवादीयोद्देश्यतावच्छेदकावच्छि- न्नपरम् । ततश्चायमर्थमभवति—अपवादविषयघटितलक्ष्येऽपवादविषयमुत्सर्गो- ऽभिनिविशत इति । तथा च सप्तम्यन्तार्थस्य द्वितीयान्तार्थे एवान्वयेन अभि- निवेशेऽनन्वयान्न कर्मत्वातिप्रसङ्ग इति भावः ।

धिगर्थो निन्देति । कृष्णं धिक्करोति इत्यादौ धिक्शब्देन त- स्या एव प्रतीतेः । निन्दा च खेदजनकः त्वं निन्दतः’ इत्याद्यभिलापादि- रूपो व्यापारः ।

*अन्तरान्तरेणयुक्ते । द्वन्द्वनिर्देशे घटपटाः सुन्दरा इत्यादौ सर्वत्र समभिध्याहृतसुन्दरादिपदार्थस्य घटे पटे च प्रत्येकं सम्बन्धप्रतीतेः, तथाऽन्वयतात्पर्याभावे एकधर्मावच्छिन्नेऽन्वयाभावेन सहविवक्षाया अभावाद् द्वन्द्वानुपपत्तेश्च अन्तरा, अन्तरेणेत्युभाभ्यां युक्तपदार्थेन सम्बन्धात् अन्तरायुक्ते अन्तरेणयुक्ते च द्वितीया स्यादित्यर्थः । ननु “पतिपुत्रवती नारी भर्तुरग्रे मृता यदि । वृषोत्सर्गं न कुर्वीत गां च दद्यात् पपस्विनीम्” ॥ इत्यादौ द्वन्द्वनिर्देशे साहित्यस्य अन्वयितावच्छेदकत्वेन बोधविषयत्वात् पति—पुत्रोभयवि- शिष्टाया मरणे एव वृषोत्सर्गाननुष्ठानं शास्त्रार्थः, ननु अन्यतरयुक्ताया मरणे इति प्रकृतेऽपि उभाभ्यां योगे एव द्वितीयायाः साधुत्वबोधनेन प्र-

“तद्यथा अस्य गोर्द्वितीयेनार्थ इति गौरेवानीयते नाश्वो न गर्दभः” इति दृष्टान्तपरभाष्येण सदृशानामेव प्रयोगे सहायतेत्यर्थस्य प्रतिपादनात् । तेन ‘किमनयोरन्तरेण ज्ञातेन’ इति सिद्धम्* । अन्तरेण—विशेषेणेत्यर्थः । एवञ्चैतयोरव्यययोरेव ग्रहणम् । यद्वा अन्तराशब्दस्य प्रथमैकनचनान्तस्यानभिधानाद् ‘अन्तरा’ इत्यानुपूर्वीकमव्ययमेव प्रयोगेषु दृश्यते इति तत्साहचर्यादन्तरेणेत्यव्ययमेव—तदुक्तं भाष्ये “अन्तराशब्दोऽयमदृष्टापचारो निपात एवेति”, इति बोध्यम् । अवधित्वरूपः सम्बन्धो मध्यत्वान्वयी मध्यार्थान्तराशब्दयोगे द्वितीयार्थः । तस्यैव *सम्बन्धत्वेन बोधे षष्ठी । इर्यादिपदाच्च न द्वितीया, “उपपदविभक्तेः” इति न्यायेन तत्र प्रथमाया एव प्राप्तेः । *युक्तग्रहणन्तु स्पष्टार्थम् ।

अधिकृत्येति । “विभाषा कृवि” इत्यन्तमिति बोध्यम् । महासंज्ञाकरणन्त्वन्वर्थत्वाय । कर्म-क्रियां प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः । बाहुलकात्

त्येकयोगे साधुत्वं न स्यात् । एवं नमःस्वस्तीति चतुर्थ्या अपि—इति चेन्न । सति तात्पर्ये एव विशेषणतयोपस्थितधर्मस्य अन्वयितावच्छेदकत्वेन बोधविषयत्वाङ्गीकारात् । अत एव “यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः” इति वैशेषिकसूत्रे साहित्यस्य न तत्त्वमिति अभ्युदयसाधकस्य, निःश्रेयससाधकस्य च प्रत्येकं धर्मत्वमुपपद्यते । एवमेव “उद्यतासिविषाग्निश्च” इत्यादौ प्रत्येकम् आततायित्वम्, “मातापितृगुरुहरणे वपनं कुर्यात्” इत्यादौ प्रत्येकमरणे वपनम्, “अश्विनीपुनर्वसुपुष्येषु यात्रां कुर्यात्” इत्यादौ प्रत्येकं यात्रानुष्ठानं चेत्यादिकमुपपादनीयम् । गर्गाः शतं दण्ड्यन्तामित्यादौ तु बहुत्वस्य तत्त्वेन विवक्षितत्वात् न प्रत्येकं दण्डनान्वयः । तात्पर्यविशेषेण च अनयोर्व्यवस्था । तात्पर्यगाहकं च प्रकरणादिकमेव । स्पष्टं चेदं प्रातिपदिकार्थसूत्रे भाष्ये इति दिक् ।

*सिद्धमिति । अनव्ययस्यान्तरेणेत्यस्य योगे द्वितीयाया अप्राप्त्या अनयोरिति षष्ठी सिद्धेत्यर्थः ।

*सम्बन्धत्वेन बोधे इति । चतुर्थीतदर्थेति सूत्रे भाष्ये गुरोरिदं गुर्वर्थमित्यत्र तादर्थ्यस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षायां षष्ठ्युक्तेः विशेषविवक्षायामेव षष्ठ्यपवादभूतविभक्तीनां साधुत्वं बोध्यते । तेन ‘तव ममचान्तरा कमण्डलुः’ इत्यत्र त्वन्मत्सम्बन्धिमध्ये कमण्डलुरित्यर्थविवक्षया षष्ठी सिध्यति । एतेन तव ममेत्यनयोः कमण्डलुरित्यनेनान्वयविवक्षया षष्ठ्युपपादनम्, ‘युक्तग्रहणात् अवधित्वस्य सम्बन्धत्वेन बोधे षष्ठी न, तेन अविद्यामाना अन्तरा येषाम्, द्वयोश्चैवान्तरा, तव मम चान्तरा कमण्डलुरित्यादिप्रयोगा उपपद्यन्ते’ इति कैयटोक्तं चापास्तम् । तद् ध्वनयन्नाह*युक्तग्रहणं तु स्पष्टार्थमिति ।

कर्तरि भूते अनीयः । तेन सम्प्रति *क्रियां न द्योतयन्ति किन्तु क्रिया-
निरूपितं सम्बन्धविशेषं *द्योतयन्ति । क्वचित्सम्बन्धविशेषाद्योतकेऽपि
वचनसामर्थ्यात्संज्ञा, यथा—“अधिपरी अनर्थकौ” “सुः पूजायाम्” इति
च । *निपातसंज्ञासमावेशस्त्वस्या अप्युक्तः ।

लक्षणणे इति । तत्सम्बन्धे लक्ष्यलक्षणभावरूपेऽनुना द्योत्ये
इत्यर्थः । अपवाद इति । *तद्द्योत्यसम्बन्धस्य क्रियान्वयात्तयोः प्राप्तिः ।
तेन प्रकृते “गतिर्गतौ” इति निघातो न । द्वितीयार्थो लक्ष्यलक्षणभावः
सम्बन्धो, हेतुश्च अनुना द्योसते । लक्षणत्वश्च ज्ञानजनकज्ञानविषयत्वम् ।
*जपज्ञानेन हि कालविशेषविशिष्टा वृष्टिर्ज्ञाप्यते । जपामिन्नहेतुज्ञानजन्यज्ञा-
नविषयो वर्षणमिति बोध इत्याह—हेतुभूतेति । पराऽपीति । *क-
र्मप्रवचनीयसंज्ञावकाशो हेतुत्वाविवक्षायां, हेतुतृतीयावकाशो ‘धनेन कुलम्’
इति, प्रकृते च हेतुत्वविवक्षायां परत्वात्तृतीयाप्राप्तिरिति भावः । पुनः-
संज्ञेति । “लक्षणेत्थंभूत” इत्येव सिद्धे पुनःसंज्ञाकरणबोधितपुनर्द्वितीयावि-
धानसामर्थ्यादित्यर्थः । एतेन संज्ञया विजातीयत्वाद्विभक्तिबाधः कर्तु-
मशक्य इति परास्तम् । *स्पष्टश्चेदं भाष्ये ॥

*क्रियां—क्रियाविशेषम् । *द्योतयन्ति—इत्यर्थो लभ्यते इति
शेषः । *निपातसंज्ञासमावेश इति । “प्राग्ग्रीश्वरान्निपाता” इत्यस्य “अधिरी-
श्वरे इत्यभिव्याप्य प्राङ् निपातसंज्ञाः सन्तो गत्यादिसंज्ञाः” इत्यर्थात् ।
तेन कर्मप्रवचनीयानामव्ययत्वं सिध्यतीति भावः ।

*तद्द्योत्यसम्बन्धस्य क्रियान्वयादिति । अत्रत्यं तत्त्वम्
“उपसर्गाः क्रियायोगे” इत्यत्रोक्तम् । *जपज्ञानेन हि कालविशेष-
विशिष्टेति । अत एव कदा वृष्टिरभूत् इति प्रश्ने जपमनु प्रावर्षत्
इत्युत्तरं सङ्गच्छते । तेन जपकालज्ञानद्वारा तदुत्तरकाला वृष्टिर्ज्ञाप्यते
इत्यर्थः । पूर्वं वृष्टिज्ञानसत्त्वेऽपि तत्कालज्ञानाभावात् कालविशेषविशिष्टत्वेन
वृष्टिज्ञानं हेतुभूतजपज्ञानेन तत्कालज्ञानद्वारा जन्यते । कार्यकालस्य कारण-
कालोत्तरत्वात् । वृष्टेश्च जपकार्यत्वात् । ततश्च वृष्टेः ज्ञानजनकज्ञानविषयत्व-
रूपं लक्षणत्वं हेतुभूते जपे उपपद्यते इति भावः । *कर्मप्रवचनीयसंज्ञावकाश
इति । लक्षणेत्थंभूतेत्यनेन विहितकर्मप्रवचनीयसंज्ञावकाश इत्यर्थः । *स्पष्ट-
श्चेदं भाष्ये इति । इत्थं हि तत्र भाष्यम्—“लक्षणेत्थंभूतेत्यनेन अनोः कर्मप्रव-
नीयसंज्ञायां सिद्धायां हेत्वर्थमिदं वक्तव्यम् । हेतुः शाकल्यस्य साहिता वर्षस्य,
न लक्षणम् । लक्षणं हि नाम सं भवति, येन पुनः पुनर्लक्ष्यते, न यः सकृदपि

तृतीयार्थे ॥ तृतीयाशब्देन तन्निमित्तशब्दः “सहयुक्ते” इत्यत्रोपा-
त्तोऽनन्तरत्वात्* सहशब्दो लक्ष्यते । तदर्थे *साहित्ये द्योत्ये इत्यर्थः ।
साहित्यरूपः सम्बन्धोऽनुद्योत्यो द्वितीयार्थस्तदाह-नद्येति । क्त इति ।
कर्तरीति भावः ॥

उपोऽधिके च ॥ चाद्धीने । सप्तमीति । “यस्माद-
धिकम्” *इत्यनेनेति भावः । *उपस्वार्या द्रोण इति यथा ।

निमित्तत्वाय कल्पते । सकृच्चसौ शाकल्येन सुकृतां संहितामनुनिशम्य देवः
प्रावर्षत्” इति । न च व्याप्यत्वसमनियतलक्षणत्वस्य हेतौ अभावात् हेतुत्वविव-
क्षायां कथम् “अनुलक्षणे” इत्यनेन कर्मप्रवचनीयसंज्ञेति वाच्यम् । “न ह्यवश्यं तदेव
लक्षणं भवति येन पुनः पुनर्लक्ष्यते । किन्तु हि । यत्सकृदपि निमित्तत्वाय कल्पते ।
तद्यथा-अपि भवान् कमण्डलुपाणिं छात्रमद्राक्षीत् । सकृदसौ कमण्डलुपाणि-
श्छात्रो दृष्टस्तस्य तदेव लक्षणम्” इति भाष्येण प्रकृते वह्न्यादिव्याप्यधूमादि-
गवाद्यसाधारणसास्नादिमत्त्वादि-विशेषणभूतकमण्डलवादिसाधारणस्य ज्ञान-
जनकज्ञानविषयत्वरूपलक्षणत्वस्याश्रयणेन तस्य च अव्याप्येऽपि “लताप्रतानोद्ग-
थितैः स केशैः” इत्यादौ विशिष्टज्ञानकारणज्ञानविषयविशेषणभूते केशादौ “इत्थंभूत
लक्षणे” इति विहिततृतीयान्तप्रयोगाद् दर्शनेन प्रकृते हेतुभूतजपादावपि सम्भवात्
लक्षणत्वेनैव उक्तसंज्ञायाः सुवचत्वात् । न चैवं सति लक्षणेत्थमित्यनेन गतार्थत्वं
शङ्कनीयम् । असति प्रकृतसूत्रे हेतुत्वाविवक्षायां लक्षणेत्थमित्यस्य ‘वृक्षमनु वि-
द्योतते विद्युत्’ इत्यादौ द्वितीयार्थं चरितार्थतया हेतुत्वविवक्षायां परत्वात्तृतीय-
या बाधापत्तेः । न च निघाताद्यभावार्थमस्यावश्यकत्वम् । निशमनादिक्रियां
प्रत्येव तस्य योगेन प्रवर्षणादिक्रियां प्रति योगाभावादेव तदप्राप्तेः । हेत्वर्थं तु
वचनमिति भाष्यात्तु हेतुत्वमपि अनुद्योत्यं द्वितीयार्थं इति सूचितम् इत्यलम् ।

गदाधरभट्टाचार्यास्तु “अनुलक्षणे” इत्यत्र लक्षणशब्दस्य हेतुपरत्वात्
हेतुत्वं, तन्निरूपकत्वं वा द्वितीयार्थः । लक्षणेत्थंभूतेत्यत्र तु परिचायकत्वरूपं
लक्षणत्वं लक्षणशब्दार्थं इति न तेनास्य गतार्थता । जपमनुप्रावर्षत् इति
चाक्येन वृष्टौ जपहेतुकत्वज्ञाने ‘इयं वृष्टिः जपोत्तरकालिकी जपहेतुकत्वात्’
इत्यनुमानेन कालविशेषाविशिष्टत्वेन वृष्टेर्ज्ञाने हेतुभूतजपे वृष्टिलक्षणत्वं फल-
ति, ननु तत्र तल्लक्षणत्वं शब्दगम्यमित्याहुः ।

*अनन्तरत्वादिति । “कर्तृकरणयोस्तृतीया, सहयुक्तेऽप्रधाने” इति
सूत्रपाठादिति भावः । *साहित्ये द्योत्ये इति । नचैवं सति “सहार्थे” इत्येव
लाघवात् सूत्र्यतामिति वाच्यम् । तृतीयानिमित्तभूतसमानकालिकक्रियादिमत्त्व-
रूपसहार्थद्योतकस्यैव कर्मप्रवचनीयसंज्ञा यथा स्यादित्येतदर्थं तथा सूत्रणात् ।
तेन सहार्थसादृश्यद्योतकस्यानोर्न संज्ञा ।

*इत्यनेनेतीति । उपपरार्थे हरेर्गुणा इत्यादौ । उदाहरणान्तरमप्याह

*स्वार्थपेक्षयाऽधिकत्ववान् द्रोण इत्यर्थः । *तेनोभयमस्तीति फलति ।

इत्थंभूतः-कश्चित्प्रकारं प्राप्तः, स आख्यायतेऽनेनेति इत्थंभू-
ताख्यानं-प्रकारविशेषनिरूपकम् । भागशब्देनार्शआद्यजन्तेन तत्स्वामी
उच्यते । वीप्साया द्विर्वचनविशिष्टवृक्षशब्दबोद्धव्यत्वादाह-विषयभूते-
ष्विति । वृक्षं प्रतीति । वृक्षप्रकाशेन विद्युद्विद्योतदेशज्ञानाद् वृक्षो ल-
क्षणम् । वृक्षं वृक्षमिति । वृक्षस्य व्यापकतासम्बन्धेनान्वयो य-
द्यपि द्विर्वचनबलादेव, तथापि प्रत्यादिसत्त्वे सोऽपि तन्निर्णायक इति
सम्बन्धपरिच्छेदकत्वं बोद्धव्यम् । *वृक्षादीनां सेचने कर्मत्वेऽपि तत्त्वे-
नाविवक्षायामनेन द्वितीया । *किं च यद्यत्र कर्मणि द्वितीया स्या-
त्तदा प्रतिना सामर्थ्याभावात्प्रतिवृक्षमिति समासानापत्तिः । *किं च
प्रत्यादेः *क्रियाविशेषकत्वेऽन्वर्थतया कर्मप्रवचनीयसंज्ञाया एवा-
नापत्तिः । *अत एव भाष्ये “किमर्थं पुनरिदमुच्यते ?, न चोपसर्गसंज्ञा-
बाधनार्थं, क्रियायोगाभावात्” इत्युक्त्वा “द्वितीयार्थम्” इति सिद्धान्तितम् ।
*अत एव ‘प्रत्यर्थं शब्दनिवेशः’ इत्यादावर्थस्य निवेशनक्रियानिरूपिताधि-
करणत्वेऽपि ‘अर्थमर्थं प्रति’ इति विग्रहो भाष्ये दर्शितः । वृत्तिविषये प्रतिरेव

*उपस्वार्थो द्रोण इति । *स्वार्थपेक्षयाऽधिकत्ववानिति । ननु द्रोणस्य “स्वारी
द्रोणचतुष्टयम्” इत्यादिपरिभाषया स्वार्थपेक्षया न्यूनत्वात् कथमधिकत्वमित्या-
शङ्क्याह* तेनोभयमिति । द्रोणादिशब्दानां तत्परिच्छेद्यध्यान्ये वृत्तेः स्वारी-
परिच्छेद्यध्यान्यापेक्षया द्रोणपरिच्छेद्यध्यान्यमत्राधिकं वर्तते इत्युक्ते द्रोणमात्रस्य
तदधिकत्वासम्भवात् तदध्यारूढमन्यद् वर्तते इत्यर्थात् उभयमस्तीति फलतीति
भावः । आधिक्ये ‘उपसुरान् हरिः’ इति द्वितीयाया उदाहरणं बोध्यम् ।

वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चतीत्यादौ द्वितीयायाः “कर्मणि द्वितीया” इत्यनेनैव
सिद्धत्वात् षत्त्वाभाव एवात्र कर्मप्रवचनीयसंज्ञाफलमिति प्राचीनमतं खण्डयि-
तुमाह- *वृक्षादीनां सेचने इति । अत्र कर्मणि द्वितीयायां दूषणमप्याह- *कि-
ञ्च यद्यत्रेति । दूषणान्तरमप्याह- *किञ्च प्रत्यादेरिति । *क्रियाविशेषक-
त्वे इति । क्रियाविशेषविषयकतात्पर्यग्राहकत्वे इत्यर्थः । अन्वर्थतया कर्म-
प्रवचनीयसंज्ञाया एवानापत्तिः । पूर्वं क्रियां प्रोक्तवन्त इति व्युत्पत्त्या
सम्प्रति क्रियाविशेषाद्योतकस्यैव कर्मप्रवचनीयसंज्ञालाभादिति भावः ।
अत्र कर्मप्रवचनीयत्वादेव द्वितीयेत्यत्र भाष्यसम्प्रतिमाह- *अत एव भाष्ये
किमर्थमिति* । भाष्यान्तरस्थप्रयोगमपि प्रमाणतयोपन्यस्यति- *अत एव
प्रत्यर्थमिति* ।

वीप्साया अपि द्योतक इत्यन्यदित्यास्ताम् । फलान्तरमप्याह-अत्रेति ।

यदत्रेति । यद्वस्तु मम भागः स्यादित्यर्थः ।

कुतोऽधीति । कुत इत्यपादाने पञ्चमी । द्वितीया तु न । कर्मप्रवचनीयद्योत्यसम्बन्धप्रतियोगित्वरूपस्य कर्मप्रवचनीययुक्तत्वस्याभावात् । गतिसंज्ञाबाधादिति । धात्वर्थमात्रद्योतकत्वेन क्रियायोगाद्गतित्वं प्राप्तं, विशेषद्योतकत्वाभावात्वनर्थकत्वव्यवहारोऽपीति भावः ।

परे तु अत्र “कर्मणि द्वितीया” इत्यनेनैव द्वितीया । “उपपदविभक्तेः” इति न्यायात् । कर्मत्वाविवक्षा तु कर्तुमशक्या । तथा सति द्वित्वस्यैवानापत्तेः । तथा हि—“नित्यवीप्सयोः” इति द्वित्वं पदे एव प्रवर्तते । पदं च द्विरुच्चारणीयत्वेन चिकीर्षितनिष्ठपदसंज्ञाप्रयोजकविभक्त्यर्थसम्बन्धावच्छिन्नव्यापकतानिरूपितव्याप्यतावदर्थबोधपरं ग्राह्यम् । अत एव कर्मतासम्बन्धावच्छिन्नव्यापकताया द्विवचनेन बुबोधयिष्यायां ‘वृक्षो वृक्षः सिञ्चति’ इति न प्रयोगः । कर्मत्वस्य स्वर्थत्वाभावात् । अत एव चैकवृक्षमात्रसेचनेऽपि कालिकादिसम्बन्धेन वृक्षादिव्यापकतायाः सेचने सत्त्वेऽपि ‘वृक्षं वृक्षं सिञ्चति’ इत्यादयो न प्रयोगाः । एवं च यदि कर्मणि द्वितीया विधीयते तदा तु द्विरुच्यमानवृक्षपदनिष्ठपदसंज्ञाप्रयोजकामर्थकर्मत्वसम्बन्धावच्छिन्नव्यापकतानिरूपितव्याप्यतावद्वृक्षबोधकस्य वृक्षमित्यस्य प्राग् द्वित्वं, ततश्च तद्व्यापकत्वद्योतकत्वप्रयुक्तैव प्रतेः कर्मप्रवचनीयसंज्ञेति षत्वनिषेधोऽपि सिञ्चति । कर्मत्वाविवक्षायां तूक्त-रूपव्यापकतानिरूपितव्याप्यतावदर्थबोधकत्वाभावात् पूर्वं द्वित्वं नैव स्यात् । ततः कर्मप्रवचनीयसंज्ञाऽपि न स्यात् । द्वित्वादिसहकारेणैव प्रत्यादिप्रयोगं विनाऽपि ‘वृक्षं वृक्षं सिञ्चति’ इत्यादितो व्यापकतोबाधाद् द्वित्वं विना ‘वृक्षं प्रति सिञ्चति’ इत्यादितो व्यापकताप्रत्ययाभावेन प्रतेव्यापकताद्योतकत्वाभावात् । न च द्वित्वेन प्रत्येतव्यव्यापकताद्योतकत्वप्रयुक्तैव कर्मप्रवचनीयसंज्ञा प्रागेव-स्यादिति वाच्यम् । द्वित्वसहकारेणैव व्यापकताद्योतकस्य प्रत्यादेर्द्वित्वादेः प्राग्व्यापकताद्योतकत्वस्याप्रामाणिकत्वात् । कर्मत्वाविवक्षायामपि प्रतेर्व्यापकतार्थकत्वमङ्गीकृत्य वृक्षं वृक्षं प्रतिसिञ्चतीत्यादौ “कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया” इति द्वितीयाऽङ्गीकारे तु वृक्षो वृक्षः प्रतिसिञ्चते इत्यादावपि द्वितीयापत्तिः । अस्माकं तु लकारेण कर्मत्वस्याभिधानान्न दोषः ।

यदप्युक्तं प्रतिवृक्षमित्यादौ समासानापत्तिरिति, तदपि न । वाचकाव्ययैरेव अव्ययीभावसमासस्य अव्ययविभक्तीति सूत्रे भाष्यकैयटयोः शेखरे च व्यवस्थापितत्वात् तत्र अव्ययीभावार्थं प्रतेः व्यापकतावाचकत्वस्यैव अङ्गीकारेण तदर्थव्यापकतायां वृक्षादिपदार्थान्वयेनैकार्थ्यभावोपपत्तेः । विग्रहप्रदर्शनं तु व्यापकत्वबोधसाम्येनैव । यदप्युक्तं किञ्च प्रत्यादेरित्या-

सुसिक्तमिति । मेकगतपूज्यत्वद्योतकः सुः । क्रियापूज्यत्वकृते तत्तत्क्रियाकर्तुः पूज्यत्वे गम्ये एवैषा संज्ञा । अत एव 'सुषिक्तं किं तव' इत्यत्र न ।

अतिक्रमणम्-उचितादधिकानुष्ठानम् । चात् पूजायामित्यनुक-
ष्यते । अतिदेवानिति । देवेभ्योऽधिको देवपूज्य इति वाऽर्थः । द्वितीये
“कुगति”इति समासस्याभावस्तु अनभिधानात् । आद्ये तु प्राप्तरेव न,
“स्वती पूजायामेव”इत्युक्तेः ॥

अपिः पदार्थः ॥ पदस्य-अप्रयुज्यमानपदान्तरस्य अर्थः-पदार्थः ।
सर्पिषोऽपीति । अत्र बिन्दुरित्यादेः पदस्यार्थोऽपिद्योत्यः । तदुक्तं वृत्ति-
कृता—“मात्रा बिन्दुः स्तोकमित्यस्यार्थेऽपिर्वर्तते”इति । सम्भावनायां
लिङ्गिति । “उपसंवादाशङ्कयोश्च”इति सूत्रभाष्ये पठितेन “उपसंवादाशङ्कयो
लिङ्ग”इत्यनेन । तच्च लोकसाधारणमित्यपि तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । तत्राऽऽ-
शङ्का-उत्प्रेक्षा । सम्भावनाऽप्युत्कटकोटिका शङ्कैवेति भावः । कर्मप्रवचनीय-
त्वात्तद्वद्योत्यसम्बन्धमाह-तस्या एवेति । सम्भावनाया एवेत्यर्थः । कर्तृदौ-
र्लभ्यामिति षष्ठीतत्पुरुषः । कर्तृपदं प्रकृताभिप्रायम् । सर्पिषोऽपि पिबेदित्यादौ
कर्मदौर्लभ्येत्यादि बोध्यम् । तत्र बिन्दोस्तदौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यसम्बन्धस्य
द्योतकोऽपिः । सम्बध्यते इति । स्यात्पदवाच्यक्रियायामपिद्योत्यबिन्दोः
कर्तृतया, द्योत्योक्तसम्बन्धेन चान्वयादिति भावः । तदाह-अपिश-
ब्दबलेनेत्यादि । एवञ्च सर्पिरवयवबिन्दुदौर्लभ्यप्रयुक्तदौर्लभ्यवती
तत्कर्तृका *सम्भावनाविषयः सत्तेति बोधः । विशिष्टसत्तायाः सम्भा-

दि, तदपि न । पूर्वकालिकक्रियाविशेषकत्वमात्रस्यैवान्वयताबललभ्यत्वेन
विरोधाभावात् । यदप्युक्तम्-अत एव भाष्ये किमर्थं पुनरित्यादि, तदपि
न । तद्भाष्यस्य ‘वृक्षं प्रति विद्योतते निद्युत्’इत्याद्युदाहरणपरत्वात् । ‘अर्थमेर्थं
प्रति शब्दो निविशते’इत्यादौ तु सत्तानुकूलव्यापारो निविशधात्वर्थः । प्रकारता-
रूपार्थपदार्थान्वयि चात्र सत्तारूपं फलम् । फलतावच्छेदकसम्बन्धश्च प्रयोज्यत्व-
म् । तथा च तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-प्रकारतानिष्ठव्याप्यता-निरूपित-प्रयो-
ज्यत्वसम्बन्धावच्छिन्नफलभूतसत्ताश्रयत्वरूपकर्मत्वसम्बन्धावच्छिन्नव्यापकता
द्विर्वचनद्योत्या शब्दनिष्ठसत्तानुकूलव्यापारान्वयिनीति तत्रापि “कर्तुरीप्सि-
ततमम्”इति कर्मत्वात् “कर्मणि द्वितीया”इत्यनेनैव द्वितीयेति बोध्यमिति प्राहुः ।

*सुषिक्तं किं तवेत्यत्रेति । पूज्यसेकः किं त्वत्कर्तृक इत्याक्षे-
पात् सेककर्तुः पूज्यत्वाप्रतीतेरत्र न कर्मप्रवचनीयत्वमिति षत्वं भवत्येवेति
भावः । *सम्भावनाविषयः सत्तेति । अनेन लिङ्गन्तेऽपि धात्वर्थमुच्य-

वनाविषयत्वबोधे दौर्लभ्यस्यापि संभावनाविषयत्वमनुभवसिद्धम् ।

नन्वेवं कर्मप्रवचनीयद्योत्येऽर्थे सर्पिषोऽन्वयेन तस्य कर्मप्रवचनीययुक्तत्वाद् द्वितीया स्यादत आह—द्वितीया त्विति । न त्वपिनेति । विन्दुना योगेऽप्यपिद्योत्यसम्बन्धेनानन्वय इत्यर्थः । कर्मप्रवचनीयद्योत्यसम्बन्धप्रतियोगित्वमेव तद्युक्तत्वम्, प्रकृते चापिद्योत्यस्योक्तसम्बन्धस्य विन्दुः प्रतियोगी, न सर्पिरिति भावः । यदा स्पष्टप्रतिपत्तयेऽपिद्योत्यस्यापि विन्दोः प्रयोगस्तदापि द्वितीयां बाधित्वोपपदविभक्तेरिति प्रथमैव* । तत्र कारकविभक्तित्वं क्रियाजनकत्वार्थकविभक्तित्वमिति दिक् ।

संज्ञाफलमाह—अनुपसर्गत्वादिति । अपि स्तुयादिति । पूर्ववल्लिङ् । *क्रियाविषयं शक्यत्वादिना सम्भावनमपिद्योत्यम् । प्रकृतेऽवाङ्मनसगोचरं विष्णुमपि स्तुयादिति शक्युत्कर्षाविष्करणम् । अत्युक्तिरसम्भाव्यार्थसम्भावनम् । सम्भावनपदस्येदृशार्थकत्वे व्याख्यानमेव शरणम् । विष्णुविषयायाः शक्यत्वसम्भावने चान्यविषया निश्चयेन शक्या कर्तुमिति फलति । शक्युत्कर्षमित्यौचित्योत्कर्षादेरप्युपलक्षणम् । ‘अपि वेदान्तपारंगं हन्यात्’ इत्यादौ हननक्रियायां सम्भावनाविषयौचित्योत्कर्षद्योतनात् । संभावितौचित्यस्य चानुष्ठानमयुक्तमिति अस्य स्वार्थे तात्पर्याभावो धर्मशास्त्रोक्तः सङ्गच्छते । कामचारः—इच्छया प्रवृत्तिः । स्तुहि, मा वा; यथेष्टं कुर्विति यावत् । ‘प्रैषातिसर्ग’ इति लिङ् । अपि स्तुयाद् वृषलमिति । ‘उपसंवाद’ इति सूत्रपठितवार्तिकेन परेणान्तरङ्गेण च ‘गर्हायां लडपि’ इति बाधित्वा सम्भावने लिङ् । क्रियागतं गर्ह्यत्वमपिद्योत्यं वृषलपदसमभिव्याहारात् स्तुतेर्गर्ह्यत्वे फलति । तदेव धिगित्यादिनाऽनूद्यते । अपि सिञ्चेत्यादि । अपिद्वयेन मिलितेन समुच्चयद्योतनात्प्रत्येकं संज्ञाया-

विशेष्यक एव बोध इति बोध्यते । विधावपि यजंतेत्यादौ यागानुकूलो व्यापारः प्रवर्तनासाध्य इति धात्वर्थभावनाविशेष्यक एव बोधः । ‘अभिनिविशते सन्मार्गम्’ इत्यत्र “सन्मार्गविषयकाग्रहवान् इत्यर्थः” इति लेखनं तु फलितार्थपरमेव । नत्वेतावता प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकत्वं चैयाकरणाभिमतमिति भ्रमितव्यम् । लघुमञ्जूषादौ स्पष्टतया तत्खण्डनस्योपलम्भादित्यलम् ।

*प्रथमैवेति । नच तस्य प्रयोगे अपिशब्दस्य अविद्यमानपदार्थद्योतकत्वाभावात् कर्मप्रवचनीयसंज्ञा न स्यात्, ततश्च षत्वं स्यादिति वाच्यम् । अविद्यमानपदार्थद्योतकत्वस्योपलक्षणत्वेनादोषात् । *क्रियाविषयमिति ।

मुभयत्रापि षत्वाभावः ।

कालाध्वनो ॥ अत्यन्तसंयोगो-निरन्तरं संबन्धः । स च गुण-
क्रियाद्रव्यैरभावेन च । तेन मासं भोजनाभाव इत्यादेः संग्रहः । गुणादिभिः
कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे प्रत्यासत्त्या कालाध्ववृत्तिभ्यां द्वितीयेत्यर्थः ।
*मासमधीत इति । *बुद्धिस्थयावदवयवसंबन्धरूपा व्याप्तिर्द्वितीया-
र्थः । 'एकादश्यां रात्रौ जागृयात्' इत्यादावधिकरणत्वविवक्षणान्न द्वितीया ।
इति द्वितीया ॥

स्वतन्त्रः कर्ता ॥ कारकाधिकारात् *क्रियाजनने स्वतन्त्र इत्यर्थ-
स्तदाह-क्रियायामिति । *स्वातन्त्र्यञ्च *कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे प्रधा-

अपि गिरि शिरसा भिन्द्यादित्यादौ । *मासमधीते इतीति । यद्यप्यत्र
अध्ययनकरणकव्यापने धातोर्वृत्त्या मासमास्ते इत्यादाविव कर्मत्वेनैव द्वितीया
सिद्धा तथापि मासं गुडधानाः, क्रांशं कुटिला नदी इत्यादौ क्रियायोगाभावात्
अप्राप्तद्वितीयाविधानार्थमिदमिति भाष्ये स्पष्टम् । मासमासितेत्यादौ कृद्योगे
षष्ठीबाधनार्थं चेदम् । *बुद्धिस्थयावदवयवसम्बन्धरूपेति । मासमधीते
इत्यादौ मासपदस्य त्रिंशद्दिनकूटपरत्वात् दिनस्य च सूर्योदयावधिसूर्यो-
दयान्तरपर्यन्ताखण्डकालरूपत्वात् बुद्धिस्थदिनरूपावयवेषु सर्वेषु अध्ययनस-
म्बन्धे तादृशप्रयोगोपपत्तिः । मासं स्वपितीत्यादौ तु मासघटकदिनपदार्थस्य
क्षणकूटात्मकत्वात् न घटिकादिकालावच्छिन्नस्वापमादाय तादृशप्रयोगः ।
यावदवयवसम्बन्धित्वं च तद्वृत्तिप्रतियोगिव्यधिकरणाभावाप्रतियोगित्वम् ।
तेन दिनरूपावयवे तादृशवच्छेदेन अध्ययनाभावेऽपि नानुपपत्तिरिति दिक् ।
विस्तरस्तु व्युत्पत्तिवादादौ द्रष्टव्यः ।

* इति द्वितीया *

स्वतन्त्रः कर्ता । प्रत्यासत्तिं दर्शयति- *क्रियाजनने इति । *स्वतन्त्र इति । स
च स्वार्थकारकाप्रयोज्यं यत् स्वार्थनिरूपितकारकत्वं तदाश्रयत्वसम्बन्धेन धातु-
विशिष्टः । कारकमात्रवृत्तिक्रियाजनकत्वरूपकारकत्वस्य कर्तृरूपतथाविधकार-
कप्रयोज्यत्वात् नातिप्रसङ्गः । न चैवं सौकर्यादिविवक्षायां "स्थाली पचति" इत्यादौ
स्थाल्यादेः कर्तृत्वानापत्तिः, स्थाल्यादिनिष्ठक्रियाजनकत्वस्य चैत्रादिरूपतत्क-
र्तृप्रयोज्यत्वादिति वाच्यम् । स्वार्थकारकाप्रयोज्यमित्यस्य स्वार्थनिरूपितकार-
कत्वेन विवक्षिताप्रयोज्यमित्यर्थात् । तदा पाककर्तृत्वेन चैत्रादेरविवक्षितत्वात् ।
नन्वेवं यत्र 'हरिणा मां भज' इति प्रयोजितो भक्तो हरिं भजति तत्र 'हरिं भजति'
इत्यनुपपत्तिः, एवं काष्ठैः 'स्थाली पचति' इत्यादौ काष्ठादेः कर्तृत्वापत्तिः, तस्मा-
दारस्य स्थाल्यादिव्यापाराप्रयोज्यत्वात्-अतः स्वातन्त्र्यं परिष्करोति- *स्वा-
तन्त्र्यं चेति । *कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे इति । कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे स्व-
जन्यबोधीयमुख्यविशेष्यताश्रयो योऽर्थस्तदाश्रयत्वसम्बन्धेन धातुविशिष्टः

नीभूतधात्वर्थाश्रयत्वम् । 'पक्स्तण्डुलो देवदत्तेन' इत्यत्र फलस्य प्राधान्ये-
ऽपि देवदत्तस्य कर्तृत्वसिद्धये 'कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे' इति । *णिच-
स्तु वाचकत्वमेव, अतस्तत्र ण्यन्तधातु-तत्प्रकृतिधातु-एतदुभयवाच्यव्या-
पारयोस्स्वस्वार्थं प्रति प्राधान्याद् 'देवदत्तेन यज्ञदत्तः पाचयति' इत्यादौ
*प्रयोज्यव्यापाराश्रयस्यापि कर्तृत्वसिद्धिः । द्योतकत्वे तु नैतत् सिध्येत् ।
'कारके' इति सूत्रभाष्यान्स्वक्रियाकारकप्रवर्तकत्वं स्वातन्त्र्यमिति लभ्यते,
प्रकृतसूत्रभाष्याच्चेति मञ्जूपायां निरूपितम् ।

कर्तेति । विशेष्यतायां मुख्यत्वं च स्वप्रयोजकप्रयोज्यविशेष्यतानिरूपितप्र-
कारताऽसामानाधिकरण्यम् ।

नन्वेवं 'चैत्रेण मैत्रस्तण्डुलं पाचयति' इत्यादौ णिचो द्योतकत्वेन विक्लित्य-
नुकूलव्यापारानुकूलव्यापारस्य पचधातुवाच्यतया प्रयोज्यव्यापारस्य मुख्यवि-
शेष्यताश्रयत्वरूपप्रधानत्वाभावेन तदाश्रयस्य कर्तृत्वानापत्तिरत आह- *णिचस्तु
वाचकत्वमेवेति । एवं च विक्लित्यनुकूलव्यापारवाचकपचनिरूपितं कर्तृत्वं
प्रयोज्यकर्तरि सुलभम्, पाचिनिरूपितं कर्तृत्वं च प्रयोजके सुलभमिति न
कश्चिद्दोष इति बोध्यम् । नच करणतृतीयया निर्वाहः । काष्ठादेः करणत्ववि-
चक्षायां देवदत्तादेः तदविवक्षायामपि कर्तृत्वप्रयुक्ततृतीयार्थं, देवदत्तः शतेन
बन्धयतीत्यादौ शतपदात् "अकर्तर्युक्ते पञ्चमी" इति पञ्चमीनिषेधार्थं च कर्तृत्व-
स्यावश्यकत्वात् इति दिक् ।

प्रयोज्यव्यापाराश्रयस्यापीति । नन्वेतदयुक्तम्-प्रयोजकव्यापा-
राश्रयस्य कर्तृत्वसिद्धिरित्यस्यैव वक्तुं युक्तत्वात् । तथा हि-स्वमते द्यो-
त्यार्थस्य विशेषणत्वस्यैव सिद्धान्तितत्वेन द्वितीयव्यापारस्य णिज्द्योत्यत्वे स
प्रयोज्यव्यापारे विशेषणमेव स्यात् । ततश्च "चैत्रेण मैत्रः पाचयति" इत्या-
दौ मैत्रवृत्तिव्यापारप्रयोज्यश्चैत्रवृत्तिव्यापार इत्येव बोधः स्यात्, प्रयोज्यव्या-
पारस्यैव प्राधान्यादिति चेन्न । न हि द्योतकतां जल्पन्तीत्येतावता बोधे वै-
लक्षण्यमङ्गीकुर्वन्ति । बोधं तु वाचकतावासिद्धमेव मन्यन्ते । नन्वेवमे-
षोऽप्येको द्योतकतावादिनये दोषः स्यात्, यद् द्योत्यार्थस्य विशेष्यत्वमभि-
धीयते इति चेत्-अस्तु, अस्माभिरपि 'चैत्रेण मैत्रः पाचयति' इत्यादौ प्रयोज्य-
स्य चैत्रादेः कर्तृतासिद्धये द्योतकतामतस्य दुष्टत्वनैवाभिलपितत्वात् ।

केचित्तु बोधे वैलक्षण्यमनभिप्रेयतां द्योतकतावादिनामयमाशयः ।
"हेतुमति च" इत्यत्र हेतुमत्पदं प्रयोज्यव्यापारपरमेव । हेतुः प्रयोजको वि-
द्यते यस्येत्यर्थे मनुषो विधानात् । एवं च प्रयोज्यव्यापाररूपे हेतुमति द्योत्ये
णिजित्यर्थ इति विक्लित्यनुकूलव्यापारस्यैव द्योत्यत्वेन तस्य विशेषणत्वेऽपि
क्षतिविरहः । यत्तु णिचः प्रयोज्यव्यापारद्योतकत्वे द्योतकं विना द्योत्यार्थाप्रतीत्या

प्रकृष्टेति । यद्व्यापाराव्यवधानेन क्रियानिष्पत्तिस्तत्प्रकृष्टम् ।

पचतीत्यादिवाक्याद् तद्व्यापारबोधानापत्तिरिति, तन्न । अन्तर्भावितण्यर्थतामङ्गी-
कृत्य पचतीत्यादितो व्यापारद्वयबोधस्यानुभविकतया प्रयोजकव्यापारद्योतकता-
मतेऽपि तत्र बोधानुपपत्त्या द्योतकं विनापि द्योत्यबोधस्याङ्गीकर्तव्यत्वादित्याहुः ।

ननु कर्तृलक्षणे एव कर्तृत्वं प्रविष्टमित्यात्माश्रयः । कर्तृप्रत्यय-
पदस्य कर्तृबोधनियामकतिवादिसमभिव्याहृतशवादितत्ताद्विकरणपरत्वेऽननु-
गमापत्तिः । यग्भिन्नाविकरणत्वेन त्वनुगमोऽशक्यः । पश्यते इत्यादौ
स्य-समभिव्याहारे व्यभिचाराद्, इति चेन्न । अनुकूल्यत्वेनाप्रतीयमानधात्व-
र्थाश्रयत्वस्यैव कर्तृत्वात् । अनुकूल्यत्वेनाप्रतायमीनत्वं च अनुकूलत्वसम्बन्धाव-
च्छिन्नप्रकारतानाश्रयत्वम् । कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे व्यापारं फलस्य अनुकूल-
त्वसम्बन्धेनान्वयात् अनुकूलत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताश्रयत्वं फलेऽस्तीति
न तदनाश्रयत्वमिति न तदाश्रयस्य कर्तृत्वप्रसक्तिः ।

नन्वेवं स्वस्वत्वध्वंससमानाधिकरण-परस्वत्वोत्पत्ती-च्छाबोधानुकूल-
व्यापारार्थकदाधातुनिरूपितकर्तृत्वमुपपत्त्याश्रयस्यापि स्यात्, उत्पत्तिरूप-
धात्वर्थस्य निरुक्तानुकूलत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानाश्रयत्वात् । न चानु-
कूलत्वेन प्रतीयमानत्वे सति अनुकूल्यत्वेनाप्रतीयमानत्वं धात्वर्थे प्राधान्यम्,
उत्पत्तिश्च न तथेति न दोष इति वाच्यम् । तथा सत्यपि 'अग्नेर्माणवकं वारयति'
इत्यादौ संयोगानुकूलव्यापाराश्रयस्य माणवकादेः कर्तृत्वापत्तेः, तद्वृत्तिसंयोगा-
नुकूलव्यापारादेरुक्तरूपत्वात्-इति चेन्न । अनुकूलत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारता-
नाश्रयत्वमित्यस्य स्वाश्रयत्व-स्वनिरूपितावच्छेदकताश्रयत्वान्यतरसम्बन्धाव-
च्छिन्नप्रतियोगिताकप्रकारत्वाभावाश्रयत्वम् इत्यर्थात् । तथाच संयोगानुकूलव्या-
पाराभावानुकूलव्यापाररूपवारिधात्वर्थघटकस्य संयोगानुकूलव्यापारस्य, पर-
स्वत्वोत्पत्तीच्छाबोधानुकूलव्यापाररूपदाधात्वर्थघटकपरस्वत्वोत्पत्तेश्च अनुकूल-
त्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतानाश्रयत्वेऽपि तत्सम्बन्धावच्छिन्नाभावादिनिष्ठप्रका-
रतावच्छेदकताश्रयत्वेन तदन्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारत्वाभावस्यासत्त्वात्
दाश्रयस्य माणवकादेर्न कर्तृत्वम् । एवं च फलाभावादनुकूलत्वेन प्रतीयमानत्वे
सतीति विशेषणं न देयम् । स्वजन्यशाब्दबोधीयानुकूलत्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रका-
रतात्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकाभाववत्त्व-स्वप्रयोज्यावषयताश्रयत्वैतदुभयसम्ब-
न्धेन धातुविशिष्टो योऽर्थस्तदाश्रयत्वं कर्तृत्वम् । प्रतियोगिताच स्वाश्रयत्व-स्वा-
वच्छेदकताश्रयत्वान्यतरसम्बन्धेन प्रकारताविशिष्टा ग्राह्येति निष्कृष्टोऽर्थः ।

यद्वा आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्ना या स्वजन्यशाब्दबोधीयानुकूल-
त्वसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतात्वावच्छिन्ना प्रतियोगिता तादृशप्रतियोगिताकाभा-
वाश्रयत्व-स्वजन्यशाब्दबोधीयमुख्यविशेष्यताश्रयत्वोभयसम्बन्धेन धातुविशि-
ष्टो योऽर्थस्तदाश्रयत्वं तत्त्वमिति ।

नन्वेवं पयन्ताणिचि एकस्य लोपे "यः शिष्यते" इति न्यायेन व्यापा-

*तमग्रहणं किमिति । कारकाधिकारात्करणल्युङन्तकरणेतिमहा-
संज्ञया च साधकत्वे लब्धे साधकग्रहणमेव साधकतमार्थं भविष्यतीति
प्रश्नः । *गङ्गायामिति । अधिकरणमित्यधिकरणल्युङन्तमहासंज्ञयैव
सिद्धे आधारग्रहणसामर्थ्यात्सर्वावयवव्याप्त्या य आधारः सोऽधिकर-
णवित्यर्थः स्यात् । एवञ्च इं सूत्रं 'तिलेषु तैलम्' इत्यादावेव प्रवर्तेत । न
हि गङ्गा तीरं वा सर्वावयवैर्व्याप्ते । तीरधर्मस्य घोषाधारत्वस्यात्यन्तसा-
मीप्यात्मवाहे आरोपोऽत्र बोध्यः । यदा तु व्यवहितो गङ्गातो घोषः
तदा गङ्गाशब्दस्य तत्तीरे लक्षणा । तमग्रहणेन 'शब्दसामर्थ्यगम्यः
प्रकर्षो नाश्रीयते' इति ज्ञाप्यते इति गौणाधारस्याप्यधिकरणसंज्ञा सिद्ध्य-
ति । एवञ्च गङ्गायां गान् इत्यप्युदाहरणम् । सर्वावयवव्याप्त्यभावेन
मुख्याधारत्वाभावात् । गौणमप्याधारत्वादि सप्तम्यादिशक्यमेवेति बो-
ध्यम् । इदं प्रकृतमूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

रद्वयस्यापि प्यन्तवाच्यत्वेन धात्वर्थव्यापारानुकूलव्यापाराश्रयस्य मैत्रादेः 'चै-
त्रेण मैत्रेण पाचयति चैत्रः' इत्यादौ कर्तृत्वानापत्तिः, अनुकूलत्वसम्बन्धावच्छि-
न्नप्रकारतानाश्रयत्वस्य तद्व्यापारेऽसत्त्वात्-इति चेन्न । धातुनिष्ठशक्तिविशिष्ट-
त्वस्यैव प्रधान्यरूपत्वात् । शक्तिवैशिष्ट्यं चोक्तरीत्यैव । शक्तेश्च शक्यतावच्छे-
दकभेदेन भिन्नत्वात् पाचिनिष्ठायाः शक्तेः विक्लित्यकूलव्यापारानुकूलव्यापारा-
नुकूलव्यापारनिरूपिताया विक्लित्यनुकूलव्यापारानुकूलव्यापारनिरूपितायाश्च
विभिन्नत्वेनादोषादिभ्यलं पल्लवितेनेति शिवम् ।

कश्चित्तु ण्वुल्समभिव्याहारे प्रधानीभूतधात्वर्थाश्रयत्वं कर्तृत्वम् ।
ण्वुल्च कर्त्रर्थकः सर्वस्मादपि धातोर्भवतीति न दोष इत्याह ।

साधकतमं करणम् । *तमग्रहणं किम् ? इति* । अयं भावः—
यद्यपि तमग्रहणाभावे साधकमात्रस्य करणसंज्ञाविधाने काष्ठैः पचतीत्यादौ
अनपायभूते काष्ठादौ चरितार्थायाः करणसंज्ञायाः धनुषा विध्यतीत्यादौ अ-
पाययुक्ते धनुरादौ अनवकाशत्वादपादानसंज्ञा प्राप्नोति तद्वारणार्थमिदमावश्यकं
तथापि क्रियतेऽनेनेत्यर्थे करणशब्दस्य निष्पन्नतया महासंज्ञाबलात् कारका-
धिकाराच्च साधकस्यैव करणसंज्ञा स्यात् इति सामर्थ्यात् साधकपदं साधक-
तमार्थं भविष्यतीति तमग्रहणं किमर्थमिति प्रश्नाशयः । *गङ्गायामिति* । एवं
रीत्या "आधारोऽधिकरणम्" इत्यत्राप्यधिकरणल्युङन्ताधिकरणेतिमहासंज्ञा-
बलैर्नैवाऽऽधारस्याधिकरणसंज्ञालाभे आधारग्रहणं सर्वावयवव्याप्त्याऽऽधारपरं
भविष्यतीति गङ्गायां घोष इत्यादौ अधिकरणसंज्ञा न स्यात् । प्रकृतसूत्रस्थ-
तमग्रहणेन तु 'कारकप्रकरणे प्रकर्षार्थप्रत्ययं विना शब्दसामर्थ्यगम्यः प्रकर्षो
नाश्रीयते' इति ज्ञापने तु न किञ्चिद् दूषणम् इति उत्तराशयः ।

*यदि तु महासंज्ञया तदाक्षेपकरणासमर्थं प्रति आधारादिपदं चरितार्थं, साधकशब्दस्य यद्व्यापारानन्तरमव्यवधानेन फलोत्पादस्तेत्र शक्तिः, आधारशब्दस्य चाध्रियते यस्मिन्निति व्युत्पत्त्या कर्तृकर्मणोर्धारणक्रियां प्रति सर्वावयवव्याप्त्या य आधारस्तत्र शक्तिरित्युच्यते, तदोक्तप्रयोगादिसाधनाय कारकप्रकरणे उद्देश्यवाचके पदे स्वरितत्वप्रतिज्ञया गौणाधारादेर्ग्रहणं वाच्यम् । स्वरितेनाधिकं कार्यमित्यर्थात् । तमपि तु प्रकृते

अत्र कश्चित्—यदि “करणाधिकरणयोश्च” इत्यत्रत्यकरणपदं लोकव्यवहारादेव गृहीतशक्तिकं भवेत्तदा लोकव्यवहारेणैव साधकतमनिरूपिताऽपि तत्रत्यकरणपदशक्तिर्गृह्यतेति महासंज्ञाबलादेव साधकतमलाभोऽपि भविष्यतीति साधकग्रहणमपि व्यर्थं स्यात् । एवं च प्रकृते उद्देश्यलाभार्थमेव साधकतमग्रहणस्य करणीयत्वे ‘अर्थः करणम्’ इत्येव क्रियताम् । ‘करणम्’ इत्येव वा क्रियताम्—‘कारकाधिकात्क्रियाजनकमेवाद्देश्याक्रियताम्, नार्थः साधकतमग्रहणेन । करणपदेनैव महासंज्ञाबलेनोपस्थितस्य साधकतमस्योद्देश्यत्वं, च स्यादिति तु न वाच्यम् । एकपदोपस्थाप्ययोरर्थयोरुद्देश्यविधेयभावेनान्वयस्य सर्वादिप्रकरणे शेखरे निरस्तत्वात् । किञ्च “आधारोऽधिकरणम्” इत्यत्राधारग्रहणमपि तथास्ति निरर्थकं भवति । कारकाधिकात्क्रियाजनकस्य महासंज्ञाबलेनैवाधिकरणपदलभ्यस्याधारस्यैवाधिकरणसंज्ञोद्देश्यत्वसम्भवात् । न हि तत्र महासंज्ञाबलेन सर्वावयवव्याप्त्या य आधार इत्यर्थस्य लाभः । अधिकरणलघुद्विधायकशास्त्रस्थेऽधिकरणपदे लोकतोऽधिकरणसामान्यनिरूपितशक्तेरेव ग्रहात् । सति ह्याधारग्रहणे तत्सामर्थ्यात्सर्वावयवव्याप्त्या य आधार इत्यर्थो लभ्यते, तदभावे तु नैव लभ्येतेति दोषानवकाशात् ।

यद्वा अस्तु लोकव्यवहारेण करणपदे “करणाधिकरणयोः” इत्यत्र साधकनिरूपितशक्तेरेव लाभः, अथापि नार्थस्तमग्रहणेन । साधकपदस्यैव साधकतमार्थत्वसंभवात् । “आधारोऽधिकरणम्” इत्यत्र तु आधारग्रहणं मैवास्तु इति न सर्वावयवव्याप्त्याऽऽधारस्यैवाधिकरणसंज्ञा प्राप्नोतीति न ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादौ कोऽपि दोष इत्याह ।

सत्येव साधकतमाधारग्रहणे करणपदे साधकतमनिरूपिता, अधिकरणपदे च आधारनिरूपिता शक्तिर्गृह्यते, तदभावे तु नैव गृह्येत । महासंज्ञया तत्तदर्थनिरूपितशक्तिग्रहस्य बहूनां दुर्लभत्वेन तदर्थं तयोः सार्थक्यात् इत्यभिप्रेत्य कश्चिन्मतनिरासाय प्रकारान्तरेण तमग्रहणचारितार्थमाह *यदितिवित्यादिना ।

तदभावो बोध्यते । एतच्च व्यवधानेन फलोत्पादके करणत्वोपचारेण तृतीयान्तप्रयोगस्यासाधुत्वबोधनं तमफलम् । एतत्तमव्यवशादेवान्यत्र स्वरितत्वमिति ज्ञायते इति दिक् ॥ स्पष्टञ्चेदं “स्वरितेन” इति सूत्रे भाष्ये ।

रामेणेति । *कर्तृतृतीयायाः कर्तृत्वादिशक्तिमान्, कर्तृक्रियाभाव-सम्बन्धश्चार्थः । करणतृतीयायाः करणत्वशक्तिमान्, क्रियाकरणभावः सम्बन्धश्चार्थः । तच्छक्तिमत्त्वञ्च व्यापारवत्येव । *रामकर्तृकबाणकरणक-प्राणवियोगाश्रयो वालीति बोधः ।

प्रकृत्यादिभ्य इति । । इदं यथायोगं *सर्वविभक्त्यपवादः ॥

*कर्तृतृतीयायाः कर्तृत्वादिशक्तिमान् इति । अत्रादिपदेन “त-त्प्रयोजको हेतुश्च” इति विहितकर्तृसंज्ञासमानाधिकरणहेतुसंज्ञाज्ञाप्या कर्तृ-त्वशक्तिसमानाधिकरणा हेतुत्वशक्तिर्गृह्यते । देवदत्तेन यज्ञदत्तेन पाचित ओदन-इत्यादौ देवदत्तहेतुककर्तृकव्यापारजन्य-यज्ञदत्तकर्तृकव्यापार-जन्यविक्रित्याश्र-स्तण्डुलः इति बोधस्यानुभविक्त्वात् इत्यन्यत्र विस्तरः ।

*रामकर्तृकेति । रामकर्तृकबाणकरणकव्यापारजन्यो यः प्राणवियोग-स्तदाश्रयो वालीति बोधः । कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे फलस्य प्राधान्यात् । कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे तु व्यापारविशेष्यक एव बोधः । धात्वर्थव्यापारे बाणादिकरणत्वं च फले तत्करणत्वात् तद्विशिष्टं प्रति करणत्वेनोपपाद्यम् ।

*सर्वविभक्त्यपवाद इति । तत्र ‘प्रायेणात्र याज्ञिका’ इत्यत्र ‘अत्र बहवो याज्ञिका’ इत्यर्थे प्रथमा प्राप्नोति । प्रायशब्दस्य बहुत्वविशिष्टार्थपरत्वात् । तस्य बहुत्वार्थपरत्वे वैशिष्ट्यसम्बन्धेन तस्य याज्ञिकपदार्थे अन्वयात् तदर्थे “इत्थंभूत-लक्षणे” इत्यनेनैव यद्यपि तृतीया सिध्यति तथापि तस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षायां षष्ठी प्राप्ता तां बाधितुमिदम् । तथाच बहुत्वसम्बन्धिनो याज्ञिका इति ततो बोधः । एवं बहुशब्दस्य बह्वाचारपरत्वेऽपि ज्ञाप्यत्वस्य सम्बन्धत्वेन विवक्षायां तृतीया-विधानार्थमिदम् । प्रकृत्या चारुरित्यस्य प्रकृतिसम्बन्धी चारुरित्यर्थः, तत्र षष्ठी प्राप्नोति । गोत्रेण गार्ग्य इत्यस्य गोत्राभिज्ञो गार्ग्य इत्यर्थे प्रथमा, गोत्रसम्बन्धिगा-र्यत्ववानित्यर्थे षष्ठी प्राप्नोति । समेन धावति इत्यत्र धावनकर्मदेशसामानाधिक-रण्याद् द्वितीया प्राप्नोति । द्विद्वेणेन धान्यं क्रीणातीत्यत्र, परिच्छेद्यपरिच्छे-दकयोर्भेदोपचारेण द्विद्वेणाभिन्नं धान्यमित्यर्थात् द्वितीया प्राप्नोति । एवं पञ्चकेन पशून् क्रीणाति, साहस्रेणाश्वान् क्रीणाति इत्यादावपि संघसाङ्घि-नोरभेदात् द्वितीया प्राप्नोति । भाष्यकारास्तु प्रकृत्या स्वभावेन कृतश्चारुः सु-न्दरः ननु वस्त्रादिना, ग्रहणधारणयोः सौकर्याय बाहुल्येन अधीयते याज्ञि-काः, अहं ‘गार्ग्यः’ इति गोत्रेण संज्ञाये (संज्ञातो भवामि), समेन पथा एति ग-च्छति, पञ्चकेन पञ्चपशुसंघसाधनेन मूल्येन पशून् क्रीणाति, साहस्रेण सहस्र-परिमाणेन हिरण्येन अश्वान् क्रीणाति इति सर्वत्र अध्याहृतक्रियादिकमादाय

*दिवः कर्म च ॥ चेन संज्ञयोः समावेशः । तेन दिवः साधक-
तमस्य शक्तिद्वययोगो बोध्यते । तेन 'अक्षैर्देवयते' इत्यत्र *तृतीया परत्वात्,
कर्मत्वाच्च * कर्मत्वप्रयुक्तपरस्मैपदाभावः । अत्र विप्रतिषेधशास्त्रबलात्तृतीयै-
वं शक्तिद्वयबोधिका । यदाऽक्षाणां फलाश्रयत्वसमानाधिकरणकर्मत्वविवक्षा
तदा 'अक्षान्दीव्यति' इत्यादि *साधु । *अक्षाणां देविता' इत्यादौ तृतीयातः
परत्वात्कृद्योगलक्षणा षष्ठी । *मनसा देवः' इत्यादौ *हेतुतृतीयान्तेन पञ्चाद्य-
जन्तदेवशब्दस्य *समासः । न च शक्तिद्वयस्वीकारेऽत्र * कर्मणि लकारे
करणत्वशक्तेरनुक्तत्वेन तृतीयापत्तिरिति वाच्यम् । 'अपादानमुत्तराणि' इ-
त्यस्योदाहरणे 'गां दोग्धि' इत्यादौ तत्र कर्मणि लकारे पञ्चम्यापत्तिवारणा-
यैकद्रव्यगतानेकशक्तिमद्ध्ये एकस्या अभिहितत्वे परस्या- अपि तद्वत् प्रका-
शेनाक्षतेः । एकैव शक्तिः संज्ञाद्वयोपयोगिनीति तु चिन्त्यम् । कर्मादिपदानां
कर्मत्वादितत्तच्छक्तिरूपेण बोधकतया तयोर्भेदस्यैवौचित्यादिति मञ्जू-
षायां विस्तरः ।

फलप्राप्तिरिति । तस्याश्च सत्यां प्रयोजनाभावादेव न क्रियाप्र-
वृत्तिरिति फलप्राप्तिशब्देन तत्पूर्वकस्त्याग उच्यते । सागस्य च फलप्राप्तिर्व्य-
ङ्ग्येत्यन्यत्र विस्तरः । नायात इति । अनेन फलाप्राप्तिरेव स्फुटमुच्यते ॥

करणविभक्तिमुपपाद्य प्रकृत्यादिभ्य इति वार्तिकं प्रत्याचख्युः । तेषां मते उक्त-
प्रयोगेषु संबन्धत्वेन विवक्षायां षष्ठी अनभिधानान्न भवतीति बोध्यम् ।

*दिवः कर्म च । 'अत्र चकारबलेन संज्ञाद्वयसमावेशः । तेनात्र पर्यायेण
तृतीयाद्वितीये । अत एव 'मनसा देवः' इत्यादौ तृतीयासिद्धिः' इति प्राचीनोक्तिं
खण्डयति- *तृतीया परत्वादिति । *कर्मत्वफलमाह- *कर्मत्वादिति । नन्वेवम्
'अक्षान् दीव्यति' इत्यादेः सर्वथैवासाधुतापत्तिरत आह- *यदाऽक्षाणामिति ।
*साध्विति । कर्तुरिति सूत्रेणैतद्विवक्षायां द्वितीयायाः साधुत्वादेवेत्यर्थः । एवं
स्थिते कृद्योगे तृतीयातोऽपि परत्वात् "कर्तृकर्मणोः" इत्येवेत्याहुः ।

*अक्षाणां देवितेति । नन्वेवं षष्ठीस्वीकारे 'मनसा देवः' इत्यादेः का-
गतिरत आह- *मनसा देव इत्यादाविति । *हेतुतृतीयान्तेनेति । कर्तृकर्मबोध-
कत्वाभावात् मनःशब्दात् षष्ठीप्राप्तिः । एतेन 'मनसः कर्मत्वाद् देवेत्यत्राण्, मनः-
शब्दात् तृतीया च' इति मनोरमोक्तिः परास्ता । *समास इति । "मनसः संज्ञाया-
म्" इत्यलुक् । *अत्रेति । 'अक्षा दीव्यन्ते' इत्यत्रेत्यर्थः । *भेदस्यैवौचित्यादिति ।
केचित्तु एकैव शक्तिस्तत्र करणत्वशक्तित्वं कर्मत्वशक्तित्वं च रूपद्वयं भिन्नं भि-
न्नं, करणत्वशक्तित्वेन बोधे करणसंज्ञाऽन्यथा कर्मसंज्ञेति विवेक इति प्राहुः ।

*सहयुक्ते ॥ “पृथग्विनानानाभिः” इतिवत् ‘सहेन’ इत्येव सिद्धे युक्तग्रहणं शब्दविशेषानादरेणार्थयोगे भवत्वित्यर्थमित्याह—सहार्थेनेति । अत एव क्वचित् शब्दयोगं विनापि भवति । तदाह—विनापीति । न्याय-सिद्धेऽर्थे लिङ्गमप्याह—वृद्ध इति । सहार्थः साहित्यं, तच्च स्वसमभिव्या-हृतक्रियादिसमानकालिकतत्क्रियादिमत्त्वं, क्वचित्समानदेशक्रियावत्त्वम् । अत एव माषवापोत्तरं तत्रैव क्षेत्रे तिलवापे “तिलैः सह माषान्वपति” इति भवति । यद्यपि पुत्रेण सहागत इत्यादौ आगमनक्रियाकर्तृत्वादेव पुत्रा-चृतीया सिद्धा तथापि ‘पुत्रेण सह स्थूलः’ इत्यादि अस्य मुख्यमुदाहरण-मिति भाष्ये स्पष्टम् ॥

अङ्गेन—अवयवेन । इदं सन्निधानलब्धम् । अङ्गिनः—अवय-विनः । सूत्रे अङ्गशब्दोऽर्शआद्यजन्तो व्याख्यानादिति भावः । अक्षणा-काण इति । यद्यप्यक्षयेव काणं तथाप्यवयवधर्मस्य समुदाये आरोपाच्छ-रीरे तदवच्छिन्ने च व्यवहारो निरूढ इति ध्येयम् । यद्यपि काणश-

*सहयुक्ते । अत्र अप्रधानत्वं शाब्दगुणाद्यन्वयित्वाभावरूपम् । पु-त्रेण सह स्थूलः पिता इत्यादौ साहित्यवाचिसहशब्दयोगे शाब्दस्थूलत्वादिगु-णान्वयित्वम्, आगत इत्यादौ तादृशक्रियान्वयित्वं च पित्रादेरिति नाप्रधान-त्वम् । पुत्रादेस्तु सहशब्देन स्थूलादिपदसमभिव्याहारबलात् प्रतीयमानैः स्थूल-त्वादिभिरन्वय आर्थो, न शाब्द इति शाब्दत्वरूपविशेषणाभावप्रयुक्तः शाब्द-गुणाद्यन्वयाभाव इति अप्रधानत्वात् तृतीया भवति । इतरसमभिव्याहारं विना शब्देन प्रतीयमानत्वस्यैव शाब्दत्वात् । “सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी” इत्यादौ विद्यमानतावाचिसहशब्दयोगे दशानां पुत्राणां विद्यमानत्वेऽपीत्यर्थके अन्यसमभिव्याहारं विना सहशब्देन प्रतीयमानविद्यमानतारूपपदार्थान्वयि-त्वेऽपि पुत्राणां तदन्वायेगर्दभ्याद्यन्वितवहनादिक्रियान्वयित्वाभावात् विशे-ष्याभावप्रयुक्तः शाब्दगुणाद्यन्वीयत्वाभाव इति अप्रधानत्वात् तत्रापि तृती-या सिध्यति । एवं पुत्रेण सह यः, स गत इत्यादौ वैशिष्ट्यार्थकसह-शब्दयोगेऽपि अप्रधानत्वं बोध्यम् । केचित्तु सहैव दशभिः पुत्रैरि-त्यादौ ‘विद्यमाना’ इत्यध्याहारेण साहित्यरूपमेव सहशब्दार्थमङ्गीकृत्य साहित्यबलात् तत्राध्याहृतक्रियान्वयमङ्गीकुर्वन्ति । तेषां मते तत्रापि शा-ब्दगुणाद्यन्वयित्वाभावो विशेषणाभावप्रयोज्य एवेत्यवधेयम् । अत्र सर्व-त्र आगमनादिसमानकालिकागमनादिकं सहशब्दार्थः । तस्य कर्तृ-त्वादिसम्बन्धेन प्रथमान्ताद्यर्थे अन्वयः । आगत इत्यादिपदप्रतिपाद्याग-मनकर्तृत्वादेश्च आश्रयतासम्बन्धेन तत्रैवान्वयः । विशेषणीभूतागमनादौ च पुत्रादेः कर्तृत्वादिसम्बन्धेनान्वयः । अतो न सापेक्षत्वप्रयुक्ता सपुत्र इत्यादौ समासानुपपत्तिः । कर्तृत्वादिसम्बन्धेन सहशब्दार्थगमनादिकि-

ब्दोऽक्षिगतविकारवाचक एव तथापि 'द्वौ विधौ' इति वदक्षणेति प्रयोग-
स्य साधुत्वम् । ईदृशरीत्येदृशानां साधुत्वे चेदमेव मानम् । षष्ठ्यप-
वादोऽयमित्याह-अक्षिसम्बन्धीति । अङ्गविकारः किमिति । अङ्ग-
ग्रहणप्रयोजनपश्चनः । अक्षि काणामिति । प्रथमां बाधित्वाऽत्रैव*स्यात् ।
लेशतोऽपि दर्शनसामर्थ्यहीनत्वं काणत्वम् ।

इत्थंशब्दः प्रकारमात्रपरः । प्राप्त्यर्थाद् भुवः कर्तरि क्तः । कर्म-
विभक्त्यन्तेत्थंशब्देन भूतशब्दस्य समासः । लक्षणशब्दः करणसाधनः ।
तस्य कर्मषष्ठ्यन्तेनेत्थंभूतशब्देन समास *इत्याह-कंचिदित्यादि ।
जटाभिरिति । यद्यपि ताभिस्तापसो ज्ञात इत्यर्थे ज्ञानक्रियायां क-
रणत्वादिदं सिद्धं, तथापि करणत्वाविवक्षायां लक्ष्यलक्षणभावमात्रवि-
वक्षायां तृतीयार्थमिदम् । इत्थंभूतस्य यत्र लक्षणवाचकात्पृथगुपस्थिति-

यायाः अन्यपदार्थे एवान्वयात् । नापि उद्देश्यतावच्छेदकविधेययोरैक्यापत्तिः ।
कर्तृतासम्बन्धेन आगमनादिवैशिष्ट्यरूपस्योद्देश्यतावच्छेदकस्य विधेयभूता-
गमनादिकर्तृत्वतो भिन्नत्वात् । नापि क्रियावाचकादिपदप्रयोगवैयर्थ्यम् । स-
हपदस्य समभिव्याहतपदप्रतिपाद्यक्रियादिप्रतिपादकत्वस्यैव व्युत्पत्तिसिद्धत-
या तं विना तेन तत्प्रतिपादनासम्भवादिति व्युत्पत्तित्रादे विस्तरः ।

*येनाङ्गविकारः । विकारवाचकः काणशब्दो यदाऽङ्गपरस्तदा अङ्ग-
वाचकात् तृतीया । यथा-अक्षणा काणः । यदा चाङ्गपरस्तदा त्वङ्गवाचकात्
प्रथमा । यथा-अक्षि काणमस्य । एतत्सर्वं च अर्शआद्यजन्ताङ्गपदमहि-
मलभ्यमेवेति तदभावे यदाऽङ्गपरस्तदैव स्यादित्याह-
*अत्रैव स्यादिति । सम्प्रत्युभयप्रसक्तौ लाघवाद्विकृताङ्गरूपशक्यपरग्रहणसम्भवे विकृताङ्गवि-
शिष्टरूपलक्ष्यपरो न गृह्येतेति भावः ।

*इत्थंभूतलक्षणे । *इत्याहेति । तापसत्वादिरूपप्रकारविशिष्टस्य ता-
पसादेर्ज्ञानं येन जटादिना तद्वाचकजटादिपदरूपलक्षणवाचकात् तृतीयेति सूत्रा-
र्थः फलितः । एवं च 'जटाभिस्तापसः' इत्यत्र जटापदोत्तरैतत्सूत्रविहिततृती-
यायाः स्वज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वमर्थः । तस्य तापसत्वादिप्रकारविशिष्टेऽन्वयः ।

परेतु सांख्यमते ज्ञापकत्व-स्थापकत्व-उत्पादकत्वादिभेदेन त्रिविध-
स्यापि हेतोर्हेतौ इति तृतीयाविधायकसूत्रे हेतुपदेन ग्रहणमावश्यकम् । अत एव
'धूमज्ञानजन्यज्ञानविषयो वह्निः' इत्यर्थतात्पर्येण 'धूमेन वह्निः' इत्यादिवाक्यानां
पृथिवीप्रयोज्यस्थित्याश्रयो नरः' इत्यर्थतात्पर्येण 'पृथिव्या नरः' इत्यादिवाक्यानां
'दण्डप्रयोज्योत्पत्त्याश्रयो घटः' इत्यर्थतात्पर्येण 'दण्डेन घटः' इत्यादिवाक्यानां च
प्रामाण्यं सिद्धम् । एवं च स्वज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वात्तार्थकतृतीयाया 'हेतौ' इति सू-
त्रेणैव विधानसिद्धौ तदर्थकत्वे सूत्रस्यैव वैयर्थ्यापत्तिः । अतो लक्षणपदं भावप्रत्य-

यान्ततया ज्ञानपरम् । इत्थम्भूतपदं तूक्तार्थकमेव । जनकत्वं सप्तम्यर्थः । एवं च प्रकारविशिष्टविषयकज्ञानजनकपदात् तृतीयेति सूत्रार्थः । तत्र विशिष्टज्ञानजनकात् 'कमण्डलुपाणि छात्रमद्राक्षीत्' इत्यादौ कमण्डलुपाण्यादिपदात् प्रधानक्रियान्वयनिमित्तकविभक्तेर्वलवत्त्वात् तथा बाधे विशिष्टज्ञानजनकविशेषणज्ञानजनकात् 'कमण्डलुना छात्रो, दृष्टः, जटाभिस्तापस' इत्यादौ कमण्डलुजटादिपदात् तृतीयाऽनेन भवति । वैशिष्ट्यमात्रं तृतीयार्थः । जटादिविशिष्टस्तापसे इत्येव बोधः । एवं च 'घटत्वेन वह्निर्नास्ति' 'रजतत्वेन रङ्गं जानाति' इत्यादौ घटत्वादिपदोत्तरा प्रतियोगित्व-प्रकारित्वादिरूपवैशिष्ट्यार्थिका तृतीयाऽप्यनेनैव । वैशिष्ट्यार्थकत्वायानेकेषां प्रकृत्यादिगणे पाठे गौरवापत्तेः । जटाज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वं तु तापसत्वविशिष्टस्य फलति । नैतावताऽसौ कस्याप्यर्थ इति प्राहुः ।

अन्येतु लक्षणपदं करणसाधनमेव ज्ञानजनकज्ञानविषयत्वेन रूपेण विशेषणार्थकम् । विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणत्वात् । एवं च प्रकारविशिष्टज्ञानजनकज्ञानविषयविशेषणार्थवाचकात् तृतीयेति सूत्रार्थः । अन्यत्सर्वं परेतुमतांक्तमेवात्रानुसन्धेयमित्याहुः ।

केचित्तु ज्ञाप्यज्ञापकभावस्य तृतीयार्थत्वाङ्गीकारेऽपि नात्र हेताविति सूत्रेण गतार्थत्वं शङ्कनीयम् । धूमादिनिष्ठस्य वह्न्यादिज्ञानजनक-धूमादिविशेष्यकवह्न्यादिव्याप्यत्वप्रकारकप्रमा-विषयत्वरूपलक्षणत्वस्य समभिव्याहृतपदार्थतावच्छेदकवह्निवाद्यवच्छिन्ननिरूपितस्य प्रकृत्यर्थतावच्छेदकधूमत्वाद्यवच्छिन्ने "हेतौ" इत्येतद्विहिततृतीयया बोधनात् । अत एव धूमेन पर्वतो वह्निमानित्यादय एव प्रयोगाः, नतु वह्निना धूमवान्पर्वत इत्यादयः । नवा द्रव्यत्वेन वह्निमानित्यादयः । एवं च प्रकृते तृतीयाप्रकृत्यर्थतावच्छेदकजटात्वाद्यवच्छिन्ने अन्वयितावच्छेदकावच्छिन्नतापसत्वादिनिरूपितस्य तद्विशेष्यकतन्निरूपितव्याप्यत्वप्रकारकप्रमाविषयत्वरूपलक्षणत्वस्याभावात् तेनात्र तृतीयाप्रसक्तिः । एतद्विहिततृतीयया तु कादाचित्कजटाज्ञानजन्यज्ञानविषयत्वरूपं लक्ष्यत्वं तापसत्वे बोध्यते । 'अत्र कस्तापस' इति प्रश्ने तत्र अन्यस्य कस्यापि जटावस्त्वाभावात् 'यो जटावान्' इत्युत्तरवाक्यात् व्यक्तिविशेषे जटावस्त्वज्ञाने तापसत्वज्ञानात् ज्ञानजनकज्ञानविषयत्वरूपलक्षणत्वस्य तत्रोपपत्तेः । एतादृशलक्षणत्वं तु वह्निना धूमवान् इत्यादौ न विवक्षितमिति न तत्रानेन तृतीया । कस्मिंश्चिद् गृहे कस्यचित् पुरुषस्य कदाचित् वह्निना धूमवस्त्वज्ञाने तादृशज्ञानमादाय उपपद्यमानलक्षणत्वस्य विवक्षणे तु भवत्येव तादृशः प्रयोगः । अत एव लक्ष्यलक्षणभावमात्रविवक्षायां तृतीयार्थमिदमिति शेषरकारेणोक्तम् । अत एव न मनुवापत्तिः । वैशिष्ट्यार्थकत्वे तु सा दुर्वारेत्याहुः ।

गदाधरभट्टाचार्यास्तु इत्थंभूतेति भूतार्थकप्रत्ययोपादानात्, व्यावर्तकार्थकलक्षणपदोपादानाच्च पूर्वं प्रकारविशिष्टस्य स्वबन्धि यदिदानीमविद्यमानत्वेऽपि व्यावर्तकं जटादि तद्व्याचकात् तृतीया । अविद्यमानजटादेः सम्बन्धविव-

रेव* तत्रैवानेन तृतीया । तेन “कमण्डलुपाणि छात्रमद्राक्षीत्” इत्यादौ कमण्डलुपदान्न तृतीया । न चोत्पन्नायास्तृतीयायाः “सुपो धातु” इति लुगिति वाच्यम् । कृते समासे तस्या उत्पत्त्या समासरूपप्रातिपदिकानवयवत्वादिति कैयटे स्पष्टम् । कमण्डलुः पाणौ यस्येति बहुव्रीहिः ।

परे तु—कमण्डलुपाणिशब्दादत्र तृतीयापत्तिः, कमण्डलुयुक्तपाणिरूपस्य कमण्डलुपाणित्वस्य लक्षणत्वेन तस्यैव तद्वाचकत्वात् । तदुक्तम्—“अनुर्लक्षणे” इति सूत्रे भाष्ये “सकृदसौ कमण्डलुपाणिश्छात्रो दृष्टस्तस्य तदेव लक्षणं भवति” इति । तदेवेत्यस्य कमण्डलुपाणित्वमेवेत्यर्थः । कमण्डलोर्लक्षणत्वे हि स एवेति वदेत् । किं च तन्मध्यपतितन्यायेन तद्विशिष्टस्य प्रातिपदिकत्वेन तस्य तदनवयवत्वोक्तेरनौचित्येन लुको दुर्वारत्वम् । अत एव ‘नरंमन्यः’ इत्यादौ इजन्तस्योत्तरपदपरत्वाय पूर्वं सुपो लुकि उत्पन्नस्यामः “सुपो धातु” इति लुक् अस्मिधिसामर्थ्येन वारित “इच एकाचोऽम्” इति सूत्रे भाष्ये इत्याहुः* ॥

संज्ञोऽन्यतर ॥ दैवादिकस्य जनेर्न ग्रहणं तस्याकर्मकत्वात्, तदाह—जानातेरिति । कर्मत्वशक्तिरेवात्र तृतीयाऽर्थः ॥

क्षयां मतुवाद्यप्राप्तेः । अविद्यमानजटासम्बन्धी तापस इति ततो बाध इत्याहुः ।

*इत्थंभूतस्य लक्षणवाचकात् पृथगुपस्थितिरवेति । लक्षणवाचकपदाप्रयोज्या यत्र इत्थंभूतस्योपस्थितिरित्यर्थः ।

*इत्याहुरिति । वस्तुतस्तु यदुक्तं कमण्डलोर्लक्षणत्वे स एव वदेदिति, तदयुक्तम् । “उद्देश्यप्रतिनिर्द्देश्ययोरैक्यमापादयन् सर्वनाम पर्यायेण तत्तल्लिङ्गभाग् भवति” इत्यस्य स्वेनैवाक्ततया लक्षणशब्दानुरोधेन नपुंसकत्वानिर्द्देशस्योचितत्वात् । यदपि तन्मध्यपतितन्यायेन लुको दुर्वारत्वमिति, तदपि न । तन्मध्यपतितस्य तत्समुदायनिष्ठोद्देश्यनानिरूपितविधेयताश्रयस्यैव तद्ग्रहणेन ग्रहणस्य तन्न्यायेन बोधनात् । अत एव जनराशब्दे न जरस् । नापि ग्रामं प्रापित इत्यादौ “प्राप्तापन्ने” इति समासः । तद्वट्टकस्योद्देश्यत्वेऽपि समुदायस्यानुद्देश्यत्वात् । नरंमन्य इत्यादौ तु खिदन्तोत्तरपदकसमासावयवपूर्वपदस्य खिदन्तरूपोत्तरपदपरकस्य नृरूपस्येजन्तैकाचोऽम् विधीयते इति समुदायस्यापि उद्देश्यत्वं परम्परयाऽस्त्येवेति य “इच एकाचः” इति सूत्रस्थभाष्यविरोधोऽपि । यदुक्तं कमण्डलुपाणिपदात् कमण्डलुयुक्तपाणिरूपकमण्डलुपाणित्वविशिष्टवाचकात् तृतीयाधारणाय लक्षणवाचकादित्थंभूतस्य पृथगुपस्थितिरपेक्ष्यते इति, तच्चाप्ययुक्तम् । कारकविभक्तित्वेन बलीयस्या प्रथमया बाधात् । कारकविभक्तिवत् प्रधानार्थनिमित्तकविभक्तेरपि उपपदविभ-

हेतौ ॥ हेतुरिह कारणं न शास्त्रियः । तस्य कर्तृसंज्ञाया
अपि सत्त्वेन कर्तृतृतीययैव सिद्धेः । ननु लौकिकहेतुरपि करणमित्यत
आह—द्रव्यादीति । आदिना गुणक्रिये । साधारणमिति । तज्जनके-
ऽपि वर्तते इत्यर्थः । करणं तु क्रियाजनकमेवेति भावः । वैषम्यान्तरमाह—
निर्व्यापारेति । करणन्तु व्यापारवदेवेति भावः । *एवञ्च करणत्वशक्ते-
र्भिन्नैव हेतुत्वशक्तिरत्र तृतीयार्थ इति तात्पर्यम् । स्फुटप्रतिपत्तये करणे
वैलक्षण्यमाह—करणत्वान्तिवाति । हेतुहेतुमद्भाव एव तृतीयार्थः ।
दण्डे व्यापारसत्त्वेऽपि क्रियाजनकत्वाभावाच्च करणत्वम् । पुण्ये क्रि-
याजनकत्वेऽपि निर्व्यापारत्वान्न तत्त्वं । फलमपीहेति । इह—एतत्सू-
त्रोदाहरणे । क्वचित्फलमपि हेतुत्वेन विवक्ष्यत इत्यर्थः । तस्यापि स्व-
ज्ञानद्वारा जनकत्वात् । एतच्च “प्रत्ययः” इत्यादिसूत्रेषु कैयटे स्पष्टम् ।

ननु ‘अलं श्रमेण’ इत्यादौ क्रियावाचकपदाभावात्क्रियाया अप्रतीत्या
कथं करणत्वमत आह—गम्यमानाऽपीति । श्रमेणेत्यादिपदजबोधवि-
षयापीत्यर्थः । न तूच्चार्यमाणतद्वाचकपदजबोधविषयैवेति भावः । अलंशब्दो
निषेधार्थस्तदाह—साङ्ख्यं नास्तीति । ननु साङ्ख्यमित्यर्थज्ञानेऽपि तस्य
श्रमेणेति नामार्थत्वेन न क्रियात्वमत आह—इहेति । *स्ववाच्यक्रियां

क्तितो बलवत्त्वस्य “सहयुक्तेऽप्रधाने” इति सूत्रे अप्रधानग्रहणप्रत्याख्यानं ‘शिश्येण
सहोपाध्यायस्य गौः’ इत्यादौ उपाध्यायपदात् तृतीयाव्यावृत्त्यर्थं ध्वनिततया
कर्मणः शेषत्वविवक्षायां “कमण्डलुपाणेच्छात्रस्याद्राक्षीत्” इत्यादावपि न तदा-
पत्तिः । तस्मात् कैयटोक्तमेव फलं युक्तमिति वदन्ति ।

*एवं चेति । ननु हेतुत्वस्य करणत्वनियतत्वाभावेन हेतुतृतीयाया
आवश्यकत्वेऽपि करणत्वस्य हेतुत्वनियतत्वात् हेतुतृतीयया करणतृतीयाया न-
तार्थत्वं संभवत्येवेति चेन्न । हेतुतृतीयावाच्यहेतुत्वशक्तेः करणतृतीयावाच्य-
करणत्वशक्तेश्च घटत्वपृथिवीत्वयोरिव परस्परं भिन्नतया तत्तच्छक्तिप्रकारक-
बोधार्थमुभयोरवश्यकत्वात् । हेतुत्वशक्तेः कारकत्वाभावेन घटवद् भूतलम्
इत्यादौ समालोकदेशे घटादौ दण्डेनेति तृतीयाप्रतिपाद्यहेतुत्वस्यान्वयाभावेन
शरैः शातितपत्र इत्यादौ समालोकदेशशातनादावपि अन्वयासंभवेन तादृशप्रयो-
गाणामसाधुत्वापत्तेश्च । करणत्वविवक्षायां शतेन बभ्रातीत्यादौ “अकर्तृयुगे
पञ्चमी” इति हेतुतृतीयावाधिकां पञ्चमीं बाधित्वा तृतीयाविधानार्थं तदा-
वश्यकत्वाच्च ।

*स्ववाच्येति । स्वघटितपदवाच्येत्यर्थः । ‘ग्रामस्य हिरक्’ इत्यादौ

प्रति स्वस्य करणत्वमित्यर्थः । स्पष्टं चेदम् “इण्यणः” इति सूत्रे ‘प्रविश’
‘पिण्डीम्’ इति ‘वाक्यार्थे वाक्यैकदेशप्रयोगः’ इत्यादिना भाष्ये इति
मञ्जूषायां विस्तरः ।

अशिष्टेति । अशिष्टानां सङ्कीर्णाचाराणां यो व्यवहारः क्रिया
तद्बोधकपदप्रयोगे प्रत्यासत्त्या यत्सम्बन्धेन व्यवहारस्य संकीर्णाचार-
त्वं तद्वाचकाच्चतुर्थ्यर्थे तृतीयेत्यर्थः । दास्येति । दासीसम्प्रदानकं रति-
फलकं दानमिति बोधः* ।

इति तृतीया ॥

दानस्येति ॥ *दाधात्वर्थस्येत्यर्थः ॥ इदमुपलक्षणं *क्रियामात्रस्य ।
कर्मणेति । सम्बन्धुमिति शेषः । अभिप्रैति-इच्छति । कर्मणा सम्बन्धश्च
स्वत्वादिरूपः । सम्प्रदानत्वशक्तिमान् सम्प्रदानचतुर्थ्यर्थः । स एवोद्दे-
श्य इत्युच्यते । क्रियाकारकभावः सम्बन्धश्च तदर्थः । विप्रसम्प्रदानकं
दानमिति बोधः । कर्मणेति किम् । तदभावे हि कर्मणोऽप्युद्देश्यतया

द्वितीयावारणाय धातुवाच्यतावच्छेदकविलक्षणरूपेण नाम्नः क्रियावाचकता-
विरहेऽपि “पिण्डीम्” इत्यादिसंप्रसारणसंज्ञासूत्रभाष्यात् वाक्यैकदेशभूते पदे
तदुपपुरस्कारेणैव क्रियावाचकत्वाङ्गीकारात् । *इति बोध इति । दाण-
धातोः दानपूर्वके उपभोगे वृत्तेः ‘दत्त्वा तया सह (ताम्) उपभुङ्क्ते’ इत्यर्थ इति
लघुमञ्जूषायाम् ।

इति तृतीया ।

कर्मणा यममि । *दाधात्वर्थस्येत्यर्थ इति । तेन खण्डिकोपाध्याय-
स्तस्मै चपेटां ददाति इत्यत्र संयोजनार्थत्वेऽपि तस्मै इति संप्रदानचतुर्थीप्र-
योगः वृद्धिसंज्ञासूत्रस्थः सङ्गच्छते । चपेटा पाणितलम् । संयोगश्च अभि-
घातरूप एव अभिधानस्वाभाव्यात् । *क्रियामात्रस्येति । तेन शिष्याय श-
स्त्रं कथयतीत्यादीनां सिद्धिः । अजां ग्रामं नयतीत्यादौ ग्रामादेः अजादि-
सबद्धत्वेनोद्देश्यत्वाभावात्तातिप्रसङ्गः । तथा विप्रक्षायां तु इव्यने एव चतुर्थी-
ति भावः । अत एव “क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्” इतिवार्तिकप्रत्याख्यानं
सङ्गच्छते । रजकस्य वस्त्रं ददाति इति तु सम्बन्धसामान्यविवक्षायां
बोध्यम् । अत्रहि अधीनीकरणार्थो ददातिः । मुख्यदानं हि स्वस्वत्व-
निवृत्ति-परमात्रस्वत्वोत्पत्ति-एतदुभयानुकूलो व्यापारः । उपेक्षायामतिव्याप्ति-
वारणाय परेत्यादि । स्वासाधारणस्वत्वनिवृत्तिजनके स्वपरसाधारणस्वत्व-
जनके संसर्जनरूपे व्यापारेऽतिव्याप्तिवारणाय परमात्रेति । दानमेव स्वत्वजन-
कं प्रतिग्रहस्तु फलातिशयार्थो न स्वत्वजनकः । अत एव देशान्तरस्थब्राह्म-
णोद्देशेन द्रव्यदाने तस्य मरणे तत्पुत्राणां तस्य द्रव्यस्य पितृदायत्वेन ग्रह-

ऽन्तरङ्गत्वात्तस्यैव संज्ञा स्यात् । *कर्मसंज्ञया तु पर्यायो भविष्यति ।
यंसंग्रहणं किम् । तदभावे क्रियाकर्मणा योऽभिप्रैति ब्राह्मणादि
स्नस्यैव स्यात् । कर्तृसंज्ञा त्वकर्मकविषये सावकाशा । न च क-
र्तुः कर्तृत्वाभावे कथं गोः कर्मत्वम् । कर्मसंज्ञायां कर्तृग्रहणस्य *स्वतन्त्रोप-
लक्षणत्वात् । अत एव 'सार्थाद्धीयते' इत्यत्र कर्तुरपादानत्वेऽपि कर्मणि
लकारः सिद्धः । ननु कर्मणेत्युक्तावकर्मकक्रियोद्देश्यस्य सम्प्रदानत्वं न
स्यादत आह-क्रिययेति । कर्मरहितक्रिययेत्यर्थः । सकर्मकेषु कर्मसंज्ञा
अस्या बाधिकेत्याशयेनाह-पत्ये शेते इति । न च दानादीनान्तर्दर्थ-
त्वात्तादर्थ्यचतुर्थ्यैव सिद्धे किमनया संज्ञयेति वाच्यम् । *“दाशगोघ्नौ स-

णमुक्तं निबन्धेषु । अस्वीकारश्च, तदुत्पत्तिप्रतिबन्धकः । तस्मिन् सति दाने
ऽपि न तदुत्पत्तिः । प्रतिग्रह एव स्वत्वजनक इति मते तु स्वत्वोत्पत्तीच्छा-
बोधानुकूलो व्यापारो दानम् । तदुत्पत्तीच्छामात्रं तु न धात्वर्थः । तदिच्छा-
बोधानुकूलकायिकव्यापारकाले एव ददातीति प्रयोगात् । स्वस्वत्वनिवृत्तिं
विना परस्वत्वोत्पत्तेरयोगात् साऽपि धात्वर्थः । अन्यथा शब्देन परस्वत्व-
बोधे जाते ऽपि ह्यामुष्यायणादाविव तद्वत्तगवादावपि तत्स्वत्वबोधा-
पत्तेः । *कर्मसंज्ञयाऽत्र पर्यायो भविष्यतीति* । ननु 'पत्ये शेते'
इत्यादौ चरितार्थायाः सम्प्रदानसंज्ञायाः गवादौ “कर्तुरीप्सिततमम्”
इत्यनेन अनवकाशत्वाद् बाध एवापादनीयो, न तु पर्याय इति चेन्न । कर्मणे-
त्यस्याभावे “कर्तुरीप्सिततमम्” इत्यस्यैव अस्यापि 'यमभिप्रैति' इत्युक्त्या
कर्तुः स्वव्यापारेण साध्यत्वेनेच्छाविषये फले, तद्वत्त्वेनेच्छाविषये गवादौ चे-
त्युभयत्रैव शीघ्रोपस्थितिकत्वेन प्रवृत्त्या विप्रादाविव पत्ये शेते इत्यावपि अप्र-
वृत्त्या अस्याप्यनवकाशत्वेन पर्यायापादनस्यैवोचितत्वात् । स्पष्टं चेदमत्रैव
भाष्यकैयटयोः । अन्तरङ्गत्वानाश्रयणे तु बाध एवापादनीय इति दिक् ।

*स्वतन्त्रोपलक्षणत्वादिति । इदं च कर्तुरीप्सितसूत्रे निरूपितम् । *पत्ये
शेते इतीति । पतिमुपाश्रित्य शेते इत्यर्थः । संप्रदानपत्युद्देश्यकं शयनमिति
बोधः । क्रियाया अपि प्रारम्भादिक्रियानिरूपितं कृत्रिमकर्मत्वमप्युपपाद्य “क्रिया-
ग्रहणं कर्तव्यम्” इति वार्तिकप्रत्याख्यानं तु प्रारम्भक्रियाकर्मभूतं पतिसंप्रदानकं
पत्नीकर्तृकं शयनमिति बोधः । एवं रीत्या गत्यर्थकर्मण्यपि ग्रामायारभ्यते गमन-
मित्यर्थविवक्षायां चतुर्थीसिद्ध्या “गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ” इति सूत्रमपि
प्रत्याख्यातम् । आरम्भक्रियाया भेदेनानवभासे द्वितीया, तेनावभासे चतुर्थीति
व्यवस्थेति न सङ्करः । कटं करोतीत्यादौ तु आरम्भक्रियाया न भेदेनावभासः
कृधातुना, अनभिधानादिति न तत्र चतुर्थीति सर्वं कैयटे स्पष्टम् । *दाश-

सम्प्रदाने" इत्यर्थत्वात्, *तत्सम्प्रदानकं दानमिति बोधार्थं तदावश्यकत्वाच्च । अन एव तादर्थ्यचतुर्थ्या दानकर्मणो गवादेः सम्प्रदानार्थत्वेऽपि दान-
क्रियायास्तदर्थत्वाभावेन चतुर्थ्यन्तार्थस्य *दानक्रियान्वयानापत्तिरिति हे-
लाराजः । *तादर्थ्यचतुर्थ्यैव सिद्धे "चतुर्थी सम्प्रदाने" इति सूत्रं "रुच्यर्था
नाम्" इत्यादिविषये चतुर्थ्यर्थमिति भाष्ये स्पष्टम् । पशुनेति । कर्म

गोघ्नौ सम्प्रदाने इति* । नन्वत्र दाशगोघ्नौ तदर्थे इत्येव कार्यमित्यत आह- *तत्स-
म्प्रदानकमित्यादि* । *दानक्रियान्वयानापत्तिरिति* । दानक्रियायाः स्वर्गा-
र्थत्वात् स्वर्गरूपोपकारस्य दानक्रियाकर्तृगामित्वात् तद्गतफलद्वारा तज्जन-
कत्वरूपतादर्थ्यस्य ब्राह्मणादिनिरूपितस्य दानक्रियायामभावेन चतुर्थ्यन्ता-
र्थस्य तत्रान्वयानापत्तिरित्यर्थः । 'तदिच्छाधीनेच्छाविषयव्यापाराश्रयत्वं ता-
दर्थ्यम्, न तु तादृशेच्छाविषयत्वमात्रम् । अत एव यागाय यातीत्यादौ चतु-
र्थीसिद्धये "तुमर्थाच्च भाववचनात्" इति सूत्रं चरितार्थम् । अत एव च स्वर्गा-
य पुण्यमित्यादयो न प्रयोगाः इति वदतां गदाधरभट्टाचार्याणां मतेऽपि
तादृशेच्छाविषयव्यापाराश्रयत्वरूपतादर्थ्यस्य पुण्यादाविव दानादिक्रियाया-
मभावात् चतुर्थ्यन्तार्थस्य क्रियान्वयानापत्तिर्भूवैव । मतद्वयेऽपि मुक्त-
ये हरिं भजतीत्यादौ चतुर्थी "क्रियाग्रहणं कर्तव्यम्" इति वार्तिकादेव साध्या ।
"तस्मा इत्युपकार्यं हि कार्यं प्रत्यवमृश्यते ।" इति कैयटोक्त्या, तत्प्रतीकमुपादाय
"विद्यमानमेव यत्किञ्चिदुपकारविशिष्टं कार्यमित्यर्थः । तेन घटाय दण्डः इत्यादि
नेत्याहुः ।" इति विवरणोक्त्या च तदुभयसंमतस्य तद्वतोपकारजनकत्वरूपता-
दर्थ्यस्य, गदाधरसंमतस्य पूर्वोक्ततादर्थ्यस्य च मुक्तिनिरूपितस्य भजने ऽभावा-
दिति दिक् ।

तादर्थ्यरूपरूपविभक्त्यर्थस्य दानादावनन्वये गवादावेवान्वये च
'ब्राह्मणाय गोदानम्' इत्यादौ सापेक्षत्वात् समासानापत्तिः । कारकविभ-
क्त्यर्थसाकाङ्क्षस्येव तादर्थ्यसापेक्षस्यापि समासाङ्गीकारे ब्राह्मणाय कम्बलरोमा-
णीत्यादेरप्यापत्तिरिति बोध्यम् ।

ननु स्वर्गरूपोपकारस्य विप्राद्यगामित्वेऽपि दुग्धाशुपभोगरूपोपकारस्य
तद्गामित्वात् तज्जनकत्वस्य दुग्धादिद्वारा गवादाविव गवादिद्वारा तद्दानादावपि
सम्भवात् तादृशस्यैव तादर्थ्यस्य विवक्षया कैयटादिमते दानादिक्रियान्वयो-
पपत्त्या कारकत्वमुपपद्यते एवेति न तत्प्रयुक्तकार्याणामनापत्तिः सूत्राभावेऽपि
इत्यत आह *तादर्थ्यचतुर्थ्यैवेत्यादि । "चतुर्थी सम्प्रदाने" इत्यस्यावश्यकत्वे च
सम्प्रदानसंज्ञाया अप्यावश्यकत्वात् "दाशगोघ्नौ" इत्यत्र तदर्थे इति पदद्वयघटि-
तन्यासकरणे न लाघवम् । एवं च यथा कथंचित् तादर्थ्यविवक्षया विप्राय गां
ददातीत्यादौ चतुर्थ्युपपादनं न युक्तमिति भावः । अतएव "मैत्रावरुणाय दण्डं
प्रयच्छति" इत्यत्र चतुर्थीश्रुत्या दानक्रियाकर्मसम्बन्धित्वेन मैत्रावरुणस्येदं दण्ड-

तृतीयाऽर्थः । सम्प्रदानं द्वितीयाऽर्थः । एतच्च दानार्थकयजधातुविषयम् ।
पूजार्थत्वे तु पशोः करणत्वं न्यायसिद्धम् । इदं छान्दसमिति कैयटः ।

अन्यकर्तृक इति । अभिलष्यतिकर्त्रपेक्षयाऽन्यदभिलष्यतिकर्म,
तत्कर्तृक इत्यर्थः । *यत्किंचिद्विषयकप्रीत्यनुकूलव्यापाराश्रयोऽभिलष्यति-
कर्ता । हरिर्भक्तिमभिलष्यतीति प्रत्ययात् । यत्किंचिन्निष्ठप्रीत्यनुकूलः प्री-
तिव्यधिकरणो यो व्यापारस्तदाश्रयो रोचनेः कर्ता, इति अभिलषते रुच्य-
र्थत्वाभावाच्च तद्योगे सम्प्रदानत्वमिति भावः । तदाह—हरिनिष्ठेति । प-
थीति । न च प्रीयमाणपदाभावे सूत्रस्य क्रियाजनकत्वमात्रविवक्षायां सं-
ज्ञान्तराप्रामिषिषये चारितार्थ्येन परत्वादधिकरणसंज्ञया बाधसिद्धेः क-
थमेतदिति वाच्यम् । 'देवदत्तं रोचते' इत्यस्याप्यापत्तेरित्याशयात्* । तत्स-
त्वे त्वस्य कर्मसंज्ञापवादत्वाच्च दोषः ।

त्वरूपशेषित्वबोधनात् मैत्रावरुणोद्देश्यकं दण्डदानं कृष्णविषाणप्रासनवन्न प्रति-
पत्तिः, किन्तु अर्थकमेति चतुर्थाध्याये पूर्वतन्त्रे निर्णीतम् इति दिक् ।

रुच्यर्थानाम् । *यत्किञ्चिद्विषयकेति । विषयतासम्बन्धावच्छिन्न-
प्रीत्यनुकूलः प्रीतिसमानाधिकरणः यो व्यापारः स रुचेरर्थः, विषयतासम्बन्धा-
वच्छिन्नप्रीत्यनुकूलः प्रीतिव्यधिकरणो यो व्यापारः सोऽभिलषेरर्थः, स्वीयवि-
षयत्वासामानाधिकरण्यं—स्वीयसमवायित्वासामानाधिकरण्यं—स्वानुकूलत्वमे-
तत्त्रितयसम्बन्धेन प्रीतिविशिष्टो व्यापारो गानादिरूपो भजेरर्थः—इति त्रयाणां
भेद इति बोध्यम् । न च प्रीधातोरपि रुच्यर्थत्वात् प्रीयमाण इति कर्मणि शान-
जनुपपन्न इति वाच्यम् । उभयोरपि समवायसंबन्धावच्छिन्नप्रीतिव्यधिकरण-
व्यापारवाचित्वेऽपि अनेनैव निर्देशेन प्रीधातूपात्तप्रीत्याश्रयस्य न सम्प्रदान-
त्वमिति ज्ञापनात् । अत एव हरिंप्रीणयति भक्तिरित्यादिप्रयोगाः सङ्गच्छन्ते
इति केचित् ।

अन्येतु समवायसम्बन्धावच्छिन्नप्रीत्यनुकूलः प्रीतिव्यधिकरणो
व्यापारः प्रीधातोरर्थः । तत्र फलतावच्छेदकसमवायसम्बन्धेन प्रीत्याश्रय-
त्वात् हरेः कर्मत्वम् । सकर्मकत्वाच्च कर्मणि प्रीयमाण इति शानजुपपद्यते ।
रुचधातोस्तु विषयतासंबन्धावच्छिन्नप्रीत्यनुकूलप्रीतिसमानाधिकरणव्यापार-
वाचित्वेन फलतावच्छेदकसम्बन्धस्य विषयतात्मकत्वात् तेन सम्बन्धेन
प्रीत्याश्रये तु कर्तृसंज्ञया परत्वाद्वाधात् न सकर्मकत्वमिति हर्यादेः स-
मवायेन प्रीतावन्वये षष्ठ्यां प्राप्तायामिदं वचनमिति न प्रीधातुयोगे ऽस्या-
प्रवृत्तिकल्पकत्वं प्रीयमाण इति निर्देशस्येत्याहुः इति दिक् ।

देवदत्तं रोचते इत्यस्याप्यापत्तेरित्याशयादिति । वस्तुतस्तु कर्म-
त्वादिरूपव्याप्यशक्त्यविवक्षायामपि क्रियाजनकत्वरूपकारकत्वविवक्षा आख्या-

गोपी स्मरादिति । श्लाघादेः *स्तुत्यादिना बोधनमर्थः ।
स्मरादिति हेतौ पञ्चमी । स्तुत्याऽऽत्मानुरागं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः ।
स्तुतिश्च कृष्णस्यैव । एवं हनुत्या स्वानुरागं कृष्णं बोधयतीत्यर्थः ।
हनुतिः सपत्न्यादिभ्यः कृष्णस्यैव । एवं स्थित्या शपथेन च कृष्णं स्वा-
नुरागं बोधयतीत्यर्थः । यद्वा स्तुत्या हनुत्या च कृष्णं स्वसखीजनं बोध-
यति, स्थित्या शपथेन च कृष्णं तं बोधयतीत्यर्थः । ज्ञीप्स्यमानपदे *ण्यर्थ-
कर्मणः प्रकृत्यर्थकर्मणश्च ग्रहणादित्यन्यत्र विस्तरः । स्तुत्यादिमात्रार्थ-
त्वे 'कृष्णं श्लाघते' 'कृष्णं हनुते' इत्येव । ज्ञीप्स्यमान इति ज्ञापनवच-
नाज्ज्ञपेः सन्नन्तात्कर्मणि शानच् ।

धारेरु । "धृङ् अवस्थाने" इति ण्यन्तस्य ग्रहणं व्याख्यानात् ।
भक्तायेति । ध्रियमाणं स्वरूपेणावतिष्ठमानं मोक्षं हरिः प्रयुङ्क्ते इत्यर्थः ।
प्रेरणाया भक्तासत्त्वेऽभावात्तस्यापि प्रेरणाजनकत्वेन कारकत्वं बोद्धव्यम् ।
*अवश्यदेयत्वेन मोक्षेऽपि ऋणत्वं बोद्धव्यम् ।

प्रकर्षविवक्षाया न्तिवति । फलाश्रयत्वेन विवक्षायामित्यर्थः ।
परत्वादिति । इदं सूत्रं विषयतया क्रियाजनकत्वमात्रविवक्षायां चरि-
तार्थमिति भावः । पुष्पसम्पदानिकेच्छेति चतुर्थीसमभिव्याहारे बोधः ।

तोपयोगे इत्यत्रोपयोगग्रहणात् नटस्य शृणोतीत्यादावेव भवति, न सर्वत्र । अत-
एव तदर्थकशेषषष्ठ्या न तत्त्वम् । एवं च व्याप्यशक्तिविवक्षाऽऽवश्यकी । ततश्च
तत्तत्संज्ञया बाधे इदं बाध्यसामान्यचिन्तया सर्वस्यापवादः स्यादिति पथश्चतु-
र्थ्यापत्तिरित्येवापत्तिर्बोध्यः । सर्वत्र तथाविवक्षाया अभावादेव 'वारणार्थानामिति
सूत्रमस्यापवादः स्यात्' इति पूर्वोक्तमपि सङ्गच्छते । अन्यथा क्रियाजनकत्वमात्र-
विवक्षायां वारणार्थेत्यस्य चारितार्थ्येन तदसङ्गतमेव स्यात् । किं चैवं सति
सत्यपि प्रीयमाणग्रहणे क्रियाजनकत्वमात्रविवक्षायामस्य चारितार्थ्येन कर्मत्वेन
विवक्षायां भक्तिर्हरिं रोचते इत्यापत्तिर्विवक्षारैव स्यात् इति दिक् ।

*स्तुत्यादिनेति । तत्र गुणवत्त्वबोधकः शब्दः स्तुतिः । अदर्शनयोग्य-
देशस्थापनं हनुतिः । स्थितिः प्रसिद्धा । उपालम्भदानं शापः । अत्र तत्तत्पूर्वक-
बोधने श्लाघादीनां वृत्तिः । *ण्यर्थकर्मणश्चेति । प्राधान्यात् ण्यर्थकर्मणो ग्रहणे
कृष्णं स्वानुरागं बोधयतीत्यर्थः । सन्बलात् प्रकृत्यर्थकर्मणो ग्रहणे कृष्णं स्व-
सखीजनं बोधयतीत्यर्थः ।

ननु ऋणं नाम सजातीयद्रव्यान्तरदानमङ्गीकृत्य परदत्ततदीयद्र-
व्यादानं, तज्जन्योऽधमर्णनिष्ठः परिशोधननाशयोऽदृष्टविशेषो वा । उभ-

कुमार्य इव कान्तस्य व्रस्यन्ति स्पृहयन्ति च ।

इत्यत्र क्रियासम्बन्धित्वमात्रविवक्षया पृष्ठी । अन्ये तु भोगायेत्यज्या-
हृत्य, कान्तायेति विभक्तिविपरिणामेन वा व्याख्येयमित्याहुः । स्पृहया-
तुरिच्छामात्रदात्री *फलावच्छिन्नेच्छावाची च । आद्ये सम्प्रदानत्वम्,
अन्त्ये कर्मत्वम् । ईप्सितत्वं धात्वर्थजन्यफलाश्रयत्वं, न तु फलस्य
धात्वर्थत्वपर्यन्तमाग्रहः । कर्मसंज्ञायान्तु यथा तल्लाभस्तथोक्तम् ।

*भार्यामीर्ष्यतीति । नात्र भार्या प्रति कोपः, किं तु परैर्दृश्य-
मानां तां न सहते इत्येव । एवञ्चात्र न कोपजन्येष्वर्था किन्त्वन्यपुरुषदर्शन-

यथाऽपि नेह प्राप्तिः । मोक्षस्योक्तरूपत्वाभावात्-अत आह । *अवश्यदेयत्वे-
नेति । “लुम्पेदवश्यमः कृत्ये” इति मलोपः ।

*फलावच्छिन्नेच्छावाची चेति । विषयतापत्तिरूपफलावच्छिन्नेच्छा-
वाचीत्यर्थः । आश्रयता च फलतावच्छेदकः सम्बन्धः । तेन सम्बन्धेन विषयता-
रूपधात्वर्थफलाश्रयत्वात्कर्मत्वं पुष्पादीनाम् । इच्छासात्रवाचित्वे इच्छाया
धात्वर्थत्वेऽपि धात्वर्थजन्यत्वाभावाद् विषयतायाश्च धात्वर्थत्वाभावान्न तद्विष-
यस्य कर्मत्वम् । कर्तृग्रहणेन प्रत्यासत्या धात्वर्थफलाश्रयस्यैव कर्मसंज्ञाविधाना-
दिति भावः । अन्येतु फलावच्छिन्नेच्छावाचीत्यस्य विषयतासम्बन्धावच्छिन्ने-
च्छानुकूलमनःसंयोगादिरूपव्यापारवाचीत्यर्थः । इच्छामात्रवाचीत्यस्य च सम-
वायसम्बन्धावच्छिन्नेच्छानुकूलेच्छासमानाधिकरणव्यापारवाचीत्यर्थः । एवं च
पूर्वत्र फलतावच्छेदकविषयतासम्बन्धेन इच्छारूपफलाश्रयत्वात् पुष्पादीनां
कर्मत्वम्, उत्तरत्र च फलतावच्छेदकसमवायसम्बन्धेन इच्छारूपफलाश्रय-
त्वाभावात्पुष्पादीनां न कर्मत्वप्राप्तिरिति शेषपृष्ठीं बाधित्वा अनेन सम्प्रदान-
त्वम् । समवायेन फलाश्रये तु परत्वात् कर्तृसंज्ञयाऽस्य बाधः । पूर्वकल्पेतु वि-
षयतायाः कर्ममात्रनिष्ठत्वात् कर्मस्थभावकत्वापत्तिः । अस्मन्मते तु इच्छायाः
विषयतासमवायान्यतरसम्बन्धेन कर्तृकर्मोभयसाधारणत्वान्कर्तृस्थभावकत्वमु-
पपद्यते । येन कर्ममात्रनिष्ठं फलं प्रतिपाद्यते स कर्मस्थभावकः, येन च कर्तृ-
कर्मसाधारणं फलं प्रतिपाद्यते स कर्तृस्थभावकः इति तल्लक्षणयोः परमलघुम-
ज्जूषायां व्यवस्थापितत्वादित्याहुः ।

*भार्यामीर्ष्यतीति । अन्यकर्तृकदर्शनविषयकासहनरूपो व्यापार ईर्ष्यतेर-
र्थः । दर्शने च भार्यायाः कर्मत्वसम्बन्धेनान्वयः । अत्र अन्यकर्तृकदर्शने एव द्वेषो
न भार्यायामिति ‘यं प्रति कोपः’ इति विशेषोपादानान्न तस्याः सम्प्रदानत्वमिति
भावः । एवं शिष्यमीर्ष्यति इत्यत्र मैत्रमन्योऽध्यापयोदित्यर्थके शिष्यस्य न
सम्प्रदानत्वम् ।

यद्यपि देवदत्ताय ईर्ष्यतीत्यादौ देवदत्तादिसम्बन्ध्युत्कर्षविरोधि-

जन्येति भावः । हरेः *क्रोधद्रोहाभ्यामिच्छाविषयत्वाभावात् "क्रियया यम्" इत्यनेन न सिद्धिः । "न ह्यकुपितः क्रुध्यति" इति भाष्येण *प्ररूढकोप एव क्रोध इति कुपेस्तदर्थत्वाभावेन न तद्योगे इदम् । 'कुप्यति कस्मैचित्' इत्याद्यसाध्वेव ।

उपसृष्टयोरित्यस्यार्थमाह-सोपसर्गयोरिति । वैयाकरणनिकाये एष एतदर्थकत्वेन प्रसिद्धः । पूर्वमूत्रापवादोऽयम् ।

यदीय इति । यदीयशुभाशुभसम्बन्धीत्यर्थः । राधीक्ष्योः प्रश्नविषयार्थपर्यालोचनमर्थः । कर्मणः प्रश्नविषयस्य धात्वर्थेनोपसङ्ग-हादकर्मकावेतौ । अत एव इयन् । 'राधोऽकर्मकादेव' इत्युक्तेः । कृष्णसम्प्रदानकं शुभाशुभपर्यालोचनमर्थः ॥

प्रत्याङ्भ्याम् ॥ व्याख्यानात्प्रत्येकं निमित्तत्वमित्याशयेनोदाहरति-गां प्रतिशृणोतीति । अनयोः प्रवर्तनापूर्वकाभ्युपगमोऽर्थः । तत्र विप्रस्य कर्तृप्रयोजकत्वेन हेतुत्वे प्राप्ते वचनम् ॥

धर्मोपापानुकूलव्यापारजनकश्चित्तवृत्तिविशेष एव ईर्ष्याधातुना प्रत्याख्यते, प्रकृते तु भार्यायां कोपाभावात् तथा, तथापि चित्तवृत्तिविशेषरूपेर्धर्मार्थ-कत्वमुभयत्र समानम् । सा च यस्मिन् ताडनवाकपारुष्याद्यनुकूलव्यापार-जनकचित्तवृत्तिविशेषरूपकोपजन्या तमुद्दिश्य तत्संबन्ध्युत्कर्षविरोधिधर्मोपा-नुकूलं व्यापारं जनयति, यत्र च न उक्तविधकोपजन्या किन्तु अन्यदर्शनजन्या तमुद्दिश्य तत्संबन्ध्युत्कर्षविरोधिधर्मोपापानुकूलव्यापारं न जनयतीति विशेषः । यं प्रति कोप इत्यस्यानुपादाने तु ईर्ष्याजनककोपविषये देवदत्तादाविव तज्जन-कान्यदर्शनविषये भार्यादावपि प्रसज्येतैवं संप्रदानत्वमिति दिक् । ईर्ष्याऽसूयाविषययोः कर्मत्वे प्राप्ते इदमित्याहुः ।

*क्रोधद्रोहाभ्यामिति । वाक्चक्षुरादिविकारानुमेयो वधताडना-द्यनुकूलव्यापारजनकश्चित्तवृत्तिविशेषः क्रोधः । दुःखजनकक्रियाजनकश्चित्तवृत्तिविशेषो द्रोहः । वधादीनां, दुःखस्य च धात्ववाच्यत्वात् तदाश्रय-त्वेन विवक्षितदेवदत्तादेः कर्मत्वाप्राप्त्या षष्ठ्यां प्राप्तायामिदमित्याहुः ।

*प्ररूढकोप एवेति । यावत् वाचः स्फुरणं, चक्षुषो रक्तत्वं, दन्तानां घर्षणमित्यादयो विकारा नाभिव्यज्यन्ते, किन्तु सूक्ष्मरूपेणावस्थिताः तावत् चित्तस्य कोपावस्था । अभिव्यक्तेषु च तेषु क्रोधावस्थेति तयोर्विशेषः । ईर्ष्या पूर्वं व्याख्याता । असूया तु शौचाचारादिषु दम्भादिकृतत्वाध्यासप्रयो-जिका चित्तवृत्तिः । द्वेषस्तु दुःखसाधनत्वज्ञानजन्याऽनभिनन्दनात्मिका चेतना-चेतनविषयसाधारणी चित्तवृत्तिः । साच क्रोधादिभ्यो विलक्षणैवेति न तद्योगे अनेन संप्रदानत्वमिति औषधं द्वेष्टि अस्मान् द्वेष्टीत्येवेत्यलम् ।

अनुप्रति । अनुप्रतीति भिन्नं पदं लुप्तपञ्चम्यन्तम् । गृण इति
ज्ञान्तानुकरणात् षष्ठी । शंसितुः शंसनविषयहर्षानुकूल्यापारलक्षणं प्रो-
त्साहनमनयोरर्थः । पूर्वव्यापारस्येति । शंसनस्येत्यर्थः । प्रोत्साहय-
तीति । ओथामेत्यादिशब्दैरिति शेषः । शानायेति । करणस्यैव सम्प्र-
दानत्वेन भानमत्र । शतव्यापारश्च दानरूप एवेति बोध्यम् ।

*तादर्थ्ये । *तादर्थ्यमुपकारोपकारकभावरूपः सम्बन्धः ।
यदा तादर्थ्यस्य सम्बन्धत्वेन भानं तदा षष्ठी-गुरोरिदं गुवर्थमिति अत्र
भाष्ये स्पष्टम् । क्लृपीति सप्तमी । अर्थग्रहश्चात्र । सम्पत्तिः-उत्पत्तिः ।
क्लृप्यर्थकधातुयोगे उत्पद्यमानेऽर्थे वर्तमानाच्चतुर्थीत्यर्थः । हितयोगे च ।
चात्सुखयोगेऽपि ॥

*क्रियार्थोप ॥ क्रिया अर्थः फलं यस्य तत् क्रियार्थम् । तेन स्व-
वाचकं लक्ष्यते । क्रियाफलकार्थवाचकमुपपदं यस्येत्यर्थः । सोऽर्थश्च प्रत्या-
सत्या क्रियारूप एव । स्थानिशब्दश्च अप्रयुज्यमानवाची वैयाकरणानां
निकाये प्रसिद्धः । क्रियार्थक्रियोपपदत्वञ्च तुमुनादेरेवेत्याह—क्रियार्था
क्रियेति । फलेभ्यो यातीत्यादौ फलकर्मकाऽऽहरणफलकं यानमिति
बोधः । यथा वाक्यार्थे वाक्यैकदेशप्रयोगस्थले 'प्रविश पिण्डीम्' इत्यादौ
तस्यैव पदस्य संपूर्णवाक्यार्थशक्तता तथाऽस्य समुदायस्याहरणघटितोक्तार्थे
शक्तिरेतच्छास्त्रबलात् । स्थानिन इत्युक्तेस्तत्प्रयोगे नेति बोध्यम् ।
अयमेवार्थाद्व्याहारः ।

नमस्कुर्मो नृसिंहायेति । "नमःस्वस्ति" इत्यनेन तु न सिद्धिः,
उपपदविभक्तेरिति न्यायेन द्वितीयापत्तेः । पिण्डीमित्यादावप्रयुज्यमानभ-

*तादर्थ्यमिति । इदं संप्रदानसेक्षासूत्रे निरूपितम् ।

*क्रियार्थोपपदस्य । ननु ब्राह्मणाय दधीत्यादौ यथा स्वसंबन्धि-
भोजनरूपोपकारजनकत्वरूपतादर्थ्यसंबन्धेन ब्राह्मणादेरन्वयविवक्षया चतुर्थी
ब्राह्मणादिपदोत्तरं प्रयुज्यते तथा फलेभ्यो यातीत्यादावपि स्वसम्बन्ध्याहरणा-
दिजनकत्वसम्बन्धेन फलादेर्यानादिक्रियायामन्वयविवक्षया फलादिपदेभ्योऽपि
चतुर्थी सिध्येदिति व्यर्थम् । नचोक्तविवक्षायां फलान्याहर्तुं यातीत्यादा-
वपि तदापत्तिरिति वाच्यम् । उपपदविभक्तेरिति न्यायेन तत्र द्वितीयाया
एव युक्तत्वादिति चेन्न । फलकर्मकाहरणफलकं यानमिति बोधेच्छायाम् आ-
हरणादिक्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपितकर्मत्वसंबन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वेन

क्षणक्रियाकर्मणि चतुर्थीवारणाय *क्रियार्थोपपदस्येति ।

तुमर्थात् ॥ 'तुम्'शब्देन तदर्थो लक्ष्यते, सोऽर्थो यस्येत्यर्थः ।
इति सूत्रेणेति । भावे ये प्रत्यया वक्ष्यन्ते ते क्रियार्थक्रियायामुपपदे
भविष्यति स्युरिति तदर्थः । यागायेति । *यागफलकं यानमित्यर्थः ।

उपपदविभक्तोरिति । वाचनिकमेवेदं भाष्ये पठितमिति के-
चित् । क्रियाकारकयोः सम्बन्धोऽन्तरङ्गः, उपपदार्थेन तु यत्किञ्चित्-
क्रियाकारकभावमूलकः सम्बन्ध इति तन्निमित्ता विभक्तिर्वहिरङ्गेति
“अन्तराऽन्तरेण”इति सूत्रे कैयटः । अत्राहुः—एवं सति 'नमस्यति देवान्'
इत्यादौ नमःपदार्थे क्रियाकारकभावेनैवान्वये परत्वाच्चतुर्थीमाशङ्क्यानेन
वारणस्य*भाष्योक्तस्यासङ्गतिः । *एतेन प्रधानत्वात् क्रियायास्तत्सबन्ध-
निमित्तकत्वेन बलवत्त्वमित्यपि *परास्तम् । कारकविभक्तित्वं च क्रिया-
जनकत्वसमानाधिकरणकर्त्रादिषट्कान्यतमार्थत्वम् । अन्याभिहितानुद्-
भूतकर्त्राद्यन्यतमार्थत्वं प्रथमाया अपि । “अभिहिते प्रथमा”इतिवार्तिकस्वा-

तात्पर्यविषयात् फलादिपदात् चतुर्थीसिद्धये एतस्य सत्त्वात् । गदाधरमते
यानादिक्रियायां निरुक्तेच्छाविषयव्यापाराश्रयत्वरूपतादर्थ्यस्याभावाच्च । *क्रि-
यार्थोपपदस्येतीति । यद्यपि 'प्रविश, पिण्डीम्' इत्यादौ प्रवेशनक्रिया भक्षणार्था
भवति तथापि प्रविशेत्यादीनां “तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्” इति परिभाषितमुपपदत्वं
नास्ति, फलान्याहर्तुं यातीत्यादौ यातीत्यादीनां तु तुमुन्विधायके 'क्रियार्थायां
क्रियायाम्' इत्युक्तेस्तदस्तीति भावः ।

*यागफलकं यानमिति । अत एव क्रियार्थोपपदस्येत्यनेन न गता-
र्थता । तथा सति यागानुकूलकृतिफलकं यानमिति बोधः स्यात् । तादर्थ्य-
चतुर्थ्यास्तु अत्र न प्राप्तिः । भाववचनाश्चेत्यनेन तुमुनर्थे घञो विधानेन तेनैव
तस्योक्तत्वात् । तस्मात् तुमुन्नतादिव तदर्थकघञन्तादपि प्रातिपदिकार्थमात्रे
प्रथमायां प्राप्तायां चतुर्थ्यर्थमिदमिति वैयाकरणाः । भाववचनाश्चेत्यनेन तुमुनर्थे
घञो विधानात् भविष्यद्यागफलकं यानमिति बोधाकारः प्रदर्शनीयः ।

भाष्योक्तस्यासङ्गतिरिति* । उभयोरपि क्रियाकारकभावसम्बन्धनि-
मित्तकत्वेन अन्तरङ्गत्वे तस्य बाधधीजत्वाभावात् परत्वाच्चतुर्थ्याशङ्कायां तस्य
द्वितीयाध्यवस्थापकत्वायोगात् तदसङ्गतिरित्यर्थः । तस्माद्वाचनिकमेवेदम् । एवं
च द्वितीयाचतुर्थ्याः प्राप्तयोः परत्वाच्चतुर्थ्याशङ्कायां वाचनिकेनानेन व्यवस्था
युज्यते इति भावः । *एतेन—पूर्वोक्तचतुर्थीवारणपरभाष्यासङ्गतिप्रदर्शनेन ।
परास्तमिति । चतुर्थ्या अपि क्रियासम्बन्धनिमित्तकत्वेन तेन हेतुना द्विती-
याया बलवत्त्वासम्भवादित्यर्थः ।

रस्यात् । अतः प्रथमापि कारकविभक्तिरिति बोध्यम् । द्वावित्यादौ द्वित्वा-
देरिव 'देवदत्तः पचति' इत्यादौ उभाभ्यामेकस्यैव कर्तृत्वस्य बोध इति न
तद्बोधावृत्तिः ।

नमस्करोति देवानिति । उत्कृष्टनिष्ठो यः *स्वनिष्ठापकृष्टत्व-
बोधः तदनुकूलव्यापाररूपनमस्कारफलस्य * तादृशबोधस्याश्रयतया देवानां
कर्मत्वम् । स्वशब्देन प्रयोक्ता । नमःशब्दस्य साक्षात्प्रभृतिषु ऊर्गादिषु वा
पाठेन गतित्वात्सत्त्वम् । * एकस्या एवोपपदविभक्तित्वे कारकविभक्तित्वे
चायं न्याय इति तु न युक्तम् । "नमस्यति देवान्" इत्यत्रैतत्परिभाषो-

परेतु क्रियाजनकत्वसमानाधिकरणकर्त्रादिषट्कान्यतमार्थकविभक्तेः
उपपदार्थान्वयनिमित्तकविभक्त्यपेक्षया वचनेन बलवत्त्वाङ्गीकारेऽपि पुत्रेण
सहागतस्य पितुर्धनम्, शिष्येण सहोपाध्यायस्य गौः इत्यादौ षष्ठ्या-
स्तरत्वाभावात् उक्तवचनेन बलवत्त्वबोधनासम्भवात् तेन न्यायेन तृतीयां
वारयित्वा कृतस्य अप्रधानग्रहणप्रत्याख्यानस्यासङ्गतिः । तस्मात् प्रधानान्वय-
निमित्तकविभक्तित्वमेव कारकविभक्तित्वम् । क्रियार्थककारकपदेन प्राधान्यो-
पलक्षणात् । प्रधानकार्ये च सर्वतो बलवत्त्वस्य गतिबुद्धीतिसूत्रे व्यधस्थापनात्
तन्मूलिकैवेयं परिभाषा इति प्राचामाशयः । नमस्यति देवानित्यादौ चतुर्थ्याः
प्रधानधात्वर्थान्वयनिमित्तकत्वेऽपि अन्यत्र उपपदार्थधात्वर्थयोर्मध्ये धात्वर्थस्यैव
प्राधान्यात् प्रधानतावच्छेदकक्रियात्वरूपधर्मावच्छिन्नान्वयनिमित्तकत्वं द्विती-
याया एव नतु चतुर्थ्या इति न तेन न्यायेन द्वितीयाया बलवत्त्वप्रतिपादकभाष्या
सङ्गतिः । एवमन्तरङ्गमूलकत्वाङ्गीकारेऽपि नैतद्भाष्यविरोधः । नमस्यति देवा-
नित्यादौ नमःपदार्थस्य धात्वर्थघटकत्वेन तत्र क्रियाकारकभावेनैव देवादिपदा-
र्थान्वयेऽपि क्रियाकारकभावेनान्वयस्य चतुर्थी प्रत्यनिमित्तत्वात् । तं विनाऽपि
हरये नम इत्यादौ तदुत्पत्तेः । तस्मात् कैयटोक्तं प्राचीनांक्तं च सम्यगेवेत्याहुः ।

*स्वनिष्ठापकृष्टत्वेति । स्वविशेष्यको यः अपकृष्टत्वबोधस्तदुद्देश्यको
व्यापारो नमस्कारस्तत्फलस्येत्यर्थः । तेन प्रयोक्तुः नमस्कार्यापेक्षया अपकृष्ट-
त्वाभावेऽपि उत्कृष्टत्वाभिमाननिरासार्थं न अपकृष्टोद्देशेन नमस्कारप्रयोगानुप-
पत्तिः । नापि चैत्रोद्देशेन नमस्कारे मैत्रस्य बोधेऽपि मैत्रं नमस्करोतीतिप्रयोगा-
पत्तिः, तद्बोधस्योद्देश्यत्वाभावादिति बोध्यम् । एषोऽर्थः शिवाय नम इत्यादौ
त्यागो नमःशब्दार्थः । त्यागश्च स्वस्वत्वनिवृत्त्यनुकूलो व्यापार इति लघु-
मञ्जूषायां विस्तरः ।

*नमस्कारफलस्येति । निपातानां द्योतकत्वात् कृधातोरेव फलवाच-
कत्वात् धात्वर्थफलाश्रयत्वात् कर्मत्वं देवानां सिध्यति । वाचकत्वाभावेऽपि बो-
धरूपफलनिष्ठविषयताया नमःपदप्रयोज्यत्वाच्चतुर्थीप्राप्तिरिति न्यायाश्रयणमिति
भावः । * एकस्या एवेति । 'तत्र च दीयते' इत्यादौ पाणिन्युच्चारिताया एकस्या

पन्यासपरभाष्यविरोधात्, “सहयुक्ते” इत्यादिसूत्रस्थभाष्यविरोधाच्च ।

अलमितीति । अलमित्यनेन पर्याप्त्यर्थानां ग्रहणं व्याख्या-
नादित्यर्थः । तत्र ज्ञापकमप्याह—तस्मैमेति । षष्ठ्या अपि साधुत्वे
वीजं—स एवामिति ।

आशीर्विवक्षायामिति । *आशीर्विषयत्वविवक्षायामित्यर्थः ।
स्वस्त्यर्थः कुशलं मङ्गलं वा । स्वस्तियोगे चतुर्थ्या अवकाशः—स्वस्ति
जालमायास्तीति तत्त्वकथनम् । कुशलार्थैराशिषीत्यस्यावकाशः स्वस्ति-
भिन्नाः कुशलार्थाः । स्वस्तिशब्दोऽनव्ययमपि* ।

प्रतिगृह्णामि ते धेनुं कुटुम्बार्थे विशेषतः ।

स्वस्तिर्भवतु मे नित्यं सुखञ्चानुत्तमं तथा ॥

इति भविष्योत्तरे प्रयोगात् ।

मन्यकर्मणि ॥ तिरस्कार इति । अनादरो न आदराभावमा-
त्रम्, अपि तु नञोऽधर्मादाविव प्रतिपक्षवाचित्वात्तिरस्कार इति भावः ।
तत्रानादर इति मन्यकर्मविशेषणं तदुद्योतकं यत्कर्मेत्यर्थः । तेन युष्मच्छ-
ब्दाच्चतुर्थी न । तिरस्कारश्च व्याख्यानादपकृष्टनिरूपितोपमेयत्वस्याप्यभाव-
रूप उपमेयेऽत्र गृह्यते न त्वपकृष्टसादृश्यरूपः । तत्प्रतीतिश्च नञ्समभि-
व्याहारे एव । तृणतुल्यमपि न मन्ये इत्यर्थः । ‘तृणाय मत्वा रघुनन्द-
नोऽपि’ इत्यादौ नञोऽध्याहारः, तदाह—न त्वां तृणमिति । कर्माऽत्र चतु-
र्थ्यर्थः । इत्यनेति । न तु यका, व्याख्यानादिति भावः । श्यंस्तूपलक्षण-
म् । तेन लिङादावपि भवति । तत् ध्वनयन्नाह—तानादिकयोगे नेति ।
नौकाकेति । भाष्ये येषु प्राणिषु नेष्यते ते नावाद्यो भविष्यन्तीति
येष्विति बहुवचनेन वृत्त्युदाहरणबलेन चैष्वेवानिष्टनिर्णय इति भावः ॥

एव सप्तम्यादेः उपपदार्थान्वयनिमित्तकसाधुत्वकविभक्त्यर्थबोधतात्पर्येणोच्चरि-
तत्वं, क्रियान्वयनिमित्तकसाधुत्वकविभक्त्यर्थबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वं वेति संदेहे
कारकविभक्तैर्बलवत्त्वबोधनेन तदर्थबोधतात्पर्येणोच्चरितत्वनिर्णायिका वाचनि-
की परिभाषा इति तेषामाशयः । तदाशयानवबोधमूलकमेव खण्डनमित्याहुः ।

*आशीर्विषयत्वेति । एतेन आशिषः स्वस्तिशब्दार्थत्वं निराकृतम् ।
तस्य तदर्थत्वे स्वस्ति गोभ्यो भूयादिति स्वस्तिशब्दयोगे आशीर्लिङः प्रयोगाना-
पत्तेः । *अनव्ययमपीति । चतुर्थी तु साहचर्यात् अव्यययोगे एवेति बोध्यम् ।

इति चतुर्थी* ।

गन्धर्थकर्म ॥ कर्मात्रापि चतुर्थ्यर्थः । गत्यर्थेति किम् । ओदनं पचति । कर्मणीति किम् । अश्वेन गच्छति । चेष्टायां किमिति । धात्वर्थस्य क्रियारूपत्वात् प्रश्नः । शरीरक्रियाया एव ग्रहणमित्युत्तरम् । पन्थानमिति । अध्वशब्दोऽर्थपरो व्याख्यानादिति भावः । अधिष्ठित इति । शब्दप्रयोगसमकालिकगन्तुव्यापारजन्यफलाश्रय इत्यर्थः । अध्वपदेन गन्तुव्याप्तोऽर्थ उच्यते, तेन गन्तुयुक्तस्त्रियां 'स्त्रियं गच्छति' इत्यादौ न । स्पष्टश्चेदं भाष्ये । उत्पन्नादिति । उत्पत्तं सन्त्यज्येत्यर्थः । इष्यत इति । न त्वाक्रान्त इत्यर्थः । उत्पत्तेनेति । गन्तुमशक्त इति शेषः ॥

इति चतुर्थी ॥

ध्रुवमपायेऽपि ॥ ध्रुवं स्थिरम् । अपायो विभागजनको व्यापारः, तदनाश्रयमिति यावत् । विभागश्च न वास्तवसम्बन्धपूर्वको वास्तव एव, किं तु बुद्धिपरिकल्पितसम्बन्धपूर्वको बुद्धिकल्पितोऽपि । “माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः” इत्यादौ बुद्धिकल्पितापायाश्रयेणैव भाष्ये पञ्चमीसाधनात् । कर्तृवारणाय ध्रुवमिति । अन्यथा कर्तृसंज्ञाया इयमपवादः स्यात् । अपायविषये यत् कारकं तद्रूपक्रियाजनकं तदपादानमित्यर्थसम्भवात् । कर्तृसंज्ञा तु पचत्यादियोगे चरितार्था । हरिरप्याह—

अपाये यदुदासीनञ्चलं वा यदि वा ऽचलम् ।

ध्रुवमेवातदावेशात्तदपादानमुच्यते ॥ इति ।

स्पष्टश्चेदं कैयटादौ । भाष्यानुसारिणस्तु एवं हि ‘त्रस्तादश्वात्पतितः’-‘धावतः पतित’ इत्यादौ ध्रुवत्वाभावादपादानत्वं न स्यादित्याशङ्क्य “अध्रौव्यस्याविवक्षितत्वमत्र, यतः सतोऽप्यविवक्षा भवति” इति समाहितं भाष्ये, तदसङ्गतं स्यात् । त्वदुक्ताध्रुवत्वस्य पतधात्वर्थव्यापाराश्रयत्वस्यात्रासत्त्वेन सतो ऽध्रौव्यस्याविवक्षेत्यस्यासङ्गतेः । सिद्धान्तेऽपि त्वदुक्तध्रुवपदार्थकथनमेवोचितमिति तदसङ्गतिश्च । लोकसिद्धातिरिक्तार्थे ध्रुवपदस्य शक्तिकल्पने गौरवञ्च । अतदावेशादित्यस्य हरिकारिकायां तदावेशाविवक्षणादित्यर्थः । *तस्मादपाये गतिविशेषे सति यद् ध्रुव* मवधिभावोपगमाश्र-

ध्रुवमपाये । प्रकृतधात्वर्थप्रधानाभूतव्यापारानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयत्वं ध्रुवत्वं प्राचीनाभोधं, तद्विपरीतमाह— *तस्मादित्यादि* । अ-

यत्वे सति *तदतिरिक्तस्यावधित्वोपयोगिव्यापारस्यानाश्रयं तदपादान-
मिति सूत्रार्थः । त्रासादेरवधित्वोपयोगित्वाश्रयणेन शङ्का, 'वृक्षात्पर्णम्' इ-
त्यादौ तस्यासत्त्वान्न तदुपयोगित्वं तस्य, प्रकृते विद्यमानस्यापि तस्या-
विवक्षितत्वाच्च तदुपयोगित्वं तस्येत्युत्तरम् । ध्रुवमपाये इति तु वृक्षस्य
पर्णं पततीत्यादौ वस्तुतस्तस्य पर्णद्वारा पातजनकत्वात्प्राप्तापादानत्ववारणा-
य । एवञ्चापाये इति-कारके इत्यस्य क्रियाजनकत्वेन विवक्षिते इत्यर्थे ता-
त्पर्यग्राहकं बोध्यम् । ध्रुवग्रहणन्तु कारकान्तराणामिवापादानस्यावधिभा-
वोपगमातिरिक्तव्यापाराभावबोधनाय* इत्याहुः ।

अपादानत्वशक्तिश्च प्रकृतधात्वर्थविभागाश्रयत्वसमानाधिकरणेति
अपादानसमभिव्याहारे विभागोऽपि धात्वर्थ इति बोध्यम् । ए-
वञ्च वृक्षात्पततीत्यादौ तदपादानकविभागपूर्वकः संयोगः पर्णवृत्ति-
रिति बोधः । 'वृक्षाद् भूमिं पतति' इत्यादौ वृक्षापादानकवि-
भागपूर्वकसंयोगानुकूलो व्यापार इति बोधः । परस्परस्मान्मेषाव-
पसरत इत्यादौ मेषपदोपात्तयोरेव क्रियाश्रयत्वात्कर्तृत्वं, परस्परपदो-
पात्तयोरेव विभागाश्रयत्वादपादानत्वम् । मेषपदोपात्ते तदविवक्षणात् । प्र-
योगानुसारित्वाद्विवक्षायाः । विभागपूर्वकं पृष्ठतो गमनमपसरणम् । आत्मा-
नमात्मनेसादावन्तःकरणाद्युपाधिकृतभेदवत् शब्दरूपोपाधिकृतभेदाग्रहणे
मानाभावात् । शब्दालिङ्गितार्थभानस्यैव सत्त्वाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः ।

यच्चपसरत इति सूत्रातुना गतिद्वयस्याप्युपादानादेकानिष्ठाङ्गतिं
प्रति इतरस्यापादानत्वमविरुद्धमिति, तन्न । वस्तुतस्तन्निष्ठव्यापारयोर्भेदे-
ऽपि सूत्रातुना निवृत्तभेदस्यैवापायस्योपादानादुभयोरपि तत्क्रियाश्रय-
त्वेन परत्वात्कर्तृत्वापत्तेः । अत एवैकशेषसूत्रे भाष्ये उक्तं "न वै तिङ्-
न्तान्येकशेषारम्भं प्रयोजयन्ति क्रियाया एकत्वात्" इति । धनुषा विद्ध-
तीत्यत्र निःसरच्छरजन्यवेधार्थत्वाद्यधेरपादानत्वकरणत्वोभयप्राप्तौ प-
रत्वात् करणत्वं बोध्यम् ।

ग्रामादायातीत । आयातेर्विभागपूर्वकोत्तरदशसंयोगानुकूलो

वधिभावोपगमाश्रयत्वे सतीति* । अवधित्वेन विवक्षितत्वे सतीत्यर्थः । *त-
दतिरिक्तस्य अवधित्वोपयोगिव्यापारस्य-अवधिताप्रयोजकप्रकृतधात्वर्थस्य, त-
द्भिन्नस्य वेत्यर्थः । *व्यापाराभावबोधनायेति* । एतेन सौकर्यादिविवक्षायां
'स्थाली पचति' इत्यादिवत् अश्वः पततीत्यादयो नेति सूचितम् ।

व्यापारो ऽर्थः । वृक्षन्त्यजतीत्यादौ व्यापारव्यधिकरणविभागस्यैव धा-
त्वर्थत्वेन कर्मसंज्ञायाऽपादानत्वस्य बाधः । स्पन्देस्तु न विभागो ऽर्थ इति
वृक्षे स्पन्दत इत्येव । चलतेस्त्वासनाच्चलित इति प्रयोगादस्त्येव वि-
भागार्थत्वम् । सार्थाद्धीयत इत्यत्र सार्थस्य धात्वर्थप्रधानव्यापाराश्रयत्वेऽपि
“अपादाने चाहीयरुहोः” इति ज्ञापकात्कर्मप्रत्ययान्तहीधातुप्रयोगे ऽपादान-
त्वम् । कर्मसंज्ञायाश्च कर्तृपदं स्वतन्त्रोपलक्षणमिति कर्मणि लकारः ।
सार्थेन त्यज्यते देवदत्त इत्यर्थः ।

धावत इति । क्रियाविशिष्टस्याप्यश्वस्य प्रकृतधातूपात्तगत्यना-
वेशात्, धावनस्याविवक्षणाद्वा ध्रुवत्वं बोध्यम् ।

जुगुप्सेत्यादि । *जुगुप्सादीनां यद्विषयकत्वेन विवक्षा तदपा-
दानम् । तस्यैव विषयस्य क्रियाजनकत्वरूपकारकत्वेनाविवक्षायां सं-
बन्धित्वेन च विवक्षायां पापस्य जुगुप्सत इति षष्ठी भवत्येव सत्य-
भिधाने । एवमुत्तरसूत्रेणैव बोध्यम् । एषां धातूनां स्वार्थपूर्वकबौ-
द्धविश्लेषजनकनिवृत्तिलक्षणया सूत्रेणैव सिद्धयेदं वार्तिकमुत्तरसूत्राणि
च प्रत्याख्येयानीति स्पष्टं भाष्ये* ।

*भयं भीष्माणन्त्रास्तदाह । भयार्थानामिति । हेतुवृत्ती-

*जुगुप्सादीनामिति । अनिष्टसाधनत्वज्ञानं जुगुप्सतेरर्थः । तत्सम-
भिव्याहृतपञ्चम्या विषयत्वमर्थः । तथा च पापाज्जुगुप्सते इत्यादौ पापवि-
षयकमनिष्टसाधनत्वज्ञानमिति बोधः । विरमतेस्तु प्रागभावसाधारणकृत्यभा-
वानुकूलो व्यापारोऽर्थः । योगक्षेमसाधारणीचात्र अनुकूलता स्वरूपसम्ब-
न्धविशेषप्रयोजकत्वरूपा । धर्माद्विरमतीत्यादौ धर्मविषयककृत्यभावानुकूलो
व्यापारः उपेक्षाविशेषरूप एव । प्रमाद्यतेस्तु इष्टसाधने वस्तुनि समानदेशत्व-
समानकालत्वोभयसम्बन्धेनाधिकारविशिष्टेष्टसाधनत्वाभावज्ञानमर्थः । पञ्चम्य-
र्थश्च विषयत्वं ज्ञानेऽन्वेति इति दिक् ।

*स्पष्टं भाष्ये इति । एतेन तत्तदर्थपूर्वकनिवृत्तिलक्षणयाऽपादानत्व-
सिद्धौ सम्बन्धित्वेन विवक्षायां प्राप्तायाः षष्ठ्या बाधनार्थमिमान्नीति शङ्का
निराकृतेति बोध्यम् ।

*भयमिति । अनिष्टज्ञानं भयम् । *त्राणमिति । अनिष्टविरहानुकूलो
व्यापारस्त्राणम् । चोराद्विभेतीत्यादौ पञ्चम्यर्थापादानत्वस्य धात्वर्थैकदेशोऽनिष्टे-
ऽन्वयः । तथा च चोरापादानकानिष्टज्ञानं, चोरापादानकानिष्टविरहानुकूलो
व्यापार इति च बोधः । भयहेतुरित्यस्य च भयैकदेशानिष्टहेतुरित्यर्थः । तेन
चोरात् प्रायते इत्यादौ चोरतः अनिष्टज्ञानाभावेऽपि अनिष्टजनकत्वस्य तत्र स-

यापवादो ऽयम् । अरण्ये इति । भयाद्यर्थानां योगे कारकमपादान-
मित्यर्थेऽविशेषात्सर्वसंज्ञापवादः स्यादिति भावः ॥

*पराजे ॥ असोढो ग्लानिविषयः । एवञ्च पराजेरकर्मकत्वे
उदाहरणत्वं-तदाह ग्लायतीत्यर्थ इति । अभिभवतीति । तिरस्का-
रानुकूलो व्यापारो धात्वर्थ इति भावः ।

प्रवृत्तिविघात इति । *भक्षणसंयोगादिजनकव्यापाराभावा-
नुकूलो व्यापार इत्यर्थः । ईप्सित इति । वारणार्थधात्वर्थफलाश्रय
इत्यर्थः । उदाहरणे च तद्धात्वर्थव्यापारजन्यसंयोगादिरूपफलाश्रयत्वा-
द्यवानामपादानत्वम् । ईप्सित इत्यनेन प्रधानाप्रधानान्यतरव्यापाराश्रय-
मात्रस्याक्षेपः, कर्मलक्षणे तु तमग्रहणात् *प्रकृतधात्वर्थप्रधानभूतव्यापा-

स्वात् न पञ्चम्यनुपपत्तिः । ननु यस्मात् कण्टकादेः अनिष्टं नैवोत्पन्नं ततः प-
ञ्चमी न स्यात् अनिष्टहेतुत्वस्य तत्रासत्त्वादिति चेन्न । हेतुवारोपणैव कण्ट-
कात् त्रायते इत्यादिप्रयोगाणामिष्टत्वात् । एवमेव आकाशो न पश्यति, घटो
न पचति इत्यादिप्रयोगा उपपद्यन्ते । दर्शनादौ आकाशकर्तृत्वादिकमारोप्य
तस्यैव निषेधात्, बोधाच्च । शशशृङ्गं नास्तीत्यादिवदित्याहुः ।

*पराजे । कृत्यसाध्यत्वधीसमानाधिकरणोऽनुत्साहः पराजयतेरर्थः ।

*भक्षणसंयोगादीति । यवेभ्यो गां वारयतीत्यादौ भक्षणजनकव्यापारा-
भावानुकूलो व्यापारः । कृपादन्धं वारयतीत्यादौ तु संयोगजनकव्यापाराभा-
वानुकूल इति भावः ।

*प्रकृतधात्वर्थप्रधानभूतव्यापारेति । धात्वर्थप्रधानभूतव्यापाराश्र-
यस्यैव कर्तृत्वात् तमग्रहणात् कर्तुः स्वव्यापारेण आप्यत्वेनेष्टस्य कर्मसंज्ञे-
त्यर्थे कर्तृत्वस्य प्रत्यासत्त्या प्रकृतधात्वर्थनिरूपितस्यैव ग्रहणे फलवत्त्वरूपा-
प्यत्वघटकफलस्यापि उपस्थितत्वात् प्रकृतधात्वर्थस्यैव ग्रहणात् प्रकृतधात्वर्थ-
प्रधानव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयस्यैव ग्रहणमित्यर्थः । प्रकृतसूत्रे तु
ईप्सित इत्येतावन्मात्रोपादानेन आप्यत्वेनेष्टस्येत्यर्थे आप्यत्वघटकफलस्य उप-
स्थितत्वात् प्रकृतधात्वर्थस्यैव ग्रहणेऽपि आसिक्तियायाः जनकं विनाऽनुपपन्नत्वा-
त् जनकमात्रस्याक्षेपेण कारकस्य प्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वेन यदिष्टमित्यर्थस्यैव
लाभः । कर्तृपदानुपादानेन कर्तुः आप्यत्वेनेष्टमित्यर्थसंभवात् । प्राधान्यात्
कथं चित् कर्त्राक्षेपेण कर्तुः आप्यत्वेनेष्टमित्यर्थसंभवेऽपि तस्य पदादनुपस्थित्या
प्रकृतधात्वर्थनिरूपितस्यैव तस्य ग्रहणे मानाभावेन प्रकृतधात्वर्थप्रधानभूत-
व्यापारप्रयोज्यत्वसंबन्धेन आपधात्वर्थफले तस्यान्वयासम्भवेन प्रकृतधात्वर्थ-
प्रधानव्यापारप्रयोज्यफलाश्रयस्येत्यर्थो दुरुपपाद एव । ननु कर्तृग्रहणैव
प्रत्यासत्त्या एतदर्थस्य सुलभत्वात् तमग्रहणं व्यर्थमिति चेन्न । लाघवात्

रप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयस्य ग्रहणमिति भावः ॥

अन्तर्धौ ॥ अन्तर्द्धिरन्यकर्तृकस्वकर्मकदर्शनाभावानुकूलो व्यव-
हितदेशस्थितिरूपस्तद्व्यवृत्तं यत्कर्तृकदर्शनाभावमिच्छति तदपादानमित्य-
र्थस्तत्फलितमाह—व्यवधाने सतीति । येनेत्यत्र कर्तृकर्मणोरिति
पट्टी न, सौत्रत्वात् । आत्मन इति प्रत्यासत्तिलब्धम् । मातुर्निलीयतइ-
त्यादावाक्षेपलभ्येच्छा बोद्ध्या । चोरानिति । चोरकर्मकदर्शनेच्छाऽभाव
इति शाब्दोऽर्थः । स च चोरकर्तृकस्वदर्शनाभावायेति प्राप्तिः । इच्छा-
भात्रस्याक्षेपलभ्यत्वे इव विशिष्टस्याक्षेपलभ्यत्वे ऽपि स्यादिति भावः ।
प्रकृते नान्तर्द्धिरिति न दोषः । येनेत्यस्याभावे हि स्वकर्मकदर्शनाभावं
य इच्छति इत्यर्थे कर्तुरेव स्यादतस्तत् । इच्छतिग्रहणं किमिति । अ-
न्तर्धौ सति यत्कर्तृकदर्शनस्याभावस्तदपादानमित्यर्थोऽस्त्विति भावः । स-
त्यपीति । अदर्शनेच्छया तदनुकूलव्यापारकरणे दैववशाद्दर्शने सत्यपी-
त्यर्थः । अन्यथा यत्र दर्शनाभाव एव तत्रैव स्यादिति भावः ।

नियमेति । उपयोगशब्दस्य तत्रैव रूढेः । नियमो ब्रह्मचर्यादिः ।
नटस्येति । नटजन्यं श्रवणमिति बोधात् कारकत्वम् । नियमपूर्वक-
विद्यावक्तृत्वाभावान्नेत्युत्तरम् ॥

जनिरु ॥ प्रकृतिरूपादानकारणं, ब्रह्म च मायाशबलजगदुपादा-
नकारणम् । वृत्तौ हेतुपदपप्युपादानकारणपरमेनेति बोध्यम् । *विभाषे-
त्येव सिद्धे इदमपादानत्वेन बोधनार्थम् । तत्र हि 'गुणे ऽस्त्रियाश्च' इति

तमग्रहणेनैव एतदर्थलाभसंभवे कर्तृग्रहणस्य प्रत्याख्येयत्वात् । ध्वनितं चेदं
वारणार्थानामितिसूत्रे माणवकेऽपादानत्ववारणार्थं कृतस्य कर्मणो यदीप्सितमिति
स्यासस्य तमग्रहणात् प्रत्याख्यानान्न माभ्ये इति तत्रैव विवरणे स्पष्टम् । फले प्रकृत
धात्वर्थत्वांशस्तु न तमब्लभ्यः । तस्य प्रत्यासत्त्यैव लभ्यत्वात् । अत एव कर्तुरी-
प्सितसूत्रे भाष्ये तमग्रहणाभावे वारणार्थानामित्यस्यानवकाशत्वमापादितम् ।
नतु पयसा ओदनं भुङ्क्ते इत्यादौ पयसादीनां कर्मत्वनिवारणं फलमुक्तम् । तस्मात्
कर्तुः स्ववृत्तिव्यापारप्रयोज्यत्वसम्बन्धेन आपधात्वर्थे फले ऽन्वय एव तमब्ल-
भ्यः । फलत्वव्यवृत्तधातौ शीघ्रोपस्थितिकप्रकृतत्वरूपविशेषणापेक्षया व्यापार-
प्रयोज्यत्वसम्बन्धेन तत्रान्वयस्यैव यत्तसाध्यत्वाच्चेति दिक् ।

*विभाषेत्येवेति । पुत्रात्प्रमोदो जायते इत्यादौ अनेनैव पञ्चमीति
भावः । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादौ जनिकर्तुरिति पञ्चमी ।
स्थितिलयाधारत्वध्वनेन तस्योपादानत्वनिर्णयात् । 'जनितुः प्रकृतिः' इत्येव

प्राथमिकम्, बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेरिति वार्तिकप्रयोगात्* ॥

*भुवः ॥ प्रभवनं प्रथमप्रकाशः प्रग्रहणात् । तदधिकरणमपादान-
मित्यर्थः । 'प्रभवो जलमूले स्यात् जन्महेतौ पराक्रमे । ज्ञानस्य चादि-
मस्थाने' इति विश्वः । प्रकाशत इत्यस्य योगे तु न, प्रथमप्रकाशार्थत्वाभा-
वात् । तदाह—तत्र प्रकाशते इत्यर्थ इति ।

ल्यब्लोपइति । ल्यबन्तशब्दाज्ञाने इत्यर्थः । कर्मणीति ।
प्रत्यासत्त्या ल्यबन्तधात्वर्थस्येति भावः । प्रासादादिति । फलेभ्यो
यातीत्यत्रेव बोधप्रक्रिया । "आजप्ते विषमविलोचनस्य वक्ष" इत्यत्र कर्म-
णः शेषत्वविवक्षया षष्ठी । वक्ष इत्यस्य प्राप्येति शेषः । गम्यमानाऽपी-
ति । विशिष्य तद्वाचकपदानुपात्ताऽपीत्यर्थः । 'कस्मात् त्वम्' इत्यादौ फले-
भ्यो यातीत्यत्रेव बोधप्रक्रिया ।

अन्येत्यर्थेति । तदर्थश्च भेदवान् । अत एव घटात् भिन्न
इत्यादिसिद्धिः ।

परे तु ध्रुवमिति सूत्रे अपायशब्देन भेदस्यापि ग्रहणम् ।
"पञ्चमी विभक्ते" इत्यत्र विभागार्थकविभक्तपदेन भेदस्य व्याख्या-
नात् । भिदिर् विदारणे इत्यत्र भेदज्ञानविषयत्वमपि विदारणम् ।
एकत्वेन गृहीतस्य तथा बोधे बुद्धिविदारणस्य तत्रापि सत्त्वात् ।
अत एव घटात् भेद इति सिद्धं, तद्योगेऽप्यपादानत्वात् । तस्यैव
सम्बन्धत्वेन विवक्षायाङ्गुटीयो भेद इत्यपि । अन्यशब्दार्थस्याक्रिया-
त्वात् तद्योगे एतद्विभानम् । अत एव घटः पटो नेत्यादौ न पञ्चमी ।
नञो भेदवदर्थकत्वेऽपि अक्रियात्वात् । घटादेक इत्याद्यसाधनेव । अत
एवेतरग्रहणश्चरितार्थम् । अत एव भाष्ये ऽर्थग्रहणं नोक्तमित्याहुः* ।

सिद्धे कर्तृग्रहणं कर्तृसंज्ञकत्वविवक्षार्थम् । तेन मृदो घटं जनयतीत्यादौ
नापादानत्वमित्याहुः ।

वार्तिकेति । "उणादयो बहुलम्" इति सूत्रे इति शेषः । उणादौ पठि-
तानां प्रकृतीनमल्पत्वदर्शनात् बाहुलकमाश्रितमिति तदर्थः ।

*भुवः प्रभवः । जनिकर्तुरित्यतः कर्तृग्रहणमनुवर्तते । तत्सामर्थ्यात्
कर्तृसंज्ञकस्य ग्रहणम् । तेन हिमवति गङ्गां प्रभावयतीत्यादौ अधिकरणत्वा-
विवक्षायां नेत्याहुः ।

*इत्याहुरिति । अन्येतु अन्येति भावप्रधाननिर्देशेन अन्यत्वार्थकयो

आराद् दूरसमीपयोः । एतद्योगे दूरान्तिकार्थैरिति प्राप्तम् । न-
न्वयं देशवाची न दिक्शब्दः, अत आह—दिशि दृष्ट इति । श-
ब्दग्रहणादिति भावः । ते च रूढ्या दिग्विशेषवाचकाः पूर्वादय एव
गृह्यन्ते, न ऐन्द्रीकुवादयो व्याख्यानात् । अवयववाचीति । तद्वाचिपूर्वा-
दियोगेऽवयववाचकान्नेत्यर्थः । ज्ञापकस्य सजातीयापेक्षत्वात् । अत एवा-
स्मादयं पूर्वो भागः कायस्येति सिद्धम् । अवयवे पूर्वत्वम् अवयवान्त-
रापेक्षया प्रथमकालोत्पत्तिकत्वेन बोद्धव्यम् । अञ्चूत्तरपदस्येति ।
दिक्शब्दसाहचर्येण तस्य दिग्वाचकस्यैव ग्रहणं, तेन सध्रचङ् इत्याद्यर्थं
तन्नेति भावः । बाधितुमिति । परत्वात्प्राप्तमित्यादिः । यदि तु षष्ठ्यत-
सर्थेत्यत्र प्रत्ययग्रहणात्तस्य श्रूयमाणप्रत्ययएव प्रवृत्तिस्तदेदं माऽस्त्विति
तत्त्वमिति भाष्ये स्पष्टम् । दक्षिणा ग्रामादिति । दक्षिणस्यां दिशीत्यर्थे
“दक्षिणादाच्” “आहि च दूरे” इत्याजाही । षष्ठ्यतसर्थेत्यस्यापवादः ।

प्रभृतियोग इति । प्रभृत्यर्थयोगइत्यर्थः । “अपादाने पञ्चमी” इति सूत्रे
“यतश्चाध्वकालनिर्माणं ततः पञ्चमी, कार्तिक्या आग्रहायणी मासे” इति-
वार्तिकप्रत्याख्यानाय “इदमत्र प्रयोक्तव्यं सन्न प्रयुज्यते कार्तिक्याः प्रभृत्पा-
ग्राहयणी मासे” इति भाष्येण ‘प्रभृतिशब्दाभावेऽपि तदर्थसत्तामात्रेण पञ्चमी’-
इत्यर्थकेन ‘प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमी’ इति वचनसत्त्वस्य भगवता बोधितत्वात् ।
अन्यथा प्रभृतिपदाभावे पञ्चम्यर्थं वचनस्यावश्यकत्वेन तत्प्रत्याख्यानासङ्ग-
तिरिति भावः । एवञ्च तदर्थकारभ्यशब्दयोगेऽपि पञ्चमी । यथा “अ-
वीचिमारभ्य मेरुपृष्ठपर्यन्तं भूलोको मेरुपृष्ठादारभ्य ध्रुवपर्यन्तं ब्रह्मक्ष-
त्रतारागणचित्रितोऽन्तरिक्षलोकः” इति पातञ्जलभाष्यप्रयोगे । प्रभृतीत्यस्य
चावधिमादायेत्यर्थः । आरभ्येत्यस्यैतदर्थकतापि । अवधौ पञ्चम्यन्तार्थस्या-
भेदेनान्वयः । तद्विशेषणत्वेऽपि न द्वितीया । प्रभृत्यर्थयोगे पञ्चमीति भाष्य-
कृद्बोधितवचनात् । आरभ्येत्यस्य गृहीत्वेत्यर्थेनावीचिमारभ्येत्यादौ द्वितीया ।

पञ्चमीत्यर्थः । तेन घटाद्भेद इत्यादीनां सिद्धिः । घटादेक इत्याद्यपीष्यते एव ।
घटः पटो नेत्यादौ तु न पञ्चम्यापत्तिः । अन्यार्थकस्य अन्यशब्दसदृशस्य लि-
ङ्गसंख्यान्वय्यर्थकस्यैव ग्रहणात् । घटीयो भेद इति तु घटस्यायम् इति इदमर्था-
न्वयविवक्षया साधु । इतरस्त्वन्यनीचयोः इति कोशात् नीचार्थकेतरशब्देयागे
तु “पञ्चमी विभक्ते” इत्यनेन सिद्धिः । तस्मात् इतरग्रहणं स्पष्टतया भेदविशिष्टा-
र्थकयोगेऽपि पञ्चमीत्यर्थबोधनार्थं सत् प्रपञ्चार्थमेव इत्याहुः ।

वस्तुतोऽवधित्वं तस्य समाभिव्याहृतपदार्थनिरूपितं गम्यमान-
क्रियापैक्षमित्यपादानत्वादेवात्र पञ्चमी सिद्धा । *कार्तिकीतो विभक्ते
अत एव कार्तिक्यवधिके आग्रहाणीघटिते मासे कार्तिकीमादाय गते आग्र
हायणीति बोधः । भवात्प्रभृति आरम्य वेत्यत्र भवकालाद्विभक्ते अत
एव भवावधिके मरणान्ते काले भवकालमादाय हरिः सेव्य इति बोधः ।
एवमन्यत्राप्युह्यमित्यलं विस्तरेण ।

ज्ञापकादिति । पञ्चम्यन्तेन समासविधानाज्ज्ञापकादित्यर्थः ।
अयं भावः । परस्परसाहचर्यात्तत्रापपरी वर्जनार्थो कर्मप्रवचनीयावेव ।
तद्योगे “पञ्चम्यपाङ्गपरिभिः” इति वचनात्, लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया
ऽपपरिनिमित्तकमुबन्तस्यैव ग्रहणाच्च पञ्चम्यैव सिद्धः समासः-तत्साहच-
र्यादुक्तपरिभाषया चाङ्बूत्तरपदेनापि तन्निमित्तपञ्चम्यैव सिद्धः समासः-
इति व्यर्थं तत् बहिःशब्देन पञ्चम्यन्तेन समासविधानद्वारा तद्योगे पञ्चम्या
अपि ज्ञापनार्थमिति* । इदम् अपपरिवहिरिति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।
पञ्चमीति । *सार्पीत्यर्थः । तेन करस्य करभो बहिरिति मिद्धम् ।

प्रतिनिधि ॥ यस्मादिति पञ्चम्यर्थः सम्बन्धः । अस्मादेव नि-
पातनात् षष्ठ्यर्थे पञ्चमी । प्रतिनिधिप्रतिदानशब्दौ कर्मकि-भावल्युङन्तौ ।
प्रतिनिधिप्रतिदाने यत्सम्बन्धिनी ततः कर्मप्रवचनीययुक्तात्पञ्चमीत्यर्थः ।
प्रतिनिधिः सदृशः, प्रतिदानम् दत्ततुल्यमूल्यस्य वस्तुनः प्रत्यर्पणम् ।
कर्तृवर्जितमिति । कर्तृमञ्जारहितमित्यर्थः । ऋणत्वं वस्तुसन्निमित्तं न
तु तृतीयावाच्यकोटिनिविष्टम् । हेतुभूतामिति । तेन करणत्वविवक्षायान्त-
तीयैवेति भावः ॥

विभाषा गुणे । योगविभादिति । बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टे-
रित्युक्तवार्तिकप्रयोगाद् ‘गुणे ऽस्त्रियाम्’ इति प्रायिकमित्यन्ये । धूमादि-

‘कार्तिक्या आग्रहाणी मासे’ इतिवाक्यजबोधाकारमाह *कार्तिकीतो
विभक्ते इति* । काश्चित्तु कार्तिक्या अव्यवहितोत्तरत्वेन मासे तस्य चान्त्य-
त्वसम्बन्धेनाग्रहायण्यामन्वय इत्याह । *ज्ञापनार्थमिति । एतेन पञ्चम्येत्यस्य
अपादियोगे चारितार्थ्यात् सामर्थ्यात् अन्यमुबन्तेनैव बहिःशब्दस्य समासः
स्यादित्यपास्तम् । *सार्पीति । ज्ञापकसिद्धस्य असार्वत्रिकत्वादिति भावः ।
एतेन पञ्चमीप्रकरणे एव बहिःशब्दं कर्तुमुचितमित्यपास्तम् ।

ति । *धूमपदं स्वज्ञानेऽग्निमत्पदं स्वज्ञानविषये लाक्षणिकं बोध्यम् ।
समुच्चयार्थमिति । स्पष्टश्चेदं भाष्ये । एतेनान्यतरस्य आमङ्गीकार इत्यर्थकं
*पदद्वयमेतदित्यपास्तम् । विकल्पविषयेऽप्यर्थासङ्गतेश्च ।

परे तु द्वितीयासमुच्चयो न फलम् । विना वातं विना वर्षमित्यादौ
ऋतेशब्दयोगइव “ततोऽन्यत्रापि दृश्यते” इत्यनेन द्वितीयासिद्धेः । अत एव
भाष्ये द्वितीयासमुच्चयो नोक्तः । “पञ्चम्या अधिकारे द्वितीयाषष्ठीविषये
*प्रतिषेधो वक्तव्यः, दक्षिणेन ग्रामं दक्षिणतो ग्रामस्य” इति प्रकृतसूत्रस्थ-
भाष्येण “एनपा द्वितीया” इति सूत्रं षष्ठ्यतसर्थेत्यतः प्रागिति च सूचि-
तम् । अन्यथा *सौत्रक्रमत्यागे, *न्यायविपरीतपूर्वनिपातकरणे च बीजा-
नापत्तिः । *अत एव करणे चेति सूत्रे द्वितीयासमुच्चयो *नेत्याहुः ॥

करणे च ॥ करणे तृतीयायाः सिद्धत्वेन पक्षे पञ्चम्यर्थं वच-
नमिदम् । चकारः तृतीयान्यतरस्यामित्यनुकर्षणार्थः । षष्ठी गापोष्ठगितिब्र-
त् । अद्रव्येति । द्रव्यभिन्नवचनेभ्य इत्यर्थः । द्रव्यपदेनात्र सर्वनाम-
परामर्शयोग्यं, लिङ्गनिरूपितविशेष्यं वा । स्तोकशब्दो यद्धर्मवैशाद् द्रव्ये
स्तोकव्यवहारस्तद्धर्मपरः । स च धर्मो ऽल्पादिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमेव ।
शुक्लादिवच्चैते धर्मवचना अपि । करणत्वञ्च परम्परया । ईदृशार्थएव च
साधुत्वं सूत्रबलादिति स्पष्टमलुगुत्तरपदइत्यत्र कैयटे । करणे किम् ।
स्तोकम्पचति । असत्त्वरूपफलसमानाधिकरणविशेषणत्वादत्र स्तोकश-
ब्दस्यासत्त्ववचनत्वमिति दिक् ॥

दूरान्तिका ॥ अत्र “दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्” इत्यतः
समुच्चयार्थकान्यतरस्याग्रहणानुवृत्त्यैवार्थाधिकारात्पञ्चम्याः सिद्धौ चकारो

धूमपदं स्वज्ञाने इति । धूमज्ञानस्यैव अग्निमज्ज्ञानं प्रति हेतुत्वात् ।
ज्ञाननिष्ठहेतुहेतुमद्भावस्य विषये आरोप इति भावः ।

पदद्वयमेतदिति । द्विविषयनिर्धारणार्थकान्यतरशब्दप्रकृतिकषष्ठ्य-
न्तम् अन्यतरस्येत्येकम्, आमिति अङ्गीकारार्थकं च द्वितीयमित्यर्थः । प्रतिषेध
इति* । पञ्चम्या इति शेषः । *सौत्रक्रमत्यागे इति* । द्वितीयाषष्ठीत्युक्त्या
“षष्ठ्यतसर्थेत्ययेन” “एनपा द्वितीया” इति सूत्रक्रमत्यागः स्पष्ट एव । *न्या-
येति । अल्पाच्त्वेन षष्ठीद्वितीयेति न्याय्यम् । *अत एव-द्वितीयासमुच्चया-
भावादेव । *नेति । अत्र द्वितीयानुवृत्तौ सन्नियोगशिष्टत्वाद् उत्तरत्रापि द्वितीया-
नुवृत्तिरापद्येत । अत्रैव तन्निवृत्तौ तु उत्तरत्रापि सा नानुवर्तत इति भावः ।

*इति पञ्चमी ।

व्यवहिततृतीयासमुच्चयार्थो व्याख्यानादित्याह—चादित्यादि । प्राति-
पदिकार्थमात्रे इति । व्याख्यानादिति भावः ॥

इति पञ्चमी ॥

षष्ठी शेषे ॥ शेष उक्तादन्यः । स च तत्तद्रूपेण स्वत्वादिः
संबन्धत्वेन रूपेण च । कारकविभक्तीनां क्रियाजनकत्वसमानाधिकर-
णकर्तृत्वादिशक्तिरूपेण बोधकत्वम् । तत्रापि तन्मूलके संबन्धे विवक्षिते
षष्ठी । तदाह—कारकेति । स्वस्वामिभावादिरिति । स्वत्वस्वामित्व-
समूहः संबन्ध इत्यन्यत्र विस्तरः । एवं सर्वत्र बोध्यम् । षष्ठ्यर्थस्य *संस-
र्गविधयैव भानम् । कारकविभक्तिभ्यो ऽपि क्रियाकारकभावस्य संसर्गवि-
धया भानमित्युक्तम् । संबन्धमात्राविवक्षायामिति । संबन्धत्वेन भाने
इत्यर्थः । यद्वा क्रियाकारकभावमूलकसंबन्धस्यैव विवक्षायां न तु तद्विव-
क्षायामित्यर्थः । कर्तुरपि तथा विवक्षा “क्तस्य च वर्तमाने” इति सूत्रे छात्रस्य
इसितमित्यादौ भाष्ये स्पष्टा । संयोगसंबन्धावच्छिन्नाधारस्य न तथा वि-
वक्षा । अत एव घटवद् भूतलमितिप्रयोगसाधकं मतुप्सूत्रे अस्मिन्निति च-
रितार्थमिति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । लोहितोष्णीषा इत्यादावपि सप्तम्यर्थे
बहुव्रीहिवोद्ध्यः ।

एधो दकस्येति । एधः कर्तृ कर्ता वा । दकस्योदकस्येत्यर्थः ।
एधशब्धो ऽदन्तः पुल्लिङ्गः कारकइति सूत्रे भाष्ये प्रयुक्तः—एधाः पक्ष्यन्ते

संसर्गविधयैव भानमिति । ननु व्युत्पत्तिवादोक्तरीत्या प्रतिबध्यप्र-
तिबन्धकभावलाघवानुरोधेन प्रकारतयैव भानमिष्यतां किं तद्विरुद्धोक्त्येति
चेन्न । ज्ञानद्वयस्य युगपदसम्भवेन ज्ञानघटितसामग्रीकार्यद्वयासम्भवात्
प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावोपगमस्य व्यर्थत्वात् । समूहालम्बनस्यैकस्यापि कार्य-
द्वयप्रयोजकस्य सम्भवे तु प्रत्यक्षशाब्दात्मकस्यापि एकस्यैव समूहालम्बनात्म-
कस्य कार्यस्य संभवेन प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकभावोपगमवैयर्थ्यं तदवस्थमेव ।

मनसः परमाणुरूपस्य निरवयवस्य सत्त्वेन युगपज्ज्ञानद्वयासम्भवे-
न तार्किकाणां कथंचित् प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावावश्यकत्वेऽपि ‘जन्यत्वेन
सावयवं मन’ इति सांख्यमतमनुगच्छतां वैयाकरणानां प्रतिबध्यप्रति-
बन्धकभावानभ्युपगम एव । एकदेशावच्छिन्नेनैकस्यापरदेशावच्छिन्नेन मनसा
ऽपरस्य ज्ञानस्य इति युगपज्ज्ञानद्वयजननसंभवात् । दीर्घशङ्कुलीभक्षणादौ
युगपदनेकज्ञानानुभवाच्च । तस्मादभेदवादोक्तकार्यकारणभावलाघवानुरोधेन सं-
सर्गविधयैव भानमङ्गीकार्यमिति दिक् ।

इति । सान्तः क्लीबो ऽपि । हेतौ द्योत्ये इति । हेताविति वर्तते । हेतु-
हेतुमद्भावेनेतरान्वये इत्यर्थः । तेनान्नं हेतुं पश्येत्यादौ न । षष्ठीति । हेतु-
वाचकादित्यर्थः । निमित्तेत्यादि । निमित्तादिप्रयोगे तेभ्यस्तत्समाना-
धिकरणशब्देभ्यश्चेत्यर्थः । किञ्चिन्निमित्तामिति । प्रथमान्तं द्वितीयान्तश्च ।
प्राथम्यग्रहणादिति । एवञ्च “षष्ठी हेतुप्रयोगे” “सर्वनाम्नस्त्वतीया च”-
इति सूत्रे व्यर्थे इति बोध्यम् ॥

षष्ठ्यत ॥ दिक्शब्दात्पञ्चम्यां प्राप्तायामिदम् । *ततः पश्चादित्यत्र
तु सार्वविधक्तिकः षष्ठ्यन्तात्तसिः । षष्ठ्यपीति । स्पष्टञ्चदं वृत्तौ ।
भाष्ये तु न दृश्यते । विपरीतं षष्ठ्यतस्येति सूत्रात्पूर्वम् एनपेत्यस्य पाठ
इति लभ्यते इति पृथग्विनानानेति सूत्रे उक्तम् ॥

दूरान्तिकार्थैः ॥ यदपेक्षं दूरत्वादिकन्ततः षष्ठीत्यर्थः । पञ्च-
मी चेति । *तस्या एव समुच्चयो, न द्वितीयातृतीययोरपीति भावः ॥

ज्ञो ऽविदर्थ ॥ अत्र सूत्रे ऽविदर्थस्येति छेदो *व्याख्यानात् ।
सर्विषो ज्ञानमिति । जानातेः प्रवृत्तिरर्थः । सर्पिःसम्बन्धिनी प्रवृत्ति-
रित्यर्थः ।

अधीग ॥ अधीगर्थः स्पृतिः । कर्मणि किम् । मातृगुणस्मर-
णम् । करणे शेषेऽनेन षष्ठ्यभावे समासो भवत्येव । अत एवात्र सूत्रे
भाष्ये शेषइति वर्ततइत्युक्तम् । “प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यते”इति
*एतैः षष्ठीसमासनिषेधात् । एधो दकस्येति । एध इति पृथक्पदं, दक-
शब्द उदकवाची ॥

रुजार्थानाम् ॥ रोगार्थानां *धातूनामित्यर्थो व्याख्यानात् ।

*ततः पश्चादिति । पश्चाच्छब्दयोगे अनेन षष्ठ्या एव युक्तत्वादिति भावः ।

*तस्या एवेति । पृथग्विनेति साहचर्यात् अन्यतरस्याग्रहणं समुच्च-
यार्थम् । तत्र तद्ग्रहणेन पञ्चम्याः समुच्चयात् अत्रापि तस्या एव समुच्चयः ।
सन्निहितत्वात् तृतीयायाः समुच्चये तु पुनरत्र अन्यतरस्याग्रहणं व्यर्थं स्यात् ।
षष्ठीचेत्युक्त्यैव सन्निहिततदनुवृत्तिसम्भवात् इति पदमञ्जरी हरदत्तः ।

*व्याख्यानादिति । “विदर्थस्य ह्”इत्येव लघुभूतासंधिधपाठेन सिद्धे
“ज्ञोविदर्थस्य”इतिगुरुभूतसंधिघटितपाठमूलकादित्याहुः ।

*एतैरिति । अधीगार्थादिभिः ।

*धातूनामित्यर्थ इति । यद्यपि रुजाशब्दो दुःखजनकव्याधौ रूढस्त-
थापि अज्वरेरितिपर्युदासबलात् प्रकृत्यर्थमात्रविवक्षया तदर्थको धातुरेव गृह्यते ।

धातोर्भाववचनत्वाव्यभिचारेण सामर्थ्याद्वचनइति कर्तरि ल्युट् । भावशब्दे-
न सिद्धरूपोऽर्थ उच्यते, ल्युट्प्रकृत्यर्थो *अविवक्षितस्तदाह । भावकर्तृ-
काणामिति, रोगकर्तृकमिति च । रोगो ऽत्र क्षयादिः । भावक-
र्तृकाणां किम् । श्लेष्मणश्चौररुजा । श्लेष्मात्र न भावः । सर्पिषो नाथ-
नमिति । सर्पिर्मे भूयादित्याशासनमित्यर्थः ॥

जासिनि ॥ जसु मोक्षणे इति दैवादिकस्य *न ग्रहणम् । जासीति
निर्देशाद्, हिंसायामित्युक्तेश्च । निप्रोपसृष्टो हनो निग्रहणः । शब्दपरत्वे ऽपि
सौत्रत्वाद्धन्तेरिति णत्वम् । चुरादिरिति । घटादेस्तु न ग्रहणं, दीर्घनिर्दे-
शात् । 'क्राथनम्' इति घटादेः क्रथेः । क्रथेति सूत्रे निपातनाद् दृढिरिति
वृत्तिः । परे तु एतत्सूत्रप्रामाण्यान्नटसाहचर्याच्चायमपि चुरादिर्बोध्यस्त-
स्याकृतिगणत्वात् । निपातनस्य शेषषष्ठीसन्नियोगशिष्टत्वे कर्मत्वेन विवक्षायां
चोरस्य क्राथनमित्यस्यानापत्तिः । सामान्येन निपातने चिण्णमुल्लिखये
क्रथं क्रथमित्यादेः क्रथयतीत्यादेश्वानापत्तिरित्याहुः ।

समर्थयोरिति । समपर्यायसंशब्देन समासः, शकन्ध्वादित्वात्
पररूपं वा । ब्राह्मणपणनमिति । आयप्रत्ययो वैकल्पिकत्वात् कृतः ।
उदाहरणे स्तुतावेवेति नियमादपि न ।

दिवस्त । कर्मणि षष्ठी स्यादिति । शेषइति त्वत्र न सम्ब-
न्ध्यते *व्याख्यानात् । अत एव "द्वितीया ब्राह्मणे" इति सूत्रं 'गामस्य

कर्मणस्तस्यैव सम्भवाच्चेति भावः । *अविवक्षित इति । भावस्य वक्तृत्वा-
सम्भवादिति भावः । चौरस्य रोगस्य रुजेत्यादौ सर्वत्र रुजा पीड्येति बोध्यम् ।

*न ग्रहणमिति । किंतु जसु ताडने, जसु हिंसायाम् इति चुराद्यो-
ग्रहणमित्यर्थः ।

*व्याख्यानादिति । "विभाषोपसर्गे" "द्वितीया ब्राह्मणे" इति सूत्रद्वया-
रम्भमूलकादित्यर्थः । तथाहि-अत्र शेषे इत्यस्य सम्बन्धे "विभाषोपसर्गे" इत्यत्र
शेषे इति सम्बन्ध्यते न वा । सम्बन्धे तस्य वैयर्थ्यम् । एतच्च तत्रैवोपपादयिष्यते ।
तत्र शेषे इत्यस्य असम्बन्धे वेदेऽपि "विभाषोपसर्गे" इत्यनेनैव कर्मणि द्विती-
यायाः सिद्धौ "द्वितीया ब्राह्मणे" इत्यस्य वैयर्थ्यापत्तिः । न च पक्षे प्राप्तषष्ठी-
निवृत्त्यर्थं तदिति वाच्यम् । दृष्टानुविधानस्यैव वेदे सत्त्वेन षष्ठ्यापादनास-
म्भवात् । न च निरूपसर्गे द्वितीयार्थं "द्वितीया ब्राह्मणे" इत्यस्य चारितार्थ्यं
घक्तुं शक्यम् । "दिवस्तदर्थस्य" इत्यत्र शेषग्रहणानुवृत्त्यङ्गीरे अशेषभूते कर्मणि
तेन षष्ठ्या अप्राप्तौ "कर्मणि द्वितीया" इत्यनेनैव द्वितीयायाः सिद्धत्वात् । न च

तदहः सभायान्दीव्येयुः'इत्यत्र नित्यं षष्ठीप्राप्तौ द्वितीयार्थमिति भाष्ये उक्तम् । तत् श्वनयन् तिङन्तमुदाहरति । शतस्य दीव्यतीति । यद्यपि पूर्वसूत्रे दिवं पठित्वा तदर्थस्येति त्यक्तुं शक्यते तथापि योगविभाग उत्तरार्थः, शेषइत्यस्यासम्बन्धार्थश्च ।

विभाषोप । अत्रापि शेषइति *न सम्बध्यते, तदर्थस्येति च वर्तते । तदाह । पूर्वयोगेति । अत एवेयं प्राप्तविभाषेति नवेति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

कृत्वोऽर्थप्रयो । शेषे किमिति । दिवस्तदर्थस्येत्यादिना विच्छेदादधिकरणकारकएव षष्ठीविधानं युक्तमिति प्रश्नः । द्विरहनीति । वृत्त्यादिप्रामाण्यान्मण्डूकानुवृत्तिः स्वीकार्येत्युत्तरम् । अधीगर्थेति सूत्रे "कर्मादीनामविवक्षा शेष"इति भाष्ये *बहुवचनेनात्रापि शेषपदसम्बन्धबोधनाच्च । वस्तुतस्तु "कर्माश्रयषष्ठीविषये सूत्रोपात्तसकर्मकाणामकर्मकवद्वच-

"द्वितीया ब्राह्मणे"इत्यत्र शेषग्रहणानुवृत्त्या कर्मत्वाविवक्षायां द्वितीयार्थं तदिति वाच्यम् । "विभाषोपसर्गे" इत्यत्र विच्छिन्नत्वेन उत्तरत्रानुवृत्तेर्युक्तत्वात् । नच कृद्योगे पुनर्द्वितीयाविधानं समासाभावार्थमिति वाच्यम् । "किमुदाहरणं, गां प्रति दीव्यन्ति । पूर्वेणाप्येतत्सिद्धम् । इदं तर्हि, गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः" इति "द्वितीया ब्राह्मणे" इति सूत्रस्थभाष्योक्त्या "अत्र "दिवस्तदर्थस्य" इति षष्ठी प्राप्नोति" इति कैयटाक्त्या च कृद्योगे तस्याप्रवृत्तेर्लाभात् । तस्मात् "दिवस्तदर्थस्य" इत्यत्र शेषपदसम्बन्धाङ्गीकारे "विभाषोपसर्गे" इत्यत्र तत्सम्बन्धे तस्यैव वैयर्थ्यम्, विभाषोपसर्गे इत्यत्र तदसम्बन्धे द्वितीया ब्राह्मणे इत्यस्य वैयर्थ्यम्-इति दिव इत्यादित्रिसूत्र्याम् उभयोः सार्थक्याय तदसम्बन्ध आवश्यकः । तथा च उपसर्गयोगे शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यतीति द्वितीयाषष्ठीविधानार्थं "विभाषोपसर्गे" इति, 'गामस्य तदहः सभायां दीव्येयुः' इत्यत्र "दिवस्तदर्थस्य" इति षष्ठीं बाधित्वा द्वितीयाविधानार्थं "द्वितीया ब्राह्मणे" इति च चरितार्थमिति 'दिक्' ।

*न सम्बध्यते इति । अत्र शेषग्रहणानुवृत्तौ इदं सूत्रं व्यर्थं स्यात् । दिवस्तदर्थस्येत्यनेनैव समासाभावस्य सिद्धत्वात् । न च अनेन विकल्पेन षष्ठीविधाने पक्षे "शेषे षष्ठी" इत्यस्य प्रवृत्त्या पक्षे समासप्रवृत्तिरेवास्य फलमिति वाच्यम् । तथापि "नोपसर्गे" इति न्यासेन "दिवस्तदर्थस्य" इत्यस्य निषेधे शेषषष्ठ्यां समासविकल्पेन रूपद्वयस्य सिद्धौ विभाषाग्रहणवैयर्थ्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् इति भावः ।

*कृत्वोर्थ । *बहुवचनेनेति । अधिकरणघटितेऽस्मिन् सूत्रे शेषपदासम्बन्धे 'कर्मादीनामविवक्षा शेष' इति बहुवचनासङ्गतिः । एतदतिरिक्ते कर्मकर-

नम्"इतिवार्तिकप्रत्याख्यानानां शेषे इति वर्तते इति भाष्यकृतोक्ते परेण "शेषश्च क"इति पृष्टे "शेषे षष्ठी"इति सूत्रोक्तं "कर्मादीनामविवक्षा शेष"इति सिद्धान्तिना स्मारितम् । नैतावता कृत्वर्थेत्यत्र तत्सम्बन्धो लभ्यते । *किं चैतज्ज्ञाप्यबलात् दिव इति सूत्रे ऽपि शेषपदसम्बन्ध आवश्यकः । अन्यथा वार्तिकरीत्या शतस्य दीव्यते इति भावे इष्टस्य प्रयोगस्यासिद्धिः । अत एव वार्तिकव्याख्यायाम् "अधीगर्थादयः *प्रेष्यब्रूपर्यन्ताः कर्माश्रयपदेनोच्यन्ते" इति कैयटः । एवञ्च शेषइत्यनुवृत्त्या वार्तिकप्रत्याख्यानवत् *एतत्सूत्रद्वय-प्रत्याख्याने एव भाष्यतात्पर्यम् । "द्वितीया ब्राह्मणे" इति सूत्रस्थभाष्यं तु वार्तिकरीत्येसाहुः ।

किंच "यदा कर्म विवक्षितं भवति तदा षष्ठी न भवति स्मराम्यहं मातरम्"इति भाष्ये उक्तम् । त्वद्गीत्या तु यदा कर्मादि विवक्षितं भवतीति वदेत् । *एवञ्च "ज्ञोऽविदर्थस्य"इत्यत्रापि तदसम्बन्ध एव । एवञ्च तद्योगे न कदापि तृतीया । शतं दीव्यतीत्यादि च सिद्ध्यति । अधीगर्थेत्यादौ च मण्डूकानुवृत्तिरिति सुधियो विभावयन्तु ॥

णयोर्द्वयोरेवोपलम्भादित्यर्थः । *किं चैतज्ज्ञाप्यबलाद् दिव इति सूत्रेऽपीति * । वार्तिकसत्त्वे कर्मत्वेनैव षष्ठ्याः कर्मबोधकत्वेऽपि शतस्य दीव्यते इतीष्यते । वार्तिकाभावे शेषाननुवृत्तौ तद् न स्यादिति भावः । एतेन "दिव इति सूत्रे शेषा-ननुवृत्तावपि वार्तिकाभावेऽपि शेषत्वविवक्षयैव शतस्य दीव्यते इत्यत्र षष्ठी, अकर्मकत्वाद्भावे लकारश्च सिद्ध्यत्येवेति तदभावेऽपि एतत्प्रयोगसिद्धौ न विरोध" इत्यपास्तम् । दिवस्तदर्थस्येत्यनेन कर्मणि षष्ठ्यामकर्मकत्वाभावेन भावे लकारस्य वार्तिकमते इष्टस्य असिद्ध्यापत्तेस्तदवस्थत्वात् । शेषग्रहणानुवृत्तौ तु न तेन कर्मणि षष्ठी किंतु भावे एवेति न तत्र भावे लकारानुपपत्तिः । ननु भा-ष्यकृता शेषानुवृत्त्या कथं वार्तिकं प्रत्याख्यातम्, वार्तिकसत्त्वे कर्मत्वेनैव ष-ष्ठ्याः कर्मबोधकत्वं, तदभावे तु नैवेति फलभेद इति चेन्न । बौधवैलक्षण्येऽपि "वसेस्तद्व्यत् कर्तरि णिच्" इत्यादीनां प्रत्याख्यानदर्शनात् । *प्रेष्यब्रूपर्यन्ता इति । कृत्वर्थेत्यत्र तत्सम्बन्धे तु कृत्वर्थपर्यन्ता इति वदेत् । दिव इत्यत्र तत्स-म्बन्धेऽपि इदं मानम् । तस्यापि तदन्तर्गतत्वात्, दिवभिन्ना इत्यनुक्तेऽप्येति भावः । *सूत्रद्वयप्रत्याख्याने एवेति * । "विभाषोपसर्गे" "द्वितीया ब्राह्मणे" इति सूत्रद्व-येत्यर्थः । "दिवस्तदर्थस्यानुपसर्गे" इत्येव पाठ्यमिति तदाशयः । कश्चित्तु "व्यव-हपणानुपलृष्टदिवां समर्थानाम्" इति पाठ्यम् । दिवस्तदर्थस्य, विभाषोपसर्गे इति सूत्रद्वयं न कार्यम् । एवं द्वितीयाब्राह्मणे इत्यपि न कार्यमित्याशय इत्याह । *एवं च ज्ञोऽविदर्थस्येति * । यदा कर्म विवक्षितमित्यादिभाष्यप्रामाण्येन कर्मग्रहणे

कर्तृर्मणोः ॥ अत्र शेषइति न सञ्ज्यते, सूत्रवैयर्थ्यापत्तेः । “कृ-
द्योगा षष्ठी समस्यते” इति वार्तिकेन तत्र समासस्येष्टत्वात् । कृतिरिति ।
भावे क्तिन् । कृष्णः कर्ता । जगत इति । कर्मेदम् । कर्तृसाहचर्यात् कर्मापि
धात्वर्थे भेदनान्वय्येव गृह्यते । तेन स्तोकं पाक इत्यादौ *न क्रियाविशेष-
णात् षष्ठी । किंच क्रियाविशेषणेन स्तोकम्पाचक इत्यादौ न समानाधिकर-
णसमासो, नापि सुप्सुपेत्यादिः । सुबन्तार्थविशेष्येणानन्वयेनासामर्थ्यात्* ।
द्वितीयाश्रितेत्यादेस्तु सामर्थ्यादवयवद्वारके सामर्थ्ये प्रवृत्तिः । द्वितीया-
प्रकरणोक्तपरेतुमतीत्या वा सामर्थ्यम् । अत एव पूजनात्पूजितमिति
सूत्रे दारुणं यथा भवति तथा ऽध्यापक इत्यर्थकस्य दारुणाध्यापक-
इत्यस्य सिद्ध्यर्थं *मलोपवचनमारब्धं भाष्ये । *अन्यथा समासेन सिद्धे
*तद्व्यर्थं स्यात् । एतदेव भाष्यं ततः षष्ठ्यभावेऽपि मानम् । *अन्यथा ष-
ष्ठीसमासस्य तृजकाभ्यां कर्तरीत्यादिनिषेधैरुक्तसामर्थ्येऽपि प्रवृत्त्या तत्स-
मासेनैव सिद्धौ मलोपवचनं व्यर्थमेव स्यादिति बोध्यम् । न च *भिन्न-
पदत्वे ऽपि तथाप्रयोगसाधुत्वार्थं मलोपवचनमिति वाच्यम् । *तथा
सति वाक्ये मलोपश्च वक्तव्य इति वदेत् । अत एव कैयटेन क्रियावि-
शेषणं दारुणादयस्तत्र वैयधिकरण्यात् समासाभावात् मलोपो विधी-
यतइत्युक्तम् । सुप्सुपेत्यादिसमासो *न सार्वत्रिक इति तदाशय इत्यलम् ।

एव शेषग्रहणानुवृत्तिलाभेन ज्ञोऽविदर्थेत्यत्रापि तदसम्बन्धो लभ्यते इति
भावः । यदि च प्रकृताभिप्रायकत्वेन “यदा कर्म” इत्यादिभाष्यं योज्यते तदा
तु मण्डूकानुवृत्तौ प्रमाणाभावः ।

केचित्तु शेषानुवृत्तिरेव प्रयत्नसाध्या । आरम्भसामर्थ्येन समासाभाव-
कल्पने गौरवात् । अननुवृत्तिस्तु स्वारसिकी । एवं च कर्मघटिते उक्तभाष्यस्य
मानत्वेऽपि उत्तरत्र मानाभावादननुवृत्तिरिति रीत्येतद्ब्रह्मं योजयन्ति ।

कर्तृकर्मणोः कृति । न क्रियाविशेषणात् षष्ठीति । स्तोकादेः कर्मणः
पाकक्रियायामभेदेनान्वयात् । *असामर्थ्यादिति । प्रधानन्यायेन विशेष्यद्वारक-
मेव सामर्थ्यं गृह्यत इति भावः । षष्ठीसमासे तु तृजकाभ्यामित्यादिगमकादवय-
वद्वारकसामर्थ्यस्यापि ग्रहणम् इत्यन्यत् । *मलोपवचनमारब्धमिति* । अन्यथा
षष्ठ्येवात्रापि स्यादिति मकारो न लभ्येतेति भावः । *अन्यथेति* । अवयवद्वार-
कसामर्थ्यमादाय प्रकृतेऽपि समासस्वीकारे । *तद्व्यर्थं स्यादिति । समासे कृते
विभक्तेर्लुकि मस्यैवाभावे मलोपवचनं व्यर्थं स्यात् । *भिन्नपदत्वेऽपीति* । स-
मासस्य वैकल्पिकत्वेन तदभावे वाक्ये मलोपार्थं तद्वचनं चरितार्थमिति भावः ।
तथा सतीति । वाक्ये एव मलोपार्थं तद्वचनस्य सार्थक्ये सति । *न सार्वत्रिक

कृति किमिति । कर्तृकर्मभ्यां क्रिया सन्निधाप्यते । तद्वाची तु धातुरेव । कारकान्वययोग्यतावच्छेदकरूपेण साङ्ख्यत्वेन धातुभिरेव तदुपस्थितेः । शत्योऽश्वः, आग्निभ्रक इत्यादौ तद्धितान्न तेन रूपेणोपस्थितिरिति न तत्र कारकाणामन्वयः, एतद्भाष्यप्रामाण्यात् । अत एव हिरुगादियोगे न कर्मादिसंज्ञा । एतेन देवदत्तेन शत्योऽश्व इत्यादौ षष्ठीनिवृत्त्यर्थं कृद्ग्रहणमित्यपास्तम् । अधिका खारी द्रोणेनेत्यत्र हेतौ तृतीया । क्रियायोगाभावात् कर्तुः कर्तृत्वाभावे जनकत्वरूपहेतुत्वसत्त्वात् । धातोश्च द्वये प्रत्ययास्तितः कृतश्च । तत्र तिङ्योगे नलोकेति निषेधात् कृद्योगे एव भविष्यतीति किं तेन । नलोकेति सूत्रे कृदव्ययस्यैव ग्रहणं तु अव्ययार्थस्य ये कर्तृकर्मणी इति व्याख्यानेन सिद्धम् । उभयप्राप्तावित्यत्र बहुव्रीहिस्तु “एकाचो द्वे” इत्यादाविवान्यपदार्थस्याशाब्दत्वेऽपि व्याख्यानाद्भविष्यति । न च भेदिका देवदत्तस्य काष्ठानामित्यादौ गुणभूते णिच्प्रकृत्यर्थकर्तरि षष्ठ्यर्थं करोतीति कृदिति कर्तृपरं तदिति वाच्यम् । तृतीयावत्तत्र षष्ठ्या अपि विनैव यन्नं सिद्धेरिति प्रश्नः ।

तद्धित इति । *तद्धितान्तशक्तिग्रहमात्रप्रयोज्योपस्थितिविषयक्रियायाः कर्तरि कर्मणि च मा भूदित्यर्थः । उदाहरणे सकर्मकप्रकृतिकभावक्तान्तस्येदृशवृत्तिमात्रविषयताया भाष्यसम्मतत्वेन तस्य केवलस्य काप्यप्रयोगेण तद्धितान्तसमुदायशक्तैव क्रियोपस्थापकत्वात् । *कृद्ग्रहणात्कृदन्तशक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयक्रियाकर्तृकर्मणोर्ग्रहणम्, न चात्र

इति* । विस्पष्टं पटुर्विस्पष्टपदुस्त्यादौ प्रधानेन सामर्थ्याभावेऽपि सुप्सुपेति समासस्य भाष्यकृता कृतत्वात् । वस्तुनस्तु “अन्यथा समासेन” इत्यादिग्रन्थश्चिन्त्य एव । नितान्तं दारुणाध्यापक इत्याद्यर्थे मलोपवचनावश्यकत्वात् । समासे “वृत्तस्य च विशेषणं न” इति न्यायेन दारुणपदार्थे नितान्तादिविशेषणान्वयानापत्तेः । तस्मात् षष्ठ्यापत्तौ मेकारस्य दुर्लभत्वान्मलोपवचनासङ्गत्यापत्त्या क्रियाविशेषणे षष्ठी न भवति, समासस्तु असामर्थ्यात् न भवतीत्येव सारम् इति दिक् ।

तद्धितान्तशक्तिग्रहमात्रप्रयोज्योपस्थितिविषयक्रियाया इति । शक्तिश्चात्र आनुभाविकी आकाङ्क्षास्थानीया, उपस्थितिश्च वाक्यार्थबोधः । एवञ्च तद्धितान्तपर्याप्तानुभाविकशक्तिग्रहमात्रप्रयोज्यशाब्दबोधविषयक्रियायाः कर्तरि कर्मणि च षष्ठी मा भूदित्यर्थः । *कृद्ग्रहणादिति । तत्सामर्थ्यात् कृदन्तपर्याप्तानुभाविकशक्तिग्रहप्रयोज्यशाब्दबोधविषयक्रियानिरूपितकर्तृकर्मणोः षष्ठी इति

तथा । तण्डुलानां पाचकतर इत्यादौ च पाचकादेः पृथक्प्रयोगेण तच्छक्तिग्रहस्यापि सत्त्वेन कृदन्तशक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयत्वं क्रियाया अस्त्येवेति भवत्येव षष्ठी । अत एव तद्धिते माभूदित्येवोक्तं, न तु तद्धिताधिक्येऽपीति । भाष्येपि तद्धितस्य ये कर्तृकर्मणी तत्र मा भूत्कृतो ये कर्तृकर्मणी तत्रैव यथा स्यादित्येवोक्तम् ।

सूत्रार्थः । कृष्णस्य कृतिः तण्डुलानां पाचकः इत्यादौ च तमवादिसमभिव्याहारं विनापि पाकादिक्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपितकर्मत्वकर्तृत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नतण्डुलादिनिष्ठप्रकारताकबोधस्योदयात् तादृशबोधं प्रति तण्डुलादिपदसमभिव्याहृतकृदन्तपाचकादिपदस्यैव कारणत्वेन कृदन्तशक्तिग्रहप्रयोज्यबोधीयक्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपितकर्तृत्वकर्मत्वान्यतरसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताप्रयोजकत्वं तण्डुलानां पाचकतम इत्यादावपि अस्त्येवेति तत्रापि षष्ठी भवत्येव । कृतपूर्वी कटम् इत्यादौ तु पूर्वं कर्माविवक्षया भावे प्रत्यये पश्चात् कर्मान्वयस्य तद्धितविषये एव भाष्यप्रामाण्यात् स्वीकारेण कृधात्वर्थनिष्ठविशेष्यतानिरूपितकर्मत्वसम्बन्धावच्छिन्नकटादिनिष्ठप्रकारताकबोधं प्रति कटादिपदसमभिव्याहृतकृतपूर्वीतितद्धितान्तस्यैव कारणत्वात् न कटादीनां कृदन्तपर्याप्तशक्तिग्रहप्रयोज्यबोधविषयक्रियानिरूपितं कर्मत्वमिति न ततः षष्ठीति भावः ।

एतेन “कृतमिति व्यस्ते कृतपूर्वीति वृत्तौ च विद्यमाने कृतपदे एकस्या एव क्रियाविषयकबोधानुकूलायाः शक्तेः सत्त्वेन कृतपूर्वीत्यत्र कृदन्तशक्तिग्रहप्रयोज्योपस्थितिविषयत्वं क्रियायां नास्तीति दुर्वचम्” इति शङ्का समाहिता । एवमेव च ‘देवदत्तेन कृतम्’ इत्यादौ कान्तस्यार्थवत्त्वेन कृद्ग्रहणपरिभाषया कृदन्तत्वात्प्राप्तप्रातिपदिकसंज्ञायाः अर्थवत्समुदायविषयकेण समासग्रहणनियमेन वारणं संगच्छते । अत एव च ‘देवदत्तो गार्ग्य’ इत्यादौ देवदत्तो गार्ग्येत्यस्य सुरहितस्यार्थवत्त्वाभावेन समासग्रहणेनाव्यावृत्तौ प्राप्तायां प्रत्ययग्रहणपरिभाषया प्रातिपदिकसंज्ञा भाष्ये वारिता । देवदत्तकर्तृकरणकर्मरूपार्थस्य ‘देवदत्तेन कृतपुत्रः’ इति वाक्यादपि प्रतीतेः सुरहिते एवाकाङ्क्षास्थानीयानुभाविकी शक्तिः । सुरहितादेवदत्तो गार्ग्येत्यस्मान् न देवदत्ताभिन्नो गार्ग्य इति प्रत्यय इति तत्र सुसहिते एव सेति सुधीर्मिर्बिचार्यताम् ।

न च ‘कृतपूर्वी कटम्’ इत्यत्र “न लोका” इति निषेधादेव षष्ठी न स्यादिति कृद्ग्रहणाभावेऽपि नात्र दोष इति वाच्यम् । कृतपूर्वी कटमित्यस्य कर्तृव्यपूर्वी कटमित्येतदुपलक्षणत्वात् । निष्ठान्तपर्याप्तानुभाविकशक्तिग्रहप्रयोज्यबोधविषयक्रियाकर्तृकर्मणोरेव नलोकेत्यनेन षष्ठीनिषेधाच्च । यद्वा “निष्ठा” इत्यनेन नात्रोक्तः, किन्तु “नपुंसके भावे कः” इत्यनेन । एवं च अनेन निषेधप्राप्तौ “नपुंसके भावे कस्य योगे षष्ठ्या उपसंख्यानम्” इति वार्तिकेन षष्ठी प्राप्ता कृद्ग्रहणाच्च । यद्यपि वार्तिकमिदं शेषत्वविवक्षया भाष्यकृता प्रत्या-

कृतपूर्वाति । अत्र कर्मविशेषस्य तत्तद्रूपेण प्रागन्वयाविवक्षया ऽकर्मकत्वाद्भावे क्ते पूर्वादिनिरिति तद्धितः । तदनन्तरं तु विशेषरूपेण कर्मयोगो भवत्येव । तत्रोक्तरीत्या षष्ठ्यभावे ऽनभिहितत्वाद् द्वितीया । एवं रीत्या साधुत्वे ऽत्रत्यभाष्यमेव मानम् । वृत्तेः पूर्वं कर्मान्वयाभावाच्च सापेक्षत्वाद् वृत्तिर्न स्यादिति न शङ्क्यम् । एवमधीती व्याकरणे इत्यादावपि बोध्यम् । तदुक्तं भाष्ये—यदा वाक्यं न तदा प्रत्ययः, यदा प्रत्ययः सामान्येन तदा वृत्तिरिति । न तदा प्रत्ययः—न तदा भावे प्रत्ययः । धातोः सकर्मकत्वात् । यदा प्रत्ययः—भावे इति शेषः । तदा वृत्तिरेव । साच वृत्तिर्न कदापि कर्मक्तान्तेनेत्याह । सामान्येनेति । कर्मविशेषस्य तत्तद्रूपेण प्रागन्वयाविवक्षाविशिष्टो योऽर्थः तदर्थकधातुप्रकृतिकृतान्तेनेत्यर्थः । इयमेव कर्मणो ऽविवक्षा नाम । अनेन तादृशक्तान्तस्य वाक्ये न प्रयोग इति स्पष्टमेवोक्तम् । प्रयोगानुरोधिनी हि विवक्षेति तद्भावः । न चाविवक्षितकर्मतया भावे क्तसाधनयत्नो व्यर्थः, नपुंसके भावे इत्यनेन सकर्मकेभ्यो ऽपि सिद्धेरिति वाच्यम् । तस्याप्यकर्मकेभ्य एवेष्टेः । अत्र चेदमेव भाष्यं मानम् ।

ददैर्दुःखस्य मादृग्भ्यो धायैरामोदमुत्तमम् ।

लिम्पैरिव तनोर्वातैश्चेतयन् स्याज्ज्वलो न कः ॥

इति भट्टिपद्यम् । मादृग्भ्यो दुःखं ददद्भिरुत्तममामोदं पुष्पादीनां गृहीत्वा मादृशां दत्तस्य दुःखस्य पोषकैर्मादृशां शरीरं लिम्पद्भिरिव वातैः को मादृक् विरहाग्निव्याप्तश्चेतयन् ज्वलः ज्वलन्निव न स्यादिति तदर्थः । दाधातोः पोषणार्थाद्धाञ्च ददाति दधात्योरिति शणौ, लिम्पेः शः, ज्वलेर्ण इति । जयमङ्गलाश्लोकव्याख्याप्येतज्जातीयैव तत्रेति दिक् । तत्र धायैरामोदमुत्तममित्यत्र *गृहीत्वेत्यध्याहृत्य तद्योगे द्वितीया बोद्ध्या ।

उभयोः प्राप्तिर्यस्मिन्निति । तेनैकनिमित्तत्वलाभादोदनस्य पांको ब्राह्मणानाञ्च प्रादुर्भाव इत्यादौ विभिन्नक्रियाकर्तृकर्मणोः षष्ठीप्राप्तौ नायं नियम इति भावः । प्राप्तिपदेन चोभयोः प्रयोग*एवायं निषेध इति

ख्यातं तथापि चार्तिकरीत्यैवेदमुदाहरणमिति केचिदाहुरिति दिक् ।

*गृहीत्वेति । एतेन “तदर्हम्” इति निर्देशात् अस्यानित्यत्वकल्पनं मनोरमोक्तं व्यर्थमिति ध्वनितम् ।

उभयप्राप्तौ कर्मणि । *उभयोः प्रयोगे एवेति* । ननु सति प्राप्तिपदे

ध्वनितम् । स्त्रीप्रत्यययोरिति । “स्त्रियां क्तिन्” इत्यधिकारविहितयोरित्यर्थः । नाथं नियम इति । तेनोभयत्रापि षष्ठी भवत्येवेति भावः । भेदिकेति । धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्, सन्नन्ताद्धिदेः “अ प्रत्ययात्” इत्यकारप्रत्ययः । शेषे इति । नियमस्यायं विकल्पः । ‘इत्येके’ इत्येतल्लब्धमर्थं स्पष्टप्रतिपत्तये आह । कोचिदिति । अकाराभिन्ने कृन्मात्रे इत्यर्थः । अनुशासनमिति । अनुशिष्यन्ते ऽसाधुभ्यो विविच्य बोध्यन्ते येनेति करणे ल्युट् ।

मत इत्यादौ मतिबुद्धीति वर्तमाने क्तः ।

इदमेषामिति । कर्तरि षष्ठी । सकर्मकेभ्यस्त्वधिकरणे क्ते कर्तृकर्मणोर्द्वयोरपि षष्ठी, इदमेषां भुक्तमोदनस्य । उभयप्राप्तावेति तु मध्येऽपवादन्यायेन कर्तृकर्मणोरित्यस्यैव नियम इति बोध्यम् ।

न लोका । लादेशा इति । लकारसम्बन्धिन इत्यर्थः, तेन

यत्र कर्तृकर्मणोरुभयोरपि कृदन्तार्थेऽन्वयः सम्भवी तत्रैवायं नियमः प्रवर्तते, तदभावे तु यत्राविवक्षितकर्मतया कर्मान्वयस्य नैव योग्यता तत्रापि ‘चैत्रस्य पाकः’ इत्यादौ एतत्कृतेन ‘उभयोः कर्मण्येव षष्ठी’ इति नियमेन कर्तरि षष्ठी न प्रवर्तते इति तदर्थं प्राप्तिपदस्य चारितार्थ्येनोभयोः प्रयोगे एवायमित्यर्थे प्रमाणाभाव इति चेन्न । एवं सत्यकर्मकेष्वेव कर्तरि षष्ठी स्यात्, सकर्मकेषु तु सति सम्भवे कर्मण्येवेति “अकर्मके कर्तरि कृति” ततः “कर्मणि” इति योगविभागेन सिद्धौ उभयोर्ग्रहणसामर्थ्याद्यत्रोभयोरन्वययोग्यता तत्रैव प्रवृत्तिसिद्धौ पुनः प्राप्तिग्रहणाद्, “कृत्वोर्थप्रयोगे” इत्यतः प्रयोगग्रहणानुवृत्तेः, “आत्ममाने खश्च” इति सूत्रस्थभाष्यप्राण्याच्च यत्रोभयार्थकं पदं श्रूयते तत्रैवेत्यर्थस्य सम्भवात् । “आत्ममाने” इति सूत्रे भाष्ये हि “आत्ममाने इत्यात्मग्रहणं परमाने मा भूत् इत्येतदर्थम् । क्रियमाणेऽपि तस्मिन् प्राप्नोति । कुतः । आत्मन इति कर्तरि षष्ठी, मान इति भावे घञ् । नैष दोषः । आत्मन इति कर्मणि षष्ठी । ननु कर्तर्यपि प्राप्नोति । एवं तर्हि आत्मग्रहणसामर्थ्यात् कर्मणि षष्ठी विश्वास्यते” इत्युक्तम् । उभयोः प्रयोगमन्तराऽपि नियमप्रवृत्तौ तु प्रकृते “उभयप्राप्तौ कर्मणि” इति नियमेन कर्मषष्ठ्याः सिद्धत्वेन आत्मग्रहणसामर्थ्येन कर्मषष्ठ्याः साधनं भाष्यकृतो विफलं स्यात् । तत्फलं तु “अथ शब्दानुशासनम्” इत्यादौ यत्र सत्यामपि कर्त्रन्वययोग्यतायाम् आचार्यादिरूपकर्तृबोधकं पदं न श्रूयते तत्रास्य नियमस्य न प्रवृत्तिरिति समासः सिद्धः । एतत्प्रवृत्तौ तु “कर्मणिच” इति निषेधात् समासो न स्यात् । उभयप्राप्तवित्यनेन षष्ठ्यभावे तु न समासनिषेधः । इति-शब्दार्थक-चकारेण ‘कर्मणि’ इत्येवं विहितषष्ठ्या एव समासनिषेधादिति भावः ।

*ददिर्गा इति सिद्धम् । केवल-लस्य कापि प्रयोगाभावादेवं व्याख्यातम् । कुर्वन्निति । तन्प्रत्याहारघटकस्तु नायम् । तृशब्दस्य तद्व्यटकत्वेऽपि शतुस्तद्धटकत्वाभावात् । लिङादेशकस्वादियोगे लिङ्मदृशकिकिनोर्योगे च निषेधार्थं *तस्यावश्यकत्वाच्च । उ इति । उकारेण व्याख्यानात्-दन्तविधिः, व्यपदेशिवद्भावेनोकारस्यापि । सनाशंसेति, अलंकृन्निति च उद्गुणचौ । घातुक इति । लषपतपदेत्युक्तञ्च, वृद्धिस्तत्त्वम् । कमेरिति । उक्रान्तस्येति शेषः । इदञ्च भाषायामेव । भाषायामिति भाष्योक्तेः । निष्ठेति । एतदपवादतया भाष्ये वार्तिकं पठ्यते—नपुंसके भावे कस्य योगे षष्ठ्या उपसंख्यानं छात्रस्य हसितमिति । इदञ्च प्रतिपदोक्तत्वात् “नपुंसके भावे क्त” इति सूत्रविहितत्क्रान्तयोगएव । *अत एव भ्रान्तं देशमित्यादौ गत्यर्थार्कर्मकेत्यनेन क्ते नानेन षष्ठी । नपुंसके भावे क्तस्तु नात्र । तस्याप्यर्कर्मकेभ्य एवेष्टेः । अविश्रितकर्मतया ऽकर्मकत्वेन क्तस्तु कृतपूर्वीत्यादिवृत्तिविषयएवेत्युक्तम् । *एवञ्च इहाहेः सप्तमित्यादौ परत्वेन क्तोऽधिकरणे चेत्यनेन भावे क्ते शेषत्वविवक्षयैव षष्ठीसाधनस्यावश्यकत्वेन इदं शेषत्वविवक्षया भाष्ये प्रत्याख्यातम् ।

*वार्तिकेन चानेन कारकषष्ठीनिषेधविषये शेषत्वविवक्षा नेति ज्ञाप्यते । शेषत्वविवक्षया भाष्योक्ततत्प्रत्याख्याने तु अनभिधानात् क्तातिरिक्ताविषये *न सा । *पूरणगुणेति सूत्रे भाष्ये ध्वनितमिदम् । तत्र हि “सति किमुदाहरणं, ब्राह्मणस्य कुर्वन्, नैतदस्ति कारकषष्ठीनिषेधात्, शेष-

*ददिर्गा इति । अत्र किप्रत्ययस्य लादेशत्वाभावात् यथाश्रुते निषेधो न स्यात् । लकारसम्बन्धिन इति व्याख्याने तु तस्य लिङ्गत् इत्यतिदेशात् स सिध्यतीति भावः । *तस्येति । लग्नहणस्येत्यर्थः ।

*अत एवेति । अस्य वार्तिकस्य “नपुंसके” इति विहितकप्रत्ययविषयत्वादेव भ्रान्तं देशमित्यत्र देशपदान् षष्ठीत्यर्थः । *एवञ्चेति । षष्ठीविधायकस्य वार्तिकस्य “नपुंसके भावे” इति विहितकप्रत्ययविषयत्वेत्यर्थः । *परत्वेनेति । “नपुंसके भावे क्तः” इति बाधित्वेति शेषः ।

*वार्तिकेन चानेनेति । सर्वत्रोत्सर्गतः शेषत्वविवक्षायां तु अस्य वार्तिकस्यानुत्थानमेव स्यादिति भावः ।

न सेति । न शेषत्वविवक्षेत्यर्थः । अनेन “सर्वोऽयं कारकषष्ठ्या प्रतिषेधः शेषे षष्ठी तु स्यादेव” इति मूलोक्तमयुक्तमिति ध्वनितम् ।

षष्ठ्या तु ब्राह्मणस्य कटामिसर्थेनासामर्थ्यात्” *इत्याद्यर्थकमुक्तमिति परे ।

अधीयन्निति । इङ्धार्योः शत्रुकृच्छ्रिणि” इति शता । द्विषन्निति ।
“द्विषोऽमित्रे” इति शता । शेषे षष्ठी त्विति । इदञ्चिन्त्यमित्युक्तं परैः* ।

अकेनो ॥ अत्र यथासंख्यं नेष्यते । अकस्याधमर्ण्ये ऽसम्भवा-
दाह । भविष्यत्कस्येति । वर्षशतस्य पूरक इत्यादौ, “एतत्कर्मक-
कयाजनकर्तार” इत्यर्थके ‘अङ्ग यजतां लप्स्यन्ते ऽस्य याजका’ इत्यादौ
च षष्ठी भवत्येव । कर्तृमात्रार्थके ण्वुल्लुचाविति ण्वुलि पदान्तरसम्बन्धेन
भविष्यत्त्वप्रतीतावपि अकस्य तत्रावृत्तेः । तुमुन्णुलाविति ण्वुल् तु भविष्य-
तीत्यधिकृत्य विधानाद्भविष्यदर्थक एवेति भावः । ब्रजङ्गमीति । गमेरिनि-
रित्यौणादिक इनिः । स च भविष्यति । “भविष्यति गम्पादय” इत्युक्तेः ।
गामीति पाठे बाहुलकाद् वृद्धिः । शानन्दायीति । आवश्यकधमर्ण्ययोरिति
णिनिः । आवश्यकं णिनावप्ययं निषेधः । सूत्रे आधमर्ण्यपदेन तत्सूत्रोक्ता-
र्थोपलक्षणात् । अत एव “अंशं हारी” इति निर्देशः सङ्गच्छते । तत्र हि आ-
वश्यकं णिनिः । न च तत्र भविष्यदर्थकत्वेन सिद्धिः, भूतवर्त्तमानयोराव-
श्यकत्वबोधनस्य वैफल्येन भविष्यत एव ततो बोधादिति वाच्यम् । वस्तुतो
भविष्यतो बोधे ऽपि तत्त्वेनावोधात् । णिनेस्तदर्थकत्वाभावाच्च । अत ए-
वावश्यकारी कटस्येति वृत्त्युदाहृतं सङ्गच्छते । तत्र हि नानेन णिनिः,
*अवश्यंपदोपादानात् । किं तु मुप्यजातावित्येवेति नव्याः ।

कृत्यानाम् ॥ कर्तृकर्मणोरिति नित्ये प्राप्ते विभाषा । कर्मनिवृ-
त्यर्थं कर्तृग्रहणम् । अनुवर्त्तत इति । निषेधो ऽयं कर्तरि कर्मणि च ।
कर्तरि वेति त्वनुभयप्राप्तिविषयमिति वृत्तिकैषटादयः । ब्रजमित्यत्र “गु-
णकर्मणि वेष्यते” इति विकल्पस्तु न, कृत्यातिरिक्ते चरितार्थस्य तस्य
दोग्धव्या गावः पयः कृष्णेनेत्यादौ गुणकर्मण उक्तत्वात् प्रधाने चरिता-

अत्रैव मानमाह *पूरणगुणेतीति । *इत्याद्यर्थकमुक्तमिति* । यदि तु
क्तातिरिक्ते कृति शेषत्वविवक्षा भवेत् तदा तु शत्रन्तयोगे शेषत्व-
विवक्षा नास्तीत्यर्थकं नैतदस्तीत्युक्ता कटादिपदार्थान्वयविवक्षया शेषषष्ठ्यां
तु असामर्थ्यात् समासाभावमुपपाद्य कृतं सङ्ग्रहणप्रत्याख्यानं भाष्योक्तमसंगतं
स्यात् । तस्मादनेन क्तातिरिक्ते कृति शेषत्वविवक्षां नेति बोध्यते इति भावः ।
वार्तिकभाष्ययोर्विरोधपरिहारस्तु यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्याद्बोध्यः । *इत्युक्तं
परैरिति* । क्तातिरिक्तविषये न सेत्यादिना । *अवश्यंपदोपादानादिति* ।

र्थेनानेन परत्वाद्वाधात् ।

तुल्यार्थैर्योग इति । तुल्यत्वार्थैरित्यर्थः । अत एवातुलोपमाभ्यामिति चरितार्थम् । अत एव पर्युदासादनव्यययोग एवेदं, तेन इवशब्दयोगे न ।

चतुर्थी चाशिषि । आशीर्विषयीक्रियान्वय्यर्थकात् प्रातिपदिकात्तद्द्वारके आयुष्यादियोगे चतुर्थीषष्ठ्यावित्यर्थः । अत एवैतदर्थकचतुर्थ्याद्यन्तेन सुखहितादिभिर्न समासः । उभयोरपि क्रियान्वयेन परस्परमसामर्थ्यात् । अत एव हि तेन चतुर्थीसमासविधानं तद्योगे चतुर्थीज्ञापकमित्याकरोक्तं* सङ्गच्छते । यत्तु वृत्तावुद्देश्यविधेयभावेनान्वयादाशीर्विषये च तथा ऽन्वयान्न समास इति । तन्न । वृत्तावपि प्राप्तवादिपर्यालोचनेन लोहितोष्णीषा इत्यादौ तथान्वयदर्शनात्* । भाष्ये तथान्वये वृत्तेरसाधुताया अनुक्तेश्चेति समासवादे मञ्जूषायां विस्तरः । व्याख्यानादिति । सूत्रेऽर्थशब्दः पृथङ्निमित्तमिति भावः । भाष्येतु नैतद् दृश्यते ।

इति षष्ठी ॥

आधारो ॥ कारके इत्यधिकारात्क्रियाजनके एतत्प्रवृत्त्योपस्थितत्वादाधारः क्रियाया एव । तत्रेप्सिततम-स्वतन्त्रपदाभ्यां साक्षात्क्रियाधारयोः कर्मकर्तृसंज्ञाभ्यां*बाधात्परम्परया तदाश्रयस्य ग्रहणम् । परम्परा च

उक्तार्थानामप्रयोगादिति भावः । *आकरोक्तं संगच्छते इति* । अनेन सुखहितादियोगेऽपि चतुर्थी सामर्थ्येन चतुर्थीसमासोपपत्तौ समासविधानसामर्थ्याद् “हितयोगे च” इति कल्पनं भाष्यकृतो ऽयुक्तं भवेदिति भावः ।

*तथान्वयदर्शनादिति । प्राप्तमुष्णीषमुद्दिश्य अप्राप्तलौहित्यमात्रविधानदर्शनात्, अभ्यासलोपश्चेत्यादावपि अभ्यासोद्देशेन लोपविधाने समासदर्शनात् ‘पृथगुपस्थितयोरेव उद्देश्यविधेयभावेनान्वय’ इति नियमो नाश्रीयते इति भावः ।

इति षष्ठी ।

*बाधादिति । अत एव गृहं प्रविशति, मोक्षमिच्छतीत्यादौ न सप्तमी । मोक्षे इच्छाऽस्तीत्यादौ तु श-प्रत्ययोपात्तसिद्धावस्थापन्नेच्छारूपकर्तृद्वारा अस्तिक्रियायामन्वयात् अधिकरणत्वम् । धात्वर्थसाध्यावस्थापन्नेच्छायामन्वये तु कर्मत्वमेव । ग्रामं गच्छति इत्यादौ ग्रामस्य संयोगरूपफलाधारत्वं विना देवदत्तादिरूपकर्तृद्वारा क्रियाश्रयत्वासंभवात् न कर्तृद्वारा क्रियाश्रयत्ववि-

कर्तृकर्मद्वारिकैव व्याख्यानादित्याह । कर्तृकर्मद्वारेति । यद्यपि कालस्य साक्षात्क्रियापरिच्छेदकत्वं तथापि तदाधिकरणं कर्तृकर्मद्वारैव । तथैवानुभवात् । साक्षात्तदाधारत्वेऽपि स्वरितत्वप्रातिज्ञानात्परम्पराधारस्य ग्रहणम् । किञ्च साक्षात्तदाधारत्वे कर्तृत्वमेव तस्य स्यात् । कालः पचति भृतानीतिवत् । एवञ्च क्रियान्वयोऽप्यस्य कर्त्राद्यन्वयद्वारैव । यस्य यद्द्वारा कारकत्वन्तस्य तद्द्वारैव क्रियान्वय इति व्युत्पत्तेः । अत एवाक्षशौण्ड इत्यादौ समासः । अत्र आसक्त्यादिक्रियान्तर्भावेण बोधाननुभवात् “क्रियाद्वारा सामर्थ्यम्” इति *कैयटाद्युक्तं न युक्तम् । मूले वृक्षः कपिसंयोगीत्यादावस्तिक्रियामध्याहृत्य तस्याः स्वकर्तृकपिसंयोगिवृक्षद्वारा मूलवृत्तित्वादाधस्तत्त्वम् । *विशिष्टवृक्षस्य मूलवृत्तित्वबोधेऽन्यत्रावयवे तद्विशिष्टवृक्षाभावप्रतीतेः* कपिसंयोगे तद्वच्छेद्यत्वं फलतीति दिक् ।

चकारादिति । प्रातिपादिकार्ये इति शेषः । त्रिधेति । तत्र सकलावयवव्याप्तौ व्यापकाधारत्वम् । यथा तिलेषु तैलम् । इदमेव मुख्यमधिकरणमिति स्वरितेनेत्यत्र साधकतममित्यत्र च भाष्ये स्पष्टम् । उपसमीपे श्लेषः सम्बन्धस्तत्कृतमौपश्लेषिकम्, अत एव “इको यणाचि” इत्यादावौपश्लेषिके आधारे सप्तम्युक्ता संहितायामिति सूत्रे भाष्ये । तत्राजादि-

वक्ष्याऽधिकरणत्वम् । अन्तरङ्गत्वात् कर्मत्वेन बाधात् । यदा तु संयोगसमानाधिकरणव्यापारो गम्यर्थस्तदा प्राप्ते गच्छतीत्यादिप्रयोगोपपत्तिरिति आकङ्क्षसूत्रे विवरणे स्पष्टम् ।

*कैयटाद्युक्तमिति । अक्षशौण्डस्य धनमित्यादौ कर्तृकर्मद्वाराऽपि क्रियान्वयोपपादनासंभवात् आसक्त्यादिक्रियान्तर्भावेण वृत्तिकल्पनाया आवश्यकत्वात् सर्वत्र तथैव वृत्तिनिर्वाहे अधिकरणकारकस्य परम्परया क्रियान्वयकल्पनमयुक्तमिति कैयटाद्याशयः । अक्षशौण्डस्य धनमस्तीत्यादौ उद्देश्यवाचके लक्षणाश्रयणेऽपि अक्षशौण्ड इत्यादौ विधेवाचके लक्षणाश्रयणस्यायुक्तत्वात् अक्षविषयकशौण्डत्वस्यैव विवक्षितत्वाच्च न तत्र लक्षणाश्रयणमिति कर्तृद्वारैव तत्र अधिकरणकारकान्वय इति आज्ञस्येन तत्र वृत्तिरूपपद्यते इति नवीनाशय इति दिक् ।

*विशिष्टवृक्षस्येति । कपिसंयोगविशिष्टवृक्षस्येत्यर्थः । *तद्विशिष्टवृक्षाभावप्रतीतेरिति । संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वादिति भावः । शिरसि मे वेदना इत्यादि तु अवच्छेद्यावच्छेदकभावस्यापि आधाराधेयभावनियामकत्वादुपपादनीयमिति दिक् ।

सामीप्यमेवेगादीनाम् । “यन्मासेतिक्रान्ते दीयते तस्य मास औपश्लेषिकमधिकरणम्” इत्युक्तं “तत्र च दीयते” इति सूत्रे भाष्ये । तदस्मिन्नाधिकमिति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टमिदम् । कटे आस्ते इति तु नौपश्लेषिकोदाहरणं युक्तम् । उक्त-भाष्यविरोधात् । यद्वा, एकदेशावच्छेदेन श्लेषेऽपि श्लेषस्य समीपमुप-श्लेषं तत्कृतमिति व्युत्पत्त्यौपश्लेषिकत्वमित्यभिप्रायेण तदुदाहरणम् । तदेतत् सर्वं गौणमधिकरणं, गङ्गायाङ्गाव इत्यादिकञ्चेति स्वरितेनेत्यादौ भाष्ये स्पष्टम् । गौणोऽप्याधारादिः सप्तम्यादिशक्य एवेति बोद्धव्यम् । एतदतिरिक्तं सर्वं वैषयिकम् । अधिकरणत्वशक्तिर्मात्राधिकरणविभक्त्यर्थः ।

इन्विषयस्येति । इनो विषयस्येन्प्रकृतेः क्तान्तस्य कर्मणीत्यर्थः । तेन कृतपूर्वी कटमित्यत्र न । उदाहरणे न कर्मणि क्तः, अभिहितत्वेन सप्तम्यनापत्तेः । किन्तु भावे । इष्टादिभ्यश्चेति । तत्र हि श्राद्धमनेनेत्यतोऽनेनेति वर्तते । अत्र कर्मशब्देन कालादिव्यतिरिक्तमेव गृह्यते व्याख्यानात्, तेन मासमधीती व्याकरणे इत्यत्र नेति कैयटः ।

साध्वसाधु । शेषषष्ठ्यपवादोऽयम् । साधुनिपुणाभ्यामित्येव सिद्धे अनर्थार्थमत्र साधुग्रहणम् । तेन तत्त्वकथनेऽपि भवति । सूत्रेऽच्चाग्रहणन्तु *निपुणार्थम् ।

निमित्तादिति । निमित्तवाचकात् सप्तमी भवति, तस्य निमित्तस्य प्रत्याप्त्या *स्वान्वयिक्रियाकर्मणा योगे इत्यर्थः । निमित्तञ्चात्र क्रियाफलम् । एवञ्च फलं सप्तम्यर्थः । चर्मणीति । चर्मणः फलत्वञ्च हननस्य तल्लाभेच्छाधीनत्वात् । कर्मसंबन्धश्च स्वरूपसञ्ज्ञेन नि-

*निपुणार्थमिति । तथाच सूत्रे साधुग्रहणं व्यर्थमिति भावः ।

*स्वान्वयिक्रियाकर्मणेति । दार्शनिकास्तु कर्म क्रिया तस्या योगे सम्बन्धे निमित्तवाचकत्वं सप्तमी भवतीति वार्तिकार्थः । निमित्तं तु यत्प्राप्तीच्छा-प्रयोज्या, यत्प्रयोजिका वा क्रिया तदुभयम् । तत्राद्ये चर्मणि द्वीपिनमित्यादौ सप्तमी । अन्त्ये अविद्यारजनीक्षये यदुदेति इत्यादौ सप्तमी । तथाच चर्मणि-द्वीपिनमित्यादौ प्राप्तीच्छैव सप्तम्या अर्थः । अविद्यारजनीक्षये इत्यादौ च अनुकूलत्वं सप्तम्यर्थः । अनुकूलत्वे च चतुर्थी—तृतीया—सप्तम्यो भवन्तीति न परस्परं तासां बाध्यबाधकभाव इत्याद्याहुरिति विभक्त्यर्थनिर्णये । एतदभिप्रायेणैव “तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः” इति सूत्रे स्थिताविति निमित्तसप्तमीति वाचस्पतिमिश्रैरुक्तम् । महाभाष्यकारास्तु अत्रोदासीना एवेति दिक् ।

मित्तम् । द्वीपिचर्मणोरण्डकोशमृगयोश्च सपवाय इतरयोः संयोगः । मु-
क्ताफलाय करिणं रघुवीरेत्यादौ क्रियार्थोपपदस्येति चतुर्थी । घ्नन्तीति
शेषः । मुक्ताफलान्याहर्तुमित्यर्थः ॥

यस्य च भा ॥ भावः क्रिया । ततः—ज्ञापकक्रियाश्रयवाचकात् ।
तेन गोपदुह्यमानपदयोरुभयोरपि सप्तमी सिद्धा । क्रियाश्रयः कर्त्ता कर्म च ।
तत्र ब्राह्मणेष्वधीयानेषु गत इति कर्तर्युदाहरणम् । कर्मण्याह । गोष्वि-
ति । तत्र काचित् क्रिया स्वाधारकालेनान्यां क्रियां परिच्छिनत्ति यथा
प्रकृते, काचित्तु स्वाधारकालाव्यवहितपूर्वकालेन यथा गोषु धोक्ष्यमा-
णास्वित्यादौ, काचित्स्वाधारकालानन्तरकालेन यथा गोषु दुग्धास्वित्या-
दौ । ज्ञापकत्वं सप्तम्यर्थस्तस्य च भावलक्षणमित्युक्तेः क्रियायामेवान्वयः ।
लक्ष्यलक्षणभावः शब्दबोद्धव्य एवैतच्छास्त्रप्रवृत्तौ निमित्तं न तु तस्य
भूयोदर्शनादिरूपमानान्तरेण ग्रहणोपेक्षेति बोद्धव्यम् । अन्यथोदिते आ-
दित्ये तमो नष्टमित्यादावेव स्यान्न तु प्रकृते कदाचिद्धि गोषु दुह्यमा-
नास्वसौ गतः । इदञ्च यत्र मानान्तरेण ज्ञातस्वरूपास्यार्थस्य कालविशेषा-
दिज्ञापनार्थं शब्दप्रयोगस्तत्रैव प्रवर्तते भाष्यस्वरसात् । राहूपरागे, स्ना-
यादित्यत्र राहूपरागपदेन तदाश्रयकाल उच्यते इति अधिकरणसप्त-
म्येव । विवाहे नान्दीमुखङ्कुर्यादित्यत्र विवाहपदेन तत्प्राक्काल उच्यते
गन्धान्दोहे आगत इत्यत्राप्यधिकरणसप्तम्येवेत्यन्यत्र विस्तरः ।

अर्हाणाम् ॥ कर्त्तृत्वार्हाणाम् । तद्वैपरीत्ये—अर्हाणाम्कर्त्तृत्वे
अनर्हाणां च कर्त्तृत्वे इत्यर्थः । वाक्यचतुष्टयमेतत् । कर्त्तृसमर्पकादकर्त्तृ-
समर्पकाच्च सप्तमीत्यर्थः । सप्तम्यां तदन्वायिक्रियावाचकाद्धातोरप्रथमासामा-
नाधिकरण्याच्छतृशानचावेव । लक्ष्यलक्षणभावविक्षार्थमिदम् ।

सत्तिस्वति । सन्तो हि तरणक्रियाकर्त्तृत्वार्हाः । तरणक्रिया-
कर्त्तृसत्संबन्धि असत्कर्त्तृकमासनमिति बोधः । स्वक्रियाधिकरणकाल-
वृत्तित्वं सम्बन्धः ।

असत्तिस्वति । तरणक्रियाकर्त्तृत्वानर्हाणान्तदकर्त्तृत्वमत्र । यद्यपि
स्थितिक्रियाकर्त्तृत्वार्हत्वेनेदं सिद्धं तथाप्यसतां तरणक्रियानर्हत्वादिकमपि
बोधविषय इति भावः ।

सत्तिस्वति । तरणक्रियाकर्त्तृत्वार्हाणान्तदकर्त्तृत्वमत्र ।

अस्तिवति । तरणकर्तृत्वानर्हणान्तत्कर्तृत्वमत्र ।

षष्ठी चा । अनादरइति विषयसप्तमी, यस्य च भावेनेत्याद्य-
नुवर्तते । अनादरे गम्यमाने सति यस्य क्रियया क्रियान्तरं लक्ष्यते ततः
सप्तमी षष्ठी चेत्पर्यः । फलितमाह, अनादराधिक्यइति । लक्ष्यल-
क्षणभावः षष्ठ्यर्थः । अनादरविशिष्टं प्रव्रजनन्धात्वर्थः । तत्र षष्ठी ता-
त्पर्यग्राहिका, *अनादरश्च प्रत्यासत्त्या पुत्रादिविषयक एवेति भावः ।

स्वामीश्वरा । शब्दपरत्वाद् विरूपाणामपीति नैकशेषः । पर्या-
यान्तरसङ्ग्रहापत्त्या स्वाम्यर्थ इति नोक्तम् । दीयते इति व्युत्पत्त्या दीय-
मानांशरूपं दायमादत्ते इति सोपसर्गादप्यादन्तादत एव निपातनात्कः ।
गवादिकं च दीयमानेऽन्वेति । नित्यसाकाङ्क्षत्वाद् वृत्तिः । दायदशब्दः
स्वामिपर्याय इत्यन्ये । षष्ठ्यामेवेति । शेषे षष्ठी इत्यनेनेति भावः ।

“तात्पर्ये इति । आसेवापदस्य तत्र रुढेरिति भावः । तात्पर्य-
ञ्च तदेकव्यापारता । आयुक्तयोगे ऽधिकरणत्वविवक्षायां सप्तमीप्राप्तौ,
सम्बन्धविवक्षायाम् *अत्र कुशलयोगे च षष्ठीप्राप्तौ वचनम् ।

यतश्च । जातिगुणक्रियासंज्ञाभिरिति । विशिष्टस्येत्यध्याहारः ।
तद्विशिष्टस्य यतः स्वघटितसमुदायात्स्वेतरसमुदायघटकव्यावृत्तधर्मकरणकं
*पृथक्करणं तद्वाचकात् षष्ठीत्यर्थः । यत इति किम् । यस्य जात्यादिवि-

*अनादर इति । यदुद्देश्यकेच्छाप्रयोज्या क्रिया क्रियान्तरं लक्ष्यति
तस्य समीहितस्यासिद्धिरनादरः । अस्ति च पश्यतः सुवर्णं हरति इत्यादौ दर्शन-
क्रिया हरणाभावोद्देश्यकेति समीहितस्य हरणाभावस्यासिद्धिरिति तत्र षष्ठी
भवति । भोजनक्रिया तु न तादृशीति न ‘भुञ्जानस्य स्वर्णं हरति’ इति प्रयोग
इति दिक् ।

अत्रेति । आयुक्तयोगे इत्यर्थः ।

*पृथक्करणमिति । जात्यादिविशिष्टस्य स्वेतरव्यावृत्तधर्मवत्त्वप्रका-
रकज्ञानविषयीकरणं निर्धारणमित्यर्थः । यत इति पञ्चमी निर्धारणघटकीभू-
तव्यावृत्तत्वेऽन्वेति । एवं च यद्यावृत्तधर्मवत्त्वं जात्यादिविशिष्टस्य प्रतिपा-
द्यते ततः षष्ठीसप्तम्यौ इति फलति । अस्तिच नराणां ब्राह्मणः श्रेष्ठ इत्यादौ
ब्राह्मणत्वादिविशिष्टस्य तदितरनरादिव्यावृत्तश्रेष्ठत्वधर्मवत्त्वया प्रतिपत्तिरि-
ति तत्र षष्ठीसप्तम्यौ भवतः । नरेभ्यो राक्षसः क्रूरतम इत्यादौ राक्षसत्ववि-
शिष्टे तदितरनरादिव्यावृत्तक्रूरतमत्वविवक्षायामपि नानेन षष्ठीसप्तम्यौ । “प-
ञ्चमी विभक्ते” इत्यनेन बाधात् । एवं च व्यावृत्तत्वाख्यः सम्बन्धो निर्धारण-
विभक्तेरर्थः । व्यावृत्तत्वं च अत्यन्ताभाघप्रतियोगित्वरूपं विधेयतावच्छेद-

शिष्टस्य स्वेतरव्यावृत्तधर्मवत्त्वबोधनन्तत एव मा भूत् । षष्ठ्यपवादत्ववत् प्रथमापवादत्वस्यापि सम्भवात् । स्वघटितसमुदायावधिक-स्वेतरसमुदायघट-
कव्यावृत्तधर्मकरणकपृथकरणरूपनिर्धारण-विषयत्वरूपोऽवयवावयविभा-
वरूपश्च* सम्बन्धो विभक्त्यर्थः । नृसमुदायावधिक-द्विजेतरनरव्यावृत्तधर्मक-

कावच्छिन्नम् । अतो नराणां ब्राह्मणः प्राणी इत्यादिर्न प्रयोगः । ब्राह्मणेतरन-
रेषु प्राणित्वघटोभयाभावसत्त्वेऽपि प्राणित्वत्वस्य तद्वृत्त्यभावप्रतियोगिताव-
च्छेदकतापर्याप्त्यनधिकरणत्वात् । व्यावृत्तत्वं च अभेदान्वयिविधेयसमाभि-
व्याहारस्थले विधेयतावच्छेदकेऽन्वेति, भेदान्वयितत्समभिव्यारस्थले तु विधे-
ये एव । व्युत्पत्तिवैचित्र्यात् । विभक्त्यर्थव्यावृत्तत्वघटकाभावे च सामानाधि-
करण्यसम्बन्धेन ब्राह्मणत्वादिविशेषधर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदविशिष्टो यः
प्रकृत्यर्थतावच्छेदकनरत्वादिः तन्निष्ठाधारतानिरूपिताधेयतासंबन्धेन प्रकृत्यर्थ-
नरादिपदार्थान्वयः । आकाङ्क्षावशात् । तथाच तादृशसम्बन्धेन नरवृत्त्य-
भावप्रतियोगिश्रेष्ठत्ववदभिन्नो द्विज इति बोधः । नराणां क्षत्रिये शौर्यमित्यादौ
तु तादृशसम्बन्धेन नरवृत्त्यभावप्रतियोगिशौर्यमिति बोधः इत्याहुः ।

अत्र मते “न निर्धारणे” इतिसूत्रसमतं निर्धारणस्य विभक्त्यर्थत्वं न
सिध्यतीति तत्सिद्ध्यर्थं निर्धारणघटितस्य विभक्त्यर्थत्वमाह—

*निर्धारणविषयत्वरूप इति । “पञ्चमी विभक्ते” इतिसूत्रविहितपञ्चम्य-
र्थापेक्षयाऽत्र विशेषमाह *अवयवावयविभावरूपश्चेति । तेन नराणां राक्षसः
कूरतम इति न प्रयोगः । नृणां मध्ये द्विजः श्रेष्ठ इत्यादौ तु मध्यशब्दयोगे
षष्ठी, न तु निर्धारणं । नृसमुदायमध्यवर्ती द्विजः श्रेष्ठ इति हि तत्र बोधः ।
श्रेष्ठत्वादौ द्विजेतरव्यावृत्तत्वबोधस्तु तत्र मानसः । देवदत्तो वामेनाक्षणा
पश्यतीत्युक्ते दक्षिणेन न पश्यतीतिवत् । गोमण्डले वर्तमाना या कृष्णा
गोः सा बहुक्षीरा इत्याधारसप्तमीवाक्येऽपि उक्तन्यायेनैव तथा प्रतीतिः ।
नृषु मध्ये इतित्वसाध्वेव । सप्तम्युपपत्तेरभावात् । ननु जलपृथिव्योर्जलं स्ने-
हवत् इत्यादौ जलपृथिव्योर्जलभेदाप्रसिद्धेः, जलपृथिव्युभयव्यावृत्तत्वस्य ज-
लं बाधेन च निर्धारणासम्भव इति चेन्न । समुदायेऽवयवभेदाभेदयोरङ्गीकारेण
जलपृथिव्युभये जलभेदस्य, तदुभयव्यावृत्तत्वस्य स्नेहे चाबाधेन निर्धारणो-
पपत्तेः । समुदाये अवयवभेदानङ्गीकारेऽपि जलपृथिव्युभयपर्याप्तसाहित्यावच्छे-
देन तद्भेदाङ्गीकारे बाधकाभावाच्च । पृथिवीजलोभयं न गन्धवत् इति प्रतीतिः
सर्वानुभवसिद्धत्वात् । “पञ्चमी विभक्ते” इत्यनेन पञ्चमी तु न । निर्धारणावधे-
निर्धार्यमाणे भेदमात्रसत्त्वे एव तत्प्रवृत्तेः । साङ्काश्यकानां पाटलिपुत्रकाणां च
पाटलिपुत्रका अभिरूपतमा इति भाष्यप्रयोगोऽपि एवमेवोपपद्यते । उभयारब्ध-
समूहे पाटलिपुत्रकाभेदस्य सत्त्वेन पञ्चम्या अप्राप्तेः । तद्भेदस्यापि सत्त्वेन
निर्धारणोपपत्तेश्चेति दिक् । केचित्तु नृणां मध्ये द्विजः श्रेष्ठ इत्यादौ मध्ये इत्य-

रणकपृथकरणरूपनिर्धारण-विषयो नृसमुदायावयवो द्विजः श्रेष्ठ इति बोधः । संसर्गघटककरणं च श्रेष्ठत्वादिरूपमेव प्रत्यासत्तेः । *अत एव “न निर्धारणे” इति सूत्रबोधितं निर्धारणस्य *विभक्त्यर्थत्वं सङ्गच्छते । उद्भूतावयवभेदविवक्षया नृणामिति बहुवचनम् । तिरोहितावयवभेदविवक्षया निर्धारणविषये एकवचनन्त्वसाधिविति कारके इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । तत्र हि निर्धारणे कारकेष्विति ब्रूयादित्युक्तम् । मिदचोऽन्त्यादित्यादौ तु सौत्रो निर्देश इति *तदाशयः । द्वन्द्वः सामासिकस्य चेत्यत्र समाससमूहमङ्ग्ये इत्यर्थः । समूहेऽर्थे ऽचित्तेति ठक् ।

पञ्चमी वि ॥ यतश्च निर्धारणमित्यनुवर्तते । विभागोऽत्र भेदः । तत्र निर्धारणे सर्वत्र यथाकथंचिद्भेदस्य सत्त्वेन विभक्तग्रहणसामर्थ्यात् यत्र भेद एव न तु केनाप्युपात्तरूपेण अभेदस्तत्रैव प्रवृत्तिरित्याह, भेद एवेति । अत्र पञ्चम्यर्थो निर्धारणविषयत्वरूप एव । पाटलिपुत्रकावधिकनिर्धारणविषया माथुरा आढ्यतरा इति बोधः । एवञ्च त्रितयोपादानएव निर्धारणप्रतीतिरिति पुरुषोत्तम इत्यादौ सम्बन्धसामान्ये षष्ठी उत्तमनिरूपितेति *समाससिद्धिरिति तरप्सूत्रे कैयटः ।

साधुनि । निपूर्वात् “पुण कर्मणि शुभे” इत्यत इगुपधलक्षणः कः । अर्चतेश्च भौवादिकाद् “गुरोश्च हल” इत्यप्रत्ययः । अर्चा । चौरादि-

व्ययेन विभक्त्या च हेचैत्रेत्यादौ सम्बोधनवत् समुच्चित्य सम्बन्धो द्योत्यते इत्याहुः ।

अत एवेति । निर्धारणविषयत्वस्य पष्ठ्यर्थत्वादेवेत्यर्थः । *विभक्त्यर्थत्वं सङ्गच्छते इति* । निर्धारणस्य आकाङ्क्षाभास्यत्वे तु विभक्त्यर्थत्वं न स्यादित्यर्थः ।

*तदाशय इति । केचित्तु कारकशब्दस्य तिरोहितावयवभेदकसमुदायबोधकत्वाभावात् निर्धारणे “कारकेष्विति ब्रूयात्” इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते । समाहारद्वन्द्वस्य तु तिरोहितावयवभेदकसमुदायबोधकत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वात् तद्विषये पाणिपादस्य पाणिः श्रेष्ठ इति निर्धारणषष्ठ्येकवचनान्तः प्रयोगो भवत्येव । “द्वन्द्वः सामासिकस्य च” इत्यत्रापि मध्ये इत्यध्याहारं विनैव निर्धारणषष्ठ्यैव निर्वाहः । ठकस्तिरोहितावयवभेदकसमुदायबोधकत्वादित्याहुः ।

*समाससिद्धिरिति । निर्धारणषष्ठ्यां तु निर्धार्यमाणे एव अवयवावयविभावसम्बन्धेन निर्धारणावधेरन्वयेन उत्तमत्वेऽन्वयाभावेन सामर्थ्याभावात् “न निर्धारणे” इति निषेधाच्च समासो न स्यादिति भावः ।

कात्तु ण्यासश्रन्येति युच् स्यात् । षष्ठ्यपवादोऽयम् । अप्रत्यादिभि-
रिति । लक्षणेत्थमिति सूत्रोपात्ताः प्रत्यादयः ।

नक्षत्रे च । लुप्तशब्देन लुप्तसञ्ज्ञया लुप्तप्रत्ययार्थो लक्ष्यते इति बोध्य-
म् । अधिकरणे किम् । अद्य पुष्पः । * असत्यान्तदनुवृत्तावन्तरङ्गत्वात्प्रातिप-
दिकार्थे एव स्यात् । मूलेनेति । “नक्षत्रेण युक्तः काल” इत्यणो “लुप्त-
विशेषे” इति लुप् । नक्षत्रे किम् । पञ्चालेषु तिष्ठन्ति । जनपदे लुबिति लुप् ।

सप्तमीपञ्चम्यौ । कालाध्वनोरित्यतस्तदनुवर्तते । तच्च पञ्चम्या
विपरिणम्यते । मध्यस्यावधिद्वयसापेक्षतया * द्विवचनान्तेन समासः । बोधस्तु
शक्तिन्वेन शक्तिद्वयस्य, न तु द्वित्वेनेति बोध्यम् । ननु कर्तृरूपस्य का-
रकस्यैकत्वाद्देननिबन्धनमध्यव्यपदेशासम्भवोऽत आह । शक्तिद्वयम-
ध्ये याविति । कर्तृत्वादिशक्तिरेव कारकम् । सा च क्रियाभेदेन भि-
न्नेति भावः । यद्यप्यवध्यवधिमतोऽसाजात्यनियमान्न कालाध्वानौ का-
रकमध्ये सम्भवतस्तथापि शक्तिशब्देन तदाधारकालादिग्रहणान्न दोषः ।
षष्ठ्यपवादोऽयम् । स्वानन्तरकालवृत्तित्वादिकं विभक्त्यर्थः । शक्तिद्व-
यमध्यवर्तित्वन्तु * वस्तुसन्निभित्तम् ।

अधिकशब्देनेति । कर्त्तरिक्तप्रत्ययान्ताध्याख्यशब्दार्थकाधिक-
शब्दयोगे लोकशब्दात् षष्ठ्याम्प्राप्तायां ज्ञापकादिमे इष्येते इत्यर्थः । तद-
स्मिन्नधिकमिति सूत्रे भाष्ये तु उपश्लिष्टपदाध्याहारेणौपश्लेषिकेऽधिकरणे
सप्तमीत्युक्तम् । कर्मणिक्तप्रत्ययान्ताध्याख्यशब्दार्थकाधिकयोगे तु अधिको
लोको हरिणेति प्रथमैव । उपपराद्धे इति । “उपोधिके च” इति कर्मप्रवचनी-
यत्वम् । ननु मामुद्दिश्य विनियोक्ष्यत इत्यर्थादत्र कर्मणि द्वितीयैवेति किङ्कर्-
मप्रवचनीयत्वेनेत्यत आह । अगतित्वादिति । तिङ्ङि चेति । उदात्तवति
तिङ्ङन्ते गतिर्निह्न्यते इत्यर्थः । अत्र “तिङ्ङन्तिङ्” इति निघातस्य निपातैर्य-
द्यदीत्यादिना निषेधात् करिष्यतीति तिङ्ङन्तस्योदात्तवत्त्वमिति सर्वेष्टसिद्धिः ॥

इति विभक्त्यर्थाः ।

* असत्यामिति । असति तदनुवृत्तौ इति पाठे तस्यानुवृत्तिर्यस्मिन्
सूत्रे इति विग्रह्य तदनुवृत्तिघटिते सूत्रे असतीति व्याख्येयम् ।

* द्विवचनान्तेनेति * । कारकयोर्मध्ये इति विग्रहः । * वस्तु सन्नि-
भित्तमिति * । न तु तस्य शाब्दबोधे भानमपेक्षणीयम् ।

* इति विभक्त्यर्थाः ।

समर्थः पद । विधिशब्दः कर्मसाधनः शेषपष्ठ्या समास-
स्तदाह । पदसम्बन्धीति । *पदविधिसहचरितो ऽपि पदविधि-
शब्देन गृह्यते । अत एव सन्नन्तादावेकार्थीभावः । पदवि-
धिश्च समाससंज्ञादिः । तस्य च न सामर्थ्यं साक्षात् विशेषणमसम्भवात्
अत आह-समर्थाश्रित इति । सामर्थ्यं चात्र न व्यपेक्षा । व्याख्यानात्,
समासादिवृत्तिषु तस्यासम्भवाच्च । किन्त्वेकार्थीभावः । स च विशेष्य-
विशेषणभाववगाह्युपस्थितिजनकत्वम् । “संसृष्टार्थं समर्थम्” इति भाष्यो-
क्तेः । अत एव राजपुरुषैकदेशे राज्ञि ऋद्धस्येसादिविशेषणान्वयो न ।
देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादौ तु गमकत्वाद्भवत्येव वृत्तिः । एवं राजपुरुष
इत्यादौ विशेषणपदे संख्याऽनवगमोऽप्येकार्थीभावकृतः । संख्याविशेषप्र-
कारेण तत्तदर्थभाने पृथगुपस्थितेस्तन्त्रत्वात् । यथा घटा इत्यादितो व-
हुत्वेनैव त्रिचतुरादिव्यक्तीनां भानं, न तु त्रित्वचतुष्ट्यादिना तथा वृत्तौ
राजत्वादिनैकानेकव्यक्तिभानं तात्पर्यवशान्न त्वेकत्वद्वित्वादिना । एवं
तावकीनो यौष्माकीण इत्यादौ सम्बोध्यत्वेनैवैकानेकव्यक्तिभानं न त्वे-
कत्वबहुत्वादिना । विग्रहवाक्यीयैकवचनत्वारोपेण शास्त्रप्रवृत्तिमात्रं न तु
तद्विशेषः, वृत्तिस्वभावविरोधादिति मञ्जूषायां विस्तरः ।

गमकत्वादेव शिवस्य भगवतो भक्त इत्यर्थे शिवभागवत इति
अयःशूलेति सूत्रे भाष्ये प्रयोगः । परं तु तत्र वृत्तिरेव न तु शिवस्य
भागवत इति वाक्यं साधु । तत्र भगवच्छब्दादण्, शिवपदेन भगवच्छब्द-

*पदविधिसहचरितोऽपीति । वस्तुतस्तु पदसंज्ञाप्रयोजकप्रत्ययोत्पत्तिप्रयो-
जकसंज्ञाविधायकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकरूपावच्छिन्नसंपादकविधित्वं पदवि-
धित्वम् । तच्च कृतप्रत्ययविधायके, तद्धितप्रत्ययविधायके, समाससंज्ञाविधायके,
सनादिविधायके चास्ति । तत्र आशानां त्रयाणां पदसंज्ञाप्रयोजकसुप्रत्ययोत्प-
त्तिप्रयोजकप्रातिपदिकसंज्ञाविधायकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदककृत्व-तद्धितत्व-
समासत्वान्यतमावच्छिन्नसंपादकत्वात् । सनादिविधायकस्य च पदसंज्ञाप्रयो-
जकतद्धितप्रत्ययोत्पत्तिप्रयोजकधातुसंज्ञाविधायक “सनाद्यन्ताधातव” इत्येतच्छा-
स्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकसन्त्वाद्यवच्छिन्नसंपादकत्वात् । इत्यमेव “समासेऽङ्गुलेः
सङ्गः” इत्यत्रत्यसमासग्रहणस्य “पदान्ताद्वा” इति सूत्रस्थान्तग्रहणस्य च
चारितार्थम्, ओत्वोष्ठयोरित्यादौ चाप्रवृत्तिरुपपद्यते इति तत्र तत्र निरु-
पितमिति दिक् ।

स्य समासश्च युगपदेवेति बोध्यम् । तथोपस्थितिश्च समुदायशक्ति-
साध्या । एवञ्च क्लृप्तशक्तित्यागे मानाभावात् प्रत्येकशक्तिसहकृतया स-
मुदायशक्त्या तथोपस्थितिः । अयमेव चैकार्थीभावः । जहत्स्वार्था वृत्तिः प-
दानामानर्थक्यमिति तु न युक्तम् । महाबाहुः, सुपन्था इत्यादावात्वाद्य-
नापत्तेः । (अर्थवन्त्रे) भूतपूर्वगत्याश्रयणं तु सत्यां गतावयुक्तम् । तदुक्तं वृद्धैः—
जहत्स्वार्था तु तत्रैव यत्र रुद्धिर्विरोधिनी । इति ।

अवयवार्थविरुद्धो यत्र समुदायार्थस्तत्रैव सेति तदर्थः । यथा
गौरस्वर—कृष्णसर्पादौ ।

परिभाषेयम् । सा च पदविधिरिति सूत्रस्वरसात्, “समासेऽङ्गुलेः
सङ्ग” इत्यादौ समासग्रहणाच्च, गतिर्गताविति सूत्रे ‘पदस्येत्यधिकारात्
समर्थपरिभाषोपस्थितिः’ इति कैयटस्वरसाच्च पदत्वेन सुबन्तत्वेन वा यत्र
साक्षादुद्देश्यता तत्रैव प्रवर्तते । “तेनान्यारादितर” इत्यादौ नास्याः प्रवृत्तिः ।

एकार्थीभावश्चालौकिकविग्रहवाक्य एव कल्प्यते । यथा शत्रादौ
द्वितीयासामानाधिकरण्यं दृष्ट्वा लकारेऽपि तत्कल्पना तथा ‘अन्यपदार्थे’ ‘स-
मर्थः’ ‘चार्थे’ इत्यनुवादवलादस्य तत्र कल्पनेति । तथा च शत्रुविधायके भा-
ष्यम्—“लस्याप्रथमासमानाधिकरणेनार्थेनायोगादादेशानुपपत्तिस्तस्य कापि
प्रयोगाभावात्” इत्याशङ्क्य “आदेशसामानाधिकरण्यं दृष्ट्वा अनुमानाद्वन्तव्यं
प्रकृतेरपि तद् भवतीति” । तत्र कैयटः—सिद्धानां शब्दानामन्वाख्या-
नात् पचन्तं देवदत्तं पश्येत्यादिप्रयोगदर्शनात् स्थानिनोऽपि लटः
प्रक्रियार्थं विहितस्याप्रथमासमानाधिकरण्यमनुमीयत इति । अत्रानुमाने
सौत्रानुवाद एवानुकूलस्तर्कः । अत्र प्रक्रियार्थं विहितस्येत्यनेनान्य-
स्यापि प्रक्रियार्थं कल्पितस्य लोके ऽबोधकत्वं सूचितमित्यन्यत्र वि-
स्तरः । समर्थः किम् । पश्य कृष्णं, श्रितो रामं मित्रः । अत्र कृष्णश्रितयोः
परस्परसम्बन्धाभावेनैकोपस्थित्यजनकत्वेनासामर्थ्यम् ॥

सह सुपा ॥ सुबामन्त्रितइत्यतः सुबिति वृत्तते । सुबन्तसहितं
सुबन्तं समाससङ्गकमित्यर्थः । समस्यते इत्युक्तिस्त्वबुधानां भिन्नयोः
शब्दयोरनेन संश्लेषः क्रियतइति प्रतिपत्तेस्तदनुसारेण । संपूर्वकास्यतेश्च
संश्लेषोऽर्थः । “प्राक्कडारात्” इत्यत्र प्राग्रहणमावर्तते । तेन प्राक्समाससङ्गज्ञा
भवन्ति, तत्सङ्गज्ञाः सन्तो ऽव्ययीभावादिसङ्गज्ञा इत्यर्थात्तयोः समावेश

इति भाष्ये स्पष्टम् । अन्यथा आकडारत्वात् पर्यायः स्यात् इति दिक् ।

अत्र सुबित्येकत्वं विवक्ष्यते । तेन महिष्या अजायाश्च क्षीरमि-
त्यत्र सुवन्तसमुदायस्य न क्षीरशब्देन समास इति कैयटादयः ।

परे तु *अनुवाद्यत्वादेकत्वाविशेषैव । किं च तद्विवक्षायामेकैव
केनचित्सुवन्तेन किञ्चिदेकं सुवन्तं समस्येत न त्वन्यैरन्यानि । तस्मात्सुबि-
त्यादौ जातिविवक्षा । एवञ्च यथा स्वाङ्गग्रहणेन स्वाङ्गसमुदायस्य न ग्रहणं,
स्वाङ्गत्वस्य प्रत्येकं सगात्त्वात्—एवं सुवन्तत्वादेरपि प्रत्येकं समा-
सत्वेन सुवन्तादिग्रहणेन न सुवन्तादिसमुदायस्य ग्रहणमिति नोक्तदोषः ।
स्पष्टश्चेदं मतुप्सूत्रसमर्थसूत्रयोर्भाष्ये । तत्रत्यकैयटादीनां तु प्रमादः ।
अत एव विभक्तिश्चेति सूत्रे प्रतिप्रत्ययं विभक्तिसञ्ज्ञेति पक्षे प्रथमयो-
रित्यादौ विभक्तिसमुदायस्य विभक्तिग्रहणेनाग्रहणात् प्रथमयोः प्रस-
योरेव ग्रहणं प्राप्नोतीत्युक्तं कैयटेनेत्यन्यत्र विस्तर इत्याहुः ॥

अनुव्यचलदिति । अनोव्यचलदित्यनेन वेश्च अचलदित्यनेन
युगपत्समासः । अनु इति सुवन्तेन व्यचलदिति समुदायस्य समर्थत्वात् ।

सुपेति । इदं लक्षणमधिकारश्च । अन्त्ये फलंतु देवः करोति,
मातुः स्मरतीत्यादौ विशेषणसमास—षष्ठीसमासयोरभावः ॥

सुपो धा ॥ *अङ्गनिमित्तस्य सुप इत्यर्थभ्रमवारणायाङ्गस्य सुप
इति नोक्तम् । पूर्वनिपात इति । भूतशब्दस्यैवेत्यर्थः । अन्यथा वि-

* अनुवाद्यत्वादिति । ग्रहं संमार्ष्टीत्यादौ ग्रहैकत्वादेः उद्देश्यगत-
त्वेन यथाऽविवक्षा तथा प्रकृते ऽपीति भावः ।

*अङ्गनिमित्तस्येति । ननु अङ्गावयवस्य सुप इत्यर्थे ऽपि परमसर्व-
स्मै इत्यादौ समासप्रकृतिकसुबुत्पत्त्यनन्तरम् अङ्गसंज्ञायां सुपो लुके विभक्तेः
सर्वनाम्ना विहितत्वाभावात् स्मायादिकं न स्यादिति चेन्न । तदादिरूपात्
सर्वनाम्नः परस्येत्यर्थेनादोषात् । “ओतो णिदिति चाङ्गयम्” इति वार्तिके तु
नद्योनमते ओत्सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येन वर्णग्रहणेऽपि लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषा-
प्रवृत्त्यङ्गीकारेण प्रतिपदोक्तस्य ओकारस्य ग्रहणेन हेमानो इत्यादौ दोषाभावेन
विहितविशेषणानाश्रयणात् परमगावौ इत्यादौ समासप्रकृतिकसुबुत्पत्त्यनन्तरम्
अङ्गसंज्ञायां सुपो लुक्पि न दोषः—इति दिक् ।

निगमनाविरहेण प्रथमानिर्दिष्टत्वाविशेषादनियमः *स्यादिति भावः । *अत एव निर्देशादीदृशे विषये अवयवद्वारकसामर्थ्येऽप्यस्य प्रवृत्तिः । विस्पष्टपटुरित्यादावपि विस्पष्टादीनि गुणवचनेष्विति गमकं बोध्यम् । तत्र हि विस्पष्टमित्यादि पटुत्वादिविशेषणमिति कैयटे स्पष्टम् । इवेनेति । हरीतकीं भुङ्क्ष्व राजन्मातेव हितकारिणामित्यसाध्वेव । “तिङ्स्मान्माधिकरणे प्रथमा, अभिहिते प्रथमा” इतिवार्तिकस्वारस्येन, प्रथमायास्तत्र तत्र कारकविभक्तित्वोक्तिपरभाष्येण च क्रियायोगे एव प्रथमायाः प्रवृत्त्या मातेति प्रथमाया मातृसदृशीमित्यर्थे ऽसाधुत्वादित्यन्यत्र विस्तरः । एतद्योगविभागभिद्धसमासस्य विशेषसञ्ज्ञा न सन्त्येव । तत्तदधिकारेष्वपाठात् । जीभूतस्येवेति । अत्र यथार्थत्वादिप्रयुक्तोऽव्ययीभावस्तु न । “तत्र तस्येव” इति निर्देशात् ॥

अव्ययी ॥ अनव्ययमव्ययं भवतीति “भवतेर्णस्य उपसंख्यानम्” इति कर्तरि णः । महासञ्ज्ञाकरणं प्राचामनुरोधात् ।

योगो विभज्यते इति । भाष्ये त्वदं न दृश्यते । ‘अपदिशम्’ इत्यादिमान्तानां स्वरादिपाठादव्ययत्वम् । ‘अपदिशेन’ इत्यादि तु चिन्त्यमेवेत्यन्ये ।

ननु समासगतेऽन्तर्वर्तिविभक्त्याश्रये प्रथमान्तत्वे आश्रीयमाणे कष्टश्रितादौ श्रितस्य पूर्वनिपातापत्तिः, निर्दिष्टपदञ्च व्यर्थमत आह—समासशास्त्रे इति ॥ समाससञ्ज्ञाविधापके शास्त्रे इत्यर्थः । न च राज्ञः कुमारीं श्रितो राजकुमारीश्रित इत्यत्र द्वितीयाया “द्वितीया श्रित” इति सूत्रे

*अनियमः स्यादिति । न च अनियमे भूतशब्दस्य पूर्वनिपातेन निर्देशोपपत्त्या कथं तस्य नियतपूर्वनिपातज्ञापकत्वमिति वाच्यम् । भूतपूर्वे चरद्, पूर्वे भूतपूर्वे, गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे इत्यादौ सर्वत्र भूतशब्दस्यैव पूर्वप्रयोगकरणेन तत्पूर्वप्रयोगस्यैवेष्टत्वानुमानात् । भूतपूर्वेतिनिर्देशेन अवयवद्वारकसामर्थ्यमादाय भूतशब्दादेरेव समासत्वस्य ज्ञापनेन पूर्वं भूत इत्यत्र पूर्वशब्दादिप्रयोगविचक्षायां प्रधानेन सामर्थ्याभावात् समासाप्रवृत्तेश्च । तद्धवनयन्नाह *अत एव निर्देशादिति । यत्तु उपसर्जनमेति महासञ्ज्ञाकरणत्वात् लौकिकोपसर्जनत्वविशिष्टस्यैव पूर्वनिपात इति पूर्वशब्दस्यैव पूर्वनिपातप्रसक्तिरिति भूतशब्दस्य पूर्वनिपातकरणं तज्ज्ञापकमिति, तन्न । नवीनमते समासशाल्कीयशब्दगताप्राधान्यस्याश्रयणेन विनिगमनाविरहतादवस्थादिति दिक् ।

प्रथमानिर्दिष्टत्वेन कुमारीशब्दस्य पूर्वनिपातापत्तिरिति वाच्यम् । “अप्रधानमुपसर्जनम्” इति शास्त्रान्तरोक्तमहासञ्ज्ञाकरणेनास्य तदर्थकतया “समासशब्दे प्रथमानिर्दिष्टमप्रधानत्वसमानाधिकरणोपसर्जनपदवत्” इति वाच्यार्थे निष्पन्नेऽप्रधानत्वस्य संस्रन्धिकत्वाद् यं प्रति यदप्रधानं तं प्रति तदुपसर्जनसञ्ज्ञामित्यवगतेरदोषादिति भाष्येणैव समाधानात् । प्रकृते च न राजनिरूपितमप्राधान्यं कुर्माया इति न तदपेक्षोऽस्य पूर्वनिपातः ।

न चैवं पूर्वकायाद्यसिद्धिः, कायनिरूपिताप्राधान्यस्य पूर्वपदार्थेऽभावादिति वाच्यम् । समासशब्दस्थप्रथमानिर्दिष्टशब्दगताप्राधान्यस्याश्रयणेनादोषत् । समासशब्दे यं प्रति यदप्रधानं तं प्रति तदुपसर्जनमित्यर्थात् । भवति च श्रितादीन्प्रति द्वितीयान्तं तथा । सहयुक्ततृतीयान्तार्थस्य शब्दगुणान्वायित्वाभावरूपाप्राधान्येऽपि तत्समभिव्याहृतप्रथमाद्यन्तार्थे तदधीनत्वरूपाप्राधान्यप्रतीतिः । अत एव समकक्षयोरप्येकस्य ‘परेण सहागन्तव्यम्’ इत्युक्ते दुःखं दृश्यते । प्रकृतेऽपि द्वितीयान्तं श्रिताद्यधीनम् । तं विना समासाघटकत्वात् । श्रितादिकन्तु तं विनापि समासान्तरे घटकमिति द्वितीयान्तस्य श्रिताद्यधीनता । एवमन्यत्राप्युक्तम् । “यस्य शब्दस्य समासविधौ यत्प्रथमानिर्दिष्टं तं प्रति तदुपसर्जनमिति वक्तव्यम्” इति वार्तिकप्रत्याख्यानाय तद्भाष्यप्रवृत्तेः, भाष्येऽपि “यं शब्दं प्रति यत्प्रथमानिर्दिष्टमप्रधानं तं शब्दं प्रति तत्प्रथमानिर्दिष्टवाच्यं पदम् उपसर्जनम्” इत्यर्थस्यैवौचित्यात् । अत एव यं यदिति भिन्नलिङ्गनिर्देशः । बहुव्रीहौ त्वेकविभक्तीत्येवोपसर्जनत्वमित्यनुपदमेव स्फुटीभविष्यति अन्वर्थत्वविरोधाज्ञानेनेति भाष्यसिद्धान्त इति बोध्यम् । यत्त्वर्थगताप्राधान्येनान्वर्थत्वेऽपि पूर्वकायादौ न दोषो, ऽन्वर्थसञ्ज्ञा हि यत्र सार्थः सम्भवति तत्र प्रवृत्तिनिमित्तापेक्षा प्रवर्तते, अन्यत्र तु विधानसामर्थ्यात्तन्निरपेक्षा, यथा स्वादीनां कर्मप्रवचनीयत्वमिति प्रथमानिर्देशसामर्थ्यात्पूर्वादीनां प्रवर्तते इति, तन्न । निर्विभक्तिकस्योच्चारणासम्भवेन तत्सामर्थ्यायोगात् । प्राथम्यादन्वितार्थकत्वाल्लघुत्वाच्च प्रथमैवोच्चारितेत्यस्य वक्तुं शक्यत्वादित्यलम् ।

उपसर्जनं ॥ समासे इत्यधिकृतं योग्यताबलेन सप्तम्या विपरिणम्यते, तदाह—समासे इति । न च राज्ञः कुमार्या इति परिनिष्ठितविभक्त्या समासे कुमार्या अपि पूर्वनिपातापत्तिरिति वाच्यम् ।

“षष्ठ्यन्तयोः समासेऽर्थाभेदात् प्रधानस्यापूर्वनिपातः” इति भाष्येण समाधानात् । अर्थाभेदात्-अर्थस्य प्रधानस्याभेदात्समस्यमानराजपदार्थनिरूपितसम्बन्धाभावात् अस्य षष्ठ्यन्तस्य* प्रथमानिर्दिष्टत्वाभावाच्च पूर्वनिपात इति तदर्थः ।

अयं भावः । षष्ठाद्यादिषूत्रे येन सुबन्तेन समासस्तदर्थनिरूपितसम्बन्धाद्यर्थकमेव षष्ठ्याद्यन्तं युज्यते । तदेव च तत्र प्रथमानिर्दिष्टमिति । तदुक्तं कैयटेन “राज्ञः पुरुषस्येत्यत्र राजापेक्षया पुरुषः प्रधानमेवेति नासौ भिद्यते राजापेक्षया न व्यतिरिच्यते इत्यप्रधानस्यैव पूर्वनिपात” इति । उक्तरीत्याऽप्रधानषष्ठ्यन्तमेव तत्र प्रथमानिर्दिष्टं न तु प्रधानमिति तद्भावः । यत्तूपसर्जनसञ्ज्ञाऽन्वर्थत्वादप्रधानेऽस्यैवेति “उपसर्जनं पूर्वम्” इत्यत्र कैयटस्तच्चेत्युक्तमेवेत्यलम् ।

प्रथमानिर्दिष्टमित्यतोऽनुवृत्तं “समासे” इति तदर्थविग्रहपरमित्याह-विग्रहे इति । नियतेति । एकग्रहणादवधारणगर्भसमासलाभ इति भावः । निष्कौशाम्बिरित्युदाहरणम् । परिनिष्ठितविभक्त्यापि समासे निष्क्रान्तं निष्क्रान्तेनेत्यादिक्रमेण तस्यानियतविभक्तिकतया कौशाम्बीपदस्य तदपेक्षया नियतविभक्तिकत्वाद्नेनोपसर्जनत्वेन ह्रस्वत्वम् । परिनिष्ठितविभक्त्या समासे चेदमेव ज्ञापकम् । अयं पक्षः “तत्पुरुषे तुल्यार्थ” इति सूत्रे भाष्ये । प्रथमान्तेन समास इति पक्षोऽप्यनेकमिति सूत्रे भाष्ये इति केचित् ।

परे तु अनेकमिति सूत्रे भाष्ये समासार्थविग्रहे प्रत्यासत्त्या समासापेक्षया नियतविभक्तिकस्यानेनोपसर्जनत्वमुक्तम्, राज्ञः कुमारी राजकुमारीत्यत्र परिनिष्ठितविभक्त्यापि समासस्य सत्त्वान्न तदपेक्षया कुमार्या नियतविभक्तिकत्वमिति न तस्या उपसर्जनत्वमित्युक्तम् । चित्रगुरित्यत्र च गोपदस्यानेनोपसर्जनत्वमङ्गीकृत्यानेकग्रहणं प्रत्याख्यातम् । बहूनां समासस्तु तद्धितार्थेत्यनेनोत्तरपदे द्विगुविधानात् ज्ञापकात्सिद्ध इति चोक्तम् । एवञ्चोत्तरपदेनप रिमाणिनेत्यपि प्रत्याख्यातम् । अतिप्रसङ्गस्त्वनभिधानाच्च । तदुक्तम्-अनेकवचनमुपसर्जनार्थं, न वैकविभक्तित्वादिति । वार्त्तिकताऽन्वर्थत्वानुक्तेस्तद्द्रीत्या प्रयोजनवार्त्तिकं, नवेति तु तत्त्वण्डनं, भाष्यरीत्या त्वेतदप्राप्तिरेवात्रेति बोध्यम् । अन्यथा चित्रगुरित्यस्य विग्रहे द्वयोरपि नियतविभक्ति-

* षष्ठ्यन्तस्येति । कुमार्या इत्यस्येत्यर्थः ।

कतया किमपेक्षं गोशब्दस्य नियतविभक्तिकत्वं स्यात् । एकस्यानियतवि-
भक्तिकत्वे हि तदपेक्षमन्यस्य तत्त्वं वाच्यम् । समासापेक्षं नियतवि-
भक्तित्वमेव युक्तमाश्रयितुम् । अन्यथा स्वार्थ इत्यत्रोपसर्जनद्वस्वानापत्तिः ।
सहशब्दस्याव्ययतया विभक्तिमात्राभावेन, लुकाऽनुत्पत्तेरेवान्वाख्यानेन
चानियतविभक्तित्वाभावात्तदपेक्षनियतविभक्तित्वस्य भार्ययेत्यत्राभावे-
नोपसर्जनत्वानापत्तिः । मम तु समासस्यानियतविभक्तित्वात्तदपेक्षं त-
त्त्वमस्त्येवेति न दोष इत्याहुः ।

गोस्त्रियोः । अत्र स्त्रीशब्दः स्वर्यते । तेन स्यधिकारोक्तचातु-
र्थिकप्रत्ययलाभः । उपसर्जनस्येति गोस्त्रियोर्विशेषणम् । प्रत्ययग्रहणपरि-
भाषया च स्त्रीशब्देन तदन्तग्रहणम् । ताभ्याश्च प्रातिपदिकविशेषणात्तद-
न्तविधिरित्याह-उपसर्जनं य इत्यादि । गोकुलं, राजकुमारीपुत्र इत्यादौ तु
न दोषः । महासञ्ज्ञाकरणेन येन शब्देन समासविधौ यत्प्रथमानिर्दिष्टं
तस्य तं प्रत्येवोक्तरीत्याऽप्रधानत्वेनोपसर्जनत्वात् । प्रत्यासत्त्या तद-
न्ततत्समासप्रातिपदिकान्त्यस्यैव ह्रस्व इत्यदोष इति भाष्ये स्पष्टम् । तत्र ह्येवं
भाष्यम्-“अप्रधानमुपसर्जनमिति सम्बन्धिशब्दावेतौ तत्र सम्बन्धादेत-
द्वन्तव्यं यं प्रति यदप्रधानं तस्य चेत्सोऽन्तो भवतीति” । यत्प्रथमानिर्दिष्टं
तस्य तद्वद्वितसमासस्य सोऽप्रधानशब्दोऽन्तो भवतीति तदर्थः । यद्यपि-
कुक्कुटमयूर्याविति द्वन्द्वे बहुव्रीहाविव एकविभक्तीत्युपसर्जनत्वम् । द्वन्द्वः
प्रथमान्तानामेवेति “चार्थे द्वन्द्व” इत्यत्र वक्ष्यते । एकविभक्तीत्युपसर्जनस-
ञ्ज्ञाऽप्रधानार्थकस्यैवेति मतेऽपि उद्भूतावयवभेदसाहित्यं प्रति मयूरी-
पदार्थस्य तत्त्वमस्ति । सर्वत्र द्वन्द्वे साहित्यमेव विशेष्यमिति चार्थसूत्रे भा-
ष्ये स्पष्टम्-तथापि भाष्ये “द्वन्द्वे न” इतिवचनारम्भान्न दोषः । अत एव
कुमारीमिच्छन् ब्राह्मणः कुमारीत्यत्र ह्रस्वो न । प्रथमानिर्दिष्टमित्यादेः
शास्त्रीयस्यैवात्रोपसर्जनस्य ग्रहणात् । अत एव गोवष्कयणीत्यादौ वष्क-
यणीशब्दस्य गुणशब्दत्वादप्रधानत्वेऽपि* तदन्तस्य ह्रस्वो न । एतच्च “इद्रो-
ण्या” इति सूत्रे* भाष्ये स्पष्टम् ।

* अप्रधानत्वेऽपीति । शास्त्रीयोपसर्जनग्रहणे तु पोटायुवतीत्यादि-
ना समासे जातिवाचकगोशब्दस्यैव प्रथमानिर्दिष्टत्वेन उपसर्जनत्वमिति
भावः । * इद्रोण्या इति सूत्रे इति । तत्र हि “गोण्या न” इत्येव वक्तव्यम्, किम-

* अतिराजकुमारिरित्यादौ स्त्रीप्रत्यये तदादिनियमनिषेधात् राजकुमारीत्यस्य स्त्रीप्रत्ययान्तत्वम् । न च तस्यात्यर्थं प्रत्युपसर्जनत्वेन कथं स्त्रीप्रत्ययान्तत्वमुपसर्जनस्त्रीप्रत्यये तदादिनियमादिति वाच्यम् । यस्य समुदायस्य स्त्रीप्रत्ययान्तत्वमानेयं तदर्थं प्रति स्त्रीयस्यानुपसर्जनत्वमेवेत्यदोषात् । प्रत्यासत्त्या तादृशानुपसर्जनत्वस्यैव निषेधनिमित्तत्वात् । अस्य चातिक्रान्तार्थं प्रत्युपसर्जनत्वेऽपि राजकुमारीत्वेतदर्थं प्रत्यनुपसर्जनत्वमेवेति दिक् ।

नाव्ययीभावा । अपञ्चम्या इत्यम एव विशेषणं न लुगभावस्य । तुना व्यवच्छेदात् । अपदिशामिति । यद्यपि नपुंसकह्रस्वेनापीदं सिध्यति तथापि चित्रगुरिसाध्यर्थमावश्यक्येन गोस्त्रियोरित्यनेनापीदं सिध्यतीति तदुपन्यासः । दिशशब्दस्य शरदादिषु पाठेऽपि लिङ्गविशिष्टपरिभाषयाऽत्र न टच् । समाप्तान्तप्रकरणे लिङ्गविशिष्टपरिभाषाऽभावस्य ङ्याप्सूत्रे भाष्ये उक्तत्वात् । टावन्तदिशाशब्दोऽकारान्तप्रकृतिक एवेति मते टचः प्राप्तेरेवाभावः । अमरस्वारस्यात् दिशशब्देन विग्रहे तु न ह्रस्वः प्रयोजनम् । इत्यादाविति । आदिनैकविंशतिभारद्वाजं, सप्तगङ्गमित्यादिसङ्ग्रहः ।

र्थमित्वं विधीयते, पञ्चगोणिरित्यादौ “लुक् तद्धितलुकि” इति लुकि प्रतिषिद्धे एकविभक्तीत्यनेनोपसर्जनत्वाद् गोणीशब्दस्य ह्रस्वत्वं सिध्यतीति किमर्थमित्वमित्याशङ्क्य गोणीमात्रमिदं गोणिः इत्यत्र ‘शास्त्रीयोपसर्जनत्वाभावात् ह्रस्वो न स्यात्’ इत्यभिप्रायेण इत्वविधानमावश्यकमित्युक्तम् । अनेन च भाष्येण शास्त्रीयोपसर्जनस्यैवात्र ग्रहणमिति स्पष्टमेव लभ्यते इति दिक् ।

* ननु अतिराजकुमारिरित्यादौ राजकुमारीशब्दस्य शास्त्रीयोपसर्जनत्वेऽपि स्त्रीप्रत्ययान्ततदादित्वाभावात् ह्रस्वो न स्यात्, कुमारीमात्रस्य च विग्रहीयविभक्त्यन्तत्वाभावात्—अत आह * अतिराजकुमारिरित्यादाविति । आचारकिबन्तकुमारीशब्दघटितराजकुमारीशब्दस्य अतिशब्देन समासे अतिराजकुमारीत्यत्र तु न ह्रस्वः । परिभाषायां लौकिकोपसर्जनग्रहणेन राजकुमारीशब्दार्थं प्रति स्त्रीप्रत्ययस्योपसर्जनत्वेन तदादिनियमस्य दुर्घारत्वेन शास्त्रीयोपसर्जनस्य राजकुमारीशब्दस्य स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावात् । सुन्दरौ रैगावौ यस्येति द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहावपि न ह्रस्वः । द्वन्द्वात्मकसमुदायस्य बहुव्रीह्यर्थं प्रति उपसर्जनत्वेऽपि गोशब्दमात्रस्य तत्त्वाभावात् । अत एव कल्याणं घटपादं यस्या इति द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहौ स्वाहाद्योपसर्जनादिति न ङीविति तत्रैव विस्तरेण निरूपितम् ।

विभक्तीत्यादेरिति । विभक्तिशब्देन तदर्थो लक्ष्यते ।
 वचनशब्दः कर्मसाधनः प्रत्येकं सम्बध्यते । विभक्तादयश्च श्रुतत्वा-
 दव्ययस्यैव विशेषणानि । तदाह-विभक्त्यर्थान्तिष्ठिविति । अत्र सुबन्ते-
 नेत्यस्य समर्थेनेति विशेषणम् । अत एव तदुत्तरविभक्त्यर्थान्तर्भावेणैका-
 र्थीभावः । द्वितीयाश्रितेत्यादौ समर्थेन सुबन्तेनेत्यस्य समर्थप्रकृतिक-
 सुबन्तेनेत्यर्थः । अत एव कष्टं श्रितस्येति परिनिष्ठितविभक्त्या समासेऽप्यु-
 त्तरपदीयविभक्त्यर्थान्तर्भावेण न सः । अत एव कष्टश्रितस्य धनमित्या-
 दौ षष्ठी* । द्वितीयान्तं समर्थमित्यर्थान्तर्द्वयान्तर्भावेणैकार्थीभावादुक्तार्थत्वाच्च
 द्वितीयेत्याहुः ।

हरि ङीति । फलाविशेषेऽप्यन्तरङ्गानपीतिन्यायप्रवृत्तिमभ्युपे-
 त्येदम् । ङ्यध्योः समानार्थत्वध्वननाय ङ्युत्तरमेवात्राधिशब्दप्रयोगः ।
 वचनेनेति । प्रत्यासत्त्या यदिभक्त्यर्थवाचकाव्ययेन सुबन्तस्य समासस्त-
 द्विभक्त्यैव यत्सुबन्तं तस्य ग्रहणादिति भावः । तिङ्कृतद्धितसमासैरिति
 भाव्यसम्मतपरिगणनाच्च तेनाभिहिते सप्तमीसपि बोध्यम् । अत एव गृह-
 स्योपरि इत्यादौ न समासः । उपरीत्यस्याधिकरणशक्तिप्रधानत्वेऽपि
 येन सुबन्तेन समासस्तद्व्यटकविभक्त्यर्थावाचकत्वात् । अधिहरि भक्ति-
 रित्यत्र हर्यधिकरणिका भक्तिरिति बोधः । न च "प्रतेरुरसः सप्तमीस्था-
 त्"इति सूत्रसम्मतसप्तम्यर्थमात्रवृत्तिप्रतिरूपाव्यये चरितार्थस्यास्याधेः शौण्डा-
 दिपठितत्वेन परत्वात् "सप्तमी शौण्डैः"इत्यनेन बाधः स्यादिति वाच्यम् ।
 आधेयप्रधानस्यैवाधेस्तत्र पाठात् । विधानसामर्थ्यादिति । एतच्च रक्षि-
 तानुसारेण । वस्तुतो मध्यार्थकसमयाशब्दयोगे द्वितीयाविधानस्य दू-
 रार्थकाराच्छब्दयोगे पञ्चमीविधानस्य च चारितार्थ्यादिदमयुक्तम्* । सम-

*षष्ठीति । अन्यथा समासेनैव सम्बन्धस्योक्तत्वाच्च स्यादित्यर्थः ।

*इदमयुक्तमिति । अन्येतु मध्यार्थकसमयाशब्दयोगे न द्वितीया ।
 निकषाशब्दसाहचर्येण समीपार्थकसमयाशब्दयोगे एव तद्विधानात् । नचै-
 धं द्वितीयाविधानसामर्थ्यापपादनेऽपि पञ्चमीविधानसामर्थ्यं दुरुपपादम् ।
 दूरार्थकाराच्छब्दयोगे तद्विधानस्य चारितार्थात्, समीपार्थे विशिष्य तद्विधा-
 नाभावादिति वाच्यम् । 'अजाहिभिः' इति तृतीयानिर्देशेनैव सिद्धे युक्तग्रहण-
 सामर्थ्येन तद्युक्तमात्रे पञ्चमीविधानेन समीपार्थेऽपि विशिष्यविधानसत्त्वेन
 तत्सामर्थ्यस्य रूपपादत्वात् । तत्फलं च समासाभाव एव । अत एव अस्म-

या-निकषा-ऽऽराच्छब्दा अधिकरणशक्तिप्रधाना इति समीपमात्रवाचित्वा-
भावाच्चैतैः समासः । समीपे इति हि तेषामर्थः । अव्ययस्यन्यायेन विभक्त्य-
र्थसमीपादिमात्रवृत्त्यव्ययस्यैव तेन समासात् । उपशब्दस्तु तन्मात्रवा-
ची । कृष्णसमीप्यवन्त इति बोधादिति बोध्यम् ।

सुमद्रमिति । वचनग्रहणात्समृद्ध्यादिवाचकत्वेऽव्ययीभावः ।
सुमद्रा इत्यादौ तु सुशब्दो द्योतकः, समृद्धा मद्रा इति बोधादिति नाय-
मव्ययीभावः । निपातानां वाचकत्वं द्योतकत्वञ्चेत्यत्रैव भाष्ये स्पष्टम् ।
उपदशादावुपस्य समीपवर्त्तितपदार्थबोधकत्वेन समीपमात्रबोधकत्वाभावा-
च्चाव्ययीभावः । विगतेति । ऋद्धेरभाव इति यावत् । अर्थाभाव-
शब्देन समस्यमानपदार्थाभावस्यैव ग्रहणादत्र तेन न सिद्धिः—
तद् ध्वनयन्नाह—“मक्षिकाणामभाव” इत्यादिना । अर्था-
भावशब्देन उत्तरपदार्थाभावस्यैव ग्रहणं व्याख्यानात् । *नञा तु नायं
समासः । अर्थाभावशब्दे नञ उपादानेन सूत्रगृहीताव्ययेनैतत्समासा-
प्राप्तेः । तच्च नञसूत्रे उपपादयिष्यते । न चाभावेत्येव सिद्धेऽर्थग्रहणं व्य-

यमिति विभक्तसूत्रेणापि नात्र समासः । अव्ययस्यन्यायेन वारणे तु विभक्त-
सूत्रेण स दुर्वार एव । किञ्च अव्ययस्यन्यायेन पदान्तरसमभिव्याहारे वारणेऽपि
तदसमभिव्याहारे तद्वारणं दुःशकम् । अधिकरणत्वस्य संसर्गतया पदान्त-
रसमभिव्याहारं विना तत्प्रतीतिरसम्भवेन अधिकरणशक्तिप्रधानस्यापि प्रातः-
शब्दादेः प्रातःकल्पमित्यादौ वृत्तिविषये अधिकरणताविशिष्टबोधकत्वस्यैव
पदान्तरासमभिव्याहारे अधिकरणताविशिष्टसमीपमात्रार्थकत्वस्यैव समया-
दीनां सम्भवात् । तस्मात् मूलोक्तरीत्यैव समासवारणमुचितमित्याहुः ।

*नञात्विति । अन्येतु न पचतितराम्, घटः पटो नेत्यादौ नाव्ययीभावः ।
अर्थग्रहणसामर्थ्येन लिङ्गसंख्यानव्ययि-समस्यमानपदजन्यप्रतीतिविशेष्यविरो-
धिनेऽभावस्यैव अर्थाभावशब्देन ग्रहणात् । आद्ये लिङ्गसंख्यानव्ययित्वाभावात् ।
अन्त्ये भेदस्य प्रतियोगितावच्छेदकविरोधित्वेन समस्यमानपदजन्यप्रतीतिविशे-
ष्यविरोधित्वाभावात् । भूतले घटो नास्तीत्यादौ तु न समासः । नञोऽभावा-
र्थतया क्रियान्वयित्वेन घटेनान्वयात् । प्रकारतासम्बन्धेन अत्यन्ताभावः
विशेष्यकबोधे क्रियोपस्थितेः कारणत्वात् । भूतलाधारकघटाभावप्रती-
तिस्तु तत्रार्थिकी । समनियताभावानामैक्येन घटाभावस्य घटसत्ताऽभाव-
रूपत्वाद्वा । अविघ्नमित्यादौ तु क्रियान्तर्भावात्समासो ज्ञेय इत्याहुः ।

*एतन्मते घटः पटो नेत्यादौ समासाभावस्यान्यथैव सिद्धेः

र्थम् । *प्रतियोगिभूतवहिर्विद्यमानार्थसमानाधिकरणाभाववाचकेनैव समा-
सो यथा स्यादित्येतदर्थं तत्सत्त्वात् । तेनाभावार्थ-निरा-शशशृङ्गादि-
शब्दानामयं न । *प्रागभावार्थेन च तेन स न । अत एवात्ययग्रहणञ्चरिता-
र्थम् । तदुदाहरणं 'निर्हिमं, निःशीतम्' इति वृत्त्युक्तमेव युक्तम् । अते-
स्तदर्थत्वाभावाद् । 'अतिहिमम्' इत्युक्ते तदतिशयस्यैव प्रतीतेः । अत्ययश-
ब्देऽतेः सूत्रगृहीताव्ययत्वाच्चेति दिक् ।

सम्प्रति न युज्यत इति । वृत्तौ युजिक्रियान्तर्भावेणैकार्थी-
भावः । 'अतिनिद्रमासीत्' इत्यादौ तथाव्यवहारविषयेऽतिनिद्रशब्दस्य ल-
क्षणेति बोध्यम् ।

शब्दप्रादुर्भावेत्यस्य शब्दविषयप्रकाशार्थेनाव्ययेन समास-इत्य-
र्थः । भाष्यप्रयोगेति । "अचः परस्मिन्" इति सूत्रेऽयं प्रयोगः ।
एतद्भाष्यप्रयोगादेतत्सूत्रे तत्तदर्थबोधकपदघटकतया गृहीताव्ययेन तत्त-
दर्थकेन नायं समासः । अत एव "यथाऽसादृश्ये" इति सूत्रे *सादृश्य-
सम्पत्तीति प्राप्नोति' इति भाष्ये उक्तम् । यथाशब्देन तु भवत्येव, उत्तर-
सूत्रारम्भादिति भावः ।

ननु नित्यसमासत्वाद्वाक्यं दुर्लभमत आह—प्रतिशब्दस्ये-
ति । इदं प्राचामनुरोधेन । वस्तुतः 'प्रतिस्थानम्' इत्यादौ षत्त्वाभाव-
सम्पादनेन सा चरितार्था । तस्मादर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थमिति सखासूत्रा-
दिस्थभाष्यप्रयोगात् यदा द्विर्वचनं तदा प्रतिशब्दस्य वीप्सावृत्तित्वा-
भावात्समासाप्राप्तया वाक्यं साधिवति तत्त्वम् । वृत्तौ द्विर्वचनन्तु
न, समासेन वीप्साया द्योतितत्वात् इति हयवरदसूत्रे कैयटः ।
प्रतिना तस्या उक्तत्वादिति तत्त्वम् । शक्तिमनतिक्रम्येति । "परा-
वरयोगेच" इति क्त्वा । परावरत्वञ्च बौद्धम् । हरेः सादृश्यमिति ।
'हरि टा सह' इत्यलौकिकम् । वक्ष्यमाणेनेति । अत्र सूत्रालेखो वैचि-

प्रकारान्तरेण अर्थग्रहणसार्थक्यमुपपादयति *प्रतियोगीति । *प्रागभावार्थेने-
ति । प्रतियोग्युत्पत्त्या प्रागभावस्य नाशेन तस्य तत्समानाधिकरणत्वाभावात् ।
गत्यन्ताभावस्य तु प्रतियोग्यधिकरणे सत्त्वेऽपि सम्बन्धविशेषाभावेन प्रतियो-
गिसत्ताकाले प्रतीतिमात्रानुदयादिति भावः ।

*सादृश्यसम्पत्तीति । ननु 'यथार्थत्वात् प्राप्नोति' इत्युक्तम् इति भावः ।

श्रुत्यर्थः । यथा सूत्रेषूत्तरत्र कृतस्य पूर्वत्रापकर्षणं वैचित्र्याय तद्वत् ।

‘अनुज्येष्ठं कार्यं कृतम्, ‘अनुज्येष्ठं प्रणमति’इत्यादौ करण-
त्वेनान्वयात्परिनिष्ठितविभक्त्या समासमभिप्रेत्याह—ज्येष्ठस्यानुपूर्व्ये-
णेति । आनुपूर्व्य—क्रमः । पूर्वं क्रमेणेत्यनुपूर्वमिति सूत्रगृहीताव्ययेना-
प्यनुना समासः, एतस्मात्सूत्रप्रयोगात् ।

युगपच्छब्देन तु न समासः, सूत्रगृहीतत्वात् । उभयत्रापि स्वार्थे
ष्यञ्, तद् ध्वनयन्नाह—चक्रेण युगपदिति ।

गुणभूते इति । व्याख्यानात्सादृश्येति स्वार्थे ष्यञिति भावः ।

संपत्तिसमृद्धयोः पर्यायत्वमाशङ्क्याह—ऋद्धेरिति । धनधान्या-
देरित्यर्थः । अनुरूपो योग्य आत्मनः समस्यमानोत्तरपदस्य भावः
प्रवृत्तिनिमित्तं क्षत्रत्वादिः संपत्तिरित्यर्थः । सक्षत्रमिसस्य क्षत्रियाणां
योग्यं क्षात्रमिस्यर्थः ।

तृणमपि इति । साकल्यबोधकाव्ययेन समासः । समासस्य
नित्यत्वादस्वपदविग्रहो दर्शितः । तृण टा सहेत्यलौकिकम् । अपरित्य-
ज्येति । “परावरयोगे च”इति क्त्वा । तद्योगश्च बौद्धः । न त्वच्चेति ।
‘तृणेन सह भुङ्क्ते’ इतिबोधोत्तरं यस्तृणानि भक्षयेत्स कथमन्यत्परि-
त्यजेदिति प्रतीतेः सकलं भोज्यमस्तीत्यत्रैव तात्पर्यादिति भावः ।

अग्निग्रन्थपर्यन्तमिति । बहुव्रीहौ द्वितीयान्तं, ग्रन्थोऽन्यपदा-
र्थः । अधीतइत्यस्य तु न समासेऽन्तर्भावो मानाभावात् । अन्त्यत्वं साहि-
त्यञ्च सहार्थः । अन्त्याग्निग्रन्थसहितमिति बोधः । ‘अग्नि टा सह’इत्यलौ-
किकम् । न च “तदधीते”इत्यण्प्रसङ्गो, वैकल्पिकत्वात् ॥

यथाऽसा ॥ असादृश्ये इति छेदः—तत्रैव वर्तमान इत्यर्थः ।
तथा हर इति । तथाशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वेऽपि न समासः । सह-
श इत्युक्तेर्नियमेन प्रतियोग्याकाङ्क्षादर्शनात्सादृश्यप्रतियोगिवाचकेनैव त-
द्बोधकाव्ययस्य समासात् । द्योतयतीति । सामान्यस्य भेदको यो
विशेषस्तद्रूपे प्रकारे थालिति यद्विशेषवान् हरिस्तद्विशेषवदभिन्नो हर इति
बोधे यत्तच्छब्दाभ्यां तयोरेकत्वावगमेऽर्थादुपमानत्वप्रतीतेरिति भावः ।
सूत्रेऽपि सादृश्यशब्देनोपमानत्वमेव । थालसूत्रे सादृश्यस्य प्रकारशब्देन

ग्रहणे यत्सादृश्यावान्हरिस्तत्सादृश्यवान्हर इत्येव बोधः स्यान्न तु हरिसादृशो हर इति ।

भाष्यानुमारेणस्तु “यथाऽसादृश्ये” इत्यस्य यथाशब्दः सुबन्तेन समस्यते, सादृश्ये द्योत्ये नेत्यर्थः । यथाशक्ति, यथाबलम् इत्याद्युदाहरणम् । अत एव भाष्ये “असादृश्ये इति किमर्थं, यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्तः” इत्युक्तं, न तु सूत्रमेव किमर्थमित्युक्तम् । यथार्थत्वेन तु न सिद्धिः । सूत्रगृहीताव्ययेन तेनासमासात् । अत्र चेदमपि ज्ञापकम् । न च प्रकारवचने थाला निष्पन्नस्य यथा-शब्दस्य सर्वथा सादृश्यद्योतकत्वेन सूत्रोदाहरणसम्भव इति सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम् । अत्र सूत्रे अव्युत्पन्नस्य वीप्सा-योग्यता-पदार्थानतिवृत्तिबोधकस्यैव ग्रहणेनादोषात् । ‘यथाशक्ति’ इत्युदाहरणे तदर्थक एव सः ।

यद्यपि-“यथाशब्द उपमानत्वं द्योतयति” इति सकलाभियुक्तोक्तेर्यद्विशेषवानित्यादिप्रागुक्तबोधोत्तरमुपमानदेवदत्ताभिन्न उपमेयो यज्ञदत्त इति बोधः । गृहीतविशेषधर्म एव च साधारणधर्मः । लक्षणामूलकव्यञ्जनाजन्यबोधस्थले इवोभयोः शाब्दत्वं सुवचम् । अत एवापमानोपमेययोः समानविभक्तिकत्वसिद्धिः । एवञ्च पूर्वपदार्थप्राधान्याभावेन नात्राव्ययीभावप्रसक्तिः—तथापि प्रसिद्धत्वात्प्रकारवचनस्यैवात्र ग्रहणे तत्सामर्थ्याद् द्विषुनीसादाविव तदभावेऽपि समासः स्यात्—अतो ऽसादृश्ये इति सूत्रे कृतम् । तत्र कृते तु तद्विन्नस्याव्युत्पन्नस्यैवात्र सूत्रे ग्रहणम् । न च यथाबलमित्याद्युदाहरणे प्रकारवाचिथालान्तस्यैव ग्रहणमस्तु, सादृश्यसम्पत्तीत्यनेन च समासोऽस्तु इदं सूत्रञ्च मास्तु, पूर्वसूत्रे यथाग्रहणञ्च मास्त्विति वाच्यम् । एतत्सूत्रारम्भसामर्थ्येन तत्र तदप्रयोगात् । तत्रार्थे साधोरन्यत्रार्थेऽसाधुत्वापत्तेश्च ।

इदमेव सूत्रमव्युत्पन्नस्य तदर्थकस्य यथाशब्दस्य सत्त्वे मानम् । तथा च भाष्ये “असादृश्ये इत्युच्यते, तत्रेदं न सिद्ध्यति—यथाशक्ति यथाबलम्—प्रकारे यस्याल् तदन्तस्य सादृश्य एव वृत्तेः” इत्याशङ्क्य वीप्सादिवाचिनोऽत्र सूत्रे, यथाबलमित्युदाहरणे च ग्रहणमित्यर्थकोक्त्यनन्तरम् “अथ यः प्रकारवचने थाल् तदन्तस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति, पूर्वेण प्राप्नोति सादृश्यसम्पत्तीति” इति पूर्वपक्षिणोक्ते “प्रतिषेधवचनसामर्थ्यात्

अविध्यति" इत्युत्तरितम् । नानेन भाष्येण प्रकृतसूत्रे प्रकारवचनथालन्त-
स्य ग्रहणं शङ्क्यते इति वक्तुं युक्तम् । असादृश्ये इत्यस्य सूत्रे श्रवणात् ।
यद्यपि तद्विस्मरणेनायं पूर्वपक्ष इत्यपि वक्तुं शक्यम्, तथापि पूर्वेण प्रा-
प्नोतीत्यादेरसङ्गतिः । तस्मादुदाहरणे थालन्तस्य ग्रहणं तत्र सादृश्यार्थ-
केन समासं कृत्वाऽन्यत्रार्थे प्रयोगे बाधकाभाव इत्यभिमानेनार्थघटितं सा-
धुत्वमिजानतोऽव्युत्पन्नसत्त्वे मानश्चापश्यतः शङ्केयमिति युक्तम् । प्रति-
षेधवचनेत्यस्य प्रतिषेधयुक्तैतद्वचनसामर्थ्यादित्यर्थः । एवञ्चाव्युत्पन्नतत्सत्त्वे-
ऽर्थघटितं साधुत्वमित्यत्र चैतदेव मानमिति भावः ।

यत्तु प्रतिषेधेति प्रतीकमुपादाय "यथार्थे यदव्ययमिति पूर्वे-
णैव सिद्धे समासे सादृश्यप्रतिषेधार्थत्वादस्यारम्भस्य" इति कैयटः, त-
न्न । सूत्रगृहीताव्ययेन तेन सूत्रेणासमासात् । नियमेत्वापेक्षयैतदर्थ-
ज्ञापकत्वस्यैवोचितत्वात् । तत्र सूत्रे यथार्थशब्देन सादृश्याग्रहणाच्च । अत-
एव तत्र सूत्रे सादृश्यग्रहणं चरितार्थम् । अत एव भगवता "सादृश्यस-
म्पत्तीति प्राप्नोति" इत्युक्तम् । न च सादृश्यग्रहणं गुणभूतसादृश्यग्रहणा-
र्थम् । लक्ष्यानुरोधेन प्रधानन्यायाप्रवृत्त्योभयत्रापि तेन सिद्धेः । यथा
योग्यताया यथार्थत्वेऽपि रूपस्य योग्यमनुरूपमिच्छादौ तद्वदर्थकेनापि स-
मासस्तद्वत् । पूर्वसूत्रे यथार्थग्रहणं तदर्थकान्याव्ययग्रहणार्थम् । एवञ्च य-
थाशक्तीति एतदुदाहरणमेवेति भाष्ये स्पष्टम् । वीप्सादावपि यथाशब्देन स-
मासो भवत्येव । "यदव्युत्पन्नं वीप्सादाच्च तस्येदं ग्रहणम्" इति भाष्यात् ।
एवञ्च स्पष्टमेवोक्तमोपसंहाराभ्यामस्य सूत्रस्य विधित्वं भाष्याल्लभ्यते ।
अत्र सूत्रे यथाशब्देन यथार्थस्य न ग्रहणं मानाभावात् । पूर्वसूत्रे तु अवच-
नग्रहणात्तथा, विभक्तिशब्देनेवेत्याहुः* ॥

*वचनग्रहणादिति । अव्ययं विभक्तीति सूत्रं यथा विभक्तिशब्देन तदर्थ-
ग्रहणं तथा यथाशब्देनापि, कर्मप्रत्ययान्तवचनशब्दसामानाधिकरण्यादित्यर्थः ।
*इत्याहुःसिति । कैयटानुयायिनस्तु- "यथाऽसादृश्ये" इति सूत्रे भाष्ये "असादृश्ये
इति किमर्थम् । यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्त इति । असादृश्ये इत्युच्यते, तत्रेदं न
सिध्यति-यथाशक्ति, यथाबलमिति । किं कारणं, यथेत्ययं प्रकारवचने थाल्,
सच्च सादृश्ये वर्तते । नैव दोषः-अयं यथाशब्दोऽस्त्येवाव्युत्पन्नं प्रातिपदिकं
वीप्सादाच्च । अस्ति प्रकारवचने थाल् । तत्र यदव्युत्पन्नं प्रातिपदिकं वीप्सा-
दाच्च तस्येदं ग्रहणम् । अथ यः प्रकारवचने थाल्, तस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति,

पूर्वेण प्राप्नोति सादृश्यसंपत्तीति । प्रतिषेधवचनसामर्थ्याच्च भविष्यति" इत्युक्तम् ।
तत्र कैयटेन "असादृश्ये इति किमर्थम्" इति प्रतीकमादाय प्रश्ने त्रीणि
कारणानि उपन्यस्तानि । देवदत्तसादृश्यवानिति बोधे 'कः' इति उपमेयाकाङ्क्षा-
दर्शनात् उपमेयसापेक्षत्वात्समासो न स्यादिति असादृश्ये इति व्यर्थमिति
सापेक्षत्वरूपमेकं प्रश्नकारणमुपन्यस्य प्रधानस्य सदृशार्थस्य सापेक्षत्वेऽपि
विशेषणस्य देवतत्तार्थस्य सापेक्षत्वाभावात्, यत्सादृश्यवान् देवदत्त इति प्रा-
थमिकबोधे च विशेषणस्य सापेक्षत्वेऽपि उपमानस्य उपमेयं प्रति नित्यसा-
पेक्षत्वाद् देवदत्तस्य गुरुकुलमित्यादाविव समासः प्राप्नोत्येवेति तत्सार्थक्यमु-
पपाद्य यथाशब्दस्य सादृश्यार्थकथाला निष्पन्नत्वाद् सादृश्ये एव शक्तेः अ-
सादृश्यार्थकत्वासम्भवात् सूत्रवैयर्थ्यमेव हृदि निधाय असादृश्ये इति किमर्थम्
इति भाष्यकारेण प्रश्नः कृतः इति यथाशब्दस्य सादृश्यमात्रवाचकत्वरूपं
द्वितीयं प्रश्नकारणमुपन्यस्तम् ।

भाष्यकारेण च प्रथमप्रश्नकारणपरिहारस्य प्रधानसापेक्षत्व-
रूपस्य नित्यसापेक्षत्वरूपस्य च सुबोधत्वाच्च स्पष्टतोऽनुल्लिख्यैव प्रत्यु-
दाहरणमात्रं 'यथा देवदत्तस्तथा यज्ञदत्त' इत्युल्लिख्य सादृश्यमात्रवाचकत्व-
रूपं द्वितीयं प्रश्नकारणम्—'असादृश्ये इत्युच्यते—तत्रेदं न सिध्यति यथा
शक्ति' इत्यादिना प्रयोगासिद्धिव्याजेनोपन्यस्य 'नैष दोष' इत्यादिना वीप्सादि-
वाचिनोऽव्युत्पन्नस्य यथाशब्दस्य सूत्रे ऽस्मिन् ग्रहणं नतु थालन्तस्येति सूत्र-
सार्थक्यमुपपादितम् ।

नाप्राप्तस्यैव असादृश्ये इत्यनेन निषेधात् सादृश्यसंपत्तीत्यादि-
ना सादृश्यार्थकयथाशब्देन समासो दुर्वार एवेति असादृश्ये एवेति व्य-
र्थमेव इति अनाप्राप्तत्वाद् पूर्वप्राप्त्यनिषेधरूपं तृतीयं प्रश्नकारणमुक्तम् ।
तत्परिहारश्च 'अथ यः प्रकारवचने थाल् तस्य ग्रहणं कस्मान्न भवति'
इत्यादिशङ्कयां "प्रतिषेधवचनसामर्थ्याच्च भविष्यति" इति भाष्योक्त एव
तत्प्रतीकमुपादाय "यथार्थं यदव्यमिति पूर्वणैव सिद्धे समासे सादृश्यप्रतिषे-
धार्थत्वादस्यारम्भस्य" इति कैयटेन स्पष्टीकृतः ।

'अत्र असादृश्ये इत्युच्यते, तत्रेदं न सिध्यति यथाशक्ति' इत्यादि
द्वितीयाक्षेपे प्रयोगासिद्धिव्याजेन सूत्रवैयर्थ्यस्यैवाङ्गावितत्वात् तदेकवाक्य-
तया प्रथमतृतीयाक्षेपयोरपि सूत्रवैयर्थ्योद्भावेन एव पर्यवसानमुच्यम् ।
तत्र प्रथमाक्षेपे सापेक्षत्वात् समासाप्राप्त्या सादृश्यार्थकयथाशब्दे असा-
दृश्ये इत्यस्य वैयर्थ्ये अन्यार्थकयथाशब्दे यथार्थत्वादेव समाससिद्धेः सूत्र-
वैयर्थ्यमेव पर्यवस्यति । अथ 'यः प्रकारवचने थाल्' इत्यादितृतीयाक्षेपेऽपि
नाप्राप्तत्वाभाववतः सादृश्यसंपत्तीति प्राप्तस्यानिषेधे अन्यत्र यथार्थत्वादेव स-
मासे सिद्धे सूत्रवैयर्थ्ये एव पर्यवसानम् ।

सादृश्यसंपत्तीति प्राप्तस्यानिषेधे हि नियमकरणं व्यर्थमेव

यावद्व ॥ संख्यादिनेयत्तापरिच्छेदोऽवधारणम् । तद्बोधकं
यावदित्यव्ययं समस्यते इत्यर्थः । अवधारणे किम् । यावदत्तं तावद् भुक्त-
म् । कियद् भुक्तमिति नावधारयामीत्यर्थः ॥

सुप्रतिना । मात्राशब्दोऽल्पपर्यायः । पुनः सुग्रहणमव्ययनिवृत्त्य-
र्थम् । अन्यथा 'दोषामन्यमहः' इत्यादौ दोषादीनां वृत्तिविषये *सत्त्व-
प्रधानतादर्शनात्तादृशाव्ययेनैव समासः स्यात् ।

स्यात् इति तत्सामर्थ्यात् व्यर्थताऽप्रयोजकस्यापि सादृश्यसंपत्तीति
प्राप्तस्यानेन निवृत्तिः । अत एव 'यथार्थत्वात्प्राप्नोति' इति नाशङ्कितम् । तस्य
नाप्राप्तत्वादेव निवेधात् । एतेन 'पर्युदासघटितकैयटोक्तनियामकत्वपक्षे सूत्र-
वैयर्थ्यस्यैवोद्भावयितुमुचितत्वाद् असादृश्ये इत्येतन्मात्रस्य वैयर्थ्योद्भावनं
भाष्यकृतोऽसङ्गतं स्यात्, इत्यपास्तम् । त्रिष्वप्याक्षेपेषु सूत्रवैयर्थ्योद्भावनपर्य-
वसाने एव भाष्यकृदिष्टत्वस्योपपादितत्वात् ।

यत्तु नियमत्वापेक्षया 'सूत्रगृहीताव्ययेन न समास' इत्येतदर्थज्ञापक-
त्वस्यैवोचितत्वादिति, तन्न । सूत्रगृहीताव्ययातिरिक्तत्वेन संकोचापेक्षया यथा-
शब्दातिरिक्तत्वेन संकोचकल्पने एव लाघवात् । घटः पटो नेत्यादौ समासवारणं
तु न तत्फलम् । तस्यान्यथैव पूर्वं कृतत्वात् ।

अविघ्नमित्यादौ अव्ययीभावो भवत्येव । नञ्सूत्रे भाष्ये
नञ्समासस्य पूर्वपदार्थप्रधानत्वपक्षे नञ्समासेन अव्ययीभावस्य येननाप्रा-
प्तिन्यायेन बाधात्, अव्ययीभावासिद्धेः दोषतयाऽनुपन्यासाच्च अन्यपक्षे
नञ्मा अव्ययीभावस्थानिष्टत्वकल्पनं तु नोचितम् । अनेकमित्यादौ एकवचना-
सिद्ध्या, ताभ्यां भिन्नोऽस्तीत्याद्यर्थे अतौ स्त इत्याद्यसिद्ध्यापत्त्या, अत्वं भवसि
अनहं भवामि इत्याद्यसिद्ध्यापत्त्या च तत्पक्षस्य दूषितत्वात् । असिद्धान्तपक्षे
दोषानुपन्यासमात्रेण कस्यचिदर्थस्य कल्पयितुमुचितत्वाच्च ।

थाल्सूत्रे च प्रकारशब्देन सादृश्यस्यैव ग्रहणम् । 'यथेत्ययं प्रकारवचने
थाल् स च सादृश्ये वर्तते' इति भाष्याक्षरस्वरस्यात् यत्सादृश्यवान् हरिस्तत्सा-
दृश्यवान् हर इति प्रथमतो बोधेऽपि अनन्तरं हरिसदृशो हर इति बोधेन सदृश-
सदृशिभावस्य विषयीकरणात् । एकप्रतियोगिकसादृश्यवतोः परस्परं सादृश्यस्य
नियमात् । उभयोः शाब्दत्वं तु गङ्गायां घोष इत्यादौ लक्षणामूलकव्यञ्जनाजन्य-
बोधस्थले घोषे आरोपितगङ्गाधारत्व-पावनत्वाद्योरिव सुवचम् । तव 'यद्धर्म-
वान् हरिस्तद्धर्मवान् हरः', उपमानदेवदत्ताभिन्न उपमेयो यद्धदत्त इत्यनयोरिव ।
तस्मात् अत्र कैयटोक्तं सर्वं साध्वेवेत्याहुः ॥

ननु अव्ययानां सत्त्वप्रधानत्वाभावेन मात्रावति अर्थे शक्तेरभावात्
मात्रार्थान्वययोग्यत्वाभावेनैव तन्निवृत्तिः स्यात्-अत आह *सत्त्वप्रधानत्वा-
दिति । पूर्वसूत्रे तु यावदित्यव्ययमेव गृह्यते इति न तत्र तन्निवृत्तिः । अत एव

वृत्तं प्रति इति । लक्षणे प्रतिः । कर्मप्रवचनीयत्वन्तु प्रतिः “गतिर्गतौ” इति निघाताभावायेत्याहुः ॥

अक्षशला ॥ समस्यन्ते इति शेषः । पराजय एवेति । पञ्चिका नाम धूतं पञ्चभिः कपर्दैर्भवति । तत्र यदि सर्वे उत्ताना अवाञ्चो वा पतन्ति, तदा पातयिता जयति, अन्यथा जीयते । विपरीतवर्तने कर्तृत्वेनाक्षादेस्तृतीया । वृत्तौ परेस्तदर्थः* । ‘अक्ष ङम् परि’ इत्यलौकिकम् । नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । वैपरीत्यञ्च जयापेक्षयेति भावः । अक्षणेति । अक्षाभ्यां विपरीतं वृत्तामित्याद्यर्थे न समासोऽनभिधानात्* । अक्षत्वेनैकाक्षबोधे एवास्य साधुत्वम्, न तु तेन रूपेणानेकाक्षबोधे । एकत्वादिना बोधस्तु वृत्तौ नास्त्येवेति भाष्ये स्पष्टम् ॥

विभाषा ॥ यद्यपि-एकार्थीभावे समासस्य, व्यपेक्षार्या वाक्यस्य च सिद्धेरिदं व्यर्थम् । एकार्थीभावे एव समाससञ्ज्ञादिविकल्पस्तु नेष्यते* । एवं समासनिषेधसूत्राणि, “नित्यं क्रीडा” इत्यत्र नित्यग्रहणञ्च व्यर्थम् । निषेधविषये एकार्थीभावाभावेन समासाप्राप्तेः । नित्याधिकारविषयेऽस्याभावेन वाक्याप्राप्तेश्च;—तथापि लक्षणैकचक्षुष्कान् मन्दान् प्रति कैकार्थीभावो नित्यः, क पाक्षिकः, क नास्तेवेत्यर्थबोधनार्थं सर्वमावश्यकम् । ध्वनितं चेदं “समर्थानाम्” इति सूत्रे भाष्ये । लक्ष्यैकचक्षुष्कं प्रति “समर्थः” इति सूत्रे भाष्ये तत्प्रत्यारूपातम् । एवञ्च विशेषणीभूतैकार्थीभावस्य विकल्पादिवोधकानीमानि । अत एव “पारेमध्ये” इति सूत्रे भाष्ये “एकया वृत्तिर्विभाषा, परया वृत्तिविषयेऽनित्योऽपवादः” इत्युक्तम् । तत्र वृत्तिरेकार्थीभावः ।

एतत्सामर्थ्यादिति । अत्रैतत्करणात् प्राक् तदसम्बन्धेन तद्वि-

तत्र यावन्तः श्लोका इत्यनव्ययेन विग्रहप्रदर्शनम् । अन्यथा नित्यसमासत्वात्तदयुक्तं स्यादिति भावः ।

*तदर्थ इति । विपरीतवर्तनमर्थः ।

*अनभिधानादिति । एकपरि, द्विपरि, त्रिपरि, चतुस्परि इत्यत्र च समासो भवति, न तु पञ्चपरि इत्यत्र । पञ्चानामुत्तानानामवाचां वा पाते पातयितुर्जयस्यैव भावेन पञ्चानां विपरीतवर्तनकर्तृत्वासम्भवात् इति बोध्यम् ।

*नेष्यते इति । ‘नच संज्ञाया भावाभावाविष्येते’ इति भाष्याश्रितेः । “पारेमध्ये षष्ठ्या वा” इत्यत्रत्य-घाग्रहणेन तदभावज्ञापनाच्चेति भावः ।

षये एकार्थीभावस्य नित्यत्वमिति भावः । नन्वेवं “सुप्सुपा” इत्यस्यापि नित्यतापत्तिः । एवञ्च भाष्ये सुप्सुपेत्युदाहरणभूते ‘विस्पष्टपटुः’ इत्यत्र विस्पष्टं पटुरितिविग्रहप्रदर्शनासङ्गतिरित आह—सुप्सुपेति त्विति । एतत्समासानुवादेनैवाव्ययीभावादिसञ्ज्ञाविधानेन सिद्धे पुनस्तैः समाससञ्ज्ञाविधानं तदनित्यत्वज्ञापकम् । “उपपदमतिङ्” “कर्तृकरणे कृता” “आख्यातमाख्यातेन” इत्यादावुद्देश्याप्रसिद्ध्या “अनेकमन्यपदार्थे” इत्यादौ व्यादिपदघटितसमासरूपोद्देश्याप्रसिद्ध्या तेषु समाससञ्ज्ञाविधानस्यावश्यकत्वेनार्थाधिकारानुरोधात्सर्वत्र *तस्य विधेयसमर्पकत्वम् । “प्रथमानिर्दिष्टम्” इतिसूत्रे ‘समासे’ इत्यस्य समासत्वव्याप्यसञ्ज्ञाविधायके लक्षणयाऽव्ययादीनामुपसर्जनत्वं साधयितुं शक्यमिति न तदर्थं समाससञ्ज्ञाविधानं चरितार्थमिति भावः । विग्रहप्रदर्शनपरोक्तभाष्यादपि तस्यानित्यत्वं बोध्यम् ॥

लक्षणेनाभिप्रती ॥ अभिप्रती आभिमुख्यस्याग्नेर्ज्ञापकत्वसंबन्धेनान्वयस्य च द्योतकौ ।

अग्निज्ञाप्यं शलभकर्तृकं पतनमिति बोध उदाहरणे । तथाबोधे चाग्न्यभिमुखत्वं शलभपतनस्य लोकप्रसिद्ध्या मनसा गृह्यते इत्याभिमुख्यद्योतकताऽभिज्ञाब्दस्य ।

अग्निज्ञाप्यं शलभकर्तृकं प्रत्यासत्याऽग्न्यभिमुखं पतनमिति बोध इत्यन्ये । कर्मप्रवचनीयद्योत्यसम्बन्धेनान्वयाद्वाक्ये द्वितीया, तदाह—अग्निमभीति । लक्षणेनेति किम् । छुध्नं प्रतिगतः । *छुध्नादागतस्तमेव प्रतिनिवृत्त इत्यर्थः । आभिमुख्ये किम् । “वृक्षं प्रति विद्योतते” इत्यादावाभिमुख्यद्योतनाभावे समासो मा भूदिति । अस्य समासस्य वैकल्पिकत्वेन पक्षे कर्मप्रवचनीयत्वं चरितार्थम् । अभिप्रती इति किम् । अग्नेः संमुखं शलभाः पतन्तीत्यर्थे सामुख्यार्थकसंशब्देन लक्षणत्वसम्बन्धेनान्वये समासो मा भूदिति ।

*तस्य विधेयसमर्पकत्वमिति । एवं च तैः समासविधानस्य सुप्सुपेत्यस्यानित्यत्वज्ञापकत्वं युक्तम् । उद्देश्यसमर्पकत्वे तु तैः समासविधानाभावात् तस्य तज्ज्ञापकत्वकथनासङ्गतिरिति भावः ।

*ननु लक्षणत्वाभावे द्वितीयानुपपात्तिरित्याशङ्क्याह *छुध्नादागत इति । परावृत्त्य गमने धात्वर्थः, तन्निरूपितकर्मत्वाद् द्वितीयेति भावः ।

अनुर्य ॥ लक्षणेनेति वर्तते । समयेत्यधिकरणशक्तिप्रधानम् । यदिति सामान्ये नपुंसकं द्वितीयान्तम् । यं पदार्थं समयेत्यर्थद्योतकोऽनुः तेन लक्षणभूतेन तद्वाचकेन समस्यते इत्यर्थस्तदाह—यमिति । वनादेर्लक्षणत्वं समीपद्वारा । स्वसामीप्येन हि वनेनाशनिदेशो ज्ञाप्यते । लक्षणत्वन्तु वस्तुसन्निमित्तं, न तु तेन सम्बन्धेनान्वयस्तदाह—वनस्य समीपमिति ।

यस्य दैर्घ्यमिति । यदैर्घ्यसदृशदैर्घ्यमित्यर्थः । अत्रापि लक्षणत्वं वस्तुसदेव निमित्तम् । तद् ध्वनयन्नाह—गङ्गाया अन्विता । तद्द्योत्यसम्बन्धेनान्वयाभावात् द्वितीया । उपलक्षितेति । विशिष्टेत्यर्थः । दैर्घ्यसदृशदैर्घ्यविशिष्टत्वमनोरर्थः । तथा बोधे च गङ्गायां ज्ञापकत्वस्य, गङ्गासमीपं गत इति बोधे च गङ्गायां ज्ञापकत्वस्य नियमेन मनसा बोधादन्यलभ्यत्वेन नात्र *तद् अनोद्योत्यमिति तात्पर्यम् । तेन सम्बन्धेनान्वये तु 'वनमनु' 'गङ्गामनु' इति द्वितीयैवेति बोध्यम् । "निवेद्य गङ्गामनु तां महानदीं चमूम्" इति रामायणे प्रयोगात् । वाराणस्याः *स्वरूपेण ज्ञातत्वेऽप्यायामवैशिष्ट्येन ज्ञाप्यत्वं बोध्यम्—

तिष्ठद्गुप्र ॥ चेनैषां वृत्त्यन्तरे प्रवेशो न ।

आ तिष्ठद्गु जपेत्सन्ध्यां पश्चिमामाऽऽयतीगवात् ॥

इति भाट्टिश्लोके आ तिष्ठद्गु, आ आयतीगवादिति भिन्ने पदे । इह—उक्तोदाहरणद्वये । तत्राद्ये शत्रादेशमात्रम् । प्रथमासामानाधिकरण्यात्तदप्राप्तिः । यद्यपि 'पचन् पुरुषः' इति वत्सिध्यति, तथाऽप्युपायान्तरमिदम् । समासान्तश्चेति । इदमन्त्ये । चेनान्यपदार्थेऽव्ययीभाव इति बोध्यम् ।

*तदिति । ज्ञापकत्वमित्यर्थः । ततश्च लक्ष्यलक्षणभावद्योतकत्वाभावेन अनोः कर्मप्रवचनीयत्वाभावात् न गङ्गाया अनु इत्यत्र द्वितीयेति भावः ।

*स्वरूपेणेति । असीवरणयोर्मध्ये वाराणसी इत्येवं वाराणस्याः स्वरूपेण ज्ञातत्वेऽपि 'प्राक्पश्चिमायता, दक्षिणोत्तरायता वा वाराणसी' इत्येवं प्रश्ने 'अनुगङ्गं वाराणसी' इत्युत्तरवाक्यं प्रयुज्यते । असीवरणामध्यदेशावच्छिन्नगङ्गादैर्घ्यस्य ज्ञातत्वात् तेन वाक्येन तत्सदृशदैर्घ्यवस्त्वज्ञानात् निरुक्तगङ्गादैर्घ्यस्य च दक्षिणोत्तरायतत्वात् वाराणसी दक्षिणोत्तरायतेति ज्ञायते । अर्थात् विशालत्वमन्यादृशमिति गम्यते । ततश्च न काचिदनुपपत्तिरिति बोध्यम् ।

पक्षे षष्ठीति । अयं भावः—महाविभाषा नैकार्थीभावस्य विकल्प-
बोधिका, वृत्तिश्चैकार्थीभावे नित्येति येननाप्राप्तिन्यायेनाव्ययीभावस्तत्पुरुषं
बाधेत, यथैकदेशिसमासः षष्ठीतत्पुरुषम्—इति *पक्षे तद्धाभाय पुनर्वा-
ग्रहणमिति ।

संख्येत्यादित्रिमुनी स्वभावात्समानाधिकरणविषया । वंश इति ।
एकस्वभावः सन्तानप्रबन्धो वंशः । द्वौ मुनी—पाणिनिकात्यायनौ । त्रि-
मुनि—भाष्यकृत् तौ च । स्वपदार्थमाधान्ये एवायं समासः । नन्वेवं
“त्रिमुनि व्याकरणम्” इति सामानाधिकरण्यानुपपत्तिरत आह—विद्येति ।
अन्ये तु बहुव्रीहौ त्रिमुनि व्याकरणम्, अव्ययीभावे व्याकरणस्य इति,
स्वरभेदश्चेष्ट एवेत्याहुः ।

परेतु विद्यावंशो नाम गुरुशिष्यपरम्परा । न चैतस्य मुनित्रयस्य तत्त्वे
मानमस्ति । ‘त्रिमुनि व्याकरणस्य’ इति यदीष्यते तदेदं तिष्ठद्गुप्रभृतिषु पाठा-
त्साध्यमित्याहुः । मूलं तु वृत्त्यनुसारेण । किञ्च ‘न हि त्रिपुत्रो द्विपुत्रव्यप-
देशं लभते’ इति न्यायेन द्विमुनीति व्यवहारासङ्गतिर्बोद्ध्या । जन्मनो-
दाहरति—एकविंशतीति । एकविंशतिर्भरद्वाजा वंश्या इति विग्रहः ।
वृत्तौ “तृतीयासप्तम्योः” इति मूत्रस्थभाष्यप्रयोगात्तत्प्रामाण्येनोपकादिष्वन-
योः* पाठाद् “यञञोश्च” इतिलुगभावो बोध्यः ॥

नदीभिश्च ॥ अत्र च बहुवचननिर्देशात् सञ्ज्ञाया ग्रहणं, नापि शब्द-
स्वरूपस्य । शब्दसञ्ज्ञात्वाच्च । किन्तु नदीत्यर्थग्रहणम् । तेन तद्वाचके सर्वत्र
प्रवृत्तिः । एतच्च संख्यासञ्ज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । समाहारे चेति ।
तत्रैवेत्यर्थः । एवञ्च तदाविवक्षायां “पूर्वकालैक” इति समासे ‘एकनदीतरः’ सि-
द्धः । अन्यथा समानाधिकरणतत्पुरुषं बाधित्वाऽव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वा-
पत्तिः । “अच् प्रत्यन्त्रव” इतियोगविभागसिद्धोऽभियुक्तोक्तः

गोदावर्याश्च नद्याश्च सङ्ख्याया उत्तरे यदि—

*पक्षे इति । अन्यतरपक्षे षष्ठीतत्पुरुषलाभायेत्यर्थः ।

*अनयोरिति । एकविंशतिभारद्वाजं, त्रिपञ्चाशद्भौतमम् इति तत्सूत्र-
स्थभाष्यप्रयोगात् उपकादिषु गोतमभरद्वाजयोः पाठात् वृत्तौ “यञञोश्च” इति
लुगभावः । समस्तपाठात् विग्रहे लुग् भवत्येव । तेन एकविंशतिर्भरद्वाजा इत्येष
विग्रहीयो युक्तः पाठ इति बोध्यम् ।

इत्यत्र तु न । योगविभागस्येष्टसिद्ध्यर्थत्वाद्, भाष्यकृता तद-
नुक्तेश्चेति भावः ॥

अन्यपदा ॥ संख्येति निवृत्तम् । नदीग्रहणमनुवर्त्तते । सञ्ज्ञाऽ-
नवगमादिति । संज्ञेति कर्मण्यङ् । तेन सञ्ज्ञिनो देशविशेषस्यानवगमा-
दित्यर्थः । नित्यसमास इति । तत्सदृश इत्यर्थः । तत्सादृश्यञ्च स-
माससमानार्थकवाक्याभावेन । समासघटकपदानां विग्रहस्त्वस्त्येव । महा-
विभाषाया असम्बन्धे मानाभावात् । अत एव “द्वितीयतृतीय” इति सूत्रे-
ऽन्यतरस्यांग्रहणेनोत्सर्गपवादयोर्महाविभाषाविषयत्वेऽपवादाभावे उत्स-
र्गप्रवृत्तिरित्यर्थे ज्ञापिते ‘उन्मत्तगङ्गम्’ इत्युदाहृतम् । “अव्ययीभावेन युक्ते
बहुव्रीहिर्न” इति चोक्तं भाष्ये । अस्य नित्यत्वे तेन युक्ते इत्यसङ्गतिः स्पष्टैव ।
एवमन्यत्रापि बोद्धव्यम् ।

समासान्ताः ॥ अत्र समासपदं तत्सम्बन्धलौकिकविग्रहवाक्य-
परम्, एवमव्ययीभावादिपदान्यपि तत्पराणि । अत एव ‘बहुकुमारीकः’ इत्या-
दौ द्वस्वो न । “गोस्त्रियोः” इत्यत्र भाष्ये स्पष्टमेतत्, “अन्तः” इति सूत्रे भाष्ये-
च । एवञ्चालौकिकविग्रहवाक्ये समाससञ्ज्ञासमकालमेव समासान्ता इति
सिद्धान्तः । न च पूर्वं समासान्ते तत्संनियोगशिष्टाद्युदात्तत्वे तदेकवाक्यता-
पन्ने पूर्वस्य निधाते च कृते पूर्वपदस्योदात्तस्वरितयोगित्वाभावेन पूर्वपद-
प्रकृतिस्वरप्रवृत्तौ टचश्चित्त्वं व्यर्थमिति वाच्यम् । तत्सामर्थ्येन समासान्तविधौ
“आद्युदात्तश्च” इत्यस्यासम्बन्धज्ञापनात् । तेन समृद्धा पूर्यस्य समृद्धपुरो
राजेत्यादौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरसिद्धिः । “द्वित्रिभ्याम्” इति सूत्रस्थं समासे कृते
समासान्ता इत्येतत्परं भाष्यमेकदेश्युक्तिः, उक्तभाष्यद्वयविरोधादित्यन्यत्र
प्रपञ्चितम् । अन्तशब्दश्चरमावयववाची । स च समुदायावयवः । अत एव
‘उपशरदम्’ इत्यत्र “नाव्ययीभावात्” इत्यम्, “अव्ययानाम्” इति टिलो-
पाभावश्च सिद्धः । पूर्वभागस्याव्ययीभावत्वाभावेनानव्ययत्वात् ।

यत्तु कैयटेन “गोस्त्रियोः” इति सूत्रे समासपदस्य समासार्थविग्र-
हवाक्यस्थोत्तरपदलक्षणयोत्तरपदावयवत्वमुक्तम् । तथा सरूपसूत्रे उक्तम्-
‘उत्तरपदावयवत्वमित्यपि भाष्यकारस्य मतम्’ इति, तन्न । फलाभावात् ।
‘द्विपुरी’ इत्यादौ स्त्रीत्वस्य लोकतः सिद्धेः । “लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्ग-
स्य” इति भाष्येण लिङ्गप्रकरणस्य नियमार्थत्वाभावबोधनात् । अत एव “पर-

बल्लिङ्गम्' इतिसूत्रसत्त्वेऽपि "दिनावम्" 'अर्द्धस्वारम्' इत्यादौ नपुंसकत्व-
सिद्धिः । 'पञ्चराजम्' इत्यादावपि तत्प्रवृत्त्यापत्तौ 'अकारान्तोत्तरपद' इत्यत्रो-
त्तरपदग्रहणस्य व्यर्थत्वापत्तिश्च ।

"अन्तः" इत्यादिसूत्रस्थभाष्यविरुद्धं चोत्तरपदावयवत्वम् । एवं
हि तत्र भाष्यम्—'समासस्यान्तोदात्तत्वमुत्तरपदस्य वा' इति विकल्पे
आद्ये 'इदं प्रथमका' इत्यादौ कपोऽन्तोदात्तत्वापत्तिमुक्त्वाऽन्त्ये 'अनुचः'
इत्यत्रान्तोदात्तत्वासिद्धिरित्युक्त्वा उभयोरपि प्रकरणेन लक्ष्यानुसारात्क-
चिदुत्तरपदान्तस्य कचित्समासान्तस्योदात्तत्वम् इति ।

सरूपसूत्रस्थभाष्यं तदनाश्रयणेऽपि योजयितुं शक्यम् । तथाहि—
कृतद्वन्द्वानां विभक्तौ परत एकशेष इति पक्षे "ऋक् च ऋक् च ऋचौ असा-
रूप्यादेकशेषो न प्राप्नोति" इति भाष्यम् । समासान्तानां समासावयवत्वे-
ऽपि तत्प्राग्भागस्य विभक्तिपरत्वाभावस्तद्विशिष्टस्य तु न सरूपत्वमिति त-
द्भावः । न च तस्यानर्थक्येन तदनुक्त्या भाष्यस्य न्यूनता । द्वन्द्वावयवाना-
मर्थवतामेवैकशेष इत्यर्थे मानाभावात् । विशिष्टरूपोपादानाभावेन तत्परि-
भाषाया इहाप्रवृत्तेः । भाष्यान्तरं तु तादृशं नोपलभ्यत एवेति दिक्* ।

स च समासान्तो 'बहु जम् गोमत् जम्' इत्यवस्थायामलौकिके वाक्ये
सुपः परस्तादेव । ततः पूर्वत्वे तु वाच्यार्थविरोधः । न हि सुब्रहितं समासार्थं
किन्तु तद्विशिष्टमेव । न च विशिष्टस्य सुबन्तत्वाभावेन सुबन्तात्तद्धित इति-
सिद्धान्तविरोधः । तेषामर्थाभावेन "परिपूर्णं पदम्" इति तन्मूलभूतन्याय-

*दिगिति । दिगर्थस्तु उत्तरपदावयवत्वमपि सरूपसूत्रस्थभाष्यसं-
मतम् । द्वन्द्वावयवानामर्थवतामेवैकशेष इत्यर्थे मानाभावात् इति तन्न्यूनत्वप-
रिहारस्तु न युक्तः । सहविवक्षायामेकशेषप्रवृत्तेः सर्वसंमतत्वेन समुदितार्थवि-
षयकबोधतात्पर्येणोच्चरितानामेव सरूपाणामेकशेषोद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तत-
या अर्थवत्त्वाभावे च तद्व्याप्यस्य समुदितार्थबोधकत्वस्य सुतरामभावेन त-
दनुक्त्या तन्न्यूनत्वापरिहारात् । उत्तरपदावयवत्वादेव च काक्ष इत्यत्र अक्षि-
शब्देन बहुव्रीहौ षष्ठप्रत्यये तस्योत्तरपदावयवत्वेन अक्षशब्देन ग्रहणात्
प्रतिपदोक्तपरिभाषायाश्च "कोः कत्तत्पुरुषेऽचि" इतिसूत्रस्थतत्पुरुषग्रहणेना-
स्मिन् प्रकरणेऽप्रवृत्तेः शेखरादायुक्तत्वेनात्राप्रवृत्तेः "का पथ्यक्षयोः" इत्य-
नेन कादेशः सिध्यति, अन्तरीपमित्यादौ "द्वयन्तरुपसर्गोऽप्योऽप ईत्" इत्यनेन
ईदादेशश्च सिध्यति । अन्यथाऽनर्थकत्वाच्च स्यात् । सामर्थ्यात् तत्प्रवृत्ति-
कल्पनापेक्षया उत्तरपदावयवत्वकल्पनस्यैव न्याय्यत्वात् इति दिक् ।

स्यात्र विषयाभावात् । अत एव “पुंयोगात्” इति सूत्रेऽत्यन्तस्वार्थिकानां सुबुत्पत्तेः पूर्वमेवोत्पत्तिर्भाष्ये उक्ता ।

किञ्च समासान्तप्रकरणे “ङ्याप्प्रातिपदिकात्” इत्यस्याप्यसम्बन्धः । तस्यापत्रस्थायां वाक्यस्याप्रातिपदिकत्वात् । तत्र कबुत्पत्तिकाले एव तत्पूर्वभागस्य समाससञ्ज्ञा । विरोधाभावात् । समासान्तस्य च तद्वाक्यावयवत्वेन तद्ग्रहणेन ग्रहणात् ‘बहुकुमारीक’ इत्यादावुपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्तप्रातिपदिकाभावान्न ह्रस्वः । कब् ह्रस्वादन्तरङ्गतरः । तादर्थ्यात्ताच्छब्दम् । “येषां पदानां समासो, न तावत्तेषामन्यद्भवति कपं तावत्प्रतीक्षते” इति भाष्येण स्पष्टं तथाऽभिधानात् । तत्राद्यस्य ‘तावत्’ इत्यस्य कपः प्रथममित्यर्थः । अन्यत्-समाससञ्ज्ञारूपं कपा सह स्वभवनाय कपं पश्यतीत्यर्थः । पूर्वं स्वप्रवृत्तौ हि तदर्थकवाक्याभावेन कप्शास्त्रवैयर्थ्यमिषा तद्भवनकालप्रतीक्षा । अन्यथा तदनपेक्षत्वेन कप्प्रतीक्षोक्तिरत्यन्तासङ्गता स्यात् । अत एव “प्रत्ययस्यात्” इति सूत्रभाष्योदाहृते “बहुवर्त्मिका” इत्यादावापः सुपः परत्वाभावादित्वसिद्धिरिति दिक् ।

अथाव्ययीभावेऽसाधारणसमासान्तानाह—अव्ययीभावे ॥ अव्ययीभावे उत्तरपदतया वर्त्तमानं यच्छरदादिप्रकृतिकसुबन्तं तदन्ताद् इत् । स च समासार्थविग्रहवाक्यस्यान्तावयव इत्यर्थः । “राजाह” इत्यतष्टजनुवर्त्तते । अन्नन्तादव्ययीभावादित्यादि तु फलितार्थपरतया कथञ्चिन्नेयम् । अत्र गणे ये झ्यन्तास्तेषां “झयः” इति विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थः पाठ इति केचित् । प्रत्यक्षमिति । “लक्षणेनाभि” इति समासः । परोक्षमिति । इन्द्रियाजन्यज्ञानम् । विषये त्वर्शआद्यजन्तः प्रयोगः । नन्वत्राव्ययीभावाप्राप्तिरत आह—सामर्थ्यादिति । परस्योकारेति । परशब्दस्य ओकारान्तादेश इत्यर्थः । एङ् इति पूर्वरूपत्वम् । परस्योकारेति पाठे परस्याक्षिशब्दस्यादेरुकार इत्यर्थः । आद् गुणः । अर्शआद्यचीति । धर्मपरादिति भावः । अत्र गणसूत्रे परग्रहणं प्रक्षिप्तमिति “परोक्षे लिट्” इति सूत्रस्थभाष्यकैयटस्वरसः । तत्र हि समासान्तोऽपि निपातनात्साधितः ।

पूजार्थमिति । वेति वक्तव्ये तत्पूजार्थमपीत्यर्थः । अन्यतरस्याग्रहणस्य तु स्वरितत्वं नास्त्येव । अत एव “नदीपौर्णमासी” इति सूत्रे नदीशब्देन विशेषाणामग्रहणे शरदादिषु विषादशब्दपाठस्य ज्ञापकत्वमुक्तं संख्यास-

ज्ज्ञासूत्रे भाष्ये । नदीत्यादेर्वैकल्पिकत्वे नित्यत्वाय पाठस्यावश्यकतया
ज्ञापकत्वासङ्गतिः स्पष्टैव । तत्र ज्ञयन्तपाठस्तु प्रपञ्चार्थः । तत्र नदीस-
ङ्गकस्य न ग्रहणं, पौर्णमास्यादिग्रहणात् । न च 'अशब्दसङ्ज्ञा'इति निषे-
धात्स्वरूपस्यापि ग्रहणं न स्यादिति वाच्यम् । लक्ष्यानुसारेण सा-
मर्थ्येन च तस्यात्र त्यागात् । अत एव तत्सूत्रं भाष्ये प्रत्याख्यात-
मिति प्रामाणिकाः ॥

इत्यव्ययीभावः ॥

सर्वदेवमयं देवं सखिदानन्दधिग्रहम् ।
सद्गुरुं प्रणिपत्याहमखण्डां शान्तिमाश्रये ॥
पर्वतीयेन पन्तेन नित्यानन्देन धीमता ।
शब्देन्दुशेखरस्यायं दीपकः प्रकटीकृतः ॥
व. णाद्रिनवभूषणं चैत्रमासे सिते दले ।
तृतीयायां शनेर्वारे काश्यां संपूर्तिमागतः ॥
कर्मणाऽनेन भगवान् सीतालक्ष्मणसंयुतः ।
श्रीरामः प्रीयतां, कुर्यात् सर्वेषां नः सदा शिवम् ॥

इति श्रीनित्यानन्दपन्तपर्वतीयविरचिते लघुशब्देन्दुशेखर-
दीपके अव्ययीभावप्रकरणम् ।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ।

शम् ।



हरतरह कि संस्कृत तथा भाषाभाष्य पुस्तकों के मिलने का पता—

 **हरिदासगुप्ताः**

चौखम्बा संस्कृतसीरीज आफिस
बनारस सिटी ।



